पूर्णतल्लगच्छीय श्रीशान्तिसूरिविरचित

न्यायावतारवार्तिकवृत्ति

(न्यायावतारसूत्र-तद्वार्तिक-तदीयवृत्तिसमवेत-विस्तृतहिन्दीटिप्पण
अनेकपरिशिष्ट-सुविस्तृत प्रस्तावना आदि बहुविषय-समलंकृत)

संपादक

श्री दलसुख मालवणिया

सरस्वती पुस्तक भंडार
अमदावाद

Saraswati Oriental Research Sanskrit Series No. 14

NYĀYĀVATĀRAVĀRTIKA-VṚTTI

OF

ŚRĪ ŚĀNTI SŪRI

CRITICALLY AND AUTHENTICALLY EDITED IN THE ORIGINAL SANSKRIT WITH AN ELABORATE INTRODUCTION, NOTES, INDICES ETC. IN HINDI

BY

PANDITA DALASUKHA MALWANIYA
(Former Head Pandita in Jaina Śāstra teaching at Benares Hindu University, Benares)

SARASWATI PUSTAK BHANDAR

AHMEDABAD

Published By :
SARASWATI PUSTAK BHANDAR
HATHIKHANA, RATANPOLE
AHMEDABAD - 380001
Ph. 535 6692

FIRST PUBLISHED IN 1949 UNDER SINGHI JAIN SERIES N0.20
BHARATIYA VIDYA BHAVAN, MUMBAI

Reprint 2002

Price : Rs. 600/-

Printed at
Himanshu Printers, Main Yamuna Vihar Road
Maujpur, Delhi 110092

पूर्णतल्लगच्छीय श्रीशान्तिसूरिविरचित

न्यायावतारवार्तिक-वृत्ति

न्यायावतारसूत्र-तद्वार्तिक-तदीयवृत्तिसमवेत-विस्तृतहिन्दीटिप्पण-अनेक परिशिष्ट-सुविस्तृत प्रस्तावना आदि बहुविषय समलंकृत

संपादक
पण्डित श्री दलसुख मालवणिया
(पूर्व जैनशास्त्राध्यापक - हिंदु विश्वविद्यालय, बनारस)

सरस्वती पुस्तक भण्डार

अहमदाबाद

प्रकाशक
सरस्वती पुस्तक भण्डार
११२, हाथीखाना, रतनपोल
अहमदाबाद ३८०००१
फोन ५३५ ६६९२

प्रथम संस्करण १९४९ सिंघी जैन ग्रन्थमाला सं० २० के अन्तर्गत
भारतीय विद्या भवन, मुंबई द्वारा प्रकाशित

पुनर्मुद्रण सन् २००२

मूल्य ६०० रु.

मुद्रण
हिमांशु प्रिन्टर्स, गली नं० १४, अनूप मार्किट
मेन यमुना विहार रोड, मौजपुर, दिल्ली ११००९२

ग्रन्थानुक्रमणिका।

प्रास्ताविकादि। पृष्ठ

*

प्रस्तावना पृ० १–१०२

*

२ न्यायावतारसूत्रवार्तिकवृत्तिः । पृ० ११–१२२

संकेत-परिचय ।

[टिप्पणोंमें ग्रन्थके संकेताक्षरोंके बाद पृ० का उल्लेख न हो तो अंकोंको ग्रन्थगत यथायोग्य प्रकरण, अध्याय आदिके या कारिकाके सूचक समझना चाहिए ।]

अ०, ब०, क०, और मु० ये प्रतियोंके संकेत हैं ।

अ-टि०=अ० प्रतिगत टिप्पण ।

का०=कारिका, पं०=पङ्क्ति, पृ०=पृष्ठ.

अनुयो० अनुयोगद्वारसूत्र, आगमोदयसमिति, सूरत ।

अनेका० अनेकान्तव्यवस्थाप्रकरण, जैनग्रन्थप्रकाशक सभा, अमदाबाद ।

अनेकान्त० टी० अनेकान्तजयपताकाटीका, गायकवाड सिरीझ, बडोदा ।

अभिधानचि० अभिधानचिन्तामणि, जैनधर्मप्रसारक सभा, भावनगर ।

अवय० अवयविनिराकरण, (सिक्स बुद्धिस्ट न्यायटेक्स्ट्स्) एसियाटिक सोसायटी, कलकत्ता ।

अष्टश० अष्टशती (अष्टसहस्र्यन्तर्गत) निर्णयसागर, बंबई ।

अष्टस० अष्टसहस्री, निर्णयसागर, बंबई ।

अष्टस० वि० अष्टसहस्रीविवरण, जैनग्रन्थप्रकाशक सभा, अहमदाबाद ।

आप्तमी० आप्तमीमांसा, सनातन जैनग्रन्थमाला, काशी ।

आलम्बन० आलम्बनपरीक्षा, अड्यार लायब्रेरी, अड्यार, मद्रास ।

आवनि० आवश्यकनिर्युक्ति, आगमोदय समिति, सूरत ।

उत्त० उत्तराध्ययनसूत्र ,, ,, ,,

उत्पादा० उत्पादादिसिद्धिः, ऋषभदेव केसरीमल्ल, रतलाम ।

कंदली० न्यायकंदलीटीका, विजयानगरम् सिरीझ, काशी ।

कठो० कठोपनिषद् ।

कर्ण० प्रमाणवार्तिककी कर्णकगोमिकृत टीका, किताब महल, इलाहाबाद ।

कारिका० कारिकावली ।

कौषी० कौषीतकी-उपनिषद् ।

खण्डन० खण्डनखण्डखाद्य, लाजरस कंपनी, काशी ।

छान्दो० छान्दोग्योपनिषद् ।

जैनत० जैनतर्कभाषा, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बंबई ।

तत्त्वचिं० तत्त्वचिन्तामणि, एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता ।

तत्त्ववै० योगभाष्यकी तत्त्ववैशारदी टीका, चौखम्बा, काशी ।

तत्त्वसं० तत्त्वसंग्रह, गायकवाड सिरीझ, बडोदा ।

तत्त्वसं० पं० तत्त्वसंग्रहपञ्जिका ,, ,,

तत्त्वार्थ० तत्त्वार्थाधिगमसूत्रम्, आर्हतमतप्रभाकर, पूना ।

तत्त्वार्थटी० तत्त्वार्थाधिगमसूत्रभाष्यकी हरिभद्रकृत टीका ।

तत्त्वार्थभा० तत्त्वार्थाधिगमसूत्रभाष्य, आर्हतमतप्रभाकर, पूना ।

तत्त्वार्थभा० सि० टी० तत्त्वार्थाधिगमसूत्रभाष्यकी सिद्धसेनकृत टीका, देवचन्द्र लालभाई, सूरत ।

तत्त्वार्थश्लो० तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, गांधी नाथारंग, बंबई ।

तत्त्वार्थसं० तत्त्वार्थाधिगमसूत्रभाष्यकी संबंधकारिका ।

तत्त्वो० तत्त्वोपप्लवसिंह, गायकवाड सिरीझ, बडोदा ।

तन्त्र० तन्त्रवार्तिक, चौखम्बा संस्कृत सिरीझ, काशी ।

तात्पर्य० न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, ,, ,,

द्रव्यसं० वृ० द्रव्यसंग्रह-वृत्ति, जैनपब्लिशिंग हाऊस, आरा ।

धर्मसं० टी० धर्मसंग्रहणीटीका, देवचन्द्र लालभाई, सूरत ।

न्यायकु० न्यायकुमुदचन्द्र, माणिकचन्द्र जैनग्रन्थमाला, बंबई ।

न्यायप्र० न्यायप्रवेश, गायकवाड सिरीज़, बडोदा ।
न्यायप्र० पं० न्यायप्रवेशवृत्तिपञ्जिका, ,, ,,
न्यायप्र० वृ० न्यायप्रवेशवृत्ति ,, ,,
न्यायबि० न्यायबिन्दु धर्मकीर्तिकृत, चौखम्बा, काशी ।
न्यायबि० टी० न्यायबिन्दुटीका ,, ,,
न्यायबि० टीकाटि० न्यायबिन्दुटीका टिप्पणी, बिब्लिओथिका बुद्धिकाशिया ।
न्यायभा० न्यायसूत्रभाष्य, चौखम्बा, काशी ।
न्यायम० न्यायमञ्जरी ,, ,,
न्यायमं० वि० न्यायमंजरी, विजयानगरम्, काशी ।
न्यायली० न्यायलीलावती, चौखम्बा काशी ।
न्यायवा० न्यायवार्तिक, ,, ,,
न्यायवि० न्यायविनिश्चय (अकलंकग्रन्थत्रयान्तर्गत) सिंघी जैनग्रन्थमाला, बंबई ।
न्यायसू० न्यायसूत्र, चौखम्बा, काशी ।
न्याया० न्यायावतार, जैन श्वे० कॉन्फ्रेन्स, बंबई ।
न्याया० टी० न्यायावतारकी सिद्धर्षिकृतटीका
पञ्चसं० पञ्चसंग्रह, मुक्ताबाई ज्ञानमंदिर, डभोई ।
परी० } परीक्षामुखसूत्रम् (प्रमेयकमलमार्तण्डान्तर्गत) निर्णयसागर, बंबई ।
परीक्षा० }
पात० पातञ्जलमहाभाष्य, काशी ।
पारस्करगृ० पारस्करगृह्यसूत्र ।
प्रकरणपं० प्रकरणपञ्चिका, चौखम्बा, काशी ।
प्रमाणन० प्रमाणनयतत्त्वालोक, आर्हतमतप्रभाकर, पूना ।
प्रमाणप० प्रमाणपरीक्षा, सनातन जैन ग्रन्थमाला, काशी ।
प्रमाणमी० प्रमाणमीमांसा, सिंघी-जैन ग्रन्थमाला, बंबई ।
प्रमाणमी० भाषा० प्रमाणमीमांसा-भाषाटिप्पण ।
प्रमाणवा० प्रमाणवार्तिक (मनोरथनन्दीटीकान्तर्गत) बिहार एन्ड ओरिसा रि० सो०, पटना ।
प्रमाणवा० अ० } प्रमाणवार्तिकालंकार (लिखित), भारतीयविद्याभवन, बंबई ।
प्रमाणवा० अलं० }
प्रमाणवा० अ० मु० प्रमाणवार्तिकालंकार मुद्रित, बिहार एन्ड ओरिसा रि० सो०, पटना ।
प्रमाणवा० स्व० प्रमाणवार्तिक-स्वोपज्ञवृत्ति, किताबमहल, इलाहाबाद ।
प्रमाणसं० प्रमाणसंग्रह (अकलंकग्रन्थत्रयान्तर्गत) सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बंबई ।
प्रमाणसमु० प्रमाणसमुच्चय, माइसूर यूनिवर्सिटी, माइसूर ।
प्रमाणसमु० टी० प्रमाणसमुच्चयटीका, ,, ,,
प्रमाणसमु० वृ० प्रमाणसमुच्चयवृत्ति ,, ,,
प्रमेयक० प्रमेयकमलमार्तण्ड, निर्णयसागर प्रेस, बंबई ।
प्रशस्त० प्रशस्तपादभाष्यम्, (व्योमवत्यन्तर्गत) चौखम्बा, काशी ।
बृहदा० बृहदारण्यकवार्तिक, आनन्दाश्रम, पूना ।
ब्र० शांकर० ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, निर्णयसागर, बंबई ।
बृहत्० बृहत्कल्पभाष्य, आत्मानन्दसभा, भावनगर ।
मनो० प्रमाणवार्तिक-मनोरथनन्दीटीका, पटना ।
महायानसू० महायानसूत्रालङ्कार, पेरिस ।
माठर० सांख्यकारिका-माठरवृत्ति, चौखम्बा, काशी ।
माध्य० माध्यमिककारिका } बिब्लिओथिका बुद्धिका, रशिया ।
माध्य० वृ० माध्यमिकवृत्ति }
मुक्ता० न्यायसिद्धान्तमुक्तावली ।

मैत्र्यु० मैत्र्युपनिषद् ।
योगद० योगदर्शन, चौखम्बा, काशी ।
योगह० योगदृष्टिसमुच्चय, देवचन्द्र लालभाई, सूरत ।
योगह० टी० योगदृष्टिसमुच्चयटीका ,, ,,
योगभा० } योगसूत्रभाष्य, चौखम्बा, काशी ।
योगसू० भा० }
रघु० रघुवंश ।
राजवा० तत्त्वार्थराजवार्तिकालंकार, जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता ।
लघी० लघीयस्त्रय (अकलंकग्रन्थत्रयान्तर्गत) सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बंबई ।
लघी० स्व० लघीयस्त्रयस्वविवृति ,, ,,
लाट्यायनश्रौ० लाट्यायन श्रौतसूत्र ।
वंदन० वन्दनकप्रकीर्णक, (अभिधानराजेन्द्रान्तर्गत)
वाक्य० वाक्यपदीय, चौखम्बा, काशी ।
वाक्य० टी० वाक्यपदीय टीका ,,
विग्रह० विग्रहव्यावर्तिनी, बिहार एण्ड ओरिसा रि० सो०, पटना ।
विज्ञप्ति० विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, पेरिस ।
विज्ञप्ति० भा० विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिभाष्य, ,,
वेदान्तप० वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा, काशी ।
वैशे० वैशेषिकसूत्र, ,, ,,
वैशे० उप० वैशेषिक उपस्कार ,, ,,
व्यो० प्रशस्तपादभाष्य-व्योमवती टीका, ,,
शां० ब्रह्म० ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य, निर्णयसागर, बंबई ।
शाबर० शाबरभाष्य, आनन्दाश्रम, पूना ।
शाबर० व्या० शाबरभाष्यव्याख्या ,,
शास्त्रदी० शास्त्रदीपिका, निर्णयसागर, बंबई ।
शास्त्रवा० शास्त्रवार्तासमुच्चय ।
शास्त्रवा० यशो० टी० शास्त्रवार्तासमुच्चय-यशोविजयटीका, देवचन्द्र लालभाई, सूरत ।
श्लोक० } मीमांसा श्लोकवार्तिक, चौखम्बा, काशी ।
श्लोकवा० }
श्लोक० तात्पर्य० मीमांसाश्लोकवार्तिकतात्पर्यटीका, मद्रास ।
श्लोक० न्यायर० मीमांसाश्लोकवार्तिकन्यायरत्नाकरव्याख्या, चौखम्बा, काशी ।
षड्द० षड्दर्शनसमुच्चय (हरिभद्रग्रन्थसंग्रहान्तर्गत), जैनग्रन्थप्रकाशक सभा, अमदाबाद
षड्द० गुण० षड्दर्शनसमुच्चय-गुणरत्नटीका, एसियाटिकसोसायटी, कलकत्ता ।
सन्मति० टी० सन्मतितर्कप्रकरणटीका, गूजरात विद्यापीठ, अमदाबाद ।
सर्वार्थ० सर्वार्थसिद्धि, मल्लिसागर जैनग्रन्थमाला, मेरठ ।
सांख्य० सांख्यकारिका } न्यूसप्रिन्टींगप्रेस, बंबई ।
सांख्यत० सांख्यतत्त्वकौमुदी }
सिद्धिवि० टी० सिद्धिविनिश्चयटीका (लिखित)
सूत्रकृ० सूत्रकृताङ्गसूत्र, आगमोदयसमिति, सूरत ।
स्याद्वादम० स्याद्वादमंजरी, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बंबई ।
स्याद्वादर० स्याद्वादरत्नाकर, आर्हतमतप्रभाकर, पूना ।
हेतु० हेतुबिन्दु(लिखित)
हेतुबि० टी० } हेतुबिन्दुटीका, गायकवाड सिरीज़, बडोदा ।
हेतु० टी० }
हेतु० आ० हेतुबिन्दुटीकालोक ,, ,, ,,

स्व० बाबू श्री बहादुर सिंहजी सिंघी
और
सिंघी जैन ग्रन्थमाला

*

[स्मरणाञ्जलि]

मेरे अनन्य आदर्शपोषक, कार्यसाधक, उत्साहप्रेरक और सहृदय स्नेहास्पद बाबू श्री बहादुर सिंहजी सिंघी, जिन्होंने मेरी विशिष्ट प्रेरणासे, अपने स्वर्गवासी साधुचरित पिता श्री डालचंदजी सिंघीके पुण्यस्मरण निमित्त, इस 'सिंघी जैन ग्रन्थमाला' की कीर्तिकारिणी स्थापना करके, इसके लिये प्रतिवर्ष हजारों रुपये खर्च करनेकी आदर्श उदारता प्रकट की थी; और जिनकी ऐसी असाधारण ज्ञानभक्तिके साथ अनन्य आर्थिक उदारवृत्ति देख कर, मैंने भी अपने जीवनका विशिष्ट शक्तिशाली और मूल्यवान् बहुत ही शेष अवशेष उत्तर काल, इस ग्रन्थमालाके ही विकास और प्रकाशके लिये सर्वात्मना रूपसे समर्पित कर दिया था; तथा जिन्होंने इस ग्रन्थमालाका विगत १३-१४ वर्षोंमें ऐसा सुंदर, समृद्ध और सर्वादरणीय कार्यफल निष्पन्न हुआ देख कर भविष्यमें इसके कार्यको और अधिक प्रगतिमान तथा विस्तीर्ण रूपमें देखनेकी अपने जीवनकी एक मात्र परम अभिलाषा रखी थी; और तदनुसार, मेरी प्रेरणा और योजनाका अनुसरण करके प्रस्तुत ग्रन्थमालाकी प्रबन्धात्मक कार्य-व्यवस्था 'भारतीय विद्याभवन' को समर्पित कर देनेकी महती उदारता दिखा कर, जिन्होंने इसके भावीके सम्बन्धमें निश्चिन्त हो जानेकी आशा की थी; वह पुण्यवान्, साहित्यरसिक, उदारमनस्क, अमृताभिलाषी, अभिनन्दनीय आत्मा, अब इस ग्रन्थमालाके प्रकाशनोंको प्रत्यक्ष देखनेके लिये इस संसारमें विद्यमान् नहीं है। सन् १९४४ की जुलाई मासकी ७ वीं तारीखको, ५९ वर्षकी अवस्थामें वह महान् आत्मा इस लोकमेंसे प्रस्थान कर गया। उनके भव्य, आदरणीय, स्पृहणीय, और श्लाघनीय जीवनको अपनी स्नेहात्मक 'स्मरणांजलि' प्रदान करनेके निमित्त, उनके जीवनका कुछ संक्षिप्त परिचय आलेखित करना यहां-योग्य होगा।

सिंघीजीके जीवनके साथके मेरे खास खास स्मरणोंका विस्तृत आलेखन, मैंने उनके ही 'स्मारक ग्रन्थ' के रूपमें प्रकाशित किये गये 'भारतीय विद्या' नामक पत्रिकाके तृतीय भागकी अनुपूर्तिमें किया है। उनके सम्बन्धमें विशेष जाननेकी इच्छा रखने वाले वाचकोंको वह 'स्मारक ग्रन्थ' देखना चाहिये।

*

बाबू श्री बहादुर सिंहजीका जन्म बंगालके मुर्शिदाबाद परगनेमें स्थित अजीमगंज नामक स्थानमें संवत् १९४१ में हुआ था। वह बाबू डालचंदजी सिंघीके एकमात्र पुत्र थे। उनकी माता श्रीमती मन्नुकुमारी अजीमगंजके ही वैद कुटुम्बके बाबू जयचंदजीकी पुत्री थी। श्री मन्नुकुमारीकी एक बहन जगतसेठजीके यहाँ ब्याही गई थी और दूसरी बहन सुप्रसिद्ध नाहर कुटुम्बमें ब्याही गई थी। कलकत्तेके स्व० सुप्रसिद्ध जैन स्कॉलर और अग्रणी व्यक्ति बाबू पूरणचंदजी नाहर, बाबू बहादुर सिंहजी सिंघीके मौसेरे भाई थे। सिंघीजीका ब्याह बालुचर-अजीमगंजके सुप्रसिद्ध धनाढ्य जैनगृहस्थ लक्ष्मीपत सिंहजीकी पौत्री और छत्रपत सिंहजीकी पुत्री श्रीमती तिलकसुंदरीके साथ, संवत् १९५४ में हुआ था। इस प्रकार श्री बहादुर सिंहजी सिंघीका कौटुम्बिक सम्बन्ध बंगालके खास प्रसिद्ध जैन कुटुम्बोंके साथमें प्रगाढ रूपसे संकलित था।

बाबू श्री बहादुर सिंहजीके पिता बाबू डालचंदजी सिंघी बंगालके जैन महाजनोंमें एक बहुत ही प्रसिद्ध और सच्चरित पुरुष हो गये हैं। वह अपने अकेले स्वपुरुषार्थ और स्वउद्योगसे, एक बहुत ही साधारण स्थितिके व्यापारीकी कोटिमेंसे कोट्यधिपतिकी स्थितिको पहुँचे थे और सारे बंगालमें एक सुप्रतिष्ठित और प्रामाणिक व्यापारीके रूपमें उन्होंने विशिष्ट ख्याति प्राप्त की थी। एक समय वे बंगालके सबसे

मुख्य व्यापार जूटके सबसे बड़े व्यापारी हो गये थे । उनके पुरुषार्थसे उनकी व्यापारी पेढी जो हरिसिंह निहालचंदके नामसे चलती थी, वह बंगालमें जूटका व्यापार करनेवाली देशी तथा विदेशी पेढियोंमें सबसे बड़ी पेढी गिनी जाने लगी ।

बाबू डालचंदजी सिंघीका जन्म संवत् १९२१ में हुआ था और १९३५ में उनका श्रीमन्नुकुमारीके साथ विवाह हुआ । १४–१५ वर्षकी अवस्थामें डालचंदजीने अपने पिताकी दुकानका कारभार, जो कि उस समय बहुत ही साधारणरूपसे चलता था, अपने हाथमें लिया । वह अजीमगंज छोड कर कलकत्ता आये और वहाँ उन्होंने अपनी परिश्रमशीलता तथा उच्च अध्यवसायके द्वारा कारभारको धीरे धीरे बहुत ही बढाया और अंतमें उसको एक सबसे बड़े 'फर्म'के रूपमें स्थापित किया । जिस समय कलकत्तामें 'जूट बेलर्स एसोसिएशन'की स्थापना हुई, उस समय बाबू डालचंदजी सिंघी उसके सर्वप्रथम प्रेसिडेण्ट बनाये गये । जूटके व्यापारमें इस प्रकार सबसे बड़ा स्थान प्राप्त करनेके बाद उन्होंने अपना लक्ष्य दूसरे दूसरे उद्योगोंकी ओर भी दिया । एक ओर उन्होंने मध्यप्रान्तस्थित कोरीया स्टेटमें कोयलेकी खानोंके उद्योगकी नींव डाली और दूसरी ओर दक्षिणके बाकति और अकलतराके राज्योंमें स्थित चूनेके पत्थरोंकी खानोंके तथा बेलगाम, सावंतवाडी, इचलकरंजी जैसे स्थानोंमें आई हुई 'बोक्साइट' की खानोंके विकासकी शोधके पीछे अपना लक्ष्य केन्द्रित किया । कोयलेके उद्योगके लिये उन्होंने 'मेसर्स डालचंद बहादुरसिंह' इस नामकी नवीन पेढीकी स्थापना की; जो कि आज हिंदुस्तानमें एक अग्रगण्य पेढी गिनी जाती है । इसके अतिरिक्त उन्होंने बंगालके चोवीसपरगना, रंगपुर, पूर्णिया आदि परगनोंमें बड़ी जमींदारी भी खरीदी और इस प्रकार बंगालके नामांकित जमींदारोंमें भी उन्होंने अपना खास स्थान प्राप्त किया । बाबू डालचंदजीकी ऐसी सुप्रतिष्ठा केवल व्यापारिक क्षेत्रमें ही मर्यादित नहीं थी । वह अपनी उदारता और धार्मिकताके लिये भी उतने ही सुप्रसिद्ध थे । उनकी परोपकारवृत्ति भी उतनी ही प्रशंसनीय थी । परंतु साथमें परोपकारसुलभ प्रसिद्धिसे वे दूर रहते थे । बहुत अधिक परिमाणमें वे गुप्त रीतिसे ही अर्थी जनोंको अपनी उदारताका लाभ दिया करते थे । उन्होंने अपने जीवनमें लाखोंका दान किया होगा; परंतु उसकी प्रसिद्धिकी कामना उन्होंने स्वप्नमें भी नहीं की । उनके सुपुत्र बाबू श्री बहादुर सिंहजीने प्रसंगवश मुझे कहा था कि 'वे जो कुछ दान आदि करते थे उसकी खबर वे मुझ तकको भी न होने देते थे ।' इसलिये उनके दान सम्बन्धी केवल २–४ प्रसङ्गोंकी ही खबर मुझे प्राप्त हो सकी थी ।

सन् १९२६ में 'चित्तरंजन सेवा सदन' के लिये कलकत्तामें चंदा किया गया था । उस समय एक बार खुद महात्माजी उनके मकान पर गये थे तब उन्होंने बिना माँगे ही महात्माजीको इस कार्यके लिये १०००० दस हजार रुपये दिये थे ।

१९१७ में कलकत्तामें 'गवर्नमेण्ट हाउस' के मेदानमें, लॉर्ड कार्माइकलके सभापतित्वमें रेडक्रॉसके लिये एक उत्सव हुआ था उसमें उन्होंने २१००० रुपये दिये थे; तथा प्रथम महायुद्धके समय उन्होंने ३,००,००० रुपये के 'वॉर बॉण्डस्' खरीद कर सरकारी चंदेमें मदद की थी । अपनी अंतिम अवस्थामें उन्होंने अपने निकट कुटुम्बी जनोंको – जिनकी आर्थिक स्थिति बहुत ही साधारण प्रकारकी थी उनको – बारह लाख रुपये बांट देनेकी व्यवस्था की थी; जिसका पालन उनके सुपुत्र बाबू बहादुर सिंहजीने किया था ।

बाबू डालचंदजीका गार्हस्थ्यजीवन बहुत ही आदर्शरूप था । उनकी धर्मपत्नी श्रीमती मन्नुकुमारी एक आदर्श और धर्मपरायण पत्नी थी । पति-पत्नी दोनों सदाचार, सुविचार और सुसंस्कारकी मूर्ति जैसे थे । डालचंदजीका जीवन बहुत ही सादा और साधुत्वसे परिपूर्ण था । व्यवहार और व्यापार दोनोंमें उनका अत्यंत प्रामाणिक और नीतिपूर्वक वर्तन था । स्वभावसे वे बहुत ही शान्त और निरभिमानी थे । ज्ञानमार्गके ऊपर उनकी गहरी श्रद्धा थी । उनकी तत्त्वज्ञानविषयक पुस्तकोंके पठन और श्रवणकी ओर अत्यधिक रुचि रहती थी । किसनगर कॉलेजके एक अध्यात्मलक्षी बंगाली प्रोफेसर बाबू व्रजलाल अधिकारी, जो योगविषयक प्रक्रियाके अच्छे अभ्यासी और तत्त्वचिंतक थे, उनके सहवाससे बाबू डालचंदजीकी भी यौगिक प्रक्रियाकी ओर खूब रुचि हो गई थी और इसलिये उन्होंने उनके पाससे इस विषयकी कुछ खास प्रक्रियाओंका गहरा अभ्यास भी किया था । शारीरिक स्वास्थ्य और मानसिक पवित्रताका जिससे विकास हो ऐसी ,व्यावहारिक जीवनके लिये अत्यंत उपयोगी, कितनी ही यौगिक प्रक्रियाओंकी ओर, उन्होंने अपनी पत्नी तथा पुत्र-पुत्री आदिको भी अभ्यास करनेके लिये प्रेरित किये थे ।

जैन धर्मके विशुद्ध तत्त्वोंके प्रचार और सर्वोपयोगी जैन साहित्यके प्रकाशनके लिये भी उनकी खास रुचि थी और पंडितप्रवर सुखलालजीके परिचयके बाद इस कार्यके लिये कुछ विशेष सक्रिय प्रयत्न करनेकी उनकी उत्कण्ठा जाग उठी थी। इस उत्कण्ठा को मूर्तरूप देनेके लिये वे कलकत्तामें २-४ लाख रुपये खर्च करके किसी साहित्यिक या शैक्षणिक केन्द्रको स्थापित करनेकी योजनाका विचार कर ही रहे थे जितनेमें एकाएक सन् १९२७ (वि. सं. १९८४)में उनका स्वर्गवास हो गया।

*

बाबू डालचंदजी सिंघी, अपने समयके बंगाल निवासी जैन-समाजमें एक अत्यन्त प्रतिष्ठित व्यापारी, दीर्घदर्शी उद्योगपति, बड़े जमींदार, उदारचेता सद्गृहस्थ और साधुचरित सत्पुरुष थे। वे अपनी यह सर्व सम्पत्ति और गुणवत्ताका समग्र वारसा अपने सुयोग्य पुत्र बाबू बहादुर सिंहजीके सुपुर्द कर गये, जिन्होंने अपने इन पुण्यश्लोक पिताकी स्थूल सम्पत्ति और सूक्ष्म सत्कीर्ति – दोनोंको बहुत ही सुंदर प्रकारसे बढ़ा कर पिताकी अपेक्षा भी सवाई श्रेष्ठता प्राप्त करनेकी विशिष्ट प्रतिष्ठा प्राप्त की थी।

बाबू श्री बाहादुर सिंहजीमें अपने पिताकी व्यापारिक कुशलता, व्यावहारिक निपुणता और सांस्कारिक सन्निष्ठा तो संपूर्ण अंशमें वारसेके रूपमें उतरी ही थी; परन्तु उसके अतिरिक्त उनमें बौद्धिक विशदता, कलात्मक रसिकता और विविधविषयग्राहिणी प्राञ्जल प्रतिभाका भी उच्च प्रकारका सन्निवेश हुआ था और इसलिये वे एक असाधारण व्यक्तित्व रखनेवाले महानुभावोंकी पंक्तिमें स्थान प्राप्त करनेकी योग्यता हासिल कर सके थे।

वे अपने पिताके एकमात्र पुत्र थे, अतएव उन पर, अपने पिताके विशाल कारभारमें, बचपनसे ही विशेष लक्ष्य देनेका कर्तव्य आ पड़ा था। फलस्वरूप वे हाइस्कूलका अभ्यास पूरा करनेके सिवाय कॉलेजमें जा कर अधिक अभ्यास करनेका अवसर प्राप्त नहीं कर सके थे। फिर भी उनकी ज्ञानरुचि बहुत ही तीव्र थी, अतएव उन्होंने स्वयमेव विविध प्रकारके साहित्यके वाचनका अभ्यास खूब ही बढ़ाया और इसलिये वे अंग्रेजीके सिवाय, बंगाली, हिंदी, गुजराती भाषाएँ भी बहुत अच्छी तरह जानते थे और इन भाषाओंमें लिखित विविध पुस्तकोंके पठनमें सतत निमग्न रहते थे।

बचपनसे ही उन्हें प्राचीन वस्तुओंके संग्रहका भारी शौक लग गया था और इसलिये वे प्राचीन सिक्कों, चित्रों, मूर्तियों और वैसी दूसरी दूसरी मूल्यवान् चीजोंका संग्रह करनेके अत्यन्त रसिक हो गये थे। इसके साथ उनका जवाहिरातकी ओर भी खूब शौक बढ गयाथा अतः वे इस विषयमें भी खूब निष्णात बन गये थे। इसके परिणामस्वरूप उन्होंने अपने पास सिक्कों, चित्रों, हस्तलिखित बहुमूल्य पुस्तकों आदिका जो अमूल्य संग्रह एकत्रित किया वह आज हिंदुस्थानके इने गिने हुए नामी संग्रहोंमें, एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करे ऐसा है। उनके प्राचीन सिक्कोंका संग्रह तो इतना अधिक विशिष्ट प्रकारका है कि उसका आज सारी दुनियामें तीसरा या चौथा स्थान आता है। वे इस विषयमें इतने निपुण हो गये थे कि बड़े बड़े म्यूजियमोंके क्यूरेटर भी बार बार उनसे सलाह और अभिप्राय प्राप्त करनेके लिये उनके पास आते रहते थे।

वे अपने ऐसे उच्च सांस्कृतिक शौकके कारण देश-विदेशकी वैसी सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ करनेवाली अनेकों संस्थाओंके सदस्य आदि बने थे। उदाहरणस्वरूप – रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, अमेरिकन ज्यॉग्रॉफिकल सोसायटी न्यूयॉर्क, बंगीय साहित्य परिषद् कलकत्ता, न्यूमेस्मेटिक सोसायटी ऑफ इण्डिया – इत्यादि अनेक प्रसिद्ध संस्थाओंके वे उत्साही सभासद थे।

साहित्य और शिक्षण विषयक प्रवृत्ति करनेवाली जैन तथा जैनेतर अनेकों संस्थाओंको उन्होंने मुक्तमनसे दान दे करके, इन विषयोंके प्रसारमें अपनी उत्कट अभिरुचिका उत्तम परिचय दिया था। उन्होंने इस प्रकार कितनी संस्थाओंको आर्थिक सहायता दी थी, उसकी सम्पूर्ण सूचितो नहीं मिल सकी है। ऐसे कार्योंमें वे अपने पिताकी ही तरह, प्रायः मौन रहते थे और इसके लिये अपनी प्रसिद्धि प्राप्त करनेकी आकांक्षा नहीं रखते थे। उनके साथ किसी किसी वक्त प्रसंगोचित वार्तालाप करते समय इस सम्बन्धी जो थोड़ी बहुत घटनाएँ ज्ञात हो सकीं; उसके आधार परसे, उनके पाससे आर्थिक सहायता प्राप्त करनेवाली कुछ संस्थाओंके नाम आदि इस प्रकार जान सका हूँ।

हिंदू एकेडेमी, दौलतपुर (बंगाल). रु० १५०००)
तरक्की–उर्दू बंगाला. ५०००)
हिंदी–साहित्य परिषद्‌भवन (इलाहाबाद) १२५००)
विशुद्धानंद सरस्वती मारवाडी हॉस्पीटल, कलकत्ता. १००००)
एक मेटर्निटी होम कलकत्ता. २५००)
बनारस हिंदू यूनिवर्सिटी. २५००)
जीयागञ्ज हाइस्कूल. ५०००)
जीयागञ्ज लण्डन मिशन हॉस्पीटल. ६०००)
कलकत्ता–मुर्शिदाबाद जैन मन्दिर. ११०००)
जैनधर्मप्रचारक सभा, मानभूम. ५०००)
जैनभवन, कलकत्ता. १५०००)
जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल, आगरा. ७५००)
जैन मंदिर, आगरा. ३५००)
जैन हाइस्कूल, अंबाला. २१०००)
जैन प्राकृतकोषके लिये. २५००)
भारतीय विद्याभवन, बंबई. १००००)

*

इसके अतिरिक्त हजार-हजार, पाँच पाँचसोकीसी छोटी मोटी रकमें तो उन्होंने सैंकडोंकी संख्यामें दी हैं, जिसका योग कोई डेढ दो लाखसे भी अधिक होगा।

साहित्य और शिक्षणकी प्रगतिके लिये सिंघीजी जितना उत्साह और उद्योग दिखलाते थे, उतने ही वे सामाजिक प्रगतिके लिये भी प्रयत्नशील थे। अनेक बार उन्होंने ऐसी सामाजिक सभाओं इत्यादिमें प्रमुख रूपसे भाग ले करके अपने इस विषयका आन्तरिक उत्साह और सहकारभाव प्रदर्शित किया था। सन् १९२६ में बंबईमें होनेवाली जैन श्वेताम्बर कॉन्फरन्सके खास अधिवेशनके वे सभापति बने थे। उदयपुर राज्यमें आये हुए केसरीयाजी तीर्थकी व्यवस्थाके विषयमें स्टेटके साथ जो प्रश्न उपस्थित हुआ था उसमें उन्होंने सबसे अधिक तन, मन और धनसे सहयोग दिया था। इस प्रकार वे जैन समाजके हितकी प्रवृत्तियोंमें यथायोग्य सम्पूर्ण सहयोग देते थे; परंतु इसके साथ वे सामाजिक मूढता और साम्प्रदायिक कट्टरताके पूर्ण विरोधी भी थे। धनवान और प्रतिष्ठित गिने जाने वाले दूसरे रूढिभक्त जैनोंकी तरह वे संकीर्ण मनोवृत्ति या अन्धश्रद्धाकी पोषक विकृत भक्तिसे सर्वथा परे रहते थे। आचार, विचार एवं व्यवहारमें वे बहुत ही उदार और विवेकशील थे।

उनका गार्हस्थ्य जीवन भी बहुत सादा और सात्विक था। बंगालके जिस प्रकारके नवाबी गिने जाने वाले वातावरणमें वे पैदा और बडे हुए थे उस वातावरणकी उनके जीवन पर कुछ भी खराब असर नहीं हुई थी और वे लगभग उस वातावरणसे बिलकुल अलिप्त जैसे थे। इतने बडे श्रीमान् होने पर भी, श्रीमंताइके–धनिकताके बुरे विलास या मिथ्या आडम्बरसे वे सदैव दूर रहते थे। दुर्व्यय और दुर्व्यसनके प्रति उनका भारी तिरस्कार था। उनके समान स्थितिवाले धनवान जब अपने मोज-शौक, आनंद-प्रमोद, विलास-प्रवास, समारम्भ-महोत्सव इत्यादिमें लाखों रुपये उडाते थे तब सिंघीजी उनसे बिलकुल विमुख रहते थे। उनका शौक केवल अच्छे वाचन और कलामय वस्तुओंके देखनेका तथा संग्रह करनेका था। जब देखो तब, वे अपनी गादी पर बैठे बैठे साहित्य, इतिहास, स्थापत्य, चित्र, विज्ञान, भूगोल और भूगर्भविद्यासे सम्बन्ध रखने वाले सामयिकों या पुस्तकोंको पढते ही दिखाई दिया करते थे। अपने ऐसे विशिष्ट वाचनके शौकके कारण वे अंग्रेजी, बंगाली, हिंदी, गुजराती आदिमें प्रकाशित होने वाले उच्च कोटिके, उक्त विषयोंसे सम्बन्ध रखनेवाले विविध प्रकारके सामयिक पत्रों और जर्नलोंको नियमित रूपसे मंगाते रहते थे। ऑर्ट, आर्किऑलॉजी, एपीग्राफी, ज्योग्रॉफी, आइकॉनोग्रॉफी, हिस्टरी और माइनिंग आदि विषयोंकी पुस्तकोंकी उन्होंने अपने पास एक अच्छी लाइब्रेरी ही बना ली थी।

वे स्वभावसे एकान्तप्रिय और अल्पभाषी थे। व्यर्थकी बातें करनेकी ओर या गपें मारनेकी ओर उनका बहुत ही अभाव रहता था। अपने व्यावसायिक व्यवहारकी या विशाल कारभारकी बातोंमें भी वे

बहुत ही मितभाषी थे। परंतु जब उनके प्रिय विषयोंकी – जैसे कि स्थापत्य, इतिहास, चित्र आदिकी – चर्चा चलती तब उसमें वे इतने तिमग्न हो जाते थे कि कितने ही घण्टे व्यतीत हो जाने पर भी वे उससे थकते नहीं थे और न किसी तरहकी व्याकुलताका अनुभव करते थे।

उनकी बुद्धि अत्यंत तीक्ष्ण थी। किसी भी वस्तुको समझने या उसका मर्म पकड़नेमें उनको थोड़ा सा भी समय नहीं लगता था। विज्ञान और तत्त्वज्ञानकी गंभीर बातें भी वे अच्छी तरह समझ सकते थे और उनका मनन करके उन्हें पचा लेते थे। तर्क और दलीलबाजीमें वे बड़े बड़े कायदाबाजोंसे भी बाजी मार लेते थे तथा चाहे जैसा चालाक भी उन्हें अपनी चालाकीसे चकित या मुग्ध नहीं बना सकता था।

अपने सिद्धान्त या विचारमें वे बहुत ही दृढ़मनस्क थे। एक बार कोई विचार निश्चित कर लेनेके बाद और किसी कार्यका स्वीकार कर लेनेके बाद उसमेंसे चल-विचल होना वे बिलकुल पसंद नहीं करते थे।

व्यवहारमें भी वे बहुत ही प्रामाणिक वृत्तिवाले थे। दूसरे धनवानोंकी तरह व्यापारमें छल-प्रपंच, धोखाधड़ी या सच-झूठ करके धन प्राप्त करनेकी तृष्णा उनको यत्किंचित् भी नहीं होती थी। उनकी ऐसी व्यावहारिक प्रामाणिकताको लक्ष्यमें रख करके इंग्लेण्डकी मर्केन्टाइल बेङ्कके डायरेक्टरोंकी बोर्डने अपनी कलकत्ताकी शाखाके बोर्डमें, एक डायरेक्टर होनेके लिये उनसे खास प्रार्थना की थी। इसके पहले किसी भी हिंदुस्तानी व्यापारीको यह मान प्राप्त नहीं हुआ था।

प्रतिभा और प्रामाणिकताके साथ उनमें योजनाशक्ति भी बहुत उच्च प्रकारकी थी। उन्होंने अपनी ही स्वतंत्र बुद्धि और कुशलता द्वारा एक ओर अपनी बहुत बड़ी जमींदारीकी और दूसरी ओर कोलियारी आदि माइनिङ्गके उद्योगकी, जो सुव्यवस्था और सुघटना की थी; उसे देख करके उस-उस विषयके ज्ञाता लोग चकित हो जाते थे। अपने घरके छोटे से छोटे कामसे शुरु करके ठेठ कोलियारी जैसे बड़े कारखाने तकमें – जहाँ कि हजारों मनुष्य काम करते रहते हैं – बहुत ही नियमित, सुव्यवस्थित और सुयोजित रीतिसे काम चला करे, वैसी उनकी सदा व्यवस्था रहती थी। दरबानसे लगा कर अपने समवयस्क जैसे पुत्रों तकमें, एक समान, उच्च प्रकारका शिस्त-पालन और शिष्ट-आचरण उनके यहाँ दृष्टिगोचर होता था।

सिंघीजीमें ऐसी समर्थ योजकशक्ति होने पर भी, और उनके पास सम्पूर्ण प्रकारकी साधन-सम्पन्नता होने पर भी, वे प्रपंचमय जीवनसे दूर रहते थे और अपने नामकी प्रसिद्धिके लिये या लोगोंमें बड़े आदमी गिनानेके लिये वैसी कोई प्रवृत्ति नहीं करते थे। रायबहादुर, राजाबहादुर या सर-नाइट इत्यादि सरकारी उपाधियोंको धारण करनेकी या कौंसिलोंमें जा करके ऑनरेबल बननेकी उनकी कभी इच्छा नहीं हुई थी। ऐसी आडम्बरपूर्ण प्रवृत्तियोंमें पैसेका दुर्व्यय करनेकी अपेक्षा वे सदा साहित्योपयोगी और शिक्षणोपयोगी कार्योंमें अपने धनका सद्व्यय किया करते थे। भारतवर्षकी प्राचीन कला और उससे संबंध रखनेवाली प्राचीन वस्तुओंकी ओर उनका उत्कट अनुराग था और इसलिये उसके पीछे उन्होंने लाखों रुपये खर्च किये थे।

*

सिंघीजी के साथ मेरा प्रत्यक्ष परिचय सन् १९३० में प्रारम्भ हुआ। उनकी इच्छा अपने स्वर्गत पुण्य-श्लोक पिताके स्मारकमें, जिससे जैन साहित्यका प्रसार और प्रकाश हो वैसी, कोई विशिष्ट संस्था स्थापित करनेकी थी। मेरे जीवनके सुदीर्घकालीन सहकारी, सहचारी और सन्मित्र पंडितप्रवर श्रीसुखलालजी, बाबू श्री डालचंदजीके विशेष श्रद्धाभाजन थे; अतएव श्री बहादुर सिंहजी भी इन पर उतना ही विशिष्ट सद्भाव रखते थे। पंडितजीके परामर्श और प्रस्तावसे, उन्होंने मुझसे इस कार्यकी योजना और व्यवस्था हाथमें लेनेके लिये प्रार्थना की और मैंने भी अपनी अभीष्टतम प्रवृत्तिके आदर्शके अनुरूप, उत्तम कोटिके साधनकी प्राप्ति होती देख कर, उसका सहर्ष और सोल्लास स्वीकार किया।

सन् १९३१ के पहले दिन, विश्ववंद्य कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुरके विभूतिविहारसमान विश्वविद्यालय शान्तिनिकेतनके विश्वभारती विद्याभवनमें 'सिंघी जैन ज्ञानपीठ' की स्थापना की और वहाँ जैन साहित्य के अध्ययन – अध्यापन और संशोधन – संपादन आदिका कार्य प्रारम्भ किया। इस प्रसंगसे सम्बन्धित कुछ प्राथमिक वर्णन, इस ग्रन्थमालामें सबसे प्रथम प्रकाशित 'प्रबन्ध चिंतामणि' नामक ग्रन्थकी प्रस्तावनामें दिया गया है। इसलिये उसकी यहां पुनरुक्ति करना अनावश्यक है।

सिंघीजीने मेरी प्रेरणासे 'सिंघी जैन ज्ञानपीठ' की स्थापनाके साथ, जैन-साहित्यके उत्तमोत्तम ग्रन्थ-रत्नोंको आधुनिक शास्त्रीय पद्धतिपूर्वक, योग्य विद्वानों द्वारा सुन्दर रीतिसे, संशोधित – संपादित करवाके प्रकाशित करनेके लिये और वैसा करके जैन साहित्यकी सार्वजनिक प्रतिष्ठा स्थापित करनेके लिये इस 'सिंघी

जैन ग्रन्थमाला' की विशिष्ट योजनाका भी सहर्ष स्वीकार किया और इसके लिये आवश्यक और अपेक्षित अर्थव्यय करनेका उदार उत्साह प्रदर्शित किया।

प्रारम्भमें शान्तिनिकेतनको लक्ष्यमें रख कर, एक ३ वर्षका कार्यक्रम बनाया गया और तदनुसार वहाँ काम प्रारम्भ किया गया। परन्तु इन तीन वर्षोंके अनुभवके अन्तमें, शान्तिनिकेतनका स्थान मुझे अपने कार्य और स्वास्थ्यकी दृष्टिसे बराबर अनुकूल प्रतीत नहीं हुआ। अतएव अनिच्छापूर्वक मुझे वह स्थान छोड़ना पड़ा और अहमदाबादमें 'गुजरात विद्यापीठ'के सन्निकट 'अनेकान्त विहार' बना करके वहाँ इस कार्यकी प्रवृत्ति चालू रखी। इस ग्रन्थमालामें प्रकाशित ग्रन्थोंकी सर्वत्र उत्तम प्रशंसा, प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा देख कर सिंघीजीका उत्साह खूब बढ़ा और उन्होंने इस सम्बन्धमें जितना खर्च हो उतना खर्च करनेकी, और जैसे बने वैसे अधिक संख्यामें ग्रन्थ प्रकाशित होते हुए देखनेकी अपनी उदार मनोवृत्ति मेरे सामने वारंवार प्रकट की। मैं भी उनके ऐसे अपूर्व उत्साहसे प्रेरित हो कर यथाशक्ति इस कार्यको, अधिक से अधिक वेग देनेके लिये प्रयत्नवान् रहा।

सन् १९३८ के जुलाई मासमें, मेरे परम सुहृद् श्रीयुत कन्हैयालाल माणेकलाल मुंशीका – जो उस समय बंबईकी काँग्रेस गवर्नमेण्टके गृहमंत्रीके उच्च पद पर अधिष्ठित थे – अकस्मात् एक पत्र मुझे मिला, जिसमें इन्होंने सूचित किया था कि 'सेठ मुंगालाल गोएनकाने दो लाख रुपयोंकी एक उदार रकम मुझे सुप्रत की है, जिसका उपयोग भारतीय विद्याओंके किसी विकासात्मक कार्यके लिये करना है और उसके लिये विचार-विनिमय करने तथा तदुपयोगी योजना बनानेके सम्बन्धमें मेरी आवश्यकता है अतएव मुझे तुरत बंबई आना इष्ट है' – इत्यादि। तदनुसार मैं तुरत बंबई आया और हम दोनोंने साथमें बैठ करके इस योजनाकी रूपरेखा तैयार की; और उसके अनुसार संवत् १९९५ की कार्तिक शुक्ला पूर्णिमाके दिन, श्री मुंशीजीके निवासस्थानपर 'भारतीय विद्याभवन' की, एक बृहत् समारम्भके साथ, स्थापना की गई।

भवनके विकासके लिये श्रीमुंशीजीका अथक उद्योग, अखण्ड उत्साह और उदार आत्मभोग देख कर मेरी भी इनके कार्यमें यथायोग्य सहकार अर्पित करनेकी पूर्ण उत्कण्ठा हुई और मैं इसकी आन्तरिक व्यवस्थामें प्रमुख रूपसे भाग लेने लगा। भवनकी विविध प्रवृत्तियोंमें साहित्य प्रकाशन सम्बन्धी जो एक विशिष्ट प्रवृत्ति स्वीकृत की गई थी, वह मेरे इस ग्रन्थमालाके कार्यके साथ, एक प्रकारसे परस्पर साहाय्यक स्वरूपकी ही प्रवृत्ति थी। अतएव मुझे यह प्रवृत्ति मेरे पूर्व-अंगीकृत कार्यमें बाधक न हो कर उलटी साधक ही प्रतीत हुई और इसलिये मैंने इसमें यथाशक्ति अपनी विशिष्ट सेवा देनेका निर्णय किया। सिंघीजीको जब इस सारी वस्तुस्थितिसे परिचित किया गया, तब वे भी भवनके कार्यमें रस लेने लगे और इसके संस्थापक सदस्य बन करके इसके कार्यके प्रति उन्होंने अपनी पूर्ण सहानुभूति प्रकट की।

जैसे मैंने ऊपर बतलाया है वैसे, ग्रन्थमालाके विकासके लिये सिंघीजीका उत्साह अत्यन्त प्रशंसनीय था और इसलिये मैं भी मेरे स्वास्थ्य आदिकी किसी प्रकारकी परवाह किये विना, इस कार्यकी प्रगतिके लिये सतत प्रयत्न करता रहता था। परन्तु ग्रन्थमालाकी व्यवस्थाका सर्व प्रकारका भार मेरे अकेलेके सिर पर आश्रित था, अतएव मेरा शरीर जब यह व्यवस्था करता करता रुक जाय, तब इसकी स्थिति क्या होगी इसका विचार भी मैं वारंवार किये करता था। दूसरी ओर सिंघीजीकी भी उत्तरावस्था होनेसे वे वारंवार अस्वस्थ होने लगे थे और वे भी जीवनकी अस्थिरताका आभास अनुभव करने लगे थे। इसलिये ग्रन्थमालाके भावीके विषयमें कोई स्थिर और सुनिश्चित योजना बना लेनेकी कल्पना हम बराबर करते रहते थे।

भा० वि० भवनकी स्थापना होनेके बाद ३–४ वर्षमें ही इसके कार्यकी विद्वानोंमें अच्छी तरह प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा जमने लगी थी और विविध विषयक अध्ययन-अध्यापन और साहित्यिक संशोधन-संपादनका कार्य अच्छी तरहसे आगे बढ़ने लगा था। यह देख कर सुहृद्वर मुंशीजीकी खास आकांक्षा हुई कि 'सिंघी जैन ग्रन्थमाला'की कार्यव्यवस्थाका सम्बन्ध भी यदि भवनके साथ जोड़ दिया जाय, तो उससे परस्पर दोनोंके कार्यमें सुंदर अभिवृद्धि होनेके अतिरिक्त ग्रन्थमालाको स्थायी स्थान प्राप्त होगा और भवनको भी विशिष्ट प्रतिष्ठाकी प्राप्ति होगी, और इस प्रकार भवनमें जैन-शास्त्रोंके अध्ययनका और जैन-साहित्यके प्रकाशनका एक अद्वितीय केन्द्र बन जायगा। श्रीमुंशीजीकी यह शुभाकांक्षा, ग्रन्थमाला सम्बन्धी मेरी भावी चिंताका योग्य रूपसे निवारण करनेवाली प्रतीत हुई और इसलिये मैं उस विषयकी योजनाका विचार करने लगा। यथावसर सिंघीजीको मैंने श्रीमुंशीजीकी आकांक्षा और मेरी योजना सूचित की। वे भा० वि० भ० के स्थापक-सदस्य तो थे ही और तदुपरान्त श्रीमुंशीजीके खास स्नेहास्पद मित्र भी थे। इसलिये उनको भी यह योजना अपना लेने योग्य प्रतीत हुई। पंडितप्रवर श्री सुखलालजी जो इस ग्रन्थमालाके

आरम्भसे ही अंतरङ्ग हितचिंतक और सक्रिय सहायक रहे हैं, उनके साथ भी इस योजनाके सम्बन्धमें मैंने उचित परामर्श किया और संवत् २००१ के वैशाख शुक्ल (मई सन् १९४२) में सिंघीजी कार्य-प्रसङ्गसे बंबई आये तब, परस्पर निर्णीत विचार-विनिमय करके, इस ग्रन्थमालाकी प्रकाशनसम्बन्धिनी सर्व व्यवस्था भवनके अधीन की गई । सिंघीजीने इसके अतिरिक्त उस अवसर पर, मेरी प्रेरणासे भवनको दूसरे और १० हजार रुपयोंकी उदार रकम भी दी, जिसके द्वारा भवनमें उनके नामका एक 'हॉल' बांधा जाय और उसमें प्राचीन वस्तुओं तथा चित्र आदिका संग्रह रखा जाय ।

भवनकी प्रबंधक समितिने सिंघीजीके इस विशिष्ट और उदार दानके प्रतिघोषरूपमें भवनमें प्रचलित 'जैनशास्त्र-शिक्षणविभाग'को स्थायी रूपसे 'सिंघी जैनशास्त्र शिक्षापीठ' के नामसे प्रचलित रखनेका सविशेष निर्णय किया ।

*

ग्रन्थमालाके जनक और परिपालक सिंघीजी, प्रारम्भसे ही इसकी सर्व प्रकारकी व्यवस्थाका भार मेरे ऊपर छोड कर, वे तो केवल खास इतनी ही आकांक्षा रखते थे कि ग्रन्थमालामें किस तरह अधिकाधिक ग्रन्थ प्रकाशित हों और कैसे उनका अधिक प्रसार हो । इस सम्बन्धमें जितना खर्च हो उतना वे बहुत ही उत्साहसे करनेके लिये उत्सुक थे । भवनको ग्रन्थमाला समर्पण करते समय उन्होंने मुझसे कहा कि– "अब तक तो वर्षमें लगभग २–३ ही ग्रन्थ प्रकट होते रहे हैं परन्तु यदि आप प्रकाशित कर सकें तो प्रति-मास दो दो ग्रन्थ प्रकाशित होते देख कर भी मैं तो अतृप्त ही रहूँगा । जब तक आपका और मेरा जीवन है तब तक, जितना साहित्य प्रकट करने–करानेकी आपकी इच्छा हो तदनुसार आप व्यवस्था करें । मेरी ओरसे आपको पैसेका थोडासा भी संकोच प्रतीत नहीं होगा ।" जैन साहित्यके उद्धारके लिये ऐसी उत्कट आकांक्षा और ऐसी उदार चित्तवृत्ति रखने वाला दानी और विनम्र पुरुष, मैंने मेरे जीवनमें दूसरा और कोई नहीं देखा । अपनी उपस्थितिमें ही उन्होंने मेरे द्वारा ग्रन्थमालाके खाते लगभग ७५००० (पोने लाख) रुपये खर्च किये होंगे । परन्तु उन १५ वर्षोंके बीचमें एक बार भी उन्होंने मुझसे यह नहीं पूछा कि कितनी रकम किस ग्रन्थके लिये खर्च की गई है या किस ग्रन्थके सम्पादनके लिये किसको क्या दिया गया है ? जब जब मैं प्रेस इत्यादिके बिल उनके पास भेजता तब तब, वे तो केवल उनको देख कर ही ऑफिसमें वह रकम चुकानेकी रिमार्कके साथ भेज देते । मैं उनसे कभी किसी बिलके बारेमें बातचीत करना चाहता, तो भी वे उस विषयमें उत्साह नहीं बतलाते और इसके बजाय ग्रन्थमालाकी साइज, टाईप, प्रिंटींग, बाइंडींग, हेडिङ्ग आदिके बारेमें वे खूब सूक्ष्मतापूर्वक विचार करते रहते और उस सम्बन्धमें विस्तारसे चर्चा किया करते । उनकी ऐसी अपूर्व ज्ञाननिष्ठा और ज्ञानभक्तिने ही मुझे उनके स्नेहपाशमें बद्ध किया और इसलिये मैं यत्किंचित् इस प्रकारकी ज्ञानोपासना करनेमें समर्थ हुआ ।

उक्त प्रकारसे भवनको ग्रन्थमाला समर्पित करनेके बाद, सिंघीजीकी ऊपर बतलाई हुई उत्कट आकांक्षा लक्ष्यमें आनेसे, मेरा प्रस्तुत कार्यके लिये और भी अधिक उत्साह बढा । मेरी शारिरिक स्थिति, इस कार्यके अविरत श्रमसे प्रतिदिन बहुत अधिक तीव्रताके साथ क्षीण होती रहती है, फिर भी मैंने इस कार्यको अधिक वेगवान् और अधिक विस्तृत बनानेकी दृष्टिसे कुछ योजनाएँ बनानी शुरु कीं । अनेक छोटे बडे ग्रन्थ एकसाथ प्रेसमें छपनेके लिये दिये गये और दूसरे वैसे अनेक नवीन नवीन ग्रन्थ छपानेके लिये तैयार किये जाने लगे । जितने ग्रन्थ अब तकमें कुल प्रकट हुए थे उतने ही दूसरे ग्रन्थ एक साथ प्रेसमें छपने शुरु हुए और उनसे भी दूनी संख्याके ग्रन्थ प्रेस कॉपी आदिके रूपमें तैयार होने लगे ।

इसके बाद थोडे ही समयके पीछे–अर्थात् सेप्टेम्बर १९४३ में–भवनके लिये कलकत्ताके एक निवृत्त प्रोफेसरकी बडी लाइब्रेरी खरीदनेके लिये मैं वहाँ गया । सिंघीजीके द्वारा ही इस प्रोफेसरके साथ बात-चीत की गई थी और मेरी प्रेरणासे वह सारी लाइब्रेरी, जिसकी किंमत ५० हजार रुपये जितनी मांगी गई थी, सिंघीजीने अपनी ओरसे ही भवनको भेट करनेकी अतिमहनीय मनोवृत्ति प्रदर्शित की थी । परन्तु उस प्रोफेसरके साथ इस लाइब्रेरीके सम्बन्धमें योग्य सोदा नहीं हो सका तब सिंघीजीने कलकत्ताके सुप्रसिद्ध स्वर्गवासी जैन सद्गृहस्थ बाबू पूर्णचन्द्रजी नाहरकी बडी लाइब्रेरी ले लेनेके विषयमें मुझे अपनी सलाह दी और उस सम्बन्धमें स्वयं ही योग्य प्रकारसे उसकी व्यवस्था करनेका भार अपने सिर पर लिया ।

कलकत्तामें और सारे बंगालमें उस वर्ष अन्न-दुर्भिक्षका भयंकर कराल-काल चल रहा था । सिंघीजीने अपने वतन अजीमगंज–मुर्शिदाबाद तथा दूसरे अनेक स्थलोंमें गरीबोंको मुफ्त और मध्यवित्तोंको अल्प मूल्यमें हजारों मन धान्य वितीर्ण करनेकी उदार और बडी व्यवस्था की थी, जिसके निमित्त उन्होंने उस वर्षमें

लगभग तीन साडे-तीन लाख रुपये खर्च जाते लिख डाले थे। बंगालके निवासियोंमें और जमींदारोंमें इतना बड़ा उदार आर्थिक भोग उस निमित्तसे अन्य किसीने दिया हो वैसा प्रकाशमें नहीं आया।

अक्टूबर–नवम्बर मासमें उनकी तबियत बिगड़नी शुरु हुई और वह धीरे धीरे अधिकाधिक शिथिल होती गई। जनवरी, १९४४ के प्रारम्भमें, मैं उनसे मिलनेके लिये फिर कलकत्ता गया। ता. ६ जनवरीकी संध्याको उनके साथ बैठ कर ३ घण्टे पर्यंत ग्रन्थमाला, लाईब्रेरी, जैन इतिहासालेखन आदिके सम्बन्धमें खूब उत्साह पूर्वक बातचीत हुई; परन्तु उनको मानों अपने जीवनकी अल्पताका आभास हो रहा हो उस प्रकारसे, वे बीच बीचमें वैसे उद्‌गार भी निकालते जाते थे। ५–७ दिन रह करके मैं बंबई आनेके लिये निकला तब वे बहुत ही भावप्रवणतापूर्वक मुझे विदाई देते समय बोले कि "कौन जाने अब फिर अपने मिलेंगे या नहीं?" मैं उनके इन दुःखद वाक्योंको बहुत ही दबे हुए हृदयसे सुनता और उद्वेग धारण करता हुआ उनसे सदाके लिये अलग हुआ। उसके बाद उनका साक्षात्कार होनेका प्रसङ्ग ही नहीं आया। ५–६ महीने तक उनकी तबियत अच्छी बुरी चलती रही और अंतमें जुलाईकी (सन् १९४४) ७ वीं तारीखको वे अपना विनश्वर शरीर छोड़ कर परलोकमें चले गये। मेरी साहित्योपासनाका महान् सहायक, मेरी क्षुद्र सेवाका महान् पोषक और मेरी कर्तव्य निष्ठाका महान् प्रेरक सहृदय सुपुरुष, इस असार संसारमें मुझे शून्य हृदय बना करके स्वयं महाशून्यमें विलीन हो गया।

यद्यपि सिंघीजीका इस प्रकार नाशवान् स्थूल शरीर इस संसारमेंसे विलुप्त हो गया है परन्तु उनके द्वारा स्थापित इस ग्रन्थमालाके द्वारा उनका यशःशरीर, सैंकडों वर्षों तक, इस संसारमें विद्यमान् रह करके उनकी कीर्ति और स्मृतिकी प्रशस्तिका प्रभावदर्शक परिचय भावी जनताको सतत देता रहेगा।

सिंघीजीके सुपुत्रोंका सत्कार्य

सिंघीजीके स्वर्गवाससे जैन साहित्य और जैन संस्कृतिके महान् पोषक नररत्नकी जो बड़ी कमी हुई है उसकी तो सहज भावसे पूर्ति नहीं हो सकती है। परन्तु मुझे यह देख कर हृदयमें ऊँची आशा और आश्वासक आह्लाद होता है कि उनके सुपुत्र श्री राजेन्द्र सिंहजी, श्री नरेन्द्र सिंहजी और श्री वीरेन्द्र सिंहजी अपने पिताके सुयोग्य संतान हैं। अतएव वे अपने पिताकी प्रतिष्ठा और प्रसिद्धिके कार्यमें अनुरूप भाग ले रहे हैं और पिताकी भावना और प्रवृत्तिका उदारभावसे पोषण कर रहे हैं।

सिंघीजीके स्वर्गवासके बाद इन बंधुओंने अपने पिताके दान-पुण्यनिमित्त अजीमगंज इत्यादि स्थानोंमें लगभग ५०–६० हजार रुपये खर्च किये थे। उसके बाद थोड़े ही समयमें सिंघीजीकी वृद्धमाताका भी स्वर्गवास हो गया और इसलिये अपनी इस परम पूजनीया दादीमाके पुण्यनिमित्त भी इन बन्धुओंने ७०–७५ हजार रुपयोंका व्यय किया। 'सिंघी जैन ग्रन्थमाला' का पूरा भार तो इन सिंघी बन्धुओंने पिताजीद्वारा निर्धारित विचारानुसार, पूर्ण उत्साहसे अपने सिर ले ही लिया है और इसके अतिरिक्त कलकत्ताके इण्डियन रीसर्च इन्स्टीट्यूटको बंगालीमें जैन साहित्य प्रकाशित करवानेकी दृष्टिसे सिंघीजीके स्मारकरूपमें ५००० रुपयोंकी प्रारम्भिक मदद दी।

सिंघीजीके ज्येष्ठ चिरंजीव बाबू श्री राजेन्द्र सिंहजीने मेरी कामना और प्रेरणाके प्रेमसे वशीभूत होकर अपने पुण्यश्लोक पिताकी अज्ञात इच्छाको पूर्ण करनेके लिए, ५० हजार रुपयोंकी स्पृहणीय रकम भारतीय विद्याभवनको दान स्वरूप दी और उसके द्वारा कलकत्ताकी उक्त बाहर लाइब्रेरी खरीद करके भवनको एक अमूल्य साहित्यिक निधिके रूपमें भेट की है। भवनकी यह भव्य निधि 'बाबू श्री बहादुर सिंहजी सिंघी लाईब्रेरी' के नामसे सदा प्रसिद्ध रहेगी और सिंघीजीके पुण्यस्मरण की एक बड़ी ज्ञानप्रपा बनेगी। बाबू श्री नरेन्द्र सिंहजीने, अपने पिताने बंगालकी सराक जातिके सामाजिक एवं धार्मिक उत्थानके निमित्त जो प्रवृत्ति चालू की थी, उसको अपना लिया है और उसके संचालनका भार प्रमुख रूपसे स्वयं ले लिया है। गत (सन् १९४४) नवंबर मासमें कलकत्तामें दिगम्बर समाजकी ओरसे किये गये 'वीरशासन जयंती महोत्सव' के प्रसङ्ग पर उस कार्यके लिये इन्होंने ५००० रुपये दिये थे तथा कलकत्तामें जैन श्वेताम्बर समुदायकी ओरसे बांधे जाने वाले "जैन भवन" के लिये ११००० रुपये दान करके अपनी उदारताकी शुभ शुरुआत की है। भविष्यमें 'सिंघी जैन ग्रन्थमाला' का सर्व आर्थिक भार इन दोनों बन्धुओंने उत्साहपूर्वक स्वीकार कर लेनेकी अपनी प्रशंसनीय मनोभावना प्रकट करके, अपने स्वर्गीय पिताके इस परम पुनीत यशोमंदिरको उत्तरोत्तर उन्नत स्वरूप देनेका शुभ संकल्प किया है। तथास्तु।

भा० वि० भ०; बंबई
डीसेंबर, ई. स. १९४८ } — जिन विजय मुनि

कुछ प्रास्ताविक विचार।

[सिद्धसेन दिवाकरके ग्रन्थोंके प्रकाशनकी कुछ कथा]

मेरे स्वर्गवासी आद्य गुरु, यतिप्रवर श्री देवीहंसजी — जिन्होंने मुझे सबसे पहले 'ॐ नमः सिद्धम्।' का मंत्र सुनाया और 'अ आ इ ई' इत्यादि स्वरूप प्रथम मातृकापाठ पढाकर मेरे ज्ञानरूपी नेत्रोंका उन्मीलन किया — उन्हींने मुझे पीछेसे 'भक्तामर' और 'कल्याणमन्दिर' नामक प्रसिद्ध दो जैन स्तोत्रोंको भी कण्ठस्थ कराया। मेरी अवस्था उस समय प्रायः १०–१२ वर्षके बीचकी थी। वि. सं.१९५४–५५ का वह समय था। आज उस कालको व्यतीत हुए प्रायः पूरे ५० वर्ष होने आये हैं। बहुत स्पष्ट तो नहीं लेकिन कुछ कुछ स्मरण अवश्य है कि गुरुजीने 'कल्याणमन्दिर' स्तोत्र सिखाते हुए इसके कर्ता–जो श्वेतांबर संप्रदायकी मान्यताके अनुसार सिद्धसेन दिवाकर कहे जाते हैं-के बारेमें भी प्रसंगानुसार कुछ बातें सुनाई थीं। उन वृद्ध यतिजनोंमें यह एक प्रथासी चली आती थी कि वे अपने नूतन शिष्योंको अपने पूर्वाचार्योंके ज्योतिष, वैद्यक और मंत्र-तंत्रादि प्रयुक्त चमत्कारोंका और प्रभावोंका माहात्म्यवर्णन सुनाया करते थे और उसके द्वारा अपने शिष्योंके मनमें उन उन विद्याओंके पढनेमें उत्कंठा और उत्साह उत्पन्न करते रहते थे।

१ सिद्धसेन दिवाकर उस विक्रम राजाके गुरु थे जिसने उज्जयिनीमें खापरिये चोरको, ५२ वीरोंको, ६४ योगिनियों आदिको वश किया था। सिद्धसेन सूरिने इस 'कल्याण मन्दिर' स्तोत्रके पाठसे उज्जयिनीके महाकालेश्वरके लिंगको फोड कर उसमेंसे पार्श्वनाथ भगवान्‌की मूर्ति प्रकट की थी। इत्यादि प्रकारकी चमत्कारिक कथाएं यथावसर गुरुजी सुनाया करते थे। उस अबोधावस्थामें कानमें पडे हुए उन बातोंके कुछ अस्पष्ट संस्कार, मुझे जब जैन इतिहासके पढनेकी तरफ अधिक रुचि उत्पन्न हुई, तब फिर शनैः शनैः जागृत होने लगे।

२ यतिजीके स्वर्गवासबाद (जिनकी चरणोपासना करनेका दुर्भाग्यसे मुझे सिर्फ प्रायः ३–३॥ वर्ष जितना ही समय मिला था) मैं इधर उधर भटकता हुआ, स्थानकवासी संप्रदायमें दीक्षित हो कर बालसाधु बन गया। उस साधुसंघके साथ भ्रमण करते हुए सं.१९६०–६१ में मेरा उज्जयिनी आना हुआ। वहां पर, खापरिया चोरकी गुफा, ६४ योगिनियोंका खंभा, महाकालेश्वरका मन्दिर–आदि इतिहासप्रसिद्ध स्थानोंके देखनेके निमित्त जानेका कभी कभी अवसर मिल आता था। इससे विक्रम राजा और उनके गुरु सिद्धसेन दिवाकरकी जो कथाएं गुरुजीके मुखसे सुनी थीं उनकी कुछ कुछ स्मृति होने लगी। लेकिन उन स्थानकवासी संप्रदायके साधुओंका इतिहासविषयक यत्किंचित् भी ज्ञान न होनेसे मेरी उस संस्कारस्मृतिके उद्‌बोधित होनेका कोई साधन नहीं मिला। एक दिन हम २–३ साधु मिल कर महाकालका मन्दिर देखनेको चले गये। मन्दिरके द्वारपर बैठे हुए ब्राह्मण पंडे, हम जैन साधुओंको – और उनमें भी फिर मुंहपर मुखपट्टी बांधे हुए और मैले कुचेले वस्त्र धारण किये हुए स्थानकवासी साधुओंको – देख कर खूब हंसने लगे और तीव्र कटाक्ष करने लगे। कहने लगे 'क्या ढूंढिये महाराज ! (मालवामें स्थानकवासी जैन साधुओंको लोक 'ढूंढियों'के नामसे संबोधते हैं) महाकालेश्वरका दर्शन करनेको आये हो ?' हमने कहा–'भाई, हम तो यों ही फिरते फिरते मन्दिर देखने चले आये हैं।' तब पंडाने कहा–'तुम लोग मन्दिरके अन्दर तो इस तरह नहीं जा सकते; यहीं बाहरसे खडे खडे देखना हो तो देख लो। यदि मन्दिरके अन्दर आना हो तो 'सिप्राजी' (जो वहांकी प्रसिद्ध नदी-है) में जा कर स्नान करो, इन मैले कुचेले कपडोंको साबू लगा कर धो डालो, मुंहपर जो पट्टी बांध रखी है और बगलमें जो गन्दा झाडू (जैन साधुओंके रजोहरणको उन्होंने झाडूकी उपमा दी) दबा रखा है, उसे यहां बाहर रख दो और फिर बंभोलेका दर्शन करो–' इत्यादि। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि हम लोग वहांसे चुपकेसे, मन-ही-मनमें उस ब्राह्मण पंडेको गालियां देते हुए, अपने स्थानकमें चले आये। साथके और साधुओंके मनमें क्या आया होगा सो तो मैं जान नहीं सका, परंतु मेरे अमर्षशील क्षुद्र मनमें तो उस समय बडी तीव्र उत्तेजना उत्पन्न हुई थी। मुझे अपने

गुरुजीकी सुनाई हुई, सिद्धसेन दिवाकर द्वारा उसी महाकालेश्वरके लिंगके टुकडे टुकडे कर दिये जानेवाली, कथाका स्मरण हो आया । 'कल्याणमन्दिर' स्तोत्र तो मुझे उस समय भी कंठस्थ था ही । मेरे मनमें आया कि यदि मैं कुछ जरा बडी उम्रका होता और अपने गुरुजीके पाससे विधिपूर्वक कुछ मंत्र-तंत्र सीख पाता, और उसी कल्याणमन्दिर स्तोत्रके पाठ द्वारा, मैं भी आज यहां बैठ कर, इस दुष्ट ब्राह्मण पंडेके सामने ही, उसी तरह महाकालका लिंग स्फोटन कर, जैन मूर्ति प्रकट सकता, तो जैन साधुका कितना माहात्म्य बढा देता और इन जैनद्वेषी ब्राह्मणोंको कैसा नीचा दिखा देता । महाकालके मन्दिरके देखनेकी उस उद्विग्न स्मृतिका चित्र मुझे वर्षोंतक सताता रहा, और सिद्धसेन दिवाकरकेसे मंत्रसामर्थ्यकी प्राप्तिकी मैं झंखना करता रहा ।

३ मैंने अपने बाल मनोभावके अनुसार, उस संप्रदायमें जो बडे साधु थे उनसे महाकालके बारेमें कुछ जिज्ञासा की और अपने गुरुजीके पाससे जो सिद्धसेनकी कथा सुनी हुई थी उसके विषयमें कुछ विशेष जानना चाहा; तो उन्होंने झट से उत्तर दे दिया कि 'अरे वे जतडे लोग यों ही गप्पें मारा करते हैं और मन्दिर और मूर्तिका पाखंड चलानेके लिये ऐसी कहानियां घडते रहते हैं !' साधुजी महाराजका यह कथन मुझे कुछ रुचा नहीं । क्यों कि मेरी श्रद्धा मेरे उन स्वर्गवासी गुरुजीके बहुविध ज्ञान और प्रभावशाली व्यक्तित्व पर जैसी जमी हुई थी वैसी इन साधु महाराज पर नहीं जमी थी । उसके बाद मैं मन-ही-मन अनेक कारणोंसे विक्षुब्ध होता रहा । खास करके जैन साहित्य और जैन इतिहासके अध्ययनकी अज्ञात उत्कंठा ज्यों-ज्यों मुझे विशेष सताने लगी त्यों-त्यों मैं उस संप्रदायसे विरक्त होने लगा, और परिणाममें कुछ वर्षों बाद (वि. स. १९६५ में) उसी उज्जैनमें रहते हुए, मैं एक दिन उस संप्रदायसे, पिंजडेमें पडे हुए पशु-पक्षिकी तरह, भाग निकला ।

४ इसके बीचमें, मुझे श्वेतांबर मूर्तिपूजक संप्रदायके सुप्रसिद्ध विद्वान् आचार्य श्रीआत्मारामजी महाराजके बनाए हुए 'सम्यक्त्वशल्योद्धार' तथा 'जैनतत्त्वादर्श' आदि ग्रन्थ पढनेको मिले जिससे मेरी श्रद्धा इस संप्रदायकी तरफ विशेष आकर्षित हुई । अतः स्थानकवासी संप्रदायकी दीक्षाका त्याग कर मैंने इस संप्रदायकी दीक्षा ली – या यों कहना चाहिये कि पहली दीक्षाका त्याग कर दूसरी दीक्षाके साथ पुनर्विवाह किया । इस दूसरी दीक्षाने, मुझे अपनी अध्ययनविषयक लालसाको, थोडे बहुत रूपमें सन्तुष्ट करनेका अवसर दिया । इससे अन्यान्य जैन पूर्वाचार्योंके साथ सिद्धसेन दिवाकरके विषयमें भी मुझे कुछ ऐतिहासिक तथ्यके जाननेका सुयोग प्राप्त हुआ ।

*

५ मैं अपने ये 'कुछ प्रास्ताविक विचार' सिद्धसेन दिवाकरकी कृतिसे सम्बद्ध ऐसे एक ग्रन्थके विशिष्ट संस्करणको उद्दिष्ट करके लिखने प्रस्तुत हुआ हूं, इसलिये सिद्धसेन दिवाकरका पुण्य नाम, अपने जीवनमें सबसे पहले मुझे कब श्रवणगोचर हुआ, इसकी स्मृतिके निदर्शक उपर्युक्त स्मरण-संस्कारोंको, यहां पर आलेखित करनेकी ऊर्मिको मैं दबा नहीं सकता और इसलिये मुझे ये कुछ पंक्तियां लिखनी पडीं ।

*

६ उक्त प्रकारसे बालपनमें गुरुमुखसे सिद्धसेनका नामश्रवण करने बाद, आत्मारामजीके 'जैनतत्त्वादर्श' नामक पुस्तकमें सबसे पहले सिद्धसेनका कथात्मक इतिहास मुझे पढनेको मिला । बादमें धीरे धीरे जिज्ञासा जैसे बढती गई और अध्ययनकी दृष्टि जैसे खुलती गई, वैसे वैसे इनके विषयकी प्राचीन साहित्यिक सामग्रीका अनुशीलन करनेकी प्रवृत्ति भी बढती रही । इसके परिणाममें प्रबन्धचिन्तामणि आदि ग्रन्थों तथा अन्यान्य वैसे प्रबन्धों आदिके अवलोकन द्वारा, जो कुछ मुझे ऐतिह्य तथ्य ज्ञात हुआ तथा सिद्धसेनकी कुछ कृतियोंके पठन-मननसे जो कुछ सार मेरी समझमें आया, उसके फलस्वरूप, जैन साहित्य और इतिहासके अन्वेषणात्मक लेखों, निबन्धों, विचारों आदिको प्रकाशमें लानेकी दृष्टिसे, सर्व प्रथम मेरे द्वारा संपादित और संचालित 'जैन साहित्यसंशोधक' नामक त्रैमासिक पत्रके प्रथम अंकमें, (सन् १९१९-२० में) 'सिद्धसेन दिवाकर और स्वामी समन्तभद्र' इस नामका एक लेख लिख कर मैंने प्रकट किया ।

७ कोई ३० वर्ष पहले लिखे गये उस छोटेसे लेखमें, सिद्धसेनके विषयमें जो कुछ साररूपसे मैंने लिखा है उसमें कुछ विशेष संशोधन या परिवर्तन करने जैसा कोई खास विचार, अभी तक भी प्रकाशमें

नहीं आया है। जैन साहित्यके इतिहासमें सिद्धसेनका क्या स्थान है तथा जैन न्यायके प्रतिष्ठित करनेमें उनका क्या कर्तृत्व है इस विषयमें मैंने उक्त लेखमें जो कुछ विचार प्रदर्शित किये हैं, वे प्रायः वैसे ही अन्य विद्वानोंको भी अभी तक मान्य हैं, यह देख कर मुझे जो कुछ अल्प-स्वल्प आत्म-सन्तोषकी अनुभूति होती हो तो वह भ्रान्त नहीं है ऐसा समझना अनुचित नहीं होगा।

८ तभीसे मेरी यह इच्छा रही कि सिद्धसेन दिवाकरके सभी ग्रन्थ, सुयोग्य विद्वानों द्वारा संशोधित संपादित हो कर प्रकाशमें आवें तो उससे जैन साहित्यकी विशेष गौरववृद्धि होगी। सद्भाग्यसे, उसके बाद तुरन्त ही मैं, गुजरात विद्यापीठ (अहमदाबाद) की सेवामें संलग्न हो गया, जिसके अन्तर्गत मेरे तत्त्वाधानमें, महात्माजीने 'गुजरात पुरातत्त्व मन्दिर'की स्थापना की। उसमें भारतीय प्राचीन साहित्य, इतिहास, दर्शनशास्त्र आदि विषयोंके अध्ययन-अध्यापनके विशिष्ट कार्यके अतिरिक्त, उसके द्वारा जैन, बौद्ध, ब्राह्मण आदि संप्रदायके विविध विषयोंके महत्त्वके ग्रन्थोंका संशोधन प्रकाशन आदि करनेका कार्यक्रम भी बनाया गया। मेरा साग्रह आमंत्रण प्राप्त कर, मुझसे ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं वय आदिमें वृद्ध ऐसे मेरे सुहृन्मित्र पण्डितप्रवर श्री सुखलालजी तथा जैनागमोंके मर्मज्ञ अभ्यासी पंडित श्री बेचरदासजी भी उस मन्दिरके, मेरे सहकारी, पूजारी बने। पण्डित सुखलालजीने, इसके पहले ही, आगरामें रहते हुए, सिद्धसेन दिवाकररचित महाग्रन्थ 'सन्मतितर्क'का संपादन करना प्रारंभ किया था। मैंने इस ग्रन्थको पुरातत्त्व मन्दिरसे प्रकाशित होनेवाली ग्रन्थावलिमें प्रकट करनेका विचार किया जो पण्डितजीको भी बहुत उपयुक्त लगा और फिर तदनुसार, पण्डित श्री बेचरदासजीके सहयोगमें, इन्होंने उसका विशिष्ट संशोधनकार्य प्रारंभ किया। कई वर्षोंके अथक परिश्रम और बहुत द्रव्यव्ययके पश्चात्, अभयदेवसूरिकी 'वादमहार्णव' नामक महती व्याख्याके साथ, बडे बडे ५ भागोंमें, दिवाकरका यह 'सन्मति प्रकरण' नामक जैन दर्शनका महातर्कग्रन्थ समाप्त होकर प्रसिद्ध हुआ। इस ग्रन्थके संपादनकार्यकी महत्ता और विशिष्टताको देख कर, जर्मनीके प्रो० हर्मन् याकोबी जैसे महान् संस्कृतविद्यानिष्ठ विद्वान्ने लिखा था कि 'भारतीय दर्शनशास्त्रके इस प्रौढतम एवं अतिगहन ग्रन्थका, इस तरहसे सुसंपादन करनेवाला युरोपमें तो आज कोई पण्डित विद्यमान नहीं है' इत्यादि। मूल ग्रन्थका सटीक संपादन समाप्त कर, फिर उसकी प्रस्तावनाके रूपमें, पंडितजीने गुजरातीमें एक और भाग तैयार किया, जिसमें सन्मतिके मूलका सविवेचन गुजराती अनुवाद तथा ग्रन्थसे संबद्ध ऐसी ऐतिहासिक एवं तात्त्विक चर्चाका ऊहापोह करनेवालीं अनेक बातोंकी मीमांसा की है। इसमें सिद्ध-सेन दिवाकरके विषयमें प्रायः सभी ज्ञातव्य विचारोंका पण्डितजीने सप्रमाण यथेष्ट विवेचन किया है। प्रज्ञाचक्षु होते हुए भी पण्डितजीने इस ग्रन्थके संपादनकार्यमें अपनी जिस सूक्ष्म विचारदृष्टि और मानसिक अवगाहनशक्तिका अप्रतिम परिचय दिया है वह तज्ज्ञोंके लिये बडा आश्चर्योत्पादक है। केवल जैन शास्त्रोंकी ही दृष्टिसे नहीं, अपितु भारतके सभी दार्शनिक शास्त्रोंके संपादन-संशोधनकी दृष्टिसे पण्डित-जीका यह संपादनकार्य एक आदर्शरूप होना चाहिये।

९ 'सन्मति'के संपादनके बाद, पण्डितजीने दिवाकरजीके 'न्यायावतार' सूत्रका गुजराती अनुवाद और उसमें विवेचित पदार्थोंका सारगर्भित विवेचन लिखा, जो मेरे द्वारा संपादित उसी 'जैन साहित्य संशोधक'के तीसरे खण्डमें प्रकाशित हुआ है। इस निबन्धमें पण्डितजीने जैन न्यायशास्त्रके इस आद्य ग्रन्थके विषयमें अभ्यासियोंके जानने और मनन करने लायक सभी विषयोंका, संक्षिप्त परंतु बहुत ही सरल एवं सारभूत शैलीमें, स्पष्टीकरण किया है।

*

१० इसके बाद, सिद्धसेन दिवाकरकी एक अतिगहन 'वेदवादद्वात्रिंशिका' नामक काव्यकृति पर पण्डितजीने बहुत परिशीलन करके गुजरातीमें विवरण लिखा, जो मेरे संपादित 'भारतीय विद्या' नामक त्रैमासिक पत्रिकाके 'बहादुरसिंहजीसिंघी स्मारक' रूप तृतीय खण्डमें प्रकाशित हुआ है।

इस द्वात्रिंशिकाके 'किंचित् प्रास्ताविक'में मैंने लिखा था कि–'यह द्वात्रिंशिका, सचमुच, समुचय संस्कृत साहित्यमें, एक बहुत गूढ और गम्भीर अर्थपूर्ण रचना है। दार्शनिक और साहित्यिक विद्वानोंको इसका कुछ भी परिचय अद्यावधि प्राप्त नहीं हुआ है। इसका भाव भी समझना बहुत कठिन है। जैन और वेदवादके निगूढ तत्त्वोंका जिसको परिपूर्ण परिचय नहीं है उसको प्रस्तुत द्वात्रिंशिकाका कुछ भी

सहज समझमें आ सके वैसा नहीं है। इसी कारणसे, मुझे लगता है कि आज तक किसी जैन विद्वान्ने, इस पर किसी प्रकारकी टीका-टिप्पणी आदि नहीं लिखी। बहुत समयसे मेरी इच्छा थी कि पण्डितजी इस द्वात्रिंशिकाके अर्थपर कुछ प्रकाश डालें। इनके जैसा जैन दार्शनिक और साहित्यिक मर्मज्ञ विद्वान् जैन समाजमें आज अन्य कोई मेरी दृष्टिमें नहीं है। जैनेतर समूहमें भी कोई होगा या नहीं इसकी मुझे शंका है। इस द्वात्रिंशिकाका भावार्थ लिखनेमें पण्डितजीने तब तक जितना वाचन-चिन्तन-मनन किया था उस सबका सार दे दिया है। इसका रहस्य तो वे ही मर्मज्ञ ठीक समझ सकेंगे जिनका इस विषयमें यथेष्ट प्रवेश है।

§ ११ सिद्धसेन दिवाकरकी इन द्वात्रिंशिका स्वरूप गभीर और गहन अर्थपूर्ण काव्यकृतियोंके विषयमें, मैंने अपने पूर्वनिर्दिष्ट उक्त प्रथम लेखमें लिखा था कि "सिद्धसेन सूरिकी ये द्वात्रिंशिकाएं बहुत ही गूढ और गभीरार्थक हैं। इनको ऊपर ऊपरसे हमने कई बार पढ कर देखा, परंतु सबका आशय स्पष्ट रीतिसे बहुत कम समझमें आता है। अफसोस तो इस बातका है कि जैन धर्ममें हजारों ही बडे बडे ग्रन्थकार और टीकाकार हो गए हैं परंतु किसीने भी इन द्वात्रिंशिकाओंका अर्थ स्फुट करनेके लिये 'शब्दार्थ मात्र प्रकाशिका' व्याख्या भी लिखी हो ऐसा ज्ञात नहीं होता। इसका कारण हमारी समझमें नहीं आता। इन द्वात्रिंशिकाओंकी अपूर्वार्थता और कर्ताकी महत्ताका खयाल करते हैं, तब तो यह विचार आता है कि इनके ऊपर अनेक वार्तिक और बडे बडे भाष्य लिखे जाने चाहिये थे। और 'न्यायावतार' के ऊपर ऐसे वार्तिक और व्याख्यान लिखे भी गये हैं। फिर नहीं मालूम, क्यों इन सबके लिये ऐसा नहीं किया गया। शायद अतिगूढार्थक होनेहीके कारण, इनका रहस्य प्रकट करनेके लिये किसीकी हिम्मत न चली हो। योग्य और बहुश्रुत विद्वानोंके प्रति हमारा निवेदन है कि वे इनका अर्थ स्फुट करनेके लिये अवश्य परिश्रम करें। इन कृतियोंमें बहुत ही अपूर्व विचार भरे हुए हैं। हमारे विचारसे जैन साहित्य भरमें ऐसी अन्य अपूर्व कृतियां नहिं हैं[1]।"

§ १२ तीस वर्ष पहले, अज्ञात भावसे विद्वानोंके प्रति किये गये, मानों मेरे उक्त निवेदनके ही फलस्वरूपमें, पण्डितजी द्वारा इस प्रकार सिद्धसेनीय दो कृतियोंका उत्तम विवेचन हमें प्राप्त हुआ है, ऐसा समझकर मुझे आज विशिष्ट आनन्दका अनुभव होना स्वाभाविक है। मैंने, उक्त वेदवाद द्वात्रिंशिकाके उसी 'किंचित् प्रास्ताविक'में सिद्धसेनकी अन्यान्य द्वात्रिंशिकाओं पर भी पण्डितजी जैसे बहुश्रुत विद्वानके द्वारा अर्थावबोधक विवेचनादि होनेकी निम्न प्रकारसे पुनः आकांक्षा प्रकट की है।

"सिद्धसेन दिवाकरकी और भी ऐसी अनेक द्वात्रिंशिकाएं हैं जो प्रस्तुत अर्थात् वेदवाद द्वात्रिंशिकाके समान ही बहुत गभीर और अर्थपूर्ण हैं। सांख्य, योग, वैशेषिक आदि अनेक मतोंके मन्तव्योंकी इन द्वात्रिंशिकाओंमें इसी प्रकारकी निगूढ चर्चा करनेमें आई है। इन सब द्वात्रिंशिकाओं पर भी इस तरहका भावार्थबोधक विवेचन लिखा जाय तो वह अभ्यासियोंको बहुत उपयोगी हो कर कितने ही विशिष्ट प्रमेयोंका नूतन ज्ञान प्राप्त करानेवाला सिद्ध होगा। मैं चाहता हूं कि पण्डितजीके हाथों इन अन्यान्य द्वात्रिंशिकाओं पर भी ऐसा ही समर्पक विवेचन लिखा जा कर वह निकट भविष्यमें प्रकाश प्राप्त करे[2]।"

*

[न्यायावतारवार्तिक-वृत्तिका प्रस्तुत विशिष्ट संस्करण]

§ १३ पण्डितवर्य श्री दलसुख भाई मालवणिया द्वारा संपादित और विवेचित हो कर, प्रस्तुत 'न्यायावतारवार्तिक-वृत्ति' नामक जो ग्रन्थरत्न अब विद्वानोंके सन्मुख उपस्थित है, यह भी उन्हीं सिद्धसेन दिवाकरकी एक कृतिका विवेचनरूप है यह कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। इस ग्रन्थका, इस तरहके एक अत्यन्त विशिष्ट संस्करणके रूपमें प्रकाशित होनेका प्रधान श्रेय भी पण्डितप्रवर श्री सुखलालजीको ही प्राप्त है। सिंघी जैन ग्रन्थमालामें गुम्फित करनेके लिये प्रारंभहीमें, जिन अनेक ग्रन्थोंकी नामावलि मैंने अपने मनमें सोच रखी थी, उनमें इस ग्रन्थका नाम भी सन्निविष्ट था। बनारससे जो इसका एक संस्करण बहुत वर्षों पहले निकला था वह बहुत ही भ्रष्ट था, इसलिये इसका अच्छा शुद्ध संस्करण प्रकाशित होना मुझे आवश्यक लगता था। प्रसंगवश मैंने पण्डितजीसे अपना अभिप्राय प्रकट किया

१ जैन साहित्यसंशोधक, प्रथम खण्ड, पहला अंक, पृष्ठ ९.

२ देखो, 'वेदवादद्वात्रिंशिका'में मेरा लिखा 'किंचित् प्रास्ताविक' पृ. २.

जिसको इन्होंने पसन्द किया और फिर यह कार्य पण्डित श्री दलसुख भाईको समर्पित करनेका हम दोनोंने निर्णय किया। इसका जो यह सुन्दर फल निर्मित हुआ है, मेरी दृष्टिसे इस ग्रन्थमालाके लिये गौरवकी वस्तु है।

*

१४ पण्डित श्री दलसुख भाई, पं० श्री सुखलालजीके एक सुयोग्य उत्तराधिकारी शिष्य हैं। इन्होंने वर्षोंसे पण्डितजीका सौहार्दपूर्ण सहवास प्राप्त कर विविध शास्त्रोंका अध्ययन किया है और इनके साथ बैठ कर अध्यापन तथा संशोधन-संपादनका काम किया है। दलसुख भाईका दर्शनशास्त्रविषयक अध्ययन-मनन कितना विशद और विस्तृत है यह तो जो मर्मज्ञ जिज्ञासु, प्रस्तुत ग्रन्थमें लिखे गये इनके विस्तृत टिप्पणों और प्रस्तावनागत विविध प्रकरणोंको मननपूर्वक पढेगा उसीको ठीक ज्ञात हो सकेगा। पण्डित श्री सुखलालजीने अपने 'आ दि वा क्य' में इस विषयके अधिकारपूर्ण वचनोंमें जो सारभूत उल्लेख किया है उससे कुछ विशेष कहनेका मैं अपना अधिकार नहीं समझता। मैं सिर्फ इतना कहना चाहूंगा कि जैन साहित्यके ग्रन्थप्रकाशन क्षेत्रमें, पण्डितजीके लिखे गये सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण टिप्पणों और विशद एवं प्रमाणपूत 'प्रास्ताविक विवेचनों'के साथ प्रकाशित होनेवाले 'प्रमाणमीमांसा' 'ज्ञानबिन्दु' आदि ग्रन्थोंके अतिरिक्त, श्रीयुत दलसुख भाईका यह ग्रन्थ-संस्करण ही एक उक्त कोटिके प्रकाशनक्षेत्रमें अपना विशिष्ट स्थान प्राप्त करने योग्य विद्वानोंको प्रतीत होगा।

*

[कृतज्ञता ज्ञापन]

१५ जैन साहित्यके विशाल भण्डारमें रत्नरूप गिने जानेवाले ग्रन्थोंका इस प्रकार उत्तम स्वरूपमें संशोधन, संपादन हो कर प्रकाशन किया जाना जिनके जीवनकी एक विशिष्ट अभिलाषा थी और जिन्होंने अपनी उस अभिलाषाका मूर्तरूपमें फलित होना देखनेकी भव्य इच्छासे, इस ग्रन्थमालाका अनन्य श्रद्धापूर्वक प्रारंभ कराया था, वे ज्ञानलिप्सु, दानवीर, बाबू श्री बहादुर सिंहजी, यदि इस ग्रन्थका अवलोकन करनेके लिये, आज विद्यमान होते तो मुझे एक प्रकारका अवर्णनीय आनन्द प्राप्त होता। परंतु, दुर्दैवके दुर्विलासने, उस दिव्य आत्माका अनवसरमें ही, हम जैसे उनके सब प्रियजनोंको, दुःखद वियोग करा दिया और हमारे उत्साह, उल्लास और आल्हादको मूर्च्छितसा कर दिया। मेरे लिये कुछ आश्वासनकी जो कोई वस्तु है तो वह यह है कि उन स्वर्गवासी भव्यमूर्तिके सुपुत्र बाबू श्री राजेन्द्र सिंहजी तथा श्री नरेन्द्र सिंहजी, अपने पूज्य पिताकी अनन्य कामनाका, उसी उत्साहसे परिपूर्ण करनेकी सदिच्छा रखते हैं और मेरे थके हुए मन और झुके हुए शरीरको, अपनी श्रद्धा और सद्वृत्तिसे प्रोत्साहित करते रहते हैं।

इस प्रकार पं. श्रीसुखलालजी, पं. दलसुखभाई आदि जैसे मेरे अनेक सम्मान्य विद्वान मित्रोंके साहित्यिक सहकारसे और उक्त सुशील सिंघी बन्धुओंके सौहार्दपूर्ण औदार्यसे, इस ग्रन्थ मालाके संपादनद्वारा मुझे जो कोई सत्फल मिलता हो तो मैं उसके लिये अपनेको उपकृत मानता हुआ, अपने इन सब सुहृद् बन्धुओंके प्रति अपना हार्दिक कृतज्ञभाव प्रकट करता हूं।

*

१६ इस ग्रन्थमालाके, इस प्रकार सुन्दर रूपमें प्रकाशित होनेके कार्यमें, यद्यपि गौणरूपसे तथापि अनन्य साधकतम करणके भावसे, जिस कार्यालयका विशेष सहयोग मुझे मिला है उसके प्रति भी मैं आज यहां अपना हार्दिक कृतज्ञभाव प्रकट करना चाहता हूं। वह है बंबईका सुविख्याततामा 'निर्णयसागर' मुद्रणालय। 'निर्णयसागर' प्रेसने संस्कृत एवं प्राकृत साहित्यके प्रकाशनकी जितनी बडी सेवा की है उतनी सेवा भारत वर्षके अन्य किसी प्रेसने नहीं की। केवल भारतवर्षमें ही नहीं युरोप और अमेरिकामें भी 'निर्णयसागर'ने अपने सुन्दर प्रकाशन और मुद्रण कार्यके लिये अच्छी ख्याति प्राप्त की है। जर्मनी, इंग्लेंड और अमेरिकाके बडे बडे भारतीय साहित्यप्रेमी विद्वान् भी यह चाहते रहे हैं कि उनके संपादित संस्कृत प्राकृत भाषाके ग्रन्थ 'निर्णयसागर' प्रेसके सुन्दर अक्षरोंमें, सुघड रूपसे, छप कर प्रकाशित हों तो उत्तम हो। मैं जो इस ग्रन्थमालाको इस रूपमें प्रकट करनेमें उत्साहित होता रहा हूं, उसका बहुत कुछ श्रेय 'निर्णयसागर' प्रेस को भी है। इस प्रेसके सरलस्वभावी, कार्यनिष्ठ और प्रामाणिकजीवनजीवी, वृद्ध मैनेजर श्रीयुत रामचन्द्र येसु शेडगेके तंत्रनीचे आज कोई १८ वर्षोंसे इस ग्रन्थमालाके ये अपूर्व ग्रन्थरत्न

छप रहे हैं। यदि मेरे द्वारा संपादित इस ग्रन्थमालाको, मेरी रुचि और कल्पनाके मुताबिक सुन्दर मुद्रण कार्यमें, इनका सहानुभूतिपूर्ण सहयोग न मिलता, तो शायद् ही मैं इस प्रकार आज तक इतने ग्रन्थोंको प्रकट करनेमें सफल होता†। विश्वव्यापी दुष्टतम विगत महायुद्धके कारण, संसारके सब व्यवहारोंमें जो महाविषमता उत्पन्न हुई है, उसके निमित्त साहित्यके प्रकाशनमें भी बहुत ही विषम समस्याएं उपस्थित हो गई हैं। ऐसी परिस्थितिमें भी 'निर्णयसागर'के संचालक और कर्मकर (कामदार) गणने मुझे, अपनी इस ग्रन्थमालाके कार्यको चालू रखनेमें, यथाशक्य जो सहयोग दिया है और दे रहे हैं, उसके लिये मैं अपनी कृतज्ञता प्रकट करना अपना कर्तव्य समझता हूं।

मार्गशीर्ष शुक्ल १, सं. २००५
(ता. १-१२-१९४८)
भारतीय विद्या भवन, बंबई

— जिनविजय

* *
*

† यों तो 'निर्णयसागर' प्रेसके साथ मेरा संबंध कोई ३५ वर्षोंसे ऊपरका है। मेरी सबसे पहली संपादित एक 'अज्ञायउंछकुलक' नामक छोटीसी प्राकृत-संस्कृत कृति, सन् १९१४-१५ में, इस प्रेस में छपी थी और उसी समयसे मेरा इस प्रेसके साथ संबन्ध जुडा हुआ है। 'सिंघी जैन ग्रन्थमाला' का आरंभ करनेके पूर्वमें, 'जैन साहित्यसंशोधक ग्रन्थावलि,' तथा 'गुजरात पुरातत्त्वमंदिर ग्रन्थावलि'के कई ग्रन्थ भी मैंने इसी प्रेसमें मुद्रणार्थ दिये थे। ऊपर पण्डित सुखलालजी द्वारा संपादित जिस 'सन्मतिप्रकरण' ग्रन्थका जिक्र किया है वह पूरा ग्रन्थ इसी प्रेसमें छपवा कर प्रकट किया गया था।

आदिवाक्य ।

लेखक—पं० श्री सुखलालजी संघवी।

सिंघी जैन ग्रन्थमालाका प्रस्तुत ग्रन्थरत्न अनेक दृष्टिसे महत्त्ववाला एवं उपयोगी है। इस ग्रन्थमें तीन कर्ताओंकी कृतियाँ सम्मीलित हैं। सिद्धसेन दिवाकर जो जैन तर्कशास्त्रके आद्य प्रणेता हैं उनकी 'न्यायावतार' नामक छोटीसी पद्यबद्ध कृति इस ग्रन्थका मूल आधार है। शान्त्याचार्यके पद्यबद्ध वार्तिक और गद्यमय वृत्ति ये दोनों 'न्यायावतार'की व्याख्याएँ हैं। मूल तथा व्याख्यामें आए हुए मन्तव्योंमेंसे अनेक महत्त्वपूर्ण मन्तव्योंको लेकर उनपर ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक दृष्टिसे लिखे हुए सारगर्भित तथा बहुश्रुततापूर्ण टिप्पण, अतिविस्तृत प्रस्तावना और अन्तके तेरह परिशिष्ट—यह सब प्रस्तुत ग्रन्थके संपादक श्रीयुत पंडित मालवणियाकी कृति है। इन तीनों कृतियोंका *विशेष परिचय, विषयानुक्रम एवं प्रस्तावनाके द्वारा अच्छी तरह हो जाता है। अत एव इस बारेमें यहाँ* अधिक लिखना अनावश्यक है।

प्रस्तुत ग्रन्थके संपादनकी विशिष्टता।

यदि समभाव और विवेककी मर्यादाका अतिक्रमण न हो तो किसी अतिपरिचित व्यक्तिके विषयमें लिखते समय पक्षपात एवं अनौचित्य दोषसे बचना बहुत सरल है। श्रीयुत दलसुखभाई मालवणिया मेरे विद्यार्थी, सहसंपादक, सहाध्यापक और मित्ररूपसे चिरपरिचित हैं। इन्होंने इस ग्रन्थके संपादनका भार जबसे हाथमें लिया तबसे इसकी पूर्णाहुति तकका मैं निकट साक्षी हूं। इन्होंने टिप्पण, प्रस्तावना आदि जो कुछ लिखा है उसको मैं पहिलेहीसे यथामति देखता तथा उसपर विचार करता आया हूं, इससे मैं यह तो निःसंकोच कह सकता हूं कि भारतीय दर्शनशास्त्रके—खासकर प्रमाणशास्त्रके—अभ्यासियोंके लिये श्रीयुत मालवणियाने अपनी कृतिमें जो सामग्री संचित व व्यवस्थित की है तथा विश्लेषण-पूर्वक उसपर जो अपना विचार प्रकट किया है, वह सब अन्यत्र किसी एक जगह दुर्लभ ही नहीं अलभ्य-प्राय है। यद्यपि टिप्पण, प्रस्तावना आदि सब कुछ जैन परंपराको केन्द्रस्थानमें रख कर लिखा गया है, तथापि सभी संभव स्थलोंमें तुलना करते समय, करीब करीब समग्र भारतीय दर्शनोंका तटस्थ अवलोकन-पूर्वक ऐसा ऊहापोह किया है कि वह चर्चा किसी भी दर्शनके अभ्यासीके लिये लाभप्रद सिद्ध हो सके।

प्रस्तुत ग्रन्थके छपते समय टिप्पण–प्रस्तावना आदिके फॉर्म (Forms) कई भिन्न भिन्न दर्शनके पंडित एवं प्रोफेसर पढ़नेके लिये ले गये, और उन्होंने पढ कर बिना ही पूछे, एकमतसे जो अभिप्राय प्रकट किया है वह मेरे उपर्युक्त कथनका नितान्त समर्थक है। मैं भारतीय प्रमाणशास्त्रके अध्यापक, पंडित एवं प्रोफेसरोंसे इतना ही कहना आवश्यक समझता हूँ कि वे यदि प्रस्तुत टिप्पण, प्रस्तावना और परिशिष्ट ध्यानपूर्वक पढ जायंगे तो उन्हें अपने अध्यापन, लेखन आदि कार्यमें बहुमूल्य मदद मिलेगी। मेरी रायमें कमसे कम जैन प्रमाणशास्त्रके उच्च अभ्यासियोंके लिये, टिप्पणोंका अमुक भाग तथा प्रस्तावना, पाठ्य ग्रन्थमें सर्वथा रखने योग्य है; जिससे कि ज्ञानकी सीमा एवं दृष्टिकोण विशाल बन सके और दर्शनके मुख्यप्राण असांप्रदायिक भावका विकास हो सके।

टिप्पण और प्रस्तावनागत चर्चा, भिन्न भिन्न कालखण्डको लेकर की गई है। टिप्पणोंमें की गई चर्चा मुख्यतया विक्रमकी पंचम शताब्दीसे लेकर १७ वीं शताब्दीतकके दार्शनिक विकासका स्पर्श करती है; जब कि प्रस्तावनामें की हुई चर्चा मुख्यतया लगभग विक्रमपूर्व सहस्राब्दीसे लेकर विक्रमकी पंचमशताब्दी तकके प्रमाण प्रमेय संबंधी दार्शनिक विचारसरणीके विकासका स्पर्श करती है। इस तरह प्रस्तुत ग्रन्थमें एक तरहसे लगभग ढाई हजार वर्षकी दार्शनिक विचारधाराओंके विकासका व्यापक निरूपण है; जो एक तरफसे जैन परंपराको और दूसरी तरफसे समानकालीन या भिन्नकालीन जैनेतर परंपराओंको व्याप्त

करता है। इसमें जो तेरह परिशिष्ट हैं वे मूल व्याख्या और टिप्पणके प्रवेशद्वार या उनके अवलोकनार्थ नेत्रस्थानीय हैं। श्रीयुत मालवणियाकी कृतिकी विशेषताका संक्षेपमें सूचन करना हो, तो इनकी बहुश्रुतता, तटस्थता और किसी भी प्रश्नके मूलके खोजनेकी ओर झुकनेवाली दार्शनिक दृष्टिकी सतर्कता द्वारा किया जा सकता है। इसका मूल ग्रन्थकार दिवाकरकी कृतिके साथ विकासकालीन सामंजस्य है।

*

जैन ग्रन्थोंके प्रकाशन सम्बन्धमें दो शब्द।

अनेक व्यक्तिओंके तथा संस्थाओंके द्वारा, जैन परंपराके छोटे बड़े सभी फिरकोंमें प्राचीन अर्वाचीन ग्रन्थोंके प्रकाशनका कार्य बहुत जोरोंसे होता देखा जाता है, परंतु अधिकतर प्रकाशन सांप्रदायिक संकुचित भावना और स्वाग्रही मनोवृत्तिके द्योतक होते हैं। उनमें जितना ध्यान संकुचित, ममताविष्ट वृत्तिका रखा जाता है उतना जैनत्वके प्राणभूत समभाव व अनेकान्त दृष्टिमूलक सत्यस्पर्शी अत एव निर्भय ज्ञानोपासनाका नहीं रखा जाता। बहुधा यह भुला दिया जाता है कि अनेकान्तके नामसे कहाँ तक अनेकान्त-दृष्टिकी उपासना होती है। प्रस्तुत ग्रन्थके संपादकने, जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ, ऐसी कोई स्वाग्रही मनोवृत्तिसे कहीं भी सोचने लिखनेका जान बुझ कर प्रयत्न नहीं किया है। यह ध्येय 'सिंघी जैनग्रन्थमाला'के संस्थापक और प्रधान संपादककी मनोवृत्तिके बहुत अनुरूप है और वर्तमानयुगीन व्यापक ज्ञानखोजकी दिशाका ही एक परंतु विशिष्ट संकेत है।

मैं यहाँ पर एक कटुक सत्यका निर्देश कर देनेकी अपनी नैतिक जवाबदेही समझता हूं। जैन धर्मके प्रभावक माने मनाए जानेवाले ज्ञानोपासनामूलक साहित्यप्रकाशन जैसे पवित्र कार्यमें भी प्रतिष्ठालोलुपता मूलक चौर्यवृत्तिका दुष्कलंक कभी कभी देखा जाता है। सांसारिक कामोंमें चौर्यवृत्तिका बचाव अनेक लोग अनेक तरहसे कर लेते हैं, पर धर्माभिमुख ज्ञानके क्षेत्रमें उसका बचाव किसी भी तरहसे क्षन्तव्य नहीं है। यह ठीक है कि प्राचीन कालमें भी ज्ञानचोरी होती थी जिसके द्योतक 'वैकारणश्चौरः' 'कविश्चौरः' जैसे वाक्योद्धरण हमारे साहित्यमें आज भी मिलते हैं; परंतु सत्यलक्षी दर्शन और धर्मका दावा करनेवाले, पहले और आज भी, इस वृत्तिसे अपने विचार व लेखनको दूषित होने नहीं देते और ऐसी चौर्यवृत्तिको अन्य चोरीकी तरह पूर्णतया घृणित समझते हैं। पाठक देखेंगे कि प्रस्तुत ग्रन्थके संपादकने ऐसी घृणित वृत्तिसे नख-शिख बचनेका समान प्रयत्न किया है। टिप्पण हों या प्रस्तावना — जहाँ जहाँ नये पुराने ग्रन्थकारों एवं लेखकोंसे थोडा भी अंश लिया हो वहाँ उन सबका या उनके ग्रन्थोंका स्पष्ट नामनिर्देश किया गया है। संपादकने अनेकोंके पूर्व प्रयत्नका अवश्य उपयोग किया है और उससे अनेकगुण लाभ भी उठाया है पर कहीं भी अन्यके प्रयत्नके यशको अपना बनानेकी प्रकट या अप्रकट चेष्टा नहीं की है। मेरी दृष्टिमें सच्चे संपादककी प्रतिष्ठाका यह एक मुख्य आधार है जो दूसरी अनेक त्रुटियोंको भी क्षन्तव्य बना देता है[1]।

*

---

1 मैं यहां इतना यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि ऊपर जो विचार मैंने प्रदर्शित किया है वह साभिप्राय है। क्यों कि मैं इसके विपरीत मनोवृत्तिवाले संपादकोंको भी थोडा बहुत जानता हूँ और कुछएकका नामनिर्देश करना भी यहां उचित समझता हूँ। क्यों कि ऐसा विना किये वैसे परप्रयत्नजीवी लोगोंको अपने दोषका शायद ही खयाल आवे। मैं अपने तत्त्वार्थविवेचनकी हिन्दी आवृत्तिमें, प्रो. हीरालाल रसिकलाल कापडिया एम्. ए. तथा एक भाई मुणोतके ऐसे चौर्यकार्यका उल्लेख कर चुका हूँ, जिन्होंने अनुक्रमसे तत्त्वार्थकी प्रस्तावना और उसके विवेचनको कुछ उलटा सुलटा कर और ज्यों का त्यों लेकर भी, यह स्पष्ट शब्दोंमें नहीं लिखा कि यह मौलिक चिंतन व कार्य अमुकका है और हम तो उसका कुछ हेरफेरके साथ या सीधा अनुवाद भर करते हैं। मैं यहां पर एक ऐसी ही अन्य चोरीका निर्देश भी दुःखपूर्वक करना चाहता हूँ। जिस व्यक्तिका इससे संबंध है वह है तो मेरा एक विद्यार्थी, पर मैं अपने विद्यार्थीके नाते भी उसके ऐसे दोषको प्रकट करना ही अधिक न्याय्य समझता हूं। न्यायाचार्य पं. दरबारी लाल कोठिया जो सरसावा 'वीरसेवा मंदिर'के एक कार्यकर्ता हैं, उनका अनुवादित-संपादित 'न्यायदीपिका' ग्रन्थ प्रसिद्ध हुआ है। उसकी प्रस्तावना और 'प्रमाणमीमांसा'के मेरे हिन्दी टिप्पण दोनोंको तज्ज्ञ निपुण अभ्यासी देख जाय तो वह तत्काल जान सकेगा कि कोठिया महाशयने करीब करीब मेरे सब हिन्दी टिप्पणोंकी कायाको तोड मरोड कर और उसमें कहीं कहीं जरासा मसाला भरके, अपनी सारी प्रस्तावनाका

मेरी तरह पं० दलसुख मालवणिया की भी मातृभाषा गुजराती है । ग्रन्थरूपमें हिन्दीमें इतना विस्तृत लिखनेका इनका शायद यह प्रथम ही प्रयत्न है । इस लिये कोई ऐसी आशा तो नहीं रख सकता कि मातृभाषा जैसी इनकी हिन्दी भाषा हो; परंतु राष्ट्रीय भाषाका पद हिन्दीको इस लिये मिला है कि वह हरएक प्रान्तवालेके लिये अपने अपने ढंगसे सुगम हो जाती है । प्रस्तुत हिन्दी लेखन कोई साहित्यिक लेखरूप नहीं है । इसमें तो दार्शनिक विचारविवेचन ही मुख्य है । जो दर्शनके और प्रमाण शास्त्रके जिज्ञासु एवं अधिकारी हैं उन्हींके उपयोगकी प्रस्तुत कृति है । वैसे जिज्ञासु और अधिकारीके लिये भाषातत्त्व गौण है और विचारतत्त्व ही मुख्य है । इस दृष्टिसे देखें तो कहना होगा कि मातृभाषा न होते हुए भी राष्ट्रीय भाषामें संपादकने जो सामग्री रखी है वह राष्ट्रीयभाषा के नाते व्यापक उपयोगकी वस्तु बन गई है ।

जैन प्रमाण शास्त्रका नई दृष्टिसे सांगोपांग अध्ययन करने वालेके लिये इसके पहले भी कई महत्त्वके प्रकाशन हुए हैं जिनमें 'सन्मतितर्क' 'प्रमाणमीमांसा', 'ज्ञानबिन्दु', 'अकलंकग्रन्थत्रय', 'न्यायकुमुदचन्द्र' आदि मुख्य हैं । प्रस्तुत ग्रन्थ उन्हीं ग्रन्थोंके अनुसन्धानमें पढा जाय तो भारतीय प्रमाणशास्त्रोंमें जैन प्रमाणशास्त्रका क्या स्थान है इसका ज्ञान भलीभाँति हो सकता है, और साथ ही जैनेतर अनेक परंपराओंके दार्शनिक मन्तव्योंका रहस्य भी स्फुट हो सकता है ।

सिंघी जैन ग्रन्थमालाका कार्यवैशिष्ट्य ।

सिंघी जैनग्रन्थमालाके स्थापक स्व० बाबू बहादुर सिंहजी स्वयं श्रद्धाशील जैन थे पर उनका दृष्टिकोण साम्प्रदायिक न हो कर उदार व सत्यलक्षी था । बाबूजीके दृष्टिकोणको विशद और मूर्तिमान् बनानेवाले ग्रन्थमालाके मुख्य संपादक हैं । आचार्य श्री जिनविजयजीकी विविध विद्योपासना, पन्थकी संकुचित मनोवृत्तिसे सर्वथा मुक्त है । जिन्होंने ग्रन्थमालाके अभीतकके प्रकाशनोंको देखा होगा उन्हें मेरे कथनकी यथार्थतामें शायद ही संदेह होगा । ग्रन्थमालाकी प्राणप्रतिष्ठा ऐसी ही भावनामें है जिसका असर ग्रन्थमालाके हर एक संपादककी मनोवृत्ति पर जाने अनजाने पडता है । जो जो संपादक विचार-स्वातन्त्र्य एवं निर्भयसत्यके उपासक होते हैं उन्हें अपने चिन्तन लेखन कार्यमें ग्रन्थमालाकी उक्त भूमिका बहुत कुछ सुअवसर प्रदान करती है और साथ ही ग्रन्थमाला भी ऐसे सत्यान्वेषी संपादकोंके सहकारसे उत्तरोत्तर ओजस्वी एवं समयानुरूप बनती जाती है । इसीकी विशेष प्रतीति प्रस्तुत कृति भी कराने वाली सिद्ध होगी ।

अनेकान्त विहार, नवरंगपुरा, अहमदाबाद — सुखलाल

कलेवर कैसा बनाया है । साधारण पढनेवाला या अनजान प्रथमाभ्यासी उसे पढ कर यही समझ पाता है कि प्रस्तावनालेखक महोदयने ही प्रस्तावनामें लिखा सब कुछ सोचा है और गुरुवर्य सुखलालजीके ग्रन्थका तो मात्र अध्ययनमें या दिशासूचनमें उपयोगभर किया है । जब कोठियाजीने आभारप्रदर्शनमें मेरे ग्रन्थके उपयोग करने की बात लिखी तब उनका यह नैतिक कर्तव्य था कि वह उपयोग किस तरह और किस रूपमें किया है यह बताते । उपयोग शब्द इतना अधिक व्यापक, सुंदर पर संदिग्ध, है कि जिसके द्वारा कृतज्ञता प्रकाशनका काम भी बखूबी हो सकता है और परप्रयत्नका प्रकट-अप्रकट अपहरण भी छुपाया जा सकता है । मेरे इस कटुक सत्यके निर्देशसे कोठियाजी सावधान हो जायंगे तो उनका सारा आगेका साहित्यिक जीवन अवश्य यशोलाभ करेगा ।

[पण्डितजीके द्वारा मुझे जब इस बातका पता लगा कि पण्डित कोठियाने, 'प्रमाणमीमांसा' में लेखबद्ध किये गये पण्डितजीके चिन्तनपूर्ण मौलिक विचारोंको, बनारसी ठगकी तरह, ज्यों के त्यों उडालिये हैं और 'वीरसेवा मन्दिर' जैसी प्रतिष्ठित और सेवानिष्ठ कहलाने वाली संस्थाके संचालकके सूचक एवं मूक सहकारसे प्रसिद्धिमें रख कर अपनी क्षुद्र स्वार्थसिद्धि करनी चाही है, तब मुझे अत्यन्त ग्लानि और उद्विग्नता हो आई । पण्डित कोठियाका यह तस्कर कार्य तो कानुनी अपराधजनक होनेसे 'सिंघी जैन ग्रन्थमाला'के स्वत्व धारण करनेवाले भारतीय विद्या भवनके कार्यवाहक, इस पर कुछ कानुनी कारवाई करनेका भी मुझे सूचन करने लगे । परंतु मैंने 'दुर्जनाः परितुष्यन्तु स्वेन दौरात्म्यकर्मणा ।' इस निर्वेद भावनाका विचार कर उस सूचनकी तरफ उपेक्षा करना ही समुचित समझा । — ग्रन्थमाला संपादक]

संपादकीय वक्तव्य।

प्रस्तुत संस्करण

सन् १९१७ में बनारससे प्रकाशित 'पंडित' नामक संस्कृत ग्रन्थप्रकाशक मासिक पत्रमें 'जैन-तर्कवार्तिकम्' के नामसे जो ग्रन्थ छपा था उसीका यह नया संस्करण 'न्यायावतारसूत्र-वार्तिकवृत्ति' है। प्रस्तुत संस्करणके प्रारंभमें 'न्यायावतारसूत्र' और 'वार्तिक' दिये गये हैं तदनन्तर 'वार्तिकवृत्ति' जिसका नाम 'विचारकलिका' है, दी गई है। 'पंडित'में 'वार्तिक'को समाविष्ट करके 'वार्तिकवृत्ति' दी गई थी और 'वार्तिक'को पृथक् नहीं दिया था। अत एव उसमें 'वार्तिक'की कई कारिकाएँ छूट गई हैं। का० ५, ७, १०, १२ पू०, २१ उ०, और ५३ ये; कारिकाएँ 'पंडित' संस्करण में नहीं है। जो प्रतियाँ मैंने देखीं या जिनका वर्णन सूचीपत्रोंमें पढा, प्रायः उन सभी में यही क्रम है कि प्रथम 'वार्तिक' की कारिकाएं दी गई हैं तदनन्तर 'वृत्ति' लिखी गई है। वृत्तिमें 'वार्तिक' की कारिकाओंकी प्रतीकें मात्र दी गई हैं, पूरी कारिकाओंको उद्धृत नहीं किया। यही बात 'पंडित' संस्करणकी आधारभूत प्रतिके विषय में भी कही जा सकती है। अत एव यह संपादक महोदयकी ही त्रुटि है कि उन्होंने उक्त कारिकाओंको यथास्थान प्रतीकके होते हुए भी उद्धृत नहीं किया। प्रस्तुत संस्करणमें वार्तिककी सभी कारिकाओंको, यथास्थान प्रतीक देख कर उद्धृत किया गया है। 'पंडित' के संस्करणको संशोधित-संपादित-मुद्रित पुस्तक न कह करके इतना ही कहना पर्याप्त है कि जैसे प्रतिलेखक लिखते हैं कि 'यादृशं पुस्तके दृष्टं तादृशं लिखितं मया।' वैसे, 'पंडित' संस्करणके संपादक इतना भी नहीं कह सकते कि 'यादृशं पुस्तके दृष्टं तादृशं मुद्रितं मया।' क्यों कि उनको पुस्तककी प्रतिको पढनेमें तो भ्रम रहा ही, इसके अलावा प्रुफ संशोधनमें और अपनी कल्पनाके घोडे दौडा कर भी उन्होंने उस संस्करणको अशुद्धिओंसे परिपूर्ण कर दिया है। मैंने प्राचीन ताडपत्रकी प्रतियोंके आधारसे प्रस्तुत संस्करणका संशोधन-संपादन किया है। यथाशक्ति अशुद्धि टालनेका प्रयत्न करने पर भी कुछ अशुद्धियाँ रह गई हैं जिन्हें टिप्पणोंमें ठीक किया गया है और शेषके लिये एक शुद्धिपत्र भी दे दिया है। फिर भी मनुष्यसुलभ भ्रान्तियाँ रह गई हों यह संभव है। कुछ अशुद्धियोंके सूचनके लिये मुनिश्री जम्बूविजयजीका मैं आभारी हूँ।

प्रति परिचय

प्रस्तुत संस्करणमें निम्नलिखित प्रतियोंका उपयोग हुआ है —

'अ०' संघवीपाडा भंडार, पाटणकी यह ताडपत्रकी प्रति है। इसका नंबर १५४.१. है। इसके ऊपर 'वार्तिकवृत्ति' ऐसी संज्ञा लिखी हुई है। पत्र १ के द्वितीय पृष्ठ से वार्तिक शुरू होकर पत्र ६ के प्रथम पृष्ठपर वह पूर्ण हुआ है। इसके बादके पत्रका अंक ७ होना चाहिए था किन्तु अंक ५ दिया गया है। इस पत्रके द्वितीय पृष्ठसे वार्तिक वृत्तिका प्रारंभ हुआ है और पत्र १८५ के प्रथम पृष्ठ पर वह पूर्ण हुई है। आदिके छह तदनन्तर पांचवा और अन्तिम दो पत्र खण्डित हैं। पत्र ७२ से ८१ गायब है। शेष पत्र अच्छी स्थितिमें हैं। प्रति सुवाच्य और शुद्ध है। एक पृष्ठमें अधिकसे अधिक ५ और कमसे कम ३ पंक्तियाँ हैं। प्रत्येक पंक्तिमें ६० के आस पास अक्षर हैं। लेखन संवत नहीं है।[1]

'ब०' यह भी संघवीपाडा भंडार, पाटण की ताडपत्रकी प्रति है। इसका नम्बर १८७.१ है। इस प्रतिके ऊपर 'वार्तिकआदि ३ प्रकरणो' ऐसी संज्ञा दी है। अर्थात् इस प्रतिमें क्रमशः १ वार्तिक और इसकी वृत्ति, २ न्यायावतारसूत्र और उसकी वृत्ति, तथा ३ न्यायप्रवेशक सूत्र है। इस प्रतिके प्रथम

---

१ इस प्रतिका परिचय Catalogue of manuscripts at Pattan (G.O.S.) में दिया है। देखो पृ० ४१। वहाँ इसका नंबर ५३ है।

पत्रके द्वितीय पृष्ठसे 'वार्तिक'का प्रारंभ हुआ है और पत्र ३ के प्रथम पृष्ठ पर वह पूर्ण हुआ है। पत्र ४ के द्वितीय पृष्ठसे 'वार्तिकवृत्ति' शुरु हुई है और पत्र १०१ के प्रथम पृष्ठ पर वह पूर्ण हुई है। प्रति सुवाच्य और शुद्ध है। एक पृष्ठमें अधिकसे अधिक आठ और कमसे कम पांच पंक्तियाँ हैं। एक पंक्तिमें करीब ७२ अक्षर हैं। इस प्रतिका ३९ वाँ पत्र कागजका है। प्रायः सभी पत्रोंका दाहिनी ओरका अंश खंडित है। लेखन संवत् इसमें भी नहीं है।[1]

'क०' श्रीआत्माराम जैनज्ञान मंदिर, बडोदा, की कागज पर किसी प्राचीन प्रतिके आधारसे लिखी हुई यह प्रति है। इसका नंबर ३ है और इसके ऊपर 'शास्त्रार्थसंग्रहवार्तिकवृत्ति' ऐसी संज्ञा दी हुई है। प्रति आधुनिक है और प्रतीत होता है कि जेसलमेरकी प्रतिकी यह नकल है। इसके पत्र ४६ हैं। प्राचीन प्रतिके अक्षरोंका ज्ञान ठीक न होनेके कारण लेखकने अनेक भद्दी भूलें की हैं। इसमें १४ वें और १५ वें पत्रोंका व्युत्क्रम हो गया है। २३ का अंक दो बार दिया गया है। उसमें भी $२३^{२}$ का स्थान $२४^{२}$ को मिलना चाहिए। जिस प्रतिके आधारसे यह नकल की गई है वह अंतमें त्रुटित होगी ऐसा इस प्रतिके ४५ और ४६ पत्र गत त्रुटितकी निशानीसे स्पष्ट है। साईझ $१३\frac{१}{२}$''+$५\frac{३}{४}$'' हैं। प्रत्येक पृष्ठमें पंक्ति १६ और अक्षर ६५ के आसपास हैं। इसकी लेखकप्रशस्तिके लिये, देखो पृ० १२२ की टिप्पणी ११।

'मु०' 'जैनतर्कवार्तिकम्'के नामसे बनारससे सन १९१७ में जो पुस्तक मुद्रित है वही यह है। यह तो अत्यन्त अशुद्ध है। इसका आधार सं० १९६५ में लिखी गई कोई प्रति है। वह प्रति भी संभव है कि बनारसके रामघाट के बडे जैनमंदिरमें स्थित श्री कुशलचन्द्र जैन ज्ञानभंडार की, सं० १९४५ में लिखी गई 'जैनतर्कवार्तिकम्' नामक पोथी नं० ५ की प्रतिलिपि हो। मु० तथा उक्त भंडार की, प्रतिको मिलाने से यह स्पष्ट होता है। यह भी संभव है कि इन दोनोंका आधार कोई तीसरी ही प्रति हो। श्री कुशलचन्द्र जैन ज्ञानभंडार की प्रति सुलभ करने के लिये आचार्य श्री हीराचन्द्रजीका मैं आभारी हूँ।

प्रतियोंका वर्गीकरण

अ० और ब० प्रतिमें कहीं कहीं पाठभेद होने पर भी इन दोनोंका वर्ग एक है, क्यों कि ये दोनों प्रतियाँ अधिकांशमें एक जैसा पाठ उपस्थित करतीं हैं। और उनका वैलक्षण्य अधिकांशमें क० और मु० से स्पष्ट है। दूसरी ओर क० और मु० का भी एक वर्ग है। क्यों कि यत्रतत्र इन दोनोंमें पाठभेद होते हुए भी अधिकांशमें इन दोनों प्रतियोंमें एक जैसा पाठ मिलता है और वह अ० और ब० इन दोनोंसे विलक्षण होता है। अत एव यह कहा जा सकता है कि इन चारों प्रतियोंका मूलाधार दो प्रतियाँ होंगी जिनमेंसे एकके आधारसे साक्षात् या परंपरासे अ० और ब० लिखी गई होंगी और दूसरीके परिवारमें क० और मु० का स्थान है।

लिपिभ्रम

मु० प्रतिके छपाने वाले पंडितको जैनलिपि या प्राचीन लिपिका कुछ भी ज्ञान नहीं था ऐसा मुद्रित प्रतिको देखनेसे स्पष्ट होता है। मुद्रित पुस्तकमें लिपिके अज्ञानके कारण शब्द कुछ का कुछ बन गया है। एकाध अक्षरके पढनेमें भ्रम होनेके कारण शब्दके दूसरे अक्षरोंका परिवर्तन अपनी बुद्धिसे करके शब्दके समूचे रूपको ही बदल कर एक विचित्र पाठभेद उपस्थित किया गया है। ऐसे पाठभेदोंको लेना पुस्तकके कलेवरको निरर्थक बढाना है; ऐसा समझ कर मैंने उचित समझा कि लिपिभ्रम किन किन अक्षरों और संयुक्ताक्षरोंमें हुआ है उनकी एक तालिका की जाय। तदनुसार जो तालिका बनी है वह नीचे दी जाती है। यह तालिका प्राचीन लिपिको ठीक न पढनेसे कैसी भ्रान्तियाँ होती हैं इसका दिग्दर्शन करानेके साथ ही संशोधक वर्गको हस्तलिखित प्रतियोंमें उपलब्ध अशुद्ध पाठोंके आधारसे शुद्ध पाठोंकी कल्पना करनेमें भी सहायक होगी। क्योंकि जैसी भ्रान्तियाँ मुद्रित पुस्तकके संपादक को हुई हैं ऐसी ही भ्रान्तियाँ प्रतियोंके लेखकोंको भी अधिकांशमें हुई हैं। निम्न तालिकामें प्रथमाक्षर शुद्धरूप है और दूसरा उसके स्थानमें जो छापा गया है वह है।

---

१ इस प्रतिके लिये देखो, Catalogue of Manuscripts at Pattan (G.O.S.) p. 86. वहाँ प्रतिका नंबर १२२ है।

उ=तु	च्य=त्य, ह	ह=द	तु=नु	म=स
ए=रा	तू=तु	त्र=न, व, च, न	ह=क	रा=ए
ओ=तु	त्ता=क	त्व=च	च्छ=च्छ	व=च, थ, म
क्ष=श	ज्व=क्ष	त्म=त्र	न्त=त्त	ता=क
का=च	ञ्ज=ञ	थ=प	द्=च्छ	श=स
[1]क्य=च्य, च, च्य,	ट=ठ	तु=क	ध्य=च्य	श=त्व
क्य=च्य	व्य=य	द्दि=द्वि	प=य, ए	पेच=बंध
ग=रा	ण्ण=षा	ध=व	प्य=ष्य, थ	प=व, ए
च=व, थ, त्र	त=न	न=त	व=व	पू=यु
चा=क्ष	त=त	नच=तत्र	य=प,म	त्स=स

इसके अलावा पृष्ठमात्राके स्थानमें इकार की मात्रा और इकार की मात्राको पृष्ठमात्रा समझ कर एकारकी मात्रा, विसर्गके स्थानमें अनुस्वार और अनुस्वारके स्थानमें विसर्ग, एकारके स्थानमें अनुस्वार तथा ऽअवग्रहके स्थानमें आकारकी मात्रा कर देनेसे भी अनेक पाठभेद हो गये हैं । इसके अलावा अनावश्यक अनुस्वार तथा अनुस्वारके लोपजन्य भी अनेक पाठभेद हैं। इन सभी प्रकारके पाठभेदोंको मैंने टिप्पणीमें स्थान नहीं दिया है।

प्रस्तुत संस्करणका परिचय

न्यायावतारसूत्र, वार्तिक, विचारकलिका नामक वार्तिकवृत्ति, तुलनात्मक टिप्पण और परिशिष्ट इस क्रमसे प्रस्तुत संस्करणका मुद्रण हुआ है । न्यायावतारका मुद्रण इस संस्करणमें इसलिये आवश्यक समझा गया कि वार्तिककारने उसीके ऊपर वार्तिक लिखा है। न्यायावतारका मुद्रण बंबईकी जैन कॉन्फरंस द्वारा प्रकाशित सिद्धर्षिकी टीकाके आधारसे तथा 'जैन साहित्य संशोधक' ३.१ में प्रकाशित पं० सुखलालजी संपादित सानुवाद न्यायावतारसे किया है । वार्तिक और वार्तिकवृत्तिका संपादन मैंने पूर्वोक्त प्रतियोंके आधारसे किया है। जिस प्रतिका पाठ शुद्ध और संगत मालूम पड़ा उसको मूलमें स्थान दिया है शेषको नीचे टिप्पणोंमें स्थान दिया है। अपनी ओरसे जो कहीं कहीं पाठशुद्धि की है उसे (   ) ऐसे कोष्ठकमें रखा है। तथा कहीं कहीं पूर्वापर संबन्धको देख कर अक्षर या शब्दकी वृद्धि करना आवश्यक प्रतीत हुआ वहाँ उस वृद्धिको [   ] ऐसे कोष्ठकमें रखा है।

जैन न्यायशास्त्रको ठीक २ अवगत करनेके लिये अन्य दर्शनोंके तुलनात्मक अध्ययनकी आवश्यकताको महसूस करके मैंने यथाशक्ति इस ग्रन्थके हिन्दी टिप्पण लिखे हैं। कहीं कहीं ग्रन्थगत विषयकी अन्य ग्रन्थोंसे शब्द और अर्थकी एकता देख कर उन ग्रन्थोंके पाठ देकर या सिर्फ पृष्ठ पंक्ति देकर निर्देश कर दिया है। जिससे यह पता चले कि किन २ ग्रन्थोंका ऋण प्रस्तुत ग्रन्थकार पर है।

अन्तमें प्रस्तुत संस्करणमें उपयोगी ऐसे अनेक परिशिष्ट दिये गये हैं। प्रारंभमें प्रस्तावनामें, आगमयुगीन और आगमोत्तर कालीन सिद्धसेनपूर्ववर्ती जैन दर्शनकी रूपरेखा देनेका प्रयत्न किया है । तथा ग्रन्थ और ग्रन्थकर्ताओंके विषयमें ज्ञातव्य बातोंकी विवेचना की गई है।

आभारप्रदर्शन

पूज्य पंडित श्री सुखलालजीकी केवल प्रेरणाका ही नहीं, किन्तु आदिसे अन्त तक प्रस्तुत संस्करणको उपयोगी बनानेके उनके बहुविध प्रयत्नका ही फल प्रस्तुत संस्करण है। उनके उतने प्रयत्नके होते हुए भी यदि इसमें कोई त्रुटि रह गई हो तो वह मेरी है। इस ग्रन्थके संपादनकी प्रक्रियामें उन्होंने ममत्वभावसे रस लिया है। पाठशुद्धिसे लेकर परिशिष्ट तक में मेरे जो प्रश्न थे उन्हें सुलझानेका पूरा प्रयत्न किया है इतना ही नहीं किन्तु मेरे हिन्दी टिप्पणोंको अक्षरशः पढकर भ्रान्तियोंको दूर किया है। इन टिप्पणोंको मैं 'मेरे' कहता हूँ इसका मतलब यह नहीं है कि इसमें जो कुछ लिखा गया है वह मेरा निजी है। वस्तुतः पंडितजीके दीर्घकालीन सहवासके कारण जो कुछ मैंने सीखा है उसीके एक अंशमात्रको मैंने व्यक्त

१ इसके फल स्वरूप एक ही 'वाक्य' शब्दके वाद्य, वाक्य, और वाच्य ऐसे पाठभेद हुए हैं।

करनेकी चेष्टा की है। इसमें मैंने उनके लिखित और अलिखित विचारोंका पूरा पूरा उपयोग किया है। उन्होंने इन टिप्पणोंकी जाँच करके संतोष व्यक्त किया है। पंडितजीने इस संस्करणमें जो निष्काम परिश्रम उठाया है उसके लिये धन्यवादके दो शब्द पर्याप्त नहीं। उन्हें तृप्ति इसी में है कि मेरी साहित्यिक प्रवृत्ति उत्तरोत्तर विकसित होती रहे। उनका निःस्वार्थभाव सदा वंदनीय है।

पू० मुनि श्री जिनविजयजीने भी मेरे हिन्दी टिप्पणोंको देखकर उत्साहवर्धक पत्र लिखे हैं और ग्रन्थका टिप्पणोंके कारण छपनेमें विलम्ब होता देखकर भी मेरी प्रवृत्तिको शिथिल करने के बजाय बढाया है। कईबार प्रूफ भी देखे हैं। उनका सहज स्नेह ही मुझमें उत्साह भर देता है। पुस्तककी छपाईकी सुन्दरताका श्रेय उन्हींको मिलना चाहिए। मैं इस प्रसंगमें अपनी श्रद्धांजली उन्हें अर्पित करता हूँ।

पूज्यपाद मुनि श्री पुण्यविजयजीकी कृपाके कारण ही मुझे पाटण भंडारकी दोनों ताडपत्रकी प्रतियाँ देखनेको मिली थीं और उन्होंने बडौदाकी प्रति भी भिजवाई थी, एतदर्थ मैं उनका आभारी हूँ।

पू० पं० सुखलालजीके सन्मतितर्क, प्रमाणमीमांसा आदि ग्रन्थके टिप्पणोंसे तो मैंने काफी काम उठाया ही है। पं० महेन्द्रकुमारजीके न्यायकुमुदचन्द्रके टिप्पणोंने भी मेरा परिश्रम अधिकमात्रामें हलका किया है। इतना ही नहीं किन्तु कई प्रश्नोंके बारेमें उनके साथ चर्चा करके मैंने जिज्ञासाकी तृप्ति भी की है। एतदर्थ मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

भाई महेन्द्रकुमार 'अभय' जैनदर्शनशास्त्री, जो मेरे छात्र थे उन्होंने पू० पंडितजीको मेरे हिन्दी टिप्पण सुनानेका तथा मेरी हिन्दीभाषाको परिमार्जित करनेका कार्य प्रेमसे किया है; अत एव वे धन्यवादार्ह हैं। श्री रत्नचन्द्र M. A. पार्श्वनाथ विद्याश्रमके भूतपूर्व अधिष्ठाताने भी क० प्रतिसे पाठान्तर लेनेमें सहायता की है। और श्री परमानन्द शाहने परिशिष्ट बनानेमें मदद की है, उनका भी आभार मानना मेरा कर्तव्य है।

हिंदु विश्वविद्यालय }
बनारस }

दलसुख मालवणिया

प्रस्तावना ।

१. आगम युगका जैन दर्शन ।

[१] प्रमेयतत्त्व ।

प्रास्ताविक—

वर्णनकी सुभीतेकी दृष्टिसे जैन दर्शनके विषयोंका संक्षिप्त वर्गीकरण करना हो तो वह प्रमेयतत्त्व और प्रमाणतत्त्व इन दो भेदोंमें किया जा सकता है। न्यायावतार और उसके वार्तिकके इन दो विषयोंके मन्तव्योंका निरूपण करनेके पहले यह आवश्यक है कि न्यायावतारके पूर्वमें जैन दर्शनशास्त्रकी क्या स्थिति थी उसका संक्षिप्त विवेचन किया जाय। ऐसा करनेसे ही यह स्पष्ट होगा कि जैन दर्शनशास्त्रमें सिद्धसेन और शान्त्याचार्यकी क्या देन है।

जैन दर्शनशास्त्रके विकासक्रमको चार युगोंमें[1] विभक्त किया जा सकता है—

१ आगम युग।

२ अनेकान्तस्थापन युग।

३ प्रमाणशास्त्रव्यवस्था युग।

४ नवीनन्याय युग।

युगोंके लक्षण युगोंके नामसे ही स्पष्ट हैं। कालमर्यादा इस प्रकार रखी जा सकती है—आगम युग भगवान महावीरके निर्वाणसे लेकर करीब एक हजार वर्षका है (वि० पू० ४७०-वि० ५००), दूसरा वि० पाँचवींसे आठवीं शताब्दी तक; तीसरा आठवींसे सत्रहवीं तक। और चौथा अठारहवींसे आधुनिक समय पर्यन्त। इन सभी युगोंकी विशेषताओंका मैंने अन्यत्र संक्षिप्त विवेचन किया है[2]। दूसरे, तीसरे और चौथे युगकी दार्शनिक संपत्तिके विषयमें पू० पण्डित सुखलालजी, पं० कैलाशचन्द्रजी, पं० महेन्द्रकुमारजी आदि विद्वानोंने पर्याप्त मात्रामें प्रकाश डाला है किन्तु आगम युगके साहित्यमें जैनदर्शनके प्रमेय और प्रमाण तत्त्वके विषयमें क्या क्या मन्तव्य हैं उनका संकलन पर्याप्तमात्रामें नहीं हुआ है। अत एव यहाँ जैन आगमोंके आधारसे उन दो तत्त्वोंका संकलन करनेका प्रयत्न किया जाता है। ऐसा होनेसे ही अनेकान्त युगके और प्रमाणशास्त्रव्यवस्था युगके विविध प्रवाहोंका उद्गम क्या है, आगममें वह है कि नहीं, है तो कैसा है यह स्पष्ट होगा, इतना ही नहीं बल्कि जैन आचार्योंने मूल तत्त्वोंका कैसा पल्लवन और विकसन किया तथा किन नवीन तत्त्वोंको तत्कालीन दार्शनिक विचारधारामेंसे अपना कर अपने तत्त्वोंको व्यवस्थित किया यह भी स्पष्ट हो सकेगा तथा प्रस्तुतमें सिद्धसेन और शान्त्याचार्यकी जैन दर्शनको क्या देन है यह भी स्पष्ट हो जायगा।

---

१ प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थमें मेरा लेख पृ० ३०३, तथा जैन संस्कृति संशोधन मंडल पत्रिका १।
२ वही।

आगम युगके दार्शनिक तत्त्वोंके विवेचनमें मैंने श्वेताम्बरप्रसिद्ध मूल आगमोंका ही उपयोग किया है। दिगम्बरोंके मूल षट्खण्डागम आदिका उपयोग मैंने नहीं किया। उन शास्त्रोंका दर्शनके साथ अधिक सम्बन्ध नहीं है। उन ग्रन्थोंमें जैन कर्मतत्त्वका ही विशेष विवरण है। श्वेताम्बरोंके निर्युक्ति आदि टीकाग्रन्थोंका कहीं कहीं स्पष्टीकरणके लिये उपयोग किया है, किन्तु जो मूलमें न हो ऐसी निर्युक्ति आदिकी बातोंको प्रस्तुत आगम युगके दर्शन तत्त्वके निरूपणमें स्थान नहीं दिया है। इसका कारण यह है कि हम आगम साहित्यके दो विभाग कर सकते हैं। एक मूल शास्त्रका तथा दूसरा टीका-निर्युक्ति-भाष्य-चूर्णिका। प्रस्तुतमें मूलका ही विवेचन अभीष्ट है क्यों कि हमें यह देखना है कि सिद्धसेनके सामने क्या वस्तु थी। निर्युक्तिके विषयमें यह निश्चित रूपसे अभी कहना कठिन है कि वे सिद्धसेनके सामने इसी रूपमें उपस्थित थीं या नहीं। उपलब्ध निर्युक्तियोंसे यह प्रतीत होता है कि उनमें प्राचीन निर्युक्तियाँ समाविष्ट कर दी गई हैं। किन्तु सर्वत्र यह बताना कठिन है कि कितना अंश मूल प्राचीन निर्युक्तिका है और कितना अंश भद्रबाहुका है। अत एव निर्युक्तिका अध्ययन किसी अन्य मौकेके लिये स्थगित रख कर प्रस्तुतमें मूल आगममें खास कर अंग, उपांग और नन्दी-अनुयोगके आधार पर चर्चा की जायगी।

आगमिक दार्शनिक तत्त्वके विवेचनके पहले वेदसे लेकर उपनिषद् पर्यन्त विचारधाराके तथा बौद्ध त्रिपिटककी विचारधाराके प्रस्तुतोपयोगी अंशका भी भूमिका रूपसे आकलन किया है—सो इस दृष्टिसे कि तत्त्वविचारमें वैदिक और बौद्ध दोनों धाराओंके अघात-प्रत्याघातसे जैन आगमिक दार्शनिक चिन्तनधाराने कैसा रूप लिया यह स्पष्ट हो जाय।

§१ भगवान् महावीरसे पूर्वकी स्थिति।

(१) वेदसे उपनिषद् पर्यन्त।

विश्वके स्वरूपके विषयमें नाना प्रकारके प्रश्न[1] और उन प्रश्नोंका समाधान यह विविध प्रकारसे प्राचीन कालसे होता आया है। इस बातका साक्षी ऋग्वेदसे लेकर उपनिषद् और बादका समस्त दार्शनिक सूत्र और टीका-साहित्य है।

ऋग्वेदका दीर्घतमा ऋषि विश्वके मूल कारण और स्वरूपकी खोजमें लीन होकर प्रश्न[2] करता है कि इस विश्वकी उत्पत्ति कैसी हुई है, इसे कौन जानता है? है कोई ऐसा जो जानकार से पूछ कर इसका पता लगावे? वह फिर कहता है कि[3] मैं तो नहीं जानता किन्तु खोजमें इधर उधर विचरता हूँ तो वचनके द्वारा सत्यके दर्शन होते हैं। खोज करते करते दीर्घतमाने अन्तमें कह दिया कि[4]—"एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति"। सत् तो एक ही है किन्तु विद्वान् उसका वर्णन कई प्रकारसे करते हैं। अर्थात् एक ही तत्त्वके विषयमें नाना प्रकारके वचन प्रयोग देखे जाते हैं।

---

१ ऋग्वेद १०.५,२७,८८,१२९ इत्यादि। तैत्तिरीयोपनिषद् ३.१। श्वेता० १.१।
२ ऋग्वेद १.१६४.४। ३ ऋग्वेद १.१६४.३७। ४ ऋग्वेद १.१६४.४६।

दीर्घतमा के इस उद्गारमें ही मनुष्यस्वभावकी उस विशेषताका हमें स्पष्ट दर्शन होता है जिसे हम समन्वयशीलता कहते हैं । इसी समन्वयशीलताका शास्त्रीय रूप जैनदर्शनसम्मत स्याद्वाद या अनेकान्तवाद है ।

नासदीय सूक्तका[1] ऋषि जगत्‌के आदि कारण रूप उस परम गंभीर तत्त्वको जब न सत् कहना चाहता है और न असत्, तब यह नहीं समझना चाहिए कि वह ऋषि अज्ञानी या संशयवादी था किन्तु इतना ही समझना चाहिए कि ऋषिके पास उस परम तत्त्वके प्रकाशनके लिए उपयुक्त शब्द न थे । शब्दकी इतनी शक्ति नहीं है कि वह परम तत्त्वको संपूर्ण रूपमें प्रकाशित कर सके । इसलिए ऋषिने कह दिया कि उस समय न सत् था न असत् । शब्द शक्ति की इस मर्यादाके स्वीकारमेंसे ही स्याद्वादका और अस्वीकारमेंसे ही एकान्त वादोंका जन्म होता है ।

विश्वके कारण की जिज्ञासामेंसे अनेक विरोधी मतवाद उत्पन्न हुए जिनका निर्देश उपनिषदोंमें हुआ है । जिसको सोचते सोचते जो सूझ पड़ा उसे उसने लोगोंमें कहना शुरू किया । इस प्रकार मतोंका एक जाल बन गया । जैसे एक ही पहाड़मेंसे अनेक दिशाओंमें नदियाँ बहती हैं उस प्रकार एक ही प्रश्नमेंसे अनेक मतोंकी नदियाँ बहने लगीं । और ज्यों-ज्यों वह देश और कालमें आगे बढीं त्यों-त्यों विस्तार बढ़ता गया । किन्तु वे नदियाँ जैसे एक ही समुद्रमें जा मिलती हैं उसी प्रकार सभी मतवादियोंका समन्वय महासमुद्ररूप[2] स्याद्वाद या अनेकान्त वादमें हो गया है ।

विश्वका मूल कारण क्या है ? वह सत् है या असत् ? सत् है तो पुरुष है या पुरुषेतर— जल, वायु, अग्नि, आकाश आदिमेंसे कोई एक ? इन प्रश्नोंका उत्तर उपनिषदोंके ऋषिओंने अपनी अपनी प्रतिभाके बलसे दिया है[3] । और इस विषयमें नाना मतवादोंकी सृष्टि खड़ी कर दी है ।

किसीके मतसे असत्‌से ही सत् की उत्पत्ति हुई है[4] । कोई कहता है[5]—प्रारंभमें मृत्युका ही साम्राज्य था, अन्य कुछ भी नहीं था । उसीमेंसे सृष्टि हुई । इस कथनमें भी एक रूपकके जरिये असत् से सत् की उत्पत्तिका ही स्वीकार है । किसी ऋषिके मतसे असत् से सत् हुआ और वही अण्ड बन कर सृष्टिका उत्पादक हुआ[6] ।

इन मतोंके विपरीत सत्कारणवादियोंका कहना है कि असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे

---

१ ऋग्वेद १०.१२९ ।

२ "उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ दृष्टयः ।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः ॥"
—सिद्धसेनद्वात्रिंशिका ४.१५ ।

३ Constructive Survey of Upanishads. p.73

४ "असद्वा इदमग्र आसीत् । ततो वै सदजायत" ।—तैत्तिरी० २.७

५ "नैवेह किंचनाग्र आसीन्मृत्युनैवेदमावृतमासीत्" ।—बृहदा० १.२.१

६ "आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः । तस्योपव्याख्यानम् । असदेवेदमग्र आसीत् । तत् सदासीत् । तत् समभवत् । तदाण्डं निरवर्तत ।" छान्दो० ३.१९.१

हो सकती है ? सर्व प्रथम एक और अद्वितीय सत् ही था । उसीने सोचा मैं अनेक होऊँ । तब क्रमशः सृष्टिकी उत्पत्ति हुई है[१] ।

सत्कारणवादियोंमें भी ऐकमत्य नहीं । किसीने जलको, किसीने वायुको, किसीने अग्निको, किसीने आकाश को और किसीने प्राणको विश्वका मूल कारण माना[२] है ।

इन सभी वादोंका सामान्य तत्त्व यह है कि विश्वके मूल कारण रूपसे कोई आत्मा या पुरुष नहीं है । किन्तु इन सभी वादोंके विरुद्ध अन्य ऋषिओंका मत है कि इन जड तत्त्वोंमें से सृष्टि उत्पन्न हो नहीं सकती, सर्वोत्पत्तिके मूलमें कोई चेतन तत्त्व कर्त्ता होना चाहिए ।

पिप्पलाद ऋषिके मतसे प्रजापतिसे सृष्टि हुई है[३] । किन्तु बृहदारण्यकमें आत्मको मूल कारण मानकर उसीमेंसे स्त्री और पुरुषकी उत्पत्तिके द्वारा क्रमशः संपूर्ण विश्वकी सृष्टि मानी गई है[४] । ऐतरेयोपनिषद्‌में भी सृष्टिक्रममें भेद होने पर भी मूल कारण तो आत्मा ही माना गया है[५] । यही बात तैत्तिरीयोपनिषद्‌के विषयमें भी कही जा सकती है[६] । किन्तु इसकी विशेषता यह है कि आत्माको उत्पत्तिका कर्त्ता नहीं बल्कि कारण मात्र माना गया है । अर्थात् अन्यत्र स्पष्ट रूपसे आत्मा या प्रजापतिमें सृष्टिकर्तृत्वका आरोप है जब कि इसमें आत्माको सिर्फ मूल कारण मान कर पंचभूतोंकी संभूति उस आत्मासे हुई है इतना ही प्रतिपाद्य है । मुण्डकोपनिषद्‌में जड और चेतन सभी की उत्पत्ति दिव्य, अमूर्त्त और अज ऐसे पुरुषसे मानी गई है[७] । यहाँ भी उसे कर्त्ता नहीं कहा । किन्तु श्वेताश्वतरोपनिषद्‌में विश्वाधिप देवाधिदेव रुद्र ईश्वरको ही जगत्कर्त्ता माना गया है और उसीको मूल कारण भी कहा गया है[८] ।

उपनिषदोंके इन वादोंको संक्षिप्तमें कहना हो तो कहा जा सकता है कि किसी के मतसे असत् से सत् की उत्पत्ति होती है, किसीके मतसे विश्वका मूल तत्त्व सत् जड है और किसीके मतसे वह सत् तत्त्व चेतन है ।

एक दूसरी दृष्टिसे भी कारणका विचार प्राचीन कालमें होता था । उसका पता हमें श्वेताश्वतरोपनिषद् से चलता है । उसमें ईश्वरको ही परम तत्त्व और आदि कारण सिद्ध करनेके लिये जिन अन्य मतोंका निराकरण किया गया है वे ये हैं:[९] — १ काल, २ स्वभाव, ३ नियति, ४ यदृच्छा, ५ भूत, ६ पुरुष, ७ इन सभीका संयोग, ८ आत्मा ।

उपनिषदोंमें इन नाना वादोंका निर्देश है अतएव उस समय पर्यन्त इन वादोंका अस्तित्व था ही इस बातका स्वीकार करते हुए भी प्रो० रानडे का कहना है कि "[१०]उपनिषद्कालीन दार्शनिकोंकी दर्शन क्षेत्रमें जो विशिष्ट देन है वह तो आत्मवाद है ।

---

१ "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । तस्मादसतः सज्जायत । कुतस्तु खलु सोम्य एवं स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति । सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम् तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति"—छान्दो० ६.२ ।

२. बृहदा० ५.५.१ । छान्दो० ४.३ । कठो० २.५.९. । छान्दो० १.९.१ । १.११.५. । ४.३.३ । ७.१२.१ । ३ प्रश्नो० १.३-१३ । ४ बृहदा० १.४.१-४ । ५ ऐतरेय १.१-३ । ६ तैत्तिरी० २.१ । ७ मुण्ड० २.१.२-९ । ८ श्वेता० ३.२ । ६.९ ।

९ "कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम् ।
संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥"—श्वेता० १.२ ।

१० Constructive Survey of Upanishadas, ch. V. P. 246.

अन्य सभी वादोंके होते हुए भी जिस वादने आगेकी पीढीके ऊपर अपना असर कायम रखा और जो उपनिषदोंका खास तत्त्व समझा जाने लगा वह तो आत्मवाद ही है। उपनिषदोंके ऋषि अन्तमें इसी नतीजे पर पहूँचे कि विश्वका मूल कारण या परम तत्त्व आत्मा ही है। परमेश्वरको भी जो संसारका आदि कारण है श्वेताश्वतरमें 'आत्मस्थ' देखने को कहा है—

"तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्" ६.१२।

छान्दोग्यका निम्न वाक्य देखिए—

"अथातः आत्मादेशः आत्मैवाधस्तात्, आत्मोपरिष्टात्, आत्मा पश्चात्, आत्मा पुरस्तात्, आत्मा दक्षिणतः, आत्मोत्तरतः आत्मैवेदं सर्वमिति। स वा एष एवं पश्यन् एवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।" छान्दो० ७.२५।

बृहदारण्यकमें उपदेश दिया गया है कि—

"न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्।" २.४.५।

उपनिषदोंका ब्रह्म और आत्मा भिन्न नहीं किन्तु आत्मा ही ब्रह्म है— 'अयमात्मा ब्रह्म'— बृहदा० २.५.१९।

इस प्रकार उपनिषदोंका तात्पर्य आत्मवाद या ब्रह्मवादमें है, ऐसा जो कहा जाता है वह उस कालके दार्शनिकोंका उस वादके प्रति जो विशेष पक्षपात था उसीको लक्ष्यमें रखकर है। परम तत्त्व आत्मा या ब्रह्मको उपनिषदोंके ऋषियोंने शाश्वत, सनातन, नित्य, अजन्य, ध्रुव माना है[1]।

इसी आत्म तत्त्व या ब्रह्म तत्त्वको जड और चेतन जगत् का उपादान कारण, निमित्त कारण या अधिष्ठान मान कर दार्शनिकोंने केवलाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत या शुद्धाद्वैतका समर्थन किया है। इन सभी वादोंके अनुकूल वाक्योंकी उपलब्धि उपनिषदोंमें होती है। अतः इन सभी वादोंके बीज उपनिषदोंमें है ऐसा मानना युक्तिसंगत ही है[2]।

उपनिषत्कालमें कुछ लोग महाभूतोंसे आत्माका समुत्थान और महाभूतोंमें ही आत्माका लय माननेवाले थे किन्तु उपनिषत्कालीन आत्मवादके प्रचण्ड प्रवाहमें उस वादका कोई खास मूल्य नहीं रह गया। इस बात की प्रतीति बृहदारण्यकनिर्दिष्ट याज्ञवल्क्य और मैत्रेयीके संवादसे हो जाती है। मैत्रेयीके सामने जब याज्ञवल्क्यने भूतवादकी चर्चा छेड कर कहा कि "विज्ञानघन इन भूतोंसे ही समुत्थित होकर इन्हींमें लीन हो जाता है, परलोक या पुनर्जन्म जैसी कोई बात नहीं है"[3] तब मैत्रेयीने कहा कि ऐसी बात कह कर हमें मोहमें मत डालो। इससे स्पष्ट है कि आत्मवादके सामने भूतवादका कोई मूल्य नहीं रह गया था।

प्राचीन उपनिषदोंका काल प्रो० रानडेने ई० पू० १२०० से ६०० तक का माना है[4]। यह काल भगवान् महावीर और बुद्धके पहलेका है। अतः हम कह सकते हैं कि उन दोनों

---

१ कठो० १.२.१८। २.६.१। ३.३.१५। २.४.२। श्वेता० २.१५। मुण्डको० १.६। इत्यादि।

२ Constru. p. 205—232.

३ "विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञा अस्तीत्यरे ब्रवीमिति होवाच याज्ञवल्क्यः।" बृहदा० २.४.१२।

४ Constru. p. 13

महापुरुषोंके पहले भारतीय दर्शनकी स्थिति जाननेका साधन उपनिषदोंसे बढ़कर अन्य कुछ हो नहीं सकता। अत एव हमने ऊपर उपनिषदोंके आधारसे ही भारतीय दर्शनोंकी स्थिति पर कुछ प्रकाश डालनेका प्रयत्न किया है। उस प्रकाशके आधार पर यदि हम जैन और बौद्ध दर्शनके मूल तत्त्वोंका विश्लेषण करें तो दार्शनिक क्षेत्रमें जैन और बौद्ध शास्त्रकी क्या देन है यह सहज ही में विदित हो सकता है। प्रस्तुतमें विशेषतः जैन तत्त्वज्ञानके विषयमें ही कहना इष्ट है, इस कारण बौद्ध दर्शनके तत्त्वोंका उल्लेख तुलनाकी दृष्टिसे प्रसंगवश ही किया जायगा और मुख्यतः जैन दर्शनके मौलिक तत्त्वकी विवेचना की जायगी।

(२) भगवान् बुद्धका अनात्मवाद।

भगवान् महावीर और बुद्धके निर्वाणके विषयमें जैन-बौद्ध अनुश्रुतियोंको यदि प्रमाण माना जाय तो फलित यह होता है कि भगवान् बुद्धका निर्वाण ई० पू० ५४४ में हुआ था अत एव उन्होंने अपनी इहजीवनलीला भगवान् महावीरसे पहले समाप्त की थी और उन्होंने उपदेश भी भगवान् के पहले ही देना शुरू किया था। यही कारण है कि वे पार्श्व-परंपराके चातुर्यामका उल्लेख करते हैं। उपनिषत्कालीन आत्मवादकी बाढको भगवान् बुद्धने अनात्मवादका उपदेश देकर मंद किया। जितने वेगसे आत्मवादका प्रचार हुआ और सभी तत्त्वके मूलमें एक परम तत्त्व शाश्वत आत्माको ही माना जाने लगा उतने ही वेगसे भगवान् बुद्धने उस वादकी जड़ काटनेका प्रयत्न किया। भगवान् बुद्ध विभज्यवादी थे। अत एव उन्होंने रूप आदि ज्ञात वस्तुओंको एक एक करके अनात्म सिद्ध किया। उनकी दलीलका क्रम ऐसा है—

[1]क्या रूप अनित्य है या नित्य?

अनित्य।

जो अनित्य है वह सुख है या दुःख?

दुःख।

जो चीज अनित्य है, दुःख है, विपरिणामी है क्या उसके विषयमें इस प्रकारके विकल्प करना ठीक है कि—यह मेरा है, यह मैं हूँ, यह मेरी आत्मा है?।

नहीं।

इसी क्रमसे वेदना,' संज्ञा, संस्कार और विज्ञानके विषयमें भी प्रश्न करके भगवान् बुद्धने अनात्मवादको स्थिर किया है। इसी[1] प्रकार चक्षुरादि इन्द्रियाँ, उनके विषय, तज्जन्य विज्ञान, मन, मानसिक धर्म और मनोविज्ञान इन सबको भी अनात्म सिद्ध किया है।

कोई भ० बुद्ध से पूछता कि जरा-मरण क्या है और किसे होता है, जाति क्या है और किसे होती है, भव क्या है और किसे होता है? तो तुरन्त ही वे उत्तर देते कि ये प्रश्न ठीक नहीं। क्यों कि प्रश्नकर्ता इन सभी प्रश्नोंमें ऐसा मान लेता है कि जरा आदि अन्य हैं और जिसको ये जरा आदि होते हैं वह अन्य हैं। अर्थात् शरीर अन्य है और आत्मा अन्य है। किन्तु ऐसा मानने पर ब्रह्मचर्यवास—धर्माचरण संगत नहीं। अत एव भगवान् बुद्धका कहना है कि प्रश्नका आकार

---

१ संयुत्तनिकाय XII. 70. 32–37

२ दीघनिकाय महानिदानसुत्त १५। ३ मज्झिमनिकाय छक्कसुत्त १४८।

ऐसा होना चाहिए – जरा कैसे होती है? जरा-मरण कैसे होता है? जाति कैसे होती है? भव कैसे होता है? तब भगवान् बुद्धका उत्तर है कि ये सब प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं। मध्यम मार्गका अवलंबन लेकर भगवान् बुद्ध समझाते हैं कि शरीर ही आत्मा है ऐसा मानना एक अन्त है और शरीरसे भिन्न आत्मा है ऐसा मानना दूसरा अन्त है। किन्तु मैं इन दोनों अन्तोंको छोडकर मध्यम मार्गसे उपदेश देता हूँ कि: –

अविद्याके होनेसे संस्कार, संस्कारके होनेसे विज्ञान, विज्ञानके होनेसे नाम-रूप, नाम-रूपके होनेसे छः आयतन, छः आयतनोंके होनेसे स्पर्श, स्पर्शके होनेसे वेदना, वेदनाके होनेसे तृष्णा, तृष्णाके होनेसे उपादान, उपादानके होनेसे भव, भवके होनेसे जाति – जन्म, जन्मके होनेसे जरा-मरण है। यही प्रतीत्यसमुत्पाद है[१]।

आनन्दने एक प्रश्न भगवान् बुद्धसे किया कि आप बारबार लोक शून्य है ऐसा कहते हैं इसका तात्पर्य क्या है? बुद्धने जो उत्तर दिया उसीसे बौद्धदर्शनकी अनात्मविषयक मौलिक मान्यता व्यक्त होती है: –

"यस्मा च खो आनन्द सुञ्ञं अत्तेन वा अत्तनियेन वा तस्मा सुञ्ञो लोको ति वुच्चति। किं च आनन्द सुञ्ञं अत्तेन वा अत्तनियेन वा? चक्खुं खो आनन्द सुञ्ञं अत्तेन वा अत्तनियेन वा ·········रूपं······रूपविञ्ञाणं······" इत्यादि। – संयुत्तनिकाय XXXV. 85.

भगवान् बुद्धके अनात्मवादका तात्पर्य क्या है? इस प्रश्नके उत्तरमें इतना स्पष्ट करना आवश्यक है कि ऊपरकी चर्चासे इतना तो भलीभाँति ध्यानमें आता है कि भगवान् बुद्धको सिर्फ शरीरात्मवाद ही अमान्य है इतना ही नहीं बल्कि सर्वान्तर्यामी नित्य, ध्रुव, शाश्वत ऐसा आत्मवाद भी अमान्य है। उनके मतमें न तो आत्मा शरीरसे अत्यन्त भिन्न ही है और न आत्मा शरीरसे अभिन्न ही। उनको चार्वाकसम्मत भौतिकवाद भी एकान्त प्रतीत होता है और उपनिषदोंका कूटस्थ आत्मवाद भी एकान्त प्रतीत होता है। उनका मार्ग तो मध्यम मार्ग है। प्रतीत्यसमुत्पादवाद है।

वही अपरिवर्तिष्णु आत्मा मरकर पुनर्जन्म लेती है और संसरण करती है ऐसा मानने पर शाश्वतवाद[२] होता है और यदि ऐसा माना जाय कि माता-पिताके संयोगसे चार महाभूतोंसे आत्मा उत्पन्न होती है और इसी लिए शरीरके नष्ट होते ही आत्मा भी उच्छिन्न, विनष्ट और लुप्त होती है, तो यह उच्छेदवाद है[२]।

तथागत बुद्धने शाश्वतवाद और उच्छेदवाद दोनोंको छोड़कर[३] मध्यम मार्गका उपदेश दिया है। भगवान बुद्धके इस अशाश्वतानुच्छेदवादका स्पष्टीकरण निम्न संवादसे होता है –

'क्या भगवन् गौतम! दुःख स्वकृत है?'

'काश्यप! ऐसा नहीं है।'

'क्या दुःख परकृत है?'

'नहीं।'

'क्या दुःख स्वकृत और परकृत है?'

'नहीं।'

---

१ संयुत्तनिकाय XII. 35. अंगुत्तरनिकाय ३। २ दीघनिकाय। १ ब्रह्मजालसुत्त। ३ संयुत्तनिकाय XII. 17.

'क्या अस्वकृत और अपरकृत दुःख है ?'

'नहीं।'

'तब क्या है ? आप तो सभी प्रश्नोंका उत्तर नकारमें देते हैं, ऐसा क्यों ?'

'दुःख स्वकृत है ऐसा कहनेका अर्थ होता है कि जिसने किया वही भोग करता है। किन्तु ऐसा कहने पर शाश्वतवादका अवलंबन होता है। और यदि ऐसा कहूँ कि दुःख परकृत है तो इसका मतलब यह होगा कि किया किसी दूसरेने और भोग करता है कोई अन्य। ऐसी स्थितिमें उच्छेदवाद आ जाता है। अत एव तथागत उच्छेदवाद और शाश्वतवाद इन दोनों अन्तोंको छोड़कर मध्यम मार्गका—प्रतीत्य समुत्पादका उपदेश देते हैं कि अविद्यासे संस्कार होता है, संस्कारसे विज्ञान······स्पर्शसे दुःख······इत्यादि"—संयुत्तनिकाय XII 17, XII 24

तात्पर्य यह है कि संसारमें सुख-दुःख इत्यादि अवस्थाएँ हैं, कर्म है, जन्म है, मरण है, बन्ध है, मुक्ति है—ये सब होते हुए भी इनका कोई स्थिर आधार आत्मा हो ऐसी बात नहीं है; परंतु ये अवस्थाएँ पूर्व-पूर्व कारणसे उत्तर-उत्तर कालमें होती हैं और एक नये कार्यको, एक नई अवस्थाको उत्पन्न करके नष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार संसारका चक्र चलता रहता है। पूर्वका सर्वथा उच्छेद भी इष्ट नहीं और ध्रौव्य भी इष्ट नहीं। उत्तर पूर्वसे सर्वथा असंबद्ध हो, अपूर्व हो यह बात भी नहीं किन्तु पूर्वके अस्तित्वके कारण ही उत्तर होता है। पूर्वकी सारी शक्ति उत्तरमें आ जाती है। पूर्वका कुल संस्कार उत्तरको मिल जाता है। अत एव पूर्व अब उत्तर रूपमें अस्तित्वमें है। उत्तर पूर्वसे सर्वथा भिन्न भी नहीं, अभिन्न भी नहीं। किन्तु अव्याकृत है। क्यों कि भिन्न कहने पर उच्छेदवाद होता है और अभिन्न कहने पर शाश्वतवाद होता है। भगवान् बुद्धको ये दोनों वाद मान्य न थे; अत एव ऐसे प्रश्नोंका उन्होंने अव्याकृत[१] कह कर उत्तर दिया है।

इस संसारचक्रको काटनेका उपाय यही है कि पूर्वका निरोध करना। कारणके निरुद्ध हो जानेसे कार्य उत्पन्न नहीं होगा। अर्थात् अविद्याके निरोधसे······तृष्णाके निरोधसे उपादानका निरोध, उपादानके निरोधसे भवका निरोध, भवके निरोधसे जन्मका निरोध, जन्मके निरोधसे मरणका निरोध हो जाता है।

किन्तु यहाँ एक प्रश्न होता है कि मरणानन्तर तथागत बुद्धका क्या होता है ? इस प्रश्नका उत्तर भी अव्याकृत है। वह इसलिये कि यदि यह कहा जाय कि मरणोत्तर तथागत होता है तो शाश्वतवादका और यदि यह कहा जाय कि नहीं होता तो उच्छेदवादका प्रसंग आता है। अत एव इन दोनों वादोंका निषेध करनेके लिये भ० बुद्धने तथागतको मरणोत्तरदशामें अव्याकृत कहा है। जैसे गंगाकी बालुका नाप नहीं, जैसे समुद्रके पानीका नाप नहीं, इसी प्रकार मरणोत्तर तथागत भी गंभीर है, अप्रमेय है अत एव अव्याकृत है। जिस रूप, वेदना, संज्ञा, आदिके कारण तथागत की प्रज्ञापना होती थी वह रूपादि तो प्रहीण हो गये। अब तथागतकी प्रज्ञापनाका कोई साधन नहीं बचता इसलिये वे अव्याकृत हैं[२]।

इस प्रकार जैसे उपनिषदोंमें आत्मवादकी या ब्रह्मवादकी पराकाष्ठाके समय आत्मा या ब्रह्मको 'नेति-नेति' के द्वारा अवक्तव्य प्रतिपादित किया गया है, उसे सभी विशेषणोंसे पर बताया जाता

---

१ संयुक्तनिकाय XLIV 1, 7 and 8. २ संयुत्तनिकाय XLIV

है[1] ठीक उसी प्रकार तथागत बुद्धने भी आत्माके विषयमें उपनिषदोंसे बिल्कुल उलटी राह लेकर भी उसे अव्याकृत माना है। जैसे उपनिषदोंमें परम तत्त्वको अवक्तव्य मानते हुए भी अनेक प्रकारसे आत्माका वर्णन हुआ है और वह व्यावहारिक माना गया है उसी प्रकार भ० बुद्धने भी कहा है कि लोकसंज्ञा, लोकनिरुक्ति, लोकव्यवहार, लोकप्रज्ञप्तिका आश्रय करके कहा जा सकता है कि "मैं पहले था, 'नहीं था' ऐसा नहीं, मैं भविष्यमें होऊँगा, 'नहीं होऊँगा' ऐसा नहीं, मैं अब हूँ, 'नहीं हूँ' ऐसा नहीं।" तथागत ऐसी भाषाका व्यवहार करते हैं किन्तु इसमें फँसते नहीं।[2]

(३) जैनतत्त्वविचारकी प्राचीनता –

इतनी वैदिक और बौद्ध दार्शनिक पूर्व भूमिकाके आधार पर जैन दर्शनकी आगमवर्णित भूमिकाके विषयमें विचार किया जाय तो उचित ही होगा। जैन आगमोंमें जो तत्त्व-विचार है वह तत्कालीन दार्शनिक विचारकी भूमिकासे सर्वथा अछूता रहा होगा इस बातका अस्वीकार करते हुए भी जैन अनुश्रुतिके आधार पर इतना तो कहा जा सकता है कि जैन आगमवर्णित तत्त्वविचारका मूल भगवान् महावीरके समयसे भी पुराना है। जैन अनुश्रुतिके अनुसार भगवान् महावीरने किसी नये तत्त्वदर्शनका प्रचार नही किया है किन्तु उनसे २५० वर्ष पहले होने वाले तीर्थंकर पार्श्वनाथके तत्त्वविचारका ही प्रचार किया है। पार्श्वनाथसम्मत आचारमें तो भगवान् महावीरने कुछ परिवर्तन किया है जिसकी साक्षी स्वयं आगम दे रहे हैं किन्तु पार्श्वनाथके तत्त्वज्ञानसे उनका कोई मतभेद जैन अनुश्रुतिमें बताया गया नहीं है। इससे हम इस नतीजे पर पहुँच सकते हैं कि जैन तत्त्वविचारके मूल तत्त्व पार्श्वनाथ जितने तो पुराने अवश्य हैं।

जैन अनुश्रुति तो इससे भी आगे जाती है। उसके अनुसार अपने से पहले हुए श्रीकृष्ण के समकालीन तीर्थंकर अरिष्टनेमिकी परंपरा को ही पार्श्वनाथने ग्रहण किया था और स्वयं अरिष्टनेमिने प्रागैतिहासिक काल में होनेवाले नमिनाथ से। इस प्रकार वह अनुश्रुति हमें ऋषभदेव, जो कि भरतचक्रवर्ती के पिता थे, तक पहुँचा देती है। उसके अनुसार तो वर्तमान वेदसे लेकर उपनिषद् पर्यन्त संपूर्ण साहित्य का मूलस्रोत ऋषभदेवप्रणीत जैन तत्त्वविचार-में ही है।

इस जैन अनुश्रुति के प्रामाण्य को ऐतिहासिक-दृष्टिसे सिद्ध करना संभव नहीं है तो भी अनुश्रुतिप्रतिपादित जैन विचार की प्राचीनता में संदेह को कोई स्थान नहीं है। जैन तत्त्व-विचार की स्वतंत्रता इसीसे सिद्ध है कि जब उपनिषदोंमें अन्य दर्शनशास्त्रके बीज मिलते हैं तब जैन तत्त्वविचारके बीज नहीं मिलते। इतना ही नहीं किन्तु भगवान् महावीरप्रतिपादित आगमोंमें जो कर्मविचार की व्यवस्था है, मार्गणा और गुणस्थान सम्बन्धी जो विचार है, जीवों की गति और आगति का जो विचार है, लोककी व्यवस्था और रचना का जो विचार है, जड़ परमाणु पुद्गलोंकी वर्गणा और पुद्गल स्कन्धका जो व्यवस्थित विचार है, षड्द्रव्य और

---

१ "अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।"—माण्डु० ६.७। "स एष नेति नेति इत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यते।"—बृहदा० ४.५.१५। इत्यादि Construc. p. 219।

२ दीघनिकाय–पोट्ठपादसुत्त ९।

नवतत्त्वका जो व्यवस्थित निरूपण है उसको देखते हुए यह कहा जा सकता है कि जैन तत्त्व-विचारधारा भगवान महावीरसे पूर्व की कई पीढियोंके परिश्रमका फल है और इस धाराका उपनिषद्प्रतिपादित अनेक मतों से पार्थक्य और स्वातंत्र्य स्वयंसिद्ध है।

§२ भगवान् महावीरकी देन–अनेकान्तवाद।

प्राचीन तत्त्व व्यवस्थामें भगवान् महावीर ने क्या नया अर्पण किया इसे जाननेके लिये आगमोंसे बढ़कर हमारे पास कोई साधन नहीं है। जीव और अजीवके भेदोपभेदोंके विषयमें, मोक्षलक्षी आध्यात्मिक उत्क्रान्तिक्रमके सोपानरूप गुणस्थानके विषयमें, चार प्रकारके ध्यानके विषयमें या कर्मशास्त्रके सूक्ष्म भेदोपभेदोंके विषयमें या लोकरचनाके विषय में या परमाणुओंकी विविध वर्गणाओंके विषय में भगवान् महावीरने कोई नया मार्ग दिखाया हो यह तो आगमोंको देखने से प्रतीत नहीं होता। किन्तु तत्कालीन दार्शनिक क्षेत्रमें तत्त्वके स्वरूपके विषयमें जो नये नये प्रश्न उठते रहते थे उनका जो स्पष्टीकरण भगवान् महावीरने तत्कालीन अन्य दार्शनिकोंके विचारके प्रकाशमें किया है वही उनकी दार्शनिक क्षेत्रमें देन समझना चाहिए। जीवका जन्म-मरण होता है यह बात नई नहीं थी। परमाणुके नाना कार्य बाह्य जगतमें होते हैं और नष्ट होते हैं यह भी स्वीकृत था। किन्तु जीव और परमाणुका कैसा स्वरूप माना जाय जिससे उन भिन्न भिन्न अवस्थाओं के घटित होते रहने पर भी जीव और परमाणुका उन अवस्थाओंके साथ सम्बन्ध बना रहे। यह और ऐसे प्रश्न तत्कालीन दार्शनिकोंके द्वारा उठाये गये थे और उन्होंने अपना अपना स्पष्टीकरण भी किया था। इन नये प्रश्नोंका भगवान् महावीरने जो स्पष्टीकरण किया है वही उनकी दार्शनिक क्षेत्रमें नई देन है। अत एव आगमों के आधार पर भगवान् महावीरकी उस देन पर विचार किया जाय तो बादके जैन दार्शनिक विकासकी मूल भित्ति क्या थी यह सरलतासे स्पष्ट हो सकेगा।

ईसाके बाद होनेवाले जैनदार्शनिकोंने जैनतत्त्वविचारको अनेकान्तवादके नामसे प्रतिपादित किया है और भगवान् महावीरको उस वादका उपदेशक बताया है।[१] उन आचार्योंका उक्त कथन कहाँतक ठीक है और प्राचीन आगमोंमें अनेकान्तवादके विषय में क्या कहा गयाहै उसका दिग्दर्शन कराया जाय तो यह सहज ही में मालूम हो जायगा कि भगवान् महावीरने समकालीन दार्शनिकोंमें अपनी विचारधारा किस ओर बहाई और बादमें होनेवाले जैन आचार्योंने उस विचारधाराको लेकर उसमें क्रमशः कैसा विकास किया।

(१) चित्रविचित्र पक्षयुक्त पुंस्कोकिल का स्वप्न।

भगवान महावीर को केवलज्ञान होनेके पहले जिन दश महास्वप्नोंका दर्शन हुआ था उनका उल्लेख भगवती सूत्रमें आया है।[२] उनमें तीसरा स्वप्न इस प्रकार है:—

एगं च णं महं चित्तविचित्तपक्खगं पुंसकोइलगं सुविणे पासित्ता णं पडिबुद्धे।"

अर्थात्– एक बडे चित्रविचित्र पाँखवाले पुंस्कोकिलको स्वप्नमें देखकर वे प्रतिबुद्ध हुए। इस महास्वप्नका फल बताते हुए कहा गया है कि:—

"जण्णं समणे भगवं महावीरे एगं महं चित्तविचित्तं जाव पडिबुध्धे तण्णं समणे भगवं महावीरे विचित्तं ससमयपरसमइयं दुवालसंगं गणिपिडगं आघवेति पन्नवेति परूवेति...... ।"

---

१ अयोगव्य० का० ५०। २ भगवती शतक १६ उद्देशक ६।

अर्थात् उस स्वप्नका फल यह है कि भगवान् महावीर विचित्र ऐसे स्वपर सिद्धान्तको बताने वाले द्वादशांग का उपदेश देंगे।

प्रस्तुतमें चित्रविचित्र शब्द खास ध्यान देने लायक है। बादके जैन दार्शनिकोंने जो चित्रज्ञान और चित्रपट को लेकर बौद्ध और नैयायिक-वैशेषिकके सामने अनेकान्तवादको सिद्ध किया है वह इस चित्रविचित्र शब्दको पढते समय याद आ जाता है। किन्तु प्रस्तुतमें उसका सम्बन्ध न भी हो तब भी पुंस्कोकिलकी पांखको चित्रविचित्र कहनेका और आगमोंको विचित्र विशेषण देनेका खास तात्पर्य तो यही मालूम होता है कि उनका उपदेश अनेकरंगी-अनेकान्तवाद माना गया है। चित्रविचित्र विशेषण से सूत्रकारने यही ध्वनित किया है ऐसा निश्चय करना तो कठिन है किन्तु यदि भगवानके दर्शनकी विशेषता और प्रस्तुत चित्रविचित्र विशेषण का कुछ मेल बिठाया जाय तब यही संभावना की जा सकती है कि वह विशेषण साभिप्राय है और उससे सूत्रकारने भगवान्के उपदेशकी विशेषताः अर्थात् अनेकान्तवादको ध्वनित किया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

§३. विभज्यवाद।

सूत्रकृतांग में भिक्षु कैसी भाषाका प्रयोग करे, इस प्रश्न के प्रसंगमें कहा गया है कि विभज्यवाद का प्रयोग[1] करना चाहिए। विभज्यवादका मतलब ठीक समझनेमें हमें जैन टीकाग्रन्थोंके अतिरिक्त बौद्ध ग्रन्थ भी सहायक होते हैं। बौद्ध मज्झिमनिकाय (सुत्त. ९९) में शुभ माणवकके प्रश्नके उत्तरमें भ० बुद्धने कहा कि—[2]"हे माणवक! मैं यहाँ विभज्य-वादी हूँ, एकांशवादी नहीं।" उसका प्रश्न था कि मैंने सुन रखा है कि गृहस्थ ही आराधक होता है, प्रव्रजित आराधक नहीं होता। इसमें आपकी क्या राय है? इस प्रश्नका एकांशी हामें या नहींमें उत्तर न देकर भगवान् बुद्धने कहा कि गृहस्थ भी यदि मिथ्यात्वी है तो निर्वाणमार्गका आराधक नहीं और त्यागी भी यदि मिथ्यात्वी है तो वह भी आराधक नहीं। किन्तु यदि वे दोनों सम्यक् प्रतिपत्तिसम्पन्न हैं, तभी आराधक होते हैं। अपने ऐसे उत्तरके बल पर वे अपने आपको विभज्यवादी बताते हैं और कहते हैं कि मैं एकांशवादी नहीं हूँ।

यदि वे ऐसा कहते कि गृहस्थ आराधक नहीं होता, त्यागी आराधक होता है या ऐसा कहते कि त्यागी आराधक होता है, गृहस्थ आराधक नहीं होता तब उनका वह उत्तर एकांशवाद[2] होता। किन्तु प्रस्तुतमें उन्होंने त्यागी या गृहस्थकी आराधकता और अनाराध-कतामें जो अपेक्षा या कारण था उसे बताकर दोनों को आराधक और अनाराधक बताया है। अर्थात् प्रश्नका उत्तर विभाग करके दिया है अतएव वे अपने आपको विभज्यवादी कहते हैं।

यहाँपर यह ध्यान रखना चाहिए कि भगवान् बुद्ध सर्वदा सभी प्रश्नोंके उत्तरमें विभज्यवादी नहीं थे। किन्तु जिन प्रश्नों का उत्तर विभज्यवादसे ही संभव था उन कुछ ही प्रश्नोंका उत्तर देते समय ही वे विभज्यवादका अवलम्बन लेते थे[3]।

---

१. "भिक्खू विभज्जवायं च वियागरेज्जा"। सूत्रकृतांग १.१४.२२। २ देखो–दीघनिकाय-३३ संगितिपरियाय सुत्तमें चार प्रश्नव्याकरण। ३ वही।

उपर्युक्त बौद्ध सूत्रसे एकांशवाद और विभज्यवादका परस्पर विरोध स्पष्ट सूचित हो जाता है। जैन टीकाकार विभज्यवाद का अर्थ स्याद्वाद अर्थात् अनेकान्तवाद करते हैं। एकान्तवाद और अनेकान्तवादका भी परस्पर विरोध स्पष्ट ही है। ऐसी स्थितिमें सूत्रकृतांगगत विभज्यवादका अर्थ अनेकान्तवाद या नयवाद या अपेक्षावाद या पृथक्करण करके, विभाजन करके किसी तत्त्वके विवेचन का वाद भी लिया जाय तो ठीक ही होगा। अपेक्षाभेदसे स्यात्शब्दांकित प्रयोग आगममें देखे जाते हैं। एकाधिक भंगोंका स्याद्वाद भी आगममें मिलता है। अतएव आगमकालीन अनेकान्तवाद या विभज्यवादको स्याद्वाद भी कहा जाय तो अनुचित नहीं।

भगवान् बुद्धका विभज्यवाद कुछ मर्यादित क्षेत्रमें था। और भगवान् महावीरके विभज्यवादका क्षेत्र व्यापक था। यही कारण है कि जैनदर्शन आगे जाकर अनेकान्तवादमें परिणत हो गया और बौद्धदर्शन किसी अंशमें विभज्यवाद होते हुए भी एकान्तवाद की ओर अग्रसर हुआ।

भगवान् बुद्धके विभज्यवादकी तरह भगवान् महावीरका विभज्यवाद भी भगवतीगत प्रश्नोत्तरोंसे स्पष्ट होता है। गणधर गौतम आदि और भगवान् महावीर के कुछ प्रश्नोत्तर नीचे दिये जाते हैं जिनसे भगवान् महावीरके विभज्यवादकी तुलना भ० बुद्धके विभज्यवादसे करनी सरल हो सके।

(१)

गौ०—कोई यदि ऐसा कहे कि—'मैं सर्व प्राण, सर्वभूत, सर्व जीव, सर्व सत्त्वकी हिंसा का प्रत्याख्यान करता हूँ' तो क्या उसका वह प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है या दुष्प्रत्याख्यान!

भ० महावीर—स्यात् सुप्रत्याख्यान है और स्यात् दुष्प्रत्याख्यान है।

गौ०—भन्ते! इसका क्या कारण?

भ० महावीर—जिसको यह भान नहीं कि ये जीव हैं और ये अजीव, ये त्रस हैं और ये स्थावर, उसका वैसा प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है। वह मृषावादी है। किन्तु जो यह जानता है कि ये जीव हैं और ये अजीव, ये त्रस हैं और ये स्थावर, उसका वैसा प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है, वह सत्यवादी है।

—भगवती श० ७. उ० २. सू० २७०।

(२)

जयंती—भंते! सोना अच्छा है या जगना?

भ० महावीर—जयंती! कितनेक जीवोंका सोना अच्छा है और कितनेक जीवोंका जगना अच्छा है।

ज०—इसका क्या कारण है?

भ० म०—जो जीव अधर्मी हैं, अधर्मानुग हैं, अधर्मीष्ठ हैं, अधर्माख्यायी है, अधर्मप्रलोकी हैं, अधर्मप्ररञ्जन हैं, अधर्मसमाचार हैं, अधार्मिक वृत्तिवाले हैं वे सोते रहें यही अच्छा है; क्योंकि जब वे सोते होंगे अनेक जीवोंको पीड़ा नहीं देंगे। और इसप्रकार स्व, पर और उभयको अधार्मिक क्रियामें नहीं लगावेंगे अतएव उनका सोना अच्छा है।

किन्तु जो जीव धार्मिक हैं, धर्मानुग हैं यावत् धार्मिक वृत्तिवाले हैं उनका तो जागना ही अच्छा है। क्योंकि ये अनेक जीवोंको सुख देते हैं और स्व, पर और उभयको धार्मिक अनुष्ठान में लगाते हैं अतएव उनका जागना ही अच्छा है।

जयंती–भन्ते! बलवान् होना अच्छा है या दुर्बल होना?

भ० महावीर–जयंती! कुछ जीवों का बलवान होना अच्छा है और कुछका दुर्बल होना।

जयंती–इसका क्या कारण?

भ० महावीर–जो जीव अधार्मिक हैं यावत् अधार्मिक वृत्तिवाले हैं उनका दुर्बल होना अच्छा है। क्यों कि वे बलवान् हों तो अनेक जीवों को दुःख देंगे।

किन्तु जो जीव धार्मिक हैं यावत् धार्मिकवृत्तिवाले हैं उनका सबल होना ही अच्छा है क्योंकि उनके सबल होनेसे वे अधिक जीवोंको सुख पहुँचावेंगे।

इसीप्रकार अलसत्व और दक्षत्वके प्रश्नका भी विभाग करके भगवान्ने उत्तर दिया है।

—भगवती १२.२.४४३।

(३)

गौ०–भन्ते! जीव सकम्प हैं या निष्कंप[१]?

भ० महावीर–गौतम! जीव सकम्प भी हैं और निष्कम्प भी।

गौ०–इसका क्या कारण?

भ० महावीर–जीव दो प्रकारके हैं–संसारी और मुक्त। मुक्त जीवके दो प्रकार हैं–अनन्तरसिद्ध और परम्परसिद्ध। परंपरसिद्ध तो निष्कम्प हैं और अनन्तरसिद्ध सकम्प। संसारी जीवोंके भी दो प्रकार हैं–शैलेशी और अशैलेशी। शैलेशी जीव निष्कम्प होते हैं और अशैलेशी सकम्प होते हैं।

—भगवती २५.४।

(४)

गौ०–जीव सवीर्य हैं या अवीर्य हैं?

भ० महावीर–जीव सवीर्य भी हैं और अवीर्य भी हैं।

गौ०–इसका क्या कारण?

भ० महावीर–जीव दो प्रकारके हैं। संसारी और मुक्त। मुक्त तो अवीर्य हैं। संसारी जीव के दो भेद हैं–शैलेशीप्रतिपन्न और अशैलेशीप्रतिपन्न। शैलेशीप्रतिपन्न जीव लब्धिवीर्यकी अपेक्षा से सवीर्य हैं किन्तु करणवीर्यकी अपेक्षासे अवीर्य है और अशैलेशी-प्रतिपन्न जीव लब्धिवीर्यकी अपेक्षासे सवीर्य हैं किन्तु करणवीर्यकी अपेक्षासे सवीर्य भी हैं और अवीर्य भी हैं। जो जीव पराक्रम करते हैं वे करणवीर्य अपेक्षासे सवीर्य हैं और अपराक्रमी हैं वे करणवीर्यकी अपेक्षासे अवीर्य हैं।

—भगवती १.८.७२।

भगवान बुद्धके विभज्यवादकी तुलनामें और भी कई उदाहरण दिये जा सकते हैं किन्तु इतने पर्याप्त हैं। इस विभज्यवादका मूलाधार विभाग करके उत्तर देना है जो ऊपरके उदाहरणोंसे स्पष्ट है। असली बात यह है कि दो विरोधी बातोंका स्वीकार एक सामान्यमें करके उसी एकको

१ मूलमें सेये–निरेया (सेज–निरेज) है। तुलना करो–"तदेजति तन्नैजति"—ईशावास्योपनिषद् ५।

विभक्त करके दोनों विभागोंमें दो विरोधी धर्मोंको संगत बताना, इतना अर्थ इस विभज्यवादका फलित होता है । किन्तु यहाँ एक बातकी ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक है । भ० बुद्ध जब किसीका विभाग करके विरोधी धर्मोंको घटाते हैं और भगवान् महावीरने जो उक्त उदाहरणोंमें विरोधी धर्मोंको घटाया है उससे स्पष्ट है कि वस्तुतः दो विरोधी धर्म एककालमें किसी एक व्यक्तिके नहीं बल्कि भिन्न भिन्न व्यक्तिओंके हैं । विभज्यवादका यही मूल अर्थ हो सकता है जो दोनों महापुरुषोंके वचनोंमें एकरूपसे आया है ।

किन्तु भगवान् महावीरने इस विभज्यवादका क्षेत्र व्यापक बनाया है । उन्होंने विरोधी धर्मोंको अर्थात् अनेक अन्तोंको एक ही कालमें और एक ही व्यक्तिमें अपेक्षाभेदसे घटाया है । इसी कारणसे विभज्यवादका अर्थ अनेकान्तवाद या स्याद्वाद हुआ और इसी लिये भगवान् महावीरका दर्शन आगे चलकर अनेकान्तवादके नामसे प्रतिष्ठित हुआ ।

तिर्यक्सामान्यकी अपेक्षासे जो विशेष व्यक्तियाँ हों उन्हीं व्यक्तिओंमें विरोधी धर्मका स्वीकार करना यह विभज्यवादका मूलाधार है जब कि तिर्यग् और ऊर्ध्वता दोनों प्रकारके सामान्योंके पर्यायोंमें विरोधी धर्मोंका स्वीकार करना यह अनेकान्तवादका मूलाधार है । अनेकान्तवाद विभज्यवादका विकसित रूप है । अत एव वह विभज्यवाद तो है ही । पर विभज्यवाद ही अनेकान्तवाद है ऐसा नहीं कहा जा सकता । अत एव जैन दार्शनिकोंने अपने वादको जो अनेकान्तवादके नामसे ही विशेषरूपसे प्रख्यापित किया है वह सर्वथा उचित ही हुआ है ।

§४ अनेकान्तवाद ।

भगवान् महावीरने जो अनेकान्तवादकी प्ररूपणा की है उसके मूलमें तत्कालीन दार्शनिकोंमेंसे भगवान् बुद्धके निषेधात्मक दृष्टिकोणका महत्त्वपूर्ण स्थान है । स्याद्वादके भंगोंकी रचनामें संजयबेलट्ठीपुत्तके[1] विक्षेप वादसे भी मदद ली गई हो—यह संभव है । किन्तु भगवान् बुद्धने तत्कालीन नाना वादोंसे अलिप्त रहनेके लिये जो रूख अंगीकार किया था उसीमें अनेकान्तवादका बीज है ऐसा प्रतीत होता है । जीव और जगत् तथा ईश्वरके नित्यत्व—अनित्यत्वके विषयमें जो प्रश्न होते थे उनको उन्होंने अव्याकृत बता दिया । इसी प्रकार जीव और शरीरके विषयमें भेदाभेदके प्रश्नको भी उन्होंने अव्याकृत कहा है । जब कि भ० महावीरने उन्हीं प्रश्नोंका व्याकरण अपनी दृष्टिसे किया है । अर्थात् उन्हीं प्रश्नोंको अनेकान्तवादके आश्रयसे सुलझाया है । उन प्रश्नोंके स्पष्टीकरणमेंसे जो दृष्टि उनको सिद्ध हुई उसीका सार्वत्रिक विस्तार करके अनेकान्तवादको सर्ववस्तुव्यापी उन्होंने बनादिया है । यह स्पष्ट है कि भ० बुद्ध दो विरोधी वादोंको देखकर उनसे बचनेके लिये अपना तीसरा मार्ग उनके अस्वीकारमें ही सीमित करते हैं, तब भ० महावीर उन दोनों विरोधी वादोंका समन्वय करके उनके स्वीकारमें ही अपने नये मार्ग अनेकान्तवादकी प्रतिष्ठा करते हैं । अतएव अनेकान्तवादकी चर्चाका प्रारंभ बुद्धके अव्याकृत प्रश्नोंसे किया जाय तो उचित ही होगा ।

(१) भगवान् बुद्धके अव्याकृत प्रश्न ।

भगवान् बुद्धने निम्नलिखित प्रश्नोंको अव्याकृत कहा है[2]—

---

१ दीघनिकाय–सामञ्ञफलसुत्त । २ मज्झिमनिकाय चूळमालुंक्यसुत्त ६३ ।

(१) लोक शाश्वत है ?
(२) लोक अशाश्वत है ?
(३) लोक अन्तवान् है ?
(४) लोक अनन्त है ?
(५) जीव और शरीर एक हैं ?
(६) जीव और शरीर भिन्न हैं ?
(७) मरनेके बाद तथागत होते हैं ?
(८) मरनेके बाद तथागत नहीं होते ?
(९) मरनेके बाद तथागत होते भी हैं, और नही भी होते ?
(१०) मरनेके बाद तथागत न–होते हैं, और न–नही होते हैं ?.

इन प्रश्नोंका संक्षेप तीन ही प्रश्नमें है–(१) लोककी नित्यता-अनित्यता और सान्तता-निरन्तताका प्रश्न, (२) जीव-शरीरके भेदाभेदका प्रश्न और (३) तथागतकी मरणोत्तर स्थिति-अस्थिति अर्थात जीवकी नित्यता अनित्यताका प्रश्न[1] । ये ही प्रश्न भगवान् बुद्धके जमानेके महान् प्रश्न थे । और इन्हींके विषयमें भ० बुद्धने एक तरहसे अपना मत देते हुए भी वस्तुतः विधायकरूपसे कुछ नहीं कहा । यदि वे लोक या जीवको नित्य कहते तो उनको उपनिषद्-मान्य शाश्वतवादको स्वीकार करना पडता और यदि वे अनित्य पक्षको स्वीकार करते तब चार्वाक जैसे भौतिकवादि संमत उच्छेदवादको स्वीकार करना पडता । इतना तो स्पष्ट है कि उनको शाश्वतवादमें भी दोष प्रतीत हुआ था और उच्छेदवादको भी वे अच्छा नहीं समझते थे । इतना होते हुए भी अपने नये वादको कुछ नाम देना उन्होंने पसंद नहीं किया और इतना ही कह कर रह गये कि ये दोनो वाद ठीक नहीं । अतएव ऐसे प्रश्नोंको अव्याकृत, स्थापित, प्रतिक्षिप्त बता दिया और कह दिया कि लोक शाश्वत हो या अशाश्वत, जन्म है ही, मरण है ही । मैं तो इन्हीं जन्ममरणके विघातको बताता हूँ । यही मेरा व्याकृत है । और इसीसे तुम्हारा भला होनेवाला है । शेष लोकादिकी शाश्वतता आदिके प्रश्न अव्याकृत हैं, उन प्रश्नोंका मैंने कुछ उत्तर नहीं दिया ऐसा ही समझो[2] ।

इतनी चर्चासे स्पष्ट है कि भ० बुद्धने अपने मन्तव्यको विधिरूपसे न रख कर अशाश्वतानुच्छेदवादका ही स्वीकार किया है । अर्थात् उपनिषन्मान्य नेति नेति की तरह वस्तुस्वरूपका निषेधपरक व्याख्यान करनेका प्रयत्न किया है । ऐसा करनेका कारण स्पष्ट यही है कि तत्कालमें प्रचलित वादोंके दोषोंकी ओर उनकी दृष्टि गई और इस लिये उनमें से किसी वादका अनुयायी होना उन्होंने पसंद नहीं किया । इस प्रकार उन्होंने एक प्रकारसे अनेकान्तवादका रास्ता साफ किया । भगवान् महावीरने तत्तद्वादोंके दोष और गुण दोनोंकी और दृष्टि दी । प्रत्येक वादका गुणदर्शन तो उस उस वादके स्थापकने प्रथमसे कराया ही था, उन विरोधीवादोंमें दोषदर्शन भ० बुद्धने किया । तब भगवान् महावीरके सामने उन वादोंके गुण और दोष दोनों आ गए । दोनों पर समान भावसे दृष्टि देने पर अनेकान्तवाद स्वतः फलित हो जाता है । भगवान् महावीरने तत्कालीनवादों के गुणदोषोंकी परीक्षा करके जितनी जिस वादमें सचाई थी उसे

१ इस प्रश्नको ईश्वरके स्वतन्त्र अस्तित्व या नास्तित्व का प्रश्न भी कहा जा सकता है । २ वही ।

इतनी ही मात्रामें स्वीकार करके सभी वादोंका समन्वय करनेका प्रयत्न किया। यही भगवान् महावीर का अनेकान्तवाद या विकसित विभज्यवाद है। भगवान् बुद्ध जिन प्रश्नोंका उत्तर विधिरूपसे देना नहीं चाहते थे उन सभी प्रश्नोंका उत्तर देनेमें अनेकान्तवादका आश्रय करके भगवान् महावीर समर्थ हुए। उन्होंने प्रत्येक वादके पीछे रही हुई दृष्टिको समझनेका प्रयत्न किया, प्रत्येक वादकी मर्यादा क्या है, अमुक वादका उत्थान होनेमें मूलतः क्या अपेक्षा होना चाहिए, इस बातकी खोज की और नयवादके रूपमें उस खोजको दार्शनिकोंके सामने रखा। यही नयवाद अनेकान्तवादका मूलाधार बन गया।

अब मूल जैनागमोंके आधार पर ही भगवान् के अनेकान्तवादका दिग्दर्शन कराना उपयुक्त होगा।

पहले उन्ह प्रश्नोंको लिया जाता है जिनको कि भ० बुद्धने अव्याकृत बताया है। ऐसा करनेसे यह स्पष्ट होगा कि जहाँ बुद्ध किसी एक वादमें पडजानेके भय से निषेधात्मक उत्तर देते है वहाँ भ० महावीर अनेकान्तवादका आश्रयकरके किस प्रकार विधिरूप उत्तर देकर अपना अपूर्व मार्ग प्रस्थापित करते हैं—

(२) लोककी नित्यानित्यता-सान्तानन्तता।

उपर्युक्त बौद्ध अव्याकृत प्रश्नोंमें प्रथम चार लोककी नित्यानित्यता और सान्तता-अनन्तताके विषयमें हैं। उन प्रश्नोंके विषयमें भगवान् महावीर का जो स्पष्टीकरण है वह भगवतीमें स्कन्दक[१] परिव्राजकके अधिकारमें उपलब्ध है। उस अधिकारसे और [२]अन्य अधिकारोंसे यह सुविदित है कि भगवान्ने अपने अनुयायिओंको लोकके संबंधमें होनेवाले उन प्रश्नोंके विषयमें अपना स्पष्ट मन्तव्य बता दिया था, जो अपूर्व था। अतएव उनके अनुयायी अन्य तीर्थिकोंसे इसी विषयमें प्रश्न करके उन्हें चूप किया करते थे। इस विषयमें भगवान् महावीरके शब्द ये हैं—

"एवं खलु मए खंदया! चउव्विहे लोए पन्नत्ते, तं जहा-दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ।

दव्वओ णं एगे लोए सअंते १।

खेत्तओ णं लोए असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ आयामविक्खंभेणं असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ परिक्खेवेणं पन्नत्ता, अत्थि पुण सअंते २।

कालओ णं लोए ण कयावि न आसी, न कयावि न भवति, न कयावि न भविस्सति, भविंसु य भवति य भविस्सइ य, धुवे णितिए सासते अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे, णत्थि पुण से अन्ते ३।

भावओ णं लोए अणंता वण्णपज्जवा गंध० रस० फासपज्जवा अणंता संठाणपज्जवा अणंता गरुयलहुयपज्जवा अणंता अगरुयलहुयपज्जवा, नत्थि पुण से अन्ते ४।

से त्तं खंदगा! दव्वओ लोए सअंते, खेत्तओ लोए सअंते, कालतो लोए अणंते, भावओ लोए अणंते।" भग० २.१.९०

इसका सार यह है कि लोक द्रव्यकी अपेक्षासे सान्त है क्योंकि यह संख्यामें एक है। किन्तु भाव अर्थात् पर्यायोंकी अपेक्षासे लोक अनन्त है क्योंकि लोकद्रव्यके पर्याय अनन्त हैं। कालकी दृष्टिसे लोक अनन्त है अर्थात् शाश्वत है क्योंकि ऐसा कोई काल नहीं जिसमें लोकका

१ शतक २ उद्देशक १। २ शतक ९ उद्देशक ६। सूत्रकृतांग १.१.४.६—"अन्तवं निइए लोए इइ धीरो तिपासई।"

अस्तित्व न हो । किन्तु क्षेत्रकी दृष्टिसे लोक सान्त है क्योंकि सकलक्षेत्रमें से कुछ ही में [1]लोक है अन्यत्र नहीं ।

इस उद्धरणमें मुख्यतः सान्त और अनन्त शब्दोंको लेकर अनेकान्तवादकी स्थापना की गई है । भगवान् बुद्धने लोककी – सान्तता और अनन्तता दोनोंको अव्याकृत कोटिमें रखा है । तब भगवान् महावीरने लोकको सान्त और अनन्त अपेक्षाभेदसे बताया है ।

अब लोककी शाश्वतता-अशाश्वतताके विषयमें जहाँ भ० बुद्धने अव्याकृत कहा वहाँ भ० महावीरका अनेकान्तवादी मन्तव्य क्या है उसे उन्हीके शब्दोंमें सुनिये: –

"सासए लोए जमाली ! जन्न कयावि णासी, णो कयावि ण भवति, ण कयावि ण भविस्सइ, भुविं च भवइ य भविस्सइ य, धुवे णितिए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे ।

असासए लोए जमाली ! जओ ओसप्पिणी भवित्ता उस्सप्पिणी भवइ, उस्सप्पिणी भवित्ता ओसप्पिणी भवइ ।" भग० ९.६.३८७ ।

जमाली अपने आपको अर्हत् समजता था किन्तु जब लोककी शाश्वतता-अशाश्वतताके विषयमें गौतम गणधरने उससे प्रश्न पूछा तब वह उत्तर न दे सका, तिसपर भ० महावीरने उपर्युक्त समाधान यह कह करके किया कि यह तो एक सामान्य प्रश्न है । इसका उत्तर तो मेरे छद्मस्थ शिष्य भी दे सकते हैं ।

जमालि ! लोक शाश्वत है और अशाश्वत भी । त्रिकालमें ऐसा एक भी समय नहीं जब लोक किसी न किसी रूपमें न हो अत एव वह शाश्वत है । किन्तु वह अशाश्वत भी है क्योंकि लोक हमेशा एकरूप तो रहता नहीं । उसमें अवसर्पिणी और उत्सर्पिणीके कारण अवनति और उन्नति भी देखी जाती है । एकरूपमें – सर्वथा शाश्वत में परिवर्तन नहीं होता अत एव उसे अशाश्वत भी मानना चाहिए ।

(३) लोक क्या है ?

प्रस्तुतमें लोकसे भ० महावीरका क्या अभिप्राय है यह भी जानना जरूरी है । उसके लिये नीचेके प्रश्नोत्तर पर्याप्त हैं ।

"किमियं भंते ! लोएत्ति पवुच्चइ ?"

"गोयमा ! पंचत्थिकाया, एस णं एवतिए लोएत्ति पवुच्चइ । तं जहा धम्मत्थिकाए अहम्मत्थिकाए जाव (आगासत्थिकाए जीवत्थिकाए) पोग्गलत्थिकाए ।"

भग० १३.४.४८१ ।

अर्थात् पांच अस्तिकाय ही लोक है । पांच अस्तिकाय ये हैं – धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय ।

(४) जीव-शरीरका भेदाभेद ।

जीव और शरीरका भेद है या अभेद इस प्रश्नको भी भ० बुद्धने अव्याकृत कोटिमें रखा है । इस विषयमें भगवान् महावीरके मन्तव्यको निम्न संवादसे जाना जा सकता है –

---

१ लोकका मतलब हैं पंचास्तिकाय । पंचास्तिकाय संपूर्ण आकाशक्षेत्रमें नहीं किन्तु जैसा ऊपर बताया गया है असंख्यातकोटाकोटी योजन की परिधिमें हैं ।

"आया भन्ते ! काये अन्ने काये ?"
"गोयमा ! आयावि काये अन्नेवि काये ।"
"रूवि भन्ते ! काये अरूवि काये ?"
"गोयमा ! रूवि पि काये अरूवि पि काये ।"
एवं एक्केक्के पुच्छा ।
"गोयमा ! सचित्ते वि काये अचित्ते वि काये" । भग० १३.७.४९५ ।

उपर्युक्त संवाद से स्पष्ट है कि भ० महावीरने गौतमके प्रश्नके उत्तरमें आत्माको शरीरसे अभिन्न भी कहा है और उससे भिन्न भी कहा है । ऐसा कहनेपर और दो प्रश्न उपस्थित होते हैं कि यदि शरीर आत्मा से अभिन्न है तो आत्माकी तरह यह अरूपि भी होना चाहिए और सचेतन भी । इन प्रश्नोंका उत्तर भी स्पष्टरूपसे दिया गया है कि काय अर्थात् शरीर रूपि भी है और अरूपि भी । शरीर सचेतन भी है और अचेतन भी ।

जब शरीरको आत्मासे पृथक् माना जाता है तब वह रूपि और अचेतन है । और जब शरीर को आत्मासे अभिन्न माना जाता है तब शरीर अरूपि और सचेतन है ।

भगवान् बुद्धके मतसे यदि शरीरको आत्मासे भिन्न माना जाय तब ब्रह्मचर्यवास संभव नहीं । और यदि अभिन्न माना जाय तब भी—ब्रह्मचर्यवास संभव नहीं । अत एव इन दोनों अन्तों को छोडकर भगवान् बुद्धने मध्यममार्गका उपदेश दिया और शरीरके भेदाभेदके प्रश्नको अव्याकृत बताया—

"तं जीवं तं सरीरं ति. भिक्खु ! दिट्ठिया सति ब्रह्मचरियवासो न होति । अञ्ञं जीवं अञ्ञं सरीरं ति वा भिक्खु ! दिट्ठिया सति ब्रह्मचरियवासो न होति । एते ते भिक्खु ! उभो अन्ते अनुपगम्म मज्झेन तथागतो धम्मं देसेति–" संयुत्त XII 135

किन्तु भगवान् महावीरने इस विषय में मध्यममार्ग—अनेकान्तवादका आश्रय लेकर उपर्युक्त दोनों विरोधी वादोंका समन्वय किया । यदि आत्मा शरीरसे अत्यन्त भिन्न माना जाय तब कायकृत कर्मोंका फल उसे नहीं मिलना चाहिए । अत्यन्तभेद माननेपर इस प्रकार अकृतागम दोषकी आपत्ति है । और यदि अत्यन्त अभिन्न माना जाय तब शरीर का दाह हो जानेपर आत्मा भी नष्ट होगा जिससे परलोक संभव नहीं रहेगा । इस प्रकार कृतप्रणाश दोष की आपत्ति होगी । अत एव इन्हीं दोनों दोषोंको देखकर भगवान् बुद्धने कह दिया कि भेद पक्ष और अभेद पक्ष ये दोनों ठीक नहीं हैं । जब कि भ० महावीरने दोनों विरोधी वादोंका समन्वय किया और भेद और अभेद दोनों पक्षोंका स्वीकार किया । एकान्त भेद और अभेद माननेपर जो दोष होत हैं वे उभयवाद माननेपर नहीं होते । जीव और शरीरका भेद इसलिये मानना चाहिए कि शरीर का नाश हो जानेपर भी आत्मा दूसरे जन्ममें मौजुद रहती है या सिद्धावस्थामें अशरीरी आत्मा भी होती है । अभेद इसलिये मानना चाहिए कि संसारावस्थामें शरीर और आत्माका क्षीरनीरवत् या अग्निलोहपिण्डवत् तादात्म्य होता है इसी लिये कायसे किसी वस्तुका स्पर्श होनेपर आत्मामें संवेदन होता है और कायिक कर्मका विपाक आत्मामें होता है ।

भगवतीसूत्रमें जीवके परिणाम दश गिनाए हैं यथा—

गतिपरिणाम, इन्द्रियपरिणाम, कषायपरिणाम, लेश्यापरिणाम, योगपरिणाम, उपयोगपरिणाम, ज्ञानपरिणाम, दर्शनपरिणाम, चारित्रपरिणाम और वेदपरिणाम । —भग० १४.४.५१४ ।

जीव और कायका यदि अभेद न माना जाय तो इन परिणामोंको जीवके परिणामरूपसे नहीं गिनाया जा सकता। इसी प्रकार भगवतीमें (१२.५.४५१) जो जीवके परिणामरूपसे वर्ण गन्ध स्पर्शका निर्देश है वह भी जीव और शरीरके अभेद को मान कर ही घटाया जा सकता है।

अन्यत्र गौतमके प्रश्नके उत्तरमें निश्चयपूर्वक भगवान् ने कहा है कि—

"गोयमा! अहमेयं जाणामि अहमेयं पासामि अहमेयं बुज्झामि...जं णं तहागयस्स जीवस्स सरूविस्स सकम्मस्स सरागस्स सवेदगस्स समोहस्स सलेसस्स ससरीरस्स ताओ सरीराओ अविप्पमुक्कस्स एवं पन्नयति – तं जहा कालत्ते वा जाव सुक्किलत्ते वा, सुब्भिगंधत्ते वा दुब्भिगंधत्ते वा, तित्ते वा जाव महुरत्ते वा, कक्खडत्ते वा जाव लुक्खत्ते वा।"
भग० १७.२.।

अन्यत्र जीवके कृष्णवर्णपर्यायका भी निर्देश है—भग०२५.४। ये सभी निर्देश जीवशरीरके अभेदकी मान्यतापर निर्भर हैं।

इसी प्रकार आचारांगमें आत्माके विषयमें जो ऐसे शब्दोंका प्रयोग है–

"सव्वे सरा नियट्टन्ति तक्का जत्थ न विज्जति मई तत्थ न गाहिया। ओए अप्पइट्ठाणस्स खेयन्ने। से न दीहे न हस्से न वट्टे न तंसे न चउरंसे न परिमंडले न किण्हे न नीले न इत्थी न पुरिसे न अन्नहा परिन्ने सन्ने उवमा न विज्जए अरूवी सत्ता अपयस्स पयं नत्थि।" आचा० सू० १७०।

वह भी संगत नहीं हो सकता यदि आत्मा शरीरसे भिन्न न माना जाय। शरीरभिन्न आत्माको लक्ष्य करके स्पष्टरूप से भगवान् ने कहा है कि उसमें वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श नहीं होते–

"गोयमा! अहं एयं जाणामि, जाव जं णं तहागयस्स जीवस्स अरूविस्स अकम्मस्स अरागस्स अवेदस्स अमोहस्स अलेसस्स असरीरस्स ताओ सरीराओ विप्पमुक्कस्स नो एवं पन्नायति – तं जहा कालत्ते वा जाव लुक्खत्ते वा।" भगवती० १७.२.।

चार्वाक शरीरको ही आत्मा मानता था और औपनिषद-ऋषिगण आत्मा को शरीरसे अत्यन्त भिन्न मानते थे। भ० बुद्धको इन दोनों मतोंमें दोष तो नजर आया किन्तु वे विधिरूपसे समन्वय न कर सके। जब कि भगवान् महावीर ने इन दोनों मतों का समन्वय उपर्युक्त प्रकारसे भेद और अभेद दोनों पक्षोंका स्वीकार करके किया।

(५) जीवकी नित्यानित्यता–

मृत्युके बाद तथागत होते हैं कि नहीं इस प्रश्नको भ० बुद्धने अव्याकृत कोटिमें रखा है क्योंकि ऐसा प्रश्न और उसका उत्तर सार्थक नहीं, आदि ब्रह्मचर्यके लिये नहीं, निर्वेद, निरोध, अभिज्ञा, संबोध और निर्वाणके लिये भी नहीं[1]।

आत्माके विषयमें चिन्तन करना यह भ० बुद्धके मतसे अयोग्य है। जिन प्रश्नोंको भ० बुद्धने 'अयोनिसो मनसिकार' – विचारका अयोग्य ढंग – कहा है वे ये है – "मैं भूतकालमें था कि नहीं था? मैं भूतकालमें क्या था? मैं भूतकालमें कैसा था? मैं भूतकालमें क्या होकर फिर क्या हुआ? मैं भविष्यत् कालमें होऊंगा कि नहीं? मैं भविष्यत् कालमें क्या होऊंगा? मैं

१. संयुत्तनिकाय XVI 12; XXII 86; मज्झिमनिकाय चूळमालुंक्यसुत्त ६३।

भविष्यत् कालमें कैसे होऊंगा ? मैं भविष्यत् कालमें क्या होकर क्या होऊंगा ? मैं हूँ कि नहीं ? मैं क्या हूँ ? मैं कैसे हूँ ? यह सत्त्व कहांसे आया ? यह कहाँ जायगा ?

भगवान् बुद्धका कहना है कि 'अयोनिसो मनसिकार' से नये आस्रव उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न आस्रव वृद्धिंगत होते हैं । अत एव इन प्रश्नोंके विचारमें लगना साधकके लिये अनुचित है[1] ।

इन प्रश्नोंके विचारका फल बताते हुए भ० बुद्धने कहा है कि 'अयोनिसो मनसिकार' के कारण इन छः दृष्टिओंमें से कोई एक दृष्टि उत्पन्न होती है उसमें फँसकर अज्ञानी पृथग्जन जरा-मरणादिसे मुक्त नहीं होता –

(१) मेरी आत्मा है ।

(२) मेरी आत्मा नहीं है ।

(३) मैं आत्माको आत्मा समझता हूँ ।

(४) मैं अनात्माको आत्मा समझता हूँ ।

(५) यह जो मेरी आत्मा है वह पुण्य और पापकर्म के विपाककी भोक्ता है ।

(६) यह मेरी आत्मा नित्य है, ध्रुव है, शाश्वत है, अविपरिणामधर्मा है, जैसी है वैसी सदैव रहेगी[2] ।

अत एव उनका उपदेश है कि इन प्रश्नोंको छोडकर दुःख, दुःखसमुदाय, दुःखनिरोध और दुःखनिरोधका मार्ग इन चार आर्यसत्योंके विषयमें ही मनको लगाना चाहिए । उसीसे आस्रवनिरोध होकर निर्वाणलाभ हो सकता है ।

भ० बुद्धके इन उपदेशोंके विपरीत ही भगवान् महावीरका उपदेश है । इस बातकी प्रतीति प्रथम अंग आचारांगके प्रथम वाक्यसे ही हो जाती है –

"इहमेगेसिं नो सन्ना भवइ तं जहा–पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, दाहिणाओ वा...अन्नयरीयाओ वा दिसाओ वा अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि । एवमेगेसिं नो नायं भवइ – अत्थि मे आया उववाइए । नत्थि मे आया उववाइए । के अहं आसी, के वा इओ चुओ इह पेच्चा भविस्सामि ?

"से जं पुण जाणेज्जा सहसम्मुइयाए परवागरणेणं अन्नेसिं वा अन्तिए सोच्चा तं जहा पुरत्थिमाओ...एवमेगेसिं नायं भवइ – अत्थि मे आया उववाइए जो इमाओ दिसाओ अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ सव्वाओ दिसाओ अणुदिसाओ सोहं–से आयावाई, लोगावाई, कम्मावाई, किरियावाई ।"

भ० महावीरके मतसे जब तक अपनी या दूसरेकी बुद्धिसे यह पता न लग जाय कि मैं या मेरा जीव एक गतिसे दूसरी गतिको प्राप्त होता है, जीव कहाँसे आया, कौन था और कहाँ जायगा ? – तब तक कोई जीव आत्मवादी नहीं हो सकता लोकवादी नहीं होसकता कर्म और क्रियावादी नहीं हो सकता । अत एव आत्माके विषयमें विचार करना यही संवरका और मोक्षका भी कारण है । जीवकी गति और आगतिके ज्ञान से मोक्षलाभ होता है इस बातको भ० महावीरने स्पष्टरूपसे कहा है –

---

१. मज्झिमनिकाय–सब्बासवसुत्त. २ । २. मज्झिमनिकाय–सब्बासवसुत्त २. ।

"इह आगइं गइं परिन्नाय अचेइ जाइमरणस्स वट्टमग्गं विक्खायरए" आचा० १.५.६.

यदि तथागतकी मरणोत्तर स्थिति-अस्थितिके प्रश्नको ईश्वर जैसे किसी अतिमानव के पृथक् अस्तित्व और नास्तित्वका प्रश्न समझा जाय तब भगवान् महावीरका इस विषयमें मन्तव्य क्या है यह भी जानना आवश्यक है। वैदिक दर्शनोंकी तरह शाश्वत सर्वज्ञ ईश्वरको – जो कि संसारी कभी नहीं होता, जैन धर्ममें कोई स्थान नहीं। भ० महावीरके अनुसार सामान्य जीव ही कर्मोंका नाश करके शुद्ध स्वरूपको प्राप्त होता है जो सिद्ध कहलाता है। और एक बार शुद्ध होनेके बाद वह फिर कभी अशुद्ध नहीं होता। यदि भ० बुद्ध तथागतकी मरणोत्तर स्थितिका स्वीकार करते तब ब्रह्मवाद या शाश्वतवादकी आपत्ति का भय था और यदि वे ऐसा कहते कि तथागत मरणके बाद नहीं रहता तब भौतिकवादिओंके उच्छेदवादका प्रसंग आता। अत एव इस प्रश्नको भ० बुद्धने अव्याकृत कोटिमें रखा। परन्तु भ० महावीरने अनेकान्तवादका आश्रय करके उत्तर दिया है कि तथागत या अर्हत् मरणोत्तर भी है क्योंकि[1] जीव द्रव्य तो नष्ट होता नहीं, वह सिद्ध स्वरूप बनता है। किन्तु मनुष्यरूप जो कर्मकृत है वह नष्ट हो जाता है। अत एव सिद्धावस्थामें अर्हत् या तथागत अपने पूर्वरूपमें नहीं भी होते हैं। नाना जीवोंमें आकार प्रकारका जो कर्मकृत भेद संसारावस्था में होता है वह सिद्धावस्थामें नहीं क्योंकि वहाँ कर्म भी नहीं –

"कम्मओ णं भंते जीवे नो अकम्मओ विभत्तिभावं परिणमइ, कम्मओ णं जए णो अकम्मओ विभत्तिभावं परिणमइ?"

"हंता गोयमा!" भगवती १२.५.४५२।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिन प्रश्नों को भगवान् बुद्धने निरर्थक बताया है उन्हीं प्रश्नोंसे भगवान् महावीरने आध्यात्मिक जीवनका प्रारंभ माना है। अत एव उन प्रश्नोंको भ० महावीरने भ० बुद्धकी तरह अव्याकृत कोटिमें न रखकर व्याकृत ही किया है। इतनी सामान्य चर्चाके बाद अब आत्माकी नित्यता-अनित्यता के प्रस्तुत प्रश्न पर विचार किया जाता है –

भगवान् बुद्धका कहना है कि तथागत मरणानन्तर होता है या नहीं – ऐसा प्रश्न अन्यतीर्थिकोंको अज्ञानके कारण होता है। उन्हें रूपादि का अज्ञान है अत एव वे ऐसा प्रश्न करते हैं। वे रूपादिको आत्मा समझते हैं, या आत्माको रूपादियुक्त समझते हैं, या आत्मामें रूपादिको समझते हैं, या रूपमें आत्माको समझते हैं जब कि तथागत वैसा नहीं समझते[3]। अत एव तथागत को वैसे प्रश्न भी नहीं उठते और दूसरोंके ऐसे प्रश्नको वे अव्याकृत बताते हैं। मरणानन्तर रूप वेदना आदि प्रहीण हो जाताहै अत एव अब प्रज्ञापनाके साधन रूपादि के न होनेसे तथागतके लिये 'है' या 'नही है' ऐसा व्यवहार किया नहीं जा सकता। अत एव मरणानन्तर तथागत 'है' या 'नहीं है' इत्यादि प्रश्नोंको मैं अव्याकृत बताता हूँ।[4]

हम पहिले बतला आये हैं कि, इस प्रश्नके उत्तर में भ० बुद्धको शाश्वतवाद या उच्छेद वाद में पड जानेका डर था इसीलिये उन्होंने इस प्रश्नको अव्याकृत कोटिमें रखा है। जब कि भ० महावीरने दोनों वादोंका समन्वय स्पष्टरूपसे किया है। अत एव उन्हें इस प्रश्नको

---

१. तुलना–"अत्थि सिद्धी असिद्धी वा एवं सन्नं निवेसए।" सूत्रकृतांग २.५.२५।

२. संयुत्तनिकाय XXXIII 1। ३ वही XLIV. 8। ४ वही XLIV. 1

अव्याकृत कहने की आवश्यकता ही नही । उन्हों ने जो व्याकरण किया है उसकी चर्चा नीचे की जाती है ।

भ० महावीरने जीवको अपेक्षाभेदसे शाश्वत और अशाश्वत कहा है । इसकी स्पष्टताके लिये निम्न संवाद पर्याप्त है–

" जीवा णं भन्ते किं सासया असासया ?"

"गोयमा ! जीवा सिय सासया सिय असासया । गोयमा ! दव्वट्ठयाए सासया भावट्ठयाए असासया ।" भगवती – ७.२.२७३. ।

स्पष्ट है कि द्रव्यार्थिक अर्थात् द्रव्यकी अपेक्षासे जीव नित्य है और भाव अर्थात् पर्यायकी दृष्टिसे जीव अनित्य है ऐसा मन्तव्य भ० महावीरका है । इसमें शाश्वतवाद और उच्छेदवाद दोनों के समन्वयका प्रयत्न है । चेतन – जीव द्रव्यका विच्छेद कभी नहीं होता इस दृष्टिसे जीवको नित्य मान करके शाश्वतवादको प्रश्रय दिया है और जीवकी – नाना अवस्थाएँ जो स्पष्टरूपसे विच्छिन्न होती हुई देखी जाती हैं उनकी अपेक्षासे उच्छेदवादको भी प्रश्रय दिया । उन्होंने इस बातका स्पष्टरूपसे स्वीकार किया है कि ये अवस्थाएँ अस्थिर हैं इसीलिये उनका परिवर्तन होता है किन्तु चेतन द्रव्य शाश्वत स्थिर है । जीवगत बालत्व-पाण्डित्यादि अस्थिर धर्मोंका परिवर्तन होगा जब कि जीवद्रव्य तो – शाश्वत ही रहेगा ।

"से नूणं भंते अथिरे पलोट्टइ, नो थिरे पलोट्टइ, अथिरे भज्जइ नो थिरे भज्जइ, सासए बालए बालियत्तं असासयं, सासए पंडिए पंडियत्तं असासयं ?"

"हंता गोयमा ! अथिरे पलोट्टइ जाव पंडियत्तं असासयं ।" भगवती – १.९.८० ।

द्रव्यार्थिक नयका दूसरा नाम अव्युच्छित्ति नय है और भावार्थिकनयका दूसरा नाम व्युच्छित्तिनय है इस से भी यही फलित होता है कि द्रव्य अविच्छिन्न ध्रुव शाश्वत होता है और पर्याय का विच्छेद – नाश होता है अत एव वह अध्रुव अनित्य अशाश्वत है । जीव और उसके पर्याय का अर्थात् द्रव्य और पर्याय का परस्पर अभेद और भेद भी इष्ट है इसी लिये जीव द्रव्यको जैसे शाश्वत और अशाश्वत बताया, इसी प्रकार जीवके नारक, वैमानिक आदि विभिन्न पर्यायोंको भी शाश्वत और अशाश्वत बताया है । जैसे जीवको द्रव्यकी अपेक्षासे अर्थात् जीव द्रव्यकी अपेक्षासे नित्य कहा वैसे ही नारक को भी जीव द्रव्यकी अपेक्षासे नित्य कहा है । और जैसे जीव द्रव्यको नारकादि पर्यायकी अपेक्षासे अनित्य कहा है वैसे ही नारक जीव को भी नारकत्वरूप पर्यायकी अपेक्षासे अनित्य कहा है –

"नेरइया णं भंते किं सासया असासया ?"

"गोयमा ! सिय सासया सिय असासया ।"

"से केणट्ठेणं भंते एवं वुच्चइ ? ।"

"गोयमा ! अव्वोच्छित्तिणयट्ठयाए सासया, वोच्छित्तिणयट्ठयाए असासया । ......एवं जाव वेमाणिया ।" भगवती ७.३.२७९ ।

जमालीके साथ हुए प्रश्नोत्तरोंमें भगवान् ने जीवकी शाश्वतता और अशाश्वतताके मन्तव्यका जो स्पष्टीकरण किया है उससे नित्यतासे उनका क्या मतलब है व अनित्यतासे क्या मतलब है ? यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है –

"सासए जीवे जमाली! जं न कयाइ णासी, णो कयावि न भवति, ण कयावि ण भविस्सइ, भुविं च भवइ य भविस्सइ य, धुवे णितिए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे। असासए जीवे जमाली! जन्नं नेरइए भवित्ता तिरिक्खजोणिए भवइ तिरिक्खजोणिए भवित्ता मणुस्से भवइ मणुस्से भवित्ता देवे भवइ।" भगवती ९.६.३८७। १.४.४२.।

तीनों कालमें ऐसा कोई समय नहीं जब कि जीव न हो। इसी लिये जीव शाश्वत ध्रुव नित्य कहा जाता है। किन्तु जीव नारक मिट कर तिर्यंच होता है और तिर्यंच मिट कर मनुष्य होता है इस प्रकार जीव क्रमशः नाना अवस्थाओंको प्राप्त करता है अत एव उन अवस्थाओंकी अपेक्षासे जीव अनित्य अशाश्वत अध्रुव है। अर्थात् अवस्थाओं के नाना होते रहने पर भी जीवत्व कभी लुप्त नहीं होता पर जीवकी अवस्थाएँ लुप्त होती रहती हैं। इसीलिये जीव शाश्वत और अशाश्वत है।

इस व्याकरण में औपनिषद ऋषिसम्मत आत्माकी नित्यता और भौतिकवादिसम्मत आत्माकी अनित्यताके समन्वयका सफल प्रयत्न है। अर्थात् भगवान् बुद्धके अशाश्वतानुच्छेदवादके स्थानमें शाश्वतोच्छेदवादकी स्पष्टरूपसे प्रतिष्ठा की गई है।

(६) जीवकी सान्तता-अनन्तता।

जैसे लोककी सान्तता और निरन्तताके प्रश्नको भ० बुद्धने अव्याकृत बताया है वैसे जीवकी सान्तता-निरन्तताके प्रश्न के विषयमें उनका मन्तव्य स्पष्ट नहीं है। यदि कालकी अपेक्षा से सान्तता-निरन्तता विचारणीय हो तब तो उनका अव्याकृत मत पूर्वोक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है। परंतु द्रव्यकी दृष्टिसे या देशकी—क्षेत्रकी दृष्टिसे या पर्याय—अवस्थाकी दृष्टिसे जीवकी सान्तता—निरन्तताके विषयमें उनके विचार जाननेका कोई साधन नहीं है। जब कि भगवान् महावीरने जीवकी सान्तता-निरन्तता का भी विचार स्पष्टरूपसे किया है क्योंकि उनके मतसे जीव एक स्वतन्त्र तत्त्वरूपसे सिद्ध है। इसीसे कालकृत नित्यानित्यताकी तरह द्रव्य-क्षेत्र-भाव की अपेक्षासे उसकी सान्तता-अनन्तता भी उनको अभिमत है। स्कंदक परिव्राजक का मनोगत प्रश्न जीवकी सान्तता अनन्तताके विषयमें था उसका निराकरण भगवान् महावीरने इन शब्दोंमें किया है—

"जे वि य खंदया! जाव सअन्ते जीवे अणंते जीवे तस्सवि य णं एयमट्ठे—एवं खलु जाव दव्वओ णं एगे जीवे सअंते, खेत्तओ णं जीवे असंखेज्जपएसिए असंखेज्ज पएसोगाढे अत्थि पुण से अंते, कालओ णं जीवे न कयावि न आसि जाव निच्चे नत्थि पुण से अंते, भावओ णं जीवे अणंता णाणपज्जवा अणंता दंसणपज्जवा अणंता चरित्तपज्जवा अणंता अगुरुलहुयपज्जवा नत्थि पुण से अंते।" भगवती २.१.९०।

सारांश यह है कि एक जीव व्यक्ति—

द्रव्यसे सान्त।
क्षेत्रसे सान्त।
कालसे अनन्त और
भावसे अनन्त है।

इस प्रकार जीव सान्त भी है और अनन्त भी है ऐसा भ० महावीरका मन्तव्य है। इसमें कालकी दृष्टिसे और पर्यायोंकी अपेक्षासे उसका कोई अन्त नहीं। किन्तु वह द्रव्य और क्षेत्रकी अपेक्षा से सान्त है। ऐसा कह करके भ० महावीरने आत्माके "अणोरणीयान् महतो महीयान्"

इस औपनिषद मतका निराकरण किया है। क्षेत्रकी दृष्टिसे आत्माकी व्यापकता यह भगवान् का मन्तव्य नहीं। और एक आत्मद्रव्य ही सब कुछ है यह भी भगवान् महावीरको मान्य नहीं। किन्तु आत्मद्रव्य स्वपर्याप्त है और उसका क्षेत्र भी मर्यादित है इस बातका स्वीकार करके उन्होंने उसे सांत कहते हुए भी कालकी दृष्टिसे अनन्त भी कहा है। और एक दूसरी दृष्टिसे भी उन्होंने उसे अनन्त कहा है—जीवके ज्ञान पर्यायोंका कोई अन्त नही, उसके दर्शन और चारित्र पर्यायोंका भी कोई अन्त नहीं। क्योंकि प्रत्येक क्षणमें इन पर्यायोंका नयानया आविर्भाव होता रहता है और पूर्वपर्याय नष्ट होते रहते हैं। इस भाव—पर्याय दृष्टिसे भी जीव अनन्त है।

(७) भ० बुद्धका अनेकान्तवाद ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान् बुद्धके सभी अव्याकृत प्रश्नोंका व्याकरण भ० महावीरने स्पष्टरूपसे विधिमार्गको स्वीकार करके किया है और अनेकान्तवादकी प्रतिष्ठा की है। इसका मूल आधार यही है कि एक ही व्यक्तिमें अपेक्षाके भेदसे अनेक संभवित विरोधी धर्मोंकी घटना करना। मनुष्य स्वभाव समन्वयशील तो है ही किन्तु सदा सर्वदा कई कारणोंसे उस स्वभावका आविर्भाव ठीक रूपसे हो नहीं पाता। इसी लिये समन्वयके स्थानमें दार्शनिकोंमें विवाद देखा जाता है। और जहाँ दूसरोंको स्पष्टरूपसे समन्वयकी संभावना दीखती है वहाँ भी अपने अपने पूर्वग्रहों के कारण दार्शनिकोंको विरोधकी गंध आती है। भगवान् बुद्धको उक्त प्रश्नोंका उत्तर अव्याकृत देना पड़ा उसका कारण यही है कि उनको आध्यात्मिक उन्नतिमें इन जटिल प्रश्नोंकी चर्चा निरर्थक प्रतीत हुई। अतएव इन प्रश्नोंको सुलझानेका उन्होंने कोई व्यवस्थित प्रयत्न नहीं किया। किन्तु इसका मतलब यह कभी नहीं कि उनके स्वभावमें समन्वयका तत्त्व बिलकुल नहीं था। उनकी—समन्वयशीलता सिंह सेनापति के साथ हुए संवादसे स्पष्ट है। भगवान् बुद्धको अनात्मवादी होनेके कारण कुछ लोग अक्रियावादी कहते थे। अत एव सिंह सेनापतिने भ० बुद्धसे पूछा कि आपको कुछ लोग अक्रियावादी कहते हैं तो क्या यह ठीक है? इसके उत्तरमें उन्होंने जो कुछ कहा उसीमें उसकी समन्वयशीलता और अनेकान्तवादिता स्पष्ट होती है। उत्तर में उन्होंने कहा कि सच है मैं अकुशल संस्कारकी अक्रियाका उपदेश देता हूँ इसलिये मैं अक्रियावादी हूँ और कुशल संस्कारकी क्रिया मुझे पसंद है और मैं उसका उपदेश देता हूँ इसी लिये मैं क्रियावादी भी हूँ[1]। इसी समन्वयप्रकृतिका प्रदर्शन अन्यत्र दार्शनिक क्षेत्रमें भी यदि भ० बुद्धने किया होता तो उनकी प्रतिभा और प्रज्ञाने दार्शनिकोंके सामने एक नया मार्ग उपस्थित किया होता। किन्तु यह कार्य भ० महावीरकी शान्त और स्थिर प्रकृतिसे ही होनेवाला था इस लिये भगवान् बुद्धने आर्य चतुःसत्यके उपदेशमें ही कृतकृत्यताका अनुभव किया। तब भगवान् महावीरने जो बुद्धसे न हो सका उसे करके दिखाया और वे अनेकान्तवादके प्रज्ञापक हुए।

अब तक मुख्य रूपसे भगवान् बुद्धके अव्याकृत प्रश्नोंको लेकर जैनागमाश्रित अनेकान्तवादकी चर्चा की गई है। आगे अन्य प्रश्नोंके सम्बन्धमें अनेकान्तवादके विस्तारकी चर्चा करना इष्ट है। परंतु इस चर्चा के प्रारंभ करनेके पहले पूर्वोक्त[2] 'दुःख स्वकृत है या नही' इत्यादि प्रश्नका समाधान भ० महावीरने क्या दिया है उसे देख लेना उचित है। भ० बुद्धने तो अपनी प्रकृतिके

---

१. विनयपिटक महावग्ग VI. 31. और अंगुत्तर निकाय Part IV. p.179। २. पृ० ७।

अनुसार उन सभी प्रश्नोंका उत्तर निषेधात्मक दिया है; क्यों कि ऐसा न कहते तो उनको उच्छेदवाद और शाश्वतवादकी आपत्तिका भय था। किन्तु भगवान् का मार्ग तो शाश्वतवाद और उच्छेदवादके समन्वयका मार्ग है अत एव उन प्रश्नोंका समाधान विधिरूपसे करने में उनको कोई भय नहीं था। उनसे प्रश्न किया गया कि क्या कर्मका कर्ता स्वयं है, अन्य है या उभय है? इसके उत्तर में भ० महावीरने कहा कि कर्मका कर्ता आत्मा स्वयं हैं; पर नहीं है और न स्वपरोभय[1]। जिसने कर्म किया है वही उसका भोक्ता है ऐसा माननेमें ऐकान्तिक शाश्वतवादकी आपत्ति भ० महावीरके मतमें नहीं आती; क्यों कि जिस अवस्थामें किया था उससे दूसरी ही अवस्थामें कर्मका फल भोगा जाता है। तथा भोक्तृत्व अवस्थासे कर्मकर्तृत्व अवस्थाका भेद होनेपर भी ऐकान्तिक उच्छेदवादकी आपत्ति इसलिये नहीं आती कि भेद होते हुये भी जीव द्रव्य दोनों अवस्थामें एक ही मोजूद है।

(७) द्रव्य और पर्यायका भेदाभेद।

(अ) द्रव्यविचार—भगवती में द्रव्यके विचार प्रसंगमें कहा है कि द्रव्य दो प्रकारका है[2]—

१. जीव द्रव्य और

२. अजीव द्रव्य।

अजीव द्रव्यके भेद-प्रभेद इस प्रकार हैं—

अजीवद्रव्य

रूपी

१ पुद्गलास्तिकाय

अरूपी

१ धर्मास्तिकाय

२ अधर्मास्तिकाय

३ आकाशास्तिकाय

४ अद्धासमय

सब मिलाकर छः द्रव्य होते हैं १ धर्मास्तिकाय, २ अधर्मास्तिकाय, ३ आकाशास्तिकाय, ४ जीवास्तिकाय, ५ पुद्गलास्तिकाय और ६ काल (अद्धासमय)।

इनमेंसे पांच द्रव्य अस्तिकाय कहे जाते हैं[3]। क्यों कि उनमें प्रदेशोंके समूहके कारण अवयवी द्रव्य की कल्पना संभव हैं।

पर्यायविचारमें पर्यायोंके भी दो भेद बताये हैं[4]—

१ जीवपर्याय और

२ अजीवपर्याय

पर्याय अर्थात् विशेष समझना चाहिए।

सामान्य-द्रव्य दो प्रकारका है—तिर्यग् और ऊर्ध्वता। जब कालकृत नाना अवस्थाओंमें किसी द्रव्यविशेषका एकत्व या अन्वय या अविच्छेद या ध्रुवत्व विवक्षित हो तब उस एक अन्वित अविच्छिन्न ध्रुव या शाश्वत अंशको ऊर्ध्वतासामान्यरूप द्रव्य कहा जाता है।

---

१ भगवती १.६.५२.। २ भगवती २५.२। २५.४। ३ भगवती २.१०.११७। स्थानांगसू० ४४१।
४ भगवती २५. ५.। प्रज्ञापना पद ५.।

एक ही कालमें स्थित नाना देशमें वर्तमान नाना द्रव्योंमें या द्रव्यविशेषोंमें जो समानता अनुस्यूत होती है वही तिर्यग्सामान्य द्रव्य है ।

जब यह कहा जाता है कि जीव भी द्रव्य है, धर्मास्तिकाय भी द्रव्य है, अधर्मास्तिकाय भी द्रव्य है इत्यादि; या यह कहा जाता है कि द्रव्य दो प्रकारका है—जीव और अजीव । या यों कहा जाता है कि द्रव्य छः प्रकारका है—धर्मास्तिकाय आदि; तब इन सभी वाक्योंमें द्रव्य शब्दका अर्थ तिर्यग्सामान्य है । और जब यह कहा जाता है कि जीव दो प्रकारका है संसारी और सिद्ध; संसारी जीवके पांच भेद[1] हैं—एकेन्द्रियादि; पुद्गल चार प्रकारका है—स्कंध, स्कंधदेश, स्कंधप्रदेश और परमाणु; इत्यादि, तब इन वाक्योंमें जीव और पुद्गल शब्द तिर्यग्सामान्यरूप द्रव्यके बोधक हैं ।

परंतु जब यह कहा जाता है कि जीव द्रव्यार्थिकसे शाश्वत है और भावार्थिकसे अशाश्वत है[3]—तब जीव द्रव्यका मतलब ऊर्ध्वतासामान्यसे है । इसी प्रकार जब यह कहा जाता है कि अव्युच्छित्तिनयकी अपेक्षासे, नारक[4] शाश्वत है तब अव्युच्छित्तिनयका विषय जीव भी ऊर्ध्वता-सामान्य ही अभिप्रेत है । इसी प्रकार एक जीवकी जब गति आगतिका विचार होता है[5] अर्थात् जीव मरकर कहाँ जाता है या जन्मके समय वह कहाँसे आता है इत्यादि विचार प्रसंगमें सामान्य जीव शब्द या जीवविशेष नारकादि शब्द भी ऊर्ध्वतासामान्यरूप जीवद्रव्यके ही बोधक हैं ।

जब यह कहा जाता है कि पुद्गल तीन प्रकारका है[6]—प्रयोगपरिणत, मिश्रपरिणत और विस्रसापरिणत; तब पुद्गल शब्दका अर्थ तिर्यग्सामान्यरूप द्रव्य है । किन्तु जब यह कहा जाता है कि पुद्गल अतीत, वर्तमान और अनागत तीनों कालोंमें शाश्वत है[7]; तब पुद्गल शब्दसे ऊर्ध्वतासामान्यरूप द्रव्य विवक्षित है । इसी प्रकार जब एक ही परमाणुपुद्गलके विषयमें यह कहा जाता है कि वह द्रव्यार्थिक दृष्टिसे शाश्वत है[8] तब वहाँ परमाणुपुद्गल-द्रव्य शब्दसे ऊर्ध्वतासामान्य द्रव्य अभिप्रेत है ।

(ख) पर्यायविचार—जैसे सामान्य दो प्रकारका है वैसे पर्याय भी दो प्रकारका है । तिर्यग्द्रव्य या तिर्यग्सामान्यके आश्रयसे जो विशेष विवक्षित हों वे तिर्यक् पर्याय हैं और ऊर्ध्वतासामान्यरूप ध्रुव शाश्वत द्रव्यके आश्रयसे जो पर्याय विवक्षित हों वे ऊर्ध्वतापर्याय हैं । नाना देशमें स्वतन्त्र पृथक् पृथक् जो द्रव्य विशेष या व्यक्तियाँ हैं वे तिर्यग्द्रव्यकी पर्यायें हैं उन्हें विशेष भी कहा जाता है । और नाना कालमें एक ही शाश्वत द्रव्यकी—ऊर्ध्वतासामान्यकी जो नाना अवस्थाएँ हैं, जो नाना विशेष हैं वे ऊर्ध्वतासामान्यरूप द्रव्यके पर्याय हैं । उन्हें परिणाम भी कहा जाता है । 'पर्याय' एवं 'विशेष' शब्दके द्वारा उक्त दोनों प्रकारकी पर्यायोंका बोध आगमोंमें कराया गया है । किन्तु परिणाम शब्दका प्रयोग सिर्फ ऊर्ध्वतासामान्यरूप द्रव्यके पर्यायोंके अर्थमें ही किया गया है ।

---

१ भगवती १.१.१७ । १.८.७२ । २ प्रज्ञापना पद १. । स्थानांग सू० ४५८ । ३ भगवती ७.२.२७३. । ४ भगवती ७.३.२७९. । ५ भगवती शतक. २४. । ६ भगवती ८.१. । ७ भगवती १.४.४२. । ८ भगवती १४.४.५१२ ।

गौतमने जब भगवान्से पूछा कि जीवपर्याय कितने हैं—संख्यात, असंख्यात या अनन्त? तब भगवान्ने उत्तर दिया कि जीवपर्याय अनन्त हैं। ऐसा कहनेका कारण बताते हुए उन्होंने कहा है कि असंख्यात नारक हैं, असंख्यात असुर कुमार हैं, यावत् असंख्यात स्तनित कुमार हैं, असंख्यात पृथ्वीकाय हैं यावत् असंख्यात वायुकाय हैं, अनन्त वनस्पतिकाय हैं, असंख्यात द्वीन्द्रिय हैं यावत् असंख्यात मनुष्य हैं, असंख्यात वानव्यंतर हैं यावत् अनन्त सिद्ध हैं। इसी लिये जीवपर्याय अनन्त हैं। यह कथन प्रज्ञापनाके विशेष पदमें तथा भगवतीमें (२५.५) है। भगवतीमें (२५.२) जहाँ द्रव्यके भेदोंकी चर्चा है वहाँ उन भेदोंको प्रज्ञापनागत पर्यायभेदोंके समान समझ लेनेको कहा है। तथा जीव और अजीवके पर्यायोंकी ही चर्चा करने वाले समूचे उस प्रज्ञापनाके पदका नाम **विशेषपद** दिया गया है। इससे यही फलित होता है कि प्रस्तुत चर्चामें पर्यायशब्द का अर्थ विशेष है अर्थात् तिर्यक् सामान्यकी अपेक्षासे जो पर्याय हैं अर्थात् विशेष विशेष व्यक्तियाँ हैं वे ही पर्याय हैं। सारांश यह है कि समस्त जीव गिने जायँ तो वे अनन्त होते हैं अत एव जीवपर्याय अनन्त कहे गये हैं। स्पष्ट है कि ये पर्याय तिर्यग्सामान्यकी दृष्टिसे गिनाये गये हैं।

प्रस्तुतमें पर्याय शब्द तिर्यग्सामान्य विशेषका वाचक है यह बात अजीव पर्यायोंकी—गिनतीसे भी स्पष्ट होती है। अजीव पर्यायोंकी गणना निम्नानुसार है—(प्रज्ञापना पद ५)

अजीवपर्याय

अरूपी	रूपी
१ धर्मास्तिकाय	१ स्कंध
२ धर्मास्तिकायदेश	२ स्कंधदेश
३ धर्मास्तिकायप्रदेश	३ स्कंधप्रदेश
४ अधर्मास्तिकाय	४ परमाणुपुद्गल
५ ,, देश	
६ ,, प्रदेश	
७ आकाशास्तिकाय	
८ ,, देश	
९ ,, प्रदेश	
१० अद्धासमय	

किन्तु जीवविशेषोंमें अर्थात् नारक देव मनुष्य तिर्यंच और सिद्धोंमें जब पर्यायका विचार होता है तब विचारका आधार बिलकुल बदल जाता है। यदि उन विशेषोंकी असंख्यात या अनन्त संख्याके अनुसार उनके असंख्यात या अनन्तपर्याय कहे जायँ तो यह तिर्यग्सामान्य की दृष्टिसे पर्यायोंका कथन समझना चाहिए परंतु भगवान्ने उन जीवविशेषोंके पर्यायके प्रश्नमें सर्वत्र अनन्त पर्याय ही बताये हैं[1]। नारक जीव व्यक्तिशः असंख्यात ही हैं अनन्त नहीं;

१. प्रज्ञापनापद ५।

तो फिर उनके अनन्त पर्याय कैसे? नारकादि सभी जीवविशेषोंके अनन्त पर्याय ही भगवानने बताए हैं तो इसपरसे यह समझना चाहिए कि प्रस्तुत प्रसंगमें पर्यायोंकी गिनती का आधार बदल गया है। जीवसामान्यके अनन्तपर्यायोंका कथन तिर्यग्सामान्यके पर्याय की दृष्टिसे किया गया है जब कि जीवविशेष नारकादिके अनन्त पर्यायका कथन ऊर्ध्वतासामान्यको लेकर किया गया है ऐसा मानना पडता है। किसी एक नारक के अनन्तपर्याय घटित हो सकते हैं इस बातका स्पष्टीकरण यों किया गया है—

"एक नारक दूसरे नारक से द्रव्यकी दृष्टिसे तुल्य है; प्रदेशोंकी अपेक्षासे भी तुल्य है; अवगाहनाकी अपेक्षासे स्यात् चतुःस्थानसे हीन, स्यात् तुल्य, स्यात् चतुःस्थानसे अधिक है; स्थितिकी अपेक्षासे अवगाहनाके समान है; किन्तु श्याम वर्णपर्यायकी अपेक्षासे स्यात् षट्स्थानसे हीन, स्यात् तुल्य, स्यात् षट्स्थानसे अधिक है। इसी प्रकार शेष वर्णपर्याय, दोनों गंध पर्याय, पांचों रस पर्याय, आठों स्पर्श पर्याय, मतिज्ञान और अज्ञानपर्याय, श्रुतज्ञान और अज्ञानपर्याय, अवधि और विभंगपर्याय, चक्षुदर्शनपर्याय, अचक्षुदर्शनपर्याय, अवधिदर्शनपर्याय—इन सभी पर्यायोंकी अपेक्षासे स्यात् षट्स्थान पतित हीन है, स्यात् तुल्य है, स्यात् षट्स्थान पतित अधिक है। इसी लिये नारक के अनन्त पर्याय कहे जाते हैं।" प्रज्ञापना पद ५।

कहनेका तात्पर्य यह है कि एक नारक जीव द्रव्यकी दृष्टिसे दूसरेके समान है। दोनोंके आत्म प्रदेश भी असंख्यात होनेसे समान है अत एव उस दृष्टिसे भी दोनोंमें कोई विशेषता नहीं। एक नारकका शरीर दूसरे नारकसे छोटा भी हो सकता है और बडा भी हो सकता है और समान भी हो सकता है। यदि शरीरमें असमानता हो तो उसके प्रकार असंख्यात हो सकते हैं क्यों कि अवगाहना सर्व जघन्य हो तो अंगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण होगी। क्रमशः एक एक भागकी वृद्धिसे उत्कृष्ट ५०० धनुष प्रमाण तक पहुँचती है। उतनेमें असंख्यात प्रकार होंगे। इसलिये अवगाहनाकी दृष्टिसे नारकके असंख्यात प्रकार हो सकते हैं। यही बात आयुके विषयमें भी कही जा सकती है। किन्तु नारकके जो अनन्त पर्याय कहे जाते हैं उसका कारण तो दूसरा ही है। वर्ण-गंध-रस-स्पर्श ये वस्तुतः पुद्गलके गुण हैं किन्तु संसारी अवस्थामें शरीररूप पुद्गलका आत्मासे अभेद माना जाता है। अतएव यदि वर्णादिको भी नारकके पर्याय मानकर सोचा जाय, तथा मतिज्ञानादि जो कि आत्माके गुण हैं उनकी दृष्टिसे सोचा जाय तब नारकके अनन्तपर्याय सिद्ध होते हैं। इसका कारण यह है कि किसी भी गुणके अनन्त भेद माने गये हैं। जैसे कोई एक गुण श्याम हो दूसरा द्विगुण श्याम हो तीसरा त्रिगुण श्याम हो यावत् अनन्तवाँ अनन्तगुणश्याम हो इसी प्रकार शेष वर्ण और गंधादिके विषयमें भी घटाया जा सकता है। इसी प्रकार आत्माके ज्ञानादि गुणकी तरतमताकी मात्राओंका विचार करके भी अनन्तप्रकारताकी उपपत्ति की जाती है। अब प्रश्न यह है कि नारक जीव तो असंख्यात ही हैं तब उनमें वर्णादिको लेकर एककालमें अनन्त प्रकार कैसे घटाये जायँ। इसी प्रश्नका उत्तर देनेके लिये कालभेदको बीचमें लाना पडता है। अर्थात् कालभेदसे नारकोंमें ये अनन्तप्रकार घट सकते हैं। कालभेद ही तो ऊर्ध्वतासामान्याश्रित पर्यायोंके विचारमें मुख्य आधार है। एक जीव कालभेदसे जिन नाना पर्यायोंको धारण करता है उन्हें ऊर्ध्वतासामान्याश्रित पर्याय समझना चाहिए।

जीव और अजीवके जो ऊर्ध्वतासामान्याश्रित पर्याय होते हैं उन्हें परिणाम कहा जाता है। ऐसे परिणामोंका जिक्र भगवतीमें तथा प्रज्ञापनाके परिणामपदमें किया गया है[1]—

परिणाम

१ जीवपरिणाम	१ अजीवपरिणाम
१ गतिपरिणाम—४	१ बंधनपरिणाम—२
२ इन्द्रियपरिणाम—५	२ गतिपरिणाम—२
३ कषायपरिणाम—४	३ संस्थानपरिणाम—५
४ लेश्यापरिणाम—६	४ भेदपरिणाम—५
५ योगपरिणाम—३	५ वर्णपरिणाम—५
६ उपयोगपरिणाम—२	६ गंधपरिणाम—२
७ ज्ञानपरिणाम—५+३	७ रसपरिणाम—५
८ दर्शनपरिणाम—३	८ स्पर्शपरिणाम—८
९ चारित्रपरिणाम—५	९ अगुरुलघुपरिणाम—१
१० वेदपरिणाम—३	१० शब्दपरिणाम—२

जीव और अजीवके उपर्युक्त परिणामोंके प्रकार एक जीवमें या एक अजीवमें क्रमशः या अक्रमशः यथायोग्य होते हैं। जैसे किसी एक विवक्षित जीवमें मनुष्य गति पंचेन्द्रियत्व अनन्तानुबन्धी कषाय कृष्णलेश्या काययोग साकारोपयोग मत्यज्ञान मिथ्यादर्शन अविरति और नपुंसकवेद ये सभी परिणाम युगपत् हैं। किन्तु कुछ परिणाम क्रमभावी हैं। जब जीव मनुष्य होता है तब नारक नहीं। किन्तु बादमें कर्मानुसार वही जीव मरकर नारक परिणामरूप गतिको प्राप्त करता है। इसी प्रकार वह कभी देव या तिर्यंच भी होता है। कभी एकेन्द्रिय और कभी द्वीन्द्रिय। इस प्रकार ये परिणाम एक जीवमें क्रमशः ही हैं।

वस्तुतः परिणाम मात्र क्रमभावी ही होते हैं। ऐसा संभव है कि अनेक परिणामोंका काल एक हो किन्तु कोई भी परिणाम द्रव्यमें सदा नहीं रहते। द्रव्य परिणामोंका स्वीकार और त्याग करता रहता है। वस्तुतः यों कहना चाहिए कि द्रव्य फिर वह जीव हो या अजीव स्वस्व-परिणामोंमें कालभेदसे परिणत होता रहता है। इसी लिये वे द्रव्यके पर्याय या परिणाम कहे जाते हैं।

विशेष भी पर्याय हैं और परिणाम भी पर्याय हैं; क्यों कि विशेष भी स्थायी नहीं और परिणाम भी स्थायी नहीं। तिर्यग्सामान्य जीवद्रव्य स्थायी है किन्तु एककालमें वर्तमान पांच मनुष्य जिन्हें हम जीवद्रव्यके विशेष कहते हैं स्थायी नहीं। इसी प्रकार एक ही जीवके क्रमिक नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देवरूप परिणाम भी स्थायी नहीं। अत एव परिणाम और विशेष दोनों अस्थिरता के कारण वस्तुतः पर्याय ही हैं। यदि दैशिक विस्तारकी ओर हमारा ध्यान हो तो नाना द्रव्योंके एक कालीन नाना पर्यायोंकी ओर हमारा ध्यान जायगा पर काल-

१ भगवती १४.४। प्रज्ञापना पद १३।

विस्तारकी ओर हम ध्यान दें तो एक द्रव्यके या अनेक द्रव्योंके क्रमवर्ती नाना पर्यायोंकी ओर हमारा ध्यान जायगा । दोनों परिस्थितिओंमें हम द्रव्योंके किसी ऐसे रूपको देखते हैं जो रूप स्थायी नहीं होता । अतएव उन अस्थायी दृश्यमान रूपोंको पर्याय ही कहना उचित है । इसी लिये आगममें विशेषोंको तथा परिणामोंको पर्याय कहा गया है । हम जिन्हें काल दृष्टिसे परिणाम कहते हैं वस्तुतः वेही देशकी दृष्टिसे विशेष हैं ।

भगवान् बुद्धने पर्यायोंको प्राधान्य देकर द्रव्य जैसी त्रैकालिक स्थिर वस्तुका निषेध किया । इसी लिये वे ज्ञानरूप पर्यायका अस्तित्व स्वीकार करते हैं पर ज्ञानपर्यायविशिष्ट आत्मद्रव्यको नहीं मानते । इसी प्रकार रूप मानते हुए भी वे रूपवत् स्थायीद्रव्य नहीं मानते । इसके विपरीत उपनिषदोंमें कूटस्थ ब्रह्मवादका आश्रय लेकरके उसके दृश्यमान विविध पर्याय या परिणामोंको मायिक या अविद्याका विलास कहा है ।

इन दोनों विरोधी वादोंका समन्वय द्रव्य और पर्याय दोनोंकी पारमार्थिक सत्ताका समर्थन करनेवाले भगवान् महावीरके वादमें है । उपनिषदोंमें प्राचीन सांख्योंके अनुसार प्रकृति-परिणामवाद है किन्तु आत्मा तो कूटस्थ ही माना गया है । इसके विपरीत भगवान् महावीरने आत्मा और जड दोनोंमें परिणमनशीलताका स्वीकार करके परिणामवादको सर्वव्यापी करार दिया है।

(क) द्रव्य-पर्यायका भेदाभेद ।

द्रव्य और पर्यायका भेद है या अभेद ? इस प्रश्नको लेकर भगवान् महावीरके जो विचार हैं उनकी विवेचना करना अब प्राप्त है—

भगवती सूत्रमें पार्श्वशिष्यों और महावीरशिष्योंमें हुए एक विवादका जिक्र है । पार्श्व-शिष्योंका कहना था कि अपने प्रतिपक्षी सामायिक और उसका अर्थ नहीं जानते । तब प्रति-पक्षी श्रमणोंने उन्हें समझाया कि—

"आया णे अज्जो ! सामाइए आया णे अज्जो ! सामाइयस्स अट्ठे ।"

भगवती १.९.७७

अर्थात् आत्मा ही सामायिक है और आत्मा ही सामायिक का अर्थ है ।

आत्मा द्रव्य है और सामायिक उसका पर्याय । उक्त वाक्य से यह फलित होता है कि भगवान् महावीरने द्रव्य और पर्यायके अभेदका समर्थन किया था किन्तु उनका अभेदसमर्थन अपेक्षिक है । अर्थात् द्रव्यदृष्टिकी प्रधानतासे द्रव्य और पर्यायमें अभेद है ऐसा उनका मत होना चाहिए क्यों कि अन्यत्र उन्होंने पर्याय और द्रव्यके भेदका भी समर्थन किया है । और स्पष्ट किया है कि अस्थिर पर्यायके नाश होनेपर भी द्रव्य स्थिर रहता है[1] । यदि द्रव्य और पर्यायका ऐकान्तिक अभेद इष्ट होता तो वे पर्यायके नाशके साथ तदभिन्न द्रव्यका भी नाश प्रतिपादित करते । अत एव इस दूसरे प्रसंगमें पर्यायदृष्टिकी प्रधानतासे द्रव्य और पर्यायके भेदका समर्थन और प्रथम प्रसंगमें द्रव्यदृष्टिके प्राधान्यसे द्रव्य और पर्यायके अभेदका समर्थन किया है । इस प्रकार अनेकान्तवादकी प्रतिष्ठा इस विषयमें भी की है ऐसा ही मानना चाहिए ।

---

१ "से नूणं भंते अथिरे पलोट्टइ नो थिरे पलोट्टइ, अथिरे भज्जइ नो थिरे भज्जइ, सासए बाले बालियत्तं असासयं, सासए पंडिए पंडियत्तं असासयं ? हंता गोयमा ! अथिरे पलोट्टइ जाव पंडियत्तं असासयं ।"

भगवती – १.९.८०.

आत्मद्रव्य और उसके ज्ञान परिणामको भी भ० महावीरने द्रव्य दृष्टिसे अभिन्न बताया है जिसका पता आचारांग और भगवतीके वाक्योंसे चलता है–

"जे आया से विन्नाया, जे विन्नया से आया। जेण विजाणइ से आया।"

आचारांग–१.५.५.

"आया भंते! नाणे अन्नाणे?" गोयमा! आया सिय नाणे सिय अन्नाणे, नाणे पुण नियमं आया।" **भगवती–१२.१०.४६८**

ज्ञान तो आत्माका एक परिणाम है जो सदा बदलता रहता है इससे ज्ञानका आत्मासे भेद भी माना गया है। क्यों कि एकान्त अभेद होता तो ज्ञान विशेषके नाशके साथ आत्माका नाश भी मानना प्राप्त होता। इस लिये पर्यायदृष्टिसे आत्मा और ज्ञानका भेद भी है। इस बातका स्पष्टीकरण भगवतीगत आत्माके आठ भेदोंसे हो जाता है। उसके अनुसार परिणामोंके भेदसे आत्माका भेद मानकर, आत्माके आठ भेद माने गये हैं–

"कइविहा णं भंते आया पण्णत्ता?" "गोयमा! अट्ठविहा आया पण्णत्ता। तं जहा–दवियाया, कसायाया, योगाया, उवयोगाया, णाणाया, दंसणाया, चरित्ताया, वीरियाया॥"

भगवती–१२.१०.४६७

इन आठ प्रकारोंमें द्रव्यात्माको छोड कर बाकीके सात आत्मभेद कषाय, योग, उपयोग, ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य रूप पर्यायोंको लेकर किये गये हैं। इस विवेचनमें द्रव्य और पर्यायोंको भिन्न माना गया है अन्यथा उक्त सूत्रके अनन्तर प्रत्येक जीवमें उपर्युक्त आठ आत्माओंके अस्तित्वके विषयमें आनेवाले प्रश्नोत्तर संगत नहीं हो सकते। प्रश्न–जिसको द्रव्यात्मा है क्या उसको कषायात्मा आदि हैं या नहीं? या जिसको कषायात्मा आदि हैं उसको द्रव्यात्मा आदि हैं या नहीं। उत्तर–द्रव्यात्माके होने पर यथायोग्य कषायात्मा आदि होते भी है और नहीं भी होते किन्तु कषायात्मा आदिके होने पर द्रव्यात्मा अवश्य होती है। इस लिये यही मानना पडता है कि उक्त चर्चा द्रव्य और पर्यायके भेदको ही सूचित करती है।

प्रस्तुत द्रव्य-पर्यायके भेदाभेदका अनेकान्तवाद भी भगवान महावीरने स्पष्ट किया है यह अन्य[1] आगमवाक्योंसे भी स्पष्ट हो जाता है।

(९) जीव और अजीवकी एकानेकता।

एक ही वस्तुमें एकता और अनेकता का समन्वय भी, भगवान् महावीरके उपदेशसे फलित होता है। सोमिल ब्राह्मणने भगवान् महावीरसे उनकी एकता-अनेकताका प्रश्न किया था। उसका जो उत्तर भ० महावीरने दिया है उससे इस विषयमें उनकी अनेकान्तवादिता स्पष्ट हो जाती है–

"सोमिला दव्वट्ठयाए एगे अहं, नाणदंसणट्ठयाए दुविहे अहं, पएसट्ठयाए अक्खए वि अहं, अव्वए वि अहं, अवट्ठिए वि अहं, उवयोगट्ठयाए अणेगभूयभावभविए वि अहं।"

भगवती १.८.१०

अर्थात् सोमिल! द्रव्यदृष्टिसे मैं एक हूँ। ज्ञान और दर्शन-रूप दो पर्यायोंके प्राधान्यसे मैं दो हूँ। कभी न्यूनाधिक नहीं होनेवाले प्रदेशोंकी दृष्टिसे मैं अक्षय हूँ अव्यय हूँ अवस्थित हूँ। तीनों कालमें बदलते रहनेवाले उपयोग स्वभावकी दृष्टिसे मैं अनेक हूँ।

---

1 भगवती १६.१.।

इसी प्रकार अजीव द्रव्योंमें भी एकता—अनेकताके अनेकान्तको भगवानने स्वीकार किया है इस बातकी प्रतीति प्रज्ञापनाके अल्पबहुत्व पदसे होती है, जहाँ कि छहों द्रव्योंमें पारस्परिक न्यूनता तुल्यता और अधिकताका विचार किया है। उस प्रसंगमें निम्नवाक्य आया है—

"गोयमा! सव्वत्थोवे एगे धम्मत्थिकाए दव्वट्ठयाए, से चेव पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणे।......सव्वत्थोवे पोग्गलत्थिकाए दव्वट्ठयाए, से चेव पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणे।"
प्रज्ञापनापद–३. सू० ५६।

धर्मास्तिकायको द्रव्यदृष्टिसे एक होनेके कारण सर्वस्तोक कहा और उसी एक धर्मास्तिकायको अपने ही से असंख्यातगुण भी कहा क्यों कि द्रव्य दृष्टिके प्राधान्यसे एक होते हुए भी प्रदेशके प्राधान्यसे धर्मास्तिकाय असंख्यात भी है। यही बात अधर्मास्तिकायको भी लागू की गई है। अर्थात् वह भी द्रव्यदृष्टिसे एक और प्रदेशदृष्टिसे असंख्यात है। आकाश द्रव्यदृष्टिसे एक होते हुए भी अनन्त है क्यों कि उसके प्रदेश अनंत हैं। संख्यामें पुद्गल द्रव्य अल्प हैं जब कि उनके प्रदेश असंख्यातगुण हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जीव और अजीव दोनोंमें अपेक्षाभेदसे एकत्व और अनेकत्वका समन्वय करनेका स्पष्ट प्रयत्न भगवान् महावीरने किया है।

इस अनेकान्तमें ब्रह्मतत्त्वकी ऐकान्तिक निरंशता और एकता तथा बौद्धोंके समुदायवादकी ऐकान्तिक सांशता और अनेकताका समन्वय किया गया है; परन्तु उस जमानेमें एक लोकायत मत ऐसा भी था जो सबको एक मानता था जब कि दूसरा लोकायत मत सबको पृथक् पृथक् मानता था। इन दोनों लोकायतोंका समन्वय भी प्रस्तुत एकता-अनेकताके अनेकान्तवादमें हो तो कोई आश्चर्य नहीं। भगवान् बुद्धने उन दोनों लोकायतोंका अस्वीकार किया है तब भ० महावीरने दोनोंका समन्वय किया हो तो यह स्वाभाविक है।[1]

(१०) परमाणुकी नित्यानित्यता—

सामान्यतया दार्शनिकों में परमाणु शब्दका अर्थ रूपरसादियुक्त परम अपकृष्ट द्रव्य—जैसे पृथ्वीपरमाणु आदि—लिया जाता है जो कि जड—अजीव द्रव्य है। परन्तु परमाणु शब्दका अंतिम सूक्ष्मत्व मात्र अर्थ लेकर जैनागमोंमें परमाणुके चार भेद भ० महावीरने बताये हैं—

"गोयमा! चउव्विहे परमाणू पन्नत्ते तंजहा–१ दव्वपरमाणू, २ खेत्तपरमाणू, ३ कालपरमाणू, ४ भावपरमाणू।" भगवती २०.५.

अर्थात् परमाणु चार प्रकारके हैं

१ द्रव्यपरमाणु
२ क्षेत्रपरमाणु
३ कालपरमाणु
४ भावपरमाणु

---

१. "सव्वं एकत्तंति खो ब्राह्मण ततियं एतं लोकायतं।.........सव्वं पुथुत्तं ति खो ब्राह्मण चतुत्थं एतं लोकायतं। एते ते ब्राह्मण उभो अन्ते अनुपगम्म मज्झेन तथागतो धम्मं देसेति–अविज्जापच्चया संखारा......" संयुत्तनिकाय XII. 48।

वर्णादिपर्यायकी अविवक्षासे सूक्ष्मतम द्रव्य, द्रव्यपरमाणु कहा जाता है। यही पुद्गल परमाणु है जिसे अन्यदर्शनिकोंने भी परमाणु कहा है, आकाशद्रव्यका सूक्ष्मतम प्रदेश क्षेत्रपरमाणु है। सूक्ष्मतम समय कालपरमाणु है। जब द्रव्यपरमाणुमें रूपादिपर्याय प्रधानतया विवक्षित हों तब वह भावपरमाणु है।

द्रव्य परमाणु अच्छेद्य, अभेद्य, अदाह्य और अग्राह्य है। क्षेत्रपरमाणु अनर्ध, अमध्य, अप्रदेश और अविभाग है। कालपरमाणु अवर्ण, अगंध, अरस और अस्पर्श है। भावपरमाणु वर्ण, गंध, रस और स्पर्शयुक्त है।[1]

दूसरे दार्शनिकोंने द्रव्यपरमाणुको एकान्त नित्य माना है तब भ० महावीरने उसे स्पष्टरूपसे नित्यानित्य बताया है—

"परमाणुपोग्गले णं भंते किं सासए असासए?"
"गोयमा! सिय सासए सिय असासए"।
"से केणट्ठेणं?"
"गोयमा! दव्वट्ठयाए सासए वण्णपज्जवेहिं जाव फासपज्जवेहिं असासए।"

भगवती-१४.४.५१२.

अर्थात् परमाणु पुद्गल द्रव्यदृष्टिसे शाश्वत है और वही वर्ण, रस, गंध और स्पर्श पर्यायोंकी अपेक्षासे अशाश्वत है।

अन्यत्र द्रव्यदृष्टिसे परमाणुकी शाश्वतताका प्रतिपादन इन शब्दोंमें किया है—

"एस णं भंते! पोग्गले तीतमणंतं सासयं समयं भुवीति वत्तव्वं सिया?"
"हंता गोयमा! एस णं पोग्गले......सिया।"
"एस णं भंते! पोग्गले पडुप्पन्नं सासयं समयं भवतीति वत्तव्वं सिया?"
"हंता गोयमा!"
"एस णं भंते! पोग्गले अणागयमणंतं सासयं समयं भविस्सतीति वत्तव्वं सिया?" "हंता गोयमा!"

भगवती १.४.४२.

तात्पर्य इतना ही है कि तीनों कालमें ऐसा कोई समय नहीं जब पुद्गल का सातत्य न हो इस प्रकार पुद्गल द्रव्यकी नित्यताका द्रव्यदृष्टिसे प्रतिपादन करके उसकी अनित्यता कैसे है इसका भी प्रतिपादन भ० महावीरने किया है—

"एस णं भंते! पोग्गले तीतमणंतं सासयं समयं लुक्खी, समयं अलुक्खी, समयं लुक्खी वा अलुक्खी वा? पुव्विं च णं करणेणं अणेगवण्णं अणेगरूवं परिणामं परिणमति, अह से परिणामे निज्जिण्णे भवति तओ पच्छा एगवण्णे एगरूवे सिया?"

"हंता गोयमा!......एगरूवे सिया।" भगवती १४.४.५१०.

अर्थात् ऐसा संभव है कि अतीत कालमें किसी एक समयमें जो पुद्गल परमाणु रूक्ष हो वही अन्य समयमें अरूक्ष हो। पुद्गल स्कंध भी ऐसा हो सकता है। इसके अलावा वह एक देशसे रूक्ष और दूसरे देशसे अरूक्ष भी एक ही समयमें हो सकता है। यह भी संभव है कि स्वभावसे या अन्यके प्रयोगके द्वारा किसी पुद्गल में अनेकवर्णपरिणाम हो जायँ और वैसा परिणाम नष्ट होकर बादमें एकवर्णपरिणाम भी उसमें हो जाय। इस प्रकार पर्यायोंके परिवर्तन

---

1 भगवती २,०५.।

के कारण पुद्गलकी अनित्यता भी सिद्ध होती है और अनित्यताके होते हुए भी उसकी नित्यता में कोई बाधा नहीं आती इस बातको भी तीनों कालमें पुद्गलकी सत्ता बताकर भ० महावीरने स्पष्ट किया है – भगवती १४.४.५१० ।

(११) अस्ति-नास्तिका अनेकान्त।

'सर्वं अस्ति' यह एक अन्त है, 'सर्वं नास्ति' यह दूसरा अन्त है। भगवान् बुद्धने इन दोनों अन्तोंका अस्वीकार कर के मध्यममार्गका अवलंबन करके प्रतीत्यसमुत्पादका उपदेश दिया है, कि अविद्या होनेसे संस्कार है इत्यादि –

"सब्बं अत्थीति खो ब्राह्मण अयं एको अन्तो ।......सब्बं नत्थीति खो ब्राह्मण अयं दुतियो अन्तो। एते ते ब्राह्मण उभो अन्ते अनुपगम्म मज्झेन तथागतो धम्मं देसेति-अविज्जापच्चया संखारा......" संयुत्तनिकाय XII 47

अन्यत्र भगवान् बुद्धने उक्त दोनों अन्तों को लोकायत बताया है – वही XII. 48.

इस विषयमें प्रथम तो यह बताना आवश्यक है कि भ० महावीरने 'सर्वं अस्ति' का आग्रह नहीं रखा है किन्तु जो 'अस्ति' है उसेही उन्होंने 'अस्ति' कहा है और जो नास्ति है उसेही 'नास्ति' कहा है 'सर्वं नास्ति' का सिद्धान्त उनको मान्य नहीं। इस बातका स्पष्टीकरण गौतम गणधरने भगवान् महावीरके उपदेशानुसार अन्य तीर्थिकों के प्रश्नोंके उत्तर देते समय किया है –

"नो खलु वयं देवाणुप्पिया! अत्थिभावं नत्थित्ति वदामो, नत्थिभावं अत्थित्ति वदामो। अम्हे णं देवाणुप्पिया! सव्वं अत्थिभावं अत्थीति वदामो, सव्वं नत्थिभावं नत्थीति वदामो।" भगवती ७.१०.३०४.

भगवान् महावीरने अस्तित्व और नास्तित्व दोनोंका परिणमन स्वीकार किया है। इतना ही नहीं किन्तु अपनी आत्मामें अस्तित्व और नास्तित्व दोनोंके स्वीकारपूर्वक दोनोंके परिणमनको भी स्वीकार किया है। इससे अस्ति और नास्तिके अनेकान्तवादकी सूचना उन्होंने की है यह स्पष्ट है।

"से नूणं भंते! अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ, नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमइ?"

"हंता गोयमा!......परिणमइ।"

"जण्णं भंते! अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमइ तं किं पयोगसा वीससा?"

"गोयमा! पयोगसा वि तं वीससावि तं।"

"जहा ते भंते! अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ तहा ते नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमइ? जहा ते नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमइ तहा ते अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ?"

"हंता गोयमा! जहा मे अत्थित्तं......" भगवती १.३.३३.

जो वस्तु स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव की अपेक्षासे 'अस्ति' है वही परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे 'नास्ति' है। जिस रूपसे वह 'अस्ति' है उसी रूपसे नास्ति' नहीं किन्तु 'अस्ति' ही है। और जिस रूपसे वह 'नास्ति' है उस रूपसे 'अस्ति' नहीं किन्तु 'नास्ति' ही है। किसी वस्तुको सर्वथा 'अस्ति' माना नहीं जा सकता। क्यों कि ऐसा माननेपर ब्रह्मवाद या सर्वैक्यका सिद्धान्त फलित होता है और शाश्वतवाद भी आ जाता है। इसी प्रकार सभीको सर्वथा 'नास्ति' मानने पर सर्वशून्यवाद या उच्छेदवाद का प्रसंग प्राप्त होता है। भ० बुद्धने अपनी प्रकृतिके अनुसार इन

दोनों वादोंको अस्वीकार करके मध्यममार्गसे प्रतीत्यसमुत्पाद वादका अवलम्बन किया है। जब कि अनेकान्तवादका अवलम्बन करके भगवान् महावीरने दोनों वादोंका समन्वय किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनागमोंमें अस्ति-नास्ति, नित्यानित्य, भेदाभेद, एकानेक तथा सान्त-अनन्त इन विरोधी धर्मयुगलोंको अनेकान्तवाद के आश्रय से एक ही वस्तुमें घटाया गया है। भ० महावीरने इन नाना वादोंमें अनेकान्तवादकी जो प्रतिष्ठा की है उसी का आश्रयण करके बादके दार्शनिकोंने तार्किक ढंगसे दर्शनान्तरोंके खण्डनपूर्वक इन्हीं वादोंका समर्थन किया है। दार्शनिक चर्चाके विकासके साथ ही साथ जैसे जैसे प्रश्नोंकी विविधता बढती गई वैसे वैसे अनेकान्तवादका क्षेत्र भी विस्तृत होता गया। परन्तु अनेकान्तवादके मूल प्रश्नोंमें कोई अंतर नहीं पडा। यदि आगमोंमें द्रव्य और पर्यायके तथा जीव और शरीरके भेदाभेदका अनेकान्तवाद है तो दार्शनिक विकासके युगमें सामान्य और विशेष, द्रव्य और गुण, द्रव्य और कर्म, द्रव्य और जाति इत्यादि अनेक विषयोंमें भेदाभेदकी चर्चा और समर्थन हुआ है। यद्यपि भेदाभेदका क्षेत्र विकसित और विस्तृत प्रतीत होता है तथापि सब का मूल द्रव्य और पर्यायके भेदाभेद में ही है इस बातको भूलना न चाहिए। इसी प्रकार नित्यानित्य, एकानेक, अस्ति-नास्ति, सान्त-अनन्त इन धर्मयुगलोंका भी समन्वय क्षेत्र भी कितना ही विस्तृत व विकसित क्यों न हुआ हो फिर भी उक्त धर्मयुगलोंको लेकर आगमोंमें जो चर्चा हुई है वही मूलाधार है और उसीके ऊपर आगेके सारे अनेकान्तवादका महावृक्ष प्रतिष्ठित है इसे निश्चयपूर्वक स्वीकार करना चाहिए।

§५. स्याद्वाद और सप्तभंगी।

विभज्यवाद और अनेकान्तवादके विषयमें इतना जान लेनेके बाद ही स्याद्वादकी चर्चा उपयुक्त है। अनेकान्तवाद और विभज्यवाद में दो विरोधी धर्मोंका स्वीकार समान भावसे हुआ है इसी आधारपर विभज्यवाद और अनेकान्तवाद पर्यायशब्द मान लिये गये हैं। परन्तु दो विरोधी धर्मोंका स्वीकार किसी न किसी अपेक्षा विशेषसे ही हो सकता है–इस भाव को सूचित करने के लिये वाक्योंमें 'स्यात्' शब्दके प्रयोगकी प्रथा हुई। इसी कारण अनेकान्तवाद स्याद्वादके नामसे भी प्रसिद्ध हुआ। अब ऐतिहासिक दृष्टिसे देखना यह है कि आगमोंमें स्यात् शब्दका प्रयोग हुआ है कि नहीं अर्थात् स्याद्वादका बीज आगमोंमें है या नहीं।

प्रो० उपाध्येके मतसे 'स्याद्वाद' ऐसा शब्द भी आगममें है। उन्होंने सूत्रकृतांगकी एक गाथामेंसे उस शब्दको फलित किया है। अगर चे टीकाकार को उस गाथा में 'स्याद्वाद' शब्दकी गंध तक नहीं आई है। प्रस्तुत गाथा इस प्रकार है[1]–

"णो छायए णो वि य लूसएज्जा माणं ण सेवेज्ज पगासणं च।
ण यावि पन्ने परिहास कुज्जा ण या सियावाय वियागरेज्जा॥" सूत्रकृ० १.१४.१९।

गाथागत 'न यासियावाय' इस अंशका टीकाकारने 'न चाशीर्वादं' ऐसा संस्कृत प्रतिरूप किया है किन्तु प्रो० उपाध्येके मत से वह 'न चास्याद्वादं' होना चाहिए। उनका कहना है कि आ० हेमचन्द्रके नियमोंके अनुसार 'आशिष्' शब्दका प्राकृतरूप 'आसी' होना चाहिए। स्वयं हेमचन्द्रने 'आसीया'[2] ऐसा एक दूसरा रूप भी दिया है। आचार्य हेमचन्द्रने स्याद्वादके

१ ओरिएन्टल कोन्फरंस–नवम अधिवेशनकी प्रोसिडींग्स् पृ० ६७१.। २ प्राकृतव्या० ८.२.१७४.।

लिये प्राकृतरूप 'सियावाओ' दिया है[1]। प्रो० उपाध्ये का कहना है कि यदि इस 'सियावाओ' शब्दपर ध्यान दिया जाय तो उक्त गाथामें अस्याद्वादवचनके प्रयोगका ही निषेध मानना ठीक होगा क्योंकि यदि टीकाकारके अनुसार आशीर्वाद वचनके प्रयोग का निषेध माना जाय तो कथानकोंमें 'धर्मलाभ' रूप आशीर्वचनका प्रयोग जो मिलता है वह असंगत सिद्ध होगा।

आगमोंमें 'स्याद्वाद' शब्दके अस्तित्वके विषयमें टीकाकार और प्रो० उपाध्ये में मतभेद हो सकता है किन्तु 'स्यात्' शब्द के अस्तित्वमें तो विवादको कोई स्थान नहीं। भगवती सूत्रमें जहाँ कहीं एक वस्तुमें नाना धर्मोंका समन्वय किया गया है वहाँ सर्वत्र तो 'स्यात्' शब्दका प्रयोग नहीं देखा जाता किन्तु कई ऐसे भी स्थान हैं जहाँ 'स्यात्' शब्दका प्रयोग अवश्य किया गया है। उनमें से कई स्थानोंका उद्धरण पूर्वमें की गई अनेकान्तवाद तथा विभज्यवादकी चर्चामें वाचकोंके लिये सुलभ है। उन स्थानों के अतिरिक्त भी भगवतीमें कई ऐसे स्थान हैं जहाँ 'स्यात्' शब्द प्रयुक्त हुआ है[2]। इस लिये 'स्यात्' शब्दके प्रयोगके कारण जैनागमोंमें स्याद्वादका अस्तित्व सिद्ध ही मानना चाहिए। तो भी यह देखना आवश्यक है कि आगमकालमें स्याद्वादका रूप क्या रहा है और स्याद्वादके भंगोंकी भूमिका क्या है?

(१) भंगोंका इतिहास।

अनेकान्तवादकी चर्चाके प्रसंगमें यह स्पष्ट होगया है कि भ० महावीरने परस्पर विरोधी धर्मोंका स्वीकार एक ही धर्मीमें किया और इस प्रकार उनकी समन्वयकी भावनामेंसे अनेकान्तवादका जन्म हुआ है। किसी भी विषयमें प्रथम अस्ति — विधिपक्ष होता है। तब कोई दूसरा उस पक्षका नास्ति — निषेध पक्ष लेकरके खण्डन करता है। अत एव समन्वेताके सामने जब तक दोनों विरोधी पक्षोंकी उपस्थिति न हो तबतक समन्वयका प्रश्न उठता ही नहीं। इस प्रकार अनेकान्तवाद या स्याद्वादकी जडमें सर्वप्रथम — अस्ति और नास्ति पक्षका होना आवश्यक है। अतएव स्याद्वादके भंगोंमें सर्व प्रथम इन दोनों भंगोंको स्थान मिले यह स्वाभाविक ही है। भंगोंके साहित्यिक इतिहासकी ओर ध्यान दें तो हमें सर्व प्रथम ऋग्वेदके नासदीय सूक्तमें भंगोंका कुछ आभास मिलता है। उक्त सूक्तके ऋषिके सामने दो मत थे। कोई जगत् के आदि कारणको सत् कहते थे तो दूसरे असत्। इस प्रकार ऋषिके सामने जब समन्वयकी सामग्री उपस्थित हुई तब उन्होंने कह दिया वह सत् भी नहीं असत् भी नहीं। उनका यह निषेधमुख उत्तर भी एक पक्षमें परिणत हो गया। इस प्रकार, सत्, असत् और अनुभय ये तीन पक्ष तो ऋग्वेद जितने पुराने सिद्ध होते हैं।

उपनिषदोंमें आत्मा या ब्रह्मको ही परमतत्त्व मान करके आन्तर-बाह्य सभी वस्तुओं को उसीका प्रपञ्च माननेकी प्रवृत्ति हुई तब यह स्वाभाविक है कि अनेक विरोधोंकी भूमि ब्रह्म या आत्मा ही बने। इस का परिणाम यह हुआ कि उस आत्मा, ब्रह्म या ब्रह्मरूप विश्वको ऋषियोंने अनेक विरोधी धर्मोंसे अलंकृत किया। पर जब उन विरोधोंके तार्किक समन्वयमें भी उन्हें संपूर्ण संतोषलाभ न हुआ तब उसे वचनागोचर—अवक्तव्य—अव्यपदेश्य बता कर व अनुभवगम्य कह

---

१ वही ८.२.१०७.। २ भगवती १.७.६२। २.१.८६। ५.७.२१२। ६.४.२३८। ७.२.२७०। ७.२.२७३। ७.३.२७९। १२.१०.४६८। १२.१०.४६९। १४.४.५१२। १४.४.५१३। इत्यादि।

कर उन्होंने वर्णन करना छोड दिया । यदि उक्त प्रक्रियाको ध्यानमें रखा जाय तो "तदेजति तन्नैजति" (ईशा० ५), "अणोरणीयान् महतो महीयान्" (कठो० १.२.२०. श्वेता० ३.२०) "संयुक्तमेतत् क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः। अनीशश्चात्मा" (श्वेता० १.८.), "सदसद्वरेण्यम्" (मुण्डको० २.२.१) इत्यादि उपनिषद्वाक्योंमें दो विरोधी धर्मोंका स्वीकार किसी एक ही धर्मिमें अपेक्षाभेदसे किया गया है यह स्पष्ट हो जाता है।

विधि और निषेध दोनों पक्षोंका विधिमुखसे समन्वय उन वाक्योंमें हुआ है । ऋग्वेदके ऋषिने दोनों विरोधी पक्षोंको अस्वीकृत करके निषेध मुखसे तीसरे अनुभयपक्षको उपस्थित किया है । जब कि उपनिषदोंके ऋषियोंने दोनों विरोधी धर्मोंके स्वीकारके द्वारा उभयपक्षका समन्वय करके उक्त वाक्योंमें विधिमुखसे चौथे उभयभंगका आविष्कार किया।

किन्तु परमतत्त्वको इन धर्मोंका आधार मानने पर उन्हें जब विरोधकी गंध आने लगी तब फिर अन्तमें उन्होंने दो मार्ग लिये । जिन धर्मोंको दूसरे लोग स्वीकार करते थे उनका निषेध कर देना यह प्रथम मार्ग है । यानि ऋग्वेदके ऋषिकी तरह अनुभय पक्षका अवलम्बन करके निषेधमुखसे उत्तर दे देना कि वह न सत् है न असत्—"न सन्नचासत्" (श्वेता० ४.१८) । जब इसी निषेधको "स एष नेति नेति" (बृहदा० ४.५.१५) की अंतिम मर्यादा तक पहुँचाया गया तब इसीमेंसे फलित हो गया कि वह अवक्तव्य है यही दूसरा मार्ग है । "यतो वाचो निवर्तन्ते" (तैत्तिरी० २.४.) "यद्वाचानभ्युदितम्" (केन० १.४.) "नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो:" (कठो० २.६.१२) "अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणम-चिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।" (माण्डूक्यो० ७) इत्यादि उपनिषद्वाक्योंमें इसी अवक्तव्यभंगकी चर्चा है।

इतनी चर्चासे स्पष्ट है कि जब दो विरोधी धर्म उपस्थित होते हैं तब उसके उत्तरमें तीसरा पक्ष भिन्न तीन तरहसे हो सकता है।

१ उभय विरोधी पक्षोंको स्वीकार करनेवाला (उभय)।
२ उभय पक्षका निषेध करनेवाला (अनुभय)।
३ अवक्तव्य ।

इनमेंसे तीसरा प्रकार जैसा कि पहले बताया गया, दूसरेका विकसित रूप ही है । अत एव अनुभय और अवक्तव्यको एक ही भंग समझना चाहिये । अनुभयका तात्पर्य यह है कि वस्तु उभयरूपसे वाच्य नहीं अर्थात् वह सत् रूपसे व्याकरणीय नहीं और असद्रूपसे भी व्याकरणीय नहीं । अत एव अनुभयका दूसरा पर्याय अवक्तव्य हो जाता है ।

इस अवक्तव्यमें और वस्तुकी सर्वथा अवक्तव्यताके पक्षको व्यक्त करनेवाले अवक्तव्यमें सूक्ष्म भेद है उसे ध्यानमें रखना आवश्यक है । प्रथमको यदि सापेक्ष अवक्तव्य कहा जाय तो दूसरेको निरपेक्ष अवक्तव्य कहा जा सकता है । जब हम किसी वस्तुके दो या अधिक धर्मोंको मनमें रख कर तदर्थ शब्दकी खोज करते हैं तब प्रत्येक धर्मके वाचक भिन्न भिन्न शब्द तो मिल जाते हैं किन्तु उन शब्दोंके क्रमिक प्रयोगसे विवक्षित सभी धर्मोंका बोध युगपत् नहीं हो

पाता । अत एव वस्तुको हम अवक्तव्य कह देते हैं । यह हुई सापेक्ष अवक्तव्यता । दूसरे निरपेक्ष अवक्तव्यसे यह प्रतिपादित किया जाता है कि वस्तुका पारमार्थिक रूप ही ऐसा है जो शब्दका गोचर नहीं, अत एव उसका वर्णन शब्दसे हो ही नहीं सकता ।

स्याद्वादके भंगोंमें जो अवक्तव्यभंग है वह सापेक्ष अवक्तव्य है । और वक्तव्यत्व-अवक्तव्यत्व ऐसे दो विरोधी धर्मोंको लेकर जैनाचार्योंने स्वतन्त्र सप्तभंगीकी जो योजना की है वह निरपेक्ष अवक्तव्यको लक्षित करके की है ऐसा प्रतीत होता है । अत एव अवक्तव्य शब्दका प्रयोग संकुचित और विस्तृत ऐसे दो अर्थमें होता है ऐसा मानना चाहिए । विधि और निषेध उभय रूपसे वस्तुकी अवाच्यता जब अभिप्रेत हो तब अवक्तव्य संकुचित या सापेक्ष अवक्तव्य है । और जब सभी प्रकारोंका निषेध करना हो तब विस्तृत और निरपेक्ष अवक्तव्य अभिप्रेत है ।

दार्शनिक इतिहासमें उक्त सापेक्ष अवक्तव्यत्व नया नहीं है । ऋग्वेदके ऋषिने जगत्के आदि कारणको सद्रूपसे और असद्रूपसे अवाच्य माना क्योंकि उनके सामने दो ही पक्ष थे । जब कि माण्डूक्यने चतुर्थपाद आत्माको अन्तःप्रज्ञ (विधि), बहिष्प्रज्ञ (निषेध) और उभयप्रज्ञ (उभय) इन तीनों रूपसे अवाच्य माना क्यों कि उनके सामने आत्माके उक्त तीनों प्रकार थे । किन्तु माध्यमिक दर्शनके दूत नागार्जुनने वस्तुको चतुष्कोटिविनिर्मुक्त कह कर अवाच्य माना क्यों कि उनके सामने विधि, निषेध, उभय, और अनुभय ऐसे चार पक्ष थे । इस प्रकार सापेक्ष अवक्तव्यता दार्शनिक इतिहासमें प्रसिद्ध ही है । इसी प्रकार निरपेक्ष अवक्तव्यता भी उपनिषदोंमें प्रसिद्ध ही है । जब हम 'यतो वाचो निवर्तन्ते' जैसे वाक्य सुनते हैं तथा जैन आगममें जब "सव्वे सरा नियट्टन्ति" जैसे वाक्य सुनते हैं तब वहाँ निरपेक्ष अवक्तव्यताका ही प्रतिपादन हुआ है यह स्पष्ट हो जाता है ।

इतनी चर्चासे यह स्पष्ट है कि अनुभय और सापेक्ष अवक्तव्यताका तात्पर्यार्थ एक मानने पर यही मानना पडता है कि जब विधि और निषेध दो विरोधी पक्षोंकी उपस्थिति होती है तब उसके उत्तरमें तीसरा पक्ष या तो उभय होगा या अवक्तव्य होगा । अत एव उपनिषदोंके समय तक ये चार पक्ष स्थिर हो चुके थे ऐसा मानना उचित है—

१ सत् (विधि)
२ असत् (निषेध)
३ सदसत् (उभय)
४ अवक्तव्य (अनुभय)

इन्हीं चार पक्षोंकी परंपरा बौद्ध त्रिपिटकसे भी सिद्ध होती है ।

भगवान् बुद्धने जिन प्रश्नोंके विषयमें व्याकरण करना अनुचित समझा है, उन प्रश्नोंको अव्याकृत कहा जाता है । वे अव्याकृत प्रश्न भी यही सिद्ध करते हैं कि भगवान् बुद्धके समय पर्यन्त एक ही विषयमें चार विरोधी पक्ष उपस्थित करनेकी शैली दार्शनिकोंमें प्रचलित थी । इतना ही नहीं बल्कि उन चारों पक्षोंका रूप भी ठीक वैसा ही है जैसा कि उपनिषदोंमें पाया जाता है । इससे यह सहज सिद्ध है कि उक्त चारों पक्षोंका रूप तब तकमें वैसा ही स्थिर हुआ था, जो कि निम्न लिखित अव्याकृत प्रश्नोंको देखनेसे स्पष्ट होता है—

१ होति तथागतो परंमरणाति ?
२ न होति तथागतो परंमरणाति ?
३ होति च न होति च तथागतो परंमरणाति ?
४ नेव होति न नहोति तथागतो परंमरणाति ?[1]

इन अव्याकृत प्रश्नोंके अतिरिक्त भी अन्य प्रश्न त्रिपिटकमें ऐसे हैं जो उक्त चार पक्षोंको ही सिद्ध करते हैं—

१ सयंकतं दुक्खंति ?
२ परंकतं दुक्खंति ?
३ सयंकतं परंकतं च दुक्खंति ?
४ असयंकारं अपरंकारं दुक्खंति ?

—संयुत्तनि० XII. 17.

त्रिपिटकगत संजयबेलट्ठिपुत्तके मतवर्णनको देखनेसे भी यही सिद्ध होता है कि तब तकमें वही चार पक्ष स्थिर थे। संजय विक्षेपवादी था अत एव निम्न लिखित किसी विषयमें अपना निश्चित मत प्रकट करता न था[2]।

(१) १ परलोक है ?
२ परलोक नहीं है ?
३ परलोक है और नहीं है ?
४ परलोक है ऐसा नहीं, नहीं है ऐसा नहीं ?

(२) १ औपपातिक हैं ?
२ औपपातिक नहीं हैं ?
३ औपपातिक हैं और नहीं हैं ?
४ औपपातिक न हैं, न नहीं हैं ?

(३) १ सुकृत दुष्कृत कर्मका फल है ?
२ ,, ,, फल नहीं है ?
३ ,, ,, है और नहीं है ?
४ ,, ,, न है, न नहीं है ?

(४) १ मरणानन्तर तथागत है ?
२ ,, ,, नहीं है ?
३ ,, ,, है और नहीं है ?
४ ,, ,, न है और न नहीं है ?

जैन आगमोंमें भी ऐसे कई पदार्थोंका वर्णन मिलता है जिनमें विधि-निषेध-उभय और अनुभयके आधारपर चार विकल्प किये गये हैं। यथा—

(१) १ आत्मारंभ
२ परारंभ

---

१ संयुत्तनिकाय XLIV. २ दीघनिकाय—सामञ्ञफलसुत्त।

३ तदुभयारंभ
४ अनारंभ — भगवती १.१.१७

(२) १ गुरु
२ लघु
३ गुरु-लघु
४ अगुरुलघु — भगवती १.९.७४

(३) १ सत्य
२ मृषा
३ सत्य-मृषा
४ असत्यमृषा — भगवती १३.७.४९३

(४) १ आत्मांतकर
२ परांतकर
३ आत्मपरांतकर
४ नोआत्मांतकर-परांतकर— इत्यादि

स्थानांगसूत्र – २८७,२८९,३२७,३४४,३५५,३६५।

इतनी चर्चासे यह स्पष्ट है कि, विधि, निषेध, उभय और अवक्तव्य (अनुभय) ये चार पक्ष भगवान् महावीरके समय पर्यन्त स्थिर हो चुके थे इसीसे भ० महावीरने इन्हीं पक्षोंका समन्वय किया होगा – ऐसी कल्पना होती है। उस अवस्थामें स्याद्वादके मौलिक भंग ये फलित होते हैं –

१ स्याद् सत् (विधि)
२ स्याद् असत् (निषेध)
३ स्याद् सत् स्यादसत् (उभय)
४ स्यादवक्तव्य (अनुभय)

(२) अवक्तव्यका स्थान।

इन चार भंगोंमेंसे जो अंतिम भंग अवक्तव्य है वह दो प्रकारसे लब्ध हो सकता है –

(१) प्रथमके दो भंगरूपसे वाच्यताका निषेध करके।

(२) प्रथमके तीनों भंगरूपसे वाच्यताका निषेध करके।

(१) जब प्रथम दो भंगरूपसे वाच्यताका निषेध अभिप्रेत हो तब स्वाभाविक तौर पर अवक्तव्यका स्थान तीसरा पडता है। यह स्थिति ऋग्वेदके ऋषिके मनकी जान पडती है जब कि उन्होंने सत् और असत् रूपसे जगतके आदि कारणको अवक्तव्य बताया। अत एव यदि स्याद्वादके भंगोंमें अवक्तव्यका तीसरा स्थान जैनग्रन्थोंमें आता हो तो वह इतिहासकी दृष्टिसे संगत ही है। भगवती सूत्रमें[1] जहाँ स्वयं भ० महावीरने स्याद्वादके भंगोंका विवरण किया है वहाँ अवक्तव्य भंगका स्थान तीसरा है। यद्यपि वहाँ उसका तीसरा स्थान अन्य दृष्टिसे है, जिसका कि विवरण

---

१ भगवती—१२.१०.४६९।

आगे किया जायगा, तथापि भगवान् महावीरने जो ऐसा किया वह किसी प्राचीन परंपराका ही अनुगमन हो तो आश्चर्य नहीं । इसी परंपराका अनुगमन करके आचार्य उमास्वाती (तत्त्वार्थ-भा० ५.३१), सिद्धसेन (सन्मति० १.३६), जिनभद्र (विशेषा० गा० २२३२) आदि आचार्योंने अवक्तव्यको तीसरा स्थान दिया है।

(२) जब प्रथमके तीनों भंगरूपसे वाच्यताका निषेध करके वस्तुको अवक्तव्य कहा जाता है तब स्वभावतः अवक्तव्यको भंगोंके क्रममें चौथा स्थान मिलना चाहिए। माण्डूक्योपनिषद्में चतुष्पाद आत्माका वर्णन है। उसमें जो चतुर्थपादरूप आत्मा है वह ऐसा ही अवक्तव्य है। ऋषिने कहा है कि—**"नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं"** (माण्डू० ७) इससे स्पष्ट है कि—

१ अन्तःप्रज्ञ

२ बहिष्प्रज्ञ

३ उभयप्रज्ञ

इन तीनों भंगोंका निषेध करके उस आत्माके स्वरूपका प्रतिपादन किया गया है और फलित किया है कि "अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यम्" (माण्डू० ७) ऐसे आत्माको ही चतुर्थ पाद समझना चाहिए। कहना न होगा कि प्रस्तुतमें विधि-निषेध-उभय इन तीन भंगोंसे वाच्यताका निषेध करनेवाला चतुर्थ अवक्तव्य भंग विवक्षित है। ऐसी स्थितिमें स्याद्वादके भंगोंमें अवक्तव्यको तीसरा नहीं किन्तु चौथा स्थान मिलना चाहिए। ऐसी परंपराका अनुगमन सप्तभंगीमें अवक्तव्यको चतुर्थस्थान देनेवाले आचार्य समन्तभद्र (आप्तमी० का० १६) और तदनुयायी जैनाचार्योंके द्वारा हुआ हो तो आश्चर्य नहीं। आचार्य कुन्दकुन्दने दोनों मतोंका अनुगमन किया है।

(३) स्याद्वादके भंगोंकी विशेषता।

स्याद्वादके भंगोंमें भ० महावीरने पूर्वोक्त चार भंगोंके अतिरिक्त अन्य भंगोंकी भी योजना की है। इनके विषयमें चर्चा करनेके पहले उपनिषद् निर्दिष्ट चार पक्ष, त्रिपिटके चार अव्याकृत प्रश्न, संजयके चार भंग और भ० महावीरके स्याद्वादके भंग इन सभीमें परस्पर क्या विशेषता है उसकी चर्चा कर लेना विशेष उपयुक्त है।

उपनिषदोंमें माण्डूक्यको छोडकर किसी एक ऋषिने उक्त चारों पक्षोंको स्वीकृत नहीं किया। किसीने सत् पक्षको किसीने असत् पक्षको, किसीने उभय पक्षको तो किसीने अवक्तव्य पक्षको स्वीकृत किया है। जबकि माण्डूक्यने आत्माके विषयमें चारों पक्षोंको स्वीकृत किया है।

भगवान् बुद्धके चारों अव्याकृत प्रश्नोंके विषयमें तो स्पष्ट ही है कि भ० बुद्ध उन प्रश्नोंका कोई हा या नामें उत्तर ही देना नहीं चाहते थे अत एव वे प्रश्न अव्याकृत कहलाये। इसके विरुद्ध भगवान् महावीरने चारों पक्षोंका समन्वय करके सभी पक्षोंका अपेक्षाभेदसे स्वीकार किया है। संजयके मतमें और स्याद्वादमें भेद यह है कि स्याद्वादी प्रत्येक भंगका स्पष्ट रूपसे निश्चयपूर्वक स्वीकार करता है जब कि संजय मात्र भंगजालकी रचना करके उन भंगोंके विषयमें अपना अज्ञान ही प्रकट करता है। संजयका कोई निश्चय ही नहीं। वह भंगजालकी

रचना करके अज्ञानवादमें ही कर्तव्यकी इतिश्री समझता है तब स्याद्वादी भ० महावीर प्रत्येक भंगका स्वीकार करना क्यों आवश्यक है यह बताकर विरोधी भंगोंके स्वीकारके लिये नयवाद-अपेक्षावादका समर्थन करते हैं। यह तो संभव है कि स्याद्वादके भंगोंकी योजनामें संजयके भंगजालसे भ० महावीरने लाभ उठाया हो किन्तु उन्होंने अपना स्वातन्त्र्य भी बताया है, यह स्पष्ट ही है। अर्थात् दोनोंका दर्शन दो विरोधी दिशामें प्रवाहित हुआ है।

ऋग्वेदसे भ० बुद्ध पर्यन्त जो विचारधारा प्रवाहित हुई है उसका विश्लेषण किया जाय तो प्रतीत होता है कि प्रथम एक पक्ष उपस्थित हुआ जैसे सत् या असत् का। उसके विरोधमें विपक्ष उत्थित हुआ असत् या सत्का। तब किसीने इन दो विरोधी भावनाओंको समन्वित करनेकी दृष्टिसे कह दिया कि तत्त्व न सत् कहा जा सकता है और न असत्—वह तो अवक्तव्य है। और किसी दूसरेने दो विरोधी पक्षोंको मिलाकर कह दिया कि वह सदसत् है। वस्तुतः विचारधाराके उपर्युक्त पक्ष, विपक्ष और समन्वय ये तीन क्रमिक सोपान हैं। किन्तु समन्वयपर्यन्त आजानेके बाद फिरसे समन्वयको ही एक पक्ष बनाकर विचारधारा आगे चलती है, जिससे समन्वयका भी एक विपक्ष उपस्थित होता है। और फिर नये पक्ष और विपक्षके समन्वयकी आवश्यकता होती है। यही कारण है कि जब वस्तुकी अवक्तव्यतामें सद् और असत्का समन्वय हुआ तब वह भी एक एकान्त पक्ष बन गया। संसारकी गतिविधि ही कुछ ऐसी है, मनुष्यका मन ही कुछ ऐसा है कि उसे एकान्त सह्य नहीं। अत एव वस्तुकी ऐकान्तिक अवक्तव्यताके विरुद्ध भी एक विपक्ष उत्थित हुआ कि वस्तु ऐकान्तिक अवक्तव्य नहीं उसका वर्णन भी शक्य है। इसी प्रकार समन्वयवादीने जब वस्तुको सदसत् कहा तब उसका वह समन्वय भी एक पक्ष बन गया और स्वभावतः उसके विरोधमें विपक्षका उत्थान हुआ। अत एव किसीने कहा एक ही वस्तु सदसत् कैसे हो सकती है, उसमें विरोध है। जहाँ विरोध होता है वहाँ संशय उपस्थित होता है। जिस विषयमें संशय हो वहाँ उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता। अत एव मानना यह चाहिए कि वस्तुका सम्यग्ज्ञान नहीं। हम उसे ऐसा भी नहीं कह सकते, वैसा भी नहीं कह सकते। इस संशय या अज्ञानवादका तात्पर्य वस्तुकी अज्ञेयता, अनिर्णेयता, अवाच्यतामें जान पड़ता है। यदि विरोधी मतोंका समन्वय एकान्त दृष्टिसे किया जाय तब तो फिर पक्ष-विपक्ष-समन्वयका चक्र अनिवार्य है। इसी चक्रको भेदनेका मार्ग भगवान् महावीरने बताया है। उनके सामने पक्ष-विपक्ष-समन्वय और समन्वयका भी विपक्ष उपस्थित था। यदि वे ऐसा समन्वय करते जो फिर एक पक्षका रूप ले ले तब तो पक्ष-विपक्ष-समन्वयके चक्रकी गति नहीं रुकती। इसीसे उन्होंने समन्वयका एक नया मार्ग लिया, जिससे वह समन्वय स्वयं आगे जाकर एक नये विपक्षको अवकाश दे न सके।

उनके समन्वयकी विशेषता यह है कि वह समन्वय स्वतन्त्र पक्ष न होकर सभी विरोधी पक्षोंका यथायोग्य संमेलन है। उन्होंने प्रत्येक पक्षके बलाबलकी ओर दृष्टि दी है। यदि वे केवल दौर्बल्यकी ओर ध्यान दे करके समन्वय करते तब सभी पक्षोंका सुमेल होकर एकत्र संमेलन न होता किन्तु ऐसा समन्वय उपस्थित हो जाता जो किसी एक विपक्षके उत्थानको अवकाश देता। भ० महावीर ऐसे विपक्षका उत्थान नहीं चाहते थे। अतएव उन्होंने प्रत्येक

पक्षकी सचाई पर भी ध्यान दिया। और सभी पक्षोंको वस्तुके दर्शनमें यथायोग्य स्थान दिया। जितने भी अबाधित विरोधी पक्ष थे उन सभीको सच बताया अर्थात् संपूर्ण सत्यका दर्शन तो उन सभी विरोधोंके मिलनेसे ही हो सकता है, पारस्परिक निरासके द्वारा नहीं, इस बातकी प्रतीति नयवादके द्वारा कराई। सभी पक्ष, सभी मत, पूर्ण सत्यको जाननेके भिन्न भिन्न प्रकार हैं। किसी एक प्रकारका इतना प्राधान्य नहीं है कि वही सच हो और दूसरा नहीं। सभी पक्ष अपनी अपनी दृष्टिसे सत्य हैं, और इन्ही सब दृष्टिओंके यथायोग्य संगमसे वस्तुके स्वरूपका भास होता है। यह नयवाद इतना व्यापक है कि इसमें एक ही वस्तुको जाननेके सभी संभवित मार्ग पृथक् पृथक् नय रूपसे स्थान प्राप्त कर लेते है। वे नय तब कहलाते हैं जब कि अपनी अपनी मर्यादामें रहें, अपने पक्षका स्पष्टीकरण करें और दूसरे पक्षका मार्ग अवरुद्ध न करें। परंतु यदि वे ऐसा नहीं करते तो नय न कहे जाकर दुर्नय बन जाते। इस अवस्थामें विपक्षोंका उत्थान साहजिक है। सारांश यह है कि भगवान् महावीरका समन्वय सर्वव्यापी है अर्थात् सभी पक्षोंका सुमेल करनेवाला है अत एव उसके विरुद्ध विपक्षको कोई स्थान नहीं रह जाता। इस समन्वयमें पूर्वपक्षोंका लोप होकर एक ही मत नहीं रह जाता। किन्तु पूर्व सभी मत अपने अपने स्थानपर रह कर वस्तुदर्शनमें घडीके भिन्न भिन्न पुर्जेकी तरह सहायक होते हैं। इस प्रकार पूर्वोक्त पक्ष-विपक्ष-समन्वय के चक्रमें जो दोष था उसे दूर करके भगवानने समन्वयका यह नया मार्ग लिया जिससे फल यह हुआ कि उनका वह समन्वय अंतिम ही रहा।

इस परसे हम देख सकते हैं कि उनका स्याद्वाद न तो अज्ञानवाद है और न संशयवाद। अज्ञानवाद तब होता जब वे संजयकी तरह ऐसा कहते कि वस्तुको मैं न सत् जानता हूँ तो सत् कैसे कहूँ, और न असत् जानता हूँ तो असत् कैसे कहूँ इत्यादि। भ० महावीर तो स्पष्टरूपसे यही कहते हैं कि वस्तु सत् है ऐसा मेरा निर्णय है; वह असत् है ऐसा भी मेरा निर्णय है। वस्तुको हम उसके द्रव्य-क्षेत्रादिकी दृष्टिसे सत् समझते हैं। और परद्रव्यादिकी अपेक्षासे उसे हम असत् समझते हैं। इसमें न तो संशयको स्थान है और न अज्ञानको। नयभेदसे जब दोनों विरोधी धर्मोंका स्वीकार है तब विरोध भी नहीं।

अत एव शंकराचार्य प्रभृति वेदान्तके आचार्य और धर्मकीर्ति आदि बौद्ध आचार्य और उनके प्राचीन और आधुनिक व्याख्याकार स्याद्वादमें विरोध; संशय और अज्ञान आदि जिन दोषोंका उद्भावन करते हैं वे स्याद्वादको लागू नहीं हो सकते किन्तु संजयके संशयवाद या अज्ञानवादको ही लागू होते हैं। अन्य दार्शनिक स्याद्वादके बारेमें सहानुभूतिपूर्वक सोचते तो स्याद्वाद और संशयवादको वे एक नहीं समझते और संशयवादके दोषोंको स्याद्वादके मत्थे मढ़ते नहीं।

जैनाचार्योंने तो बार बार इस बातकी घोषणा की है कि स्याद्वाद संशयवाद नहीं और ऐसा कोई दर्शन ही नहीं, जो किसी न किसी रूपमें स्याद्वादका स्वीकार न करता हो। सभी दर्शनोंने स्याद्वादको अपने अपने ढंगसे स्वीकार तो किया है[1] किन्तु उसका नाम लेने पर दोष बताने लग जाते हैं।

---

१ अनेकान्तव्यवस्थाकी अंतिम प्रशस्ति पृ० ८७।

(४) स्याद्वादके भंगोंका प्राचीन रूप।

अब हम स्याद्वादका स्वरूप जैसा आगममें है उसकी विवेचना करते हैं। भगवान्के स्याद्वादको ठीक समझनेके लिये भगवती सूत्रका एक सूत्र अच्छी तरहसे मार्गदर्शक हो सकता है। अत एव उसीका सार नीचे दिया जाता है। क्योंकि स्याद्वादके भंगोंकी संख्याके विषयमें भगवान्का अभिप्राय क्या था, भगवान् के अभिप्रेत भंगोंके साथ प्रचलित सप्तभंगीके भंगोंका क्या संबंध है तथा आगमोत्तरकालीन जैन दार्शनिकोंने भंगों की सात ही संख्याका जो आग्रह रखा है उसका क्या मूल है – यह सब उस सूत्रसे मालूम हो जाता है।

गौतमका प्रश्न है कि रत्नप्रभा पृथ्वी आत्मा है या अन्य है? उसके उत्तरमें भगवान्ने कहा –

१ रत्नप्रभापृथ्वी स्यादात्मा है।
२ रत्नप्रभापृथ्वी स्यादात्मा नहीं है।
३ रत्नप्रभापृथ्वी स्यादवक्तव्य है। अर्थात् आत्मा है और आत्मा नहीं है, इस प्रकारसे वह वक्तव्य नहीं है।

इन तीन भंगोंको सुन कर गौतमने भगवान् से फिर पूछा कि – आप एक ही पृथ्वीको इतने प्रकारसे किस अपेक्षासे कहते हैं? भगवान्ने उत्तर दिया –

१ आत्मा – स्वके आदेशसे आत्मा है।
२ परके आदेशसे आत्मा नहीं है।
३ तदुभयके आदेशसे अवक्तव्य है।

रत्नप्रभाकी तरह गौतमने सभी पृथ्वी, सभी देवलोक और सिद्धशिलाके विषयमें पूछा है और उत्तर भी वैसा ही मिला है। उसके बाद उन्होंने परमाणु पुद्गलके विषयमें भी पूछा। और वैसा ही उत्तर मिला। किन्तु जब उन्होंने द्विप्रदेशिक स्कन्धके विषयमें पूछा तब उसके उत्तरमें भंगोंका आधिक्य है सो इस प्रकार –

१ द्विप्रदेशी स्कन्ध स्यादात्मा है।
२ ,, ,, ,, नहीं है।
३ ,, ,, स्यादवक्तव्य है।
४ ,, ,, स्यादात्मा है और आत्मा नहीं है।
५ ,, ,, स्यादात्मा है और अवक्तव्य है।
६ ,, ,, स्यादात्मा नहीं है और अवक्तव्य है।

इन भंगोंकी योजना के अपेक्षा कारणके विषयमें अपने प्रश्नका गौतमको जो उत्तर मिला है वह इस प्रकार –

१ द्विप्रदेशिक स्कन्ध आत्माके आदेशसे आत्मा है।
२ परके आदेशसे आत्मा नहीं है।
३ तदुभयके आदेशसे अवक्तव्य है।
४ [1]देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायोंसे और देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायोंसे अत एव द्विप्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है और आत्मा नहीं है।

---

१ एक ही स्कन्धके जुदे जुदे अंशोंमें विवक्षाभेदका आश्रय लेनेसे चौथेसे आगेके सभी भंग निष्पन्न होते हैं। इन्ही विकलादेशी भंगोंको दिखानेकी प्रक्रिया इस वाक्यसे प्रारंभ होती है।

५ देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायोंसे और देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायोंसे अत एव द्विप्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है और अवक्तव्य है।

६ देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायोंसे और देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायोंसे अतएव द्विप्रदेशिक स्कन्ध आत्मा नहीं है और अवक्तव्य है।

इसके बाद गौतमने त्रिप्रदेशिक स्कन्धके विषयमें वैसा ही प्रश्न पूछा तब उत्तर निम्नलिखित भंगोंमें मिला —

(१) १ त्रिप्रदेशिक स्कन्ध स्यादात्मा है।
(२) २ त्रिप्रदेशिक स्कन्ध स्यादात्मा नहीं है।
(३) ३ त्रिप्रदेशिक स्कन्ध स्यादवक्तव्य है।
(४) ४ त्रिप्रदेशिक स्कन्ध स्यादात्मा है और आत्मा नहीं है।
५ त्रिप्रदेशिक स्कन्ध स्यादात्मा है, (२) आत्माएँ नहीं हैं।
६ त्रिप्रदेशिक स्कन्ध स्यादात्माएँ (२) हैं, आत्मा नहीं है।
(५) ७ त्रिप्रदेशिक स्कन्ध स्यादात्मा है और अवक्तव्य है।
८ त्रिप्रदेशिक स्कन्ध स्यादात्मा है और (२) अवक्तव्य हैं।
९ त्रिप्रदेशिक स्कन्ध स्याद् (२) आत्माएँ हैं, और अवक्तव्य है।
(६) १० त्रिप्रदेशिक स्कन्ध स्याद् आत्मा नहीं है और अवक्तव्य है।
११ त्रिप्रदेशिक स्कंध स्यादात्मा नहीं है और (२) अवक्तव्य हैं।
१२ त्रिप्रदेशिक स्कन्ध स्याद् (२) आत्माएँ नहीं हैं और अवक्तव्य है।
(७) १३ त्रिप्रदेशिक स्कंध स्यादात्मा है, आत्मा नहीं है और अवक्तव्य है।

गौतमने जब इन भंगोंकी योजनाका अपेक्षाकारण पूछा तब भगवान्ने उत्तर दिया कि —

(१) १ त्रिप्रदेशिक स्कन्ध आत्माके आदेशसे आत्मा है।
(२) २ त्रिप्रदेशिक स्कन्ध परके आदेशसे आत्मा नहीं है।
(३) ३ त्रिप्रदेशिक स्कन्ध तदुभयके आदेशसे अवक्तव्य है।
(४) ४ देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायोंसे और देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायोंसे अत एव त्रिप्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है और आत्मा नहीं है।
५ देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायोंसे और (२) देश आदिष्ट हैं असद्भावपर्यायोंसे अत एव त्रिप्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है और (२) आत्माएँ नहीं हैं।
६ (दो) देश आदिष्ट हैं सद्भावपर्यायोंसे और देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायोंसे अत एव त्रिप्रदेशिक स्कन्ध (दो) आत्माएँ हैं और आत्मा नहीं है।
(५) ७ देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायोंसे और देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायोंसे अत एव त्रिप्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है और अवक्तव्य है।
८ देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायोंसे और (दो) देश आदिष्ट हैं तदुभयपर्यायोंसे अत एव त्रिप्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है और (दो) अवक्तव्य हैं।
९ (दो) देश आदिष्ट हैं सद्भावपर्यायोंसे और देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायोंसे अत एव त्रिप्रदेशिक स्कन्ध (२) आत्माएँ हैं और अवक्तव्य है।

(६) १० देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायोंसे और देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायोंसे अत एव त्रिप्रदेशिक स्कन्ध आत्मा नहीं है और अवक्तव्य है।

११ देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायोंसे और (दो) देश आदिष्ट हैं तदुभयपर्यायोंसे अत एव त्रिप्रदेशिक स्कन्ध आत्मा नहीं है और (दो) अवक्तव्य हैं।

१२ (दो) देश आदिष्ट हैं असद्भावपर्यायोंसे और देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायोंसे अत एव त्रिप्रदेशिक स्कन्ध (दो) आत्माएँ नहीं हैं और अवक्तव्य है।

(७) १३ देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायोंसे, देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायोंसे और देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायोंसे अत एव त्रिप्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है, आत्मा नहीं है और अवक्तव्य है।

इसके बाद गौतमने चतुष्प्रदेशिक स्कंधके विषयमें वही प्रश्न किया है। उत्तरमें भगवान्ने १९ भंग किये। तब फिर गौतमने अपेक्षा कारणके विषयमें पूछा तब उत्तर निम्न लिखित दिया गया—

(१) १ चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध आत्माके आदेशसे आत्मा है।

(२) २ चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध परके आदेशसे आत्मा नहीं है।

(३) ३ चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध तदुभयके आदेशसे अवक्तव्य है।

(४) ४ देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायोंसे और देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायोंसे अत एव चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है और आत्मा नहीं है।

५ देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायोंसे और (अनेक) देश आदिष्ट हैं असद्भावपर्यायोंसे अत एव

चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है और (अनेक) आत्माएँ नहीं हैं।

६ (अनेक) देश आदिष्ट हैं सद्भावपर्यायोंसे और देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायोंसे अत एव

चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध (अनेक) आत्माएँ हैं और आत्मा नहीं है।

७ (अनेक-२) देश आदिष्ट हैं सद्भावपर्यायोंसे और (अनेक-२) देश आदिष्ट हैं असद्भावपर्यायोंसे अत एव

चतुष्प्रदेशिक स्कन्द (अनेक-२) आत्माएँ हैं और (अनेक-२) आत्माएँ नहीं हैं।

(५) ८ देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायोंसे और देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायोंसे अत एव चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है और अवक्तव्य है।

९ देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायोंसे और (अनेक) देश आदिष्ट हैं तदुभयपर्यायोंसे अत एव

चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है और (अनेक) अवक्तव्य हैं।

१० (अनेक) देश आदिष्ट हैं सद्भावपर्यायोंसे और देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायोंसे अत एव

चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध (अनेक) आत्माएँ हैं और अवक्तव्य है।

११ (अनेक–२) देश आदिष्ट हैं सद्भावपर्यायोंसे और (अनेक–२) देश आदिष्ट हैं तदुभयपर्यायोंसे अत एव चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध (अनेक–२) आत्माएँ हैं और (अनेक–२) अवक्तव्य हैं।

(६) १२ देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायोंसे और देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायोंसे अतएव चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध आत्मा नहीं है और अवक्तव्य है।

१३ देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायोंसे और (अनेक) देश आदिष्ट हैं तदुभयपर्यायोंसे अत एव

चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध आत्मा नहीं है और (अनेक) अवक्तव्य हैं।

१४ (अनेक) देश आदिष्ट हैं असद्भावपर्यायोंसे और देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायोंसे अत एव

चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध (अनेक) आत्माएँ नहीं हैं और अवक्तव्य है।

१५ (अनेक–२) देश आदिष्ट हैं असद्भावपर्यायोंसे और (अनेक–२) देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायोंसे अत एव

चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध (अनेक–२) आत्माएँ नहीं हैं और (अनेक–२) अवक्तव्य हैं।

(७) १६ देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायोंसे देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायोंसे और देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायोंसे अत एव

चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है, आत्मा नहीं है और अवक्तव्य है।

१७ देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायोंसे देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायोंसे और (दो) देश आदिष्ट हैं तदुभयपर्यायोंसे अत एव

चतुष्प्रदेशिक स्कंध आत्मा है, आत्मा नहीं है, और (दो) अवक्तव्य हैं।

१८ देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायोंसे, (दो) देश आदिष्ट हैं असद्भावपर्यायोंसे और देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायोंसे अत एव

चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है (दो) आत्माएँ नहीं हैं और अवक्तव्य है।

१९ (दो) देश आदिष्ट हैं सद्भावपर्यायोंसे, देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायोंसे और देश आदिष्ट है तदुभय पर्यायोंसे अत एव

चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध (दो) आत्माएँ हैं, आत्मा नहीं है, और अवक्तव्य है।

इसके बाद पंचप्रदेशिक स्कन्धके विषयमें वेही प्रश्न हैं और भगवान् का अपेक्षाओंके साथ २२ भंगोंमें उत्तर निम्नलिखित है–

(१) १ पञ्चप्रदेशिक स्कन्ध आत्माके आदेशसे आत्मा है।

(२) २ पञ्चप्रदेशिक स्कन्ध परके आदेशसे आत्मा नहीं है।

(३) ३ पञ्चप्रदेशिक स्कन्ध तदुभयके आदेशसे अवक्तव्य है।

(४) ४–६ चतुष्प्रदेशिक स्कंधके समान।

७ देश (अनेक–२ या ३) आदिष्ट हैं सद्भावपर्यायोंसे और देश (अनेक ३ या २) आदिष्ट हैं असद्भावपर्यायोंसे अत एव
पंचप्रदेशिक स्कन्ध आत्माएँ (२ या ३) हैं और आत्माएँ (३ या २) नहीं हैं।

(५) ८–१० चतुष्प्रदेशिक स्कन्धके समान
११ चतुष्प्रदेशिक स्कन्धके समान (अनेकका अर्थ प्रस्तुत ७ वें भंगके समान)

(६) १२–१४ चतुष्प्रदेशिकके समान
१५ चतुष्प्रदेशिक स्कंधके समान (अनेकका अर्थ प्रस्तुत सातवें भंगके समान)

(७) १६ देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायोंसे, देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायोंसे और देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायोंसे अत एव
पंचप्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है, आत्मा नहीं है और अवक्तव्य है।

१७ देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायोंसे, देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायोंसे और (अनेक) देश आदिष्ट हैं तदुभयपर्यायोंसे अत एव
पंचप्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है, आत्मा नहीं है और (अनेक) अवक्तव्य हैं।

१८ देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायोंसे, (अनेक) देश आदिष्ट हैं असद्भावपर्यायोंसे और देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायोंसे अत एव
पंचप्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है, (अनेक) आत्माएँ नहीं हैं और अवक्तव्य है।

१९ देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायोंसे, (अनेक–२) देश आदिष्ट हैं असद्भावपर्यायोंसे और (अनेक–२) देश आदिष्ट हैं तदुभयपर्यायोंसे अत एव पंचप्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है, (अनेक–२) आत्माएँ नहीं हैं और (अनेक–२) अवक्तव्य हैं।

२० (अनेक) देश आदिष्ट हैं सद्भावपर्यायोंसे, देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायोंसे, और देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायोंसे अत एव
पंचप्रदेशिक स्कंध आत्माएँ (अनेक) हैं, आत्मा नहीं है और अवक्तव्य है।

२१ (अनेक–२) देश आदिष्ट हैं सद्भावपर्यायोंसे, देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायोंसे और देश (अनेक–२) आदिष्ट हैं तदुभयपर्यायोंसे अत एव पंचप्रदेशिक स्कंध (अनेक–२) आत्माएँ हैं, आत्मा नहीं है और अवक्तव्य (अनेक–२) हैं।

२२ (अनेक २) देश आदिष्ट हैं सद्भावपर्यायोंसे, (अनेक २) देश आदिष्ट हैं असद्भावपर्यायोंसे और देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायोंसे अत एव
पंचप्रदेशिक स्कंध (अनेक–२) आत्माएँ हैं, आत्माएँ (अनेक–२) नहीं हैं और अवक्तव्य ।

इसी प्रकार षट्प्रदेशिक स्कन्धके २३ भंग होते हैं। उनमेंसे २२ तो पूर्ववत् ही हैं[1] किन्तु २३ वाँ यह है–

> २३ (अनेक–२) देश आदिष्ट हैं सद्भावपर्यायोंसे, (अनेक–२) देश आदिष्ट हैं असद्भावपर्यायोंसे और (अनेक–२) देश आदिष्ट हैं तदुभयपर्यायोंसे अत एव षट्प्रदेशिक स्कन्ध (अनेक) आत्माएँ हैं, आत्माएँ नहीं हैं और अवक्तव्य हैं। भगवती – १२.१०.४६९

इस सूत्रके अध्ययनसे हम नीचे लिखे परिणामोंपर पहुंचते हैं–

(१) विधिरूप और निषेधरूप इन्ही दोनों विरोधी धर्मोंका स्वीकार करनेमें ही स्याद्वादके भंगोंका उत्थान है।

(२) दो विरोधी धर्मोंके आधारपर विवक्षाभेदसे शेष भंगोंकी रचना होती है।

(३) मौलिक दो भंगोंके लिये और शेष सभी भंगोंके लिये अपेक्षाकारण अवश्य चाहिए। अर्थात् प्रत्येक भंगके लिये स्वतन्त्र दृष्टि या अपेक्षाका होना आवश्यक है। प्रत्येक भंगका स्वीकार क्यों किया जाता है इस प्रश्नका स्पष्टीकरण जिससे हो वह अपेक्षा है, आदेश है या दृष्टि है या नय है। ऐसे आदेशोंके विषयमें भगवान्‌का मन्तव्य क्या था उसका विवेचन आगे किया जायगा।

(४) इन्ही अपेक्षाओंकी सूचनाके लिये प्रत्येक भंगवाक्यमें 'स्यात्' ऐसा पद रखा जाता है। इसीसे यह वाद स्याद्वाद कहलाता है। इस और अन्य सूत्रके आधारसे इतना निश्चित है कि जिस वाक्यमें साक्षात् अपेक्षाका उपादान हो वहाँ 'स्यात्' का प्रयोग नहीं किया गया है। और जहाँ अपेक्षाका साक्षात् उपादान नहीं है वहाँ स्यात् का प्रयोग किया गया है। अत एव अपेक्षाका द्योतन करनेके लिये 'स्यात्' पदका प्रयोग करना चाहिए यह मन्तव्य इस सूत्रसे फलित होता है।

(५) जैसा पहले बताया है स्याद्वादके भंगोंमेंसे प्रथमके चार भंगकी सामग्री अर्थात् चार विरोधी पक्ष तो भ. महावीरके सामने थे। उन्ही पक्षोंके आधार पर स्याद्वादके प्रथम चार भंगोंकी योजना भगवान्ने की है। किन्तु शेष भंगोंकी योजना भगवान्‌की अपनी है ऐसा प्रतीत होता है। शेष भंग प्रथमके चारोंका विविधरीतिसे संमेलन ही है। भंगविद्यामें कुशल भगवान्‌के लिये ऐसी योजना कर देना कोई कठिन बात नहीं कही जा सकती।

(६) अवक्तव्य यह भंग तीसरा है। कुछ जैनदार्शनिकोंने इस भंगको चौथा स्थान दिया है। आगममें अवक्तव्यका चौथा स्थान नहीं है। अत एव यह विचारणीय है कि अवक्तव्यको चौथा स्थान कबसे किसने क्यों दिया।

(७) स्याद्वादके भंगोंमें सभी विरोधी धर्मयुगलोंको लेकर सात ही भंग होने चाहिए, न कम, न अधिक, ऐसी जो जैनदार्शनिकोंने व्यवस्था की है वह निर्मूल नहीं है। क्योंकि त्रिप्रदेशिक स्कंध और उससे अधिक प्रदेशिक स्कंधोंके भंगोंकी संख्या जो प्रस्तुत सूत्रमें दी गई है उससे यही मालूम होता है कि मूल भंग सात वे ही हैं जो जैनदार्शनिकोंने अपने सप्तभंगीके विवेचनमें

---

१ प्रस्तुतमें अनेकका अर्थ यथायोग्य कर लेना चाहिए। २ भंगोकी योजनाका कौशल्य देखना हो तो भगवती सूत्र श० ९ उ० ५ इत्यादि देखना चाहिए।

स्वीकृत किये हैं । जो अधिक भंग संख्या सूत्रमें निर्दिष्ट है वह मौलिकभंगोंके भेदके कारण नहीं है किन्तु एकवचन-बहुवचनके भेदकी विवक्षाके कारण ही है । यदि वचनभेदकृत संख्या-वृद्धिको निकाल दिया जाय तो मौलिक भंग सात ही रह जाते हैं । अत एव जो यह कहा जाता है कि आगममें सप्तभंगी नहीं है वह भ्रममूलक है ।

(८) सकलादेश-विकलादेशकी कल्पना भी आगमिक सप्तभंगीमें मौजुद है । आगमके अनुसार प्रथमके तीन सकलादेशी भंग हैं जब शेष विकलादेशी । बादके दार्शनिकोंमें इस विषयको लेकर भी मतभेद हो गया[1] है । ऐतिहासिक दृष्टिसे गवेषणीय तो यह है कि ऐसा मत भेद क्यों और कब हुआ ?

§६. नय, आदेश या दृष्टियाँ ।

सप्तभंगीके विषयमें इतना जान लेनेके बाद अब भगवान्ने किन किन दृष्टिओंके आधार पर विरोधपरिहार करनेका प्रयत्न किया या एक ही धर्मिमें विरोधी अनेक धर्मोंका स्वीकार किया, यह जानना आवश्यक है । भगवान् महावीरने यह देखा कि जितने भी मत, पक्ष या दर्शन हैं वे अपना एक खास पक्ष स्थापित करते हैं और विपक्षका निरास करते हैं । भगवान्ने उन सभी तत्कालीन दार्शनिकोंकी दृष्टिओंको समझनेका प्रयत्न किया । और उनको प्रतीत हुआ कि नाना मनुष्योंके वस्तुदर्शनमें जो भेद हो जाता है उसका कारण केवल वस्तुकी अनेकरूपता या अनेकान्तात्मकता ही नहीं बल्कि नाना मनुष्योंके देखनेके प्रकारकी अनेकता या नानारूपता भी कारण है । इसी लिये उन्होंने सभी मतोंको, दर्शनोंको वस्तुरूपके दर्शनमें योग्य स्थान दिया है । किसी मतविशेषका सर्वथा निरास नहीं किया है । निरास यदि किया है तो इस अर्थमें कि जो एकान्त आग्रहका विष था, अपने ही पक्षको, अपने ही मत या दर्शनको सत्य, और दूसरोंके मत, दर्शन या पक्षको मिथ्या माननेका जो कदाग्रह था, उसका निरास करके उन मतोंको एक नयारूप दिया है । प्रत्येक मतवादी कदाग्रही हो कर दूसरेके मतको मिथ्या बताते थे, वे समन्वय न कर सकनेके कारण एकान्तवादमें ही फंसते थे । भ. महावीरने उन्हींके मतोंको स्वीकार करके उनमेंसे कदाग्रहका • विष निकालकर सभीका समन्वय करके अनेकान्तवादरूपी संजीवनी महौषधिका निर्माण किया है ।

कदाग्रह तब ही जा सकता है जब प्रत्येक मतकी सचाईकी कसौटी की जाय । मतोंमें सचाई जिस कारणसे आती है उस कारणकी शोध करना और उस मतके समर्थनमें उस कारण को बतादेना यही भ० महावीरके नयवाद, अपेक्षावाद या आदेशवादका रहस्य है ।

अत एव जैन आगमोंके आधारपर उन नयोंका, उन आदेशों और उन अपेक्षाओंका संकलन करना आवश्यक है जिनको लेकर भगवान् महावीर सभी तत्कालीन दर्शनों और पक्षोंकी सचाई तक पहुँच सके और जिनका आश्रय लेकर बादके जैनाचार्योंने अनेकान्तवादके महाप्रासादको नये नये दर्शन और पक्षोंकी भूमिकापर प्रतिष्ठित किया ।

(१) द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ।

एक ही वस्तुके विषयमें जो नानामतोंकी सृष्टि होती है उसमें द्रष्टाकी रुचि और शक्ति, दर्शनका साधन, दृश्यकी दैशिक और कालिकस्थिति, द्रष्टाकी दैशिक और कालिकस्थिति, दृश्यका

---

१ अकलंकग्रन्थत्रय टिप्पणी पृ० १४९ ।

स्थूल और सूक्ष्मरूप इत्यादि कई कारण हैं। ये ही कारण प्रत्येक द्रष्टा और दृश्यमें प्रत्येक क्षणमें विशेषाधायक होकर नानामतोंके सर्जनमें निमित्त बनते हैं। उन कारणोंकी व्यक्तिशः गणना करना कठिन है अत एव तत्कृत विशेषोंका परिगणन भी असंभव है। इसी कारणसे वस्तुतः सूक्ष्मविशेषताओंके कारण होनेवाले नानामतोंकी परिगणना भी असंभव है। जब मतोंका ही परिगणन असंभव हो तो उन मतोंके उत्थानकी करणभूत दृष्टि या अपेक्षा या नयकी परिगणना तो सुतरां असंभव है। इस असंभवको ध्यानमें रखकर ही भगवान् महावीरने सभी प्रकारकी अपेक्षाओंका साधारणीकरण करनेका प्रयत्न किया है। और मध्यममार्गसे सभी प्रकारकी अपेक्षाओंका वर्गीकरण चार प्रकारमें किया है। ये चार प्रकार ये हैं—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। इन्हींके आधार पर प्रत्येक वस्तुके भी चार प्रकार हो जाते हैं। अर्थात् द्रष्टाके पास चार दृष्टियाँ, अपेक्षाएँ, आदेश हैं और वह इन्हीं के आधार पर वस्तुदर्शन करता है। अभिप्राय यह है कि वस्तुका जो कुछ रूप हो वह उन चारमेंसे किसी एकमें अवश्य समाविष्ट हो जाता है और द्रष्टा जिस किसी दृष्टिसे वस्तुदर्शन करता है उसकी वह दृष्टि भी इन्ही चारमेंसे किसी एकमें अन्तर्गत हो जाती है।

भगवान् महावीरने कई प्रकारके विरोधोंका, इन्ही चार दृष्टिओं और वस्तुके चार रूपोंके आधार पर, परिहार किया है। जीवकी और लोककी सांतता और अनन्तता के विरोधका परिहार इन्ही चार दृष्टिओंसे जैसे किया गया है उसका वर्णन पूर्वमें हो चुका है[1]। इसी प्रकार नित्यानित्यताके विरोधका परिहार भी उन्हीसे हो जाता है वह भी उसी प्रसंगमें स्पष्ट करदिया गया है। लोकके, परमाणुके और पुद्गलके चार भेद इन्ही दृष्टिओंको लेकर भगवतीमें किये गये हैं[2]। परमाणुकी चरमता और अचरमताके विरोधका परिहार भी इन्ही दृष्टिओंके आधारपर किया गया है[3]।

कभी कभी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चार दृष्टिओंके स्थानमें अधिक दृष्टियाँ भी बताई गई हैं। किन्तु विशेषतः इन चारसे ही काम लिया गया है। वस्तुतः चारसे अधिक दृष्टियोंको बताते समय भावके अवान्तर भेदोंको ही भावसे पृथक् करके स्वतन्त्रस्थान दिया है ऐसा अधिक अपेक्षाभेदोंको देखनेसे स्पष्ट होता है अत एव मध्यममार्गसे उक्त चार ही दृष्टियाँ मानना न्यायोचित है।

भ. महावीरने धर्मास्तिकायादि द्रव्योंको जब—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण दृष्टिसे पांच प्रकारका बताया[3] तब भावविशेष गुणदृष्टिको पृथक् स्थान दिया है यह स्पष्ट है क्योंकि गुण वस्तुतः भाव अर्थात् पर्याय ही है। इसी प्रकार भगवान्ने जब करणके पांच प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावके भेदसे[4] बताये तब वहाँ भी प्रयोजनवशात् भावविशेष भवको पृथक् स्थान दिया है यह स्पष्ट है। इसी प्रकार जब द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव और संस्थान इन छः दृष्टिओंसे[5] तुल्यताका विचार किया है तब वहाँ भी भावविशेष भव और संस्थानको स्वातन्त्र्य दिया गया है। अत एव वस्तुतः मध्यममार्गसे चार दृष्टियाँ ही प्रधानरूपसे भगवान्को अभिमत हैं ऐसा मानना उपयुक्त है।

---

१ पृ० १६–२४। २ भगवती २.१.९० । ५.८.२२० । ११.१०.४२० । १४.४.५१३ । २०.४ । ३ भगवतीसूत्र २.१० । ४ भगवतीसूत्र १९.९ । ५ भगवतीसूत्र १४.७. ।

(२) द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक ।

उक्त चार दृष्टिओंका भी संक्षेप दो नयोंमें, आदेशोंमें या दृष्टिओंमें किया गया है। वे हैं द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक अर्थात् भावार्थिक। वस्तुतः देखा जाय तो काल और देशके भेदसे द्रव्योंमें विशेषताएँ अवश्य होती हैं। किसी भी विशेषता को काल या देश—क्षेत्रसे मुक्त नहीं किया जा सकता। अन्य कारणोंके साथ काल और देश भी अवश्य साधारण कारण होते हैं। अत एव काल और क्षेत्र, पर्यायोंके कारण होनेसे, यदि पर्यायोंमें समाविष्ट कर लिये जायँ तब मूलतः दो ही दृष्टियाँ रह जाती हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। अतएव आचार्य सिद्धसेनने यह स्पष्ट बताया है कि भगवान् महावीरके प्रवचनमें वस्तुतः येही मूल दो दृष्टियाँ हैं और शेष सभी दृष्टियाँ इन्ही दों की शाखा-प्रशाखाएँ हैं[२]।

जैन आगमोंमें सात मूल नयोंकी[३] गणना की गई है। उन सातोंके मूलमें तो ये दो नय हैं ही किन्तु 'जितने भी वचनमार्ग हो सकते हैं उतने ही नय हैं' इस[४] सिद्धसेनके कथनको सच मानकर यदि असंख्य नयोंकी कल्पना की जाय तब भी उन सभी नयोंका समावेश इन्ही दो नयोंमें हो जाता है ऐसी इन दो दृष्टिओंकी व्यापकता है।

इन्हीं दो दृष्टिओंके प्राधान्यसे भ० महावीरने जो उपदेश दिया था उसका संकलन जैनागमोंमें मिलता है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो दृष्टिओंसे भगवान् महावीरका क्या अभिप्राय था यह भी भगवतीके वर्णनसे स्पष्ट हो जाता है। नारक जीवोंकी शाश्वतता और अशाश्वतता का प्रतिपादन करते हुए भगवान्ने कहा है[५] कि अव्युच्छित्तिनयार्थताकी अपेक्षा वह शाश्वत है और व्युच्छित्तिनयार्थताकी अपेक्षासे वह अशाश्वत है। इससे स्पष्ट है कि वस्तुकी नित्यताका प्रतिपादन द्रव्यदृष्टि करती है और अनित्यताका प्रतिपादन पर्याय दृष्टि। अर्थात् द्रव्य नित्य है और पर्याय अनित्य। इसीसे यह भी फलित हो जाता है कि द्रव्यार्थिक दृष्टि अभेदगामी है और पर्यायार्थिक दृष्टि भेदगामी। क्योंकि नित्यमें अभेद होता है और अनित्यमें भेद। यह भी स्पष्ट हो जाता है कि द्रव्यदृष्टि एकत्वगामी है और पर्यायदृष्टि अनेकत्वगामी[६] क्योंकि नित्य एकरूप होता है और अनित्य वैसा नहीं। विच्छेद कालकृत, देशकृत और वस्तुकृत होता है और अविच्छेद भी। कालकृत विच्छिन्नको अनित्य, देशकृत विच्छिन्नको भिन्न और वस्तुकृत विच्छिन्नको अनेक कहा जाता है। कालसे अविच्छिन्नको नित्य, देशसे अविच्छिन्नको अभिन्न और वस्तुकृत अविच्छिन्नको एक कहा जाता है। इस प्रकार द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकका क्षेत्र इतना व्यापक है कि उसमें सभी दृष्टिओंका समावेश सहज रीतिसे हो जाता है।

भगवतीसूत्रमें पर्यायार्थिकके स्थानमें भावार्थिक शब्द भी आता है[७]। जो सूचित करता है कि पर्याय और भाव एकार्थक हैं।

(३) द्रव्यार्थिक-प्रदेशार्थिक ।

जैसे वस्तुको द्रव्य और पर्याय दृष्टिसे देखा जाता है उसी प्रकार द्रव्य और प्रदेशकी दृष्टिसे भी देखा जा सकता है[८]—ऐसा भगवान् महावीरका मन्तव्य है। पर्याय और प्रदेशमें क्या

---

१ भगवती ७.२.२७३ । १४.४.५१२ । १८.१० । २ सन्मति १.३ । ३ अनुयोगद्वार सू० १५६ । स्थानांग सू० ५५२ । ४ सन्मति ३.४७ । ५ भगवती ७.२.२७९ । ६ भगवती १८.१० में आत्माकी एकानेकता की घटना बताई है । वहाँ द्रव्य और पर्यायनयका आश्रयण स्पष्ट है । ७ भगवती ७.२.२७३ । ८ भगवती १८.१० । २५.३ । २५.४ । इत्यादि ।

अन्तर है यह विचारणीय है। एक ही द्रव्यकी नाना अवस्थाओंको या एक ही द्रव्यके देशकालकृत नानारूपोंको पर्याय कहा जाता है। जब कि द्रव्यके घटक अर्थात् अवयव ही प्रदेश कहे जाते हैं। भगवान् महावीरके मतानुसार कुछ द्रव्योंके प्रदेश नियत हैं और कुछके अनियत। सभी देश और सभी कालमें जीवके प्रदेश नियत हैं, कभी वे घटते भी नहीं और बढते भी नहीं, उतने ही रहते हैं। यही बात धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकायको भी लागू होती है। किन्तु पुद्गलस्कंध(अवयवी)के प्रदेशोंका नियम नहीं। उनमें न्यूनाधिकता होती रहती है। प्रदेश – अंश और द्रव्य – अंशीका परस्पर तादात्म्य होनेसे एक ही वस्तु द्रव्य और प्रदेशविषयक भिन्न भिन्न दृष्टिसे देखी जा सकती है। इस प्रकार देखनेपर विरोधी धर्मोंका समन्वय एक ही वस्तुमें घट जाता है।

भगवान् महावीरने अपने आपमें द्रव्यदृष्टि, पर्यायदृष्टि, प्रदेशदृष्टि और गुणदृष्टिसे नाना विरोधी धर्मोंका समन्वय दरसाया है। और कहा है कि मैं एक हूँ द्रव्य दृष्टिसे; दो हूँ ज्ञान और दर्शन रूप दो पर्यायोंकी अपेक्षासे; प्रदेश दृष्टिसे तो मैं अक्षय हूँ, अव्यय हूँ, अवस्थित हूँ; जब कि उपयोगकी दृष्टिसे मैं अस्थिर हूँ क्योंकि अनेक भूत, वर्तमान और भावी परिणामोंकी योग्यता रखता हूँ[1]। इससे स्पष्ट है कि प्रस्तुतमें उन्होंने पर्यायदृष्टिसे भिन्न ऐसी प्रदेश दृष्टिको भी माना है। परन्तु प्रस्तुत स्थलमें उन्होंने प्रदेश दृष्टिका उपयोग आत्माके अक्षय, अव्यय और अवस्थित धर्मोंके प्रकाशनमें किया है। क्योंकि पुद्गलप्रदेशकी तरह आत्मप्रदेश व्ययशील, अनवस्थित और क्षयी नहीं। आत्मप्रदेशोंमें कभी न्यूनाधिकता नहीं होती। इसी दृष्टिबिन्दुको सामने रखकर प्रदेश दृष्टिसे आत्माका अव्यय इत्यादि रूपसे उन्होंने वर्णन किया है।

प्रदेशार्थिक दृष्टिका एक दूसरा भी उपयोग है। द्रव्यदृष्टिसे एक वस्तुमें एकता ही होती है किन्तु उसी वस्तुकी अनेकता प्रदेशार्थिक दृष्टिसे बताई जा सकती है क्योंकि प्रदेशोंकी संख्या अनेक होती है। प्रज्ञापनामें द्रव्य दृष्टिसे धर्मास्तिकायको एक बताया है और उसीको प्रदेशार्थिक दृष्टिसे असंख्यातगुण भी बताया गया है। तुल्यता-अतुल्यताका विचार भी प्रदेशार्थिक और द्रव्यार्थिक की सहायतासे किया गया है। जो द्रव्य द्रव्यदृष्टिसे तुल्य होते हैं वही प्रदेशार्थिक दृष्टिसे अतुल्य हो जाते हैं। जैसे धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य दृष्टिसे एक एक होनेसे तुल्य हैं किन्तु प्रदेशार्थिक दृष्टिसे धर्म और अधर्म ही असंख्यात प्रदेशी होनेसे तुल्य हैं जब कि आकाश अनन्तप्रदेशी होनेसे अतुल्य हो जाता है। इसी प्रकार अन्य द्रव्योंमें भी इन द्रव्य-प्रदेशदृष्टिओंके अवलम्बनसे तुल्यता-अतुल्यतारूप विरोधी धर्मों और विरोधी संख्याओंका समन्वय भी हो जाता है[2]।

(४) ओघादेश-विधानादेश।

तिर्यग्सामान्य और उसके विशेषोंको व्यक्त करनेके लिये जैनशास्त्रमें क्रमशः ओघ और विधान शब्द प्रयुक्त हुए हैं। किसी वस्तुका विचार इन दो दृष्टिओंसे भी किया जा सकता है। कृतयुग्मादि संख्याका विचार ओघादेश और विधानादेश इन दो दृष्टिओंसे भ० महावीरने किया है[3]। उसीसे हमें यह सूचना मिल जाती है कि इन दो दृष्टिओंका प्रयोग कब करना चाहिए।

१ भगवती १८.१०। २ प्रज्ञापना पद ३. सूत्र ५४–५६। भगवती. २५.४। ३ भगवती २५.४।

सामान्यतः यह प्रतीत होता है कि वस्तुकी संख्या तथा भेदाभेदके विचारमें इन दोनों दृष्टिओंका उपयोग किया जा सकता है ।

(५) व्यावहारिक और नैश्चयिक नय ।

प्राचीन कालसे दार्शनिकोंमें यह संघर्ष चला आता है कि वस्तुका कौनसा रूप सत्य है– जो इन्द्रियगम्य है वह या इन्द्रियातीत अर्थात् प्रज्ञागम्य है वह ? उपनिषदों के कुछ ऋषि प्रज्ञावादका आश्रयण करके मानते रहे कि आत्माद्वैत ही परम तत्त्व है उसके अतिरिक्त दृश्यमान सब शब्दमात्र है, विकारमात्र है या नाममात्र है[१] उसमें कोई तथ्य नहीं । किन्तु उस समय भी सभी ऋषिओंका यह मत नहीं था । चार्वाक या भौतिकवादी तो इन्द्रियगम्य वस्तुको ही परमतत्त्व-रूपसे स्थापित करते रहे । इस प्रकार प्रज्ञा या इन्द्रियके प्राधान्यको लेकर दार्शनिकोंमें विरोध चल रहा था । इसी विरोधका समन्वय भगवान् महावीरने व्यावहारिक और नैश्चयिक नयोंकी कल्पना करके किया है । अपने अपने क्षेत्रमें ये दोनों नय सत्य हैं । व्यावहारिक सभी मिथ्या ही है या नैश्चयिक ही सत्य है ऐसा भगवान् को मान्य नहीं है । भगवान्‌का अभिप्राय यह है कि व्यवहारमें लोक इन्द्रियोंके दर्शनकी प्रधानतासे वस्तुके स्थूल रूपका निर्णय करते हैं और अपना निर्बाध व्यवहार चलाते हैं अत एव वह लौकिक नय है । पर स्थूल रूपके अलावा वस्तुका सूक्ष्मरूप भी होता है जो इन्द्रियगम्य न होकर केवल प्रज्ञागम्य है । यही प्रज्ञामार्ग नैश्चयिक नय है । इन दोनों नयोंके द्वारा ही वस्तुका संपूर्ण दर्शन होता है ।

गौतमने भ० महावीरसे पूछा कि भन्ते ? फाणित–प्रवाही गुडमें कितने वर्ण गन्ध रस और स्पर्श होते हैं ? इसके उत्तरमें उन्होंने कहा कि गौतम ! मैं इस प्रश्नका उत्तर दो नयोंसे देता हूँ–व्यावहारिकनय की अपेक्षासे तो वह मधुर कहा जाता है । पर नैश्चयिक नयसे वह पांच वर्ण, द्विगन्ध, पांच रस और आठ स्पर्शोंसे युक्त है । भ्रमरके विषयमें भी उनका कथन है कि व्यावहारिक दृष्टिसे भ्रमर कृष्ण है पर नैश्चयिक दृष्टिसे उसमें पांचों वर्ण, दोनों गन्ध, पांचों रस और आठों स्पर्श होते है । इसी प्रकार उन्होंने उक्त प्रसंगमें अनेक विषयों को लेकर व्यवहार और निश्चय नयसे उनका विश्लेषण किया है[२] ।

आगेके जैनाचार्योंने व्यवहार-निश्चयनयका तत्त्वज्ञानके अनेक विषयोंमें प्रयोग किया है इतना ही नहीं बल्कि तत्त्वज्ञानके अतिरिक्त आचारके अनेक विषयोंमें भी इन नयोंका उपयोग करके विरोधपरिहार किया है ।

जब तक उक्त सभी प्रकारके नयोंको न समझा जाय तब तक अनेकान्तवादका समर्थन होना कठिन है । अत एव भगवान्‌ने अपने मन्तव्योंके समर्थन में नाना नयोंका प्रयोग करके शिष्योंको अनेकान्तवाद हृदयंगम करा दिया है । ये ही नय अनेकान्तवादरूपी महाप्रासादकी भूमिकारूप हैं ऐसा कहा जाय तो अनुचित न होगा ।

§७. नाम-स्थापना-द्रव्य-भाव ।

जैन सूत्रोंकी व्याख्याविधि अनुयोगद्वार सूत्रमें बताई गई है । यह विधि कितनी प्राचीन है, इसके विषयमें निश्चित कुछ कहा नहीं जा सकता । किन्तु अनुयोगद्वारके परिशीलनकर्ताको

१ Constructive survey of Upanishadic Philosophy p. 227 । छान्दोग्योपनिषद् ६.१.४ । २ भगवती १८.६ ।

इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि व्याख्याविधिका अनुयोगद्वारगतरूप स्थिर होनेमें पर्याप्त समय व्यतीत हुआ होगा। यह विधि स्वयं भ० महावीरकी देन है या पूर्ववर्ती? इस विषयमें इतना ही निश्चयरूपसे कहा जा सकता है कि पूर्ववर्ती न हो तब भी—उनके समयमें उस विधिका एक निश्चितरूप बनगया था। अनुयोग या व्याख्याके द्वारोंके वर्णनमें नाम, स्थापना द्रव्य और भाव इन चार निक्षेपोंका वर्णन आता है। यद्यपि नयोंकी तरह निक्षेप भी अनेक हैं तथापि अधिकांशमें उक्त चार निक्षेपोंको ही प्राधान्य दिया गया है—

"जत्थ य जं जाणेज्जा निक्खेवं निक्खिवे निरवसेसं।
जत्थ वि य न जाणिज्जा चउक्कं निक्खिवे तत्थ॥" अनुयोगद्वार ८।

अत एव इन्हीं चार निक्षेपोंका उपदेश भगवान् महावीरने दिया होगा ऐसा प्रतीत होता है। अनुयोगद्वारसूत्रमें तो निक्षेपोंके विषयमें पर्याप्त विवेचन है किन्तु वह गणधरकृत नहीं समझा जाता। गणधरकृत अंगोंमेंसे स्थानांग सूत्रमें 'सर्व' के जो प्रकार गिनाये हैं वे सूचित करते हैं कि निक्षेपोंका उपदेश स्वयं भ० महावीरने दिया होगा—

"चत्तारि सव्वा पन्नत्ता—नामसव्वए ठवणसव्वए आएससव्वए निरवसेससव्वए"
स्थानांग २९९।

प्रस्तुत सूत्रमें सर्वके निक्षेप बताये गए हैं। उनमें नाम और स्थापना निक्षेपोंको तो शब्दतः तथा द्रव्य और भावको अर्थतः बताया है। द्रव्यका अर्थ उपचार या अप्रधान होता है और आदेशका अर्थ भी वही है। अत एव 'द्रव्यसर्व' न कह करके 'आदेश सर्व'[1] कहा। सर्व शब्दका तात्पर्यार्थ निरवशेष है। भावनिक्षेप तात्पर्यग्राही है। अत एव 'भाव सर्व' कहनेके बजाय 'निरवशेष सर्व' कहा गया है।

अत एव निक्षेपोंने भगवान्के मौलिक उपदेशोंमें स्थान पाया है ऐसा कहा जा सकता है।

शब्द व्यवहार तो हम करते हैं क्योंकि इसके बिना हमारा काम चलता नहीं। किन्तु कभी ऐसा हो जाता है कि इन्ही शब्दोंके ठीक अर्थको—वक्ताके विवक्षित अर्थको न समझनेसे बडा अनर्थ हो जाता है। इसी अनर्थका निवारण निक्षेपविद्याके द्वारा भगवान् महावीरने किया है। निक्षेपका मतलब है अर्थनिरूपण पद्धति। भगवान् महावीरने शब्दोंके प्रयोगोंको चार प्रकारके अर्थोंमें विभक्त कर दिया है—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। प्रत्येक शब्दका व्युत्पत्तिसिद्ध एक अर्थ होता है किन्तु वक्ता सदा उसी व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थकी विवक्षा करता ही है यह बात व्यवहारमें देखी नहीं जाती। इन्द्रशब्दका व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ कुछ भी हो किन्तु यदि उस अर्थकी उपेक्षा करके जिस किसी वस्तुमें संकेत किया जाय कि यह इन्द्र है तो वहाँ इन्द्र शब्दका प्रयोग किसी व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थके बोधके लिये नहीं किन्तु नाममात्रका निर्देश करनेके लिये हुआ है अत एव वहाँ इन्द्रशब्दका अर्थ नाम इन्द्र है। यह नाम निक्षेप है[2]। इन्द्रकी मूर्तिको जो इन्द्र कहा जाता है वहाँ सिर्फ नाम नहीं किन्तु वह मूर्ति इन्द्रका प्रतिनिधित्व करती

---

१ भद्रबाहु, जिनभद्र और यति वृषभके उल्लेखोंसे यह भी प्रतीत होता है कि निक्षेपोंमें 'आदेश' यह एक द्रव्यसे स्वतन्त्र निक्षेप भी था। यदि सूत्रकारको वही अभिप्रेत हो तो प्रस्तुत सूत्रमें द्रव्य निक्षेप उल्लिखित नहीं है ऐसा समझना चाहिए। जयधवला पृ० २८३। २ "यद्वस्तुनोभिधानं स्थितमन्यार्थे तदर्थनिरपेक्षं। पर्यायानभिधेयं च नाम याद्दच्छिकं च तथा॥" अनु० टी० पृ० ११।

है ऐसा ही भाव वक्ताको विवक्षित है अत एव वह स्थापना इन्द्र है । यह दूसरा स्थापना निक्षेप है[1] । इन दोनों निक्षेपोंमें शब्दके व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थकी उपेक्षा की गई है यह स्पष्ट है । द्रव्य निक्षेपका विषय द्रव्य होता है अर्थात् भूत और भाविपर्यायोंमें जो अनुयायी द्रव्य है उसीकी विवक्षासे जो व्यवहार किया जाता है वह द्रव्य निक्षेप है । जैसे कोई जीव इन्द्र होकर मनुष्य हुआ या मरकर मनुष्यसे इन्द्र होगा तब वर्तमान मनुष्य अवस्थाको इन्द्र कहना यह द्रव्य इन्द्र है । इन्द्रभावापन्न जो जीव द्रव्य था वही अभी मनुष्यरूप है अत एव उसे मनुष्य न कह करके इन्द्र कहा गया है । या भविष्यमें इन्द्रभावापत्तिके योग्य भी यही मनुष्य है ऐसा समजकर भी उसे इन्द्र कहना यह द्रव्य निक्षेप है । वचन व्यवहारमें जो हम कार्यमें कारणका या कारणमें कार्यका उपचार करके जो औपचारिक प्रयोग करते हैं वे सभी द्रव्यान्तर्गत हैं[2] ।

व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ उस शब्दका भाव निक्षेप है । परमैश्वर्य संपन्न जीव भाव इन्द्र है यानि यथार्थ इन्द्र है[3] ।

वस्तुतः जुदे जुदे शब्दव्यवहारोंके कारण जो विरोधी अर्थ उपस्थित होते हैं उन सभी अर्थोंकी विवक्षाको समझना और अपने इष्ट अर्थका बोध करना-कराना, इसीके लिये ही भगवान्‌ने निक्षेपोंकी योजना की है यह स्पष्ट है ।

जैनदार्शनिकोंने इस निक्षेपतत्त्वको भी नयोंकी तरह विकसित किया है । और इन निक्षेपोंके सहारे शब्दाद्वैतवाद आदि विरोधी वादोंका समन्वय करनेका प्रयत्न भी किया है ।

[२] प्रमाणतत्त्व ।

§१. ज्ञानचर्चाकी जैनदृष्टि ।

जैन आगमोंमें अद्वैतवादिओं की तरह जगत्‌को वस्तु और अवस्तु—मायामें तो विभक्त नहीं किया है किन्तु संसारकी प्रत्येक वस्तुमें स्वभाव और विभाव सन्निहित है ऐसा प्रतिपादित किया है । वस्तुका परानपेक्ष जो रूप है वह स्वभाव है, जैसे, आत्माका चैतन्य, ज्ञान, सुख आदि, और पुद्गलकी जडता । किसी भी कालमें आत्मा ज्ञान या चेतना रहित नहीं और पुद्गलमें जडता भी त्रिकालाबाधित है । वस्तुका जो परसापेक्षरूप है वह विभाव है जैसे आत्माका मनुष्यत्व, देवत्व आदि और पुद्गलका शरीररूप परिणाम । मनुष्यको हम न तो कोरा आत्मा ही कह सकते हैं और न कोरा पुद्गल ही । इसी तरह शरीर भी सिर्फ पुद्गलरूप नहीं कहा जा सकता । आत्माका मनुष्यरूप होना परसापेक्ष है और पुद्गलका शरीररूप होना भी परसापेक्ष है । अतः आत्माका मनुष्यरूप और पुद्गलका शरीररूप ये दोनों क्रमशः आत्मा और पुद्गलके विभाव हैं ।

---

१ "यत्तु तदर्थवियुक्तं तदभिप्रायेण यच्च तत्करणि । लेप्यादिकर्म तत् स्थापनेति क्रियतेऽल्पकालं च ॥" अनु० टी० १२ । २ "भूतस्य भाविनो वा भावस्य हि कारणं तु यल्लोके । तत् द्रव्यं तत्त्वज्ञैः सचेतनाचेतनं कथितम् ॥" अनु० टी० पृ० १४ । ३ "भावो विवक्षितक्रियाऽनुभूतियुक्तो हि वै समाख्यातः । सर्वज्ञैरिन्द्रादिवदिहेन्दनादिक्रियानुभवात् ॥" अनु० टी० पृ० २८ ।

स्वभाव ही सत्य है और विभाव मिथ्या है ऐसा जैनोंने कभी प्रतिपादित नहीं किया। क्योंकि उनके मतमें त्रिकालाबाधित वस्तु ही सत्य है ऐसा एकान्त नहीं। प्रत्येक वस्तु, फिर वह अपने स्वभावमें ही स्थित हो वा विभावमें वर्तमान हो, सत्य है। हाँ, तद्विषयक हमारा ज्ञान मिथ्या हो सकता है, लेकिन वह भी तब, जब हम स्वभावको विभाव समझें या विभावको स्वभाव यानी तत् में अतत् का ज्ञान होने पर ज्ञान में मिथ्यात्वकी संभावना है।

विज्ञानवादि बौद्धोंने प्रत्यक्ष ज्ञानको वस्तुग्राहक और साक्षात्कारात्मक तथा इतर ज्ञानोंको अवस्तुग्राहक, भ्रामक, अस्पष्ट और असाक्षात्कारात्मक माना है। जैनागमोंमें इन्द्रियनिरपेक्ष ऐसे मात्र आत्मसापेक्ष ज्ञानको ही साक्षात्कारात्मक प्रत्यक्ष कहा गया है तथा इन्द्रियसापेक्ष ज्ञानोंको असाक्षात्कारात्मक और परोक्ष माना गया है। जैनदृष्टिसे प्रत्यक्ष ही वस्तुके स्वभाव और विभावका साक्षात्कार कर सकता है और वस्तुका विभावसे पृथक् ऐसा जो स्वभाव है उसका स्पष्ट पता लगा सकता है। इन्द्रियसापेक्ष ज्ञानमें यह कभी संभव नहीं कि वह किसी वस्तुका साक्षात्कार कर सके और किसी वस्तुके स्वभावको विभावसे पृथक् कर उसको स्पष्ट जान सके। लेकिन इसका मतलब जैन मतानुसार यह कभी नहीं कि इन्द्रियसापेक्ष ज्ञान भ्रम है। विज्ञानवादि बौद्धोंने तो परोक्ष ज्ञानोंको अवस्तुग्राहक होनेसे भ्रम ही कहा है किन्तु जैनाचार्योंने वैसा नहीं माना। क्योंकि उनके मतमें विभाव भी वस्तुका परिणाम है अत एव वह भी वस्तुका एक रूप है। अतः उसका ग्राहकज्ञान भ्रम नहीं कहा जा सकता। वह अस्पष्ट हो सकता है, साक्षात्काररूप न भी हो तब भी वस्तुस्पर्शी तो है ही।

भगवान् महावीरसे लेकर उ० यशोविजयजी तकके साहित्यको देखनेसे यही पता लगता है कि जैनोंकी ज्ञानचर्चामें उपर्युक्त मुख्य सिद्धान्तकी कभी उपेक्षा नहीं की गई बल्कि यों कहना चाहिए कि ज्ञानकी जो कुछ चर्चा हुई है वह उसी मध्यबिन्दुके आसपास ही हुई है। उपर्युक्त सिद्धान्तका प्रतिपादन प्राचीन कालके आगमोंसे लेकर अबतकके जैन साहित्यमें अविच्छिन्न रूपसे होता चला आया है।

§२. आगममें ज्ञानचर्चाके विकासकी भूमिकाएँ–

पंचज्ञानचर्चा जैन परंपरामें भगवान् महावीरसे भी पहले होती थी इसका प्रमाण राजप्रश्नीय सूत्रमें है। भगवान् महावीरने अपने मूँहसे अतीतमें होनेवाले केशीकुमार श्रमणका वृत्तान्त राजप्रश्नीयमें कहा है। शास्त्रकारने केशी कुमारके मुखसे निम्न वाक्य कहलवाया है–

"एवं खु पएसी अम्हं समणाणं निग्गंथाणं पंचविहे नाणे पण्णत्ते–तंजहा आभिणिबोहियनाणे सुयनाणे ओहिणाणे मणपज्जवणाणे केवलणाणे" (सू० १६५) इत्यादि

इस वाक्यसे स्पष्ट फलित यह होता है कि कमसे कम उक्त आगमके संकलनकर्ताके मतसे भगवान् महावीरसे पहले भी श्रमणोंमें पांच ज्ञानोंकी मान्यता थी। उनकी यह मान्यता निर्मूल भी नहीं। उत्तराध्ययनके २३ वें अध्ययनसे स्पष्ट है कि भगवान् महावीरने आचारविषयक कुछ संशोधनोंके अतिरिक्त पार्श्वनाथके तत्त्वज्ञानमें विशेष संशोधन नहीं किया। यदि भगवान् महावीरने तत्त्वज्ञानमें भी कुछ नई कल्पनाएँ की होती तो उनका निरूपण भी उत्तराध्ययनमें होता।

आगमोंमें पांचज्ञानोंके भेदोपभेदोंका जो वर्णन है, कर्मशास्त्रमें ज्ञानावरणीयके जो भेदोपभेदोंका वर्णन है, जीवमार्गणाओंमें पांच ज्ञानोंकी जो घटना वर्णित है, तथा पूर्वगतमें ज्ञानोंका स्वतन्त्र निरूपण करनेवाला जो ज्ञानप्रवाद पूर्व है इन सबसे यही फलित होता है कि पंचज्ञानकी चर्चा यह भगवान् महावीरने नई नहीं शुरू की है किन्तु पूर्वपरंपरासे जो चली आती थी उसका ही स्वीकार कर उसे आगे बढ़ाया है।

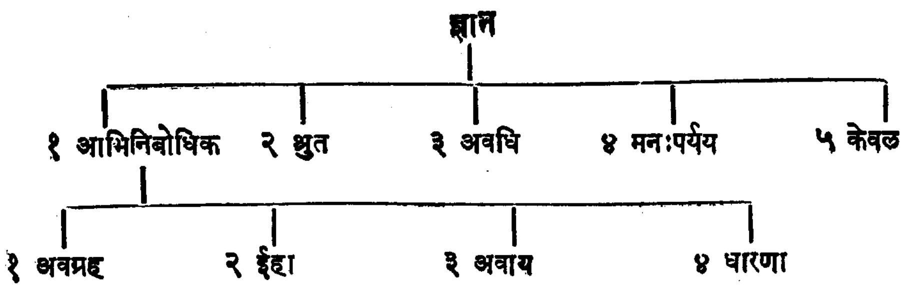
इस ज्ञान चर्चाके विकासक्रमको आगमके ही आधार पर देखना हो तो उसकी तीन भूमिकाएँ हमें स्पष्ट दीखती हैं—

(१) प्रथम भूमिका तो वह है जिसमें ज्ञानोंको पांच भेदोंमें ही विभक्त किया गया है।

(२) द्वितीय भूमिकामें ज्ञानोंको प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो भेदोंमें विभक्त करके पांच ज्ञानोंमेंसे मति और श्रुतको परोक्षान्तर्गत और शेष अवधि, मनःपर्यय और केवलको प्रत्यक्षमें अन्तर्गत किया गया है। इस भूमिकामें लोकानुसरण करके इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षको अर्थात् इन्द्रियजमतिको प्रत्यक्षमें स्थान नहीं दिया है किन्तु जैन सिद्धान्तके अनुसार जो ज्ञान आत्ममात्रसापेक्ष हैं उन्हें ही प्रत्यक्षमें स्थान दिया गया है। और जो ज्ञान आत्माके अतिरिक्त अन्य साधनोंकी भी अपेक्षा रखते हैं उनका समावेश परोक्षमें किया गया है। यही कारण है कि इन्द्रियजन्य ज्ञान जिसे जैनेतर सभी दार्शनिकोंने प्रत्यक्ष कहा है प्रत्यक्षान्तर्गत नहीं माना गया।

(३) तृतीयभूमिकामें इन्द्रियजन्य ज्ञानोंको प्रत्यक्ष और परोक्ष उभयमें स्थान दिया गया है। इस भूमिकामें लोकानुसरण स्पष्ट है।

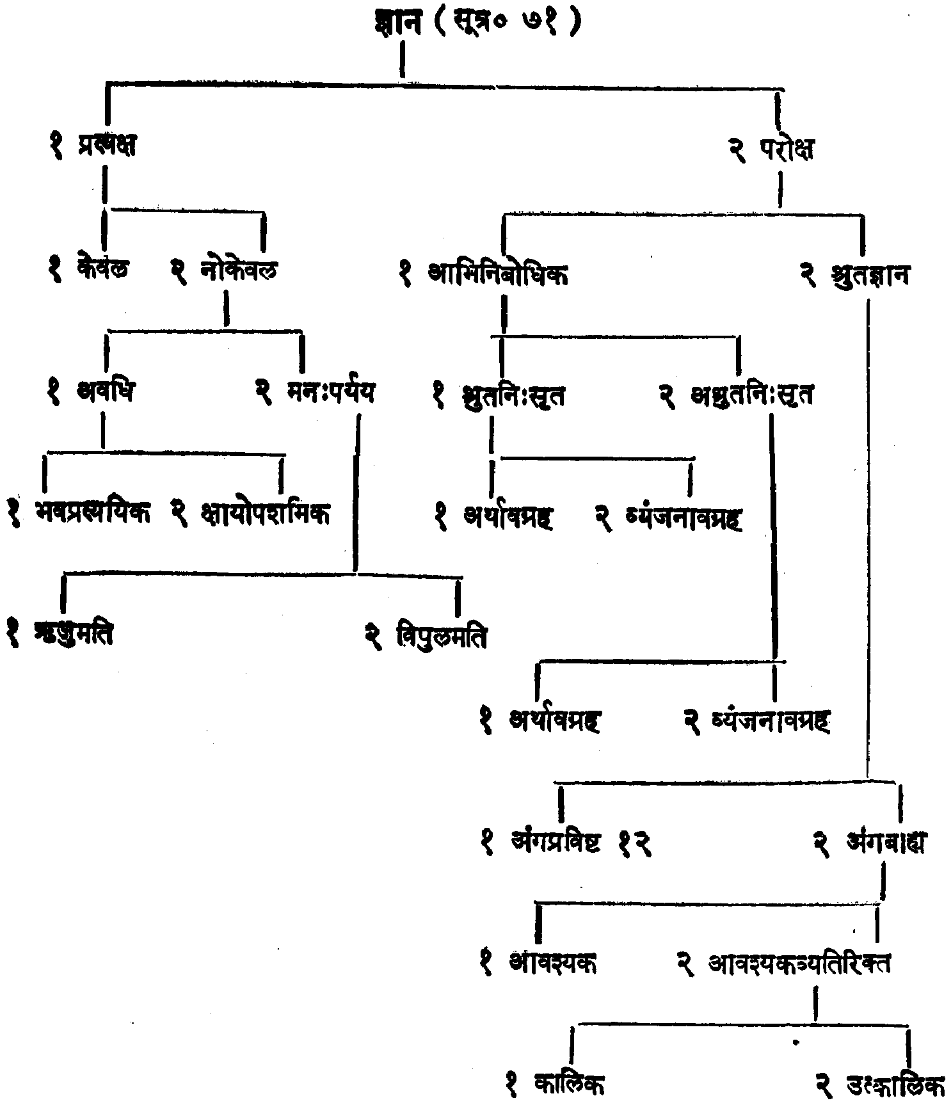
(१) प्रथम भूमिकाके अनुसार ज्ञानका वर्णन हमें भगवती सूत्रमें (८८.२.३१७) मिलता है। उसके अनुसार ज्ञानोंको निम्न सूचित नकशेके अनुसार विभक्त किया गया है—



सूत्रकारने आगेका वर्णन राजप्रश्नीयसे पूर्ण कर लेनेकी सूचना दी है। और राजप्रश्नीयको (सू० १६५) देखनेपर मालूम होता है कि उसमें पूर्वोक्त नकशेमें सूचित कथनके अलावा अवग्रहके दो भेदोंका कथन करके शेषकी पूर्ति नन्दीसूत्रसे कर लेनेकी सूचना दी है।

सार यही है कि शेष वर्णन नन्दी के अनुसार होते हुए भी फर्क यह है कि इस भूमिकामें नन्दीसूत्रके प्रारंभ में कथित प्रत्यक्ष और परोक्ष भेदोंका जिक्र नहीं है। और दूसरी बात यह भी है कि नन्दीकी तरह इसमें आभिनिबोधके श्रुतनिःसृत और अश्रुतनिःसृत ऐसे दो भेदोंको भी स्थान नहीं है। इसीसे कहा जा सकता है कि यह वर्णन प्राचीन भूमिकाका है।

(२) स्थानांगगत ज्ञान चर्चा द्वितीयभूमिकाकी प्रतिनिधि है। उसमें ज्ञानको प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो भेदोंमें विभक्त करके उन्ही दोमें पंच ज्ञानोंकी योजना की गई है –



इस नकशेमें यह स्पष्ट है कि ज्ञानके मुख्य दो भेद किये गये हैं, पांच नहीं। पांच ज्ञानोंको तो उन दो भेद – प्रत्यक्ष और परोक्षके प्रभेदरूपसे गिना है। यह स्पष्ट ही प्राथमिक भूमिकाका विकास है। इसी भूमिकाके आधार पर उमास्वातिने भी प्रमाणोंको प्रत्यक्ष और परोक्षमें विभक्त करके उन्ही दोमें पंचज्ञानोंका समावेश किया है।

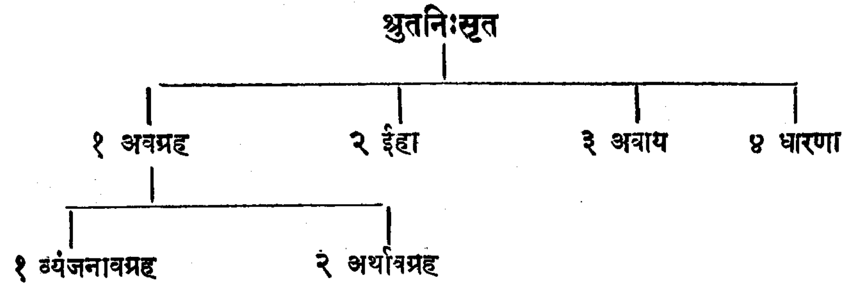
बादमें होनेवाले जैनतार्किकोंने प्रत्यक्षके दो भेद बताये हैं – विकल और सकल[1]। केवलका

---

1 प्रमाणन० २.२० ।

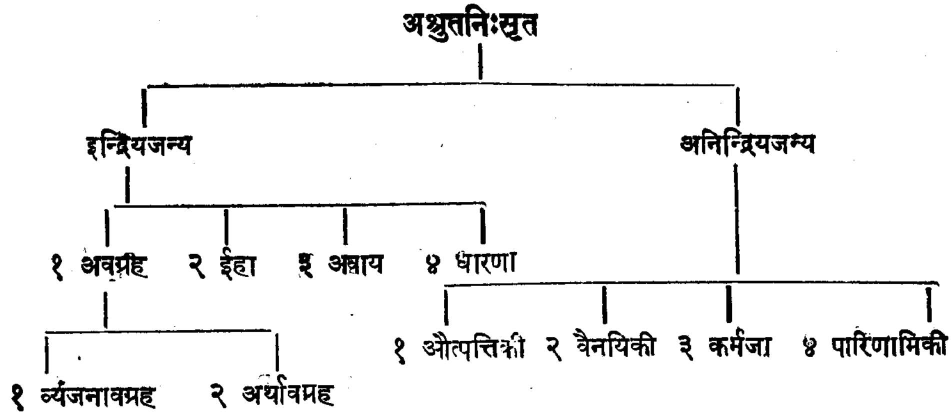
अर्थ होता है सर्व – सकल और नोकेवलका अर्थ होता है असर्व – विकल । अत एव तार्किकोंके उक्त वर्गीकरणका मूल स्थानांग जितना तो पुराना मानना ही चाहिए ।

यहाँ पर एक बात और भी ध्यान देनेके योग्य है । स्थानांगमें श्रुतनिःसृतके भेदरूपसे व्यञ्जनावग्रह और अर्थावग्रह ये दो बताये हैं । वस्तुतः वहाँ इसप्रकार कहना प्राप्त था –



किन्तु स्थानांगमें द्वितीय स्थानकका प्रकरण होनेसे दो दो बातें गिनाना चाहिए ऐसा समझकर अवग्रह, ईहा, आदि चार भेदोंको छोडकर सीधे अवग्रहके दो भेद ही गिनाये गये हैं ।

एक दूसरी बातकी ओर भी ध्यान देना जरूरी है । अश्रुतनिःसृतके भेदरूपसे भी व्यञ्जनावग्रह और अर्थावग्रहको गिना है किन्तु वहाँ टीकाकारके मतसे ऐसा चाहिए –



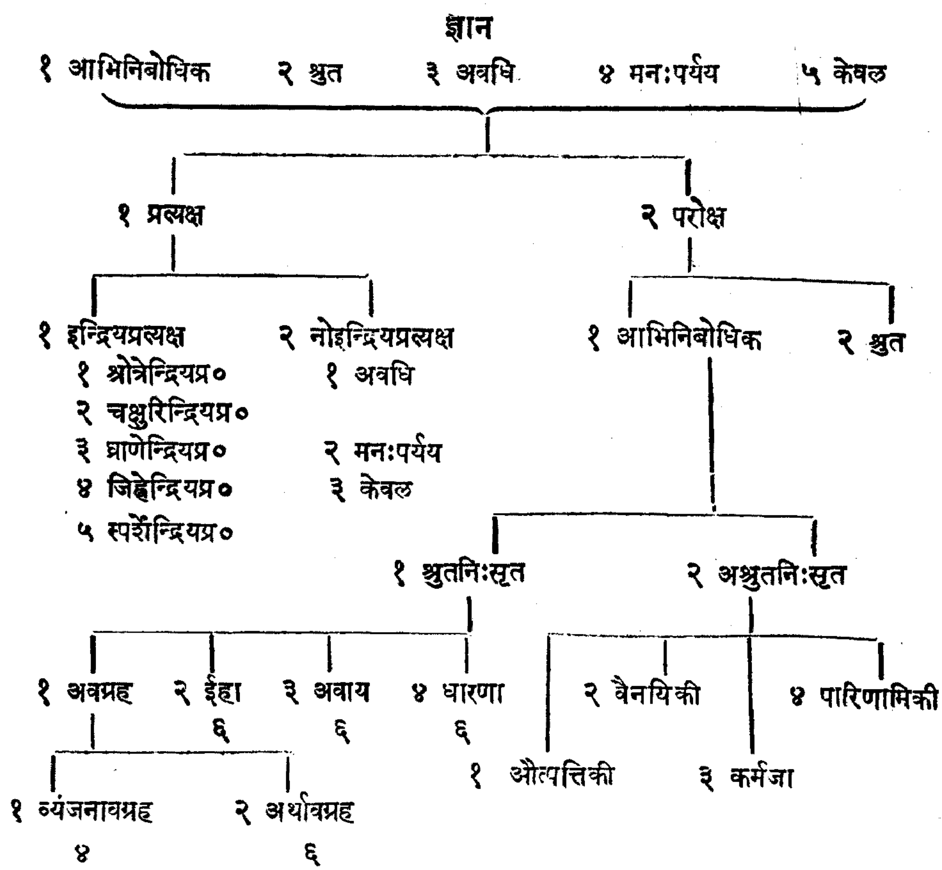
औत्पत्तिकी आदि चार बुद्धियाँ मानस होने से उनमें व्यञ्जनावग्रहका संभव नहीं । अतएव मूलकारका कथन इन्द्रियजन्य अश्रुतनिःसृतकी अपेक्षासे द्वितीयस्थानकके अनुकूल हुआ है ऐसा टीकाकारका स्पष्टीकरण है । किन्तु यहाँ प्रश्न है कि क्या अश्रुतनिःसृतमें औत्पत्तिकी आदिके अतिरिक्त इन्द्रियजज्ञानोंका समावेश साधार है ? और यह भी प्रश्न है कि आभिनिबोधिकके श्रुतनिःसृत और अश्रुतनिःसृत ऐसे भेद क्या प्राचीन है ? यानी क्या ऐसा भेद प्रथमभूमिकाके समय होता था ?

नन्दीसूत्र जो कि मात्र ज्ञानकी ही विस्तृत चर्चा करनेके लिये बना है, उसमें श्रुतनिःसृतमतिके ही अवग्रह आदि चार भेद हैं । और अश्रुतनिःसृतके भेदरूपसे चार बुद्धिओंको गिना दिया गया है । उसमें इन्द्रियज अश्रुतनिःसृतको कोई स्थान नहीं है । अत एव टीकाकारका

स्पष्टीकरण कि अश्रुतनिःसृतके वे दो भेद इन्द्रियज अश्रुतनिःसृतकी अपेक्षासे समझना चाहिए, नन्दीसूत्रानुकूल नहीं किन्तु कल्पित है। मतिज्ञानके श्रुतनिःसृत और अश्रुतनिःसृत ऐसे दो भेद भी प्राचीन नहीं। दिगम्बरीयवाङ्मयमें मतिके ऐसे दो भेद करनेकी प्रथा नहीं। आवश्यक निर्युक्तिके ज्ञानवर्णनमें भी मतिके उन दोनों भेदोंने स्थान नहीं पाया है।

आचार्य उमास्वातिने तत्त्वार्थसूत्रमें भी उन दोनों भेदोंका उल्लेख नहीं किया है। यद्यपि स्वयं नन्दीकारने नन्दीमें मतिके श्रुतनिःसृत और अश्रुतनिःसृत ऐसे दो भेद तो किये हैं तथापि मतिज्ञानको पुरानी परंपराके अनुसार अठाईस भेदवाला ही कहा है[1] उससे भी यही सूचित होता है कि औत्पत्तिकी आदि बुद्धिओंको मतिमें समाविष्ट करनेके लिये ही उन्होंने मतिके दो भेद तो किये पर प्राचीन परंपरामें मतिमें उनका स्थान न होनेमे[2] नन्दी कारने उसे २८ भेदभिन्न ही कहा। अन्यथा उन चार बुद्धिओं को मिलाने से तो वह ३२ भेदभिन्न ही हो जाता है।

(३) तृतीय भूमिका नन्दीसूत्रगत ज्ञानचर्चामें व्यक्त होती है—वह इस प्रकार—



[1] "एवं अट्ठावीसइविहस्स आभिणिबोहियनाणस्स" इत्यादि नन्दी० ३५।

[2] स्थानांगमें ये दो भेद मिलते हैं। किन्तु वह नन्दीप्रभावित हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

अंकित नकशेको देखनेसे स्पष्ट हो जाता है कि सर्वप्रथम इसमें ज्ञानोंको पांच भेदमें विभक्त करके संक्षेपसे उन्हींको प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो भेदोंमें विभक्त किया गया है। स्थानांगसे विशेषता यह है कि इसमें इन्द्रियजन्य पांच मतिज्ञानोंका स्थान प्रत्यक्ष और परोक्ष उभयमें है। क्योंकि जैनेतर सभी दर्शनोंने इन्द्रियजन्य ज्ञानोंको परोक्ष नहीं किन्तु प्रत्यक्ष माना है, उनको प्रत्यक्षमें स्थान देकर उस लौकिक मतका समन्वय करना भी नन्दीकारको अभिप्रेत था। आचार्य जिनभद्रने इस समन्वय को लक्ष्यमें रखकर ही स्पष्टीकरण किया है कि वस्तुतः इन्द्रियज प्रत्यक्षको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहना चाहिए। अर्थात् लोकव्यवहारके अनुरोधसे ही इन्द्रियज मतिको प्रत्यक्ष कहा गया है। वस्तुतः वह परोक्ष ही है। क्योंकि प्रत्यक्षकोटिमें परमार्थतः आत्ममात्र सापेक्ष ऐसे अवधि, मनःपर्यय और केवल ये तीन ही हैं। अतः इस भूमिकामें ज्ञानोंका प्रत्यक्ष-परोक्षत्व व्यवहार इस प्रकार स्थिर हुवा—

१ अवधि, मनःपर्यय और केवल पारमार्थिक प्रत्यक्ष हैं।

२ श्रुत परोक्ष ही है।

३ इन्द्रियजन्य मतिज्ञान पारमार्थिक दृष्टिसे परोक्ष है और व्यावहारिक दृष्टिसे प्रत्यक्ष है।

४ मनोजन्य मतिज्ञान परोक्ष ही है।

आचार्य अकलंकने तथा तदनुसारी अन्य जैनाचार्योंने प्रत्यक्षके सांव्यवहारिक और पारमार्थिक ऐसे जो दो भेद किये हैं सो उनकी नई सूझ नहीं है। किन्तु उसका मूल नन्दीसूत्र और उसके जिनभद्रकृत स्पष्टीकरणमें[1] है।

§ ३. ज्ञानचर्चाका प्रमाणचर्चासे स्वातन्त्र्य।

पंचज्ञानचर्चाके क्रमिक विकास की उक्त तीनों आगमिक भूमिकाकी एक खास विशेषता यह रही है कि इनमें ज्ञानचर्चाके साथ इतर दर्शनोंमें प्रसिद्ध प्रमाणचर्चाका कोई सम्बन्ध या समन्वय स्थापित नहीं किया गया है। इन ज्ञानोंमें ही सम्यक्त्व और मिथ्यात्वके भेदके द्वारा जैनागमिकोंने वही प्रयोजन सिद्ध किया है जो दूसरोंने प्रमाण और अप्रमाणके विभागके द्वारा सिद्ध किया है। अर्थात् आगमिकोंने प्रमाण या अप्रमाण ऐसे विशेषण विना दिये ही प्रथमके तीनोंमें अज्ञान — विपर्यय — मिथ्यात्वकी तथा सम्यक्त्वकी संभावना मानी है और अंतिम दोमें एकान्त सम्यक्त्व ही बतलाया है। इस प्रकार ज्ञानोंको प्रमाण या अप्रमाण न कह करके भी उन विशेषणोंका प्रयोजन तो दूसरी तरहसे निष्पन्न कर ही दिया है।

जैन आगमिक आचार्य प्रमाणाप्रमाणचर्चा, जो दूसरे दार्शनिकोंमें चलती थी, उससे सर्वथा अनभिज्ञ तो थे ही नहीं किन्तु वे उस चर्चाको अपनी मौलिक और स्वतन्त्र ऐसी ज्ञानचर्चासे पृथक् ही रखते थे। जब आगमोंमें ज्ञानका वर्णन आता है तब प्रमाणों या अप्रमाणों से उन ज्ञानोंका क्या संबन्ध है उसे बतानेका प्रयत्न नहीं किया है। और जब प्रमाणोंकी चर्चा आती है तब, किसी प्रमाणको ज्ञान कहते हुए भी आगम प्रसिद्ध पांच ज्ञानों का समावेश और समन्वय उस में किस प्रकार है यह भी नहीं बताया है इससे फलित यही होता है कि आगमिकोंने

---

1 "एगन्तेण परोक्खं लिंगियमोहाइयं च पच्चक्खं।
इंदियमणोभवं जं तं संववहारपच्चक्खं॥" विशेषा० ९५।

जैनशास्त्रप्रसिद्ध ज्ञानचर्चा और दर्शनान्तरप्रसिद्ध प्रमाणचर्चाका समन्वय करनेका प्रयत्न नहीं किया—दोनों चर्चाका पार्थक्य ही रखा । आगेके वक्तव्यसे यह बात स्पष्ट हो जायगी ।

§४. जैन आगमोंमें प्रमाणचर्चा ।

(१) प्रमाणके भेद ।

जैन आगमोंमें प्रमाणचर्चा ज्ञानचर्चासे स्वतन्त्ररूपसे आती है । प्रायः यह देखा गया है कि आगमोंमें प्रमाणचर्चाके प्रसंगमें नैयायिकादिसंमत चार प्रमाणोंका उल्लेख आता है । कहीं कहीं तीन प्रमाणोंका भी उल्लेख है ।

भगवती सूत्र (५.३.१९१—१९२) में गौतम गणधर और भगवान् महावीरके संवादमें गौतमने भगवान्से पूछा कि जैसे केवल ज्ञानी अंतकर या अंतिम शरीरीको जानते हैं वैसे ही क्या छद्मस्थ भी जानते है? इसके उत्तरमें भगवान् महावीरने कहा है कि—

"गोयमा णो तिणट्ठे समट्ठे। सोच्चा जाणति पासति पमाणतो वा। से किं तं सोच्चा? केवलिस्स वा केवलिसावयस्स वा केवलिसावियाए वा केवलिउवासगस्स वा केवलिउवासियाए वा......से तं सोच्चा । से किं तं पमाणं? पमाणे चउव्विहे पण्णत्ते—तं जहा पच्चक्खे अणुमाणे ओवम्मे आगमे जहा अणुओगद्दारे तहा णेयव्वं पमाणं" भगवतीसूत्र ५.३.१९१,१९२।

प्रस्तुतमें स्पष्ट है कि पांच ज्ञानोंके आधार पर उत्तर न देकर मुख्य रूपसे प्रमाणकी दृष्टिसे उत्तर दिया गया है । 'सोच्चा' पदसे श्रुतज्ञानको लिया जाय तो विकल्पसे अन्यज्ञानोंको लेकरके उत्तर दिया जा सकता था । किन्तु ऐसा न करके परदर्शनमें प्रसिद्ध प्रमाणोंका आश्रय लेकरके उत्तर दिया गया है । यह सूचित करता है कि जैनेतरोंमें प्रसिद्ध प्रमाणोंसे शास्त्रकार अनभिज्ञ नहीं थे । और वे स्वसंमत ज्ञानोंकी तरह प्रमाणोंको भी ज्ञप्तिमें स्वतन्त्र साधन मानते थे ।

स्थानांगसूत्रमें प्रमाणशब्दके स्थानमें हेतुशब्दका प्रयोग भी मिलता है । ज्ञप्तिके साधनभूत होनेसे प्रत्यक्षादिको हेतुशब्दसे व्यवहृत करने में औचित्यभंग भी नहीं है ।

"अहवा हेऊ चउव्विहे पण्णत्ते, तंजहा पच्चक्खे अणुमाणे ओवम्मे आगमे ।" स्थानांग-सू० ३३८ ।

चरकमें भी प्रमाणोंका निर्देश हेतु शब्दसे हुआ है—

"अथ हेतुः—हेतुर्नाम उपलब्धिकारणं तत् प्रत्यक्षमनुमानमैतिह्यमौपम्यमिति । एभिर्हेतुभिर्यदुपलभ्यते तत् तत्त्वमिति ।" चरक० विमानस्थान अ० ८ सू० ३३ ।

उपायहृदयमें भी चार प्रमाणोंको हेतु कहा गया है—पृ० १४

स्थानांगमें ऐतिह्यके स्थानमें आगम है किन्तु चरकमें ऐतिह्यको आगम ही कहा है अत एव दोनोंमें कोई अंतर नहीं—**"ऐतिह्यं नामाप्तोपदेशो वेदादिः" वही सू० ४१ ।**

अन्यत्र जैननिक्षेप पद्धतिके अनुसार प्रमाणके चार भेद भी दिखाये गये हैं—

"चउव्विहे पमाणे पन्नत्ते तं जहा—दव्वप्पमाणे खेत्तप्पमाणे कालप्पमाणे भावप्पमाणे" स्थानांग सू० २५८ ।

प्रस्तुत सूत्रमें प्रमाण शब्दका अतिविस्तृत अर्थ लेकर ही उसके चार भेदोंका परिगणन

किया गया है। स्पष्ट है कि इस में दूसरे दार्शनिकोंकी तरह सिर्फ प्रमेयसाधक तीन, चार या छः आदि प्रमाणों का ही समावेश नहीं है किन्तु व्याकरण कोषादिसे सिद्ध प्रमाणशब्दके यावत् अर्थोंका समावेश करनेका प्रयत्न है। स्थानांग मूल सूत्रमें उक्त भेदोंकी परिगणनाके अलावा विशेष कुछ नहीं कहा गया है, किन्तु अन्यत्र उसका विस्तृत वर्णन है, जिसके विषयमें आगे हम कुछ कहेंगे।

चरकमें वादमार्गपदोंमें एक स्वतंत्र व्यवसायपद है।

"अथ व्यवसायः - व्यवसायो नाम निश्चयः" विमानस्थान अ० ८ सू० ४७।

सिद्धसेननसे लेकर सभी जैनतार्किकोंने प्रमाणको स्वपरव्यवसायि माना है। वार्तिककार-शान्त्याचार्यने न्यायावतारगत अवभास शब्दका अर्थ करते हुए कहा है कि -

"अवभासो व्यवसायो न तु ग्रहणमात्रकम्" का० ३।

अकलंकादि सभी तार्किकोंने प्रमाणलक्षणमें 'व्यवसाय'पदको स्थान दिया है। और प्रमाणको व्यवसायात्मक माना है। यह कोई आकस्मिक बात नहीं। न्यायसूत्रमें प्रत्यक्षको व्यवसायात्मक कहा है। सांख्यकारिकामें भी प्रत्यक्षको अध्यवसायरूप कहा है। इसी प्रकार जैन आगमोंमें भी प्रमाणको व्यवसाय शब्दसे व्यवहृत करनेकी प्रथाका स्पष्टदर्शन निम्नसूत्रमें होता है। प्रस्तुतमें तीन प्रकारके व्यवसायका जो विधान है वह सांख्यादिसंमत[१] तीन प्रमाण माननेकी परंपरा-मूलक हो तो आश्चर्य नहीं -

"तिविहे ववसाए पण्णत्ते तं जहा - पच्चक्खे पच्चतिते आणुगामिए।" स्थानांग-सू० १८५।

प्रस्तुत सूत्रकी व्याख्या करते हुए अभयदेवने लिखा है कि -

"व्यवसायो निश्चयः स च प्रत्यक्षः - अवधिमनःपर्ययकेवलाख्यः, प्रत्ययात् इन्द्रिया-निन्द्रियलक्षणात् निमित्ताज्जातः प्रात्ययिकः, साध्यम् अग्न्यादिकम् अनुगच्छति-साध्या-भावे न भवति यो धूमादिहेतुः सोऽनुगामी ततो जातम् आनुगामिकम् - अनुमानम् - तद्रूपो व्यवसाय आनुगामिक एवेति। अथवा प्रत्यक्षः स्वयंदर्शनलक्षणः, प्रात्ययिकः - आप्तवचनप्रभवः, तृतीयस्तथैवेति"।

स्पष्ट है कि प्रस्तुत सूत्रकी व्याख्यामें अभयदेवने विकल्प किये हैं अत एव उनको एकतर अर्थका निश्चय नहीं था। वस्तुतः प्रत्यक्षशब्दसे सांव्यवहारिक और पारमार्थिक दोनों प्रत्यक्ष, प्रत्ययित शब्दसे अनुमान और आनुगामिक शब्दसे आगम, सूत्रकारको अभिप्रेत माने जायँ तो सिद्धसेनसंमत तीन प्रमाणोंका मूल उक्त सूत्रमें मिल जाता है। सिद्धसेनने न्यायपरंपरासंमत चार प्रमाणोंके स्थानमें सांख्यादिसंमत तीन ही प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमको माना है। आचार्य हरिभद्रको भी येही तीन प्रमाण मान्य हैं[३]।

ऐसा प्रतीत होता है कि चरकसंहितामें कई परंपराएँ मिलगई हैं क्योंकि कहीं तो उसमें चार प्रमाणोंका वर्णन है और कहीं तीनका तथा विकल्पसे दोका भी स्वीकार पाया जाता है। ऐसा

---

१ देखो टिप्पण पृ० १४८-१५१। २ चरक विमानस्थान अध्याय ४। अ० ८. सू० ८४।
३ अनेकान्तज० टी० पृ० १४२, अनेकान्तज० पृ० २१५।

होनेका कारण यह है कि चरकसंहिता किसी एक व्यक्तिकी रचना न होकर कालक्रमसे संशोधन और परिवर्धन होते होते वर्तमानरूप बना है । यह बात-निम्न कोष्ठकसे स्पष्ट हो जाती है –

सूत्रस्थान अ० ११.	आप्तोपदेश	प्रत्यक्ष	अनुमान	युक्ति	
विमानस्थान अ० ४	,,	,,	,,	×	
,, ,, अ० ८	ऐतिह्य (आप्तोपदेश)	,,	,,		औपम्य
,, ,, ,,	×	,,	,,	×	
,, ,, ,,	उपदेश	,,	,,	×	

यही दशा जैनआगमोंकी है । उसमें भी चार और तीन प्रमाणोंकी परंपराओंने स्थान पाया है । स्थानांगके उक्त सूत्रसे भी पंच ज्ञानोंसे प्रमाणोंका पार्थक्य सिद्ध होता ही है । क्योंकि व्यवसायको पंच ज्ञानोंसे संबद्ध न कर प्रमाणोंसे संबद्ध किया है ।

फिर भी आगममें ज्ञान और प्रमाणका समन्वय सर्वथा नहीं हुआ है यह नहीं कहा जा सकता । उक्त तीन प्राचीन भूमिकाओंमें असमन्वय होते हुए भी अनुयोगद्वारसे यह स्पष्ट है कि बादमें जैनाचार्योंने ज्ञान और प्रमाणका समन्वय करनेका प्रयत्न किया है । किन्तु यह भी ध्यानमें रहे कि पंच ज्ञानोंका समन्वय स्पष्टरूपसे नहीं है, पर अस्पष्ट रूपसे है । इस समन्वयके प्रयत्नका प्रथम दर्शन अनुयोगमें होता है । न्यायदर्शनप्रसिद्ध चार प्रमाणोंका ज्ञानमें समावेश करनेका प्रयत्न अनुयोगमें है ही । किन्तु यह प्रयत्न जैन दृष्टिको पूर्णतया लक्ष्यमें रख कर नहीं हुआ है अतः बादके आचार्योंने इस प्रश्नको फिरसे सुलझानेका प्रयत्न किया और वह इस लिये सफल हुआ कि उसमें जैन आगमके मौलिक पंचज्ञानोंको आधारभूत मान कर ही जैन दृष्टिसे प्रमाणोंका विचार किया गया है ।

स्थानांगसूत्रमें प्रमाणोंके द्रव्यादि चार भेद जो किये गये हैं उनका निर्देश पूर्वमें हो चुका है । जैनव्याख्यापद्धतिका विस्तारसे वर्णन करनेवाला ग्रन्थ अनुयोगद्वार सूत्र है । उसको देखनेसे पता चलता है कि प्रमाणके द्रव्यादि चार भेद करने की प्रथा, जैनोंकी व्याख्यापद्धतिमूलक है । शब्दके व्याकरण-कोषादिप्रसिद्ध सभी संभवित अर्थोंका समावेश करके, व्यापक अर्थमें अनुयोगद्वारके रचयिताने प्रमाणशब्द प्रयुक्त किया है यह निम्न नकशेसे सूचित हो जाता है –

अनुयोगद्वार (सू० ५९)

- १ उपक्रम
  - १ आनुपूर्वी
  - २ नाम
  - ३ प्रमाण
    - १ द्रव्य
    - २ क्षेत्र
    - ३ काल
    - ४ भाव (सू० १३२)
      - १ गुण
        - १ जीवके
          - १ ज्ञान
            - १ प्रत्यक्ष
            - २ अनुमान
            - ३ औपम्य
            - ४ आगम
          - २ दर्शन
          - ३ चारित्र
        - २ अजीवके (सू० १४७)
      - २ नय
      - ३ संख्या (सू० १४६)
  - ४ वक्तव्यता
  - ५ अर्थाधिकार
  - ६ समवतार (सू० ७०)
- २ निक्षेप
- ३ अनुगम
- ४ नय

१ प्रत्यक्ष

- १ इन्द्रियप्रत्यक्ष
  - १ श्रोत्रेन्द्रियप्रत्यक्ष
  - २ चक्षु० प्र०
  - ३ घ्राणे० प्र०
  - ४ जिह्वेन्द्रियप्र०
  - ५ स्पर्शे० प्र०
- नोइन्द्रियप्रत्यक्ष
  - १ अवधिज्ञानप्र०
  - २ मनःपर्ययज्ञानप्र०
  - ३ केवलज्ञानप्र०

२ अनुमान

- १ पूर्ववत्
- २ शेषवत्
  - १ कार्येण
  - २ कारणेन
  - ३ गुणेन
  - ४ अवयवेन
  - ५ आश्रयेण
- ३ दृष्टसाधर्म्यवत्
  - १ सामान्यदृष्ट
  - २ विशेषदृष्ट
    - १ अतीतकालग्रहण
    - २ प्रत्युत्पन्नकालग्रहण
    - ३ अनागतकालग्र०

३ औपम्य

- १ साधर्म्योपनीत
  - १ किञ्चित्साधर्म्योपनीत
  - २ प्रायःसाधर्म्योपनीत
  - ३ सर्वसाधर्म्योपनीत
- २ वैधर्म्योपनीत
  - १ किञ्चिद्वैधर्म्य
  - २ प्रायः वैधर्म्य
  - ३ सर्ववैधर्म्य

४ आगम

- १ लौकिक
  - वेद, रामायण, महाभारत आदि
- २ लोकोत्तर
  - आचारांगादि १२

अनुयोगद्वारके प्रारंभमें ही ज्ञानोंके पांच भेद बताये हैं – १ आभिनिबोधिक, २ श्रुत, ३ अवधि, ४ मनःपर्यय और ५ केवल । ज्ञानप्रमाणके विवेचनके प्रसंगमें प्राप्त तो यह था कि अनुयोगद्वारके संकलनकर्ता उन्हीं पांच ज्ञानोंको ज्ञानप्रमाणके भेदरूपसे बता देते । किन्तु ऐसा न करके उन्होंने नैयायिकोंमें प्रसिद्ध चार प्रमाणोंको ही ज्ञानप्रमाणके भेदरूपसे बता दिया है।

ऐसा करके उन्होंने सूचित किया है कि दूसरे दार्शनिक जिन प्रत्यक्षादि चार प्रमाणोंको मानते हैं वस्तुतः वे ज्ञानात्मक हैं और गुण है—आत्माके गुण हैं।

इस समन्वयसे यह भी फलित हो जाता है कि अज्ञानात्मक सन्निकर्ष इन्द्रिय आदि पदार्थ प्रमाण नहीं हो सकते। अत एव हम देखते है कि सिद्धसेनसे लेकर प्रमाणविवेचक सभी जैनदार्शनिकोंने प्रमाणके लक्षणमें ज्ञानपदको अवश्य स्थान दिया है। इतना होते हुए भी जैन संमत पांच ज्ञानोंमें चार प्रमाणका स्पष्ट समन्वय करनेका प्रयत्न अनुयोगद्वारके कर्ताने नहीं किया है। अर्थात् यहाँ भी प्रमाणचर्चा और पंचज्ञानचर्चाका पार्थक्य सिद्ध ही है। शास्त्रकारने यदि प्रमाणोंको पंचज्ञानोंमें समन्वित करनेका प्रयत्न किया होता तो उनके मतसे अनुमान और उपमान प्रमाण किस ज्ञानमें समाविष्ट है यह अस्पष्ट नहीं रहता। यह बात नीचे के समीकरणसे स्पष्ट होती है—

ज्ञान	प्रमाण
१ (अ) इन्द्रियजमति	प्रत्यक्ष
(ब) मनोजन्यमति	०
२ श्रुत	आगम
३ अवधि	
४ मनःपर्यय	प्रत्यक्ष
५ केवल	
०	अनुमान
०	उपमान

इससे साफ है कि ज्ञानपक्षमें मनोजन्य मतिको कौनसा प्रमाण कहा जाय तथा प्रमाणपक्षमें अनुमान और उपमानको कौनसा ज्ञान कहा जाय—यह बात अनुयोगद्वारमें अस्पष्ट है। वस्तुतः देखें तो जैन ज्ञानप्रक्रियाके अनुसार मनोजन्यमति जो कि परोक्ष ज्ञान है वह अनुयोगके प्रमाण वर्णनमें कहीं समावेश नहीं पाता।

न्यायादिशास्त्रके अनुसार मानस ज्ञान दो प्रकारका है प्रत्यक्ष और परोक्ष। सुख-दुःखादिको विषय करनेवाला मानस ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है और अनुमान उपमान आदि मानसज्ञान परोक्ष कहलाता है। अत एव मनोजन्य मति जो कि जैनोंके मतसे परोक्षज्ञान है उसमें अनुमान और उपमानको अन्तर्भूत करदिया जाय तो उचित ही है। इस प्रकार पंचज्ञानोंका चार प्रमाणोंमें समन्वय घट जाता है। यदि यह अभिप्राय शास्त्रकारका भी है तो कहना होगा कि परप्रसिद्ध चार प्रमाणोंका पंचज्ञानोंके साथ समन्वय करनेकी अस्पष्ट सूचना अनुयोगद्वारसे मिलती है। किन्तु जैनदृष्टिसे प्रमाण विभाग और उसका पंचज्ञानोंमें स्पष्ट समन्वय करनेका श्रेय तो उमास्वातीको ही है।

इतनी चर्चासे यह स्पष्ट है कि जैनशास्त्रकारोंने आगमकालमें जैनदृष्टिसे प्रमाणविभागके विषयमें स्वतन्त्र विचार नहीं किया है किन्तु उस कालमें प्रसिद्ध अन्य दार्शनिकोंके विचारोंका संग्रहमात्र किया है।

प्रमाणभेदके विषयमें प्राचीन कालमें अनेक परंपराएँ प्रसिद्ध रहीं । उनमेंसे चार और तीन भेदोंका निर्देश आगममें मिलता है जो पूर्वोक्त विवरणसे स्पष्ट है । ऐसा होनेका कारण यह है कि प्रमाणचर्चामें निष्णात ऐसे प्राचीन नैयायिकोंने प्रमाणके चार भेद ही माने हैं । उन्हीका अनुकरण चरक और प्राचीन बौद्धोंने भी किया है । और इसीका अनुकरण जैनागमोंमें भी हुआ है । प्रमाणके तीन भेद माननेकी परंपरा भी प्राचीन है । उसका अनुसरण सांख्य, चरक, और बौद्धोंमें हुआ है । यही परंपरा स्थानांगके पूर्वोक्त सूत्रमें भी सुरक्षित है । योगाचार बौद्धोंने तो दिग्नागके सुधारको अर्थात् प्रमाणके दो भेदकी परंपराको भी नहीं माना है और दिग्नागके बाद भी अपनी तीनप्रमाणकी परंपराको ही मान्य रखा है जो स्थिरमतिकी मध्यान्तविभागकी टीकासे स्पष्ट होता है । नीचे दिया हुआ तुलनात्मक नकशा[1] उपर्युक्त कथनका साक्षी है —

अनुयोगद्वार, भगवती, स्थानांग	१ प्रत्यक्ष	२ अनुमान	३ उपमान	४ आगम
चरकसंहिता	"	"	"	"
न्यायसूत्र	"	"	"	"
विग्रहव्यावर्तनी	"	"	"	"
उपायहृदय	"	"	"	"
सांख्यकारिका	"	"	×	"
योगाचारभूमिशास्त्र	"	"	×	"
अभिधर्मसंगितिशास्त्र	"	"	×	"
विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि	"	"	×	"
मध्यान्तविभागवृत्ति	"	"	×	"
वैशेषिकसूत्र	"	"	×	×
प्रशस्तपाद	"	"	×	×
दिग्नाग	"	"	×	×
धर्मकीर्ति	"	"	×	×

(२) प्रत्यक्षप्रमाणचर्चा ।

हम पहले कह आये हैं कि अनुयोगद्वारमें प्रमाण शब्दको उसके विस्तृत अर्थमें लेकर प्रमाणोंका भेदवर्णन किया गया है । किन्तु ज्ञप्ति साधन जो **प्रमाण ज्ञान** अनुयोगद्वारको अभीष्ट है उसीका विशेष विवरण करना प्रस्तुतमें इष्ट है । अत एव अनुयोगद्वार संमत चार प्रमाणोंका क्रमशः वर्णन किया जाता है —

नकशेसे स्पष्ट है कि अनुयोगद्वारके मतसे प्रत्यक्ष ज्ञान प्रमाण के दो भेद हैं —

(अ) इन्द्रियप्रत्यक्ष

(आ) नोइन्द्रियप्रत्यक्ष

1 Pre-diṅnaga Buddhist Texts: Intro. P. XVII.

(अ) **इन्द्रियप्रत्यक्ष** में अनुयोगद्वारने १ श्रोत्रेन्द्रियप्रत्यक्ष, २ चक्षुरिन्द्रियप्रत्यक्ष ३ घ्राणेन्द्रियप्रत्यक्ष, ४ जिह्वेन्द्रियप्रत्यक्ष, और ५ स्पर्शेन्द्रियप्रत्यक्ष — इन पांच प्रकारके प्रत्यक्षोंका समावेश किया है।

(आ) **नोइन्द्रियप्रत्यक्ष प्रमाण** में जैनशास्त्र प्रसिद्ध तीन प्रत्यक्ष ज्ञानोंका समावेश है — १ अवधिज्ञान प्रत्यक्ष, २ मनःपर्ययज्ञान प्रत्यक्ष और ३ केवलज्ञान प्रत्यक्ष। प्रस्तुत में 'नो'का अर्थ है इन्द्रियका अभाव। अर्थात् ये तीनों ज्ञान इन्द्रिय जन्य नहीं है। ये ज्ञान सिर्फ आत्मसापेक्ष हैं।

जैनपरंपराके अनुसार इन्द्रियजन्य ज्ञानोंको **परोक्षज्ञान** कहा जाता है किन्तु प्रस्तुत प्रमाण चर्चा परसंमत प्रमाणोंके ही आधारसे है अत एव यहाँ उसीके अनुसार इन्द्रियजन्य ज्ञानोंको **प्रत्यक्ष प्रमाण** कहा गया है। नन्दीसूत्रमें जो इन्द्रियजन्य ज्ञानको प्रत्यक्ष कहा है वह भी परसिद्धान्तका अनुसरण करके ही।

वैशेषिकसूत्रमें लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकारके प्रत्यक्षकी व्याख्या दी गई है[१]। किन्तु न्यायसूत्र[२], और मीमांसादर्शनमें[३] लौकिक प्रत्यक्षकी ही व्याख्या दी गई है। लौकिक प्रत्यक्षकी व्याख्यामें दार्शनिकोंने प्रधानतया बहिरिन्द्रियजन्य ज्ञानोंको लक्ष्यमें रखा हो ऐसा प्रतीत होता है क्योंकि न्यायसूत्र, वैशेषिकसूत्र और मीमांसादर्शनकी लौकिक प्रत्यक्षकी व्याख्यामें सर्वत्र इन्द्रियजन्य ज्ञानको प्रत्यक्ष कहा है।

मन इन्द्रिय है या नहीं इस विषयमें न्यायसूत्र और वैशेषिकसूत्र विधिरूपसे कुछ नहीं बताते। प्रत्युत न्यायसूत्रमें प्रमेय निरूपणमें मनको इन्द्रियोंसे पृथक् गिनाया है (१.१.९) और इन्द्रियनिरूपणमें (१.१.१२) पांच बहिरिन्द्रियोंका ही परिगणन किया गया है। इस लिये सामान्यतः कोई यह कह सकता है कि न्यायसूत्रकारको मन इन्द्रियरूपसे इष्ट नहीं था किन्तु इसका प्रतिवाद करके वात्स्यायनने कह दिया है कि मन भी इन्द्रिय है। मनको इन्द्रियसे पृथक् बतानेका तात्पर्य यह है कि वह अन्य इन्द्रियोंसे विलक्षण है (न्यायभा० १.१.४)। वात्स्यायनके ऐसे स्पष्टीकरणके होते हुए भी तथा सांख्यकारिकामें (का० २७) स्पष्टरूपसे इन्द्रियोंमें मनका अन्तर्भाव होनेपर भी माठरने प्रत्यक्षको पांच प्रकार का बताया है, उससे फलित यह होता है कि लौकिक प्रत्यक्षमें स्पष्टरूपसे मनोजन्यज्ञान समाविष्ट नहीं था। इसी बातका समर्थन नन्दी और अनुयोगद्वारसे भी होता है क्योंकि उनमें भी लौकिक प्रत्यक्षमें पांचइन्द्रियजन्य ज्ञानोंको ही स्थान दिया है। किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि प्राचीन दार्शनिकोंने मानस ज्ञानका विचार ही नहीं किया हो। प्राचीन कालके ग्रन्थोंमें लौकिक प्रत्यक्षमें मानस प्रत्यक्षको भी स्वतन्त्रस्थान मिला है। इससे पता चलता है कि वे मानस प्रत्यक्षसे सर्वथा अनभिज्ञ नहीं थे। चरकमें प्रत्यक्षको इन्द्रियज और मानस ऐसे दो भेदोंमें विभक्त किया है[४]। इसी परंपराका अनुसरण करके बौद्ध मैत्रेयनाथने श्री योगाचारभूमिशास्त्रमें प्रत्यक्षके चार भेदोंमें मानसप्रत्यक्षको स्वतन्त्र स्थान दिया है[५]। यही कारण है कि आगमोंमें सांव्यवहारिक प्रत्यक्षमें मानसका स्थान न होनेपर भी आचार्य अकलंकने उसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष रूपसे गिनाया है[६]।

---

१ वैशे० ३.१.१८; ९.१.११–१५। २ १.१.४। ३ १.१.४। ४ विमानस्थान अ० ४ सू० ५। अ० ८ सू० ३९। ५ J. R. A. S. 1929 p. 465–466. ६ देखो टिप्पण पृ० २४३।

(३) अनुमानचर्चा ।

(अ) अनुमानके भेद—अनुयोगद्वार सूत्रमें [1]तीन भेद किये गये हैं—

(१) पूर्ववत्

(२) शेषवत्

(३) दृष्टसाधर्म्यवत्

प्राचीन चरक, न्याय, बौद्ध (उपायहृदय पृ० १३) और सांख्यने भी अनुमानके तीन भेद तो बताये हैं[2]। उनमें प्रथमके दो तो वही हैं जो अनुयोगमें है। किन्तु अन्तिम भेदका नाम अनुयोग की तरह दृष्टसाधर्म्यवत् न न होकर सामान्यतोदृष्ट है।

प्रस्तुतमें यह बता देना आवश्यक है कि अनुयोगमें अनुमानके स्वार्थ और परार्थ ऐसे दो भेद नहीं किये गये। अनुमानको इन दो भेदोंमें विभक्त करनेकी परंपरा बादकी है। न्यायसूत्र और उसके भाष्य तक यह स्वार्थ और परार्थ ऐसे भेद करनेकी परंपरा देखी नहीं जाती। बौद्धोंमें दिग्नागसे पहले के मैत्रेय, असंग और वसुबन्धुके ग्रन्थोंमें भी वह नहीं देखी जाती। सर्व प्रथम बौद्धोंमें दिग्नागके प्रमाणसमुच्चयमें और वैदिकोंमें प्रशस्तपादके भाष्यमें ही स्वार्थ-परार्थ भेद देखे जाते हैं[3]। जैनदार्शनिकोंने अनुयोगद्वारस्वीकृत उक्त तीन भेदोंको स्थान नहीं दिया है किन्तु स्वार्थपरार्थरूप भेदोंको ही अपने ग्रन्थोंमें लिया है इतना ही नहीं बल्कि तीन भेदोंकी परंपराका कुछने खण्डन भी किया है।[4]

(आ) पूर्ववत्

पूर्ववत् की व्याख्या करते हुए अनुयोगमें कहा है कि—

"माया पुत्तं जहा नट्ठं जुवाणं पुणरागयं।
काई पच्चभिजाणेज्जा पुव्वलिङ्गेण केणई॥
तं जहा—खत्तेण वा वण्णेण वा लंछणेणवा मसेण वा तिलएण वा"

तात्पर्य यह है कि पूर्वपरिचित किसी लिङ्गके द्वारा पूर्वपरिचित वस्तुका प्रत्यभिज्ञान करना पूर्ववत् अनुमान है।

उपायहृदय नामक बौद्धग्रन्थमें भी पूर्ववत् का वैसा ही उदाहरण है—

"यथा षडङ्गुलिं सपिडकमूर्धानं बालं दृष्ट्वा पश्चाद्वृद्धं बहुश्रुतं देवदत्तं दृष्ट्वा षडङ्गुलिस्मरणात् सोयमिति पूर्ववत्" पृ० १३।

उपायहृदयके बादके ग्रन्थोंमें पूर्ववत् के अन्य दो प्रकारके उदाहरण मिलते हैं। उक्त उदाहरण छोडनेका कारण यही है उक्त उदाहरणसूचित ज्ञान वस्तुतः प्रत्यभिज्ञान है। अत एव प्रत्यभिज्ञान और अनुमानके विषयमें जबसे दार्शनिकोंने भेद करना शुरू किया तबसे पूर्ववत्का

---

१ विशेषके लिये देखो प्रो० ध्रुवका 'त्रिविधमनुमानम्' ओरिएण्टल कॉंग्रेसके प्रथम अधिवेशनमें पढा गया व्याख्यान। २ चरक सूत्रस्थानमें अनुमानका तीन प्रकार है ऐसा कहा है किन्तु नाम नहीं दिये—देखो सूत्रस्थान अध्याय ११. श्लो० २१,२२; न्यायसूत्र १.१.५। मूल सांख्यकारिकामें नाम नही है सिर्फ तीन प्रकारका उल्लेख है का० ५। किन्तु माठरने तीनोंके नाम दिये हैं। तीसरा नाम मूलकारको सामान्यतो दृष्ट ही इष्ट है—का० ६। ३ प्रमाणसमु० २.१। प्रशस्त० पृ० ५६३,५७७। ४ न्यायवि० ३४१,३४२। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०५। स्याद्वादर० पृ० ५२७।

उदाहरण बदलना आवश्यक हो गया। इससे यह भी कहा जा सकता है कि अनुयोगमें जो विवेचन है वह प्राचीन परंपरानुसारी है।

कुछ दार्शनिकोंने कारणसे कार्यके अनुमानको और कुछने कार्यसे कारणके अनुमानको पूर्ववत् माना है ऐसा उनके दिये हुए उदाहरणोंसे प्रतीत होता है –

मेघोन्नतिसे वृष्टिका अनुमान करना यह कारणसे कार्यका अनुमान है इसे पूर्ववत् का उदाहरण माननेवाले माठर, वात्स्यायन और गौडपाद हैं।

अनुयोगद्वारके मतसे कारणसे कार्यका अनुमान शेषवदनुमानका एक प्रकार है। किन्तु प्रस्तुत उदाहरणका समावेश शेषवदके 'आश्रयेण' भेदके अन्तर्गत है।

वात्स्यायनने मतान्तरसे धूमसे वह्निके अनुमानको भी पूर्ववत् कहा है। यही मत चरक[1] और मूलमाध्यमिककारिकाके टीकाकार पिङ्गल (?) को भी[2] मान्य था। शबर[3] भी वही उदाहरण लेता है।

माठर भी कार्यसे कारणके अनुमानको पूर्ववत् मानता है किन्तु उसका उदाहरण दूसरा है– यथा, नदीपूरसे वृष्टिका अनुमान।

अनुयोगके मतसे धूमसे वह्निका ज्ञान शेषवदनुमानके पांचवे भेद 'आश्रयेण' के अन्तर्गत है।

माठरनिर्दिष्ट नदीपूरसे वृष्टिके अनुमानको अनुयोगमें अतीतकालग्रहण कहा है। और वात्स्यायनने कार्यसे कारणके अनुमानको शेषवद कह कर माठरनिर्दिष्ट उदाहरणको शेषवत् बता दिया है।

पूर्वका अर्थ होता है कारण। किसीने कारणको साधन मानकर, किसीने कारणको साध्य मानकर और किसीने दोनों मानकर पूर्ववत्‌की व्याख्या की है अत एव पूर्वोक्त मतवैविध्य उपलब्ध होता है। किन्तु प्राचीनकालमें पूर्ववत्‌से प्रत्यभिज्ञा ही समझी जाती थी ऐसा अनुयोग और उपायहृदयसे स्पष्ट है।

न्यायसूत्रकारको 'पूर्ववत्' अनुमानका कैसा लक्षण इष्ट था उसका पता लगाना भी आवश्यक है। प्रो० ध्रुवका अनुमान है कि न्यायसूत्रकारने पूर्ववत् आदि शब्द प्राचीन मीमांसकोंसे लिया है और उस परंपराके आधारपर यह कहा जा सकता है कि पूर्वका अर्थ कारण और शेषका अर्थ कार्य है। अत एव न्यायसूत्रकारके मतमें पूर्ववत् अनुमान कारणसे कार्यका और शेषवत् अनुमान कार्यसे कारणका है[4]। किन्तु न्यायसूत्रकी अनुमान परीक्षाके (२.१.३७) आधारपर प्रो० ज्वालाप्रसादने[5] पूर्ववत् और शेषवत् का जो अर्थ स्पष्ट किया है वह प्रो० ध्रुवसे ठीक उलटा है। अर्थात् पूर्व – कारणका कार्यसे अनुमान करना पूर्ववत् है और कार्यका या उत्तरकालीनका कारणसे अनुमान करना शेषवदनुमान है। वैशेषिकसूत्रमें कार्य हेतुको प्रथम और कारण हेतुको द्वितीयस्थान प्राप्त है (९.२.१)। उससे भी पूर्ववत् और शेषवत् के उक्त अर्थकी पुष्टि होती है।

---

१ सूत्रस्थान अ० ११ श्लो० २१। २ Pre-Diṅnāga Buddhist Text. Intro. P. XVII. ३ १.१.५। ४ पूर्वोक्त व्याख्यान पृ० २१२–२१३। ५ Indian Epistemology p. 171.

(इ) शेषवत् ।

अनुयोगद्वारका पूर्वचित्रित नकशा देखनेसे स्पष्ट होता है कि शेषवत् अनुमानमें पांच प्रकारके हेतुओंको अनुमापक बताया गया है । यथा –

"से किं तं सेसवं ? सेसवं पंचविहं पण्णत्तं तं जहा कज्जेणं कारणेणं गुणेणं अवयवेणं आसएणं ।"

१ कार्येण – कार्यसे कारणका अनुमान करना । यथा शब्दसे शंखका, ताडनसे भेरीका-ढक्कितसे वृषभका, केकायितसे मयूरका, हणहणाटसे (हेषित) अश्वका, गुलगुलायितसे गजका और घणघणायितसे रथका ।[1]

२ कारणेन – कारणसे कार्यका अनुमान करना । इसके उदाहरण में अनुमान प्रयोगको तो नहीं बताया किन्तु कहा है कि 'तन्तु पटका कारण है, पट तन्तुका कारण नहीं, वीरणा कटका कारण है, कट वीरणाका कारण नहीं, मृत्पिण्ड घटका कारण है, घट मृत्पिण्डका कारण नहीं । इस प्रकार कह करके शास्त्रकारने कार्यकारणभावकी व्यवस्था दिखा दी है । उसके आधारपर जो कारण है उसे हेतु बनाकर कार्यका अनुमान कर लेना चाहिए ऐसा सूचित किया है ।

३ गुणेन – गुणसे गुणीका अनुमान करना यथा, निकषसे सुवर्णका, गन्धसे पुष्पका, रससे लवणका, आस्वादसे मदिराका, स्पर्शसे वस्त्रका[3] ।

४ अवयवेन – अवयवसे अवयवीका अनुमान करना । यथा[4], सींगसे महिषका, शिखासे कुकुटका, दांतसे हस्तिका, दाढासे वराहका, पिच्छसे मयूरका, खुरासे अश्वका, नखसे व्याघ्रका, बालाग्रसे चमरी गायका, लांगूलसे बन्दरका, दो पैरसे मनुष्यका, चार पैरसे गो आदिका, बहु पैरसे गोजर आदिका, केसरसे सिंहका, ककुभसे वृषभका, चूडीसहित बाहुसे महिलाका; बद्ध परिकरतासे योद्धाका, वस्त्रसे महिलाका, धान्यके एक कणसे द्रोणपाकका और एक गाथासे कविका ।

५ आश्रयेण – (आश्रितेन) आश्रित वस्तुसे अनुमान करना, यथा धूमसे अग्निका, बलाकासे पानीका, अभ्रविकारसे वृष्टिका और शील समाचारसे कुलपुत्रका अनुमान होता है[5] ।

---

१ **"संखं सद्देणं, भेरिं ताडिएणं, वसभं ढक्किएणं, मोरं किंकाइएणं, हयं हेसिएणं, गयं गुलगुलाइएणं, रहं घणघणाइएणं ।"**

२ **"तंतवो पडस्स कारणं ण पडो तंतुकारणं, वीरणा कडस्स कारणं ण कडो वीरणा-कारणं, मिप्पिंडो घडस्स कारणं ण घडो मिप्पिंडकारणं ।"**

३ **"सुवण्णं निकसेणं, पुप्फं गंधेणं, लवणं रसेणं, मइरं आसायएणं, वत्थं फासेणं ।"**

४ **"महिसं सिंगेण, कुक्कुडं सिहाएणं, हत्थिं विसाणेणं, वराहं दाढाए, मोरं पिच्छेणं, आसं खुरेणं, वग्घं नहेणं, चमरिं वालग्गेणं, वाणरं लंगुलेणं, दुपयं मणुस्सादि, चउपयं गवमादि, बहुपयं गोमिआदि, सीहं केसरेणं, वसहं कुकुहेणं, महिलं वलयबाहाए, गाहा–परिअरबंधेण भडं जाणिज्जा महिलिअं निवसणेणं । सित्थेण दोणपागं, कविं च एक्काए गाहाए ॥"**

५ **"अग्गिं धूमेणं, सलिलं बलागेणं वुट्ठिं अब्भविकारेणं, कुलपुत्तं सीलसमायारेणं ।"**

अनुयोगद्वारके शेषवत्के पांच भेदोंके साथ अन्य दार्शनिककृत अनुमानभेदोंकी तुलनाके लिये नीचे नकशा दिया जाता है—

वैशेषिक[1]	अनुयोगद्वार	योगाचारभूमिशास्त्र[2]	धर्मकीर्ति
१ कार्य	१ कार्य	१ कार्य-कारण	१ कार्य
२ कारण	२ कारण		
३ संयोगी	३ आश्रित		
४ समवायी	४ गुण	२ कर्म	
	५ अवयव	३ धर्म	
		४ स्वभाव	२ स्वभाव
५ विरोधी			३ अनुपलब्धि
		५ निमित्त	

उपायहृदयमें शेषवत् का उदाहरण दिया गया है कि—

"शेषवद् यथा, सागरसलिलं पीत्वा तल्लवणरसमनुभूय शेषमपि सलिलं तुल्यमेव लवणमिति-" पृ० १३।

अर्थात् अवयवके ज्ञानसे संपूर्ण अवयवीका ज्ञान शेषवत् है ऐसा उपायहृदयका मत है।

माठर और गौडपाद का भी यही मत है। उनका उदाहरण भी वही है जो उपायहृदयमें है।

Tsing-mu (पिङ्गल) का भी शेषवत् के विषयमें यही मत है। किन्तु उसका उदाहरण उसी प्रकारका दूसरा है कि एक चावलके दानेको पके देखकर सभीको पक्व समझना[3]।

अनुयोगद्वारके शेषवत्के पांच भेदोंमें से चतुर्थ 'अवयवेन' के अनेक उदाहरणोंमें उपायहृदयनिर्दिष्ट उदाहरणका स्थान नहीं है किन्तु पिङ्गलसंमत उदाहरणका स्थान है।

न्यायभाष्यकारने कार्यसे कारणके अनुमानको शेषवत् कहा है और उसके उदाहरणरूपसे नदीपूरसे वृष्टिके अनुमानको बताया है। माठरके मतसे तो यह पूर्ववत् अनुमान है। अनुयोगद्वारने 'कार्येण' ऐसा एक भेद शेषवत् का माना है पर उसके उदाहरण भिन्न ही हैं।

मतान्तरसे न्यायभाष्यमें परिशेषानुमानको शेषवत् कहा है। ऐसा माठर आदि अन्य किसीने नहीं कहा। स्पष्ट है कि यह कोई भिन्न परंपरा है। अनुयोगने शेषवत् के जो पांच भेद बताये हैं उनका मूल क्या है सो कहा नहीं जा सकता।

(ई) दृष्टसाधर्म्यवत्।

दृष्टसाधर्म्यवत् के दो भेद किये गये हैं—१ सामान्यदृष्ट और २ विशेषदृष्ट। किसी एक वस्तुको देखकर तत्सजातीय सभी वस्तुका साधर्म्यज्ञान करना या बहुवस्तुको देखकर किसी विशेषमें तत्साधर्म्यका ज्ञान करना यह सामान्यदृष्ट है ऐसी सामान्यदृष्टकी व्याख्या शास्त्रकारको अभिप्रेत जान पडती है। शास्त्रकारने इसके उदाहरण ये दिये हैं—जैसा एक पुरुष है अनेक पुरुष भी वैसे ही हैं, जैसे अनेक पुरुष हैं वैसा ही एक पुरुष है। जैसा एक कार्षापण है अनेक कार्षापण भी वैसे ही हैं, जैसे अनेक कार्षापण हैं एक भी वैसा ही है[4]।

---

१ वैशे० ९.२.१। २ J. R. A. S. 1929, P. 474. ३ Pre-Dig. Intro. XVIII.

४ **"से किं तं सामण्णदिट्ठं? जहा एगो पुरिसो तहा बहवे पुरिसा जहा बहवे पुरिसा तहा एगो पुरिसो। जहा एगो करिसावणो तहा बहवे करिसावणा, जहा बहवे करिसावणा तहा एगो करिसावणो।"**

विशेषदृष्ट दृष्टसाधर्म्यवत् वह है जो अनेक वस्तुओंमें से किसी एक को पृथक् करके उसके वैशिष्ट्य का प्रत्यभिज्ञान करता है। शास्त्रकारने इस अनुमानको भी पुरुष और कार्षापणके दृष्टान्तसे स्पष्ट किया है—यथा, कोई एक पुरुष बहुतसे पुरुषोंके बीचमेंसे पूर्वदृष्ट पुरुषका प्रत्यभिज्ञान करता है कि यह वही पुरुष है; या इसी प्रकार कार्षापण का प्रत्यभिज्ञान करता है, तब उसका वह ज्ञान विशेषदृष्ट साधर्म्यवत् अनुमान है[1]।

अनुयोगद्वारमें दृष्टसाधर्म्यवत् के जो दो भेद किये गये हैं उनमें प्रथम तो उपमानसे और दूसरा प्रत्यभिज्ञानसे भिन्न प्रतीत नहीं होता। माठर आदि अन्य दार्शनिकोंने सामान्यतोदृष्टके जो उदाहरण दिये हैं उनसे अनुयोगद्वारका पार्थक्य स्पष्ट है।

उपायहृदयमें सूर्य-चन्द्र की गतिका ज्ञान उदाहृत है। यही उदाहरण गौडपादमें, शबरमें, न्यायभाष्यमें और पिंगलमें है।

सामान्यतोदृष्टका एक ऐसा भी उदाहरण मिलता है—यथा, इच्छादिसे आत्माका अनुमान करना। उसका निर्देश न्यायभाष्य और पिंगलमें है।

अनुयोग, माठर और गौडपादने सिद्धान्ततः सामान्यतोदृष्टका लक्षण एक ही प्रकारका माना है भले ही उदाहरण भेद हो। माठर और गौडपादने उदाहरण दिया है कि **"पुष्पिताम्रदर्शनात्, अन्यत्र पुष्पिता आम्रा इति।"** यही भाव अनुयोगका भी है जब कि शास्त्रकारने कहा कि **"जहा एगो पुरिसो तहा बहवे पुरिसा।"** इत्यादि।

अनुमान सामान्यका उदाहरण माठरने दिया है कि **"लिङ्गेन त्रिदण्डादिदर्शनेन अदृष्टोपि लिङ्गी साध्यते नूनमसौ परिव्राडस्ति, अस्येदं त्रिदण्डमिति।"** गौडपादने इस उदाहरणके साध्य-साधन का विपर्यास किया है—**"यथा दृष्ट्वा यतिम् यस्येदं त्रिदण्डमिति।"**

(उ) कालभेदसे त्रैविध्य।

अनुमानग्रहण कालकी दृष्टिसे तीन प्रकारका होता है उसे भी शास्त्रकारने बताया है—यथा १ अतीतकालग्रहण २ प्रत्युत्पन्नकालग्रहण और ३ अनागतकालग्रहण।

१ अतीतकालग्रहण—उत्तृण वन, निष्पन्नसस्या पृथ्वी, जलपूर्ण कुण्ड-सर-नदी-दीर्घिका-तडाग—इत्यादि देखकर सिद्ध किया जाय कि सुवृष्टि हुई है तो वह अतीतकालग्रहण है।[2]

२ प्रत्युत्पन्नकालग्रहण—भिक्षाचर्यामें प्रचुर भिक्षा मिलती देखकर सिद्ध किया जाय कि सुभिक्ष है तो वह प्रत्युत्पन्न काल ग्रहण है।[3]

३ अनागतकालग्रहण—बादलकी निर्मलता, कृष्ण पहाड, सविद्युत् मेघ, मेघगर्जन,

---

१ **"से जहाणामए केई पुरिसे कंचि पुरिसं बहूणं पुरिसाणं मज्झे पुव्वदिट्ठं पच्चभिजाणिज्जा अयं से पुरिसे। बहूणं करिसावणाणं मज्झे पुव्वदिट्ठं करिसावणं पच्चभिजाणिज्जा—अयं से करिसावणे।"**

२ **उत्तणाणि वणाणि निप्पण्णसस्सं वा मेइणिं पुण्णाणि अ कुण्ड-सर-णइ-दीहिआ-तडागाइं पासित्ता तेणं साहिज्जइ जहा सुवुट्ठी आसी।** ३ **"साहुं गोअरग्गगयं विच्छड्डिअपउरभत्तपाणं पासित्ता तेणं साहिज्जइ जहा सुभिक्खे वट्टई।"**

वातोद्भ्रम, रक्त और प्रस्निग्ध सन्ध्या, वारुण या माहेन्द्र सम्बन्धी या और कोई प्रशस्त उत्पात – इनको देखकर जब सिद्ध किया जाय कि सुवृष्टि होगी – यह अनागतकालग्रहण है ।[1]

उक्त लक्षणोंका विपर्यय देखनेमें आवे तो तीनों कालोंके ग्रहणमें भी विपर्यय हो जाता है अर्थात् अतीत कुवृष्टिका, वर्तमान दुर्भिक्षका और अनागत कुवृष्टिका अनुमान होता है यह भी अनुयोगद्वारमें सोदाहरण[2] दिखाया गया है ।

कालभेदसे तीन प्रकारका अनुमान होता है इस मतको चरकने भी स्वीकार किया है –

"प्रत्यक्षपूर्वं त्रिविधं त्रिकालं चाऽनुमीयते ।
वह्निर्निगूढो धूमेन मैथुनं गर्भदर्शनात् ॥ २१ ॥
एवं व्यवस्यन्त्यतीतं बीजात् फलमनागतम् ।
दृष्ट्वा बीजात् फलं जातमिहैव सदृशं बुधाः" ॥ २२ ॥

चरक सूत्रस्थान अ० ११

अनुयोगगत अतीतकालग्रहण और अनागतकालग्रहणके दोनों उदाहरण माठरमें पूर्ववत् के उदाहरणरूपसे निर्दिष्ट हैं जब कि स्वयं अनुयोगने अभ्रविकारसे वृष्टिके अनुमानको शेषवत् माना है । तथा न्यायभाष्यकारने नदीपूरसे भूतवृष्टिके अनुमानको शेषवत् माना है ।

(ऊ) अवयवचर्चा ।

अनुमानप्रयोग या न्यायवाक्यके कितने अवयव होने चाहिए इस विषयमें मूल आगमोंमें कुछ नहीं कहा गया है । किन्तु आ० भद्रबाहुने दशवैकालिकनिर्युक्तिमें अनुमानचर्चामें न्यायवाक्यके अवयवोंकी चर्चा की है । यद्यपि संख्या गिनाते हुए उन्होंने पांच[3] और दश[4] अवयव होनेकी बात कही है किन्तु अन्यत्र उन्होने मात्र उदाहरण या हेतु और उदाहरण से भी अर्थसिद्धि होनेकी बात कही है[5] । दश अवयववोंको भी उन्होंने दो प्रकारसे गिनाए हैं[6] । इस प्रकार भद्रबाहुके मतमें अनुमानवाक्यके दो, तीन, पांच, दश, दश इतने अवयव होते हैं ।

प्राचीन वादशास्त्रका अध्ययन करने से पता चलता है कि शुरूमें किसी साध्यकी सिद्धिमें हेतुकी अपेक्षा दृष्टांतकी सहायता अधिकांशमें ली जाती रही होगी । यही कारण है कि बादमें जब हेतुका स्वरूप व्याप्तिके कारण निश्चित हुआ और हेतुसे ही मुख्यरूपसे साध्यसिद्धि मानी जाने लगी तथा हेतुके सहायकरूपसे ही दृष्टान्त या उदाहरण का उपयोग मान्य रहा तब केवल दृष्टान्तके बलसे की जानेवाली साध्यसिद्धिको जात्युत्तरोंमें समाविष्ट किया जाने लगा । यह स्थिति न्यायसूत्रमें स्पष्ट है । अत एव मात्र उदाहरणसे साध्यसिद्धि होनेकी भद्रबाहुकी बात किसी प्राचीन परंपराकी ओर संकेत करती है ऐसा मानना चाहिए ।

---

१ "अब्भस्स निम्मलत्तं कसिणा या गिरी सविज्जुआ मेहा । थणियं वा उब्भामो संझा रत्ता पणिट्ठा(द्धा) या ॥ १ ॥ वारुणं वा महिंदं वा अण्णयरं वा पसत्थं उप्पायं पासित्ता तेणं साहिज्जइ जहा–सुवुट्ठी भविस्सइ ।" २ "एएसिं चेव विवज्जासे तिविहं गहणं भवइ, तं जहा" इत्यादि ।

३ दश० नि० ५० । गा० ८९ से ९१ । ४ गा० ५० गा० ९२ से । ५ गा० ४९ । ६ गा० ९२ से तथा १३७ ।

आचार्य मैत्रेयने[1] अनुमानके प्रतिज्ञा हेतु और दृष्टांत ऐसे तीन अवयव माने हैं । भद्रबाहुने भी उन्ही तीनोंको निर्दिष्ट किया है । माठर और दिग्नागने भी पक्ष, हेतु और दृष्टान्त ये तीन ही अवयव माने हैं और पांच अवयवोंका मतान्तर रूपसे उल्लेख किया है ।

पांच अवयवोंमें दो परंपराएँ हैं एक माठरनिर्दिष्ट[2] और प्रशस्तसंमत तथा दूसरी न्यायसूत्रादि संमत । भद्रबाहुने पांच अवयवोंमें न्यायसूत्रकी परंपराका ही अनुगमन किया है । पर दश अवयवोंके विषयमें भद्रबाहुका स्वातन्त्र्य स्पष्ट है । न्यायभाष्यकारने भी दश अवयवोंका उल्लेख किया है किन्तु भद्रबाहुनिर्दिष्ट दोनों दशप्रकारोंसे वात्स्यायनके दशप्रकार भिन्न हैं । इस प्रकार हम देखते है कि न्यायवाक्यके दश अवयवोंकी तीन परंपराएँ सिद्ध होती हैं । यह बात नीचे दिये जानेवाले नकशे से स्पष्ट हो जाती है—

मैत्रेय	माठर	दिग्नाग	प्रशस्त	न्यायसूत्र	न्यायभाष्य	
३	३	३	५	५	५	१०
प्रतिज्ञा	पक्ष	पक्ष	प्रतिज्ञा	प्रतिज्ञा	प्रतिज्ञा	प्रतिज्ञा
हेतु	हेतु	हेतु	अपदेश	हेतु	हेतु	हेतु
दृष्टान्त	दृष्टान्त	दृष्टांत	निदर्शन	उदाहरण	उदाहरण	उदाहरण
			अनुसन्धान	उपनय	उपनय	उपनय
			प्रत्याम्नाय	निगमन	निगमन	निगमन
						जिज्ञासा
						संशय
						शक्यप्राप्ति
						प्रयोजन
						संशयव्युदास

भद्रबाहु

२	३	५	१०	१०
प्रतिज्ञा	प्रतिज्ञा	प्रतिज्ञा	प्रतिज्ञा	प्रतिज्ञा
उदाहरण	हेतु	हेतु	प्रतिज्ञाविशुद्धि	प्रतिज्ञाविभक्ति
	उदाहरण	दृष्टांत	हेतु	हेतु
		उपसंहार	हेतुविशुद्धि	हेतुवि०
		निगमन	दृष्टान्त	विपक्ष
			दृष्टान्तविशुद्धि	प्रतिषेध
			उपसंहार	दृष्टांत
			उपसंहारविशुद्धि	आशंका
			निगमन	तत्प्रतिषेध
			निगमनविशुद्धि	निगमन

---

१ J. R. A. S. 1929, P. 476 । २ प्रशस्तपादने उन्ही पांच अव ोंको माना है जिनका निर्देश माठरने मतान्तररूपसे किया ।

(ऋ) हेतुचर्चा ।

स्थानांगसूत्रमें हेतुके निम्नलिखित चार भेद बताये गये हैं[१]–

१ ऐसा विधिरूप हेतु जिसका साध्य विधिरूप हो ।

२ ऐसा विधिरूप हेतु जिसका साध्य निषेधरूप हो ।

३ ऐसा निषेधरूप हेतु जिसका साध्य विधिरूप हो ।

४ ऐसा निषेधरूप हेतु जिसका साध्य निषेधरूप हो ।

स्थानांगनिर्दिष्ट इन हेतुओंके साथ वैशेषिकसूत्रगत हेतुओंकी तुलना हो सकती है–

स्थानांग	वैशेषिकसूत्र
हेतु – साध्य	
१ विधि – विधि	संयोगी, समवायी, एकार्थ समवायी ३.१.९
	भूतो भूतस्य – ३.१.१३
२ विधि – निषेध	भूतमभूतस्य – ३.१.१२
३ निषेध – विधि	अभूतं भूतस्य ३.१.११
४ निषेध – निषेध	कारणाभावात् कार्याभावः १.२.१

आगेके बौद्ध और जैन दार्शनिकोंने हेतुओंको जो उपलब्धि और अनुपलब्धि ऐसे दो प्रकारोंमें विभक्त किया है उसके मूलमें वैशेषिकसूत्र और स्थानांगनिर्दिष्ट परंपरा हो तो आश्चर्य नहीं ।

(४) औपम्यचर्चा ।

अनुयोगद्वार सूत्रमें औपम्य दो प्रकारका है – १ साधर्म्योपनीत और २ वैधर्म्योपनीत ।

१ साधर्म्योपनीत तीन प्रकारका है –

(अ) किञ्चित्साधर्म्योपनीत ।

(आ) प्रायः साधर्म्योपनीत ।

(इ) सर्वसाधर्म्योपनीत ।

(अ) **किञ्चित्साधर्म्योपनीत** के उदाहरण हैं – जैसा मंदर – मेरु है वैसा सर्षप है, जैसा सर्षप है वैसा मंदर है; जैसा समुद्र है वैसा गोष्पद है, जैसा गोष्पद है वैसा समुद्र है । जैसा आदित्य है वैसा खद्योत है, जैसा खद्योत है वैसा आदित्य है । जैसा चन्द्र है वैसा कुमुद है, जैसा कुमुद है वैसा चन्द्र है ।[२]

---

१ "अहवा हेऊ चउव्विहे पन्नत्ते तं जहा – अत्थित्तं अत्थि सो हेऊ १, अत्थित्तं णत्थि सो हेऊ २, णत्थित्तं अत्थि सो हेऊ ३, णत्थित्तं णत्थि सो हेऊ ।"

२ "जहा मंदरो तहा सरिसवो, जहा सरिसवो तहा मंदरो, जहा समुद्दो तहा गोप्पयं, जहा गोप्पयं तहा समुद्दो । जहा आइच्चो तहा खज्जोतो, जहा खज्जोतो तहा आइच्चो, जहा चन्दो तहा कुमुदो जहा कुमुदो तहा चन्दो ।"

(आ) **प्रायः साधर्म्योपनीत** के उदाहरण हैं—जैसा गौ है वैसा गवय है, जैसा गवय है वैसा गौ है।[१]

(इ) **सर्वसाधर्म्योपनीत**—वस्तुतः सर्वसाधर्म्योपमान हो नहीं सकता है फिर भी किसी व्यक्तिकी उसीसे उपमा की जाती है ऐसा व्यवहार देखकर उपमान का यह भेद भी शास्त्रकारने मान्य रखा है। इसके उदाहरण बताये हैं कि—अरिहंतने अरिहंत जैसा ही किया-चक्रवर्तीने चक्रवर्ती जैसा ही किया इत्यादि।[२]

२ **वैधर्म्योपनीत** भी तीन प्रकारका है—

(अ) किञ्चिद्वैधर्म्य

(आ) प्रायो वैधर्म्य

(इ) सर्ववैधर्म्य

(अ) **किञ्चिद्वैधर्म्य** का उदाहरण दिया है कि जैसा शाबलेय है वैसा बाहुलेय नहीं। जैसा बाहुलेय है वैसा शाबलेय नहीं।[३]

(आ) **प्रायोवैधर्म्य** का उदाहरण है—जैसा वायस है वैसा पायस नहीं है। जैसा पायस है वैसा वायस नहीं है।[४]

(इ) **सर्ववैधर्म्य**—सब प्रकारसे वैधर्म्य तो किसीका किसीसे नहीं होता। अत एव वस्तुतः यह उपमान बन नहीं सकता किन्तु व्यवहाराश्रित इसका उदाहरण शास्त्रकारने बताया है। इसमें स्वकीयसे उपमा दी जाती है—जैसे नीचने नीच जैसा ही किया, दासने दास जैसा ही किया। इत्यादि।[५]

शास्त्रकारने सर्ववैधर्म्यका जो उक्त उदाहरण दिया है उसमें और सर्वसाधर्म्यके पूर्वोक्त उदाहरणमें कोई भेद नहीं दिखता। वस्तुतः प्रस्तुत उदाहरण सर्वसाधर्म्यका हो जाता है।

न्यायसूत्रमें उपमानपरीक्षामें पूर्वपक्षमें कहा गया है कि अत्यन्त, प्रायः और एकदेशसे जहाँ साधर्म्य हो वहाँ उपमान प्रमाण हो नहीं सकता है। इत्यादि। यह पूर्वपक्ष अनुयोगगत साधर्म्योपमानके तीन भेद की किसी पूर्वपरंपराको लक्ष्यमें रख कर ही किया गया है यह उक्त सूत्रकी व्याख्या देखनेसे स्पष्ट हो जाता है। इससे फलित यह होता है कि अनुयोगका उपमान वर्णन किसी प्राचीन परंपरानुसारी है।[६]

(५) आगमचर्चा।

अनुयोगद्वारमें आगमके दो भेद किये गये हैं (अ) लौकिक (आ) लोकोत्तर।

(अ) **लौकिक आगम**में जैनेतर शास्त्रोंका समावेश अभीष्ट है जैसे महाभारत, रामायण, वेद आदि और ७२ कलाशास्त्रोंका समावेश भी उसीमें किया है।

---

१ "जहा गो तहा गवओ, जहा गवओ तहा गो।" २ "सव्वसाहम्मे ओवम्मे नत्थि, तहावि तेणेव तस्स ओवम्मं कीरइ जहा अरिहंतेहिं अरिहंतसरिसं कयं" इत्यादि—

३ "जहा सामलेरो न तहा बाहुलेरो, जहा बाहुलेरो न तहा सामलेरो।" ४ "जहा वायसो न तहा पायसो, जहा पायसो न तहा वायसो।" ५ "सव्ववेहम्मे ओवम्मे नत्थि तहावि तेणेव तस्स ओवम्मं कीरइ, जहा णीएण णीअसरिसं कयं, दासेण दाससरिसं कयं।" इत्यादि। ६ देखो, टिप्पण—पृष्ठ २२२-२२३।

(आ) लोकोत्तर आगममें जैनशास्त्रोंका समावेश है । लौकिक आगमोंके विषयमें कहा गया है कि अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीवोंने अपने स्वच्छन्दमति-विकल्पोंसे बनाये हैं । किन्तु लोकोत्तर—जैन आगमके विषयमें कहा है कि वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी पुरुषोंने बनाये हैं ।

आगमके भेद एक अन्य प्रकारसे भी किये गये हैं—जैसे

(१) आत्मागम ।

(२) अनन्तरागम ।

(३) परंपरागम ।

सूत्र और अर्थकी अपेक्षासे आगमका विचार किया जाता है । क्योंकि यह माना गया है कि तीर्थंकर अर्थका उपदेश करते है जब कि गणधर उसके आधारसे सूत्रकी रचना करते हैं अत एव अर्थरूप आगम स्वयं तीर्थंकरके लिये आत्मागम है और सूत्ररूप आगम गणधरोंके लिये आत्मागम है । अर्थका मूल उपदेश तीर्थंकरका होनेसे गणधरके लिये वह आत्मागम नहीं किन्तु गणधरोंको ही साक्षात् लक्ष्यकरके अर्थका उपदेश दिया गया है अत एव अर्थागम गणधरके लिये अनन्तरागम है गणधरशिष्योंके लिये अर्थरूप आगम परंपरागम है क्योंकि तीर्थंकर से गणधरोंको प्राप्त हुआ और गणधरोंसे शिष्योंको । सूत्ररूप आगम गणधरशिष्योंके लिये अनन्तरागम है क्योंकि सूत्रका उपदेश गणधरोंसे साक्षात् उनको मिला है । गणधरशिष्योंके बादमें होनेवाले आचार्योंके लिये सूत्र और अर्थ उभयरूप आगम परंपरागम ही है—

	आत्मागम,	अनन्तरागम,	परंपरागम
तीर्थंकर	अर्थागम	×	×
गणधर	सूत्रागम	अर्थागम	×
गणधरशिष्य	×	सूत्रागम	अर्थागम
गणधरशिष्यशिष्य आदि	×	×	सूत्रागम, अर्थागम

मीमांसकके सिवाय सभी दार्शनिकोंने आगमको पौरुषेय ही माना है । और सभीने अपने अपने इष्ट पुरुषको ही आप्त मानकर अन्यको अनाप्त सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है । अन्ततः सभीको दूसरोंके सामने आगमका प्रामाण्य अनुमान और युक्तिसे आगमोक्त बातोंकी संगति दिखाकर स्थापित करना ही पडता है । यही कारण है कि निर्युक्तिकारने आगमको स्वयंसिद्ध मानकर भी हेतु और उदाहरणकी आवश्यकता, आगमोक्त बातोंकी सिद्धिके लिये स्वीकार की है—

"जिणवयणं सिद्धं चेव भण्णए कत्थई उदाहरणं ।
आसज्ज उ सोयारं हेऊ वि कहिंचि भण्णेज्जा ॥"
दशवै० नि० ४९ ।

किस पुरुषका बनाया हुआ शास्त्र आगमरूपसे प्रमाण माना जाय इस विषयमें जैनोंने अपना जो अभिमत आगमिककालमें स्थिर किया है उसे भी बता देना आवश्यक है । सर्वदा यह तो संभव नहीं कि तीर्थप्रवर्तक और उनके गणधर मौजुद रहें और शंकास्थानोंका समाधान करते रहें । इसी आवश्यकतामेंसे ही तदतिरिक्त पुरुषोंको भी प्रमाण माननेकी परंपराने जन्म

लिया और गणधरप्रणीत आचारांगआदि अंगशास्त्रोंके अलावा स्थविरप्रणीत अन्यशास्त्र भी आगमान्तर्गत होकर अंगबाह्यरूपसे प्रमाण माने जाने लगे—

"सुत्तं गणधरकथिदं तहेव पत्तेयबुद्धकथिदं च ।
सुदकेवलिणा कथिदं अभिण्णदसपुव्वकथिदं च ॥"[1]

इस गाथाके अनुसार गणधरकथितके अलावा प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली और दशपूर्वीके द्वारा कथित भी सूत्र आगम में अन्तर्भूत है । प्रत्येकबुद्ध सर्वज्ञ होनेसे उनका वचन प्रमाण है । जैन परंपराके अनुसार अंगबाह्य ग्रन्थोंकी रचना स्थविर करते हैं[2] । ऐसे स्थविर दो प्रकारके होते हैं संपूर्ण श्रुतज्ञानी और कमसे कम दशपूर्वी । संपूर्ण श्रुतज्ञानीको चतुर्दशपूर्वी श्रुतकेवली कहते हैं । श्रुतकेवली गणधरप्रणीत संपूर्ण द्वादशांगीरूप जिनागमके सूत्र और अर्थके विषयमें निपुण होते हैं । अत एव उनकी ऐसी योग्यता मान्य है कि वे जो कुछ कहेंगे या लिखेंगे उसका द्वादशाङ्गी रूप जिनागमके साथ कुछ भी विरोध हो नहीं सकता । जिनोक्त विषयोंका संक्षेप या विस्तार करके तत्तत्कालीन समाजके अनुकूल ग्रन्थरचना करना ही उनका प्रयोजन होता है अत एव संघने ऐसे ग्रन्थोंको सहज ही में जिनागमान्तर्गत कर लिया है । इनका प्रामाण्य स्वतन्त्र भावसे नहीं किन्तु गणधरप्रणीत आगमके साथ अविसंवादके कारण है ।

कालक्रमसे जैन संघमें वीर नि० १७० वर्षके बाद श्रुतकेवलीका भी अभाव होगया और सिर्फ दर्शपूर्वधर ही रहगए तब उनकी विशेषयोग्यताको ध्यानमें रखकर जैन संघने दशपूर्वधर-ग्रथित ग्रन्थोंको भी आगममें शामिल कर लिया । इन ग्रन्थोंका भी प्रामाण्य स्वतन्त्रभावसे नही किन्तु गणधरप्रणीत आगमके साथ अविरोधमूलक है ।

जैनोंकी मान्यता है कि चतुर्दशपूर्वधर और दर्शपूर्वधर वेही साधक हो सकते हैं जिनमें नियमतः सम्यग्दर्शन होता है[3] । अतएव उनके ग्रन्थोंमे आगमविरोधी बातोंकी संभावना ही नहीं है ।

आगे चलकर ऐसे कई आदेश जिनका समर्थन किसी शास्त्रसे नहीं होता है किन्तु जो स्थविरोने अपनी प्रतिभाके बलसे किसी विषय में दी हुई संमतिमात्र हैं, उनका समावेश भी अंग-बाह्य आगममें करलिया गया है । इतना ही नही कुछ मुक्तकोंको भी उसीमे स्थान प्राप्त है[4] ।

अभीतक हमने आगमके प्रामाण्य-अप्रामाण्यका जो विचार किया है वह वक्ताकी दृष्टिसे । अर्थात् किस वक्ताके वचनको व्यवहारमें सर्वथा प्रमाण माना जाय । किन्तु आगमके प्रामाण्य या अप्रामाण्यका एक दूसरी दृष्टिसे भी अर्थात् श्रोताकी दृष्टिसे भी आगमों में विचार हुआ है उसे भी बतादेना जरूरी है ।

शब्द तो निर्जीव हैं और सभी सांकेतिक अर्थके प्रातिपादनकी योग्यता रखते हैं अतएव सर्वार्थक भी हैं । ऐसी स्थिति में निश्चयदृष्टिसे विचार करने पर शब्दका प्रामाण्य जैसा मीमांसक मानता है स्वतः नहीं किन्तु प्रयोक्ताके गुण के कारण सिद्ध होता है । इतना ही नहीं बल्कि श्रोता या पाठकके गुणदोषके कारण भी प्रामाण्य या अप्रामाण्यका निर्णय करना

१ मूलाचार ५.८० । जयधवला टीकामें उद्धृत है पृ० १५३ । ओघनिर्युक्तिकी टीकामें भी यह उद्धृत है पृ० ३ । २ विशेषा० ५५० । बृहत्० १४४ । तत्त्वार्थभा० १.२० । सर्वार्थ० १.२० । ३ बृहत्० १३२ । ४ बृहत् १४४ और उसकी पादटीप । विशेषा० ५५० । न्या० प्रस्तावना ११

पडता है। अत एव यह आवश्यक हो जाता है कि वक्ता और श्रोता दोनोंकी दृष्टिसे आगमके प्रामाण्यका विचार किया जाय।

शास्त्रकी रचना निष्प्रयोजन नहीं किन्तु श्रोताको अभ्युदय और निःश्रेयस मार्गका प्रदर्शन करनेकी दृष्टिसे ही है—यह सर्वसंमत है। किन्तु शास्त्रकी उपकारकता या अनुपकारकता मात्र शब्दोंपर निर्भर न होकर श्रोताकी योग्यता पर भी निर्भर है। यही कारण है कि एकही शास्त्रवचनके नाना और परस्पर विरोधी अर्थ निकालकर दार्शनिक लोग नानामतवाद खडे कर देते हैं। एक भगवद्गीता या एकही ब्रह्मसूत्र कितने विरोधी वादोंका मूल बना हुआ है। अतः श्रोताकी दृष्टिसे किसी एक ग्रन्थको नियमतः सम्यक् या मिथ्या कहना या किसी एक ग्रन्थको ही आगम कहना निश्चयदृष्टिसे भ्रमजनक है। यही सोचकर मूल ध्येय मुक्तिकी पूर्तिमें सहायक ऐसे सभी शास्त्रोंको जैनाचार्योंने सम्यक् या प्रमाण कहा है ऐसा व्यापक दृष्टिबिन्दु आध्यात्मिकदृष्टिसे जैन परंपरामें पाया जाता है। इस दृष्टिके अनुसार वेदादि सब शास्त्र जैनोंको मान्य हैं। जिस जीवकी श्रद्धा सम्यक् है उसके सामने कोई भी शास्त्र आ जाय वह उसका उपयोग मोक्ष मार्गको प्रशस्त बनानेमें ही करेगा। अतएव उसके लिये सब शास्त्र प्रामाणिक हैं, सम्यक् हैं किन्तु जिस जीवकी श्रद्धा ही विपरीत है यानी जिसे मुक्तिकी कामना ही नहीं उसके लिये वेदादि तो क्या तथाकथित जैनागम भी मिथ्या हैं, अप्रमाण हैं। इस दृष्टिबिन्दुमें सत्यका आग्रह है, सांप्रदायिक कदाग्रह नहीं—**"भारहं रामायणं······चत्तारि य वेया संगोवंगा-एयाइं मिच्छादिट्ठिस्स मिच्छत्तपरिग्गहियाइं मिच्छासुयं। एयाइं चेव सम्मदिट्ठिस्स सम्मत्तपरिग्गहियाइं सम्मसुयं**—नंदी—४१।

[३] जैन आगमोंमें वाद और वादविद्या—

§१ वादका महत्त्व।

जैनधर्म आचारप्रधान है किन्तु देशकालकी परिस्थिति का असर उसके ऊपर न हो यह कैसे हो सकता है? स्वयं भगवान् महावीरको भी अपनी धर्मदृष्टिका प्रचार करनेके लिये अपने चारित्रबलके अलावा वाक्बलका प्रयोग करना पडा है। तब उनके अनुयायी मात्र चारित्रबलके सहारे जैनधर्मका प्रचार और स्थापन करें यह संभव नहीं।

भगवान् महावीरका तो युग ही, ऐसा मालूम देता है कि, जिज्ञासाका था। लोग जिज्ञासातृप्तिके लिए इधर उधर घूमते रहे और जो भी मिला उससे प्रश्न पूछते रहे। लोक कोरे कर्मकाण्ड—यज्ञयागादिसे हट करके तत्त्वजिज्ञासु होते जा रहे थे। वे अकसर किसी की बातको तभी मानते जबकि वह तर्ककी कसौटी पर खरी उतरे अर्थात अहेतुवादके स्थानमें हेतुवादका महत्त्व बढता जा रहाथा। कई लोग अपने आपको तत्त्वद्रष्टा बताते थे। और अपने तत्त्वदर्शनको लोगोंमें फैलानेके लिये उत्सुकतापूर्वक इधरसे उधर विहार करते थे और उपदेश देते थे। या जिज्ञासु स्वयं ऐसे लोगोंका नाम सुनकर उनके पास जाता था और नानाविध प्रश्न पूछता था। जिज्ञासुके सामने नानामतवादों और समर्थक युक्तिओंकी धारा बहती रही। कभी जिज्ञासु उन मतोंकी तुलना अपने आप करता था तो कभी तत्त्वद्रष्टा ही दूसरोंके मतकी त्रुटि दिखा करके अपने मतको श्रेष्ठ सिद्ध करते रहे। ऐसेही वादप्रतिवादमेंसे वादके नियमोपनियमोंका विकास हो कर क्रमशः वादका भी एक शास्त्र बन गया। न्यायसूत्र, चरक या प्राचीन

बौद्ध तर्कशास्त्रमें वादशास्त्रका जो विकसित रूप देखा जाता है उसकी पूर्वभूमिका जैन आगम और बौद्धपिटकोंमें मौजूद है। उपनिषदोंमें वादविवाद तो बहुतेरे हैं किन्तु उन वादविवादोंके पीछे कोनसे नियम काम कर रहे हैं इसका जिक्र नहीं। अतएव वादविद्याके नियमोंका प्राचीन रूप देखना हो तो जैनागम और बौद्ध पालि त्रिपिटक ही की शरण लेनी पडती है। इसीसे वाद और वादशास्त्रके पदार्थोंके विषयमें जैनआगमका आश्रयण करके कुछ लिखना अप्रस्तुत न होगा। ऐसा करनेसे यह ज्ञात हो सकेगा कि वादशास्त्र पहिले कैसा अव्यवस्थित था और किस तरह बादमें व्यवस्थित हुआ। तथा जैनदार्शनिकोंने अपने ही आगमगत पदार्थोंमेंसे क्या छोडा और क्या किस रूपमें कायम रखा।

कथासाहित्य और कथापद्धतिके वैदिक, बौद्ध और जैनपरंपरागत विकासकी रूपरेखाका चित्रण[1] पं० सुखलालजीने विस्तारसे किया है। विशेष जिज्ञासुओंको उसीको देखना चाहिए। प्रस्तुतमें जैनआगमको केन्द्रमें रखकर ही कथा या वादमें उपयुक्त ऐसे कुछ पदार्थोंका निरूपण करना इष्ट है।

श्रमण और ब्राह्मण अपने अपने मतकी पुष्टि करनेके लिये विरोधिओंके साथ वाद करते हुए और युक्तिओंके बलसे प्रतिवादीको परास्त करते हुए बौद्धपिटकोंमें देखे जाते हैं। जैनागममें भी प्रतिवादिओंके साथ हुये श्रमणों, श्रावको और स्वयं भगवान् महावीरके वादोंका वर्णन आता है। उपासकदशांगमें गोशालकके उपासक सद्दालपुत्तके साथ नियतिवादके विषयमें हुए भगवान् महावीरके वादका अत्यंत रोचक वर्णन है – अध्य० ७। उसी सूत्रमें उसी विषयमें कुंडकोलिक और एक देवके बीच हुए वादका भी वर्णन है – अ० ६।

जीव और शरीर भिन्न हैं इसविषयमें पार्श्वानुयायी केशीश्रमण और नास्तिक राजा पएसीका वाद रायपसेणइय सूत्रमें निर्दिष्ट है। ऐसा ही वाद बौद्धपिटकके दीघनिकायमें पायासीसुत्तमें भी निर्दिष्ट है।

सूत्रकृतांगमें आर्य अद्दका अनेक मतवादिओंके साथ नानामन्तव्योंके विषयमें जो वाद हुआ है उसका वर्णन है – सूत्रकृतांग २.६।

भगवतीसूत्रमें लोककी शाश्वतता और अशाश्वतता, सान्तता और अनन्तताके विषयमें; जीवकी सान्तता, अनन्तता, एकता, अनेकता आदिके विषयमें; कर्म स्वकृत है, परकृत है कि उभयकृत है – क्रियमाण कृत है कि नहीं; इत्यादि विषयमें भगवान महावीरके अन्यतीर्थिकोंके साथ हुए वादोंका तथा जैन श्रमणोंके अन्यतीर्थिकोंके साथ हुए वादोंका विस्तृत वर्णन पदपदपर मिलता है – देखो स्कंधक, जमाली आदिकी कथाएँ।

उत्तराध्ययनगत पार्श्वानुयायी केशी-श्रमण और भगवान् महावीरके प्रधान शिष्य गौतमके बीच हुआ जैन-आचारविषयक वाद सुप्रसिद्ध है – अध्ययन – २३।

भगवतीसूत्रमें भी पार्श्वानुयायिओंके साथ महावीरके श्रावक और श्रमणोंके वादोंका जिक्र अनेक स्थानोंपर है – भगवती १.९; २.५; ५.९; ९.३२।

---

१ पुरातत्त्व २.३. में 'कथापद्धतिनुं स्वरूप अने तेना साहित्यनुं दिग्दर्शन' तथा प्रमाणमीमांसा-भाषा टिप्पण पृ० १०८-१२४।

सूत्रकृतांगमें गौतम और पार्श्वानुयायी उदक पेढालपुत्तका वाद भी सुप्रसिद्ध है—सूय० २.७। गुरुशिष्यके बीच होनेवाला वाद वीतरागकथा कही जाती है क्योंकि उसमें जय-पराजयको अवकाश नहीं। इस वीतरागकथासे तो जैनआगम भरे पडे हैं। किन्तु विशेषतः इसके लिये भगवतीसूत्र देखना चाहिए। उसमें भगवान्के प्रधान शिष्य गौतमने मुख्यरूपसे तथा प्रसंगतः अनेक अन्य शिष्योंने अनेक विषयोंमें भगवान्से प्रश्न पूछे हैं और भगवान्ने अनेक हेतुओं और दृष्टान्तोंके द्वारा उनका समाधान किया है।

इन सब वादोंसे स्पष्ट है कि जैनश्रमणों और श्रावकोंमें वादकलाके प्रति उपेक्षाभाव नहीं था। इतनाही नहीं किन्तु धर्मप्रचारके साधनरूपसे वादकलाका पर्याप्तमात्रामें महत्त्व था। यही कारण है कि भगवान् महावीरके ऋद्धिप्राप्त शिष्योंकी गणनामें वादप्रवीणशिष्योंकी पृथक् गणना की है। इतना ही नही किन्तु सभी तीर्थंकरोंके शिष्योंकी गणनामें वादिओंकी संख्या पृथक् बतलानेकी प्रथा हो गई है[1]। भगवान् महावीरके शिष्योंमें वादीकी संख्या बताते हुए स्थानांगमें कहा है—

"समणस्स णं भगवओ महावीरस्स चत्तारिसया वादीणं सदेवमणुयासुराते परिसाते अपराजियाणं उक्कोसिता वादिसंपया हुत्था"—स्थानांग ३८२। यही बात कल्पसूत्रमें (सू० १४२) भी है।

स्थानांगसूत्रमें जिन नव प्रकारके निपुण पुरुषोंको गिनाया है उनमें भी वादविद्याविशारदका स्थान है—सू० ६७९।

धर्मप्रचारमें वाद मुख्य साधन होनेसे वादविद्यामें कुशल ऐसे वादी साधुओंके लिये आचारके कठोर नियम भी मृदु बनाये जातेथे इसकी साक्षी जैनशास्त्र देते हैं। जैनआचारके अनुसार शरीरशुचिता परिहार्य है। साधु स्नानादि शरीर संस्कार नहीं कर सकता, इसी प्रकार स्निग्धभोजनकी भी मनाई है। तपस्याके समय तो और भी रूक्ष भोजनका विधान है। साफ-सुथरे कपडे पहनना भी अनिवार्य नहीं। पर कोई पारिहारिक तपस्वी साधु वादी हो और किसी सभामें वादके लिये जाना पडे तब सभाकी दृष्टिसे और जैनधर्मकी प्रभावनाकी दृष्टिसे उसे अपना नियम मृदु करना पडता है तब वह ऐसा कर लेता है। क्यों कि यदि वह सभायोग्य शरीरसंस्कार नहीं कर लेता तो विरोधिओंको जुगुप्साका एक मौका मिल जाता है। मलिनवस्त्रोंका प्रभाव भी सभाजनों पर अच्छा नहीं पडता अत एव वह साफ सुथरे कपडे पहन कर सभामें ज़ाता है। रूक्षभोजन करनेसे बुद्धिकी तीव्रतामें कमी न हो इसलिये वाद करनेके प्रसंगमें प्रणीत अर्थात् स्निग्ध भोजन लेकर अपनी बुद्धिको सत्त्वशाली बनानेका यत्न करता है। ये सब सकारण आपवादिक प्रतिसेवना हैं[2]। प्रसंग पूर्ण हो जाने पर गुरु उसे अपवादसेवनके लिये हलका प्रायश्चित्त दे करके शुद्ध कर लेता है।

सामान्यतः नियम है कि साधु अपने गण-गच्छको छोड कर अन्यत्र न जाय किन्तु ज्ञान-दर्शन और चारित्रकी वृद्धिकी दृष्टिसे अपने गुरुको पूछ कर दूसरे गणमें जा सकता है। दर्शनको लक्ष्यमें रख कर अन्य गणमें जानेके प्रसंगमें स्पष्टीकरण किया गया है कि यदि

---

१ कल्पसूत्र सू० १६५ इत्यादि। २ "पाया वा दंतासिया उ धोया, वा बुद्धिहेतुं व पणीयभत्तं। तं वातिगं वा मइसत्तहेउं सभाजयट्ठा सिचयं व सुक्कं॥" बृहत्कल्पभाष्य ६०३५।

स्वगणमें दर्शनप्रभावक[1] शास्त्र (सन्मत्यादि) का कोई ज्ञाता न हो तो जिस गणमें उसका ज्ञाता हो वहाँ जाकर पढ सकता है। इतना ही नहीं किन्तु दूसरे आचार्यको अपना गुरु या उपाध्यायका स्थान भी हेतुविद्याके लिये दे तो अनुचित नहीं समजा जाता। ऐसा करनेके पहले आवश्यक है कि वह अपने गुरु या उपाध्यायकी आज्ञा ले ले। बृहत्कल्पभाष्यमें कहा है कि

"विज्जामंतनिमित्ते हेउसत्थट्ठ दंसणट्ठाए" बृहत्कल्पभाष्य गा० ५४७३।

अर्थात् दर्शनप्रभावना की दृष्टिसे विद्या-मन्त्र-निमित्त और हेतुशास्त्रके अध्ययनके लिये कोई साधु दूसरे आचार्योपाध्यायको भी अपना आचार्य वा उपाध्याय बना सकता है।

अथवा जब कोई शिष्य देखता है कि तर्कशास्त्रमें उसके गुरुकी गति न होनेसे दूसरे मत-वाले उनसे वाद करके उन तर्कानभिज्ञ गुरुको नीचा गिरानेका प्रयत्न करते हैं तब वह गुरुकी अनुज्ञा लेकर गणान्तरमें तर्कविद्यामें निपुण होनेके लिये जाता है या स्वयं गुरु उसे भेजते है।[2] अंतमें वह तर्कनिपुण होकर प्रतिवादिओंको हराता है। और इस प्रकार दर्शनप्रभावना करता है।

यदि किसी कारणसे आचार्य दूसरे गणमें जानेकी अनुज्ञा न देते हों तब भी दर्शनप्रभा-वना की दृष्टिसे विना आज्ञाके भी वह दूसरे गणमें जाकर वादविद्यामें कुशलता प्राप्त कर सकता है। सामान्यतः अन्य आचार्य विना आज्ञा के आये हुए शिष्यको स्वीकार नहीं कर सकते किन्तु ऐसे प्रसंगमें वह भी उसे स्वीकार करके दर्शनप्रभावना की दृष्टिसे तर्क विद्या पढानेके लिये बाध्य हैं[3]।

विना कारण श्रमण रथयात्रामें नहीं जासकता ऐसा नियम है। क्योंकि रथयात्रामें शामिल होनेसे अनेक प्रकारके दोष लगते हैं—(बृहत् गा० १७७१ से)। किन्तु कारण हो तो रथयात्रामें अवश्य जाना चाहिए यह अपवाद है। यदि नहीं जाता है तो प्रायश्चित्तभागी होता है ऐसा स्पष्ट विधान है—**"कारणेषु तु समुत्पन्नेषु प्रवेष्टव्यम् यदि न प्रविशति तदा चत्वारो लघवः।"** बृहत्० टी० गा० १७८९।

रथयात्रामें जानेके अनेक कारणोंको गिनाते[4] हुए बृहत्कल्पके भाष्यमें कहा गया है कि—

"मा परवाई विग्घं करिज्ज वाई अओ विसइ ॥ १७९२ ॥"

अर्थात् कोई परदर्शनका वादी रथयात्रामें विघ्न न करे इस लिये वादविद्यामें कुशल वादी श्रमणको रथयात्रामें अवश्य जाना चाहिए। उनके जानेसे क्या लाभ होता है उसे बताते हुए कहा है—

"नवधम्माण थिरत्तं पभावणा सासणे य बहुमाणो।
अभिगच्छन्ति य विदुसा अविग्घपूया य सेयाए ॥ १७९३ ॥"

वादी श्रमणके द्वारा प्रतिवादीका जब निग्रह होता है तब अभिनव श्रावक अन्य धार्मिकोंका पराभव देखकर जैन धर्ममें दृढ हो जाते हैं। जैन धर्मकी प्रभावना होती है। लोक कहने लग जाते हैं कि जैन सिद्धांत अप्रतिहत है इसी लिये ऐसे समर्थ वादिने उसे अपनाया है। दूसरे लोग भी वादको सुनकर जैन धर्मके प्रति आदरशील होते हैं। वादीका वैदग्ध्य देखकर दूसरे विद्वान् उनके पास आने लगते हैं और धीरे धीरे जैन धर्मके अनुयायी हो जाते हैं। इस प्रकार इन आनुषंगिक लाभोंके अलावा रथयात्रामें श्रेयस्कर पूजाकी निर्विघ्नता का लाभ भी है। अत एव वादीको रथयात्रामें अवश्य जाना चाहिए।

---

१ वही ५४२५। २ वही ५४२६-२७। ३ वही गा० ५४३९। ४ गा० १७९०।

निम्नलिखित श्लोकमें धर्मप्रभावकों में वादीको भी स्थान मिला है ।

"प्रावचनी धर्मकथी वादी नैमित्तिकस्तपस्वी च ।
जिनवचनज्ञश्च कविः प्रवचनमुद्भावयन्त्येते ॥[1]"

कभी कभी ध्यान-स्वाध्याय छोडकर ऐसे वादिओंको वादकथामें ही लगना पडता था जिससे वे परेशान भी थे और गच्छ छोडकर किसी एकान्तस्थानमें जानेकी वे सोचते थे । ऐसी स्थितिमें गुरु उन पर प्रतिबन्ध लगाते थे कि मत जाओ । फिर भी वे स्वच्छन्द होकर गच्छको छोडकर चले जाते थे । ऐसा बृहत्कल्पके भाष्यसे पता चलता है – गा० ५६९१, ५६९७ इत्यादि ।

§ २ कथा ।

स्थानांगसूत्रमें कथाके तीन भेद बताये हैं । वे ये हैं –

"तिविहा कहा – अत्थकहा, धम्मकहा कामकहा ।" सू० १८९ ।

इन तीनोंमें धर्मकथा ही यहाँ प्रस्तुत है । स्थानांगमें (सू० २८२) धर्मकथाके भेदोपभेदोंका जो वर्णन है उसका सार नीचे दिया जाता है ।

धर्मकथा

- १ आक्षेपणी
  - १ आचाराक्षे०
  - २ व्यवहारा०
  - ३ प्रज्ञप्ति
  - ४ दृष्टिवाद
- २ विक्षेपणी
  - १ स्वसमय कह कर परसमय कथन
  - २ परसमयकथनपूर्वक स्वसमयस्थापन
  - ३ सम्यग्वादके कथनपूर्वक मिथ्यावादकथन
  - ४ मिथ्यावादकथनपूर्वक सम्यग्वादस्थापन
- ३ संवेजनी
  - १ इहलोकसं०
  - २ परलोकसं०
  - ३ स्वशरीरसं०
  - ४ परशरीरसं०

४ निर्वेदनी –

१ इहलोकमें	किये	दुश्चरितका	फल	इसीलोकमें	दुःखदायी
२ ,,	,,	,,	,,	परलोकमें	,,
३ परलोकमें	,,	,,	,,	इसलोकमें	,,
४ ,,	,,	,,	,,	परलोकमें	,,

इसी प्रकार सुचरितकी भी चतुर्भंगी होती है ।

इनमेंसे वादके साथ संबन्ध प्रथमकी दो धर्मकथाओंका है । संवेजनी और निर्वेदनी कथा तो वही है जो गुरु अपने शिष्यको संवेग और निर्वेदकी वृद्धिके लिये उपदेश देता है । आक्षेपणी कथाके जो भेद हैं उनसे प्रतीत होता है कि यह गुरु और शिष्यके बीच होनेवाली धर्मकथा है ।

---

१ बृहत्० टी० गा० १०९८ में उद्धृत ।

उसे जैनपरिभाषामें वीतराग कथा और न्यायशास्त्रके अनुसार तत्त्वबुभुत्सुकथा कहा जा सकता है। इसमें आचारादि विषयमें शिष्यकी शंकाओंका समाधान आचार्य करते हैं। अर्थात् आचारादिके विषयमें जो आक्षेप होते हों उनका समाधान गुरु करता है। किन्तु विक्षेपणी कथामें स्वसमय और परसमय दोनोंकी चर्चा है। यह कथा गुरु और शिष्यमें हो तब तो वह वीतरागकथा ही है पर यदि जयार्थी प्रतिवादी के साथ कथा हो तब वह वादकथा या विवाद कथामें समाविष्ट है। विक्षेपणीके पहले प्रकारका तात्पर्य यह जान पडता है कि वादी प्रथम अपने पक्षकी स्थापना करके प्रतिवादीके पक्षमें दोषोद्भावन करता है। दूसरा प्रकार प्रतिवादी को लक्ष्यमें रखकर किया गया जान पडता है। क्योंकि उसमें परपक्षका निरास और बादमें स्वपक्षका स्थापन है। अर्थात् वह वादीके पक्षका निराकरण करके अपने पक्षकी स्थापना करता है। तीसरी और चौथी विक्षेपणी कथाका तात्पर्य टीकाकारने जो बताया है उससे यह जान पडता है कि वादी प्रतिवादीके सिद्धान्तमें जितना सम्यगंश हो उसका स्वीकार करके मिथ्यांश का निराकरण करता है और प्रतिवादी भी ऐसा ही करता है।

निशीथभाष्यके पंचम उद्देशकमें (पृ० ७६) कथाके भेद बताते हुए कहा है—

"वादो जप्प वितंडा पइण्णगकहा य णिच्छयकहा य।"

इससे प्रतीत होता है कि टीकाके युगमें अन्यत्र प्रसिद्ध वाद, जल्प और वितण्डाने भी कथामें स्थान पा लिया था। किन्तु इसकी विशेषचर्चा यहाँ प्रस्तुत नहीं। इतना ही प्रस्तुत है कि मूल आगममें इन कथाओंने जल्पादि नामोंसे स्थान नहीं पाया है।

§३ विवाद।

स्थानांग सूत्रमें विवादके छ प्रकारोंका निर्देश है—

"छव्विहे विवादे पं० तं० १ ओसक्कतित्ता, २ उस्सक्कइत्ता, ३ अणुलोमइत्ता, ४ पडिलोमइत्ता, ५ भइत्ता, ६ मेलइत्ता।" सू० ५१२.

ये विवादके प्रकार नहीं है किन्तु वादी और प्रतिवादी विजयके लिये कैसी कैसी तरकीब किया करते थे, इसीका निर्देश मात्र है। टीकाकारने प्रस्तुतमें विवादका अर्थ जल्प किया है सो ठीक ही है। जैसे कि—

१ नियतसमयमें यदि वादीकी वाद करनेके लिये तैयारी न हो तो वह बहाना बनाकर सभास्थानसे खिसक जाता है या प्रतिवादीको खिसका देता है जिससे वादमें विलम्ब होनेके कारण उसे तैयारीका समय मिल जाय।

२ जब वादी अपने जय का अवसर देख लेता है तब वह स्वयं उत्सुकतासे बोलने लगता है या प्रतिवादीको उत्सुक बनाकर वादका शीघ्र प्रारंभ करा देता है।[1]

---

१ चरकके इस वाक्यके साथ उपर्युक्त दोनों विवादोंकी तुलना करना चाहिए—

"परस्य साद्गुण्यदोषबलमवेक्षितव्यम्, समवेक्ष्य च यत्रैनं श्रेष्ठं मन्येत नास्य तत्र जल्पं योजयेद् अनाविष्कृतमयोगं कुर्वन्। यत्र त्वेनमवरं मन्येत तत्रैवेनमाशु निगृह्णीयात्।"
विमानस्थान अ० ८. सू० २१।

ऊपर टीकाकारके अनुसार अर्थ किया है किन्तु चरकको देखते हुए यह अर्थ किया जा सकता है कि जिसमें अपनी अयोग्यता हो उस बातको टाल देना और जिसमें सामनेवाला अयोग्य हो उसीमें विवाद करना।

३ वादी सामनीतिसे विवादाध्यक्षको अपने अनुकूल बनाकर वादका प्रारंभ करता है। या प्रतिवादीको अनुकूल बनाकर वाद शुरू करदेता है और वादमें पड जानेके बाद उसे हराता है[१]।

४ यदि वादी देखता है कि वह प्रतिवादीको हरानेमें सर्वथा समर्थ है तब वह सभापति और प्रतिवादीको अनुकूल बनानेकी अपेक्षा प्रतिकूल ही बनाता है और प्रतिवादी को हराता है।

५ अध्यक्षकी सेवाकरके किया जानेवाला वाद।

६ अपने पक्षपाती सभ्योंसे अध्यक्षका मेल कराके या प्रतिवादीके प्रति अध्यक्षको द्वेषी बनाकर किया जानेवाला वाद।

वादी वाद शुरू होनेके पहले जो प्रपञ्च करता है उसके साथ अन्तिम दो विवादों की तुलना की जा सकती है। ऐसे प्रपञ्चका जिक्र चरकमें इन शब्दोंमें है–

"प्रागेव तावदिदं कर्तुं यतेत सन्धाय परिषदाऽयनभूतमात्मनः प्रकरणमादेशयितव्यम्; यद्वा परस्य भृशदुर्गं स्यात् पक्षम्, अथवा परस्य भृशं विमुखमानयेत्। परिषदि चोपसंहितायामशक्यमस्माभिर्वक्तुम् एषैव ते परिषद् यथेष्टं यथायोग्यं यथाभिप्रायं वादं वाद-मर्यादां च स्थापयिष्यतीत्युक्त्वा तूष्णीमासीत।" विमानस्थान अ० ८. सू० २५।

§४ वाददोष।

स्थानांगसूत्रमें जो दश दोष गिनाए गए हैं उनका भी संबन्ध वाद कथासे[२] है अत एव यहाँ उन दोषोंका निर्देश करना आवश्यक है–

"दसविहे दोसे पं० तं०
१ तज्जातदोसे, २ मतिभंगदोसे, ३ पसत्थारदोसे, ४ परिहरणदोसे।
५ सलक्खण, ६ क्कारण, ७ हेउदोसे ८ संकामणं, ९ निग्गह, १० वत्थुदोसे॥"
सू० ७४३।

१ प्रतिवादिके कुलका निर्देश करके वादमें दूषण देना। या प्रतिवादिकी प्रतिभासे क्षोभ होनेके कारण वादीका चूप हो जाना तज्जातदोष है।

२ वादप्रसंगमें प्रतिवादि या वादि का स्मृतिभ्रंश मतिभंग दोष है।

३ वादप्रसंगमें सभ्य या सभापति पक्षपाती होकर जयदान करे या किसीको सहायता दे तो वह प्रशास्तृदोष है।

---

१ चरकमें सन्धाय संभाषा वीतराग कथाको कहा है। इसका दूसरा नाम अनुलोम संभाषा भी उसमें है। विमानस्थान अ० ८. सू० १६। प्रस्तुतमें टीकाकार के अनुसार अर्थ किया गया है किन्तु संभव है कि अणुलोमइत्ता इसका संबन्ध चरकका अनुलोमसन्धायसंभाषाके साथ हो। चरककृत व्याख्या इस प्रकार है–

तत्र ज्ञानविज्ञानवचनप्रतिवचनशक्तिसंपन्नेनाकोपनेनानुपस्कृतविद्येनानसूयकेनानुनेयेनानुनयकोविदेन क्लेशक्षमेण प्रियसंभाषणेन च सह सन्धायसंभाषा विधीयते। तथाविधेन सह कथयन् विश्रब्धः कथयेत् पृच्छेदपि च विश्रब्धः, पृच्छते चास्मै विश्रब्धाय विशदमर्थं ब्रूयात्, न च निग्रहभयादुद्विजेत निगृह्य चैनं न हृष्येत्, न च परेषु विकत्थेत न च मोहादेकान्तग्राही स्यात्, न चाविदितमर्थमनुवर्णयेत् सम्यक् चानुनयेनानुनयेत्, तत्र चावहितः स्यात्। इति अनुलोमसंभाषाविधिः।"

चरककी विगृह्यसंभाषाकी स्थानांगगत प्रतिलोम से तुलना की जा सकती है। क्योंकि चरकके अनुसार विगृह्यसंभाषा अपनेसे हीन या अपनी बराबरी करने वालेके साथ ही करना चाहिए, श्रेष्ठसे कभी नहीं।

२ "एते हि गुरुशिष्ययोः वादिप्रतिवादिनोर्वा वादाश्रया इव लक्ष्यन्ते"।
स्थानांगसूत्रटीका० सू० ७४३।

४ सभाके नियमके विरुद्ध चलना या दूषणका परिहार जात्युत्तरसे करना परिहरणदोष है।

५ अतिव्याप्ति आदि दोष स्वलक्षण दोष हैं।

६ युक्तिदोष करणदोष कहलाता है।

७ असिद्धादि हेत्वाभास हेतुदोष हैं।

८ प्रतिज्ञान्तर करना संक्रमण है या प्रतिवादीके पक्षका स्वीकार करना संक्रमण दोष है। टीकाकारने इसका ऐसा भी अर्थ किया है कि प्रस्तुत प्रमेयकी चर्चाको छोड अप्रस्तुत प्रमेय की चर्चा करना संक्रमणदोष है।

९ छलादिके द्वारा प्रतिवादीको निगृहीत करना निग्रह दोष है।

१० पक्षदोषको वस्तुदोष कहा जाता है जैसे प्रत्यक्षनिराकृत आदि।

इनमें से प्रायः सभी दोषोंका वर्णन न्यायशास्त्रमें स्पष्टरूपसे हुआ है। अतएव विशेष विवेचनकी आवश्यकता नहीं।

§५ विशेषदोष।

स्थानांगसूत्रमें विशेषके दश प्रकार[1] गिनाए गये हैं उनका संबन्ध भी दोषसे ही है ऐसा टीकाकारका अभिप्राय है। मूलकारका अभिप्राय क्या है कहा नहीं जा सकता। टीकाकारने उन दस प्रकारके विशेषका जो वर्णन किया है वह इस प्रकार है–

१ वस्तुदोषविशेष से मतलब है पक्षदोषविशेष; जैसे प्रत्यक्षनिराकृत, अनुमाननिराकृत, प्रतीतिनिराकृत, स्ववचननिराकृत और लोकरूढिनिराकृत।

२ जन्म मर्म कर्म आदि विशेषोंको लेकर किसीको वादमें दूषण देना तज्जातदोषविशेष है।

३ पूर्वोक्त मतिभंगादि जो आठ दोष गिनाए हैं वे भी दोषसामान्यकी अपेक्षासे दोषविशेष होनेसे दोषविशेष कहे जाते हैं।

४ एकार्थिकविशेष अर्थात् पर्यायवाची शब्दोंमें जो कथञ्चिद् भेदविशेष होता है वह; अथवा एक ही अर्थका बोध करानेवाले शब्दविशेष।[2]

५ कारणविशेष–परिणामिकारण और अपेक्षाकारण ये कारणविशेष हैं। अथवा उपादान, निमित्त, सहकारि, ये कारणविशेष हैं। अथवा कारणदोषविशेष का मतलब है युक्तिदोष। दोष सामान्यकी अपेक्षा से युक्तिदोष यह एक विशेष दोष है।

६ वस्तुको प्रत्युत्पन्न ही माननेपर जो दोष हो वह प्रत्युत्पन्नदोषविशेष है। जैसे अकृताभ्यागमकृतविप्रणाशादि।

७ जो दोष सर्वदा हो वह नित्यदोषविशेष है जैसे अभव्य में मिथ्यात्वादि। अथवा वस्तुको सर्वथा नित्य माननेपर जो दोष हो वह नित्यदोषविशेष है।

---

१ "दसविधे विसेसे पं० तं० वत्थु १ तजात दोसे २ त, दोसे एगट्ठितेति ३ त। कारणे ४ त पडुप्पण्णे ५, दोसे ६ निच्चे ७ हि अट्ठमे ८ ॥ १ ॥ अत्तणा ९ उवणीते १० त विसेसेति त, ते दस।" स्थानांग सूत्र० ७४३। २ इस दोषसे मूलकारका अभिप्राय पुनरुक्त निग्रहस्थानसे (न्यायसू० ५.२.१४) और चरकसंमत अधिक नामक वाक्यदोषसे ("यद्वा सम्बद्धार्थमपि द्विरभिधीयते तत् पुनरुक्तत्वाद् अधिकम्"–विमान० अ० ८. सू. ५४) हो तो आश्चर्य नहीं।

८ अधिकदोषविशेष वह है जो प्रतिपत्तिके लिये अनावश्यक ऐसे अवयवोंका प्रयोग होनेपर होता है ।

न्यायसूत्रसंमत अधिक निग्रहस्थान यहाँ अभिप्रेत है ।

९ स्वयंकृत दोष ।

१० परापादित दोष ।

§ ६ प्रश्न ।

स्थानांगसूत्रमें प्रश्नके छ प्रकार बताए गये हैं—

१ संशयप्रश्न

२ व्युद्ग्रहप्रश्न

३ अनुयोगी

४ अनुलोम

५ तथाज्ञान

६ अतथाज्ञान

वादमें, चाहे वह वीतराग कथा हो या जल्प हो, प्रश्न का पर्याप्त महत्त्व है । प्रस्तुत सूत्रमें प्रश्नके भेदोंका जो निर्देश है वह प्रश्नोंके पीछे रही प्रष्टाकी भावना या भूमिकाके आधारपर है ऐसा प्रतीत होता है ।

१ संशयको दूर करनेके लिये जो प्रश्न पूछा जाय वह संशयप्रश्न है ।

इस संशयने न्यायसूत्रके सोलह पदार्थोंमें और चरकके वादपदोंमें स्थान पाया है ।

संशय प्रश्नकी विशेषता यह है कि उसमें दो कोटिका निर्देश होता है । जैसे **"किंनु खलु अस्त्यकालमृत्युः उत नास्तीति" विमान० अ० ८. सू० ४३ ।**

२ प्रतिवादी जब अपने मिथ्याभिनिवेशके कारण प्रश्न करता है तब वह व्युद्ग्रह प्रश्न है ।

३ स्वयं वक्ता अपने वक्तव्यको स्पष्ट करनेके लिये प्रश्न खडा करके उसका उत्तर देता है तब वह अनुयोगी प्रश्न है अर्थात् व्याख्यान या प्ररूपणाके लिये किया गया प्रश्न । चरकमें एक अनुयोग वादपद है उसका लक्षण इस प्रकार चरकने किया है—

अनुयोगो नाम स यत्तद्विद्यानां तद्विद्यैरेव सार्धं तन्त्रे तन्त्रैकदेशे वा प्रश्नः प्रश्नैकदेशो वा ज्ञानविज्ञानवचनप्रतिवचनपरीक्षार्थमादिश्यते, यथा नित्यः पुरुष इति प्रतिज्ञाते यत् परः 'को हेतुः' इत्याह सोऽनुयोगः ।

स्थानांगका अनुयोगी प्रश्न वस्तुतः चरकके अनुयोगसे अभिन्न होना चाहिए ऐसा चरकके उक्त लक्षण से स्पष्ट है ।

४ अनुलोमप्रश्न वह है जो दूसरेको अपने अनुकूल करनेके लिये किया जाता है जैसे कुशलप्रश्न ।

५ जिस वस्तुका ज्ञान पृच्छक और प्रष्टव्यको समान भावसे हो फिर भी उस विषयमें पूछा जाय तब वह प्रश्न तथाज्ञानप्रश्न है । जैसे भगवतीमें गौतमके प्रश्न ।

६ इससे विपरीत अतथाज्ञान प्रश्न है ।

इन प्रश्नोंके प्रसंगमें उत्तरकी दृष्टिसे चार प्रकारके प्रश्नोंका जो वर्णन बौद्धग्रन्थोंमें आता है उसका निर्देश उपयोगी है–

१ कुछ प्रश्न ऐसे हैं जिनका है या नहीं में उत्तर दिया जाता है–एकांशव्याकरणीय ।

२ कुछ प्रश्न ऐसे हैं जिनका उत्तर प्रति प्रश्न के द्वारा दिया जाता है–प्रतिपृच्छाव्याकरणीय ।

३ कुछ प्रश्न ऐसे हैं जिनका उत्तर विभाग करके अर्थात् एक अंशमें 'है' कहकर और दूसरे अंशमें 'नहीं' कहकर दिया जाता है–विभज्यव्याकरणीय ।

४ कुछ प्रश्न ऐसे हैं जो स्थापनीय–अव्याकृत हैं जिनका उत्तर दिया नहीं जाता ।[१]

§७ छल-जाति ।

स्थानांगसूत्रमें हेतुशब्दका प्रयोग नाना अर्थमें हुआ है । प्रमाणसामान्य अर्थमें हेतुशब्दका प्रयोग प्रथम (पृ० ६३) बताया गया है । साधन अर्थमें हेतुशब्दका प्रयोग भी हेतुचर्चामें (पृ० ७८) बताया गया है । अब हम हेतुशब्दके एक और अर्थकी ओर भी वाचकका ध्यान दिलाना चाहते हैं । स्थानांगमें हेतुके जो–यापक आदि निम्न लिखित चार भेद बताये हैं उनकी व्याख्या देखनेसे स्पष्ट है कि यापक हेतु असद्धेतु है और स्थापक ठीक उससे उलटा है । इसी प्रकार व्यंसक और लूषकमें भी परस्पर विरोध है । अर्थात् ये चार हेतु दो द्वन्द्वोंमें विभक्त हैं ।

यापक हेतुमें मुख्यतया साध्यसिद्धिका नहीं पर प्रतिवादीको जात्युत्तर देनेका ध्येय है । उसमें कालयापन करके प्रतिवादिको धोखा दिया जाता है । इसके विपरीत स्थापक हेतुसे अपने साध्यको शीघ्र सिद्ध करना इष्ट है । व्यंसक हेतु यह छल प्रयोग है तो लूषक हेतु प्रतिच्छल है । किन्तु प्रतिच्छल इस प्रकार किया जाता है जिससे कि प्रतिवादीके पक्षमें प्रसंगापादान हो और परिणामतः वह वादीके पक्षको स्वीकृत करनेके लिये बाध्य हो । अब हम यापकादिका शास्त्रोक्त विवरण देखें–(स्थानांग सू० ३३८)

(१) जावते (यापकः)

(२) थावते (स्थापकः)

(३) वंसते (व्यंसकः)

(४) लूसते (लूषकः)

इन्हीं हेतुओंका विशेष वर्णन दशवैकालिकसूत्र की निर्युक्तिमें (गा० ८६ से) आ० भद्रबाहुने किया है उसीके आधारसे उनका परिचय यहाँ कराया जाता है, क्योंकि स्थानांगमें हेतुओंके नाममात्र उपलब्ध होते हैं । भद्रबाहुने चारों हेतुओंको लौकिक उदाहरणोंसे स्पष्ट किया है किन्तु उन हेतुओंका द्रव्यानुयोगकी चर्चामें कैसे प्रयोग होता है उसका स्पष्टीकरण दशवैकालिकचूर्णिमें है इसका भी उपयोग प्रस्तुत विवरणमें किया है ।

(१) यापक ।

जिसको विशेषणोंकी बहुलताके कारण प्रतिवादी शीघ्र न समझसके और प्रतिवाद करनेमें असमर्थ हो, ऐसे हेतु को कालयापनमें कारण होनेसे यापक कहा जाता है । अथवा जिसकी व्याप्ति प्रसिद्ध न होनेसे तत्साधक अन्य प्रमाणकी अपेक्षा रखनेके कारण साध्यसिद्धिमें विलम्ब होता हो उसे यापक कहते हैं ।

---

१ दीघ० ३३ । मिलिन्द पृ० १७९ ।

इसका लौकिक उदाहरण दियागया है–किसी असाध्वी स्त्रीने अपने पतिको ऊंटकी लींडिया देकर कहा कि उज्जयिनीमें प्रत्येकका एक रूपया मिलेगा अत एव वहीं जाकर बेचो। मूर्ख पति जब लोभवश उज्जयिनी गया तो उसे काफी समय लग गया। इस बीच उस स्त्रीने अपने जारके साथ कालयापन किया[१]।

यापकका अर्थ टीकाकारोंने जैसा किया है ऊपर लिखा है। वस्तुतः उसका तात्पर्य इतना ही जान पडता है कि प्रतिवादीको समझनेमें देरी लगे वैसे हेतुके प्रयोगको यापक कहना चाहिए। यदि यापकका यही मतलब है तो इसकी तुलना अविज्ञातार्थ निग्रहस्थानयोग्य वाक्यप्रयोगसे करना चाहिए। न्यायसूत्रकारने कहा है कि वादी तीन दफह उच्चारणकरे फिर भी यदि प्रतिवादी और पर्षत् समझ न सके तो वादीको अविज्ञातार्थनिग्रहस्थान प्राप्त होता है। अर्थात् न्यायसूत्रकारके मतसे यापक हेतुका प्रयोक्ता निगृहीत होता है।

"परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहितमपि अविज्ञातमविज्ञातार्थम्।" न्यायसू० ५.२.९।

ऐसा ही मत उपायहृदय (पृ० १) और तर्कशास्त्र (पृ० ८) कामी है।

चरकसंहितामें विगृह्यसंभाषाके प्रसंगमें कहा है कि **"तद्विधेन सह कथयता त्वाविद्धदीर्घसूत्रसंकुलैर्वाक्यदण्डकैः कथयितव्यम्।" विमानस्थान अ० ८. सू० २०।** इसका भी उद्देश्य यापक हेतुके समान ही प्रतीत होता है।

वादशास्त्रके विकासके साथ साथ यापक जैसे हेतुके प्रयोक्ताको निग्रहस्थानकी प्राप्ति मानी जाने लगी यह न्यायसूत्रके अविज्ञात निग्रहस्थानसे स्पष्ट है।

तर्कशास्त्र (पृ० ३९) उपायहृदय (पृ० १९) और न्यायसूत्रमें (५.२.१८) एक अज्ञान निग्रहस्थान भी है उसका कारण भी यापक हेतु हो सकता है क्योंकि अज्ञान निग्रहस्थान तब होता है जब प्रतिवादी वादीकी बातको समझ न सके। अर्थात् वादीने यदि यापक हेतुका प्रयोग किया हो तो प्रतिवादी शीघ्र उसे नहीं समझ पाता और निगृहीत होता है। इसी अज्ञानको चरकने अविज्ञान कहा है–वही ६५।

(२) स्थापक।

प्रसिद्धव्याप्तिक होनेसे साध्यको शीघ्र स्थापित करदेनेवाले हेतुको स्थापक कहते हैं। इसके उदाहरणमें एक संन्यासीकी कथा है[२], जो प्रत्येक ग्राममें जाकर उपदेश देता था कि लोकमध्यमें दियागया दान सफल होता है। पूछने पर प्रत्येक गावमें किसीभागमें लोकमध्य बताता था और दान लेता था। किसी श्रावकने उसकी धूर्तता प्रकट की। उसने कहा कि यदि उस गांवमें लोकमध्य था तो फिर यहां नहीं और यदि यहां है तो उधर नहीं। इस प्रकार वादचर्चामें ऐसा ही हेतु रखना चाहिए कि अपना साध्य शीघ्र सिद्ध हो जाय और संन्यासीके वचन की तरह परस्पर विरोध न हो। यह हेतु यापकसे ठीक विपरीत है और सद्धेतु है।

चरकसंहितामें वादपदोंमें जो स्थापना और प्रतिस्थापनाका द्वन्द्व है उसमेंसे प्रतिस्थापनाकी स्थापकके साथ तुलना की जा सकती है। जैसे स्थापक हेतुके उदाहरणमें कहा गया है कि संन्यासीके वचनमें विरोध बता कर प्रतिवादी अपनी बातको सिद्ध करता है उसी प्रकार

१ "उब्भामिया य महिला जावगहेउम्मि उण्टलिंडाइं।" दशवै० नि० गा० ८७। २ "लोगस्स मज्झजाणण थावगहेऊ उदाहरणं" दशवै० नि० ८७।

चरकसंहितामें भी स्थापनाके विरुद्धमें ही प्रतिस्थापना का निर्देश है **"प्रतिस्थापना नाम या तस्या एव परप्रतिज्ञायाः प्रतिविपरीतार्थस्थापना"** वही ३२।

(३) व्यंसक ।

प्रतिवादीको मोहमें डालनेवाले अर्थात् छलनेवाले हेतुको व्यंसक कहते हैं। लौकिक उदाहरण शकटतित्तिरी[1] है। किसी धूर्तने शकटमें रखी हुई तित्तिरीको देखकर शकटवालेसे छलपूर्वक पूछा कि शकटतित्तिरीकी क्या कीमत है? शकटवालेने उत्तरदिया तर्पणालोडिका-जलमिश्रित सक्तु। धूर्तने उतनी कीमतमें शकट और तित्तिरी–दोनों ले लिये। इसी प्रकार वादमें भी प्रतिवादी जो छलप्रयोग करता है वह व्यंसक हेतु है। जैन वादीके सामने कोई कहे कि जिनमार्गमें जीव भी अस्ति है और घट भी अस्ति है तब तो अस्तित्वाविशेषात् जीव और घटका ऐक्य मानना चाहिए। यदि जीवसे अस्तित्व को भिन्न मानते हो तब जीवका अभाव होगा। यह व्यंसक हेतु है।

(४) लूषक ।

व्यंसक हेतुके उत्तरको लूषक हेतु कहते हैं। अर्थात् इससे व्यंसक हेतुसे आपादित अनिष्टका परिहार होता है।

इसके उदाहरणमें भी एक धूर्तके छल और प्रतिच्छलकी कथा है। ककडीसे भरा शकट देखकर धूर्तने शाकटिकसे पूछा–शकटकी ककडी खाजानेवालेको क्या दोगे? उत्तर मिला–ऐसा मोदक जो नगरद्वारसे बहार न निकलसके[3]। धूर्त शकटपर चडकर थोडा थोडा सभी ककडीमें से खाकर इनाम मांगने लगा। शाकटिकने आपत्ति की कि तुमने सभी ककडी तो खाई नहीं। धूर्तने कहा कि अच्छा तब बेचना शुरू करो। इतनेमें ग्राहकोंने कहा–'ये सभी ककडी तो खाई हुई है'। सुनकर धूर्तने कहा देखो 'सभी ककडी खाई है' ऐसा अन्य लोग भी स्वीकार करते हैं। मुझे इनाम मिलना चाहिए। तब शाकटिकने भी प्रतिच्छल किया। एक मोदक नगरद्वारके पास रखकर कहा 'यह मोदक द्वारसे नहीं निकलता। इसे ले लो'। जैसा ककडीके साथ 'खाई है' प्रयोग देखकर धूर्तने छल कियाथा वैसा ही शाकटिकने 'नहीं निकलता' ऐसे प्रयोगके द्वारा प्रतिछल किया। इसी प्रकार वादचर्चामें उक्त व्यंसक हेतुका प्रत्युत्तर लूषक हेतुका प्रयोग करके देना चाहिए। जैसे कि यदि तुम जीव और घटका ऐक्य सिद्ध करते हो वैसे तो अस्तित्व होनेसे सभी भावोंका ऐक्य सिद्ध हो जायगा। किन्तु वस्तुतः देखा जाय तो घट और पटादि ये सभी पदार्थ एक नहीं, तो फिर जीव और घट भी एक नहीं।

व्यंसक और लूषक इन दोनोंके उक्त दो उदाहरण जो लौकिक कथासे लिये गये हैं वे वाक्छलान्तर्गत हैं। किन्तु द्रव्यानुयोगके उदाहरणोंमें जो बात कही गई है वह वाक्छल नहीं। चरकगत सामान्य छलके उदाहरणको देखते हुए कहा जा सकता है कि इन दोनों हेतुओंके द्रव्यानुयोग विषयक उदाहरणोंको चरकके अनुसार सामान्य छल कहा जा सकताहै, चरकमें सामान्य छलका उदाहरण इस प्रकार है–**"सामान्यच्छलं नाम यथा व्याधिप्रशमनायौषध-**

---

१ "सा सगडतित्तिरी–वंसगंमि होई नायव्वा।" वही ८८। 'शकटतित्तिरी' के दो अर्थ हैं शकटमें रहीहुई तित्तिरी और शकटके साथ तित्तिरी। २ तर्पणालोडिकाके दो अर्थ हैं जलमिश्रित सक्तु और सक्तुका मिश्रण करती स्त्री। २ "तउसगवंसग लूसगहेउम्मि य मोयगो य पुणो।" वही गा० ८८।

मित्युक्ते परो ब्रूयात् सत् सत्प्रशमनायेति किं नु भवानाह। सन् हि रोगः सदौषधम्, यदि च सत् सत्प्रशमनाय भवति तत्र सन् ही कासः सन् क्षयः सत्सामान्यात् कासस्ते क्षयप्रशमनाय भविष्यति इति।" वही ५६।

न्यायसूत्रके अनुसार भी द्रव्यानुयोगके उदाहरणोंको सामान्य छलान्तर्गत कहा जा सकता है न्यायसू० १. २. १३।

अथवा न्यायसूत्रगत अविशेषसमजाति प्रयोगके अन्तर्गत भी कहा जा सकता है, क्यों कि उसका लक्षण इस प्रकार है—"एकधर्मोपपत्तेरविशेषे सर्वाविशेषप्रसङ्गात् सद्भावोपपत्तेरविशेषसमः।" न्यायसू० ५.१.२३ "एको धर्मः प्रयत्नानन्तरीयकत्वं शब्दघटयोरुपपद्यत इत्यविशेषे उभयोरनित्यत्वे सर्वस्याविशेषः प्रसज्यते। कथम्? सद्भावोपपत्तेः। एको धर्मः सद्भावः सर्वस्योपपद्यते। सद्भावोपपत्तेः सर्वाविशेषप्रसंगात् प्रत्यवस्थानमविशेषसमः।" न्यायभा०।

बौद्धग्रन्थ तर्कशास्त्रगत (पृ० १५) अविशेषखण्डन की तुलना भी यहाँ कर्तव्य है। न्यायमुख गत अविशेषदूषणाभास भी इसी कोटिका है।

छलवादी ब्राह्मण सोमिलके प्रश्नमें रहे हुए शब्दच्छलको ताड करके भगवान् महावीरने उस छलवादीके शब्दच्छलका जो उत्तर दिया है उसका उद्धरण यहाँ अप्रासंगिक नहीं होगा। क्योंकि इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वयं भगवान् महावीर वादविद्यामें प्रवीण थे और उस समय लोक कैसा शब्दच्छल किया करते थे—

"सरिसवा ते भन्ते किं भक्खेया अभक्खेया?"

"सोमिला! सरिसवा भक्खेया वि अभक्खेया वि।"

"से केणट्ठेणं भन्ते एवं वुच्चइ—सरिसवा मे भक्खेया वि अभक्खेया वि'?"

"से नूणं ते सोमिला! बंभण्णएसु नएसु दुविहा सरिसवा पन्नत्ता, तंजहा—मित्तसरिसवा य धन्नसरिसवा य। तत्थ णं जे ते मित्तसरिसवा······ते णं समणाणं निग्गंथाणं अभक्खेया। तत्थ णं जे ते धन्नसरिसवा······असणिज्जा ते समणाणं निग्गंथाणं अभक्खेया।······तत्थणं जे ते जातिया······लद्धा ते णं समणाणं निग्गंथाणं भक्खेया······।"

"मासा ते भंते किं भक्खेया अभक्खेया"।

"सोमिला! मासा मे भक्खेया वि अभक्खेया वि।"

"से केणट्ठेणं······"

"से नूणं ते सोमिला! बंभण्णएसु नएसु दुविहा मासा पन्नता। तंजहा—दव्वमासा य कालमासा य। तत्थ णं जे ते कालमासा ते णं सावणादीया······ते णं समणाणं निग्गंथाणं अभक्खेया। तत्थ णं जे ते दव्वमासा ते दुविहा पन्नत्ता अत्थमासा य धन्नमासा य। तत्थणं जे ते अत्थमासा······ते······निग्गंथाणं अभक्खेया। तत्थणं जे ते धन्नमासा······एवं जहा धन्नसरिसवा······।"

"कुलत्था ते भन्ते किं भक्खेया अभक्खेया?"

"सोमिला! कुलत्था भक्खेया वि अभक्खेया वि।"

"से केणट्ठेणं?"

"से नूणं सोमिला! ते बंभण्णएसु दुविहा कुलत्था पन्नत्ता, तंजहा, इत्थिकुलत्था य धन्नकुलत्था य। तत्थ जे ते इत्थिकुलत्था······ते······निग्गंथाणं अभक्खेया। तत्थ णं जे ते धन्नकुलत्था एवं जहा धन्नसरिसवा······।"

भगवती १८. १०।

इस चर्चामें प्राकृत भाषाके कारण शब्दच्छलकी गुंजाईश है यह बात भाषाविदोंको कहनेकी आवश्यकता नहीं।

§८ उदाहरण—ज्ञात—दृष्टांत।

जैनशास्त्रमें उदाहरणके भेदोपभेद बताये हैं किन्तु उदाहरणका नैयायिकसंमत संकुचित अर्थ न लेकर किसी वस्तुकी सिद्धि या असिद्धिमें दी जानेवाली उपपत्ति उदाहरण है ऐसा विस्तृत अर्थ लेकरके उदाहरण शब्दका प्रयोग किया गया है। अतएव किसी स्थानमें उसका अर्थ दृष्टान्त तो किसी स्थानमें आख्यानक, और किसी स्थानमें उपमान तो किसी स्थानमें युक्ति या उपपत्ति होता है। वस्तुतः जैसे चरकने वादमार्गपद[1] कह करके या न्यायसूत्रने[2] तत्त्वज्ञानके विषयभूत पदार्थोंका संग्रह करना चाहा है वैसे ही किसी प्राचीन परंपराका आधार लेकर स्थानांग सूत्रमें उदाहरणके नामसे वादोपयोगी पदार्थोंका संग्रह किया है। जिस प्रकार न्यायसूत्रसे चरकका संग्रह स्वतन्त्र है और किसी प्राचीनमार्गका अनुसरण करता है उसी प्रकार जैन शास्त्रगत उदाहरणका वर्णन भी उक्त दोनोंसे पृथक् ही किसी प्राचीन परंपराका अनुगामी है।

यद्यपि निर्युक्तिकारने उदाहरणके निम्न लिखित पर्याय बताये हैं किन्तु सूत्रोक्त उदाहरण उन पर्यायोंसे प्रतिपादित अर्थोंमें ही सीमित नहीं है जो अगले वर्णनसे स्पष्ट है—

"नायमुदाहरणं ति य दिट्ठंतोवम निदरिसणं तहय। एगट्ठं"—दशवै० नि० ५२।

स्थानांगसूत्रमें ज्ञात—उदाहरणके चार भेदोंका उपभेदोंके साथ जो नामसंकीर्तन है वह इस प्रकार है—सू० ३३८।

१ आहरण	२ आहरणतद्देश	३ आहरणतद्दोष	४ उपन्यासोपनय
(१) अपाय	(१) अनुशास्ति	(१) अधर्मयुक्त	(१) तद्वस्तुक
(२) उपाय	(२) उपालम्भ	(२) प्रतिलोम	(२) तदन्यवस्तुक
(३) स्थापनाकर्म	(३) पृच्छा	(३) आत्मोपनीत	(३) प्रतिनिभ
(४) प्रत्युत्पन्नविनाशी	(४) निश्रावचन	(४) दुरुपनीत	(४) हेतु

उदाहरणके इन भेदोपभेदोंका स्पष्टीकरण दशवैकालिकनिर्युक्ति और चूर्णिमें है। उसीके आधारपर हरिभद्रने दशवैकालिकटीकामें और अभयदेवने स्थानांगटीकामें स्पष्टीकरण किया है। निर्युक्तिकारने अपायादि प्रत्येक उदाहरणके उपभेदोंका चरितानुयोगकी दृष्टिसे तथा द्रव्यानुयोगकी दृष्टिसे वर्णन किया है किन्तु प्रस्तुतमें प्रमाण चर्चोपयोगी द्रव्यानुयोगानुसारी स्पष्टीकरण ही करना इष्ट है।

(१) आहरण।

(१) अपाय अनिष्टापादन करदेना अपायोदाहरण है। अर्थात् प्रतिवादीकी मान्यतामें अनिष्टापादन करके उसकी सदोषताके द्वारा उसके परित्यागका उपदेश देना यह अपायोदाहरणका प्रयोजन है। भद्रबाहुने अपायके विषयमें कहा है कि [3]जो लोग आत्माको एकान्त नित्य

---

१ वही सू० २७। २ न्यायसू० १.१.१।

३ "दव्वादिएहिं निच्चो एगंतेणेव जेसिं अप्पा उ।
होइ अभावो तेसिं सुहदुहसंसारमोक्खाणं ॥ ५९ ॥
सुहदुक्खसंपओगो न विज्जई निच्चवायपक्खंमि।
एगंतुच्छेअंमि अ सुहदुक्खविगप्पणमजुत्तं ॥ ६० ॥" दशवै० नि०

या एकान्त अनित्य मानते हैं उनके मतमें सुख-दुख-संसार-मोक्षकी घटना बन नहीं सकती। इस लिये दोनों पक्षोंको छोडकर अनेकान्तका आश्रय लेना चाहिए। दूसरे दार्शनिक जिसे प्रसंगापादन कहते हैं उसकी तुलना अपायसे करना चाहिए।

सामान्यतया दूषणको भी अपाय कहा जा सकता है। वादीको स्वपक्षमें दूषणका उद्धार करना चाहिए और परपक्षमें दूषण देना चाहिए।

(२) **उपाय**—इष्ट वस्तुकी प्राप्ति या सिद्धिके व्यापार विशेषको उपाय कहते हैं। आत्मास्तित्वरूप इष्टके साधक सभी हेतुओंका अवलंबन करना उपायोदाहरण है। जैसे आत्मा प्रत्यक्ष नहीं है फिर भी सुख-दुःखादि धर्मका आश्रय—धर्मी होना चाहिए। ऐसा जो धर्मी है वही आत्मा है। तथा जैसे देवदत्त हाथीसे घोडेपर संक्रान्ति करता है, ग्रामसे नगरमें, वर्षासे शरदमें और औदयिकादिभावसे उपशममें संक्रान्ति करता है वैसेही जीव भी—द्रव्यक्षेत्रादिमें संक्रान्ति करता है तो वह भी देवदत्तकी तरह है[1]।

बौद्धग्रन्थ 'उपायहृदय'में जिस अर्थमें उपाय शब्द है उसी अर्थका बोध प्रस्तुत उपाय शब्दसे भी होता है। वादमें वादीका धर्म है कि वह स्वपक्षके साधक सभी उपायोंका उपयोग करे और स्वपक्षदूषणका निरास करे। अतएव उसके लिये वादोपयोगी पदार्थोंका ज्ञान आवश्यक है। उसी ज्ञानको करानेके लिये 'उपायहृदय' ग्रन्थ की रचना हुई है। स्थानांगगत अपाय और उपायका भी यही भाव है कि अपाय अर्थात् दूषण और उपाय अर्थात् साधन। दूसरेके पक्षमें अपाय बताना चाहिए और स्वपक्षमें अपायसे बचना चाहिए। स्वपक्षकी सिद्धिके लिये उपाय करना चाहिए और दूसरेके उपायमें अपायका प्रतिपादन करना चाहिए।

(३) **स्थापनाकर्म**—इष्ट अर्थकी सम्यग्प्ररूपणा करना स्थापनाकर्म है। वादी प्रतिवादीद्वारा व्यभिचार बतलाये जानेपर व्यभिचार निवृत्तिद्वारा यदि हेतुकी सम्यग् स्थापना करता है तब वह स्थापना कर्म है—

"सवभिचारं हेतुं सहसा वोत्तुं तमेव अन्नेहिं।
उववूहइ सप्पसरं सामत्थं चप्पणो नाउं॥ ६८॥"

अभयदेवने इस विषयमें निम्नलिखित प्रयोग दरसाया है "अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्" यहाँ कृतकत्वहेतु सव्यभिचार है क्योंकि वर्णात्मकशब्द नित्य है। किन्तु वादी वर्णात्मकशब्दको भी अनित्य सिद्ध कर देता है—कि "वर्णात्मा शब्दः कृतकः, निजकारणभेदेन भिद्यमानत्वात् घटपटादिवत्"। यहाँ घटपटादिके दृष्टान्तसे वर्णात्मकशब्दका अनित्यत्व स्थापित हुआ है अतएव यह स्थापनाकर्म हुआ।

'स्थापनाकर्म' की भद्रबाहुकृत व्याख्याको अलग रखकर अगर शब्दसादृश्य की ओर ही ध्यान दिया जाय तो चरकसंहितागत स्थापनासे इसकी तुलना की जा सकती है। चरकके मतसे किसी प्रतिज्ञाको सिद्ध करनेके लिये हेतु दृष्टान्त उपनय और निगमनका आश्रय

---

१ वही ६३—६६। २ टूचीने चीनीसे संस्कृतमें इस ग्रन्थका अनुवाद किया है। इन्होंने जो प्रतिसंस्कृत 'उपाय' शब्द रखा है वह ठीक ही जंचता है। यद्यपि स्वयं टूचीको प्रतिसंस्कृतमें संदेह है।

लेना स्थापना है । अर्थात् न्याय वाक्य दो भागोंमें विभक्त है – प्रतिज्ञा और स्थापना । प्रतिज्ञासे अतिरिक्त जिन अवयवोंसे वस्तु स्थापित – सिद्ध होती है उनको स्थापना कहा जाता है –

"स्थापना नाम तस्या एव प्रतिज्ञायाः हेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनैः स्थापना । पूर्वं हि प्रतिज्ञा पश्चात् स्थापना । किं हि अप्रतिज्ञातं स्थापयिष्यति ।" वही ३१. ।

आ० भद्रबाहुने जो अर्थ किया है वही अर्थ यदि स्थापनाकर्मका लिया जाय तब चरकसंहितागत 'परिहार'के साथ स्थापनाकर्मका सादृश्य है । क्यों कि परिहारकी व्याख्या चरकने ऐसी की है – **"परिहारो नाम तस्यैव दोषवचनस्य (हेतुदोषवचनस्य) परिहरणम्"** वही ६० ।

(४) **प्रत्युत्पन्नविनाशी** – जिससे आपन्न दूषणका तत्काल निवारण हो वह प्रत्युत्पन्नविनाशी है जैसे किसी शून्यवादीने कहा कि जब सभी पदार्थ नहीं तो जीवका सद्भाव कैसे ? तब उसको तुरंत उत्तर देना कि

"जं भणसि नत्थि भावा वयणमिणं अत्थि नत्थि जइ अत्थि ।
एव पइन्नाहाणी असओ णु निसेहए को णु ॥ ७१ ॥

अर्थात् निषेधक वचन है या नहीं ? यदि है तो सर्व निषेध नहीं हुआ क्यों कि वचन सत् हो गया । यदि नहीं तो सर्वभावका निषेध कैसे ? असत् ऐसे वचनसे सर्ववस्तुका निषेध नहीं हो सकता । और जीवके निषेधका भी उत्तर देना कि तुमने जो शब्दप्रयोग किया वह तो विवक्षापूर्वक ही । यदि जीव ही नहीं तो विवक्षा किसे होगी ? अजीवको तो विवक्षा होती नहीं । अत एव जो निषेधवचनका संभव हुआ उसीसे जीवका अस्तित्व भी सिद्ध हो जाता है । यह उत्तरका प्रकार प्रत्युत्पन्नविनाशी है – दशवै० नि० गा० ७०–७२ ।

आ० भद्रबाहुकी कारिकाके साथ विग्रहव्यावर्तनीकी प्रथम कारिकाकी तुलना करना चाहिए । प्रतिपक्षीको प्रतिज्ञाहानि निग्रहस्थानसे निगृहीत करना प्रत्युत्पन्नविनाशी आहरण है । प्रतिज्ञाहानि निग्रहस्थान न्यायसूत्र (५. २. २) चरक (वही ६१) और तर्कशास्त्रमें (पृ० ३३) है ।

(२) **आहरणतद्देश ।**

(१) **अनुशास्ति** – प्रतिवादीके मन्तव्यका आंशिक स्वीकार करके दूसरे अंशमें उसको शिक्षा देना अनुशास्ति है जैसे सांख्य को कहना कि सच है आत्माको हम भी तुम्हारी तरह सद्भूत मानते हैं किन्तु वह अकर्ता नहीं, कर्ता है, क्यों कि वही सुखदुःखका वेदन करता है । अर्थात् कर्मफल पाता है –

"जेसिं पि अत्थि आया वत्तव्वा ते वि अम्ह वि स अत्थि ।
किन्तु अकत्ता न भवइ वेययइ जेण सुहदुक्खं ॥ ७५ ॥"

(२) **उपालम्भ** – दूसरेके मतको दूषित करना उपालम्भ है । जैसे चार्वाकको कहना कि यदि आत्मा नहीं है तो 'आत्मा नहीं है' ऐसा तुम्हारा कुविज्ञान भी संभव नहीं है । अर्थात् तुम्हारे इस कुविज्ञानको स्वीकार करके भी हम कह सकते हैं कि उससे आत्माभाव सिद्ध नहीं । क्यों कि 'आत्मा है' ऐसा ज्ञान हो या 'आत्मा नहीं है' ऐसा कुविज्ञान हो ये दोनों कोई चेतन जीवके अस्तित्वके विना संभव नहीं क्यों कि अचेतन घटमें न ज्ञान है न कुविज्ञान – दशवै० नि० ७६ – ७७ ।

उपालम्भका दार्शनिकोंमें सामान्य अर्थ तो यह किया जाता है कि दूसरेके पक्षमें दूषणका उद्भावन करना[1] किन्तु चरकने वादपदोंमें भी उपालम्भ को स्वतन्त्ररूपसे गिनाया है और कहा है कि "उपालम्भो नाम हेतोर्दोषवचनम् ।" (५९.) अर्थात् चरकके अनुसार हेत्वाभासोंका उद्भावन उपालम्भ है। न्यायसूत्रका हेत्वाभासरूप निग्रहस्थान (५.२.२५) ही चरकका उपालम्भ है। स्वयं चरकने भी अहेतु (५७) नामक एक स्वतन्त्र वादपद रखा है। अहेतुका उद्भावन ही उपालम्भ है। तर्कशास्त्र (पृ० ४०) और उपायहृदयमें भी (पृ० १४) हेत्वाभासका वर्णन आया है। विशेषता यह है कि उपायहृदयमें हेत्वाभासका अर्थ विस्तृत है। छल और जातिका भी समावेश हेत्वाभासमें स्पष्टरूपसे किया है।

(३) पृच्छा—प्रश्न करनेको पृच्छा कहते हैं—अर्थात् उत्तरोत्तर प्रश्न करके परमतको असिद्ध और स्वमतको सिद्ध करना पृच्छा है जैसे चार्वाकसे प्रश्न करके जीवसिद्धि करना।

प्रश्न—आत्मा क्यों नहीं है?

उत्तर—क्यों कि परोक्ष है।

प्रश्न—यदि परोक्ष होनेसे नहीं तो तुम्हारा आत्मनिषेधक कुविज्ञान भी दूसरों को परोक्ष है अत एव नहीं है। तब जीवनिषेध कैसे होगा?

इस प्रश्नमें ही आत्मसिद्धि निहित है। और चार्वाकके उत्तरको स्वीकार करके ही यह प्रश्न किया गया है।

इस पृच्छाकी तुलना चरकगत अनुयोगसे करना चाहिए। अनुयोगको चरकने प्रश्न और प्रश्नैकदेश कहा है—चरक विमान० ८.५२

उपायहृदयमें दूषण गिनाते हुए प्रश्नबाहुल्यमुत्तराल्पता तथा प्रश्नाल्पतोत्तरबाहुल्य ऐसे दो दूषण भी बताये हैं। इस पृच्छाकी तुलना उन दो दूषणोंसे की जा सकती है। प्रश्नबाहुल्य-मुत्तराल्पताका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

"आत्मा नित्योऽनैन्द्रियकत्वात् यथाकाशोऽनैन्द्रियकत्वान्नित्य इति भवतः स्थापना। अथ यदनैन्द्रियकं तन्नावश्यं नित्यम्। तत्कथं सिद्धम्" उपाय० पृ० २८।

प्रश्नाल्पतोत्तरबाहुल्यका स्वरूप ऐसा है—

"आत्मा नित्योऽनैन्द्रियकत्वादिति भवत्स्थापना। अनैन्द्रियकस्य द्वैविध्यम्। यथा परमाणवोऽनुपलभ्या अनित्याः। आकाशस्त्विन्द्रियानुपलभ्यो नित्यश्च। कथं भवतोच्यते यदनुपलभ्यत्वान्नित्य इति।" उपाय० पृ० २८।

उपायहृदयने प्रश्नके अज्ञान को भी एक स्वतन्त्र निग्रहस्थान माना है। और प्रश्नका त्रैविध्य प्रतिपादित किया है—

"ननु प्रश्नाः कतिविधाः? उच्यते। त्रिविधाः। यथा वचनसमः, अर्थसमः, हेतुसमश्च। यदि वादिनस्तैस्त्रिभिः प्रश्नोत्तराणि न कुर्वन्ति तद्विभ्रान्तम्।" पृ० १८।

(४) **निश्रावचन**—अन्यके बहानेसे अन्यको उपदेश देना निश्रावचन है। उपदेश तो देना स्वशिष्यको किन्तु अपेक्षा यह रखना कि उससे दूसरा प्रतिबुद्ध हो जाय। जैसे अपने

---

१ न्यायसूत्र १.२.१।

शिष्यको कहना कि जो लोग जीवका अस्तित्व नहीं मानते उनके मतमें दानादिका फल भी नहीं घटेगा। तब यह सुन कर बीचमें ही चार्वाक कहता है कि ठीक तो है फल न मिले तो नहीं। उसको उत्तर देना कि तब संसारमें जीवोंकी विचित्रता कैसे घटेगी? यह निश्रावचन है–दशवै० नि० गा० ८०।

(३) **आहरणतद्दोष**

(१) **अधर्मयुक्त**–प्रवचनके हितार्थ सावद्यकर्म करना अधर्मयुक्त होनेसे आहरणतद्दोष है। जैसे प्रतिवादी पोट्टशाल परिव्राजकने वादमें हारकर जब विद्याबलसे रोहगुप्त मुनिके विनाशार्थ बिच्छुओंका सर्जन किया तब रोहगुप्तने बिच्छुओंके विनाशार्थ मयूरोंका सर्जन किया जो अधर्मकार्य है[1]। फिर भी प्रवचनके रक्षार्थ ऐसा करनेको रोहगुप्त बाध्य थे–दशवै० नि० गा० ८१ चूर्णी।

(२) **प्रतिलोम**–'शाठ्यं कुर्यात्, शठं प्रति' का अवलंबन करना प्रतिलोम है। जैसे रोहगुप्तने पोट्टशाल परिव्राजकको हरानेके लिये किया। परिव्राजकने जान कर ही जैन पक्ष स्थापित किया तब प्रतिवादी जैन मुनि रोहगुप्तने उसको हरानेके लिये ही जैनसिद्धान्तके प्रतिकूल त्रैराशिक पक्ष लेकर उसका पराजय किया। उनका यह कार्य अपसिद्धान्तके प्रचारमें सहायक होनेसे आहरणतद्दोषकोटिमें है[2]।

चरकने वाक्यदोषोंको गिनाते हुये एक विरुद्ध भी गिनाया है। उसकी व्याख्या करते हुए कहा है–

"विरुद्धं नाम यद् दृष्टान्तसिद्धान्तसमयैर्विरुद्धम्।" वही ५४।

इस व्याख्याको देखते हुए प्रतिलोम की तुलना 'विरुद्धवाक्यदोषसे' की जा सकती है। न्यायसूत्रसंमत अपसिद्धान्त और प्रतिलोममें फर्क यह है कि अपसिद्धान्त तब होता है जब शुरूमें वादी अपने एक सिद्धान्तकी प्रतिज्ञा करता है और बादमें उसकी अवहेलना करके उससे विरुद्ध वस्तुको स्वीकार कर कथा करता है–**"सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात् कथाप्रसंगोपसिद्धान्तः।"** न्यायसू० ५.२.२४। किन्तु प्रतिलोममें वादी किसी एक संप्रदाय या सिद्धान्तको वस्तुतः मानते हुए भी वादकथाप्रसंगमें अपनी प्रतिभाके बलसे प्रतिवादीको हरानेकी दृष्टिसे ही स्वसंमतसिद्धान्तके विरोधी सिद्धान्तकी स्थापना कर देता है। प्रतिलोममें यह आवश्यक नहीं की वह शुरूमें अपने सिद्धान्तकी प्रतिज्ञा करे। किन्तु प्रतिवादी के मंतव्यसे विरुद्ध मंतव्यको सिद्ध कर देता है। वैतण्डिक और प्रातिलोमिकमें फर्क यह है कि वैतण्डिकका कोई पक्ष नहीं होता अर्थात् किसी दर्शनकी मान्यतासे वह बद्ध नहीं होता। किन्तु प्रातिलोमिक वह है जो किसी दर्शन से तो बद्ध होता है किन्तु वादकथामें प्रतिवादी यदि उसीके पक्ष को स्वीकार कर वादका प्रारंभ करता है तो उसे हरानेके लिये ही स्वसिद्धान्तके विरुद्ध भी वह दलील करता है और प्रतिवादीको निगृहीत करता है।

(३) **आत्मोपनीत**–ऐसा उपन्यास करना जिससे स्वका या स्वमतका ही घात हो। जैसे कहना की एकेन्द्रिय सजीव हैं क्यों कि उनका श्वासोच्छ्वास स्पष्ट दिखता है–दशवै० नि० चू० गा० ८३।

---

१ विशेषा० २४५६। २ विशेषा० गा० २४५६।

यह तो स्पष्टतया असिद्ध हेत्वाभास है। किन्तु चूर्णीकारने इसका स्पष्टीकरण घटमें व्यतिरेकव्याप्ति दिखाकर किया है, जिसका फल घटकी तरह एकेन्द्रियोंका भी निर्जीव सिद्ध हो जाना है क्यों कि जैसे घटमें श्वासोच्छ्वास व्यक्त नहीं वैसे एकेन्द्रियमें भी नहीं। **"जहा को वि भणेज्जा–एगेन्दिया सजीवा, कम्हा जेण तेसिं फुडो उस्सासनिस्सासो दीसइ। दिट्ठंतो घडो। जहा घडस्स निज्जीवत्तणेण उस्सासनिस्सासो नत्थि। ताण उस्सासनिस्सासो फुडो दीसइ तम्हा एते सज्जीवा। एवमादीहिं विरुद्धं न भासितव्वं।"**

(४) **दुरुपनीत**–ऐसी बात करना जिससे स्वधर्मकी निन्दा हो यह दुरुपनीत है। इसका उदाहरण एक बौद्धभिक्षुके कथनमें है। यथा–

"कन्थाऽऽचार्याघना ते ननु शफरवधे जालमश्नासि मत्स्यान्,
ते मे मद्योपदंशान् पिबसि ननु युतो वेश्यया यासि वेश्याम्।
कृत्वारीणां गलेऽह्रिं क नु तव रिपवो येषु सन्धिं छिनद्मि,
चौरस्त्वं द्यूतहेतोः कितव इति कथं येन दासीसुतोऽस्मि॥"

नि० गा० ८३–हारि० टीका।

यह भी चरकसंमत विरुद्ध वाक्यदोषसे तुलनीय है। उनका कहना है कि स्वसमय विरुद्ध नहीं बोलना चाहिए। बौद्धदर्शन मोक्षशास्त्रिक समय है। चरकके अनुसार मोक्षशास्त्रिक समय है कि–**"मोक्षशास्त्रिकसमयः सर्वभूतेष्वहिंसेति"** वही ५४। अतएव बौद्ध भिक्षुका हिंसाका समर्थन स्वसमय विरुद्ध होनेसे वाक्यदोष है।

उपायहृदयमें विरुद्ध दो प्रकारका है दृष्टान्तविरुद्ध और युक्तिविरुद्ध–पृ० १७। उपायहृदयके मतसे जो जिसका धर्म हो उससे उसका आचरण यदि विरुद्ध हो तो वह युक्तिविरुद्ध है[१]। जैसे कोई ब्राह्मण क्षत्रियधर्मका पालन करे और मृगयादिकी शिक्षा ले तो वह युक्तिविरुद्ध है। युक्तिविरुद्धकी इस व्याख्याको देखते हुए दुरुपनीतकी तुलना उससे की जा सकती है।

(४) उपन्यास

(१) **तद्वस्तूपन्यास**–प्रतिपक्षीकी वस्तुका ही उपन्यास करना अर्थात् प्रतिपक्षीके ही उपन्यस्त हेतुको उपन्यस्त करके दोष दिखाना तद्वस्तूपन्यास है। जैसे–किसीने (वैशेषिकने) कहा कि जीव नित्य है क्यों कि अमूर्त है। तब उसी अमूर्तत्वको उपन्यस्त करके दोष देना कि कर्म तो अमूर्त होते हुए भी अनित्य हैं–दशवै० नि० चू० ८४।

आचार्य हरिभद्रने इसकी तुलना साधर्म्यसमा जातिसे की है। किन्तु इसका अधिक साम्य प्रतिदृष्टान्तसमा जातिसे है–**"क्रियावानात्मा क्रियाहेतुगुणयोगात् लोष्टवदित्युक्ते प्रतिदृष्टान्त उपादीयते क्रियाहेतुगुणयुक्तं आकाशं निष्क्रियं दृष्टमिति।"** **न्यायभा० ५.१.९.।**

साधर्म्यसमा और प्रतिदृष्टान्तसमामें भेद यह है कि साधर्म्यसमामें अन्यदृष्टान्त और अन्यहेतुकृत साधर्म्य को लेकर उत्तर दिया जाता है जब कि प्रतिदृष्टान्तसमा में हेतु तो वादिप्रोक्त ही रहता है सिर्फ दृष्टान्त ही बदल दिया जाता है। तद्वस्तूपन्यासमें भी यही अभिप्रेत है। अतएव उसकी तुलना प्रतिदृष्टान्तके साथ ही करना चाहिए।

---

१ **"युक्तिविरुद्धो यथा, ब्राह्मणस्य क्षत्रधर्मानुपालनम्, मृगयादिशिक्षा च। क्षत्रियस्य ध्यानसमापत्तिरिति युक्तिविरुद्धः। एवम्भूतौ धर्मौ श्रद्धा अनुपूर्वैव सत्यं मन्यन्ते।" उपाय० पृ० १७।**

वस्तुतः देखो तो भङ्ग्यन्तरसे हेतुकी अनैकान्तिकताका उद्भावन करना ही तद्वस्तूपन्यास और प्रतिदृष्टान्तसमा जातिका प्रयोजन है ।

उपायहृदयगत प्रतिदृष्टान्तसम दूषण (पृ० ३०) और तर्कशास्त्रगत प्रतिदृष्टान्तखण्डनसे यह तुलनीय है – पृ० २६ ।

(२) **तदन्यवस्तूपन्यास** – उपन्यस्त वस्तुसे अन्यमें भी प्रतिवादीकी बातका उपसंहार कर पराभूत करना तदन्यवस्तूपन्यास है – जैसे जीव अन्य है शरीर अन्य है । तो दोनों अन्य-शब्दवाच्य होनेसे एक हैं ऐसा यदि प्रतिवादी कहे तो उसके उत्तरमें कहना कि परमाणु अन्य है, द्विप्रदेशी अन्य है तो दोनों अन्यशब्दवाच्य होनेसे एक मानना चाहिए – यह तदन्यवस्तूपन्यास है – दशवै० नि० गा० ८४ ।

यह स्पष्टरूपसे प्रसंगापादन है । पूर्वोक्त व्यंसक और लूषक हेतुसे क्रमशः पूर्वपक्ष और उत्तर पक्षकी तुलना करना चाहिए ।

(३) **प्रतिनिभोपन्यास** – वादीके 'मेरे वचनमें दोष नहीं हो सकता' ऐसे साभिमान कथनके उत्तरमें प्रतिवादी भी यदि वैसा ही कहे तो वह प्रतिनिभोपन्यास है । जैसे किसीने कहा कि 'जीव सत् है' तब उसको कहना कि 'घट भी सत् है तो वह भी जीव होजायगा' । इसका लौकिक उदाहरण निर्युक्तिकारने एक संन्यासीका दिया है । उसका दावा था कि मुझे कोई अश्रुत बात सुनादे तो उसको मैं सुवर्णपात्र दूंगा । धूर्त होनेसे अश्रुत बातको भी वह श्रुत बता देता था । तब एक पुरुषने उत्तर दिया कि तेरे पितासे मेरे पिता एक लाख मांगते हैं । यदि श्रुत है तो एक लाख दो, अश्रुत है तो सुवर्णपात्र दो । इस तरह किसीको उभयपाशा-रज्जुन्याय से उत्तर देना प्रतिनिभोपन्यास है – दशवै० नि० गा० ८५ ।

यह उपन्यास सामान्यच्छल है । इसकी तुलना लूषक हेतुसे भी की जा सकती है ।

अविशेषसमा जातिके साथ भी इसकी तुलना की जा सकती है, यद्यपि दोनों में थोडा भेद अवश्य है ।

(४) **हेतूपन्यास** – किसीके प्रश्नके उत्तरमें हेतु बता देना हेतूपन्यास है । जैसे किसीने पूछा – आत्मा चक्षुरादि इन्द्रियग्राह्य क्यों नहीं ? तो उत्तर देना कि वह अतीन्द्रिय है – दशवै० नि० गा० ८५ ।

चरकने हेतुके विषयमें प्रश्नको अनुयोग कहा है और भद्रबाहुने प्रश्नके उत्तरमें हेतुके उपन्यासको हेतूपन्यास कहा है – यह हेतूपन्यास और अनुयोगमें भेद है ।

"अनुयोगो नाम स यत्तद्विद्यानां तद्विद्यैरेव सार्धं तन्त्रे तन्त्रैकदेशे वा प्रश्नः प्रश्नैकदेशो वा ज्ञानविज्ञानवचनप्रतिवचनपरीक्षार्थमादिश्यते यथा नित्यः पुरुषः इति प्रतिज्ञाते यत् परः 'को हेतुरित्याह' सोऽनुयोगः । चरक विमान० १०८–५२

पूर्वोक्त तुलनाका सरलतासे बोध होनेके लिये नीचे तुलनात्मक नकशा दिया जाता है उससे स्पष्ट है कि जैनागममें जो वादपद बताये गये हैं यद्यपि उनके नाम अन्य सभी परंपरासे भिन्न ही हैं फिर भी अर्थतः सादृश्य अवश्य है । जैनागमकी यह परंपरा वादशास्त्रके अव्यवस्थित और अविकसित किसी प्राचीन रूपकी ओर संकेत करती है । क्यों कि जबसे वादशास्त्र व्यवस्थित हुआ है तबसे एक निश्चित अर्थमें ही पारिभाषिक शब्दोंका प्रयोग समान रूपसे

वैदिक और बौद्ध विद्वानोंने किया है। उन पारिभाषिक शब्दोंका व्यवहार जैन आगममें नहीं है। इससे फलित यह होता है कि आगमवर्णन किसी लुप्त प्राचीन परंपराका ही अनुगमन करता है। यद्यपि आगमका अंतिम संस्करण विक्रम पांचवी शताब्दीमें हुआ है तब भी इस विषयमें नई परंपराको न अपना कर प्राचीन परंपराका ही अनुसरण किया गया जान पडता है।

जैनागम	चरकसंहिता	तर्कशास्त्र	उपायहृदय	न्यायसूत्र
४. हेतु				
१. यापक	१. आविद्धदीर्घसूत्रसंकुलैर्वाक्यदण्डकैः।	१. अविज्ञातार्थ	१. अविज्ञात	१. अविज्ञातार्थ
	२. अविज्ञान	२. अज्ञान	२. अविज्ञान	२. अज्ञान
२. स्थापक	१. प्रतिष्ठापना	—	—	—
३. व्यंसक	१. वाक्छल	१. अविशेषखण्डन	—	१. अविशेषसमाजाति.
४. लूषक	२. सामान्यच्छल			२. सामान्यच्छल
४. आहरण				
१. अपाय	—	—	—	—
२. उपाय	—	—	—	—
३. स्थापनाकर्म	१. स्थापना	—	—	—
	२. परिहार	—	—	—
४. प्रत्युत्पन्नविनाशी	१. प्रतिज्ञाहानि	१. प्रतिज्ञाहानि	—	१. प्रतिज्ञाहानि
४. आहरणतद्देश				
१. अनुशास्ति	—	—	—	—
२. उपालम्भ	१. उपालम्भ	१. उपालम्भ	—	१. उपालम्भ
	२. अहेतु	२. हेत्वाभास	२. हेत्वाभास	२. हेत्वाभास
३. पृच्छा	१. अनुयोग	—	१. प्रश्नबाहुल्यमुत्तराल्पता	
			२. प्रश्नाल्पतोत्तरबाहुल्य	
४. निश्रावचन	—	—	—	—
४. आहरणतद्दोष				
१. अधर्मयुक्त	—	—	—	—
२. प्रतिलोम	१ विरुद्धवाक्यदोष	—	—	—
३. आत्मोपनीत	—	—	—	—
४. दुरुपनीत	१ विरुद्धवाक्यदोष	—	१ युक्तिविरुद्ध	—
४. उपन्यास				
१. तद्वस्तूपन्यास		१ प्रतिदृष्टान्तखण्डन	१ प्रतिदृष्टांतसमदूषण	१ प्रतिदृष्टान्तसमाजाति
२. तदन्यवस्तूपन्यास	—		—	—
३. प्रतिनिभोपन्यास	१ सामान्यच्छल	१ अविशेषखण्डन		१ अविशेषसमाजाति २ सामान्यच्छल
४ हेतूपन्यास	१ अनुयोग	—	—	—

२. आगमोत्तरसाहित्यमें जैन दर्शन

प्रास्ताविक

जैन आगम और सिद्धसेनके बीचका जो जैन साहित्य है उसमें दार्शनिक दृष्टिसे उपयोगी साहित्य आचार्य कुन्दकुन्दका तथा वाचक उमास्वातिका है। जैन आगमोंकी प्राचीन टीकाओंमें उपलब्ध निर्युक्तियोंका स्थान है। उपलब्ध निर्युक्तियोंमें प्राचीनतर निर्युक्तियोंका समावेश हो गया है और अब तो स्थिति यह है कि प्राचीनतर अंश और भद्रबाहुका नया अंश इन दोनोंका पृथक्करण कठिन हो गया है। आचार्य भद्रबाहुका समय मान्यवर मुनिश्री पुण्यविजयजीने वि० छठी शताब्दीका उत्तरार्ध माना है[1]। यदि इसे ठीक माना जाय तब यह मानना पडता है कि निर्युक्तियाँ अपने मौजुदा रूपमें सिद्धसेनके बादकी कृतियाँ हैं। अत एव उनको सिद्धसेन पूर्ववर्ती साहित्यमें स्थान नहीं। भाष्य और चूर्णियाँ तो सिद्धसेनके बादकी हैं ही। अतएव सिद्धसेन पूर्ववर्ती आगमेतर साहित्यमेंसे कुन्दकुन्द और उमास्वातिके साहित्यमें दार्शनिक तत्त्वकी क्या स्थिति थी—इसका दिग्दर्शन यदि हम करलें तो सिद्धसेनके पूर्वमें जैनदर्शन की स्थितिका पूरा चित्र हमारे सामने उपस्थित हो सकेगा और यह हम जान सकेंगे कि सिद्धसेनको विरासतमें क्या और कितना मिला था?

(अ) वाचक उमास्वातिकी देन

प्रास्ताविक

वाचक उमास्वातिका समय पं० श्री सुखलालजीने तीसरी चौथी शताब्दी होनेका अंदाज किया है। आ० कुन्दकुन्दके समयमें अभी विद्वानोंका एकमत नहीं। आचार्य कुन्दकुन्दका समय जो भी माना जाय किन्तु तत्त्वार्थ और आ० कुन्दकुन्दके ग्रन्थगत दार्शनिकविकासकी ओर यदि ध्यान दिया जाय तो वा० उमास्वातिके तत्त्वार्थगत जैनदर्शनकी अपेक्षा आ० कुन्दकुन्दके ग्रन्थगत जैनदर्शनका रूप विकसित है यह किसी भी दार्शनिकसे छिपा नहीं रह सकता। अत एव दोनोंके समय विचारमें इस पहलूको भी यथायोग्य स्थान अवश्य देना चाहिए। इसके प्रकाशमें यदि दूसरे प्रमाणोंका विचार किया जायगा तो संभव है दोनोंके समयका निर्णय सहजमें हो सकेगा।

प्रस्तुतमें दार्शनिक विकासक्रमका दिग्दर्शन करना मुख्य है अतएव आचार्य कुन्दकुन्द और वाचकके पूर्वापरभावके प्रश्नको अलग रख कर ही पहले वाचकके तत्त्वार्थके आश्रयसे जैनदार्शनिक तत्त्वकी विवेचना करना प्राप्त है। और उसके बाद ही आ० कुन्दकुन्दकी जैनदर्शनको क्या देन है उसकी चर्चा की जायगी। ऐसा होनेसे क्रमविकास कैसा हुआ है यह सहज ही में ज्ञात हो सकेगा।

दार्शनिक सूत्रोंकी रचनाका युग समाप्त हो चुका था और दार्शनिक सूत्रोंके भाष्योंकी रचना भी होने लगी थी किन्तु जैनपरंपरामें अभी तक सूत्रशैलीका संस्कृत ग्रन्थ एक भी नहीं बना था। इसी त्रुटिको दूर करनेके लिये सर्वप्रथम वा० उमास्वातिने तत्त्वार्थसूत्र की रचना की। उनका तत्त्वार्थ जैन साहित्यमें सूत्रशैलीका सर्वप्रथम ग्रन्थ है इतना ही नहीं किन्तु जैन

---

१ महावीर जैनविद्यालय रजतस्मारक. पृ० १९९।

साहित्यके संस्कृतभाषानिबद्ध ग्रन्थोंमें भी वह सर्वप्रथम है। जिस प्रकार बादरायणने उपनिषदोंका दोहन करके ब्रह्मसूत्रोंकी रचनाके द्वारा वेदान्त दर्शनको व्यवस्थित किया है उसी प्रकार उमास्वातिने आगमोंका दोहन करके तत्त्वार्थसूत्रकी रचनाके द्वारा जैन दर्शनको व्यवस्थित करनेका प्रयत्न किया है। उसमें जैन तत्त्वज्ञान, आचार, भूगोल, खगोल, जीवविद्या, पदार्थविज्ञान इत्यादि नाना प्रकारके विषयोंके मौलिक मन्तव्योंको मूल आगमोंके आधारपर[1] सूत्रबद्ध किया है। और उन सूत्रोंके स्पष्टीकरणके लिये स्वोपज्ञ भाष्यकी भी रचना की है। वा० उमास्वातिने तत्त्वार्थ सूत्रमें आगमोंकी बातोंको संस्कृत भाषामें व्यवस्थित रूपसे रखनेका प्रयत्न तो किया ही है किन्तु उन विषयोंका दार्शनिक ढंगसे समर्थन उन्होंने क्वचित् ही किया है। यह कार्य तो उन्होंने अकलंकादि समर्थ टीकाकारोंके लिये छोड दिया है। अत एव तत्त्वार्थसूत्रमें प्रमेयतत्त्व और प्रमाणतत्त्वके विषयमें सूक्ष्म दार्शनिक चर्चा या समर्थनकी आशा नहीं करना चाहिए। तथापि उसमें जो अल्प मात्रामें ही सही, दार्शनिक विकासके सीमाचिन्ह दिखाई देते हैं उनका निर्देश करना आवश्यक है। प्रथम प्रमेयतत्त्वके विषयमें चर्चा की जाती है।

[१] प्रमेयनिरूपण

§१. तत्त्व, अर्थ, पदार्थ, तत्त्वार्थ

तत्त्वार्थसूत्र और उसका स्वोपज्ञ भाष्य यह दार्शनिक भाष्ययुगकी कृति है। अत एव वाचकने उसे दार्शनिकसूत्र और भाष्यकी कोटिका ग्रन्थ बनानेका प्रयत्न किया है। दार्शनिकसूत्रोंकी यह विशेषता है कि उनमें स्वसंमत तत्त्वोंका निर्देश प्रारंभमें ही सत्, अर्थ, पदार्थ, या तत्त्व जैसे शब्दोंसे किया जाता है। अत एव जैन दृष्टिसे भी उन शब्दोंका अर्थ निश्चित करके यह बताना आवश्यक हो जाता है कि तत्त्व कितने हैं? वैशेषिक सूत्रमें द्रव्यादि छः को पदार्थ कहा है (१. १. ४) किन्तु अर्थसंज्ञा द्रव्य, गुण और कर्मकी ही की गई है (८. २. ३)। सत्ता संबंधके कारण सत् ऐसी पारिभाषिक संज्ञा भी इन्ही तीनकी रखी गई है (१. १. ८)। न्यायसूत्रगत प्रमाणादि १६ तत्त्वोंको भाष्यकारने सत् शब्दसे व्यवहृत किया है[2]। सांख्योंके मतसे प्रकृति और पुरुष ये दो ही तत्त्व माने गये हैं।

वाचकने इस विषयमें जैनदर्शनका मन्तव्य स्पष्ट किया कि तत्त्व, अर्थ, तत्त्वार्थ और पदार्थ एकार्थक हैं। और तत्त्वोंकी संख्या सात है[3]। आगमोंमें पदार्थकी संख्या ९ बताई गई है (स्था० सू० ६६५) जब कि वाचकने पुण्य और पापको बंधमें अन्तर्भूत करके सात तत्त्वोंका ही उपादान किया है। यह वाचककी नई सूझ जान पडती है।

§२. सत्का स्वरूप

वा० उमास्वातिने नयोंकी विवेचनामें कहा है कि "सर्वमेकं सदविशेषात्" (तत्त्वार्थभा० १.३५)। अर्थात् सब एक है क्यों कि सभी समानभावसे सत् हैं। उनका यह कथन ऋग्वेदके दीर्घतमा ऋषिके 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' (१. १६४. ४६) की तथा उपनिषदोंके

---

१ देखो, 'तत्त्वार्थसूत्र जैनागमसमन्वय'। २ "सच्च खलु षोडशधा व्यूढमुपदेक्ष्यते" न्यायभा० १.१.१। ३ 'सप्तविधोऽर्थस्तत्त्वम्।" १.४। १. २। "एते वा सप्तपदार्थास्तत्त्वानि।" १.४। "तत्त्वार्थश्रद्धानम्" १.२.।

सन्मूलकं सर्वप्रपञ्चकी उत्पत्तिके बादकी (छान्दो० ६.२) याद दिलाता है । स्थानांगसूत्रमें 'एगे आया' (सू० १) तथा 'एगे लोए' (सू० ६) जैसे सूत्र आते हैं । उन सूत्रोंकी संगतिके लिये संग्रहनयका अवलम्बन लेना पडता है । आत्मत्वेन सभी आत्माओंको एक मानकर 'एगे आया' इस सूत्रको संगत किया जा सकता है तथा 'पञ्चास्तिकायमयो लोकः' के सिद्धान्तसे 'एगे लोए' सूत्रकी भी संगति हो सकती है । यहाँ इतना तो स्पष्ट है कि आगमिक मान्यताकी मर्यादाका अतिक्रमण विना किये ही संग्रहनयका अवलंबन करनेसे उक्त सूत्रोंकी संगति हो जाती है । किन्तु उमास्वातिने जब यह कहा कि 'सर्वमेकं सदविशेषात्' तब इस वाक्यकी व्याप्ति किसी एक या समग्र द्रव्य तक ही नहीं है किन्तु द्रव्यगुणपर्यायव्यापी महासामान्यका भी स्पर्श करती है । उमास्वातिके समयपर्यन्तमें वेदान्तिओंके सद्ब्रह्मकी और न्याय-वैशेषिकोंके सत्तासामान्यरूप महासामान्यकी प्रतिष्ठा हो चुकी थी । उसी दार्शनिक कल्पनाको संग्रहनयका अवलम्बन करके जैन परिभाषा का रूप उन्होंने दे दिया है ।

अनेकान्तवादके विवेचनमें हमने यह बताया है कि आगमोंमें तिर्यग् और ऊर्ध्व दोनों प्रकारके पर्यायोंका आधारभूत द्रव्य माना गया है । जो सर्व द्रव्योंका अविशेष – सामान्य था – "अविसेसिए दव्वे विसेसिए जीवदव्वे अजीवदव्वे य ।" अनुयोग० सू० १२३ । पर उसकी 'सत्' संज्ञा आगममें नहीं थी । वा० उमास्वातिको प्रश्न होना स्वाभाविक है कि दार्शनिकोंके परमतत्त्व 'सत्' का स्थान ले सके ऐसा कौन पदार्थ है ? वाचकने उत्तर दिया कि द्रव्य ही सत् है[1] । वाचकने जैनदर्शनकी प्रकृतिका पूरा ध्यान रख करके 'सत्' का लक्षण कर दिया है कि 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' (५.२९) । इससे स्पष्ट है कि वाचकने जैनदर्शनके अनुसार जो 'सत्' की व्याख्या की है वह औपनिषददर्शन और न्याय-वैशेषिकोंकी 'सत्ता'से जैनसंमत 'सत्' को विलक्षण सिद्ध करती है । वे 'सत्' या सत्ताको नित्य मानते हैं । वा० उमास्वातिने भी 'सत्'को कहा तो नित्य किन्तु उन्होंने 'नित्य' की व्याख्या ही ऐसी की है जिससे एकान्तवादके विषसे नित्य ऐसा सत् मुक्त हो और अखण्डित रह सके । नित्यका लक्षण उमास्वातिने किया है कि – "तद्भावाव्ययं नित्यम् ।" ५. ३० । और इसकी व्याख्या की कि – "यत् सतो भावान्न व्येति न व्येष्यति तन्नित्यम्[2] ।" अर्थात् उत्पाद और व्ययके होते हुए भी जो सद्रूप मिटकर असत् नहीं हो जाता वह नित्य है । पर्यायें बदल जाने पर भी यदि उसमें सत् प्रत्यय होता है तो वह नित्य ही है अनित्य नहीं । एक ही सत् उत्पादव्ययके कारण अस्थिर और ध्रौव्यके कारण स्थिर ऐसे परस्पर विरोधी धर्मोंकी भूमि कैसे हो सकता है इस विरोधका परिहार भी वा० उमास्वातिने "अर्पितानर्पितसिद्धेः ।" (५. ३१.) सूत्रसे किया है । और उसकी व्याख्यामें आगमोक्त पूर्वप्रतिपादित सप्तभंगीका निरूपण किया है । सप्तभंगीका वही आगमोक्त पुराना रूप प्रायः उन्हीं शब्दोंमें भाष्यमें उद्धृत हुआ है । जैसा आगममें वचनभेदको भंगोंकी योजनामें महत्त्व दिया गया है वैसा वा० उमास्वातिने भी किया है । अवक्तव्य भंगका स्थान

---

१ "धर्मादीनि सन्ति इति कथं गृह्यते ? इति । अत्रोच्यते लक्षणतः । किञ्च सतो लक्षणमिति ? अत्रोच्यते – 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' ।" तत्त्वार्थभा० ५. २९ । सर्वार्थसिद्धिमें तथा श्लोकवार्तिकमें 'सद् द्रव्यलक्षणम्' ऐसा पृथक् सूत्र भी है – ५. २९ । २ तुलना करो "यस्य गुणान्तरेषु अपि प्रादुर्भवत्सु तत्त्वं न विहन्यते तद् द्रव्यम् । किं पुनस्तत्त्वम् ? तद्भावस्तत्त्वम् ।" पातंजलमहाभाष्य ५.१.११९ ।

तीसरा है । प्रथमके तीन भंगोंकी योजना दिखाकर शेष विकल्पोंको शब्दतः उद्धृत नहीं किया किन्तु प्रसिद्धिके कारण विस्तार करना उन्होंने उचित न समझकर – 'देशादेशेन विकल्पयितव्यम्' ऐसा आदेश दे दिया है ।

वा० उमास्वातिने सत्‌के चार भेद बताये हैं – १ द्रव्यास्तिक, २ मातृकापदास्तिक, ३ उत्पन्नास्तिक, और ४ पर्यायास्तिक । सत्‌का ऐसा विभाग अन्यत्र देखा नहीं जाता, इन चार भेदोंका विशेष विवरण वा० उमास्वातिने नहीं किया । टीकाकारने व्याख्यामें मतभेदोंका निर्देश किया हैं । प्रथमके दो भेद द्रव्यनयाश्रित हैं और अन्तिम दो पर्यायनयाश्रित हैं । द्रव्यास्तिकसे परमसंग्रहविषयभूत सत् द्रव्य और मातृकापदास्तिकसे सत् द्रव्यके व्यवहारनयाश्रित धर्मास्तिकायादि द्रव्य और उनके भेदप्रभेद अभिप्रेत हैं । प्रत्येक क्षणमें नवनवोत्पन्न वस्तुका रूप उत्पन्नास्तिकसे और प्रत्येक क्षणमें होनेवाला विनाश या भेद पर्यायास्तिकसे अभिप्रेत है ।

§३. द्रव्य, पर्याय और गुणका लक्षण ।

जैन आगमोंमें सत्‌के लिये द्रव्यशब्दका प्रयोग आता है । किन्तु द्रव्यशब्दके अनेक अर्थ प्रचलित थे[1] । अतएव स्पष्ट शब्दोंमें जैनसंमत द्रव्यका लक्षण भी करना आवश्यक था । उत्तराध्ययनमें मोक्षमार्गाध्ययन (२८) है । उसमें ज्ञानके विषयभूत द्रव्य, गुण और पर्याय ये तीन पदार्थ बताए गये हैं (गा० ५) अन्यत्र भी येही तीन पदार्थ गिनाये हैं[2] । किन्तु द्रव्यके लक्षणमें सिर्फ गुणको ही स्थान मिला है – "गुणाणमासओ दव्वं" (गा० ६) । वाचकने गुण और पर्याय दोनोंको द्रव्य लक्षणमें स्थान दिया है – "गुणपर्यायवद् द्रव्यम्" (५. ३७) । वाचकके इस लक्षणमें आगमाश्रय तो स्पष्ट है ही किन्तु शाब्दिक रचनामें वैशेषिकके "क्रियागुणवत्" (१.१.१५) इत्यादि द्रव्यलक्षणका प्रभाव भी स्पष्ट है ।

गुणका लक्षण उत्तराध्ययनमें किया गया है कि "एगदव्वस्सिया गुणा" (२८.६) । किन्तु वैशेषिक सूत्रमें "द्रव्याश्रय्यगुणवान्" (१.१.१६) इत्यादि है । वाचक अपनी आगमिक परंपराका अवलंबन लेते हुए भी वैशेषिक सूत्रका उपयोग करके गुणका लक्षण करते हैं कि "द्रव्याश्रया निर्गुणाः गुणाः ।" (५. ४०) ।

यहाँ एक विशेष बातका ध्यान रखना जरूरी है । यद्यपि जैन आगमिक परंपराका अवलंबन लेकर ही वाचकने वैशेषिक सूत्रोंका उपयोग किया है । तथापि अपनी परंपराकी दृष्टिसे उनका द्रव्य और गुणका लक्षण जितना निर्दोष और पूर्ण है उतना स्वयं वैशेषिकका भी नहीं है[3] ।

बौद्धोंके मतसे पर्याय या गुण ही सत् माना जाता है और वेदान्तके मतसे पर्यायवियुक्त द्रव्य ही सत् माना जाता है । इन्हीं दोनों मतोंका निरास वाचकके द्रव्य और गुणलक्षणोंमें स्पष्ट है ।

उत्तराध्ययनमें पर्यायका लक्षण है – "लक्खणं पज्जवाणं तु उभओ अस्सिया भवे ।" (२८.६) उभयपदका टीकाकारने जैनपरंपराके हार्दको पकडकरके द्रव्य और गुण अर्थ करके कहा है कि द्रव्य और गुणाश्रित जो हो वह पर्याय है । किन्तु स्वयं मूलकारने जो पर्यायके विषयमें आगे चलकर यह गाथा कही है –

---

१ प्रमाणमी० भाषा० पृ० ५४ । २ "से किं तं तिनामे दव्वनामे, गुणनामे, पज्जवनामे ।" अनुयोगसू० १२४ । ३ देखो, वैशेषिक-उपस्कार १.१.१५, १६ ।

"एकत्तं च पुहुत्तं च संखा संठाणमेव च।
संजोगा य विभागा य पज्जवाणं तु लक्खणं ॥"

उससे यह प्रतीत होता है कि मूलकारको उभयपदसे दो या अधिक द्रव्य अभिप्रेत हैं। इसका मूल गुणोंको एकद्रव्याश्रित और अनेकद्रव्याश्रित ऐसे दो प्रकारोंमें विभक्त करनेवाली किसी प्राचीन परंपरामें हो तो आश्चर्य नहीं। वैशेषिक परंपरामें भी गुणोंका ऐसा विभाजन देखा जाता है–"संयोगविभागद्वित्वद्विपृथक्त्वादयोऽनेकाश्रिताः।" प्रशस्त० गुणनिरूपण।

पर्यायका उक्त आगमिक लक्षण सभी प्रकारके पर्यायोंको व्याप्त नहीं करता। किन्तु इतना ही सूचित करता है कि उभय द्रव्याश्रितको गुण कहा नहीं जाता उसे तो पर्याय कहना चाहिए। अत एव वाचकने पर्यायका निर्दोष लक्षण करनेका यत्न किया है। वाचकके "भावान्तरं संज्ञान्तरं च पर्यायः।" (५.३७) इस वाक्यमें पर्यायके स्वरूपका निर्देश अर्थ और व्यंजन–शब्द दोनों दृष्टिओंसे हुआ है। किन्तु पर्यायका लक्षण तो उन्होंने किया है कि "तद्भावः परिणामः।" (५.४१) यहाँ पर्यायके लिये परिणाम शब्दका प्रयोग साभिप्राय है।

मैं पहले यह तो बता आया हूं कि आगमोंमें पर्यायके लिये परिणाम शब्दका प्रयोग हुआ है। सांख्य और योगदर्शनमें भी परिणाम शब्द पर्याय अर्थमें ही प्रसिद्ध है। अत एव वाचकने उसी शब्दको लेकर पर्यायका लक्षण ग्रथित किया है और उसकी व्याख्यामें कहा है कि, "धर्मादीनां द्रव्याणां यथोक्तानां च गुणानां स्वभावः स्वतत्त्वं परिणामः"। अर्थात् धर्मादि द्रव्य और गुण जिस जिस स्वभावमें हो अर्थात् जिस जिस रूपमें आत्मलाभ प्राप्त करते हों उनका वह स्वभाव या स्वरूप परिणाम है अर्थात् पर्याय है।

परिणामोंको वाचकने आदिमान् और अनादि ऐसे दो भेदोंमें विभक्त किया है[१]। प्रत्येक द्रव्यमें दोनों प्रकारके परिणाम होते हैं। जैसे जीवमें जीवत्व, द्रव्यत्व, इत्यादि अनादि परिणाम हैं और योग और उपयोग आदिमान् परिणाम हैं। उनका यह विश्लेषण जैनागम और इतर दर्शनके मार्मिक अभ्यासका फल है।

§४. गुण और पर्यायसे द्रव्य वियुक्त नहीं।

वा० उमास्वातिकृत द्रव्यके लक्षण से यह तो फलित हो ही जाता है कि गुण और पर्यायसे रहित ऐसा कोई द्रव्य हो नहीं सकता। इस बातको उन्होंने अन्यत्र स्पष्ट शब्दोंमें कहा भी है– "द्रव्यजीव इति गुणपर्यायवियुक्तः प्रज्ञास्थापितोऽनादिपारिणामिकभावयुक्तो जीव इति।" तत्वार्थभा० १५। अर्थात् गुण और पर्यायसे वस्तुतः पृथक् ऐसा द्रव्य नहीं होता किन्तु प्रज्ञासे उसकी कल्पना की जा सकती है। अर्थात् गुण और पर्यायकी विवक्षा न करके द्रव्यको गुण और पर्यायसे पृथक् समझा जा सकता है पर वस्तुतः पृथक् नहीं किया जा सकता। वैशेषिक परिभाषामें कहना हो तो द्रव्य और गुण-पर्याय अयुतसिद्ध हैं।

गुण-पर्यायसे रहित ऐसे द्रव्यकी अनुपलब्धिके कथनसे यह तो स्पष्ट नहीं होता है कि द्रव्यसे रहित गुण-पर्याय उपलब्ध हो सकते हैं या नहीं। इसका स्पष्टीकरण बादके आचार्योंने किया है।

---

१ "कः पुनरसौ पर्यायः इत्याह–तद्भावः परिणामः।" तत्वार्थश्लो० पृ० ४४०। २ तत्वार्थ० ५.४२. से।

§५. कालद्रव्य ।

जैन आगमोंमें द्रव्यवर्णन प्रसंगमें कालद्रव्यको पृथक् गिनाया गया है[१]। और उसे जीवाजीवात्मक भी कहा है[२]। इससे आगमकालसे ही कालको स्वतन्त्र द्रव्य मानने न माननेकी दो परंपराएँ थीं यह स्पष्ट है। वा० उमास्वाति 'कालश्च इत्येके' (५. ३८) सूत्रसे यह सूचित करते हैं कि वे कालको पृथक् द्रव्य माननेके पक्षपाती नहीं थे। कालको पृथक् नहीं माननेका पक्ष प्राचीन मालूम होता है क्योंकि लोक क्या है इस प्रश्न का उत्तर श्वेताम्बर दिगम्बर दोनोंके मतसे एकही है कि लोक पंचास्तिकायमय है[४]। कहीं यह उत्तर नहीं देखा गया कि लोक षड्द्रव्यात्मक है[५]। अत एव मानना पडता है कि जैनदर्शनमें कालको पृथक् माननेकी परंपरा उतनी प्राचीन नहीं। यही कारण है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनोंमें कालके स्वरूपके विषय में मतभेद भी देखा जाता है[६]।

उत्तराध्ययनमें कालका लक्षण है "वत्तणालक्खणो कालो" (२८.१०)। किन्तु वाचकने कालके विषयमें कहा है कि "वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य" (५.२२)। वाचकका यह कथन वैशेषिकसूत्रसे[७] प्रभावित है।

§६. पुद्गल द्रव्य ।

आगममें पुद्गलास्तिकायका लक्षण 'ग्रहण' किया गया है—"गहणलक्खणे णं पोग्गलत्थिकाए" (भगवती—१३.४.४८१)। "गुणओ गहणगुणे" (भगवती—२.१०.११७। स्थानांग सू० ४४१) इस सूत्रसे यह फलित होता है कि वस्तुका अव्यभिचारी—सहभावी गुण ही आगमकारको लक्षणरूपसे इष्ट था। सिर्फ पुद्गलके विषयमें ही नहीं किन्तु जीवादि विषयमें भी जो उनके उपयोगादि गुण हैं उन्हीं का लक्षणरूपसे भगवतीमें निर्देश है इससे यही फलित होता है कि आगमकालमें गुणही लक्षण समझा जाता रहा।

ग्रहणका अर्थ क्या है यह भी भगवतीके निम्न सूत्रसे स्पष्ट होता है—

"**पोग्गलत्थिकाए णं जीवाणं ओरालिय-वेउव्विय-आहारए तेयाकम्मए सोइंदिय-चक्खिदिय-घाणिंदिय-जिब्भिंदिय-फासिंदिय-मणजोग-वयजोग-कायजोग-आणापाणूणं च गहणं पवत्तति गहणलक्खणे णं पोग्गलत्थिकाए**" भगवती १३.४.४८१।

अर्थात् जीव अपने शरीर, इन्द्रिय, योग और श्वासोच्छ्वास रूपसे पुद्गलोंका ग्रहण करता है क्योंकि पुद्गलका लक्षण ही ग्रहण है। अर्थात् फलित यह होता है कि पुद्गलमें जीवके साथ संबंध होनेकी योग्यताका प्रतिपादन उसके सामान्य लक्षण ग्रहण अर्थात् संबंधयोग्यताके आधार

---

१ चौथा कर्मग्रन्थ पृ० १५७। २ भगवती २.१०.१२०। ११.११.४२४। १३.४.४८२,४८३। २५.४। इत्यादि। प्रज्ञापना पद १। उत्तरा० २८.१०। ३ स्थानांग सूत्र ९५। जीवाभिगम। ४ "किमियं भंते! लोएत्ति पवुच्चइ? गोयमा, पंचत्थिकाया।" भगवती १३.४.४८१। पंचास्तिकाय गा० ३.। तत्त्वार्थभा० ३.६। ५ इसमें एक ही अपवाद उत्तराध्ययनका है २८.७.। किन्तु इसका स्पष्टीकरण यही है कि वहाँ छः द्रव्य मानकर वर्णन किया है अत एव उस वर्णनके साथ संगति रखनेके लिये लोकको छः द्रव्यरूप कहा है। अन्यत्र छः द्रव्य माननेवालोंने भी लोकको पंचास्तिकायमय ही कहा है। जैसे आचार्य कुन्दकुन्द षड्द्रव्यवादी होते हुए भी लोकको जब पंचास्तिकायमय ही कहते हैं तब उस परंपराकी प्राचीनता स्पष्ट हो जाती है। ६ चौथा कर्मग्रन्थ पृ० १५८। ७ वैशे० २.२.६.

पर किया गया है । तात्पर्य इतना ही जान पडता है कि जो बंधयोग्य है वह पुद्गल है । इस प्रकार पुद्गलोंमें परस्पर और जीवके साथ बद्ध होनेकी शक्तिका प्रतिपादन ग्रहण शब्दसे किया गया है ।

इस व्याख्यासे पुद्गलका स्वरूपबोध स्पष्ट रूपसे नहीं होता । उत्तराध्ययनमें उसकी जो दूसरी व्याख्या (२८.१२) की गई है वह स्वरूपबोधक है—

"सद्दन्धयारउज्जोओ पहा छायातवेइ वा ।
वण्णरसगन्धफासा पुग्गलाणं तु लक्षणं ॥"

दर्शनान्तरमें शब्दादिको गुण और द्रव्य माननेकी जुदी जुदी कल्पनाएँ प्रचलित हैं । इसके स्थानमें उक्त सूत्रमें शब्दादिका समावेश पुद्गल द्रव्यमें करनेकी सूचना की है । और पुद्गल द्रव्य की व्याख्या भी की है कि वर्णादियुक्त है सो पुद्गल ।

वाचकके सामने आगमोक्त द्रव्योंका निम्न वर्गीकरण था ही[1]—

- द्रव्य
  - जीव
  - अजीव
    - अरूपी
      - १ धर्मास्तिकाय
      - २ अधर्मास्तिकाय
      - ३ आकाशास्तिकाय
      - ४ अद्धासमय
    - रूपी
      - १ पुद्गल

इसके अनुसार पुद्गलके अलावा कोई द्रव्य रूपी नहीं है अत एव मुख्यरूपसे पुद्गलका लक्षण वाचकने किया कि **"स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ।"** (५.२३) । तथा **"शब्द-बन्ध-सौक्ष्म्य-स्थौल्य-संस्थान-भेद-तमश्छायातपोद्योतवन्तश्च ।"** (५.२४) इस सूत्रमें बन्धादि अनेक नये पदोंका भी समावेश करके उत्तराध्ययनके लक्षणकी विशेष पूर्ति की ।

पुद्गलके विषयमें पृथक् दो सूत्रोंकी क्यों आवश्यकता है इसका स्पष्टीकरण करते हुए वाचकने जो कहा है उससे उनकी दार्शनिक विश्लेषण शक्तिका पता हमें लगता है । उन्होंने कहा है कि—

"स्पर्शादयः परमाणुषु स्कन्धेषु च परिणामजा एव भवन्ति । शब्दादयश्च स्कन्धेष्वेव भवन्ति अनेकनिमित्ताश्च इत्यतः पृथक्करणम्" तत्त्वार्थभा० ५.२४ ।

परंतु द्रव्योंका साधर्म्य-वैधर्म्य बताते समय उन्होंने जो "रूपिणः पुद्गलाः" (५.४) कहा है वही वस्तुतः पुद्गलका सर्वसंक्षिप्त लक्षण है और दूसरे द्रव्योंसे पुद्गलका वैधर्म्य भी प्रतिपादित करता है ।

---

१ प्रज्ञापना पद १ । भगवती ७.१०.३०४. । अनुयोग० सू० १४४ ।

'रूपिणः पुद्गलाः' में रूपशब्दका क्या अर्थ है इसका उत्तर–"रूपं मूर्तिः मूर्त्याश्रयाश्च स्पर्शादय इति ।" (तत्त्वार्थभा० ५.३) इस वाक्यसे मिल जाता है । रूपशब्दका यह अर्थ, बौद्धधर्मप्रसिद्ध नाम-रूपगत रूप[1] शब्दके अर्थसे मिलता है ।

वैशेषिक मनको मूर्त मानकर भी रूपादि रहित मानते हैं । उसका निरास 'रूपं मूर्तिः' कहनेसे हो जाता है ।

§ ७. इन्द्रियनिरूपण–

वाचकने इन्द्रियोंके निरूपणमें कहा है कि इन्द्रियाँ पांच ही हैं । पांच संख्याका ग्रहण करके उन्होंने नैयायिकोंके षडिन्द्रियवाद और सांख्योंके एकादशेन्द्रियवाद तथा बौद्धोंके मानेन्द्रियवादका निरास किया है ।

§ ८. अमूर्तद्रव्योंकी एकत्रावगाहना--

एक ही प्रदेशमें धर्मादि सभी द्रव्योंका अस्तित्व कैसे हो सकता है ? यह प्रश्न आगमोंमें चर्चित देखा नहीं गया । पर वाचकने इसका उत्तर दिया है कि धर्म-अधर्म आकाश और जीवकी परस्परमें वृत्ति और पुद्गलमें उन सभीकी वृत्तिका कोई विरोध नहीं क्योंकि वे अमूर्त हैं ।

ऊपर वर्णित तथा अन्य कई विषयोंमें वा० उमास्वातिने अपने दार्शनिक पाण्डित्यका प्रदर्शन किया है । जैसे जीवकी नाना प्रकारकी शरीरावगहनाकी सिद्धि, (५.१६), अपवर्त्य और अनपवर्त्य आयुषोंकी योगदर्शन भाष्यका अवलम्बन करके सिद्धि (२.५२) इत्यादि ।

[२] प्रमाणनिरूपण ।

§ १ पंच ज्ञान और प्रमाणोंका समन्वय ।

इस बातकी चर्चा मैंने पहले की है कि आगमकालमें स्वतन्त्र जैन दृष्टिसे प्रमाणकी चर्चा नहीं हुई है । अनुयोगद्वारमें ज्ञानको प्रमाण कह कर भी स्पष्ट रूपसे जैनागम प्रसिद्ध पांच ज्ञानोंको प्रमाण नहीं कहा है । इतना ही नहीं बल्कि जैन दृष्टिसे ज्ञानके प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो प्रकार होने पर भी उनका वर्णन न करके दर्शनान्तरके अनुसार प्रमाणके तीन या चार प्रकार बताये गये हैं । अत एव स्वतन्त्र जैन दृष्टिसे प्रमाणकी चर्चाकी आवश्यकता रही । इसकी पूर्ति वाचकने की है । वाचकने समन्वय कर दिया कि मत्यादि पांच ज्ञान ही प्रमाण हैं[3] ।

§ २ प्रत्यक्ष-परोक्ष ।

मत्यादि पांचों ज्ञानोंका नामोल्लेख करके वाचकने कहा है कि ये ही पांच ज्ञान प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो प्रमाणोंमें विभक्त हैं[2] । स्पष्ट है कि वाचकने ज्ञानके आगमप्रसिद्ध प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेदको लक्ष्य करके ही प्रमाणके दो भेद किये हैं । उन्होंने देखा कि जैन आगमोंमें जब ज्ञानके दो प्रकार ही सिद्ध हैं तब प्रमाणके भी दो प्रकारही करना उचित है । अत एव उन्होंने अनुयोग और स्थानांगगत प्रमाणके चार या तीन भेद, जो कि लोकानुसारी हैं उन्हें छोड ही दिया । ऐसा करनेसे ही स्वतन्त्र जैन दृष्टिसे प्रमाण और पंच ज्ञानका संपूर्ण समन्वय सिद्ध हो जाता है और जैन आगमोंके अनुकूल प्रमाणव्यवस्था भी बन जाती है ।

---

१ "चत्तारि महाभूतानि चतुन्नं च महाभूतानं उपादाय रूपं ति दुविधम्पेतं रूपं एकादसविधेन संगहं गच्छति ।" अभिधम्मत्थसंगह ६.१. से । २ तत्त्वार्थ० १.१० । ३ "मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलानि ज्ञानम् ॥ ९ ॥ तत् प्रमाणे ॥ १० ॥" तत्त्वार्थ० १. ।

वाचक उमास्वाति लौकिक परंपराको अपनी आगमिक मौलिक परंपराके जितना महत्त्व देना चाहते न थे और दार्शनिक जगतमें जैन आगमिक परंपराका स्वातन्त्र्य भी दिखाना चाहते थे। यही कारण है कि अनुयोगद्वारमें जो लोकानुसरण करके इन्द्रिय प्रत्यक्षरूप आंशिकमतिज्ञानको प्रत्यक्ष प्रमाण कहा है उसे उन्होंने अमान्य रखा इतना ही नहीं किन्तु नन्दीमें जो इन्द्रियज-मतिको प्रत्यक्ष ज्ञान कहा है उसे भी अमान्य रखा। और प्रत्यक्ष-परोक्षकी प्राचीन मौलिक आगमिक व्यवस्थाका अनुसरण करके कह दिया कि मति और श्रुत ज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं और अवधि, मनःपर्यय और केवल प्रत्यक्ष प्रमाण हैं[1]।

बादके जैन दार्शनिकोंने इस विषयमें वा० उमास्वातिका अनुसरण नहीं किया बल्कि लोकानुसरण करके इन्द्रिय प्रत्यक्षको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष माना है।

§ ३ प्रमाणसंख्यान्तरका विचार।

जब वाचकने प्रमाणके दो भेद किये तब प्रश्न होना स्वाभाविक है कि जैनागममें जो प्रत्यक्षादि चार प्रमाण माने गये हैं उसका क्या स्पष्टीकरण है? तथा दूसरोंने जो अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति, संभव और अभाव प्रमाण माने हैं उनका इन दो प्रमाणोंके साथ क्या मेल है?

उन्होंने उसका उत्तर दिया कि आगमोंमें प्रमाणके जो चार भेद किये गये हैं वे नयवादान्तरसे हैं[2]। तथा दर्शनान्तरमें जो अनुमानादि प्रमाण माने जाते हैं उनका समावेश मतिश्रुतरूप परोक्ष प्रमाणमें करना चाहिए। क्योंकि उन सभीमें इन्द्रियार्थसन्निकर्षरूप निमित्त मौजुद है[3]।

इस उत्तरसे उनको संपूर्ण संतोष नहीं हुआ क्योंकि मिथ्याग्रह होनेके कारण जैनेतर दार्शनिकोंका ज्ञान आगमिक परिभाषाके अनुसार अज्ञान ही कहा जाता है। अज्ञान तो अप्रमाण है। अत एव उन्होंने इस आगमिक दृष्टिको सामने रख कर एक दूसरा भी उत्तर दिया कि दर्शनान्तर संमत अनुमानादि अप्रमाण ही हैं[4]।

उपर्युक्त दो विरोधी मन्तव्य प्रकट करनेसे उनके सामने ऐसा प्रश्न आया कि दर्शनान्तरीय चार प्रमाणोंको नयवादसे प्रमाण कोटिमें गिनते हो और दर्शनान्तरीय सभी अनुमानादि प्रमाणोंको मति श्रुतमें समाविष्ट करते हो इसका क्या खुलासा?

इसका उत्तर यों दिया है – शब्दनयके अभिप्रायसे ज्ञान – अज्ञानका विभाग ही नहीं। सभी साकार उपयोग ज्ञान ही हैं। शब्दनय श्रुत और केवल इन दो ज्ञानोंको ही मानता है। बाकीके सब ज्ञानोंको श्रुतका उपग्राहक मानकर उनका पृथक् परिगणन नहीं करता। इसी दृष्टिसे आगममें प्रत्यक्षादि चारको प्रमाण कहा गया है और इसी दृष्टिसे अनुमानादिका अन्तर्भाव मति-श्रुतमें किया गया है[5]। प्रमाण और अप्रमाणका विभाग नैगम, संग्रह और व्यवहारनयके अवलम्बनसे होता है क्योंकि इन तीनों नयोंके मतसे ज्ञान और अज्ञान दोनोंका पृथक् अस्तित्व माना गया है[6]।

---

१ "आद्ये परोक्षम्। प्रत्यक्षमन्यत्।" तत्त्वार्थ १.१०,११। २ तत्त्वार्थ० भा० १.६। ३ तत्त्वार्थभा० १.१२। ४ "अप्रमाणान्येव वा। कुतः? मिथ्यादर्शनपरिग्रहात् विपरीतोपदेशाच्च। मिथ्यादृष्टेर्हि मतिश्रुतावधयो नियतमज्ञानमेवेति।" तत्त्वार्थभा० १.१२। ५ तत्त्वार्थभा० १.३५। ६ तत्त्वार्थभा० १.३५।

§४ प्रमाणका लक्षण।

वाचकके मतसे सम्यग्ज्ञान ही प्रमाणका लक्षण है। सम्यग्शब्दकी व्याख्यामें उन्होंने कहा है कि जो प्रशस्त अव्यभिचारी या संगत हो वह सम्यग् है[1]। इस लक्षणमें नैयायिकोंके प्रत्यक्ष लक्षणगत अव्यभिचारिविशेषण और उसीको स्पष्ट करनेवाला संगत विशेषण जो आगे जा कर बाधविवर्जित या अविसंवादरूपसे प्रसिद्ध हुआ, आये हैं, किन्तु उसमें 'स्वपरव्यवसाय'ने स्थान नहीं पाया है। वाचकने कार्मण शरीरको स्व और अन्य शरीरोंकी उत्पत्तिमें कारण सिद्ध करनेके लिये आदित्यकी स्वपरप्रकाशकताका दृष्टान्त दिया है[2]। किन्तु उसी दृष्टान्तके बलसे ज्ञानकी स्वपरप्रकाशकताकी सिद्धि, जैसे आगेके आचार्योंने की है उन्होंने नहीं की।

§५ ज्ञानोंका सहभाव और व्यापार।

वाचक उमास्वातिने आगमोंका अवलम्बन लेकर ज्ञानोंके सहभावका विचार किया है (१.३१)। उस प्रसंगमें एक प्रश्न उठाया है कि केवलज्ञानके समय अन्य चार ज्ञान होते हैं कि नहीं। इस विषयको लेकर आचार्योंमें मतभेद था। कुछ आचार्योंका कहना था कि केवलज्ञानके होने पर मत्यादिका अभाव नहीं हो जाता किन्तु अभिभव हो जाता है जैसे सूर्यके उदयसे चन्द्र नक्षत्रादिका अभिभव हो जाता है। इस मतको अमान्य करके वाचकने कह दिया है कि–**"क्षयोपशमजानि चत्वारि ज्ञानानि पूर्वाणि क्षयादेव केवलम्। तस्मान्न केवलिनः शेषाणि ज्ञानानि भवन्ति।" तत्त्वार्थभा० १.३१**। उनके इस अभिप्रायको आगेके सभी जैन दार्शनिकोंने मान्य रखा है।

एकाधिक ज्ञानोंका व्यापार एक साथ हो सकता है कि नहीं इस प्रश्नका उत्तर दिया है कि प्रथमके मत्यादि चार ज्ञानोंका व्यापार (उपयोग) क्रमशः होता है। किन्तु केवल ज्ञान और केवल दर्शनका व्यापार युगपत् ही होता है[3]। इस विषयको लेकर जैन दार्शनिकोंमें काफी मतभेद हो गया है[4]।

§६ मति-श्रुतका विवेक।

नन्दीसूत्रकारका अभिप्राय है कि मति और श्रुत अन्योन्यानुगत–अविभाज्य हैं अर्थात् जहाँ मतिज्ञान होता है वहाँ श्रुतज्ञान, और जहाँ श्रुतज्ञान होता है वहाँ मतिज्ञान होता ही है[5]। नन्दीकारने किसी आचार्यका मत उद्धृत किया है कि–**"मइ पुव्वं जेण सुयं न मई सुय-पुव्विया"** (सू० २४) अर्थात् श्रुत ज्ञान तो मतिपूर्वक है किन्तु मति श्रुतपूर्वक नहीं अत एव मति और श्रुतका भेद होना चाहिए। मति और श्रुतज्ञानकी इस भेदरेखाको[6] मानकर वाचकने उसे और भी स्पष्ट किया कि–**"उत्पन्नाविनष्टार्थग्राहकं सांप्रतकालविषयं मति-ज्ञानं श्रुतज्ञानं तु त्रिकालविषयम्, उत्पन्नविनष्टानुत्पन्नार्थग्राहकमिति।" तत्त्वार्थभा० १.२०**। इसी भेदरेखाको आ० जिनभद्रने और भी पुष्ट की है।

---

१ तत्त्वार्थभा० १.१। २ तत्त्वार्थभा० २.४९। ३ तत्त्वार्थभा० १.३१। ४ ज्ञानबिन्दु–परिचय पृ० ५४। ५ नन्दीसूत्र २४। ६ "श्रुतं मतिपूर्वम्" तत्त्वार्थ १.२०। तत्त्वार्थभा० १.३१।

§७ मतिज्ञानके भेद।

आगमोंमें मतिज्ञानको अवग्रादि चार भेदोंमें या श्रुतनिश्रितादि दो भेदोंमें विभक्त किया गया है। तदनन्तर प्रभेदोंकी संख्या दी गई है। किन्तु वाचकने मतिज्ञानके भेदोंका क्रम कुछ बदल दिया है (१. १४ से)। मतिज्ञानके मौलिक भेदोंको साधनभेदसे वाचकने विभक्त किया है। उनका क्रम निम्न प्रकारसे है। एक बातका ध्यान रहे कि इसमें स्थानांग और नन्दीगत श्रुतनिःश्रित और अश्रुतनिःश्रित ऐसे भेदोंको स्थान नहीं मिला किन्तु उस प्राचीन परंपराका अनुसरण है जिसमें मतिज्ञानके ऐसे भेद नहीं थे। दूसरा इस बातका भी ध्यान रखना आवश्यक है कि नन्दी आदि शास्त्रोंमें अवग्रहादिके बह्वादि प्रकार नहीं गिनाये हैं। जबकि तत्त्वार्थमें वे मौजूद हैं। स्थानांगसूत्रके छठे स्थानकमें (सू० ५१०) बह्वादि अवग्रहादिका परिगणन क्रमभेदसे है[१] किन्तु वहाँ तत्त्वार्थगत प्रतिपक्षी भेदोंका उल्लेख नहीं। इससे पता चलता है कि ज्ञानोंके भेदोंमें बह्वादि अवग्रहादिके भेदकी परंपरा प्राचीन नहीं।

(२) मतिज्ञानके दो भेद

१ इन्द्रियनिमित्त
२ अनिन्द्रियनिमित्त

(४) मतिज्ञानके चार भेद

१ अवग्रह
२ ईहा
३ अवाय
४ धारणा

(२८) मतिज्ञानके अट्ठाईस भेद

२४ इन्द्रियनिमित्तमतिज्ञानके—

५ स्पर्शनेन्द्रियजन्य व्यंजनावग्रह, अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा
५ रसनेन्द्रियजन्य "
५ घ्राणेन्द्रियजन्य "
५ श्रोत्रेन्द्रियजन्य "
४ चक्षुरिन्द्रियजन्य अर्थावग्रहादि

४ अनिन्द्रियजन्य अर्थावग्रहादि

(१६८) मतिज्ञानके एकसो अडसठ भेद

उक्त अठाईस भेदके प्रत्येकके १ बहु, २ बहुविध, ३ क्षिप्र, ४ अनिश्रित, ५ असंदिग्ध और ६ ध्रुव ये छः भेद करनेसे २८×६=१६८ भेद होते हैं।

---

१ स्थानांगका क्रम है—क्षिप्र, बहु, बहुविध, ध्रुव, अनिश्रित और असंदिग्ध। तत्त्वार्थका क्रम है—बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिश्रित, असंदिग्ध और ध्रुव। दिगम्बर पाठमें असंदिग्धके स्थानमें अनुक्त है।

(३३६) मतिज्ञानके तीन सौ छत्तीस भेद

उक्त २८ भेदके प्रत्येकके–१ बहु, २ अल्प, ३ बहुविध, ४ अल्पविध, ५ क्षिप्र, ६ अक्षिप्र, ७ अनिश्रित, ८ निश्रित, ९ असंदिग्ध, १० संदिग्ध, ११ ध्रुव और १२ अध्रुव ऐसे बारह भेद करनेसे २८×१२=३३६ होते हैं।

मतिज्ञानके ३३६ भेदके अतिरिक्त वाचकने प्रथम १६८ जो भेद दिये है उसमें स्थानांग-निर्दिष्ट अवग्रहादिके प्रतिपक्षरहित छही भेद माननेकी परंपरा कारण हो सकता है। अन्यथा वाचकके मतसे जब अवग्रहादि बह्वादि सेतर होते हैं तो १६८ भेद नहीं हो सकते। २८ के बाद ३३६ ही को स्थान मिलना चाहिए।

इससे हम कह सकते हैं कि प्रथम अवग्रहादिके बह्वादि भेद नहीं किये जाते थे। जबसे किये जाने लगे सिर्फ छः ही भेदोंने सर्व प्रथम स्थान पाया और बादमें १२ भेदोंने।

§ ८ अवग्रहादिके लक्षण और पर्याय।

नन्दीसूत्रमें मतिज्ञानके अवग्रहादि भेदोंका लक्षण तो नहीं किया गया किन्तु उनका स्वरूप-बोध पर्यायवाचक शब्दोंके द्वारा और दृष्टान्त द्वारा कराया गया है। वाचकने अवग्रहादि मति-भेदोंका लक्षण कर दिया है और पर्यायवाचक शब्द भी दे दिये हैं। ये पर्यायवाचक शब्द एक ही अर्थके बोधक हैं या नाना अर्थके? इस विषयको लेकर टीकाकारोंमें विवाद हुआ है। उसका मूल यही माळूम होता है कि मूलकार ने पर्यायोंका संग्रह करनेमें दो बातोंका ध्यान रखा है। वे ये हैं–समानार्थक शब्दोंका संग्रह करना और सजातीय ज्ञानोंका संग्रह करनेके लिये तद्वाचक शब्दोंका संग्रह भी करना। अर्थात् अर्थपर्याय और व्यञ्जनपर्याय दोनोंका संग्रह किया गया है।

यहां नन्दी और उमास्वातिके पर्याय शब्दों का तुलनात्मक कोष्ठक देना उपयुक्त होगा

मतिज्ञान		अवग्रह		ईहा		अवाय		धारणा	
नन्दी–	तत्त्वार्थ	नन्दी	तत्त्वार्थ	नन्दी	तत्त्वार्थ	नन्दी	तत्त्वार्थ	नन्दी	तत्त्वार्थ
आभिनिबोधिक	,,	अवग्रह	} ,, ग्रह			अवाय	×	धारणा	,,
ईहा	×	अवग्रहणता	} ग्रहण	ईहा	,,	अवर्तनता	×	धरणा	×
अपोह	×	उपधारणता	अवधारण	आभोगनता	×	प्रत्यावर्तनता	×	स्थापना	×
विमर्श	×	श्रवणता	×	विमर्श	×	अपाय	अपाय	प्रतिष्ठा	×
मार्गणा	×	अवलम्बनता	×	मार्गणा	×	बुद्धि	×	कोष्ठ	×
गवेषणा	×	मेधा	×	गवेषणा	×	विज्ञान	×	×	प्रतिपत्ति
संज्ञा	,,	×	आलोचन	चिंता	×	×	अपगम	×	अवधारण
स्मृति	,,			×	ऊहा	×	अपनोद	×	अवस्थान
मति	,,			×	तर्क	×	अपव्याध	×	निश्चय
प्रज्ञा	×			×	परीक्षा	×	अपेत	×	अवगम
	चिंता			×	विचारणा	×	अपगत	×	अवबोध
				×	जिज्ञासा	×	अपविद्ध		
							अपनुत्त		

[३] नयनिरूपण ।

प्रास्ताविक –

वाचक उमास्वातिने कहा है कि नामादि निक्षेपोंसे न्यस्त जीवादि तत्त्वोंका अधिगम प्रमाण और नयसे करना चाहिए[1] । इस प्रकार हम देखते हैं कि निक्षेप, प्रमाण और नय मुख्यतः इन तीनोंका उपयोग तत्त्वके अधिगममें है । यही कारण है कि सिद्धसेनादि सभी दार्शनिकोंने उपायतत्त्वके निरूपणमें प्रमाण, नय और निक्षेपका विचार किया है ।

अनुयोगके मूलद्वार उपक्रम, निक्षेप अनुगम और नय ये चार हैं[2] । इनमेंसे दार्शनिक युगमें प्रमाण, नय और निक्षेप, ही का विवेचन मिलता है । नय और निक्षेपने तो अनुयोगके मूल द्वारमें स्थान पाया है पर प्रमाण स्वतन्त्र द्वार न होकर उपक्रम द्वारके प्रभेद रूपसे आया है[3] ।

अनुयोगद्वाराके मतसे भावप्रमाण तीन प्रकारका है – गुणप्रमाण (प्रत्यक्षादि), नयप्रमाण और संख्याप्रमाण[4] । अतएव तत्त्वतः देखा जाय तो नय और प्रमाणकी प्रकृति एकही है अर्थात् प्रमाण और नयका तात्त्विक भेद नहीं है । दोनों वस्तुके अधिगमके उपाय हैं । किन्तु प्रमाण अखण्ड वस्तुके अधिगमका उपाय है और नय वस्त्वंशके अधिगमका । इसी भेदको लक्ष्य करके जैनशास्त्रोंमें प्रमाणसे नयका पार्थक्य मानकर दोनोंका स्वतन्त्र विवेचन किया जाता है[5] । यही कारण है कि वाचकने भी 'प्रमाणनयैरधिगमः' (१. ६) इस सूत्रमें प्रमाणसे नयका पृथगुपादान किया है ।

§१ नयसंख्या ।

तत्त्वार्थसूत्रके स्वोपज्ञभाष्यसंमत और तदनुसारी टीका संमत पाठके आधार पर यह सिद्ध है कि वाचकने पांच मूल नय माने हैं[6] "नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दा नयाः" (१. ३४)। यह ठीक है कि आगममें स्पष्टरूपसे पांच नहीं किन्तु सात मूल नयोंका उल्लेख है[7] । किन्तु अनुयोगमें शब्द, समभिरूढ और एवंभूतकी सामान्य संज्ञा शब्दनय दी गई है – "तिण्हं सद्दनयाणं" (सू० १४८,१५१) । अत एव वाचकने अंतिम तीनोंको शब्द सामान्य के अन्तर्गत करके मूल नयोंकी पांच संख्या बतलाई है सो अनागमिक नहीं ।

दार्शनिकोंने जो नयोंके अर्थनय और शब्दनय ऐसे दो विभाग किये हैं उसका मूल भी इस तरहसे आगम जितना पुराना है क्योंकि आगममें जब अंतिम तीनोंको शब्द नय कहा तब अर्थात् सिद्ध हो जाता है कि प्रारंभके चार अर्थनय हैं ।

वाचकने शब्दके तीन भेद किये हैं – सांप्रत, समभिरूढ और एवंभूत । प्रतीत होता है कि शब्दसामान्यसे विशेष शब्द नयको पृथक् करनेके लिये वाचकने उसका सार्थक नाम सांप्रत रखा है ।

---

१ "एषां च जीवादितत्त्वानां यथोद्दिष्टानां नामादिभिर्न्यस्तानां प्रमाणनयैर्विस्तराधिगमो भवति ।" तत्त्वार्थभा० १.६ । २ अनुयोगद्वार सू० ५९ । ३ अनुयोगद्वार सू० ७० । ४ अनुयोगद्वार सू० १४६ । ५ तत्त्वार्थभा० टीका १.६ । ६ दिगम्बर पाठके अनुसार सूत्र ऐसा है—"नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूता नयाः ।" ७ अनुयोगद्वार सू० १५६ । स्थानांग सू० ५५२ । ८ प्रमाणन० ७.४४,४५ ।

§२ नयोंके लक्षण ।

अनुयोगद्वारसूत्रमें नयविवेचन दो स्थानपर आया है । अनुयोगका प्रथम मूल द्वार उपक्रम है । उसके प्रभेद रूपसे नय प्रमाणका विवेचन किया गया है तथा अनुयोगके चतुर्थ मूलद्वार नयमें भी नयवर्णन है । नय प्रमाण वर्णन तीन दृष्टान्तों द्वारा किया गया है—प्रस्थक, वसति[1] और प्रदेश (अनुयोग सू० १४८)। किन्तु यहां नयोंका लक्षण नहीं किया गया । मूल नयद्वारके प्रसंगमें सूत्रकारने नयोंका लक्षण किया है । सामान्यनयका नहीं ।

उन लक्षणोंमें भी अधिकांश नयोंके लक्षण निरुक्तिका आश्रय लेकर किये गये हैं । सूत्रकारने सूत्रोंकी रचना गद्यमें की है किन्तु नयोंके लक्षण गाथामें दिये हैं । प्रतीत होता है कि अनुयोगसे भी प्राचीन किसी आचार्यने नय लक्षणकी गाथाओंकी रचना की होगी । जिनका संग्रह अनुयोगके कर्ताने किया है ।

वाचकने नय का पदार्थनिरूपण निरुक्ति और पर्यायका आश्रय लेकर किया है—

"जीवादीन् पदार्थान् नयन्ति प्राप्नुवन्ति कारयन्ति साधयन्ति निर्वर्तयन्ति निर्भासयन्ति उपलम्भयन्ति व्यञ्जयन्ति इति नयाः।" (१.३५)

अर्थात् जीवादि पदार्थोंका जो बोध करावें वे नय हैं ।

वाचकने आगमिक उक्त तीन दृष्टांतोंको छोडकर घटके दृष्टान्तसे प्रत्येक नयका स्वरूप स्पष्ट किया है । इतनाही नहीं बल्कि आगममें जो नाना पदार्थोंमें नयावतारणा की गई है उसमें प्रवेश करानेकी दृष्टिसे जीव, नोजीव, अजीव, नोअजीव इन शब्दोंका प्रत्येक नयकी दृष्टिमें क्या अर्थ है तथा किस नयकी दृष्टिसे कितने ज्ञान अज्ञान होते हैं इसका भी निरूपण किया है ।

§३ नई विचारणा ।

नयोंके लक्षणमें अधिक स्पष्टता और विकास तत्त्वार्थमें है यह तो अनुयोग और तत्त्वार्थगत नयोंके लक्षणोंकी तुलना करनेवालेसे छिपा नहीं रहता । किन्तु वाचकने नयके विषयमें जो विशेष विचार उपस्थित किया जो संभवतः आगमकालमें नहीं हुआ था, वह तो यह है कि क्या नय वस्तुतः किसी एक तत्त्वके विषयमें तन्त्रान्तरीयोंके नाना मतवाद हैं या जैनाचार्योंके ही पारस्परिक मतभेद को व्यक्त करते हैं[2] ?

इस प्रश्नके उत्तरसे ही नयका स्वरूप वस्तुतः क्या है, या वाचकके समयपर्यन्तमें नयविचारकी व्याप्ति कहां तक थी इसका पता लगता है । वाचकने कहा है कि नयवाद यह तन्त्रान्तरीयोंका वाद नहीं है और न जैनाचार्योंका पारस्परिक मतभेद । किन्तु वह तो **"ज्ञेयस्य तु अर्थस्याध्यवसायान्तराणि एतानि।"** (१. ३५) है । अर्थात् ज्ञेय पदार्थके नाना अध्यवसाय हैं । अर्थात् एक ही अर्थके विषयमें भिन्न भिन्न अपेक्षाओंसे होनेवाले नाना प्रकारके निर्णय हैं । ऐसे नाना निर्णय नयभेदसे किस प्रकार होते हैं इसे दृष्टान्तसे वाचकने स्पष्ट किया है ।

---

१ प्रो० चक्रवर्तीने स्याद्वादमंजरीगत (का० २८) निलयन दृष्टांतका अर्थ किया है—House-building (पंचास्तिकायप्रस्तावना पृ० ५५) किन्तु उसका 'वसति' से मतलब है । और उसका विवरण जो अनुयोगमें है उससे स्पष्ट है कि प्रो० चक्रवर्तीका अर्थ भ्रान्त है । २ "किमेते तन्त्रान्तरीया वादिन आहोस्वित् स्वतन्त्रा एव चोदकपक्षग्राहिणो मतिभेदेन विप्रधाविता इति ।" १.३५ ।

एक ही अर्थके विषयमें ऐसे अनेक विरोधी निर्णय होनेपर क्या विप्रतिपत्तिका प्रसंग नहीं होगा? ऐसा प्रश्न उठाकर अनेकान्तवादके आश्रयसे उन्होंने जो उत्तर दिया है उसीमेंसे विरोधके शमन या समन्वयका मार्ग निकल आता है। उनका कहना है कि एक ही लोकको महासामान्य सत् की अपेक्षासे एक; जीव और अजीव के भेदसे दो; द्रव्य, गुण और पर्यायके भेदसे तीन; चतुर्विध दर्शनका विषय होनेसे चार; पांच अस्तिकायकी अपेक्षासे पांच; छः द्रव्योंकी अपेक्षा से छः कहा जाता है। जिस प्रकार एक ही लोकके विषयमें अपेक्षाभेदसे ऐसे नाना निर्णय होनेपर भी विवादको कोई स्थान नहीं उसी प्रकार नयाश्रित नाना अध्यवसायोंमें भी विवादको अवकाश नहीं है—

"यथैता न विप्रतिपत्तयोऽथ चाध्यवसायस्थानान्तराणि एतानि, तद्वन्नयवादाः।" १.३५।

धर्मास्तिकायादि किसी एक तत्त्वके बोधप्रकार मत्यादिके भेदसे भिन्न होते हैं। एक ही वस्तु प्रत्यक्षादि चार प्रमाणोंके द्वारा भिन्न भिन्न प्रकारसे जानी जाती है। इसमें यदि विवादको अनवकाश है तो नयवाद में भी विवाद नहीं हो सकता है। ऐसा भी वाचकने प्रतिपादन किया है—(१.३५)

वाचकके इस मन्तव्यकी तुलना न्यायभाष्यके निम्न मन्तव्यसे करना चाहिए। न्यायसूत्रगत—**'संख्यैकान्तासिद्धिः'** (४.१.४१) की व्याख्या करते समय भाष्यकारने संख्यैकान्तोंका निर्देश किया है और बताया है कि ये सभी संख्यायें सच हो सकती हैं, किसी एक संख्याका एकान्त युक्त नहीं[1]—**"अथेमे संख्यैकान्ताः सर्वमेकं सदविशेषात्। सर्वं द्वेधा नित्यानित्यभेदात्। सर्वं त्रेधा ज्ञाता ज्ञानं ज्ञेयमिति। सर्वं चतुर्धा प्रमाता प्रमाणं प्रमेयं प्रमितिरिति। एवं यथा संभवमन्येपि इति।"** न्यायभा० ४.१.४१.।

वाचकके इस स्पष्टीकरणमें कई नये वादोंका बीज है—जैसे ज्ञानभेदसे अर्थभेद है या नहीं? प्रमाणसंप्लव मानना योग्य है या विप्लव? धर्मभेदसे धर्मिभेद है या नहीं? सुनय और दुर्णयका भेद, इत्यादि। इन वादोंके विषयमें बादके जैनदार्शनिकोंने विस्तारसे चर्चा की है।

वाचकके कई मन्तव्य ऐसे हैं जो दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों संप्रदायोंके अनुकूल नहीं। उनकी चर्चा पं० श्री सुखलालजीने तत्त्वार्थसूत्रके परिचयमें की है अतएव उस विषयमें यहाँ विस्तार करना अनावश्यक है। उन्ही मन्तव्योंके आधारपर वाचककी परम्पराका निर्णय होता है कि वे यापनीय थे। उन मन्तव्योंमें दार्शनिक दृष्टिसे कोई महत्त्वका नहीं है। अतएव उनका वर्णन करना यहाँ प्रस्तुत भी नहीं है।

(ब) आ० कुन्दकुन्दकी जैन दर्शनको देन।

प्रास्ताविक—

वा० उमास्वातिने जैन आगमिक तत्त्वोंका निरूपण संस्कृत भाषामें सर्वप्रथम किया है तो आ० कुन्दकुन्दने आगमिक पदार्थोंकी दार्शनिक दृष्टिसे तार्किक चर्चा प्राकृत भाषामें सर्व प्रथम

---

१ **"ते खल्विमे संख्यैकान्ता यदि विशेषकारितस्य अर्थभेदविस्तारस्य प्रत्याख्यानेन वर्तन्ते, प्रत्यक्षानुमानागमविरोधान्मिथ्यावादा भवन्ति। अथाभ्यनुज्ञानेन वर्तन्ते समानधर्मकारितोऽर्थसंग्रहो विशेषकारितश्च अर्थभेद इति एवं एकान्तत्वं जहतीति।"** न्यायभा० ४.१.४१.

की है ऐसा उपलब्ध साहित्य सामग्रीके आधार पर कहा जा सकता है। आ० कुन्दकुन्दने जैन तत्त्वोंका निरूपण वा० उमास्वातिकी तरह मुख्यतः आगमके आधारपर नहीं किन्तु तत्कालीन दार्शनिक विचारधाराओंके प्रकाशमें आगमिक तत्त्वोंको स्पष्ट किया है इतना ही नहीं किन्तु अन्य दर्शनोंके मन्तव्योंका यत्र तत्र निरास करके जैन मन्तव्योंकी निर्दोषता और उपादेयता भी सिद्ध की है।

वाचक उमास्वातिके तत्त्वार्थकी रचनाका प्रयोजन मुख्यतः संस्कृत भाषामें सूत्र शैलीके ग्रन्थकी आवश्यकताकी पूर्ति करना था। तब आ० कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंकी रचनाका प्रयोजन कुछ दूसरा ही था। उनके सामने तो एक महान् ध्येय था। दिगम्बर संप्रदायकी उपलब्ध जैन आगमोंके प्रति अरुचि बढती जा रही थी। किन्तु जब तक ऐसा ही दूसरा साधन आध्यात्मिक-भूखको मिटानेवाला उपस्थित न हो तब तक प्राचीन जैन आगमोंका सर्वथा त्याग संभव न था। आगमोंका त्याग कई कारणों[1] से करना आवश्यक हो गया था किन्तु दूसरे प्रबल समर्थ साधनके अभावमें वह पूर्णरूपसे शक्य न था। इसीको लक्ष्यमें रख कर आ० कुन्दकुन्दने दिगम्बर संप्रदायकी आध्यात्मिक भूख भांगनेके लिये अपने अनेक ग्रन्थोंकी प्राकृत भाषामें रचना की। यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्द के विविध ग्रन्थोंमें ज्ञान, दर्शन और चारित्रका निरूपण प्राचीन आगमिक शैलीमें और आगमिक भाषामें पुनरुक्तिका दोष स्वीकार करके भी विविध प्रकारसे हुआ है। उनको तो एक एक विषयका निरूपण करनेवाले स्वतन्त्र ग्रन्थ बनाना अभिप्रेत था और समग्र विषयोंकी संक्षिप्त संकलना करनेवाले ग्रन्थ बनाना भी अभिप्रेत था। इतनाही नहीं किन्तु आगमके मुख्य विषयोंका यथाशक्य तत्कालीन दार्शनिक प्रकाशमें निरूपण भी करना था जिससे जिज्ञासुकी श्रद्धा और बुद्धि दोनोंको पर्याप्त मात्रामें संतोष मिल सके।

आचार्य कुन्दकुन्दके समयमें अद्वैतवादोंकी बाढसी आई थी। औपनिषद ब्रह्माद्वैतके अतिरिक्त शून्याद्वैत और विज्ञानाद्वैत जैसे वाद भी दार्शनिकोंमें प्रतिष्ठित हो चुके थे। तार्किक और श्रद्धालु दोनोंके ऊपर उन अद्वैतवादोंका प्रभाव सहज ही में जम जाता था। अतएव ऐसे विरोधी वादोंके बीच जैनोंके द्वैतवादकी रक्षा करना कठिन था। इसी आवश्यकतामें से आ० कुन्दकुन्दके निश्चयप्रधान अध्यात्मवादका जन्म हुआ है। जैन आगमोंमें निश्चयनय प्रसिद्ध था ही और निक्षेपोंमें भावनिक्षेप भी मौजुद था। भावनिक्षेपकी प्रधानतासे निश्चयनय का आश्रय लेकर, जैन तत्त्वोंके निरूपणद्वारा आ० कुन्दकुन्दने जैनदर्शनको दार्शनिकोंके सामने एक नये रूपमें उपस्थित किया। ऐसा करनेसे वेदान्त का अद्वैतानन्द साधकोंको और तत्त्वजिज्ञासुओंको जैनदर्शनमें ही मिल गया। निश्चयनय और भावनिक्षेप का आश्रय लेनेपर – द्रव्य और पर्याय; द्रव्य और गुण; धर्म और धर्मि; अवयव और अवयवी इत्यादिका भेद मिटकर अभेद हो जाता है। आ० कुन्दकुन्दको इसी अभेदका निरूपण परिस्थितिवश करना था अत एव उनके ग्रन्थोंमें निश्चय प्रधान वर्णन हुआ है। और नैश्चयिक आत्माके वर्णनमें ब्रह्मवादके समीप जैन आत्मावाद पहुंच गया है। आ० कुन्दकुन्दकृत ग्रन्थोंके अध्ययनके समय उनकी इस निश्चय और

---

१ खास कर, वस्त्रधारण, केवली कवलाहार, स्त्रीमुक्ति, आपवादिक मांसाशन इत्यादिके उल्लेख जैन आगमोंमें थे जो दिगम्बरसंप्रदायके अनुकूल न थे।

भावनिक्षेपप्रधान दृष्टिको सामने रखने से कई गुत्थियाँ सुलझ सकती हैं। और आ० कुन्दकुन्दका तात्पर्य सहज ही में प्राप्त हो सकता है।

अब हम आ० कुन्दकुन्दके द्वारा चर्चित कुछ विषयोंका निर्देश करते हैं। क्रम प्रायः वही रखा हो जो उमास्वातिकी चर्चामें अपनाया है। इससे दोनोंकी तुलना हो जायगी और दार्शनिक विकासका क्रम भी ध्यानमें आ सकेगा।

[१] प्रमेयनिरूपण।

§१ तत्त्व, अर्थ, पदार्थ और तत्त्वार्थ।

वाचककी तरह आ० कुन्दकुन्द भी तत्त्व, अर्थ, पदार्थ और तत्त्वार्थ इन शब्दोंको एकार्थक मानते हैं[१]। किन्तु वाचक ने तत्त्वोंके विभाजनके अनेक प्रकारोंमेंसे सात तत्त्वोंको[२] ही सम्यग्दर्शनके विषयभूत माने हैं। तब आचार्य कुन्दकुन्दने स्वसमयप्रसिद्ध सभी विभाजन प्रकारोंको एकसाथ सम्यग्दर्शनके विषयरूपसे बता दिया है[३]। उनका कहना है कि षड्द्रव्य, नव पदार्थ, पंच अस्तिकाय और सात तत्त्व इनकी श्रद्धा करनेसे जीव सम्यग्दृष्टि होता है।

आचार्य कुन्दकुन्दने इन सभी प्रकारोंके अलावा अपनी ओरसे एक नये विभाजनप्रकारका भी प्रचलन किया। वैशेषिकोंने द्रव्य, गुण और कर्मको ही अर्थ संज्ञा दी थी (८.२.३)। इसके स्थानमें आचार्यने कह दिया कि अर्थ तो द्रव्य, गुण और पर्याय ये तीन हैं[४]। वाचकने जीवादि सातों तत्त्वोंको अर्थ[५] कहा है तब आ० कुन्दकुन्दने स्वतन्त्र दृष्टिसे उपर्युक्त परिवर्धन भी किया है। जैसा मैंनें पहले बताया है जैन आगमोंमें द्रव्य, गुण और पर्याय तो प्रसिद्ध ही थे। किन्तु आ० कुन्दकुन्द ही प्रथम हैं जिन्होंने उनको वैशेषिकदर्शनप्रसिद्ध अर्थसंज्ञा दी।

आचार्य कुन्दकुन्दका यह कार्य दार्शनिक दृष्टिसे हुआ है यह स्पष्ट है। विभागका अर्थ ही यह है कि जिसमें एक वर्गके पदार्थ दूसरे वर्गमें समाविष्ट न हों तथा विभाज्य यावत् पदार्थोंका किसी न किसी वर्गमें समावेश भी हो जाय। इसी लिये आचार्य कुन्दकुन्दने जैनशास्त्रप्रसिद्ध अन्य विभाग प्रकारोंके अलावा इस नये प्रकारसे भी तात्त्विक विवेचना करना उचित समझा है।

आचार्य कुन्दकुन्दको परमसंग्रहावलंबी अभेदवादका समर्थन करना भी इष्ट था अत एव द्रव्य, पर्याय और गुण इन तीनोंकी अर्थ संज्ञाके अलावा उन्होंके मात्र द्रव्यकी भी अर्थ संज्ञा रखी है और गुण तथा पर्यायको द्रव्यमें ही समाविष्ट कर दिया है[६]।

§२ अनेकान्तवाद।

आचार्यने आगमोपलब्ध अनेकान्तवादको और स्पष्ट किया है और प्रायः उन्ही विषयोंकी चर्चा की है जो आगमकालमें चर्चित थे। विशेषता यह है कि उन्होंने अधिक भार व्यवहार और निश्चयावलंबी पृथक्करणके ऊपर दिया है। उदाहरणके तौर पर आगममें जहाँ द्रव्य और

---

१ पंचास्तिकाय गा० ११२, ११६। नियमसार गा० ९। दर्शनप्राभृत गा० १९। २ तत्त्वार्थसूत्र १.४। ३ "छद्दव्व णव पयत्था पंचत्थी, सत्त तच्च णिद्दिट्ठा। सद्दहइ ताण रूवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो॥" दर्शनप्रा० १९। ४ प्रवचनसार १.८७। ५ "तत्त्वानि जीवादीनि वक्ष्यन्ते। त एव चार्थाः।" तत्त्वार्थभा. १.२। ६ प्रवचन० २.१। २.९ से

पर्यायका भेद और अभेद माना गया है वहाँ आचार्य स्पष्टीकरण करते हैं कि द्रव्य और पर्यायका भेद व्यवहारके आश्रय से है जबकि निश्चयसे दोनोंका अभेद है[१]। आगममें वर्णादिका सद्भाव और असद्भाव आत्मामें माना है उसका स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य कहते है कि व्यवहारसे तो ये सब आत्मामें हैं, निश्चयसे नहीं, इत्यादि[२]। आगममें शरीर और आत्माका भेद और अभेद माना गया है। इस विषयमें आचार्य ने कहा है कि देह और आत्माका ऐक्य यह व्यवहारनयका वक्तव्य है और दोनोंका भेद यह निश्चयनयका वक्तव्य है।[३] इत्यादि।

§३ द्रव्यका स्वरूप।

वाचकके 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' 'गुणपर्यायवद्द्रव्यम्' और 'तद्भावाव्ययं नित्यम्' इन तीन सूत्रों (५.२९,३०,३७) का संमिलित अर्थ आ० कुन्दकुन्दके द्रव्यलक्षणमें है।

"अपरिच्चत्तसहावेणुप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।
गुणवं सपज्जायं जं तं दव्वंति वुच्चंति॥"

प्रवचन० २.३।

द्रव्य ही जब सत् है तो सत् और द्रव्यके लक्षणमें भेद नहीं होना चाहिए। इसी अभिप्रायसे 'सत्' लक्षण और 'द्रव्य' लक्षण अलग अलग न करके एक ही द्रव्यके लक्षणरूपसे दोनों लक्षणोंका समन्वय आ० कुन्दकुन्दने कर दिया है[४]।

§४ सत्=द्रव्य=सत्ता।

द्रव्यके उक्त लक्षणमें जो यह कहा गया है कि 'द्रव्य अपने स्वभावका परित्याग नहीं करता' वह 'तद्भावाव्ययं नित्यम्' को लक्ष्य करके है। द्रव्यका यह भाव या स्वभाव क्या है जो त्रैकालिक है? इस प्रश्नका उत्तर आ० कुन्दकुन्दने दिया कि 'सब्भावो हि सभावो...दव्वस्स सव्वकालं' (प्रवचन० २.४) तीनों कालमें द्रव्यका जो सद्भाव है, अस्तित्व है, सत्ता है वही स्वभाव है। हो सकता है कि यह सत्ता कभी किसी गुणरूपसे कभी किसी पर्यायरूपसे, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूपसे उपलब्ध हो[५]।

यह भी माना कि इन सभीमें अपने अपने विशेष लक्षण हैं तथापि उन सभीका सर्वगत एक लक्षण 'सत्' है ही[६] इस बातको स्वीकार करना ही चाहिए। यही 'सत्' द्रव्यका स्वभाव है अत एव द्रव्य को स्वभावसे सत् मानना चाहिएँ[७]।

यदि वैशेषिकोंके समान द्रव्यको स्वभावसे सत् न मानकर द्रव्यवृत्ति सत्तासामान्यके कारण सत् माना जाय तब स्वयं द्रव्य असत् हो जायगा, या सत्से अन्य हो जायगा। अतएव द्रव्य स्वयं सत्ता है ऐसा ही मानना चाहिए[८]।

---

१ समयसार ७ इत्यादि। २ समयसार ६१ से। ३ समयसार ३१,६७। ४ वाचकके दोनों लक्षणोंको विकल्पसे भी-द्रव्यके लक्षणरूपसे आ० कुन्दकुन्दने निर्दिष्ट किया है-पंचास्ति० १०। ५ 'गुणेहि सहपज्जवेहिं चित्तेहिं...उप्पादव्वयधुवत्तेहिं' प्रवचन० २.४। ६ प्रवचन० २.५। ७ वही २.६। ८ प्रवचन० २.१३। २.१८। १.९१।

यही द्रव्य या सत्ता परमतत्त्व है। नाना देश और कालमें इसी परमतत्त्वका विस्तार है। जिन्हें हम द्रव्य, गुण या पर्यायके नामसे जानते हैं[1]। वस्तुतः द्रव्यके अभावमें गुण या पर्याय तो होते ही नहीं[2]। यही द्रव्य क्रमशः नाना गुणोंमें या पर्यायोंमें परिणत होता रहता है अत एव वस्तुतः गुण और पर्याय द्रव्यसे अनन्य है — द्रव्यरूप ही हैं[3]। तब परमतत्त्व सत्ताको द्रव्यरूप ही मानना[4] उचित है।

आगमोंमें भी द्रव्य और गुण-पर्यायके अभेदका कथन मिलता है किन्तु अभेद होते हुए भी भेद क्यों प्रतिभासित होता है इसका स्पष्टीकरण जिस ढंगसे आ० कुन्दकुन्दने किया वह उनके दार्शनिक अध्यवसायका फल है।

आचार्य कुन्दकुन्दने अर्थको परिणमनशील बताया है। परिणाम और अर्थका तादात्म्य माना है। उनका कहना है कि कोई भी परिणाम द्रव्यके विना नहीं और कोई द्रव्य परिणामके विना नहीं[5]। जिस समय द्रव्य जिस परिणामको प्राप्त करता है उस समय वह द्रव्य तन्मय होता है[6]। इस प्रकार द्रव्य और परिणामका अविनाभाव बता कर दोनोंका तादात्म्य सिद्ध किया है।

आचार्य कुन्दकुन्दने परमतत्त्व सत्ताका स्वरूप बताया है कि — (पंचा० ८)

"सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंतपज्जया।
भंगुप्पादधुवत्ता सपडिवक्खा हवदि एक्का॥"

§५ द्रव्य, गुण और पर्यायका सम्बन्ध।

संसारके सभी अर्थोंका समावेश आ० कुन्दकुन्दके मतसे द्रव्य, गुण और पर्यायमें हो जाता है[7]। इन तीनोंका परस्पर संबंध क्या है? वाचकने कहा है कि द्रव्यके या द्रव्यमें गुणपर्याय होते हैं (तत्त्वार्थ० भा० ५.३७)। अत एव प्रश्न होता है कि यहाँ द्रव्य और गुणपर्यायका कुण्डबदरवत् आधाराधेय संबन्ध है या दंडदंडीवत् स्व-स्वामिभाव संबन्ध है? या वैशेषिकोंके समान समवाय संबन्ध है? वाचकने इस विषयमें स्पष्टीकरण नहीं किया।

आचार्य कुन्दकुन्दने इसका स्पष्टीकरण करनेके लिये प्रथम तो पृथक्त्व और अन्यत्व की व्याख्या की है —

"पविभत्तपदेसत्तं पुधत्तमिदि सासणं हि वीरस्स।
अण्णत्तमतब्भावो ण तब्भवं होदि कथमेगं॥" **प्रवचन० २.१४।**

अर्थात् जिन दो वस्तुओंके प्रदेश भिन्न होते हैं वे पृथक् कही जाती हैं। किन्तु जिनमें अतद्भाव होता है अर्थात् वह यह नहीं है ऐसा प्रत्यय होता है वे अन्य कही जाती हैं।

द्रव्य गुण और पर्यायमें प्रदेशभेद तो नहीं हैं अत एव वे पृथक् नहीं कहे जा सकते किन्तु अन्य तो कहे जा सकते हैं क्यों कि 'जो द्रव्य है वह गुण नहीं' तथा 'जो गुण है वह द्रव्य नहीं' ऐसा प्रत्यय होता है[8]। इसीका विशेष स्पष्टीकरण उन्होंने यों किया है कि यह कोई नियम नहीं है कि जहाँ अत्यन्त भेद हो वहीं अन्यत्वका व्यवहार हो। अभिन्नमें भी व्यपदेश, संस्थान, संख्या और विषय के कारण भेदज्ञान हो सकता है[9]। और समर्थन किया है कि

---

१ प्रवचन० २.१५। २ प्रवचन २.१८। ३ समयसार ३३६। ४ प्रवचन० २.११,१२। पंचा० ९। ५ प्रवचन० १.१०। ६ प्रवचन० १.८। ७ प्रवचन० १.८७। ८ प्रवचन० २.१६। ९ पंचास्तिकाय ५२।

द्रव्य और गुण-पर्यायमें भेद व्यवहार होनेपर भी वस्तुतः भेद नहीं। दृष्टांत देकर इस बातको समझाया है कि स्व-स्वामिभावसंबंध संबंधिओंके पृथक् होनेपर भी हो सकता है और एक होनेपर भी हो सकता है-जैसे धन और धनीमें तथा ज्ञान और ज्ञानीमें[1]। ज्ञानीसे ज्ञानगुणको, धनीसे धनके समान, अत्यन्त भिन्न नहीं माना जा सकता। क्योंकि ज्ञान और ज्ञानी अत्यन्त भिन्न हों तो ज्ञान और ज्ञानी – आत्मा ये दोनों अचेतन हो जायँगे[2]। आत्मा और ज्ञानमें समवाय संबंध मानकर वैशेषिकोंने आत्माको ज्ञानी माना है। किन्तु आ० कुन्दकुन्दने कहा है कि ज्ञानके समवायसंबंधके कारण भी आत्मा ज्ञानी नहीं हो सकता[3]। किन्तु गुण और द्रव्यको अपृथग्भूत अयुतसिद्ध ही मानना चाहिए।[4] आचार्यने वैशेषिकोंके समवायलक्षणगत अयुतसिद्ध शब्दको स्वाभिप्रेत अर्थमें घटाया है। क्योंकि वैशेषिकोंने अयुतसिद्धोंमें समवाय मानकर भेद माना है जबकि आ० कुन्दकुन्दने अयुतसिद्धोंमें तादात्म्य माना है। आचार्यने स्पष्ट कहा है कि दर्शन-ज्ञान गुण आत्मासे स्वभावतः भिन्न नहीं किन्तु व्यपदेश भेदके कारण पृथक् (अन्य) कहे जाते हैं[6]।

इसी अभेदको उन्होंने अविनाभाव संबंधके द्वारा भी व्यक्त किया है। वाचकने इतना तो कहा है कि गुणपर्याय वियुक्त द्रव्य नहीं होता। उसी सिद्धान्तको आचार्य कुन्दकुन्दने पल्लवित करके कहा है कि द्रव्यके विना पर्याय नहीं और पर्यायके विना द्रव्य नहीं। तथा गुणके विना द्रव्य नहीं और द्रव्यके विना गुण नहीं। अर्थात् भाव – वस्तु द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक है[7]।

§ ६ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य।

सत् को वाचकने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त कहा है। किन्तु यह प्रश्न होता है कि उत्पादादिका परस्पर और द्रव्य-गुण-पर्यायके साथ कैसा संबंध है।

आचार्य कुन्दकुन्दने स्पष्ट किया है कि उत्पत्ति नाशके विना नहीं और नाश उत्पत्तिके विना नहीं। अर्थात् जब तक किसी एक पर्यायका नाश नहीं, दूसरे पर्याय की उत्पत्ति संभव नहीं और जब तक किसी की उत्पत्ति नहीं दूसरेका नाश भी संभव नहीं[8]। इस प्रकार उत्पत्ति और नाशका परस्पर अविनाभाव आचार्यने बताया है।

उत्पत्ति और नाशके परस्पर अविनाभाव का समर्थन करके ही आचार्यने संतोष नहीं किया किन्तु दार्शनिकोंमें सत्कार्यवाद-असत्कार्यवादको लेकर जो विवाद था उसे सुलझानेकी दृष्टिसे कहा है कि ये उत्पाद और व्यय तभी घट सकते हैं जब कोई न कोई ध्रुव अर्थ माना जाय[9]। इस प्रकार उत्पादादि तीनोंका अविनाभावसंबंध जब सिद्ध हुआ तब अभेद दृष्टिका अवलम्बन लेकर आचार्यने कह दिया कि एक ही समयमें एक ही द्रव्यमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यका समवाय होनेसे द्रव्य ही उत्पादादित्रयरूप है[10]।

---

१ पंचा० ५३। २ वही ५४। ३ वही ५५। ४ वही ५६। ५ वैशे० ७.२.१३। प्रशस्त० समवायनिरूपण। ६ पंचास्ति० ५८। ७ "पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जया नत्थि। दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परूविंति॥ दव्वेण विणा ण गुणा गुणेहिं दव्वं विणा ण संभवदि। अव्वदिरित्तो भावो दव्वगुणाणं हवदि जह्मा॥" पंचा० १२,१३। ८ प्रवचन २.८। ९ प्रवचन० २.८। १० प्रवचन० २.१०।

आचार्यने उत्पादादित्रय और द्रव्य गुण-पर्यायका संबंध बताते हुए यह कहा है कि उत्पाद और विनाश ये द्रव्यके नहीं होते किन्तु गुण-पर्यायके होते हैं[1]। आचार्यका यह कथन द्रव्य और गुणपर्यायके व्यवहारनयाश्रित भेदके आश्रयसे है; इतना ही नहीं किन्तु सांख्यसंमत आत्माकी कूटस्थता तथा नैयायिक-वैशेषिकसंमत आत्मद्रव्यकी नित्यताका भी समन्वय करनेका प्रयत्न इस कथनमें है। बुद्धिप्रतिबिम्ब या गुणान्तरोत्पत्तिके होते हुए भी जैसे आत्माको उक्त दार्शनिकोंने उत्पन्न या विनष्ट नहीं माना है वैसे प्रस्तुतमें आचार्यने द्रव्यको भी उत्पाद और व्ययशील नहीं माना है। द्रव्यनयके प्राधान्यसे जब वस्तुदर्शन होता है तब इसी परिणाम पर हम पहुंचते हैं।

किन्तु वस्तु केवल द्रव्य अर्थात् गुण-पर्यायशून्य नहीं है और न स्वभिन्न गुणपर्यायोंका अधिष्ठानमात्र। वह तो वस्तुतः गुणपर्यायमय है। हम पर्यायनयके प्राधान्यसे वस्तुको एकरूपताके साथ नानारूपमें भी देखते हैं। अर्थात् अनादिअनन्तकाल प्रवाहमें उत्पन्न और विनष्ट होनेवाले नानागुण-पर्यायोंके बीच हम संकलित ध्रुवता भी पाते हैं। यह ध्रुवांश कूटस्थ न हो कर सांख्यसंमत प्रकृतिकी तरह परिणामिनित्य प्रतीत होता है। यही कारण है कि आचार्यने पर्यायोंमें सिर्फ उत्पाद और व्यय ही नहीं किन्तु स्थिति भी मानी है[2]।

§७ सत्कार्यवाद-असत्कार्यवादका समन्वय।

सभी कार्योंके मूलमें एकरूप कारण को माननेवाले दार्शनिकोंने, चाहे वे सांख्य हों या प्राचीन वेदान्ती भर्तृप्रपञ्च आदि या मध्यकालीन वल्लभाचार्य आदि, सत्कार्यवादको माना है। अर्थात् उनके मतमें कार्य अपने अपने कारणमें सत् होता है[3]। तात्पर्य यह है कि असत् की उत्पत्ति नहीं और सत् का विनाश नहीं। इसके विपरीत न्याय-वैशेषिक और पूर्वमीमांसाका मत है कि कार्य अपने कारणमें सत् नहीं होता। पहले असत् ऐसा अर्थात् अपूर्व ही उत्पन्न होता है[4]। तात्पर्य यह हुआ कि असत् की उत्पत्ति और उत्पन्न सत् का विनाश होता है।

आगमोंके अभ्यासमें हमने देखा है कि द्रव्य और पर्याय दृष्टिसे एक ही वस्तुमें नित्यानित्यता सिद्ध की गई है। उसी तत्त्वका आश्रय लेकर आ० कुन्दकुन्दने सत्कार्यवाद—परिणामवाद और असत्कार्यवाद—आरंभवादका समन्वय करनेका प्रयत्न किया है। उन्होंने द्रव्यनयका आश्रय लेकर सत्कार्यवादका समर्थन किया कि **"भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स उप्पादो।"** (पंचा० १५) अर्थात् द्रव्यदृष्टिसे देखा जाय तो भाव-वस्तुका कभी नाश नहीं होता और अभावकी उत्पत्ति नहीं होती। अर्थात् असत् ऐसा कोई उत्पन्न नहीं होता। द्रव्य कभी नष्ट नहीं होता और जो कुछ उत्पन्न होता है वह द्रव्यात्मक होनेसे पहले सर्वथा असत् था यह नहीं कहा जासकता। जैसे जीव द्रव्य नाना पर्यायोंको धारण करता है फिर भी यह नहीं कहा जासकता कि वह नष्ट हुआ या नया उत्पन्न हुआ। अत एव द्रव्यदृष्टिसे यही मानना उचित है कि—**"एवं सदो विणासो असदो जीवस्स णत्थि उप्पादो।"** पंचा० १९।

इस प्रकार द्रव्यदृष्टिसे सत्कार्यवादका समर्थन करके पर्यायनयके आश्रयसे आ० कुन्दकुन्दने असत्कार्यवादका भी समर्थन किया कि **"एवं सदो विणासो असदो जीवस्स होइ**

---

१ पंचा० ११,१५। २ प्रवचन० २.९। पंचा० ११। ३ प्रमाणमी० प्रस्ता० पृ० ७। ४ वही पृ० ७।

उप्पादो ॥" पंचा० ६० । अर्थात् गुण और पर्यायोंमें उत्पाद और व्यय होते हैं[1] अत एव यह मानना पडेगा कि पर्याय दृष्टिसे सत् का विनाश और असत् की उत्पत्ति होती है। जीवका देव पर्याय जो पहले नहीं था अर्थात् असत् था वह उत्पन्न होता है और सत्—विद्यमान ऐसा मनुष्य पर्याय नष्ट भी होता है।

आचार्यका कहना है कि यद्यपि ये दोनों वाद अन्योन्य विरुद्ध दिखाई देते हैं किन्तु नयोंके आश्रयसे वस्तुतः कोई विरोध नहीं[2]।

§८ द्रव्योंका भेद-अभेद।

वाचकने यह समाधान तो किया कि धर्मादि अमूर्त हैं अत एव उन सभी की एकत्र वृत्ति हो सकती है। किन्तु एक दूसरा प्रश्न यह भी हो सकता है कि यदि इन सभी की वृत्ति एकत्र है, वे सभी परस्पर प्रविष्ट हैं, तब उन सभी की एकता क्यों नहीं मानी जाय? इस प्रश्नका समाधान आचार्य कुन्दकुन्दने किया कि छहों द्रव्य अन्योन्यमें प्रविष्ट हैं एक दूसरेको अवकाश भी देते हैं, इनका नित्यसंमेलन भी है फिर भी उन सभीमें एकता नहीं हो सकती क्यों कि वे अपने स्वभावका परित्याग नहीं करते[3]। स्वभावभेदके कारण एकत्र वृत्ति होनेपर भी उन सभी का भेद बना रहता है।

धर्म, अधर्म और आकाश ये तीनों अमूर्त हैं और भिन्नावगाह नहीं हैं तब तीनोंके बजाय एक आकाशका ही स्वभाव ऐसा क्यों न माना जाय जो अवकाश, गति और स्थितिमें कारण हो ऐसा मानने पर तीन द्रव्यके बजाय एक आकाश द्रव्यसे ही काम चल सकता है—इस शंकाका समाधान भी आचार्यने किया है कि यदि आकाशको अवकाशकी तरह गति और स्थितिमें भी कारण माना जाय तो ऊर्ध्वगतिस्वभाव जीव लोकाकाशके अंत पर स्थिर क्यों हो जाते हैं? इस लिये आकाशके अतिरिक्त धर्म-अधर्म द्रव्योंको मानना चाहिए। दूसरी बात यह भी है कि यदि धर्म-अधर्म द्रव्योंको आकाशातिरिक्त न माना जाय तब लोकालोकका विभाग भी नहीं बनेगा[4]।

इस प्रकार स्वभावभेदके कारण पृथगुपलब्धि होनेसे तीनोंको पृथक्—अन्य सिद्ध करके आचार्यका अभेद पक्षपाती मानस संतुष्ट नहीं हुआ अत एव तीनोंका परिमाण समान होनेसे तीनोंको अपृथग्भूत भी कह दिया है[5]।

§९ स्याद्वाद।

वाचकके तत्त्वार्थमें स्याद्वादका जो रूप है वह आगमगत स्याद्वादके विकासका सूचक नहीं है। भगवतीसूत्रकी तरह वाचकने भी भंगोंमें एकवचन आदि वचनभेदोंको प्राधान्य दिया है। किन्तु आचार्य कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंमें सप्तभंगीका वही रूप है जो बादके सभी दार्शनिकों में देखा जाता है। यानि भंगोंमें आचार्यने वचनभेदको महत्त्व नहीं दिया है। आचार्यने प्रवचनसारमें (२.२३) अवक्तव्य भंगको तृतीय स्थान दिया है किन्तु पंचास्तिकायमें उसका स्थान चतुर्थ

१ "गुणपज्जएसु भावा उप्पादवये पकुव्वन्ति ॥" १५। २ "इदि जिणवरेहिं भणिदं अण्णोण्णविरुद्धमविरुद्धं ॥" पंचा० ६०। पंचा०

३ "अण्णोण्णं पविसंता दिंता ओगासमण्णमण्णस्स।
मेळंता वि य णिच्चं सगं सभावं ण विजहंति ॥" पंचा० ७।

४ पंचा० ९९–१०२। ५ पंचा० १०३।

रखा है (गा० १४)। दोनों ग्रन्थोंमें चार भंगोंका ही शब्दतः उपादान है और शेष तीन भंगोंकी योजना करनेकी सूचना की है। इस सप्तभंगीका समर्थन आचार्यने भी द्रव्य और पर्यायनयके आश्रयसे किया है (प्रवचन २.१९)।

§१० मूर्ता-मूर्तविवेक।

मूल वैशेषिकसूत्रोंमें द्रव्योंका साधर्म्य-वैधर्म्य मूर्तत्व-अमूर्तत्व धर्मको लेकर बताया नहीं है। इसी प्रकार गुणोंका भी विभाग मूर्तगुण अमूर्तगुण उभयगुण रूपसे नहीं किया है परंतु प्रशस्तपादमें ऐसा हुआ है। अत एव मानना पडता है कि प्रशस्तपादके समयमें ऐसी निरूपण की पद्धति प्रचलित थी।

जैन आगमोंमें और वाचकके तत्त्वार्थमें द्रव्योंके साधर्म्य वैधर्म्य प्रकरणमें रूपि और अरूपि शब्दोंका प्रयोग देखा जाता है। किन्तु आचार्य कुन्दकुन्दने उन शब्दोंके स्थान में मूर्त और अमूर्त शब्दका प्रयोग किया है[1]। इतना ही नहीं किन्तु गुणोंको भी मूर्त और अमूर्त ऐसे विभागोंमें विभक्त किया है[2]। आचार्य कुन्दकुन्दका यह वर्गीकरण वैशेषिक प्रभावसे रहित है ऐसा नहीं कहा जा सकता।

आचार्य कुन्दकुन्दने मूर्तकी जो व्याख्या की है वह अपूर्व तो है किन्तु निर्दोष है ऐसा नहीं कहा जा सकता। उन्होंने कहा है कि जो इंद्रियग्राह्य है वह मूर्त है और शेष अमूर्त है[3]। इस व्याख्याके स्वीकार करनेपर परमाणु पुद्गलको जिसे स्वयं आचार्यने मूर्त कहा है और इन्द्रियाग्राह्य कहा है अमूर्त मानना पडेगा[4]। परमाणुमें रूप-रसादि होनेसे ही स्कन्धमें वे होते हैं और इसी लिये यह प्रत्यक्ष होता है यदि ऐसा मानकर परमाणुमें इन्द्रियग्राह्यताकी योग्यता का स्वीकार किया जाय तो वह मूर्त कहा जा सकता है। इस प्रकार लक्षणकी निर्दोषता भी घटाई जा सकती है।

§११ पुद्गलद्रव्यव्याख्या।

आचार्यने व्यवहार और निश्चय नयसे पुद्गलद्रव्यकी जो व्याख्या की है वह अपूर्व है। उनका कहना है कि निश्चयनयकी अपेक्षासे परमाणु ही पुद्गलद्रव्य कहा जाना चाहिए और व्यवहार नयकी अपेक्षासे स्कन्धको पुद्गल कहना चाहिए[5]।

पुद्गल द्रव्यकी जब ऐसी व्याख्या की तब पुद्गलके गुण और पर्यायोंमें भी आचार्यको स्वभाव और विभाव ऐसे दो भेद करना प्राप्त हुआ। अतएव उन्होंने कहा है कि परमाणुके गुण स्वाभाविक हैं और स्कन्धके गुण वैभाविक हैं। इसी प्रकार परमाणुका अन्यनिरपेक्ष परिणमन स्वभाव पर्याय है और परमाणुका स्कन्धरूप परिणमन अन्यसापेक्ष होनेसे विभाव पर्याय है[6]।

प्रस्तुतमें अन्यनिरपेक्ष परिणमनको जो स्वभाव पर्याय कहा गया है उसका अर्थ इतना ही समझना चाहिए कि वह परिणमन कालभिन्न निमित्तकारणकी अपेक्षा नहीं रखता। क्योंकि स्वयं आ० कुन्दकुन्दके मतसे भी सभी प्रकारके परिणामोंमें काल कारण होता ही है।

आगेके दार्शनिकोंने यह सिद्ध किया है कि किसी भी कार्यकी निष्पत्ति सामग्रीसे होती है किसी एक कारणसे नहीं। इसे ध्यानमें रख कर आ० कुन्दकुन्दके उक्त शब्दोंका अर्थ करना चाहिए।

---

१ पंचा० १०४। २ प्रवचन० २.३८,३९। ३ पंचा० १०६। प्रवचन० २.३९। ४ नियमसार २६। पंचा० ८४। ५ नियमसार २९। ६ नियमसार २७,२८।

§ १२ पुद्गलस्कन्ध ।

आ० कुन्दकुन्दने स्कन्धके छः भेद बताये हैं जो वाचकके तत्त्वार्थमें तथा आगमोंमें उस रूपमें देखे नहीं जाते । वे छः भेद ये हैं—

१ अतिस्थूलस्थूल—पृथ्वी, पर्वतादि ।

२ स्थूल—घृत, जल, तैलादि ।

३ स्थूलसूक्ष्म—छाया, आतप आदि ।

४ सूक्ष्म-स्थूल—स्पर्शन, रसन, घ्राण और श्रोत्रेन्द्रियके विषयभूत स्कन्ध ।

५ सूक्ष्म—कार्मणवर्गणाप्रायोग्य स्कन्ध ।

६ अतिसूक्ष्म—कार्मणवर्गणाके भी योग्य जो न हों ऐसे अतिसूक्ष्म स्कंध ।

§ १३ परमाणुचर्चा ।

आगमवर्णित द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव परमाणुकी तथा उसकी नित्यानित्यताविषयक चर्चा हमने पहले की है । वाचकने परमाणुके विषयमें 'उक्तं च' कह करके किसीके परमाणुलक्षणको उद्धृत किया है वह इस प्रकार है—

"कारणमेव तदन्त्यं सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः ।
एकरसगन्धवर्णो द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च ॥"

इस लक्षणमें निम्न बातें स्पष्ट है—

१ द्विप्रदेशादि सभी स्कन्धोंका अन्त्यकारण परमाणु है ।

२ परमाणु सूक्ष्म है ।

३ ,, नित्य है ।

४ परमाणुमें एक रस, एक गन्ध, एक वर्ण, दो स्पर्श होते हैं ।

५ परमाणुकी सिद्धि कार्यसे होती है ।

इन पांच बातोंके अलावा वाचकने 'भेदादणुः' (५.२७) इस सूत्रसे परमाणुकी उत्पत्ति भी बताई है । अत एव यह स्पष्ट है कि वाचकने परमाणुकी नित्यानित्यताका स्वीकार किया है जो आगममें प्रतिपादित है ।

परमाणुके सम्बन्धमें आचार्य कुन्दकुन्दने परमाणुके उक्त लक्षणको और भी स्पष्ट किया है । इतना ही नहीं किन्तु उसे दूसरे दार्शनिकों की परिभाषामें समझानेका प्रयत्न भी किया है । परमाणुके मूल गुणोंमें शब्दको स्थान नहीं है तब पुद्गल शब्दरूप कैसे और कब होता है (पंचा० ८६) इस बातका भी स्पष्टीकरण किया है ।

आ० कुन्दकुन्दके परमाणुलक्षणमें निम्न बातें हैं[1] ।

१ सभी स्कन्धोंका अंतिमभाग परमाणु है ।

२ परमाणु शाश्वत है ।

३ अशब्द है । फिर भी शब्दका कारण है ।

४ अविभाज्य ऐसा एक है ।

५ मूर्त है ।

---

१ पंचा० ८४,८५,८७,८८ । नियमसार २५-२७ ।

६ चतुर्धातुका कारण है और कार्य भी है।

७ परिणामी है।

८ प्रदेशभेद न होनेपर भी वह वर्णादिको अवकाश देता है।

९ स्कन्धोंका कर्ता और स्कंधान्तरसे स्कन्धका भेदक है।

१० काल और संख्याका प्रविभक्ता—व्यवहारनियामक भी परमाणु है।

११ एक रस, एक वर्ण, एक गन्ध और दो स्पर्शयुक्त है।

१२ भिन्न होकर भी स्कन्धका घटक है।

१३ आत्मादि है, आत्ममध्य है, आत्मान्त है।

१४ इन्द्रियाग्राह्य है।

आचार्यने 'धादु चदुक्कस्स कारणं' (पंचा० ८५) अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये चार धातुओंका मूल कारण परमाणु है ऐसा कह करके यह साफ कर दिया है कि जैसा वैशेषिक या चार्वाक मानते हैं वे धातुएँ मूल तत्त्व नहीं किन्तु समीका मूल एकलक्षण परमाणु ही है।

§१४ आत्मनिरूपण।

(१) निश्चय और व्यवहार—जैन आगमोंमें आत्माको शरीरसे भिन्न भी कहा है और अभिन्न भी। जीवका ज्ञानपरिणाम भी माना है और गत्यादि भी, जीवको कृष्णवर्ण भी कहा है और अवर्ण भी कहा है। जीवको नित्य भी कहा है और अनित्य भी, जीवको अमूर्त कह कर भी उसके नारकादि अनेक मूर्त भेद बताये हैं। इस प्रकार जीवके शुद्ध और अशुद्ध दोनों रूपोंका वर्णन आगमोंमें विस्तारसे है। कहीं कहीं द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नयोंका आश्रय लेकर विरोधका समन्वय भी किया गया है। वाचकने भी जीवके वर्णनमें सकर्मक और अकर्मक जीवका वर्णन मात्र कर दिया है। किन्तु आचार्य कुन्दकुन्दने आत्माके आगमोक्त वर्णनको समझनेकी चावी बता दी है जिसका उपयोग करके आगमके प्रत्येक वर्णनको हम समझ सकते हैं कि आत्माके विषयमें आगममें जो अमुक बात कही गई वह किस दृष्टिसे है। जीवका जो शुद्धरूप आचार्यने बताया है वह आगमकालमें अज्ञात नहीं था। शुद्ध और अशुद्ध स्वरूपके विषयमें आगम कालके आचार्योंको कोई भ्रम नहीं था। किन्तु आचार्य कुन्दकुन्दके आत्मनिरूपणकी जो विशेषता है वह यह है कि इन्होंने स्वसामयिक दार्शनिकोंकी प्रसिद्ध निरूपण शैलीको जैन आत्मनिरूपणमें अपनाया है। दूसरोंके मन्तव्योंको, दूसरोंकी परिभाषाओंको अपने ढंगसे अपनाकर या खण्डन करके जैन मन्तव्यको दार्शनिकरूप देनेका प्रबल प्रयत्न किया है।

औपनिषद दर्शन, विज्ञानवाद और शून्यवादमें वस्तुका निरूपण दो दृष्टिओंसे होने लगा था। एक परमार्थ दृष्टि और दूसरी व्यावहारिक दृष्टि। तत्त्वका एक रूप पारमार्थिक और दूसरा सांवृतिक वर्णित है। एक भूतार्थ है तो दूसरा अभूतार्थ। एक अलौकिक है तो दूसरा लौकिक। एक शुद्ध है तो दूसरा अशुद्ध। एक सूक्ष्म है तो दूसरा स्थूल। जैन आगममें जैसा हमने पहले देखा व्यवहार और निश्चय ये दो नय या दृष्टियाँ क्रमशः स्थूल—लौकिक और सूक्ष्म-तत्त्वग्राही मानी जाती रहीं।

आचार्य कुदकुन्दने आत्मनिरूपण उन्हीं दो दृष्टिओंका आश्रय लेकर किया है । आत्माके पारमार्थिक शुद्ध रूपका वर्णन निश्चय नयके आश्रयसे और अशुद्ध या लौकिक–स्थूल आत्माका वर्णन व्यवहार नयके आश्रयसे उन्होंने किया है[1] ।

(२) बहिरात्मा–अन्तरात्मा–परमात्मा – माण्डूक्योपनिषदमें आत्माको चार प्रकार का माना है – अन्तःप्रज्ञ, बहिष्प्रज्ञ, उभयप्रज्ञ और अवाच्य । किन्तु आचार्य कुन्दकुन्दने बहिरात्मा, अन्तरात्मा, और परमात्मा ऐसे तीन प्रकार बतलाये हैं[2] । बाह्य पदार्थोंमें जो आसक्त है, इन्द्रियोंके द्वारा जो अपने शुद्ध स्वरूपसे भ्रष्ट हुआ है तथा जिसे देह और आत्मांका भेदज्ञान नहीं जो शरीरको ही आत्मा समझता है ऐसा विपथगामी मूढात्मा बहिरात्मा है । सांख्योंके प्राकृतिक, वैकृतिक और दाक्षणिक बन्धका समावेश इसी बाह्यात्मामें हो जाता है[3] ।

जिसे भेदज्ञान तो हो गया है पर कर्मवश सशरीर है और जो कर्मोंके नाशमें प्रयत्नशील है ऐसा मोक्षमार्गारूढ अन्तरात्मा है । शरीर होते हुए भी वह समझता है कि यह मेरा नहीं, मैं तो इससे भिन्न हूं । ध्यानके बलसे कर्म क्षय करके आत्मा अपने शुद्ध स्वरूपको जब प्राप्त करता है वह परमात्मा है ।

(३) परमात्मवर्णनमें समन्वय – परमात्म वर्णनमें आचार्य कुन्दकुन्दने अपनी समन्वय शक्तिका परिचय दिया है । अपने कालमें स्वयंभूकी प्रतिष्ठाको देखकर स्वयंभू शब्दका प्रयोग परमात्माके लिये जैनसंमत अर्थमें उन्होंने करदिया है[4] । इतना ही नहीं किन्तु कर्मविमुक्त शुद्ध आत्मा के लिये शिव, परमेष्ठिन्, विष्णु, चतुर्मुख, बुद्ध परमात्मा[5] जैसे शब्दोंका प्रयोग करके यह सूचित किया है कि तत्त्वतः देखा जाय तो परमात्माका रूप एक ही है नाम भले ही नाना हों ।

परमात्माके विषयमें आचार्यने जब यह कहा कि वह न कार्य है और न कारण; तब बौद्धोंके असंस्कृत निर्वाणकी, वेदान्तिओंके ब्रह्मभाव की तथा सांख्योंके कूटस्थ पुरुष मुक्त स्वरूप की कल्पनाका समन्वय उन्होंने किया है[6] ।

तत्कालीन नाना विरोधी वादोंका सुन्दर समन्वय उन्होंने परमात्माके स्वरूप वर्णनके बहाने करदिया है । उससे पता चलता है कि वे केवल पुराने शाश्वत और उच्छेदवादसे ही नहीं बल्कि नवीन विज्ञानाद्वैत और शून्यवादसे भी परिचित थे । उन्होंने परमात्माके विषयमें कहा है –

"सस्सदमध उच्छेदं भव्वमभव्वं च सुण्णमिदरं च ।
विण्णाणमविण्णाणं ण वि जुज्जदि असदि सब्भावे ॥"
पंचा० ३७ ।

यद्यपि उन्होंने जैनागमोंके अनुसार आत्माको कायपरिमाण भी माना है फिर भी उपनिषद् और दार्शनिकोंमें प्रसिद्ध आत्मसर्वगतत्व – विभुत्वका भी अपने ढंगसे समर्थन किया है कि –

---

१ समय० ६ से, ३१ से, ६१ से । पंचा० १३४ । नियम० ३८ से । भावप्रा० ६४, १४६ । प्रवचन० २.२,८०,१०० । २ मोक्षप्रा० ४ से । नियमसार १४९ से । ३ सांख्यत० ४४ । ४ प्रवचन० १.१६ ।

५ "णाणी सिव परमेट्ठी सव्वण्हू विण्हु चउमुहो बुद्धो ।
अप्पो विय परमप्पो कम्मविमुक्को य होइ फुडं ॥" भावप्रा० १४९

६ पंचा० ३६ ।

"आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं ।
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं ॥
सव्वगदो जिणवसहो सव्वे वि य तग्गया जगदि अट्ठा ।
णाणमयादो य जिणो विसयादो तस्स ते भणिया ॥"

प्रवचन० १.२३,२६ ।

यहाँ सर्वगत शब्द कायम रखकर अर्थमें परिवर्तन किया गया है क्यों कि उन्होंने स्पष्ट ही कहा है कि ज्ञान या आत्मा सर्वगत है इसका मतलब यह नहीं कि ज्ञानी ज्ञेयमें प्रविष्ट है या व्याप्त है किन्तु जैसे चक्षु अर्थसे दूर रह कर भी उसका ज्ञान कर सकती है वैसे आत्मा भी सर्व पदार्थोंको जानता भर है–प्रवचन० १.२८–३२ ।

अर्थात् दूसरे दार्शनिकोंने सर्वगत शब्दका अर्थ, गम धातुको गत्यर्थक मानकर सर्वव्यापक या विभु, ऐसा किया है जब कि आचार्यने गमधातुको ज्ञानार्थक मानकर सर्वगतका अर्थ किया है सर्वज्ञ । शब्द वही रहा किन्तु अर्थ जैनाभिप्रेत बन गया[1] ।

(४) **जगत्कर्तृत्व**–आचार्यने विष्णुके जगत्कर्तृत्वके मन्तव्यका भी समन्वय जैन दृष्टिसे करनेका प्रयत्न किया है । उन्होंने कहा है कि व्यवहारनयके आश्रयसे जैनसंमत जीवकर्तृत्वमें और लोकसंमत विष्णुके जगत्कर्तृत्वमें विशेष अन्तर नहीं है । इन दोनों मन्तव्योंको यदि पारमार्थिक माना जाय तब दोष यह होगा कि दोनोंके मतसे मोक्षकी कल्पना असंगत हो जायगी[2] ।

(५) **कर्तृत्वाकर्तृत्वविवेक**–सांख्योंके मतसे आत्मामें कर्तृत्व नहीं[3] है क्योंकि उसमें परिणमन नहीं । कर्तृत्व प्रकृतिमें है क्योंकि वह प्रसवधर्मा है[4] । पुरुष वैसा नहीं । तात्पर्य यह है कि जो परिणमनशील हो वह कर्ता हो सकता है । आचार्य कुन्दकुन्दने भी आत्माको सांख्यमतके समन्वयकी दृष्टिसे अकर्ता तो कहा ही है किन्तु अकर्तृत्वका तात्पर्य जैन दृष्टिसे उन्होंने बताया है कि आत्मा पुद्गलकर्मोंका अर्थात् अनात्म-परिणमनका कर्ता नहीं है[5] । जो परिणमनशील हो वह कर्ता है इस सांख्यसंमत व्याप्तिके बलसे आत्माको कर्ता[6] भी कहा है क्योंकि वह परिणमनशील है । सांख्यसंमत आत्माकी कूटस्थता–अपरिणमनशीलता आचार्यको मान्य नहीं । उन्होंने जैनागम प्रसिद्ध आत्मपरिणमनका समर्थन किया है[7] और सांख्योंका निरास करके आत्माको स्वपरिणामोंका कर्ता माना है[8] ।

कर्तृत्वकी व्यावहारिक व्याख्या लोकप्रसिद्ध भाषाप्रयोगकी दृष्टिसे होती है इस बातको स्वीकार करके भी आचार्यने बताया है कि नैश्चयिक या पारमार्थिक कर्तृत्वकी व्याख्या दूसरी ही करना चाहिए । व्यवहारकी भाषामें हम आत्माको कर्मका भी कर्ता कह सकते हैं[9] किन्तु नैश्चयिक दृष्टिसे किसी भी परिणाम या कार्यका कर्ता स्वद्रव्य ही है पर द्रव्य नहीं[10] । अतएव

---

१ बौद्धोंने भी विभुत्वका स्वाभिप्रेत अर्थ किया है कि "विभुत्वं पुनर्ज्ञानप्रहाणप्रभावसंपन्नता" मध्यान्तविभागटीका पृ० ८३ । २ समयसार ३५०–३५२ । ३ सांख्यका० १९ । ४ वही ११ । ५ समयसार ८१–८८ । ६ वही ८९,९८ । प्रवचन० २.९२ से । नियमसार १८ । ७ प्रवचन १.४६ । १.८–से । ८ समयसार १२८ से । ९ समयसार १०५,११२–११५ । १० समयसार ११०,१११ ।

आत्माको ज्ञानादि स्वपरिणामोंका[1] ही कर्ता मानना चाहिए। आत्मेतर कर्मादि यावत् कारणोंको अपेक्षाकारण या निमित्त कहना चाहिए[2]।

वस्तुतः दार्शनिकोंकी दृष्टिसे जो उपादान कारण है उसीको आचार्यने पारमार्थिक दृष्टिसे कर्ता कहा है। और अन्य कारकोंको बौद्धदर्शन प्रसिद्ध हेतु, निमित्त या प्रत्यय शब्दसे कहा है।

जिस प्रकार जैनोंको ईश्वरकर्तृत्व मान्य नहीं है[3] उसी प्रकार सर्वथा कर्मकर्तृत्व भी मान्य नहीं है। आचार्यकी दार्शनिक दृष्टिने यह दोष देख लिया कि यदि सर्वकर्तृत्वकी जवाबदेही ईश्वरसे छिनकर कर्म के ऊपर रखी जाय तब पुरुषकी स्वाधीनता खंडित हो जाती है इतना ही नहीं किन्तु ऐसा मानने पर जैनके कर्मकर्तृत्वमें और सांख्योंके प्रकृतिकर्तृत्वमें भेद भी नहीं रह जाता और आत्मा सर्वथा अकारक—अकर्ता हो जाता है। ऐसी स्थितिमें हिंसा या अब्रह्मचर्यका दोष आत्मामें न मान कर कर्ममें ही मानना पडेगा[4]। अत एव मानना यह चाहिए कि आत्माके परिणामोंका स्वयं आत्मा कर्ता है और कर्म अपेक्षा कारण है तथा कर्मके परिणामोंमें स्वयं कर्म कर्ता है और आत्मा अपेक्षा कारण है[5]।

जब तक मोहके कारणसे जीव परद्रव्योंको अपना समझ कर उनके परिणामोंमें निमित्त बनता है तब तक संसारवृद्धि निश्चित है[6]। जब भेदज्ञानके द्वारा अनात्मको पर समझता है तब वह कर्ममें निमित्त भी नहीं बनता और उसकी मुक्ति अवश्य होती है[7]।

(६) शुभ-अशुभ-शुद्ध अध्यवसाय—सांख्य कारिकामें कहा है कि धर्म—पुण्यसे ऊर्ध्वगमन होता है, अधर्म—पापसे अधोगमन होता है किन्तु ज्ञानसे मुक्ति मिलती है[8]। इसी बातको आचार्यने जैन परिभाषाका प्रयोग करके कहा है कि आत्माके तीन अध्यवसाय होते हैं—शुभ, अशुभ और शुद्ध। शुभाध्यवसायका फल स्वर्ग है, अशुभका नरकादि और शुद्धका मुक्ति है[9]। इस मतकी न्याय-वैशेषिकके साथ भी तुलना की जा सकती है। उनके मतसे भी धर्म और अधर्म ये दोनों संसारके कारण हैं और धर्माधर्मसे मुक्त शुद्ध चैतन्य होने पर ही मुक्तिलाभ होता है। भेद यही है कि वे मुक्त आत्माको शुद्ध रूप तो मानते हैं किन्तु ज्ञानमय नहीं।

§ १५ संसारवर्णन।

आचार्य कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंसे यह जाना जाता है कि वे सांख्य दर्शनसे पर्याप्तमात्रामें प्रभावित हैं। जब वे आत्माके अकर्तृत्व आदिका समर्थन करते हैं[10] तब वह प्रभाव स्पष्ट दिखता है। इतना ही नहीं किन्तु सांख्योंकी ही परिभाषाका प्रयोग करके उन्होंने संसार वर्णन भी किया है। सांख्योंके अनुसार प्रकृति और पुरुषका बन्ध ही संसार है। जैनागमोंमें प्रकृतिबंध नामक बंधका एव प्रकार माना गया है। अत एव आचार्यने अन्य शब्दोंकी अपेक्षा प्रकृति शब्दको संसार वर्णन प्रसंगमें प्रयुक्त करके सांख्य और जैन दर्शनकी समानता की ओर संकेत किया है। उन्होंने कहा हैं—

---

१ समयसार १०७, १०९। २ समयसार ८६–८८,३३९। ३ समयसार ३५०–३५२। ४ समयसार ३३६–३४४। ५ समयसार ८६–८८, ३३९। ६ समयसार ७४–७५,९९,३१७–३१९। ७ वही ७१–७९,१००,१०४,३४३। ८ "धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण। ज्ञानेन चापवर्गः" सांख्यका० ४४। ९ प्रवचन० १.९,११,१२,१३; २.८९। समयसार १५५–१६१। १० समयसार ८०,८१ ३४८,।

"चेदा दु पयडियट्ठं उप्पजदि विणस्सदि ।
पयडी वि चेदयट्ठं उपजदि विणस्सदि ॥
एवं बंधो दुण्हंपि अण्णोण्णपच्चयाण हवे ।
अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायदे ॥" समयसार ३४०-४१ ।

सांख्योंने पङ्ग्वन्धन्यायसे प्रकृति और पुरुषके संयोगसे जो सर्ग माना है उसकी तुलना यहाँ करणीय है–

"पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥" सांख्यका० २१ ।

§ १६ दोषवर्णन ।

संसारचक्रकी गति रुकनेसे मोक्षलब्धि कैसे होती है इसका वर्णन दार्शनिकसूत्रोंमें विविधरूपसे आता है किन्तु सभी का तात्पर्य एक ही है कि अविद्या–मोहकी निवृत्तिसे ही मोक्ष प्राप्त होता है । न्यायसूत्रके अनुसार मिथ्याज्ञान मोह ही सभी अनर्थोंका मूल है । मिथ्याज्ञानसे राग और द्वेष और अन्य दोषकी परंपरा चलती है । दोषसे शुभ और अशुभ प्रवृत्ति होती है । शुभसे धर्म और अशुभसे अधर्म होता है । और उसीके कारण जन्म होता है और जन्मसे दुःख प्राप्त होता है । यही संसार है । इसके विपरीत जब तत्त्वज्ञान अर्थात् सम्यग्ज्ञान होता है तो मिथ्याज्ञान–मोहका नाश होता है और उसके नाशसे उत्तरोत्तरका भी निरोध हो जाता है[1] । और इस प्रकार संसारचक्र रुक जाता है । न्यायसूत्रमें सभी दोषोंका समावेश राग, द्वेष और मोह इन तीनमें कर दिया है[2] । और इन तीनोंमें भी मोहको ही सबसे प्रबल माना है क्योंकि यदि मोह नहीं तो अन्य कोई दोष उत्पन्न ही नहीं होते[3] । अतएव तत्त्वज्ञानसे वस्तुतः मोहकी निवृत्ति होनेपर संसार निर्मूल हो जाता है । योगसूत्रमें क्लेश–दोषोंका वर्गीकरण प्रकारान्तरसे है[4] किन्तु सभी दोषोंका मूल अविद्या–मिथ्याज्ञान मोहमें ही माना गया है[5] । योगसूत्रके अनुसार क्लेशोंसे कर्माशय–पुण्यापुण्य–धर्माधर्म होता है[6] । और कर्माशयसे उसका फल जाति-देह, आयु और भोग होता है[7] । यही संसार है । इस संसारचक्रको रोकनेका एक ही उपाय है कि भेदज्ञानसे–विवेकख्यातिसे अविद्याका नाश किया जाय । उसीसे कैवल्यप्राप्ति होती है[8] ।

सांख्योंकी प्रकृति त्रिगुणात्मक है[9]–सत्त्व, रजस् और तमोरूप है । दूसरे शब्दोंमें प्रकृति सुख, दुःख और मोहात्मक है अर्थात् प्रीति–राग, अप्रीति–द्वेष और विषाद–मोहात्मक है[10] । सांख्योंने[11] विपर्ययसे बन्ध–संसार माना है । सांख्योंके अनुसार पांच विपर्यय वही हैं जो योगसूत्रके अनुसार क्लेश हैं[12] । तत्त्वके अभ्याससे जब अविपर्यय हो जाता है तब केवल ज्ञान–भेदज्ञान हो जाता है[13] । इसीसे प्रकृति निवृत्त हो जाती है और पुरुष कैवल्यलाभ करता है ।

---

१ न्यायसू० १.१.२ । और न्यायभा० । २ न्यायसू० ४.१.३ । ३ "तेषां मोहः पापीयान् नामूढस्येतरोत्पत्तेः ।" न्यायसू० ४.१.६ । ४ "अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः" । ५ "अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषाम्" २.४ । ६ योग० २.१२ । ७ वही २.१३ । ८ वही० २.२५, २६ । ९ सांख्यका० ११ । १० सांख्यका० १२ । ११ सांख्यका० ४४ । १२ वही ४७–४८ । १३ वही ६४ ।

बौद्धदर्शनका प्रतीत्यसमुत्पाद प्रसिद्ध ही है उसमें भी संसारचक्रके मूलमें अविद्या ही है। उसी अविद्याके निरोधसे संसारचक्र रुक जाता है[१]। सभी दोषोंका संग्रह बौद्धोंने भी राग, द्वेष और मोहमें किया है[२]। बौद्धोंने भी राग द्वेषके मूलमें मोह ही को माना है[३]। यही अविद्या है।

जैन आगमोंमें दोषवर्णन दो प्रकारसे हुआ है। एक तो शास्त्रीय प्रकार है जो जैन कर्मशास्त्रकी विवेचनाके अनुकूल है। और दूसरा प्रकार लोकादर द्वारा अन्य तैर्थिकोंमें प्रचलित ऐसे दोष वर्णनका अनुसरण करता है।

कर्मशास्त्रीय परंपराके अनुसार कषाय और योग येही दो बंध हेतु हैं और उसीका विस्तार करके कभी कभी मिथ्यात्व अविरति कषाय और योग ये चार और कभी कभी इनमें प्रमाद मिलाकर पांच हेतु बताये जाते हैं[४] कषायरहित योग बन्धका कारण होता नहीं है इसी लिये वस्तुतः कषाय ही बन्धका कारण है इसका स्पष्ट शब्दोंमें वाचकने इस प्रकार निरूपण किया है—

"सकषायत्वात् जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलान् आदत्ते। स बन्धः।" तत्त्वार्थ० ८.२,३।

उक्त शास्त्रीय निरूपणप्रकारके अलावा तैर्थिकसंमत मतको भी जैन आगमोंमें स्वीकृत किया है। उसके अनुसार राग, द्वेष और मोह ये तीन संसारके कारणरूपसे जैन आगमोंमें बताये गये हैं और उनके त्यागका प्रतिपादन किया गया है[५]। जैन संमत कषायके चार प्रकारोंको राग और द्वेषमें समन्वित करके यह भी कहा गया है कि राग और द्वेष ये दो ही दोष हैं[६]। दूसरें दार्शनिकोंकी तरह यह भी स्वीकृत किया है कि राग और द्वेषके भी मूलमें मोह है—
"रागो य दोसो वि य कम्मबीयं कम्मं च मोहप्पभवं वयन्ति।" उत्तरा० ३२.७।

जैन कर्मशास्त्रके अनुसार मोहनीय कर्मके दो भेद हैं। दर्शनमोह और चारित्रमोह। दूसरे दार्शनिकोंने जिसे अविद्या, अज्ञान, तमस्, मोह या मिथ्यात्व कहा है वही जैनसंमत दर्शनमोह है। और दूसरोंके राग और द्वेषका अन्तर्भाव जैनसंमत चारित्रमोहमें है। जैनसंमत ज्ञानावरणीय कर्मसे जन्य अज्ञानमें और दर्शनान्तरसंमत अविद्या मोह या मिथ्याज्ञानमें अत्यन्त वैलक्षण्य है इसका ध्यान रखना चाहिए। क्योंकि अविद्यासे उनका तात्पर्य है जीवको विपथगामी करनेवाला मिथ्यात्व या मोह किन्तु ज्ञानावरणीयजन्य अज्ञानमें ज्ञानका अभावमात्र विवक्षित है। अर्थात् दर्शनान्तरीय अविद्या कदाग्रहका कारण होती है अनात्ममें आत्माके अध्यासका कारण बनती है जब कि जैनसंमत उक्त अज्ञान जाननेकी अशक्तिको सूचित करता है। एक—अविद्याके कारण संसार बढता ही है जब कि दूसरा—अज्ञान संसारको बढाता ही है ऐसा नियम नहीं है।

---

१ बुद्धवचन पृ० १०। २ बुद्धवचन पृ० २२। अभिधम्म० ३.५। ३ बुद्धवचन दि० पृ० ४। ४ तत्त्वार्थसूत्र (पं० सुखलालजी) ८.१। ५ उत्तराध्ययन २१.१९। २३.४३। २८.२०। २९.७१। ३२.२,९। ६ "दोहिं ठाणेहिं पापकम्मा बंधंति। तं जहा—रागेण य दोसेण य। रागे दुविहे पण्णत्ते तं जहा माया य लोभे य। दोसे...कोहे य माणे य।" स्था० २. उ० २। प्रज्ञापनापद २३। उत्त० ३०.१।

नीचे दोषोंका तुलनात्मक कोष्ठक दिया जाता है ।

जैन	नैयायिक	सांख्य		योग	बौद्ध
मोहनीय	दोष	गुण	विपर्यय	क्लेश	अकुशलहेतु
१ दर्शन मोह	मोह	तमोगुण	तमस् मोह	अविद्या अस्मिता	मोह
२ चारित्र मोह					
माया, लोभ	राग	सत्त्वगुण	महामोह	राग	राग
क्रोध, मान	द्वेष	रजोगुण	तामिस्र अन्धतामिस्र	द्वेष अभिनिवेश	द्वेष

आचार्य कुन्दकुन्दने जैन परिभाषाके अनुसार संसारवर्धक दोषोंका वर्णन किया तो है[1] किन्तु अधिकतर दोषवर्णन सर्वसुगमताकी दृष्टिसे किया है । यही कारण है कि उनके ग्रन्थोंमें राग, द्वेष और मोह इन तीन मौलिक दोषोंका बार बार जिक्र आता है[2] और मुक्तिके लिये इन्ही दोषोंको दूर करनेके लिये भार दिया गया है ।

§ १७ भेदज्ञान ।

सभी आस्तिक दर्शनोंके अनुसार खास कर अनात्मसे आत्माका विवेक करना या भेदज्ञान करना यही सम्यग्ज्ञान है, अमोह है । बौद्धोंने सत्कायदृष्टिका निवारण करके मूढदृष्टिके त्यागका जो उपदेश दिया है उसमें भी रूप, विज्ञान आदिमें आत्म बुद्धिके त्यागकी ओर ही लक्ष्य दिया गया है । आचार्य कुन्दकुन्दने भी अपने ग्रन्थोंमें भेदज्ञान करानेका प्रयत्न किया है । वे भी कहते हैं कि आत्मा मार्गणास्थान गुणस्थान, जीवस्थान, नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य, और देव, नहीं है; वह बाल, वृद्ध, और तरुण नहीं है; वह राग द्वेष, मोह नहीं है; क्रोध, मान, माया और लोभ नहीं है, वह कर्म, नोकर्म नहीं है; उसमें वर्णादि नहीं है इत्यादि भेदाभ्यास करना चाहिए[3] । शुद्धात्माका यह भेदाभ्यास जैनागमोंमें भी मौजुद है ही । उसे ही पल्लवित करके आचार्यने शुद्धात्मस्वरूपका वर्णन किया है ।

तत्त्वाभ्यास होने पर पुरुषको होनेवाले विशुद्ध ज्ञानका वर्णन सांख्योंने किया है कि—

"एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम् ।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥" सांख्यका० ६४ ।

इसी प्रकार आचार्य कुन्दकुन्दने भी आत्मा और अनात्मा, बंध और मोक्षका वर्णन करके साधकको उपदेश दिया है कि आत्मा और बन्ध दोनोंके स्वभावको जानकर जो बन्धनमें नहीं रमण करता वह मुक्त हो जाता है[4] । बद्ध आत्मा भी प्रज्ञाके सहारे आत्मा और अनात्माका भेद जान लेता है[5] । उन्होंने कहा है—

१ समयसार ९४,९६,११६,१८५,१८८ । पंचा० ४७,१४७ इत्यादि । नियमसार ८१ । २ प्रवचन १.८४,८८ । पंचा० १३५,१३६,१४९,१५३, १५६ । समयसार ११५,१८९,१९१,२०१,३०६,३०७, ३०९,३१० । नियमसार ५७,८० इत्यादि । ३ नियमसार ७७–८३,१०६ । समयसार ६,११,२५–६० ४२०–४३३ । प्रवचन० २.९९ से । ४ समयसार ३२१ । ५ वही ३२२ ।

"पण्णाए घेतव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो ।
पण्णाए घेतव्वो जो दट्ठा सो अहं तु णिच्छयदो ॥
पण्णाए घेतव्वो जो णादा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णादव्वा ॥" समयसार ३२५-२७ ।

आचार्यके इस वर्णनमें आत्माके द्रष्टृत्व और ज्ञातृत्वकी जो बात कही गई है वह सांख्य संमत पुरुषके द्रष्टृत्वकी याद दिलाती है[1] ।

[२] प्रमाणचर्चा ।

प्रास्ताविक ।

आचार्य कुन्दकुन्दने अपने ग्रन्थोंमें स्वतन्त्रभावसे प्रमाणकी चर्चा तो नहीं की है । और न उमास्वातिकी तरह शब्दतः पांच ज्ञानोंको प्रमाणसंज्ञा ही दी है । फिर भी ज्ञानोंका जो प्रासंगिक वर्णन है वह दार्शनिकोंकी प्रमाणचर्चासे प्रभावित है ही अत एव ज्ञानचर्चाको ही प्रमाणचर्चा मान कर प्रस्तुतमें वर्णन किया जाता है । इतना तो किसीसे छिपा नहीं रहता कि वा० उमास्वातिकी ज्ञानचर्चासे आ० कुन्दकुन्दकी ज्ञानचर्चामें दार्शनिकविकासकी मात्रा अधिक है । यह बात आगेकी चर्चासे स्पष्ट हो सकेगी ।

§ १ अद्वैतदृष्टि ।

आचार्य कुन्दकुन्दका श्रेष्ठ ग्रन्थ समयसार है । उसमें उन्होंने तत्त्वोंका विवेचन नैश्चयिक दृष्टिका अवलम्बन लेकर किया है । खास उद्देश्य तो है आत्माके निरुपाधिक शुद्धस्वरूपका प्रतिपादन किन्तु उसीके लिये अन्यतत्त्वोंका भी पारमार्थिकरूप बतानेका आचार्यने प्रयत्न किया है । आत्माके शुद्धस्वरूपका वर्णन करते हुए आचार्यने कहा है कि व्यवहार दृष्टिके आश्रयसे यद्यपि आत्मा और उसके ज्ञानादि गुणोंमें तथा ज्ञानादि गुणोंमें पारस्परिक, भेदका प्रतिपादन किया जाता है फिर भी निश्चय दृष्टिसे इतनाही कहना पर्याप्त है कि जो ज्ञाता है वही आत्मा है या आत्मा ज्ञायक है अन्य कुछ नहीं[2] । इस प्रकार आचार्य की अभेदगामिनी दृष्टिने आत्माके सभी गुणोंका अभेद ज्ञानगुणमें कर दिया है और अन्यत्र स्पष्टतया समर्थन भी किया है कि संपूर्णज्ञान ही ऐकान्तिक सुख है[3] । इतना ही नहीं किन्तु द्रव्य और गुणमें अर्थात् ज्ञान और ज्ञानीमें भी कोई भेद नहीं है ऐसा प्रतिपादन किया है[4] । उनका कहना है कि आत्मा कर्ता हो, ज्ञान करण हो यह बात भी नहीं किन्तु "जो जाणदि सो णाणं ण हवदि णाणेण जाणगो आदा ।" प्रवचन० १.३५ । उन्होंने आत्माको ही उपनिषद्की भाषामें सर्वज्ञ बताया है और उसीका अवलम्बन मुक्ति है ऐसा प्रतिपादन किया है[5] ।

आ० कुन्दकुन्दको अभेददृष्टिको इतनेसे भी संतोष नहीं हुआ । उनके सामने विज्ञानाद्वैत तथा आत्माद्वैतका आदर्श भी था । विज्ञानाद्वैतवादिओंका कहना है कि ज्ञानमें ज्ञानातिरिक्त बाह्य पदार्थोंका प्रतिभास नहीं होता स्वका ही प्रतिभास होता है । ब्रह्माद्वैत का भी यही

१ सांख्यका० १९,६६ । २ समयसार ६,७ । ३ प्रवचन० १.५९,६० । ४ समयसार १०,११,४३३ पंचा० ४०,४९ देखो प्रस्तावना पृ० १२१,१२२ । ५ समयसार १६-२१ । नियमसार ९५-१०० ।

अभिप्राय है कि संसारमें ब्रह्मातिरिक्त कुछ नहीं है अत एव सभी प्रतिभासोंमें ब्रह्म ही प्रतिभासित होता है।

इन दोनों मतोंके समन्वयकी दृष्टिसे आचार्यने कह दिया कि निश्चयदृष्टिसे केवलज्ञानी आत्माको ही जानता है बाह्य पदार्थोंको नहीं[1]। ऐसा कह करके तो आचार्यने जैन दर्शन और अद्वैतवादका अन्तर बहुत कम कर दिया है और जैन दर्शनको अद्वैतवादके निकट रख दिया है।

आ० कुन्दकुन्दकृत सर्वज्ञकी उक्त व्याख्या अपूर्व है और उन्हींके कुछ अनुयायिओं तक सीमित रही है। दिगम्बर जैन दार्शनिक अकलंकादिने भी इसे छोड ही दिया है।

§ २ ज्ञानकी स्वपरप्रकाशकता।

दार्शनिकोंमें यह एक विवादका विषय रहा है कि ज्ञानको स्वप्रकाशक, परप्रकाशक या स्वपरप्रकाशक माना जाय। वाचकने इस चर्चाको ज्ञानके विवेचनमें छेडा ही नहीं है। संभवतः आचार्य कुन्दकुन्द ही प्रथम जैन आचार्य हैं जिन्होंने ज्ञानको स्वपरप्रकाशक मान कर इस चर्चाका सूत्रपात जैनदर्शनमें किया। आ० कुन्दकुन्दके बादके सभी आचार्योंने आचार्यके इस मन्तव्यको एकस्वरसे माना है।

आचार्यकी इस चर्चाका सार नीचे दिया जाता है जिससे उनकी दलीलोंका क्रम ध्यानमें आ जायगा—(नियमसार—१६०—१७०)।

प्रश्न—यदि ज्ञानको परद्रव्यप्रकाशक, दर्शनको आत्माका—स्वद्रव्यका (जीवका) प्रकाशक और आत्माको स्वपरप्रकाशक माना जाय तब क्या दोष है? (१६०)

उत्तर—यही दोष है कि ऐसा माननेपर ज्ञान और दर्शनका अत्यन्त वैलक्षण्य होनेसे दोनोंको अत्यन्त भिन्न मानना पडेगा। क्योंकि ज्ञान तो परद्रव्यको जानता है, दर्शन नहीं। (१६१)

दूसरी आपत्ति यह है कि स्वपरप्रकाशक होनेसे आत्मा तो परका भी प्रकाशक है अत एव वह दर्शनसे जो कि परप्रकाशक नहीं, भिन्न ही सिद्ध होगा। (१६२)

अत एव मानना यह चाहिए कि ज्ञान व्यवहार नयसे परप्रकाशक है और दर्शन भी। आत्मा भी व्यवहार नयसे ही परप्रकाशक है और दर्शन भी। (१६३)

किन्तु निश्चयनयकी अपेक्षासे ज्ञान स्वप्रकाशक है, और दर्शन भी। तथा आत्मा स्वप्रकाशक है और दर्शन भी है। (१६४)

प्रश्न—यदि निश्चयनयका ही स्वीकार किया जाय और कहा जाय कि केवलज्ञानी आत्मस्वरूपको ही जानता है लोकालोकको नहीं तब क्या दोष है? (१६५)

उत्तर—जो मूर्त और अमूर्तको, जीव और अजीवको; स्व और समीको जानता है उसके ज्ञानको अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष कहा जाता है। और जो पूर्वोक्त सकलद्रव्योंको उनके नाना पर्यायोंके

---

१ "जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणयेण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं॥" नियमसार १५८

साथ नहीं जानता उसके ज्ञानको परोक्ष कहा जाता है। अत एव यदि एकान्त निश्चयनयका आग्रह रखा जाय तब केवलज्ञानीको प्रत्यक्ष नहीं किन्तु परोक्ष ज्ञान होता है यह मानना पड़ेगा। (१६६–१६७)

प्रश्न–और यदि व्यवहारनयका ही आग्रह रख कर ऐसा कहा जाय कि केवलज्ञानी लोका-लोकको तो जानता है किन्तु स्वद्रव्य आत्माको नहीं जानता तब क्या दोष होगा? (१६८)

उत्तर–ज्ञान ही तो जीवका स्वरूप है। अत एव परद्रव्यको जाननेवाला ज्ञान स्वद्रव्य आत्माको न जाने यह कैसे संभव है। और यदि ज्ञान स्वद्रव्य आत्माको नहीं जानता है ऐसा आग्रह हो तब यह मानना पड़ेगा कि ज्ञान जीवस्वरूप नहीं किन्तु उससे भिन्न है। वस्तुतः देखा जाय तो ज्ञान ही आत्मा है और आत्मा ही ज्ञान है अत एव व्यवहार और निश्चय दोनोंके समन्वयसे यही कहना उचित है कि ज्ञान स्वपरप्रकाशक है और दर्शन भी। (१६९–१७०)

§ ३ सम्यग्ज्ञान।

वाचकने सम्यग्ज्ञानका अर्थ किया है अव्यभिचारि, प्रशस्त और संगत। किन्तु आचार्य कुन्दकुन्दने सम्यग्ज्ञानकी जो व्याख्या की है उसमें दार्शनिकप्रसिद्ध समारोपका व्यवच्छेद अभिप्रेत है। उन्होंने कहा है–

"संसयविमोहविब्भमविवज्जियं होदि सण्णाणं॥" नियमसार ५१।

अर्थात् संशय, विमोह और विभ्रमसे वर्जित ज्ञान सम्यग्ज्ञान है।

एक दूसरी बात भी ध्यान देने योग्य है। खासकर बौद्धादि दार्शनिकोंने सम्यग्ज्ञानके प्रसंगमें हेय और उपादेय शब्दका प्रयोग किया है। आचार्य कुन्दकुन्द भी हेयोपादेय तत्त्वोंके अधिगमको सम्यग्ज्ञान कहते हैं[1]।

§ ४ स्वभावज्ञान और विभावज्ञान।

वाचकने पूर्वपरंपराके अनुसार मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्याय ज्ञानोंको क्षायोपशमिक और केवलको क्षायिक ज्ञान कहा है। किन्तु आचार्य कुन्दकुन्दके दर्शन की विशेषता यह है कि वे सुगम्य परिभाषाका उपयोग करते हैं। अत एव उन्होंने क्षायोपशमिक ज्ञानोंके लिये विभाव ज्ञान और क्षायिक ज्ञानके लिये स्वभावज्ञान इन शब्दोंका प्रयोग किया है[2]। उनकी व्याख्या है कि कर्मोपाधिवर्जित जो पर्याय हों वे स्वाभाविक पर्याय हैं और कर्मोपाधिक जो पर्याय हों वे वैभाविक पर्याय हैं[3]। इस व्याख्याके अनुसार शुद्ध आत्माका ज्ञानोपयोग स्वभाव-ज्ञान है और अशुद्ध आत्माका ज्ञानोपयोग विभावज्ञान है।

§ ५ प्रत्यक्ष-परोक्ष।

आचार्य कुन्दकुन्दने वाचककी तरह प्राचीन आगमोंकी व्यवस्थाके अनुसार ही ज्ञानोंमें प्रत्यक्षत्व-परोक्षत्वकी व्यवस्था की है। पूर्वोक्त स्वपरप्रकाशकी चर्चाके प्रसंगमें प्रत्यक्ष-परोक्षज्ञानकी जो व्याख्या दी गई है वही प्रवचनसार (१.४०,४१, ५४–५८) में भी है किन्तु प्रवचन-

---

१ "अधिगमभावो णाणं हेयोपादेयतच्चाणं।" नियमसार ५२। सुत्तपाहुड ५। नियमसार ३८।
२ नियमसार १०,११,१२। ३ नियमसार १५।

सारमें उक्त व्याख्याओंको युक्तिसे भी सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है । उनका कहना है कि दूसरे दार्शनिक इन्द्रियजन्य ज्ञानोंको प्रत्यक्ष मानते हैं, किन्तु वह प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ? क्यों कि इन्द्रियाँ तो अनात्मरूप होनेसे परद्रव्य हैं अत एव इन्द्रियोंके द्वारा उपलब्ध वस्तुका ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । इन्द्रियजन्य ज्ञानके लिये परोक्ष शब्द ही उपयुक्त है क्यों कि परसे होनेवाले ज्ञान ही को तो परोक्ष कहते हैं[1] ।

§ ६ ज्ञप्तिका तात्पर्य ।

ज्ञानसे अर्थ जाननेका मतलब क्या है ? क्या ज्ञान अर्थरूप हो जाता है यानि ज्ञान और ज्ञेयका भेद मिट जाता है ? या जैसा अर्थका आकार होता है वैसा आकार ज्ञानका हो जाता है ? या ज्ञान अर्थमें प्रविष्ट हो जाता है ? या अर्थ ज्ञानमें प्रविष्ट हो जाता है ? या ज्ञान अर्थमें उत्पन्न होता है ? इन प्रश्नोंका उत्तर आचार्यने अपने ढंगसे देनेका प्रयत्न किया है ।

आचार्यका कहना है कि ज्ञानी ज्ञानस्वभाव है और अर्थ ज्ञेयस्वभाव । अत एव भिन्न स्वभाव ये दोनों स्वतन्त्र हैं एककी वृत्ति दूसरेमें नहीं है[2] । ऐसा कह करके वस्तुतः आचार्यने यह बताया है कि संसारमें मात्र विज्ञानाद्वैत नहीं, बाह्यार्थ भी हैं । उन्होंने दृष्टांत दिया है कि जैसे चक्षु अपनेमें रूपका प्रवेश न होने पर भी रूपको जानती है वैसे ही ज्ञान बाह्यार्थोंको विषय करता है[3] । दोनोंमें विषयविषयीभावरूप संबंधको छोड कर और कोई संबंध नहीं । 'अर्थोंमें ज्ञान है' इसका तात्पर्य बतलाते हुए आचार्यने इन्द्रनील मणिका दृष्टांत दिया है और कहा है कि जैसे दूधके वर्तनमें रखा हुआ इन्द्रनील मणि अपनी दीप्तिसे दूधके रूपका अभिभव करके उसमें रहता है वैसे ज्ञान भी अर्थोंमें है । तात्पर्य यह है कि दूधगत मणि स्वयं द्रव्यतः संपूर्ण दूधमें व्याप्त नहीं है फिर भी उसकी दीप्तिके कारण समस्त दूध नीलवर्णका दिखाई देता है उसी प्रकार ज्ञान संपूर्ण अर्थमें द्रव्यतः व्याप्त नहीं होता है तथापि विचित्र शक्तिके कारण अर्थको जान लेता है इसी लिये अर्थमें ज्ञान है ऐसा कहा जाता है[4] । इसी प्रकार, यदि अर्थमें ज्ञान है तो ज्ञानमें भी अर्थ है यह भी मानना उचित है । क्यों कि यदि ज्ञानमें अर्थ नहीं तो ज्ञान किसका होगा[5] ? इस प्रकार ज्ञान और अर्थका परस्परमें प्रवेश न होते हुए भी विषय-विषयीभावके कारण 'ज्ञानमें अर्थ' और 'अर्थमें ज्ञान' इस व्यवहारकी उपपत्ति आचार्यने बतलाई है ।

§ ७ ज्ञान-दर्शन यौगपद्य ।

वाचककी तरह आ० कुन्दकुन्दने भी केवलीके ज्ञान और दर्शनका यौगपद्य माना है । विशेषता यह है कि आचार्यने यौगपद्यके समर्थनमें दृष्टांत दिया है कि जैसे सूर्यके प्रकाश और ताप युगपद् होते हैं वैसे ही केवलीके ज्ञान और दर्शनका यौगपद्य है ।—

"जुगवं वट्टइ णाणं केवलणाणिस्स दंसणं तहा ।
दिणयरपयासतापं जह वट्टइ तह मुणेयव्वं ॥" नियमसार १५९ ।

§ ८ सर्वज्ञका ज्ञान ।

आचार्य कुन्दकुन्दने अपनी अभेद दृष्टिके अनुरूप निश्चय दृष्टिसे सर्वज्ञ की नई व्याख्या

---

१ प्रवचनसार ५७,५८ । २ प्रवचन० १.२८ । ३ प्रवचन० १.२८,२९ । ४ प्रवचन० १.३० ।
५ वही ३१ ।

की है। और भेद दृष्टिका अवलंबन करनेवालों के अनुकूल होकर व्यवहार दृष्टिसे सर्वज्ञ की वही व्याख्या की है जो आगमोंमें तथा वाचकके तत्त्वार्थमें है। उन्होंने कहा है–

"जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं॥" नियमसार १५८।

अर्थात् व्यवहार दृष्टिसे कहा जाता है कि केवली सभी द्रव्योंको जानते हैं किन्तु परमार्थतः वह आत्माको ही जातना है।

सर्वज्ञके व्यावहारिक ज्ञानकी वर्णना करते हुए उन्होंने इस बातको बलपूर्वक कहा है कि त्रैकालिक सभी द्रव्यों और पर्यायोंका ज्ञान सर्वज्ञको युगपद् होता है ऐसा ही मानना चाहिए। क्यों कि यदि वह त्रैकालिक द्रव्यों और उनके पर्यायोंको युगपद् न जानकर क्रमशः जानेगा तब तो वह किसी एक द्रव्यको भी उनके सभी पर्यायोंके साथ नहीं जान सकेगा। और जब एक ही द्रव्यको उसके अनंत पर्यायोंके साथ नहीं जान सकेगा तो वह सर्वज्ञ कैसे होगा[१]? दूसरी बात यह भी है कि यदि अर्थोंकी अपेक्षा करके ज्ञान क्रमशः उत्पन्न होता है ऐसा माना जाय तब कोई ज्ञान नित्य, क्षायिक और सर्वविषयक सिद्ध होगा नहीं[२]। यही तो सर्वज्ञ ज्ञानका माहात्म्य है कि वह नित्य त्रैकालिक सभी विषयोंको युगपत् जानता है[३]।

किन्तु जो पर्याय अनुत्पन्न हैं और विनष्ट हैं ऐसे असद्भूत पर्यायोंको केवलज्ञानी किस प्रकार जानता है? इस प्रश्नका उत्तर उन्होंने दिया है कि समस्त द्रव्योंके सद्भूत और असद्भूत सभी पर्याय विशेषरूपसे वर्तमानकालिक पर्यायोंकी तरह स्पष्ट प्रतिभासित होते हैं[६]। यही तो उस ज्ञानकी दिव्यता है कि वह अजात और नष्ट दोनों पर्यायोंको जान लेता है[७]।

§ ९ मतिज्ञान।

आचार्य कुन्दकुन्दने मतिज्ञानके भेदोंका निरूपण प्राचीन परंपराके अनुकूल अवग्रहादि रूपसे करके ही संतोष नहीं माना किन्तु अन्य प्रकारसे भी किया है। वाचकने एक जीवमें अधिकसे अधिक चार ज्ञानोंका यौगपद्य मानकर भी कहा है कि उन चारोंका उपयोग तो क्रमशः ही होगा[८]। अत एव यह तो निश्चित है कि वाचकने मतिज्ञानादिके लब्धि और उपयोग ऐसे दो भेदोंका स्वीकार किया ही है। किन्तु आचार्य कुन्दकुन्दने मतिज्ञानके उपलब्धि, भावना और उपयोग ये तीन भेद भी किये हैं[९]। प्रस्तुतमें उपलब्धि लब्धिसमानार्थक नहीं है। वाचकका मतिउपयोग उपलब्धि शब्दसे विवक्षित जान पडता है। इन्द्रियजन्य ज्ञानोंके लिये दार्शनिकोंमें उपलब्धि शब्द प्रसिद्ध ही है। उसी शब्दका प्रयोग आचार्यने उसी अर्थमें प्रस्तुतमें किया है। इन्द्रियजन्य ज्ञानके बाद मनुष्य उपलब्ध विषयमें संस्कार दृढ करनेके लिये जो मनन करता है वह भावना है। इस ज्ञानमें मनकी मुख्यता है। इसके बाद उपयोग है। यहाँ उपयोग शब्दका अर्थ सिर्फ ज्ञान व्यापार नहीं किन्तु भावित विषयमें आत्माकी तन्मयता ही उपयोग शब्दसे आचार्यको इष्ट है ऐसा जान पडता है।

---

१ प्रवचन० १.४७। २ प्रवचन० १.४८। ३ वही १.४९। ४ वही १.५०। ५ वही १.५१। ६ प्रवचन० १.३७,३८। ७ वही १.३९। ८ तत्त्वार्थभा० १.३१। ९ पंचास्ति० ४२।

§ १० श्रुतज्ञान।

वाचकने 'प्रमाणनयैरधिगमः' (१.६) इस सूत्रमें नयोंको प्रमाणसे पृथक् रखा है। वाचकने पांच ज्ञानोंके साथ प्रमाणोंका अभेद तो बताया ही है[1] किन्तु नयोंको किस ज्ञानमें समाविष्ट करना इसकी चर्चा नहीं की है। आचार्य कुन्दकुन्दने श्रुतके भेदोंकी चर्चा करते हुए नयोंको भी श्रुतका एक भेद बतलाया है। उन्होंने श्रुतके भेद इस प्रकार किये हैं – लब्धि, भावना, उपयोग और नय[2]।

आचार्यने सम्यग्दर्शनकी व्याख्या करते हुए कहा है कि आप्त-आगम और तत्त्वकी श्रद्धा सम्यग्दर्शन है[3]। आप्तके लक्षणमें अन्य गुणोंके साथ क्षुधा-तृष्णादिका अभाव भी बताया है। अर्थात् उन्होंने आप्त की व्याख्या दिगम्बर मान्यताके अनुसार की है[4]। आगमकी व्याख्यामें उन्होंने वचनको पूर्वापरदोषरहित कहा है[5] उससे उनका तात्पर्य दार्शनिकोंके पूर्वापरविरोधदोषके राहित्यसे है।

[३] नयनिरूपण।

§ १ व्यवहार और निश्चय।

आचार्य कुन्दकुन्दने नयोंके नैगमादि भेदोंका विवरण नहीं किया है। किन्तु आगमिक व्यवहार और निश्चय नयका स्पष्टीकरण किया है और उन दोनों नयोंके आधारसे मोक्षमार्गका और तत्त्वोंका पृथक्करण किया है। आगममें निश्चय और व्यवहारकी जो चर्चा है उसका निर्देश हमने पूर्वमें किया है। निश्चय और व्यवहारकी व्याख्या आचार्यने आगमानुकूल ही की है किन्तु उन नयोंके आधारसे विचारणीय विषयोंकी अधिकता आचार्यके ग्रन्थोंमें स्पष्ट है। उन विषयोंमें आत्मादि कुछ विषय तो ऐसे हैं जो आगममें भी हैं किन्तु आगमिक वर्णनमें यह नहीं बताया गया कि यह वचन अमुक नयका है। आचार्यके विवेचनके प्रकाशमें यदि आगमोंके उन वाक्योंका बोध किया जाय तब यह स्पष्ट हो जाता है कि आगमके वे वाक्य कौनसे नयके आश्रयसे प्रयुक्त हुए हैं। उक्त दो नयों की व्याख्या करते हुए आचार्यने कहा है –

"ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणयो।"

समयसार १३।

अर्थात् व्यवहार नय अभूतार्थ है और शुद्ध अर्थात् निश्चयनय भूतार्थ है।

तात्पर्य इतना ही है कि वस्तुके पारमार्थिक तात्त्विक शुद्धस्वरूपका ग्रहण निश्चय नयसे होता है और अशुद्ध अपारमार्थिक या लौकिकस्वरूपका ग्रहण व्यवहारसे होता है। वस्तुतः छः द्रव्योंमेंसे जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंके विषयमें सांसारिक जीवोंको भ्रम होता है। जीव संसारावस्थामें प्रायः पुद्गलसे भिन्न उपलब्ध नहीं होता है अत एव साधारण लोग जीवमें कई ऐसे धर्मोंका अध्यास कर देते हैं जो वस्तुतः उसके नहीं होते। इसी प्रकार पुद्गलके विषयमें भी विपर्यास कर देते हैं। इसी विपर्यास की दृष्टिसे व्यवहारको अभूतार्थग्राही कहा गया है और निश्चयको भूतार्थग्राही। परंतु आचार्य इस बातको भी मानते ही हैं कि विपर्यास भी निर्मूल नही है। जीव अनादि कालसे मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति इन तीन परिणामोंसे

१ तत्त्वार्थ० १.१०। २ पंचा० ४३। ३ नियमसार ५। ४ नियमसार ६। ५ नियमसार ८,१८६।

परिणत होता है[1]। इन्ही परिणामोंके कारण यह संसारका सारा विपर्यास है, इसका इन्कार नहीं किया जा सकता। यदि हम संसारका अस्तित्व मानते हैं तो व्यवहारनयके विषयका मी अस्तित्व मानना पडेगा। वस्तुतः निश्चय नय मी तब तक एक स्वतन्त्र नय है जब तक उसका प्रतिपक्षी व्यवहार मौजुद है। यदि व्यवहार नय नहीं तो निश्चय मी नहीं। यदि संसार नहीं तो मोक्ष मी नहीं। संसार—मोक्ष जैसे परस्पर सापेक्ष हैं वैसे ही व्यवहार और निश्चय मी परस्पर सापेक्ष हैं[2]। आचार्य कुन्दकुन्दने परम तत्त्वका वर्णन करते हुए इन दोनों नयोंकी सापेक्षताको ध्यानमें रख कर ही कह दिया है कि वस्तुतः तत्त्वका वर्णन न निश्चयसे हो सकता है न व्यवहारसे। क्यों कि ये दोनों नय अमर्यादितको, अवाच्यको, मर्यादित और वाच्य बनाकर वर्णन करते हैं। अत एव वस्तुका परमशुद्ध स्वरूप तो पक्षातिक्रान्त है। वह न व्यवहारग्राह्य है और न निश्चयग्राह्य। जैसे जीवको व्यवहारके आश्रयसे बद्ध कहा जाता है और निश्चयके आश्रयसे अबद्ध कहा जाता है। साफ है कि जीवमें अबद्धका व्यवहार मी बद्धकी अपेक्षासे हुआ है। अत एव आचार्यने कह दिया कि वस्तुतः जीव न बद्ध है और न अबद्ध किन्तु पक्षातिक्रान्त है। यही समयसार है, यही परमात्मा है[3]। व्यवहार नयके निराकरणके लिये निश्चय नयका अवलंबन है किन्तु निश्चयनयावलंबन ही कर्तव्यकी इतिश्री नहीं है। उसके आश्रयसे आत्माके स्वरूपका बोध करके उसे छोडने पर ही तत्त्वका साक्षात्कार संभव है।

आचार्यके प्रस्तुत मतके साथ नागार्जुनके निम्न मतकी तुलना करना चाहिए।

"शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता निःसरणं जिनैः।
येषां तु शून्यतादृष्टिस्तानसाध्यान् बभाषिरे॥" माध्य० १३.८।
"शून्यमिति न वक्तव्यमशून्यमिति वा भवेत्।
उभयं नोभयं चेति प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते॥" माध्य० २२.११।

प्रसंगसे नागार्जुन और आ० कुन्दकुन्दकी एक अन्य बात मी तुलनीय है जिसका निर्देश मी उपयुक्त है। आचार्य कुन्दकुन्दने कहा है—

"जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा दुगाहेदुं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं॥" समयसार ८।

ये ही शब्द नागार्जुनके कथनमें मी हैं—

"नान्यया भाषया म्लेच्छः शक्यो ग्राहयितुं यथा।
न लौकिकमृते लोकः शक्यो ग्राहयितुं तथा॥" माध्य० पृ० ३७०।

आचार्यने अनेक विषयों की चर्चा उक्त दोनों नयोंके आश्रयसे की है जिनमेंसे कुछ ये हैं—ज्ञानादि गुण और आत्माका संबंध[4], आत्मा और देहका संबन्ध[5], जीव और अध्यवसाय, गुणस्थन

---

१ समयसार ९६। २ समयसार० तात्पर्य० पृ० ६७।

३ "कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।
पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो॥" समयसार १५२।
"दोण्णवि णयाण भणियं जाणइ णवरं तु समयपडिबद्धो।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचि वि णयपक्खपरिहीणो॥" समय० १५३।

४ समय० ७, १९; २० से। ५ समयसार ३२ से।

आदिका संबंध[1]; मोक्षमार्ग ज्ञानादि[2]; आत्मा[3]; कर्तृत्व[4]; आत्मा और कर्म, क्रिया, भोग[5]; बद्धत्व-अबद्धत्व[6]; मोक्षोपयोगी लिंग[7]; बंधविचार[8]; सर्वज्ञत्व[9]; पुद्गल[10] इत्यादि ।

३. आचार्य सिद्धसेन ।

§१ सिद्धसेनका समय ।

सिद्धसेन दिवाकरको 'सन्मति प्रकरण' की प्रस्तावनामें (पृ० ४३) पं० सुखलालजी और पं० बेचरदासजीने विक्रमकी पांचवी शताब्दीके आचार्य माने हैं । उक्त पुस्तकके अंग्रेजी संस्करणमें मैंने सूचित किया था कि धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिक आदि ग्रन्थके प्रकाशमें सिद्धसेनके समयको शायद परिवर्तित करना पडे, अर्थात् पांचवीके स्थानमें छठी-सातवी शताब्दीमें सिद्धसेनकी स्थिति मानना पडे । किन्तु अभी अभी पंडित सुखलालजीने सिद्धसेनके समयकी पुनः चर्चा की है[11] । उसमें उन्होंमें सिद्ध किया है कि सिद्धसेनको पांचवी शताब्दीका ही विद्वान् मानना चाहिए । उनकी मुख्य दलील है कि पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धिमें सिद्धसेनकी द्वात्रिंशिकाका उद्धरण है[12] । अत एव पांचवीके उत्तरार्धसे छठीके पूर्वार्ध तकमें माने जानेवाले पूज्यपादसे पूर्ववर्ती होनेके कारण सिद्धसेनको विक्रम पांचवीं शताब्दीका ही विद्वान् मानना चाहिए । इस दलीलके रहते अब सिद्धसेनके समयकी उत्तरावधि पांचवी शताब्दीसे आगे नहीं बढ सकती । उन्हें पांचवीं शताब्दीसे अर्वाचीन नहीं माना जा सकता ।

वस्तुतः सिद्धसेमके समयकी चर्चाके प्रसंगमें न्यायावतारगत कुछ शब्दों और सिद्धान्तोंको लेकर प्रो० जेकोबीने यह सिद्ध करनेकी चेष्टा की थी[13] कि सिद्धसेन धर्मकीर्तिके बाद हुए हैं । प्रो० वैद्यने भी उन्हींका अनुसरण किया[14] । कुछ विद्वानोंने न्यायावतारके नवम श्लोकके लिये कहा कि वह समन्तभद्रकृत रत्नकरण्डका है अत एव सिद्धसेन समन्तभद्रके बाद हुए इस प्रकार सिद्धसेनके समयके निश्चयमें न्यायावतारने काफी विवाद खडा किया है । अत एव न्यायावतारका विशेष रूपसे तुलनात्मक अध्ययन मैंने प्रस्तुत संस्करणके प्रथम परिशिष्टमें किया है । उस परिशिष्टके आधारसे यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि सिद्धसेनको धर्मकीर्तिके पहलेका विद्वान् माननेमें कोई समर्थ बाधक प्रमाण नहीं है । रत्नकरण्डके विषयमें अब तो प्रो० हीरालालने यह सिद्ध किया है कि वह समन्तभद्रकृत नहीं,[15] तब उसके आधारसे यह कहना कि, सिद्धसेन समन्तभद्रके बाद हुए, युक्तियुक्त नहीं ।

अत एव पंडित सुखलालजीके द्वारा निर्णीत विक्रमकी पांचवी शताब्दीमें सिद्धसेनकी स्थिति निर्बाध प्रतीत होती है ।

---

१ समयसार ६१ से । २ पंचा० १६७ से । नियम० ५४ से । दर्शन प्रा० २० । ३ समय० ६,१६ इत्यादि; नियम ४९ । ४ समय० २४, ९० आदि; नियम० १८ । ५ समय० ३८६ से । ६ समय० १५१ । ७ समय० ४४४ । ८ प्रवचन २.९७ । ९ नियम० १५८ । १० नियम० २९ । ११ 'श्रीसिद्धसेन दिवाकरना समयनो प्रश्न' भारतीयविद्या वर्ष ३ पृ० १५२ । १२ सर्वार्थसिद्धि ७. १३ में सिद्धसेन की तीसरी द्वात्रिंशिकाका १६ वाँ पद्य उद्धृत है । १३ समराइच्चकहा, प्रस्तावना पृ० ३ । १४ न्यायावतार प्रस्तावना पृ० १८ । १५ अनेकान्त वर्ष० ८ किरण १-३ ।

§ २ सिद्धसेनकी प्रतिभा ।

आचार्य सिद्धसेनके जीवन और लेखनके सम्बन्धमें 'सन्मतितर्कप्रकरणम्' के समर्थ संपादकोंने पर्याप्त मात्रामें प्रकाश डाला है[१] । जैनदार्शनिक साहित्यकी एक नई धारा प्रवाहित करनेमें सिद्धसेन सर्व प्रथम है इतना ही नहीं किन्तु जैनसाहित्यके भंडारमें संस्कृतभाषामें काव्यमय तर्कपूर्ण स्तुतिसाहित्यको प्रस्तुत करनेमें भी सिद्धसेन सर्वप्रथम है । पंडित सुखलालजीने उनको प्रतिभामूर्ति कहा है वह अत्युक्ति नहीं । सिद्धसेनका प्राकृत ग्रन्थ सन्मति देखा जाय, या उनकी द्वात्रिंशिकाएँ देखी जाय, पद पद पर सिद्धसेनकी प्रतिभा का वाचकको साक्षात्कार होता है । जैन साहित्यकी जो न्यूनता थी, उसीकी पूर्तिकी ओर उनकी प्रतिभाका प्रयाण हुआ है । चर्वितचर्वण उन्होंने नहीं किया । टीकाएँ उन्होंने नहीं लिखीं किन्तु समयकी गतिविधिको देखकर जैन आगमिक साहित्यसे ऊपर उठ कर तर्कसंगत अनेकान्तवादके समर्थनमें उन्होंने अपना बल लगाया । फलस्वरूप 'सन्मतितर्क' जैसा शासनप्रभावक ग्रन्थ उपलब्ध हुआ ।

§ ३ सन्मतितर्कमें अनेकान्त स्थापन ।

'नागार्जुन, असंग, वसुबन्धु, और दिग्नागने भारतीय दार्शनिक परंपराको एक नई गति प्रदान की है । नागार्जुनने तत्कालीन बौद्ध और बौद्धेतर सभी दार्शनिकोंके सामने अपने शून्यवादको उपस्थित करके वस्तुको सापेक्ष सिद्ध किया । उनका कहना था कि वस्तु न भावरूप है, न अभावरूप, न भावाभावरूप, और न अनुभयरूप । वस्तुको कैसा भी विशेषण देकर उसका रूप बताया नहीं जा सकता, वस्तु निःस्वभाव है; यही नागार्जुनका मन्तव्य था । असङ्ग और वसुबन्धु इन दोनों भाइओंने वस्तुमात्रको विज्ञानरूप सिद्ध किया और बाह्य जड पदार्थोंका अपलाप किया । वसुबन्धुके शिष्य दिग्नागने भी उनका समर्थन किया और समर्थन करनेके लिये बौद्ध दृष्टिसे नवीन प्रमाणशास्त्रकी भी नींव रखी । इसी कारणसे वह बौद्ध न्यायशास्त्रका पिता कहा जाता है । उसने प्रमाणशास्त्रके बलपर सभी वस्तुकी क्षणिकताके बौद्ध सिद्धान्तका भी समर्थन किया ।

बौद्ध विद्वानोंके विरुद्धमें भारतीय सभी दार्शनिकोंने अपने अपने पक्षकी सिद्धि करनेके लिये पूरा बल लगाया । नैयायिक वात्स्यायनने नागार्जुन और अन्य दार्शनिकोंका खण्डन करके आत्मादि प्रमेयोंकी भावरूपता और सभी का पार्थक्य सिद्ध किया । मीमांसक शबरने विज्ञानवाद और शून्यवादका निरास किया तथा वेदापौरुषेयता सिद्ध की । वात्स्यायन और शबर दोनोंने बौद्धोंके 'सर्वं क्षणिकम्' सिद्धान्त की आलोचना करके आत्मादि पदार्थोंकी नित्यताकी रक्षा की । सांख्योंने भी अपने पक्षकी रक्षाके लिये प्रयत्न किया । इन सभीको अकेले दिग्नागने उत्तर दे करके फिर विज्ञानवादका समर्थन किया । तथा बौद्धसंमत सर्ववस्तुओंकी क्षणिकताका सिद्धान्त स्थिर किया ।'

ईसाकी प्रथम शताब्दीसे लेकर पांचवी शताब्दी तककी इस दार्शनिकवादोंकी पृष्ठभूमिको यदि ध्यानमें रखें तो प्रतीत होगा कि जैन दार्शनिक सिद्धसेनका आविर्भाव यह एक आकस्मिक घटना नहीं किन्तु जैन साहित्यके क्षेत्रमें भी दिग्नागके जैसे एक प्रतिभासंपन्न विद्वान् की आवश्यकताने ही प्रतिभामूर्ति सिद्धसेनको उत्पन्न किया है ।

---

१ 'सन्मति प्रकरण' (गूजराती) की प्रस्तावना । उसीका अंग्रेजी–संस्करण–जैन श्वे० कोन्फरन्सद्वारा प्रकाशित । 'प्रतिभामूर्ति हुआ है सिद्धसेन'–भारतीयविद्या तृतीयभाग पृ० ९ ।

आगमगत अनेकान्तवाद और स्याद्वादका वर्णन पूर्वमें हो चुका है। इससे पता चलता है कि भगवान् महावीरका मानस अनेकान्तवादी था। आचार्योंने भी अनेकान्तवादको कैसे विकसित किया यह भी मैंने बताया है। आचार्य सिद्धसेनने जब अनेकान्तवाद और स्याद्वादके प्रकाशमें उपयुक्त दार्शनिकोंके वादविवादोंको देखा तब उनकी प्रतिभाकी स्फूर्ति हुई और उन्होंने अनेकान्तवादकी स्थापनाका श्रेष्ठ अवसर समझकर सन्मतितर्क नामक ग्रन्थ लिखा। वे प्रबल वादी तो थे ही। इस बातकी साक्षी उनकी वादद्वात्रिंशिकाएँ (७ और ८) दे रही हैं। अत एव उन्होंने जैन सिद्धान्तोंको तार्किकभूमिका पर लेजा करके एक वादीकी कुशलतासे दार्शनिकोंके बीच अनेकान्तवादकी स्थापना की। सिद्धसेनकी विशेषता यह है कि उन्होंने तत्कालीन नाना वादोंको सन्मतितर्कमें विभिन्न नयवादोंमें सन्निविष्ट कर दिया। अद्वैत वादोंको उन्होंने द्रव्यार्थिक नयके संग्रहनयरूप प्रभेदमें समाविष्ट किया। क्षणिकवादी बौद्धोंकी दृष्टिको सिद्धसेनने पर्यायनयान्तर्गत ऋजुसूत्रनयानुसारी बताया। सांख्य दृष्टिका समावेश द्रव्यार्थिक नयमें किया और काणाददर्शनको उभयनयाश्रित सिद्ध किया। उनका तो यहाँ तक कहना है कि संसारमें जितने वचन प्रकार हो सकते हैं, जितने दर्शन — नाना मतवाद हो सकते हैं उतने ही नयवाद हैं। उन सभीका समागम ही अनेकान्तवाद है —

"जावइया वयणवहा तावइया चेव होन्ति णयवाया।
जावइया णयवाया तावइया चेव परसमया॥
जं काविलं दरिसणं एयं दव्वट्ठियस्स वत्तव्वं।
सुद्धोअणतणअस्स उ परिसुद्धो पज्जवविअप्पो॥
दोहिं वि णयेहिं णीयं सत्थमुलूएण तहवि मिच्छत्तं।
जं सविसअप्पहाणत्तणेण अण्णोण्णनिरवेक्खा॥"

सन्मति० ३.४७-४९।

सिद्धसेनने कहा है कि सभी नयवाद, सभी दर्शन मिथ्या हैं यदि वे एक दूसरेकी परस्पर अपेक्षा न करते हों और अपने मतको ही सर्वथा ठीक समझते हों। संग्रहनयावलंबी सांख्य या पर्यायनयावलम्बी बौद्ध अपनी दृष्टिसे वस्तुको नित्य या अनित्य कहें तब तक वे मिथ्या नहीं किन्तु सांख्य जब यह आग्रह रखे कि वस्तु सर्वथा नित्य ही है और वह किसी भी प्रकार अनित्य हो ही नहीं सकती; या बौद्ध यदि यह कहे कि वस्तु सर्वथा क्षणिक ही है, वह किसी भी प्रकारसे अक्षणिक हो ही नहीं सकती; तब सिद्धसेनका कहना है कि उन दोनोंने अपनी मर्यादाका अतिक्रमण किया है अत एव वे दोनों मिथ्यावादी हैं (सन्मति १.२८). सांख्यकी दृष्टि संग्रहावलंबी है, अभेदगामी है अत एव वह वस्तुको नित्य कहे यह स्वाभाविक है, उसकी वही मर्यादा है; और बौद्ध पर्यायानुगामी या भेददृष्टि होनेसे वस्तुको क्षणिक या अनित्य कहे यह भी स्वाभाविक है, उसकी वही मर्यादा है। किन्तु वस्तुका संपूर्ण दर्शन न तो सिर्फ द्रव्य-दृष्टिमें पर्यवसित है और न पर्यायदृष्टिमें (सन्मति १०.१२,१३); अत एव सांख्य या बौद्धको परस्पर मिथ्यावादी कहनेका स्वातन्त्र्य नहीं। नानावाद या दर्शन अपनी अपनी दृष्टिसे वस्तुतत्त्वका दर्शन करते हैं इसलिये नयवाद कहे जाते हैं। किन्तु वे तो परमतके निराकरणमें भी तत्पर हैं इसलिये मिथ्या हैं (सन्मति १.२८)। द्रव्यार्थिक नय सम्यग् है किन्तु तदवलम्बी सांख्य दर्शन मिथ्या है क्यों कि उसने उस नयका आश्रय लेकर एकान्त नित्य पक्षका

अवलम्बन लिया। इसी प्रकार पर्यायनयके सम्यक् होते हुए भी यदि बौद्ध उसका आश्रय लेकर एकान्त अनित्य पक्षको ही मान्य रखे तब वह मिथ्यावाद बन जाता है। इसी लिये सिद्धसेनने कहा है कि जैसे वैडूर्यमणि जब तक पृथक् पृथक् होते हैं, वैडूर्यमणि होनेके कारण कीमती होते हुए भी उनको रत्नावलीहार नहीं कहा जाता किन्तु वे ही किसी एक सूत्रमें सुव्यवस्थित हो जाते हैं तब रत्नावली हारकी संज्ञाको प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार नयवाद भी जब तक अपने अपने मतका ही समर्थन करते हैं और दूसरोंके निराकरणमें ही तत्पर रहते हैं वे सम्यग्दर्शन नामके योग्य नहीं। किन्तु अनेकान्तवाद जो कि उन नयवादोंके समूहरूप है सम्यग् दर्शन है क्यों कि अनेकान्त वादमें सभी नयवादोंको वस्तुदर्शनमें अपना अपना स्थान दिया गया है, वे सभी नयवाद एकसूत्रबद्ध हो गये हैं, उनका पारस्परिक विरोध लुप्त हो गया है (सन्मति १.२२–२५), अत एव अनेकान्तवाद वस्तुका संपूर्ण दर्शन होनेसे सम्यग्दर्शन है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सिद्धसेनने अनेक युक्तिओंसे अनेकान्तवादको स्थिर करने की चेष्टा सन्मतितर्कमें की है।

§ ४ न्यायावतारमें जैन न्यायशास्त्रकी नींव।

जैसे दिङ्नागने बौद्धसंमत विज्ञानवाद और एकान्त क्षणिकताको सिद्ध करने लिये पूर्वपरंपरामें थोडा बहुत परिवर्तन करके बौद्ध प्रमाणशास्त्रको व्यवस्थित रूप दिया। उसी प्रकार सिद्धसेनने भी जैन न्यायशास्त्रकी नींव न्यायावतारकी रचना करके रखी[१]। जैसे दिङ्नागने अपनी पूर्वपरंपरामें परिवर्तन भी किया है उसी प्रकार न्यायावतारमें भी सिद्धसेनने पूर्वपरंपराका सर्वथा अनुकरण न करके अपनी स्वतन्त्र बुद्धिप्रतिभासे काम लिया है।

न्यायावतारकी तुलनाके परिशिष्ट (नं० १) में मैंने न्यायावतारकी रचनाका आधार क्या है उसका निर्देश, उपलब्ध सामग्रीके आधार पर, यत्र तत्र किया है। उससे इतना तो स्पष्ट है कि सिद्धसेनने जैन दृष्टिकोणको अपने सामने रखते हुए भी लक्षणप्रणयनमें दिङ्नागके ग्रन्थों का पर्याप्तमात्रामें उपयोग किया है। और स्वयं सिद्धसेनके लक्षणोंका उपयोग अनुगामी जैनाचार्योंने अत्यधिक मात्रामें किया है यह भी स्पष्ट है।

आगमयुगके जैनदर्शनके पूर्वोक्त प्रमाण तत्त्वके विवरणसे (पृ० ५६) स्पष्ट है कि आगममें मुख्यतः चार प्रमाणोंका वर्णन आया है। किन्तु आचार्य उमास्वातिने प्रमाणके दो भेद प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे किये और उन्हीं दो में पांचज्ञानोंको विभक्त कर दिया। आचार्य सिद्धसेनने भी प्रमाण तो दो ही रखे—प्रत्यक्ष और परोक्ष। किन्तु उनके प्रमाणनिरूपणमें जैनपरंपरासंमत पांच ज्ञानोंकी मुख्यता नहीं। किन्तु लोकसंमत प्रमाणोंकी मुख्यता है। उन्होंने प्रत्यक्षकी व्याख्यामें लौकिक और लोकोत्तर दोनों प्रत्यक्षोंका समावेश कर दिया है और परोक्षमें अनुमान और आगमका। इस प्रकार सिद्धसेनने आगममें मुख्यतः वर्णित चार प्रमाणोंका नहीं किन्तु सांख्य और प्राचीन बौद्धोंका अनुकरण करके प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमका वर्णन किया है।

न्यायशास्त्र या प्रमाणशास्त्रमें दार्शनिकोंने प्रमाण, प्रमाता, प्रमेय और प्रमिति इन चार तत्त्वोंके निरूपण को प्राधान्य दिया है। आचार्य सिद्धसेन ही प्रथम जैन दार्शनिक है जिन्होंने

---

१ विशेष विवेचनके लिये देखो पं० सुखलालजी कृत न्यायावतारविवेचनकी प्रस्तावना।

न्यायावतार जैसी छोटीसी कृतिमें जैनदर्शन संमत इन चारों तत्त्वोंकी व्याख्या करनेका सफल व्यवस्थित प्रयत्न किया है। उन्होंने प्रमाणका लक्षण किया है और उसके भेद-प्रभेदोंका भी लक्षण किया है। खासकर अनुमानके विषयमें तो उसके हेत्वादि सभी अंगप्रत्यंगोंकी संक्षेपमें मार्मिक चर्चा की है।

जैन न्यायशास्त्रकी चर्चा प्रमाणनिरूपणमें ही उन्होंने समाप्त नहीं की किन्तु नयोंका लक्षण और विषय बताकर जैनन्याय शास्त्रकी विशेषताकी ओर भी दार्शनिकोंका ध्यान खींचा है।

इस छोटीसी कृतिमें सिद्धसेन स्वमतानुसार न्यायशास्त्रोपयोगी प्रमाणादि पदार्थोंकी व्याख्या करके ही संतुष्ट नहीं हुए किन्तु परमतका निराकरण भी संक्षेपमें करनेका उन्होंने प्रयत्न किया है। लक्षणप्रणयनमें दिग्नाग जैसे बौद्धोंका यत्र तत्र अनुकरण करके भी उन्हींके 'सर्वमालम्बने भ्रान्तम्' तथा पक्षाप्रयोगके सिद्धान्तोंका युक्तिपूर्वक खण्डन किया है। बौद्धोंने जो हेतुलक्षण किया था उसके स्थानमें अन्तर्व्याप्तिके बौद्धसिद्धान्तसे ही फलित होनेवाला 'अन्यथानुपपत्तिरूप' हेतुलक्षण अपनाया जो आज तक जैनाचार्योंके द्वारा प्रमाणभूत माना जाता है।

४. वार्तिकके कर्ता।

वार्तिककी रचना किसने की इस विषयमें अभीतक किसीने निर्णय नहीं किया है। प्रतियोंमें वार्तिककी समाप्तिके बाद कोई प्रशस्ति लेख नहीं है। उसकी अन्तिम कारिकामें 'सूत्रके ऊपर मैंने वार्तिककी रचना की है' सिर्फ इतना ही सूचन है—

"सूत्रं सूत्रकृता कृतं मुकुलितं सद्भूरिबीजैर्घनम्,
तद्व्याचः किल वार्तिकं मृदु मया प्रोक्तं शिशूनां कृते।
भानोर्यत्किरणैर्विकासि कमलं नेन्दोः करैस्तत्तथा,
यद्वेन्दूदयतो विकासि जलजं भानोर्न तस्मिन्गति ॥"

'मैंने' अर्थात् किसने इसका कुछ पता नहीं लगता। इसी लिये जैनभाण्डारोंकी सूचियोंमें वार्तिकके कर्ताका नाम दिया नहीं जाता, देखो—'पत्तनस्थप्राच्यजैनभाण्डागारीयग्रन्थसूची,' भाग १. पृ० ४१,८६,२९९।

इन सूचियोंके आधारसे अन्य लेखकोंने भी वार्तिकको अज्ञातकर्तृक कृति माना है।

किन्तु निम्न कारणोंसे यह वार्तिक शान्त्याचार्यकी ही कृति है ऐसा मेरा अनुमान है—

१ वार्तिक अत्यन्त प्राचीन कृति नहीं है जिससे उसके कर्ताका नाम विस्मृत हो जाय। आचार्य अकलंक ही नहीं किन्तु उनके ग्रन्थके कई टीकाकारोंको भी वार्तिककारने देखा है यह बात कारिका १९,३८–४० से स्पष्ट है।

२ शान्त्याचार्यने वार्तिककी अंतिम पूर्वोद्धृत कारिका जिसमें 'मैंने वार्तिक बनाया' ऐसी सूचना है, उसकी व्याख्या नहीं की है। इससे भी यही फलित होता है कि शान्त्याचार्यके अतिरिक्त और कोई वार्तिकका कर्ता नहीं है।

३ जिस कालकी (सं० ९००-१३००) यह रचना है उस कालमें ग्रथित अन्य दार्शनिक कारिकाबद्ध छोटे छोटे ग्रन्थ प्रायः ऐसे ही हैं जिनमें मूल कारिका और उनकी टीका एककर्तृक ही हैं। जैसे विद्यानन्दकी आप्तपरीक्षा और उसकी वृत्ति, जिनेश्वरका प्रमालक्ष्म और उसकी वृत्ति, चन्द्रसेनकी उत्पादादिसिद्धि और उसकी टीका इत्यादि।

४ कारिका नं० १९ में 'नः' शब्द है। उसकी व्याख्यामें शान्त्याचार्यने 'नः' का अर्थ 'अस्माकम्' ही किया है। कहीं ग्रन्थकारका नाम नहीं दिया। विशेष विवरणमें 'नः' का मतलब 'वार्तिककार' शब्दसे बताया है। स्वोपज्ञटीकाकार मूल यदि सूत्ररूप हो तो मूलकारको सूत्रकाररूपसे संबोधित करते हुए प्रायः देखे जाते हैं। प्रस्तुतमें मूलग्रन्थ वार्तिकरूप होनेसे टीकामें उसके कर्ताको 'वार्तिककार' कहा है। वार्तिककार यदि दूसरे होते तो यह संभव नहीं है कि शान्त्याचार्य उसका नाम न जानते क्योंकि वार्तिक शान्त्याचार्यके कालकी कृति है इसमें तो संदेह है ही नहीं।

५ वार्तिककारने सिद्धसेनको तो सूर्य की उपमा दी है (का० १,५७) और खुदको चन्द्रकी (का० ५७)। इससे भी यही नतीजा निकलता है कि यह शान्त्याचार्यकी ही कृति होनी चाहिए क्योंकि चन्द्र शान्त होता है, अतएव श्लेषसे शान्त्याचार्यके नामकी सूचना वार्तिककी अंतिम कारिकामें मानी जा सकती है।

इन कारणोंसे जब तक कोई बाधक प्रमाण न मिले वार्तिकके कर्तारूपसे शान्त्याचार्यको ही मानना उचित है।

५. शान्त्याचार्य और उनका समय।

शान्त्याचार्य नामके अनेक श्वेताम्बर आचार्य हुए हैं। उनमेंसे किसने वार्तिक और उसकी वृत्तिकी रचना की इसका निर्णय करना आवश्यक है। शान्त्याचार्य या शान्तिसूरिके नामसे प्रसिद्ध जिन आचार्योंका पता मैंने लगाया है वे ये हैं—

१ **थारापद्रगच्छीय शान्तिसूरि**—इन्होंने उत्तराध्ययनसूत्रकी बृहत् टीकाकी रचना की है। उत्तराध्ययनकी टीकाकी प्रशस्तिमें स्पष्टरूपसे इन्होंने अपना गच्छ थारापद्र बताया है। इनका जो चरित्र प्रभावकचरितमें वर्णित है उससे पता चलता है कि उनका गच्छ थारापद्र था, उनके गुरुका नाम विजयसिंह था। वे राजा भोज और कवि धनपालके समकालीन थे। उनकी मृत्यु वि० सं० १०९६ के ज्येष्ठ शुक्ल ९ को हुई। प्रभावकचरितमें कहा गया है कि वादिवेताल ऐसा बिरुद राजा भोजने शान्त्याचार्यको दिया था। इन्होंने धनपालकृत तिलकमञ्जरीका संशोधन किया है और उत्तराध्ययनटीकाकी रचना की है—प्रभावकचरित पृ० १३३–१३७।

२ **पूर्णतल्लगच्छीय शान्तिसूरि**—तिलकमञ्जरी टिप्पणकी प्रशस्तिमें उसके कर्ता शान्तिसूरिने अपनेको पूर्णतल्लगच्छीय कहा है। अपना परिचय देते हुए कहा है कि मैं मतिमानोंमें श्रेष्ठ हूँ और बहुशास्त्रको जाननेवाला हूँ।

> "श्रीशान्तिसूरिरिह श्रीमति पूर्णतल्ले,
> गच्छे वरो मतिमतां बहुशास्त्रवेत्ता।
> तेनामलं विरचितं बहुधा विमृश्य,
> संक्षेपतो वरमिदं बुध! टिप्पनं भो[१]॥"

---

१ पत्तनस्थप्राच्यजैनभाण्डागारीयग्रन्थसूची पृ० ८७।

इन्हीं शान्त्याचार्यने मेघाभ्युदयकाव्यकी वृत्तिकी भी रचना की है। उसकी प्रशस्तिमें अपना परिचय देते हुए लिखा है कि वे पूर्णतल्लगच्छके वर्धमानसूरिके शिष्य थे—

"श्रीपूर्णतल्लगच्छसंबंधिश्रीवर्धमानाचार्यस्वपदस्थापितश्रीशान्तिसूरिविरचिता मेघाभ्युदयकाव्यवृत्तिः"[1]।

पं० लालचन्द्रने 'जेसलमीरभाण्डागारीयग्रन्थानां सूची' की प्रस्तावना 'अप्रसिद्धग्रन्थकृत्परिचय' (पृ० ५९) में लिखा है कि शान्त्याचार्यने पांच यमककाव्योंकी टीका करनेकी प्रतिज्ञा की थी[2] तदनुसार उन्होंने वृन्दावनकाव्य, घटखर्परकाव्य, मेघाभ्युदयकाव्य, शिवभद्रकाव्य और चन्द्रदूतकाव्य इन पांच यमककाव्योंकी टीकाओंकी रचना की थी।

पं० लालचन्द्रका अनुमान है कि ये आचार्य वि० ११ से १२ वी शताब्दीके बीचमें हुए हैं।

३ **बृहद्गच्छीय शान्तिसूरि**—इनके गुरुका नाम नेमिचन्द्र है। इन्होंने अपना परिचय पृथ्वीचन्द्र चरित्रकी प्रशस्तिमें दिया है। पृथ्वीचंद्रचरित्र बृहत् और लघु की रचना विक्रमसं० ११६१ में हुई है।[3] धर्मरत्न प्रकरणमें पृथ्वीचन्द्र चरित्र देखनेकी प्रेरणा की गई है। अतएव उसके रचयिता शान्तिसूरि भी यही हो सकते हैं।

४ **थंडिल्लगच्छीय शान्तिसूरि**—जैनग्रन्थावली (पृ० २८५) में भक्तामरस्तोत्रकी वृत्ति थंडिल्लगच्छीय शांतिसूरिके नाम दर्ज है।

५ **भद्रेश्वरशिष्य शान्तिसूरि**—गर्गर्षि सूरिके कर्मविपाकके ऊपर परमानन्दने टीका लिखी है। उसकी प्रशस्तिमें उन्होंने आचार्यपरंपरा दी है उससे पता चलता है कि वे भद्रेश्वरसूरिके शिष्य शान्तिसूरिके शिष्य अभयदेवके शिष्य थे। श्री मो. द. देसाईने अनुमान किया है कि परमानन्द वि. सं. १२२१ में विद्यमान थे (देखो, जैन. सा० सं० इ० पृ० २८०); अतएव प्रस्तुत शान्त्याचार्यका समय बारहवींका उत्तरार्ध निश्चित होता है।

इनके गच्छका ठीक निश्चय करना कठिन है।

६ **संडेरगच्छके शान्त्याचार्य**—सं० १५९७ के एक लेखसे पता चलता है कि संडेर गच्छमें दो शान्त्याचार्य हुए हैं। दोनों सुमतिके शिष्य थे। किन्तु एक १५९७ सं० में हुए और दूसरे उनसे कई पीढी पहले हुए—प्राचीन लेखसंग्रह, लेख नं० ३३६।

७ **नाणकीयगच्छके शान्तिसूरि**—इनका एक शिलालेख सं० १२६५ का 'प्राचीन जैन लेखसंग्रह' में उद्धृत है। देखो लेख नं० ४०३। उसमें उनके गुरुका नाम कल्याणविजय और गच्छकानाम नाणकीय निर्दिष्ट है।

८ **नागेन्द्रकुलके शान्त्याचार्य**—उपदेशमाला वृत्ति (कर्णिका) के रचयिता उदयप्रभने अपनी गुरुपरंपराका वर्णन करते हुए कहा है कि नागेन्द्रकुलके महेन्द्रसूरिके पट्टपर शान्तिसूरि हुए। उनका परिचय उन्होंने इस प्रकार दिया है—

---

१ जेसलमीरभाण्डागारीयग्रन्थानां सूची पृ० ७३।

२ "वृन्दावनादिकाव्यानां यमकैरतिदुर्विदाम्।
वक्ष्ये मन्दप्रबोधाय पञ्चानां वृत्तिमुत्तमाम्॥"

३ जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, पृ० २३८।

"श्रीनागेन्द्रकुले मुनीन्द्रसवितुः श्रीमन्महेन्द्रप्रभोः,
पट्टे पारगतागमोपनिषदां पारंगमग्रामणीः।
देवः संयमदैवतं निरवधिलैविद्यवागीश्वरः,
संजज्ञे कलिकल्मषैरकलुषः श्रीशान्तिसूरिगुरुः॥
शक्तिः कापि न कापिलस्य न नये नैयायिको नायकः
चार्वाकः परिपाकमुज्झितमतिर्बौद्धश्च मौद्ध्यभाक्।
स्याद्वैशेषिकशेमुषी च विमुखी वादाय वेदान्तिके
वांतिः केवलमस्य वक्तुरयते सीमां न मीमांसकः॥"

देखो, पत्तनस्थ० पृ० २३६।

ये सिद्धराजके समकालीन या कुछ पूर्ववर्ती होंगे। क्योंकि उसी वृत्तिमें कहा है कि इनके प्रशिष्य अमरचन्द्रका सिद्धराजकी सभामें काफी सन्मान था। सिद्धराजने इनको 'सिंह-शिशुक' का बिरुद दिया था (जै० सा० सं० पृ० २४९) सिद्धराजका राजत्व काल वि० सं० ११५०-११९९ है।

'प्राचीन लेख संग्रह'में (लेख ३८१) विजयसेनसूरिका प्रतिष्ठालेख सं० १२८८ का है। उससे सूचित होता है कि शान्तिसूरि महेन्द्रके साक्षात् शिष्य नहीं किन्तु उनकी परंपरामें हुए थे—

"सं० १२८८ वर्षे..........श्रीनागेन्द्रगच्छे भट्टारकश्रीमहेन्द्रसूरिसन्ताने शिष्यश्री-शान्तिसूरिशिष्यश्रीआनंदसूरिश्रीअमरसूरिपदे भट्टारकश्रीहरिभद्रसूरिपट्टालंकरणप्रभुश्री-विजयसेनसूरिप्रतिष्ठित........"

९ **मडाहडीयगच्छके शान्तिसूरि**—मडाहडीय गच्छके यशोदेव सूरिकी मूर्तिकी प्रतिष्ठा सं. १३८७ में इन्होंने की थी। इसीसे अनुमान होता है कि वे उक्त गच्छके होंगे। देखो 'प्राचीन जैन लेख संग्रह,' लेख ५०८। मडाहडीय गच्छके वर्धमानने अपने गच्छको कहीं कहीं बृहद्गच्छ भी कहा है। इससे पता चलता है कि मडाहडीय गच्छ बृहद्गच्छकी शाखा होगी (प्राचीन जैन लेख सं० लेख, ५५०,२९२)।

पूर्वोक्त बृहद् गच्छीय शान्तिसूरिसे प्रस्तुत शान्तिसूरि भिन्न हैं क्योंकि वे सं० ११६१ में विद्यमान थे और प्रस्तुत शान्तिसूरि सं० १३८७ में।

१० **तपागच्छके शान्त्याचार्य**—वादी देवसूरिने अपने शिष्योंमेंसे २४ मुनियोंको आचार्यपद पर प्रतिष्ठित किया। उनमेंसे एक शान्त्याचार्य भी थे। अतएव उनका समय विक्रम १२ वी शताब्दीके उत्तरार्ध से १३ वी का पूर्वार्ध सिद्ध होता है—जैनगूर्जर कविओ भाग २ पृ० ७५७।

११ **पल्लीवालगच्छके शान्त्याचार्य**—पल्लीवाल गच्छकी एक पट्टावली श्री नाहटाजीने श्रीआत्मानन्द शताब्दी स्मारकमें (पृ० १८४) प्रकाशित करवाई है। सं० ११६१ में एक शान्त्याचार्य हुए। उनके बाद १ यशोदेव, २ नन्न, ३ उद्योतन, ४ महेश्वर, ५ अभयदेव ६ आमदेव ये छः आचार्य हुए। इनके बाद फिर लगातार उक्त नामके सात-सात आचार्योंका क्रम सं० १६८७ तक चला है। और क्रमशः निम्नोक्त संवतोंमें शान्त्याचार्य स्वर्गत हुए हैं—

सं० १६१, ४९५, ७६८, १०३१, १२२४, १४४८, १६६१ अतएव इस गच्छमें कुल सात शान्त्याचार्य हुए ।

श्री नाहटाजीने १४४८ में स्वर्गत होने वाले शान्त्याचार्यके नाम कुछ प्रतिष्ठा लेख चढाये हैं (पृ० १९२) किन्तु संवत् मिलाकर देखनेसे पता चलता है कि वे लेख सं० १४५६, १४५८, १४६२ के हैं अतएव वे १४४८ में स्वर्गत होने वाले शान्त्याचार्यके हो नहीं सकते । इसलिये उक्त संवत्के लेखोंमें सूचित शान्त्याचार्य सं० १४४८ में स्वर्गत होने वाले शान्त्याचार्यसे भिन्न होने चाहिए । या शान्त्याचार्यके स्वर्गमनसंवतमें कुछ भ्रम मानना चाहिए ।

इनके अलावा जीवविचार,[1] चैत्यवन्दनसूत्रमहाभाष्य,[2] बृहत् शान्तिस्तोत्र[3] इत्यादि ग्रन्थोंके रचयिता भी शान्तिसूरि हैं, इनका कुछ भी विशेष परिचय ग्रन्थान्तमें दिया नहीं गया । अत एव कहना कठिन है कि उक्त शान्त्याचार्योंसे ये भिन्न थे या उनमेंसे किसी एक से अभिन्न थे ।

इन सब शान्त्याचार्योंमेंसे प्रस्तुत ग्रन्थ वार्तिक और उसकी वृत्तिके रचयिता कौन थे इसका निर्णय करना अब प्रस्तुत है ।

१ वार्तिक और वृत्तिके कर्ता शान्त्याचार्य –

इन सभी आचार्योंमेंसे प्रस्तुत वार्तिक और वृत्तिके कर्ता शान्त्याचार्य नं० २ ही संभव है । यद्यपि वार्तिक वृत्तिके अन्तमें उसके कर्ताने अपने गुरुका नाम वर्धमान बताया है किन्तु पूर्णतल्ल गच्छका उल्लेख नहीं किया है । किन्तु उल्लिखित चन्द्रकुलमें ही पूर्णतल्लगच्छ हुआ है[4] यह बात निर्विवाद होनेसे निःसंदेह कहा जा सकता है कि नं० २ शान्त्याचार्यसे ही वार्तिक और वृत्तिके कर्ता शान्त्याचार्यका अभेद है अन्यसे नहीं । क्यों कि उपरिनिर्दिष्ट आचार्योंमेंसे –

नं० १ हो नहीं सकते क्योंकि नं० १ के गुरुका नाम विजयसिंह था ।

नं. ३ हो नहीं सकते क्योंकि उनके गुरुका नाम नेमिचन्द्र है ।

नं. ४ के साथ अभेद सिद्ध करनेके लिये कोई प्रमाण नहीं क्योंकि नं. ४ के शान्त्याचार्यके गुरुके नामका पता नहीं ।

नं. ५ के गुरुका नाम भद्रेश्वर है ।

नं. ६ सुमतिके शिष्य थे ।

नं. ७ इनके गुरुका नाम कल्याणविजय है ।

नं. ८ गुरुका नाम महेन्द्र है । या 'सन्ताने' शब्दका अर्थ 'परंपरामें' ऐसा करें तो गुरुका नाम अज्ञात है ।

यद्यपि इनका परिचय आ० उदयप्रभने एक प्रबल दार्शनिकरूपसे दिया है । किन्तु गुरुका

---

१ इसके कई संस्करण निकले हैं । २ आत्मानन्दसभाद्वारा प्रकाशित । ३ संघनो भंडार, पाटन, नं० १०२३,१०.१९८४,२०१७ । ४ आचार्य हेमचन्द्र भी चन्द्रकुलके पूर्णतल्ल गच्छमें हुए हैं – देखो प्रभावकचरित, पृ० १८३ । प्रबन्धकोष, पृ० ४६ ।

नाम निश्चित न होनेसे या महेन्द्र होने की संभावना होनेसे प्रस्तुत शान्त्याचार्यके साथ इनका अभेद हो नहीं सकता ।

नागेन्द्र गच्छमें भी दो वर्धमान हुए हैं । दूसरेका अस्तित्व १२९९ में था । इनके शिष्य वार्तिककार हो नहीं सकते क्योंकि वार्तिक की कारिकाएँ इसके पूर्ववर्ती ग्रन्थकारोंमें उद्धृत हैं । प्रथम वर्धमानके पट्टधर रामसूरि थे, शान्त्याचार्यका उल्लेख पट्टधररूपसे नहीं किया गया है— देखो जैनसाहित्यनो सं० इतिहास पृ० ३४३ । इसलिये वार्तिककारका गच्छ नागेन्द्र हो नहीं सकता ।

नं. ९ इनका समय १३८७ है । और वार्तिककारका समय बहुत पहले है ।

नं. १० गुरुका नाम वादीदेव है ।

नं. ११ गुरुका नाम वर्धमान नहीं.

अतएव जितने शान्त्याचार्य हमें ज्ञात हैं उनमेंसे यदि किसीके साथ वार्तिक और वृत्तिके रचयिता शान्त्याचार्यका अभेद होनेकी संभावना करनी हो तो वह नं. २ के साथ ही हो सकती है । नं. २ के शान्त्याचार्यके गुरुका नाम वर्धमान है, और वार्तिककारके गुरुका नाम भी वर्धमान है । दूसरे गच्छोंके शान्त्याचार्योंके साथ वार्तिककारका अभेद सिद्ध हो नहीं सकता तब उनका गच्छ भी पूर्णतल्ल मानना उचित है । अतएव यही मानना ठीक है कि वार्तिककार शान्त्याचार्य पूर्णतल्लगच्छके वर्धमानके शिष्य थे ।

पं० लालचन्द्रजीने भी इन्ही शान्त्याचार्यको वार्तिकवृत्तिके कर्तारूपसे माना है । उन्होंने अपनी मान्यताके लिये कोई युक्ति नहीं दी । किन्तु उनका कथन उक्त समर्थनके कारण युक्ति-संगत है । जेसल० अप्रसि० पृ० ५९ । श्री मो. द. देसाईने भी पं० लालचन्द्रके मतानुसार अपना मत स्थिर किया है—जैन० सा० पृ० २३० ।

२ शान्त्याचार्यका समय निर्णय—

पं० लालचन्द्रजीने शान्त्याचार्यका समय ११ और १२ वी शताब्दीके मध्य माना है । उनकी यह मान्यता भी ठीक जंचती है ।

उत्पादादिसिद्धिमें उसके कर्ताने वार्तिक और उसकी वृत्तिका काफी उपयोग किया है । वार्तिककी का० २३,२५,२९,३०,३१,३४ और ३५ उत्पादादिसिद्धिकी टीकामें उद्धृत हैं[1] । वार्तिकवृत्तिकी विषयोपसंहारके लिये निबद्ध एक कारिका भी उत्पादादिसिद्धिटीकामें उद्धृत है[2] । सर्वज्ञवादमें मीमांसकका समूचा पूर्वपक्ष शब्दशः वार्तिकवृत्तिमें से लेकर उत्पादादिसिद्धिमें दिया गया है[3] । उत्पा० की अपोह चर्चा भी वार्तिक वृत्तिसे प्रभावित है—उत्पादा० पृ० ६७ और प्रस्तुत ग्रन्थ पृ० ९६ । सटीक उत्पादादिसिद्धिके कर्ता चन्द्रसेनाचार्य आचार्य हेमचन्द्रके गुरु भाइ प्रद्युम्न सूरिके शिष्य थे । उनका समय उन्होंने स्वयं अपनी उत्पादादिसिद्धिकी टीकाके अन्तमें दिया है उससे पता चलता है कि उन्होंने उक्त ग्रन्थको १२०७ वि० में समाप्त किया

---

१ देखो वार्तिककी तुलनाका परिशिष्ट । २ देखो, प्रस्तुत ग्रन्थके 'टिप्पणानि' पृ० २०३ । ३ वही पृ० २०९ ।

था[1] । अत एव वार्तिक और वार्तिक वृत्तिकी रचना वि० १२०७ के पहले हो चुकी थी ऐसा सिद्ध है ।

स्याद्वादरत्नाकर (पृ० १२३२[2]) में भी वार्तिककी कारिका नं० ५३ उद्धृत है । स्याद्वादरत्नाकरके कर्ता वादी देव सूरिने ११७४ में आचार्यपद प्राप्त किया था और उनका स्वर्गवास वि० १२२६ में हुआ । अत एव सं० ११७४ से १२२६ के बीचमें स्याद्वादरत्नाकरकी रचना हुई है । अत एव कहा जा सकता है कि वार्तिककी रचना सं० ११७४ से पहले हुई ।

न्यायावतारकी सिद्धर्षिकृत टीकाका टिप्पण आ० देवभद्रकी रचना है । आचार्य देवभद्रने मलधारी हेमचन्द्रसे अध्ययन करते करते उसकी रचना की थी । आचार्य मलधारी हेमचन्द्रकी अंतिम रचना विशेषावश्यक बृहद्वृत्ति सं० ११७५ में पूर्ण हुई थी । अतएव उनसे पढनेवाले देवभद्रने इसी समयके आसपास टिप्पणकी रचना की होगी । अतएव टिप्पणीमें उद्धृत[3] वार्तिककी रचना सं० ११७५ के पहले माननेमें कोई आपत्ति नहीं ।

इस प्रकार शान्त्याचार्यकी उत्तरावधि वि० ११७५ मानना संगत है ।

शान्त्याचार्यने वार्तिकवृत्तिमें सन्मतिटीकाका कई स्थानोंमें उपयोग किया है । १०९६ वि० में स्वर्गस्थ होनेवाले वादी वेताल शान्त्याचार्यने (नं. १) अभयदेवको प्रमाणशास्त्रके गुरुरूपसे उल्लिखित किया है[4] । अभयदेवके शिष्य धनेश्वर और जिनेश्वर मुंजराजकी सभाके प्रतिष्ठित पंडित थे । मुंजराजकी मृत्यु वि० सं० १०५० से १०५४ के बीच हुई । अतएव मुंजराजकी सभामें मान पानेवाले धनेश्वर और जिनेश्वरके गुरु अभयदेवका समय विक्रम ९५० से १०५० के बीच मानना उचित है[5] । यही पूर्वावधि वार्तिककार शान्त्याचार्यकी है । अतएव वार्तिककार शान्त्याचार्यको हम वि० १०५०–११७५ के बीचमें होनेवाले विद्वान् मानें तो योग्य ही होगा ।

शान्त्याचार्यने अनन्तवीर्य और अनन्तकीर्तिका नामोल्लेख किया है । अनन्तकीर्ति यदि वही हो जिन्होंने सर्वज्ञसिद्धिकी रचना की है, तो उनका समय श्रीप्रेमीजीने[6] वि० सं० ८४० से १०८२ के बीच अनुमित किया है ।

अनन्तवीर्य नामके दो विद्वान् हुए हैं—एक रविभद्र शिष्य अनन्तवीर्य और दूसरे प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्य[7] । प्रथम अनन्तवीर्य आचार्य प्रभाचन्द्रसे पहले हुए हैं । आचार्य प्रभाचन्द्र वि० १०३७ से ११२२ के विद्वान् हैं[8] । और दूसरे अनन्तवीर्य प्रभाचन्द्रके बाद हुए हैं । प्रस्तुतमें प्रथम अनन्तवीर्य शान्त्याचार्यको विवक्षित है ऐसा पं० महेन्द्रकुमारजीका मन्तव्य योग्य है । अत एव अनन्तवीर्य और अनन्तकीर्तिके समयके साथ भी शान्त्याचार्यके समयकी पूर्वनिर्दिष्ट मर्यादाका विरोध नहीं आता ।

---

१ जैनसा० सं० इ. पृ० २७५ । २ वस्तुतः यह पृष्ठ १०३२ होना चाहिए । गलत छपा है । ३ न्याया० टि० पृ० १२ में वार्तिककी चतुर्थ कारिका उद्धृत है । ४ उत्तरा० टीकाकी प्रशस्ति । ५ सन्मतितर्क प्रकरण भा. ६ प्रस्तावना पृ० ८५ । ६ जैन साहित्य और इतिहास पृ० ४५२ । ७ न्यायकु० भा. २ प्रस्तावना पृ० २९,३५ । ८ वही पृ० ५८ ।

शुद्धिपत्रक।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	२	च	स
७	३	त्रिघे	त्रिघे (धै)
९	१३	व्यतिरेका०	व्यतिरेको०
४६	२१	सिद्धता	'सिद्धसाध्यता' ऐसा पाठान्तर है वही मूल में लेना ठीक है।
४६	२६	दृष्टेः। कस्यचितु	'दृष्टेः कस्यचिज्जाति' पाठान्तरनिर्दिष्ट पाठ मूलमें लेना ठीक है।
७२	१३	निरस्तत्वत्	निरस्तत्वात्
११५	१९	मनःसंवित्ति०	मनः संवि०
१३१	११	न्याया० टि०	न्याया० टी०
१३६	२२,२४	प्रमाणलक्ष्म	प्रमालक्ष्म
१५१	३०	प्रमाण०	प्रमाणबा०
१६९	३	८	(८)
१८४ से १८७ में		कर्ण० ३	कर्ण० १
१८५	१४	०वचनादय अन०	वचनादयोऽन०
१८५	१९	व्यक्तिव्यक्ति०	व्यक्ति०
१८५	३४	'इमां	'य इमां
१८७	१	स्त० ३.२८४	स्त० १.२८७
१८९	४	प्रभा	प्रमा
२१४	२	वस्तुनः	वस्तुतः
२१५	६	कल्पनाभू०	कल्पनामू०
२४२	४	बोगि	योगि
२५६	२८	प्रामाक०	प्राभाक०
२५७	२३	मान	भान
२८६	उपांत्यमें बढ़ा दो–		

"दस य नपुंसएसु वीसं इत्थियासु य।
पुरिसेसु अट्ठसयं समयेणेगेण सिज्झई॥"

उत्तराध्ययन ३६.५२

श्रीसिद्धसेनदिवाकरविरचितं

न्यायावतारसूत्रम् ।

प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम् ।
प्रत्यक्षं च परोक्षं च द्विधा मेयविनिश्चयात् ॥ १

प्रसिद्धानि प्रमाणानि व्यवहारश्च तत्कृतः ।
प्रमाणलक्षणस्योक्तौ ज्ञायते न प्रयोजनम् ॥ २

प्रसिद्धानां प्रमाणानां लक्षणोक्तौ प्रयोजनम् ।
तद्व्यामोहनिवृत्तिः स्याद् व्यामूढमनसामिह ॥ ३

अपरोक्षतयार्थस्य ग्राहकं ज्ञानमीदृशम् ।
प्रत्यक्षमितरज्ज्ञेयं परोक्षं ग्रहणेक्षया ॥ ४

साध्याविनाभुनो लिङ्गात् साध्यनिश्चायकं स्मृतम् ।
अनुमानं तदभ्रान्तं प्रमाणत्वात् समक्षवत् ॥ ५ ॥

न प्रत्यक्षमपि भ्रान्तं प्रमाणत्वविनिश्चयात् ।
भ्रान्तं प्रमाणमित्येतद् विरुद्धं वचनं यतः ॥ ६

सकलप्रतिभासस्य भ्रान्तत्वासिद्धितः स्फुटम् ।
प्रमाणं स्वान्यनिश्चायि द्वयसिद्धौ प्रसिध्यति ॥ ७

दृष्टेष्टाव्याहताद् वाक्यात् परमार्थाभिधायिनः ।
तत्त्वग्राहितयोत्पन्नं मानं शाब्दं प्रकीर्तितम् ॥ ८

आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्यमदृष्टेष्टविरोधकम् ।
तत्त्वोपदेशकृत् सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥ ९

स्वनिश्चयवदन्येषां निश्चयोत्पादनं बुधैः ।
परार्थं मानमाख्यातं वाक्यं तदुपचारतः ॥ १०

प्रत्यक्षेणानुमानेन प्रसिद्धार्थप्रकाशनात् ।
परस्य तदुपायत्वात् परार्थत्वं द्वयोरपि ॥ ११

प्रत्यक्षप्रतिपन्नार्थप्रतिपादि च यद्वचः ।
प्रत्यक्षं प्रतिभासस्य निमित्तत्वात् तदुच्यते ॥ १२

साध्याविनाभुवो हेतोर्वचो यत् प्रतिपादकम् ।
परार्थमनुमानं तत् पक्षादिवचनात्मकम् ॥ १३

साध्याभ्युपगमः पक्षः प्रत्यक्षाद्यनिराकृतः ।
तत्प्रयोगोऽत्र कर्तव्यो हेतोर्गोचरदीपकः ॥ १४

अन्यथा वाद्यभिप्रेतहेतुगोचरमोहिनः ।
प्रत्याय्यस्य भवेत् हेतुर्विरुद्धारेकितो यथा ॥ १५

धानुष्कगुणसंप्रेक्षिजनस्य परिविध्यतः ।
धानुष्कस्य विना लक्ष्यनिर्देशेन गुणेतरौ ॥ १६

हेतोस्तथोपपत्त्या वा स्यात् प्रयोगोऽन्यथापि वा ।
द्विविधोऽन्यतरेणापि साध्यसिद्धिर्भवेदिति ॥ १७

साध्य-साधनयोर्व्याप्तिर्यत्र निश्चीयतेतराम् ।
साधर्म्येण च दृष्टान्तः संबन्धस्मरणान्मतः ॥ १८

साध्ये निवर्तमाने तु साधनस्याप्यसंभवः ।
ख्याप्यते यत्र दृष्टान्ते वैधर्म्येणेति स स्मृतः ॥ १९

अन्तर्व्याप्त्यैव साध्यस्य सिद्धेर्बहिरुदाहृतिः ।
व्यर्था स्यात् तदसद्भावेऽप्येवं न्यायविदो विदुः ॥ २०

प्रतिपाद्यस्य यः सिद्धः पक्षाभासोऽक्षलिङ्गतः ।
लोक-स्ववचनाभ्यां च बाधितोऽनेकधा मतः ॥ २१

अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोर्लक्षणमीरितम् ।
तदप्रतीतिसंदेहविपर्यासैस्तदाभता ॥ २२

असिद्धस्त्वप्रतीतो यो योऽन्यथैवोपपद्यते ।
विरुद्धो योऽन्यथाप्यत्र युक्तोऽनैकान्तिकः स तु ॥ २३

साधर्म्येणात्र दृष्टान्तदोषा न्यायविदीरिताः ।
अपलक्षणहेतूत्थाः साध्यादिविकलादयः ॥ २४

वैधर्म्येणात्र दृष्टान्तदोषा न्यायविदीरिताः ।
साध्य-साधनयुग्मानामनिवृत्तेश्च संशयात् ॥ २५

वाद्युक्ते साधने प्रोक्तदोषाणामुद्भावनम् ।
दूषणं निरवद्ये तु दूषणाभासनामकम् ॥ २६

सकलावरणमुक्तात्म केवलं यत् प्रकाशते ।
प्रत्यक्षं सकलार्थात्मसततप्रतिभासनम् ॥ २७

प्रमाणस्य फलं साक्षादज्ञानविनिवर्तनम् ।
केवलस्य सुखोपेक्षे शेषस्यादानहानधीः ॥ २८

अनेकान्तात्मकं वस्तु गोचरः सर्वसंविदाम् ।
एकदेशविशिष्टोऽर्थो नयस्य विषयो मतः ॥ २९

नयानामेकनिष्ठानां प्रवृत्तेः श्रुतवर्त्मनि ।
संपूर्णार्थविनिश्चायि स्याद्वादश्रुतमुच्यते ॥ ३०

प्रमाता स्वान्यनिर्भासी कर्ता भोक्ता विवृत्तिमान् ।
स्वसंवेदनसंसिद्धो जीवः क्षित्याद्यनात्मकः ॥ ३१

प्रमाणादिव्यवस्थेयमनादिनिधनात्मिका ।
सर्वसंव्यवहर्तॄणां प्रसिद्धापि प्रकीर्तिता ॥ ३२

श्रीशान्त्याचार्यविरचितं

न्यायावतारसूत्रवार्तिकम् ।

१. सामान्यलक्षणपरिच्छेदः ।

ॐ

नमः सर्वज्ञाय[1] ।

हिताहितार्थसंप्राप्ति-त्यागयोर्यन्निबन्धनम्[2] ।
तत् प्रमाणं प्रवक्ष्यामि सिद्धसेनार्कसूत्रितम् ॥ १

ॐ

'प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम् ।
प्रत्यक्षं च परोक्षं च द्विधा[3] मेयविनिश्चयात् ॥' २

॥ इति शास्त्रार्थसंग्रहः ॥

ॐ

सन्निकर्षादिकं नैव प्रमाणं तदसंभवात् ।
अवभासो व्यवसायो न[4] तु ग्रहणमात्रकम् ॥ ३

दीपवन्नोपपद्येत बाह्य[5]वस्तुप्रकाशकम् ।
अनात्मवेदने ज्ञाने जगदान्ध्यं प्रसज्यते ॥ ४

प्र[6]त्यक्षं च परोक्षं च ग्राहकं नोपपत्तिमत् ।
बाधनात् संशयाध्यासे सूक्तं सामान्यलक्षणम् ॥ ५

वेदेश्वरादयो नैव प्रमाणं बाधसंभवात् ।
प्रमाणं बाधवैकल्यादर्हंस्तत्त्वार्थवेदनः[7] ॥ ६ ॥

---

१. ॐ नमः सर्वज्ञाय क० । नमो वीतरागाय अ० । २. हिताहितार्थयोः प्राप्ति° अ० । ३. द्विधैव च विनिश्चितम् मु० । ४. व्यवसायस्तत्तु ग्रह° मु० । ५. बाह्य° मु० । ६. इदं पद्यं मुद्रितपुस्तके उद्धृतं नास्ति सं० । ७. °र्थदर्शिनः मु० ।

[1]वचसोऽपौरुषेयत्वं नाऽविशेषात् पटादिवत् ।
स्वरूपेण विशेषेण न सिद्धं भूधरादिषु ॥ ७

विरुद्धं चेष्ट[2]घातेन न [3]कार्यं कर्तृसाधनम् ।
[4]प्रकृतेरन्तरज्ञानं पुंसो[5] नित्यमथाऽन्यथा ॥ ८

नित्यत्वे सर्वदा मोक्षोऽनित्यत्वे न तदुद्भवः ।
कालवैपुल्ययो[6]ग्यत्वकुशलाभ्याससंभ[7]वे ॥ ९

[8]आवृतिप्रक्षयाज्ज्ञानं सार्वज्ञ्यमुपजायते ।
सदहेतुकमस्तीह सदैव क्ष्मादितत्त्ववत् ॥ १०

आहार[9]सक्तिचैतन्यं जन्मादौ मध्यवत्तथा ।
अन्त्यसाम[10]ग्र्यंवद्धेतुः संपूर्णः कार्यकृत्सदा ॥ ११

[11]ज्योतिः साक्षात्कृतिः कश्चित् संपूर्णस्तत्त्ववेदने ।

॥ सामान्यलक्षणपरिच्छेदः ॥

२. प्रत्यक्षपरिच्छेदः ।

[12]ज्ञात्रपेक्षं प्रमेयस्य द्वैविध्यं न तु वास्तवम् ॥ १२

दूरासन्नादिभेदेन प्रतिभा[13]सं भिनत्ति यत् ।
तत् प्रत्यक्षं परोक्षं [14]तु ततोऽन्यद् वस्तु कीर्तितम् ॥ १३

तन्निमित्तं द्विधा मानं न त्रिधा नैकधा ततः ।
सादृश्यं चेत् प्रमेयं स्यात् वैलक्षण्यं न किं तथा ॥ १४

अर्थापत्तेर्न मानत्वं नियमेन विना कृतम् ।
प्रमाणपञ्चकाभावेऽभावोऽभावेन गम्यते ॥ १५

---

१. इदं पद्यं मुद्रितपुस्तके उद्धृतं नास्ति सं० । २. वेष्ट° मु० । ३. कार्ये मु० । ४. 'प्रकृत्यन्तर-विज्ञानम्' इति वृत्तिसंमतः पाठः सं० । प्रकृतेरवरं ज्ञानं मु० । ५. पुंसोऽनित्यत्वमन्यथा मु० । ६. °योगे तु कुश° मु० । °योग्यत्वं कुश° अ० । ७. °संभवः मु० । °संभवेः अ० । ८. इदं पद्यं नास्त्युद्धृतं मुद्रितपुस्तके सं० । ९. आहारशक्ति° क० । आहाराशक्ति° ब० । १०. °सामग्रिव° मु० । ११. इदं पूर्वार्धं नास्ति उद्धृतं मुद्रितपुस्तके सं० । १२. ज्ञानापेक्षं मु० । ज्ञात्रपेक्ष्यं ब० । १३. प्रतिभा हि भिन° अ० । १४. च अ० ।

न[1], नास्तीति यतो ज्ञानं नाध्यक्षा[2]द्भिन्नगोचरम् ।
अभावोऽपि[3] च नैवास्ति प्रमेयो वस्तुन[4]ः पृथक् ॥ १६

प्रत्यक्षं विशदं[5] ज्ञानं त्रिधेन्द्रियम[6]निन्द्रियम् ।
योगजं चेति वैशद्यमिदन्त्वेनावभासनम् ॥ १७

जीवांशात् कर्मनिर्मुक्तादिन्द्रियाण्यधितिष्ठतः ।
जा[7]तमिन्द्रियजं ज्ञानं विनेन्द्रियमनिन्द्रियम् ॥ १८

स्मृत्यूहादिकमित्येके प्रातिभं च तथाऽपरे ।
स्वप्नविज्ञानमित्यन्ये स्वसंवेदनमेव नः ॥ १९

मनःसंज्ञस्य जीवस्य ज्ञानावृत्ति[8]शमक्षयौ ।
यतश्चित्रौ ततो ज्ञानयौगपद्यं न दुष्यति ॥ २०

जिनस्यांशेषु सर्वेषु कर्मणः प्रक्षयेऽक्रमम् ।
ज्ञानदर्शनमन्येषां न तथेत्यागमावधः ॥ २१

तत्रेन्द्रियजमध्यक्षमेकांशव्यवसायकम् ।
वेदनं च परोक्षं च योगजं तु तदन्यथा ॥ २२

द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषास्तस्य गोचराः ।
अविस्पष्टास्तथैव स्युरनध्यक्षस्य गोचराः ॥ २३

न जडस्यावभासोऽस्ति भेदाभेदविकल्पनात् ।
न भिन्नविषयं ज्ञानं शून्यं वा यदि वा ततः ॥ २४

ज्ञानशून्यवतो[10] नास्ति निरासेऽर्थस्य साधनम् ।
संवित्सिद्धप्रतिक्षेपे कथं स्यात् तद्व्यवस्थितिः ॥ २५

पर्यस्यन्ति[11] पर्याया द्रव्यं द्रवति सर्वदा ।
सदृशः परिणामो यः तत् सामान्यं द्विधा स्थितम् ॥ २६

विपरीतो विशेषश्च[12] तान्युगपद् व्यवस्यति ।
तेन तत्कल्पनाज्ञानं न तु शब्दार्थयोजनात् ॥ २७

निरंशपरमाणूनामभासे स्थौल्यवेदने ।
प्रत्यक्षं कल्पनायुक्तं प्रत्यक्षेणैव सिध्यति ॥ २८

---

१. नानास्ती° मु० । २. °ध्यक्षाभिन्न° ब० । ३ अभावेऽपि मु० । ४. वस्तुतः अ० । ५. विशद-ज्ञानं अ० क० मु० । ६. मनैन्द्रि° मु० । ७. ज्ञातमि° ब० । ज्ञानमि° मु० । ८. °वृत्तिश° मु० । ९. इदं कारिकार्धं ज्ञानं ब० । मुद्रितपुस्तके उद्धृतं नास्ति सं० । १०. °शूनवतोर्नास्ति अ० मु० । ११. पर्यवस्य° अ० मु० । १२. विशेषस्तु मु० ।

नासंयुक्तैर्न संयुक्तैर्निरंशैः क्रियते महत् ।
अयोगे प्रतिभासोऽपि संयोगेऽप्यणुमात्रकम् ॥ २९

भिन्नदेशस्वरूपाणामणूनामग्रहे[1] सति ।
तत्स्थौल्यं यदि कल्पेत नावभासेत किंचन ॥ ३०

नैतदस्ति यतो नास्ति स्थौल्यमेकान्ततस्ततः ।
भिन्नमस्ति समानं तु रूपमंशेन केनचित् ॥ ३१

अथास्तु युगपद्भासो द्रव्य-पर्याययोः स्फुटम् ।
तथापि कल्पना[2] नैषा शब्दोल्लेखविवर्जिता ॥ ३२

यकास्ति योजितं यत्र सोपाधिकमनेकधा ।
वस्तु तत् कल्पनाज्ञानं निरंशाप्रतिभासने ॥ ३३

भेदज्ञानात् प्रतीयन्ते यथा भेदाः परिस्फुटम् ।
तथैवाभेदविज्ञानादभेदस्य व्यवस्थितिः ॥ ३४

घटमौलिसुवर्णेषु बुद्धिर्भेदावभासिनी ।
संविन्निष्ठा हि भावानां स्थितिः काऽत्र विरुद्धता ॥ ३५

प्रतीतेस्तु फलं नान्यत् प्रमाणं न ततः परम् ।
अताद्रूप्येऽपि योग्यत्वान्नियतार्थस्य वेदकम्[3] ॥ ३६

॥ प्रत्यक्षपरिच्छेदः[4] ॥

३. अनुमानपरिच्छेदः ।

पूर्वमेव परोक्षस्य विषयः प्रतिपादितः ।
प्रमाणफलसद्भावो ज्ञेयः प्रत्यक्षवद्बुधैः ॥ ३७

परोक्षं द्विविधं प्राहुर्लिङ्ग-शब्दसमुद्भवम् ।
लैङ्गिकात् प्रत्यभिज्ञादि भिन्नमन्ये प्रचक्षते ॥ ३८

---

१. °णूनां संग्रहे मु० । २. कल्पमानैषा ब० । ३. वेदनम् ब० । ४. अ० प्रतौ नास्ति ।

परोपदेशजं श्रौतं मतिं शेषं जगुर्जिनाः ।
परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि त्रिधा श्रौतं न युक्तिमत् ॥ ३९

अन्यथेहादिकं सर्वं श्रौतमेवं[1] प्रसज्यते ।
यथोक्तं नागमापेक्षं मानं तत्राक्षजृम्भितम् ॥ ४०

लिङ्गाल्लिङ्गिनि यज् ज्ञानमनुमानं तदेकधा ।
प्रत्येति हि यथा वादी प्रतिवाद्यपि तत् तथा ॥ ४१

उपचारेण चेत् तत् स्यादनवस्था प्रसज्यते ।
अन्यस्यासाधनादाह लक्षणे हेतु-साध्ययोः ॥ ४२

'अन्यथाऽनुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ।
नान्यथाऽनुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ॥' ४३

कार्यकारणसद्भावस्तादात्म्यं चेत् प्रतीयते ।
प्रत्यक्षपूर्वकात् तर्कात् कथं नानुपपन्नता ॥ ४४

व्यतिरेकोऽनुपपत्तिश्चेदन्वयनिबन्धनम्[3] ।
कथं सत्त्वं[4] विना तेन क्षणिकत्वप्रसाधकम्[5] ॥ ४५

विनाप्यन्वयमात्मादौ प्राणादिः[6] साधनं यदा ।
तदा स्यान्नान्वयापेक्षा हेतोः साध्यस्य साधने ॥ ४६

संबन्धिभ्यां विभिन्नश्चेत् संबन्धः स्यान्न, लोष्टवत् ।
अनवस्था प्रसज्येत तदन्यपरिकल्पने ॥ ४७

कृत्तिकोदयपूरादेः कालादिपरिकल्पनात् ।
यदि स्यात् पक्षधर्मत्वं चाक्षुषत्वं न किं ध्वनौ ॥ ४८

समानपरिणामस्य द्वयस्य नियमग्रहे ।
नाशक्तिर्न च वैफल्यं साधनस्य प्रसज्यते ॥ ४९

इष्टं साधयितुं शक्यं वादिना साध्यमन्यथा ।
साध्याभासमशक्यत्वात् साधनागोचरत्वतः[7] ॥ ५०

यथा सर्वगमध्यक्षं बहिरन्तरनात्मकम् ।
नित्यमेकान्ततः सत्त्वात् धर्मः प्रेत्यासुखप्रदः[8] ॥ ५१

रूपाद्यसिद्धितोऽसिद्धो विरुद्धोऽनुपपत्तिमान् ।
साध्याभावं विना हेतुः व्यभिचारी विपक्षगः ॥ ५२

---

१. °मेव प्र० मु० । २. व्यतिरेकोऽनु° ब० अ० । ३. बन्धना अ० क० । ४. कथं संबंधिना तेन ब० क० । ५. °साधनम् ब० । ६. प्राणादि सा° मु० । ७. °समसाध्यत्वात् मु० । ८. प्रेत्यदुःखप्रदः मु० ।

असिद्धः[1] सिद्धसेनस्य विरुद्धो मल्लवादिनः ।
द्वेधा समन्तभद्रस्य हेतुरेकान्तसाधने[2] ॥ ५३

॥ अनुमानपरिच्छेदः ॥

४. आगमपरिच्छेदः ।

तापच्छेदकषैः शुद्धं वचनं त्वागमं विदुः ।
तापो ह्याप्तप्रणीतत्वमाप्तो रागादिसंक्षयात् ॥ ५४

कषः पूर्वापराघातश्छेदो मानसमन्वयः । ५५

'विधिनियमभङ्गवृत्तिव्यतिरिक्तत्वादनर्थकवचोवत् ।
जैनादन्यच्छासनमनृतं भवतीति वैधर्म्यम् ॥' ५६

॥ आगमपरिच्छेदः ॥

सूत्रं[3] सूत्रकृता कृतं मुकुलितं सद्भूरिबीजैर्घनम्,
तद्वाचैः[4] किल वार्तिकं मृदु मया प्रोक्तं शिशूनां कृते ।
भानोर्यत्किरणैर्विकासि कमलं नेन्दोः करैस्तत् तथा,
यद्वेन्दूदयतो विकासि जलजं भानोर्न[5] तस्मिन् गतिः ॥ ५७

[समाप्तमिदं न्यायावतारसूत्रवार्तिकम् ।]

१. असिद्धिः अ० । २. इदं पद्यं मुद्रिते उद्धृतं नास्ति सं० । ३. इदं पद्यं मुद्रितपुस्तके वृत्तेः प्रथमपद्यरूपेण वर्तते सं० । ४. तद्वाचे किल ब० । तद्बोध किल क० । ५. भानोर्मभस्तेर्न तद् मु० ।

श्रीशान्त्याचार्यविरचिता

न्यायावतारसूत्रवार्तिकवृत्तिः ।

१. सामान्यलक्षणपरिच्छेदः ।

हिताहितार्थसंप्राप्ति-त्यागयोर्यन्निबन्धनम् ।
तत् प्रमाणं प्रवक्ष्यामि सिद्धसेनार्कसूत्रितम् ॥ १ ॥

ॐ

नमः स्वतःप्रमाणाय वचःप्रामाण्यहेतवे ।
जिनाय पञ्चरूपेण [1]प्रत्यक्षात् पक्षदेशिने ॥

अन्यार्थ[2]वर्त्तेति न वाच्यमेतत् सामान्यमन्येन ततोऽन्यथा तु ।
[3]व्युत्पादितं तत्र [4]वदन्तु सन्तो निर्मत्सरा [5]एव भवन्तु यद्वा ॥

§ १. हिताहितेत्यादिना अभिधेयप्रयोजनमभिधीयते । तदभिधानात् संबन्धाभिधेय-प्रयोजनान्तराण्यपि अभिहितानि । तथाहि—प्रमाणम् अभिधेयम् । प्रयोजनं व्युत्पत्तिः व्युत्पादकत्वं च [6]शिष्याचार्ययोः, परं तु निःश्रेयसमिति । संबन्धस्तु उपायोपेयलक्षण इति ।

(अभिधेयप्रयोजनाभिधानम् ।)

§ २. तत्र [7]श्रोतॄप्रवृत्त्यर्थमिति कश्चित् । तदुक्तम्—

(प्रयोजनाभिधानस्य किं प्रयोजनमिति चर्चा ।)

"अनिर्दिष्टफलं सर्वं न प्रेक्षापूर्वकारिभिः ।
शास्त्रमाद्रियते तेन वाच्यमग्रे प्रयोजनम् ॥"

§ ३. तदेतदन्ये न क्षमन्ते । यतो यथा ते प्रेक्षापूर्वकारितया फलमभिलषन्तः प्रवर्तन्ते, तथा प्रेक्षापूर्वकारितयैव प्रमाणात् प्रवर्तन्ते । अप्रमाणात् प्रवर्तमानानां [8]प्रेक्षावत्तैव न स्यात् । न च शब्दानां बहिरर्थे प्रत्यक्षवत् प्रामाण्यम् । नापि प्रदीपवत् असंबद्धानामपि प्रकाश-

---

१. °पेण नमः प्रत्यक्षदेशिने मु० । २. °र्थवर्त्तीति ब० । ३. उत्पादितं ब० अ० क० । ४. भवन्तु मु० । ५. °सरा यत्र भवेद्बुद्ध्वा मु० । ६. शिष्टाचार्य° मु० । ७. श्रोतृजनप्र° क० मु० । ८. प्रेक्षावत्त्वं न मु० ।

कत्वम् । किन्तु संबन्धबलात् । न च तेषां बहिरर्थैः संबन्धोऽस्ति । विवक्षायां संबन्धेऽपि—न ये यथा यमर्थं विवक्षन्ति ते तथैव तमर्थं प्रतिपादयन्तीति, 'विसंवादनाभिप्रायाणाम[1]न्यथाभिधाय अन्यथा प्रवृत्तिदर्शनात् इति' कथं प्रेक्षावतां प्रवृत्त्यर्थमादिवाक्यमिति ? ।

§ ४. तत्रा[2]क्षेपपरिहारः । 'निष्फलमिदं[3] शास्त्रं काकदन्तपरीक्षावत् । अशक्या[4]नुष्ठानं वा ज्वरहरतक्षकचूडारत्नालङ्कारोपदेशवत् । अनभिमतं वा मातृविवाहोपदेशवत् । अतो वा शास्त्रात् लघुतर उपायः प्रमाणव्युत्पत्तेः । अनुपाय एव वा इदम्'—इत्यनर्थसंशयनिवृत्त्यर्थम्, अर्थसंशयोत्पादनार्थं प्रेक्षावताम[5]ादिवाक्यमिति । ते हि कृषीवला[6]दय इव अर्थसंशयात् प्रवर्तन्त इति ।

§ ५. एतदन्ये दूषयन्ति । युक्ता कृषीवलादीनाम् अवधृतबीजाबीजस्वभावानाम् उपायनिश्चये सति उपेये [7]संदेहेऽपि प्रवृत्तिरिति । अत्र तु उपायनिश्चयाभावात् कथं प्रवृत्तिरिति ? । साधकबाधकप्रमाणाभावादर्थसंशय[8]स्यानिवारितत्वात् । तथा, प्रमाणव्युत्पादकानां च शास्त्रान्तराणां दर्शनात्—'किं अस्य प्रमाणव्युत्पत्तिः प्रयोजनम्, उतान्यद्' इति प्राकप्रवर्तमानः संशयः केन विनिवार्येत[9] । तस्मात्—'प्रेक्षावतां प्रवृत्तिः प्रयोजनवत्तया व्याप्तेति निःप्रयोजनमिदं शास्त्रं नारब्धव्यम्' इति व्यापकानुपलब्ध्या प्रत्यवतिष्ठमानस्य परस्यासिद्धतोद्भावनम् अनेन क्रियत इति । न चैतद् वाच्यम्—अप्रमाणकेनानेन कथमेतदपि क्रियत इति । यतः अप्रमाणकेनैव वचसा परेण व्यापकानुपलब्धिरुपन्यस्ता । सा च वचनमात्रेणैवासिद्धोद्भाव्यत इति ।

§ ६. एतदप्यपरे दूषयन्ति । यतो यथाऽसिद्धसाधनमादाय वादी प्रत्यवतिष्ठमानो निगृह्यते तथाऽसद्दूषणवादी प्रतिवाद्यपीति । अथ अग्रे तस्यार्थस्य शास्त्रेण समर्थनात् न दोष इति । यद्येवं तर्हि आदिवाक्येन शास्त्रार्थः प्रतिज्ञायत इति युक्तम् ।

§ ७. एतदप्ययुक्तम् । यतः शास्त्रार्थोऽनेन किं प्रमाणभूतेन प्रतिज्ञायते, किंवाऽप्रमाणभूतेनेति ? । तत्र यदि प्रतिज्ञैव प्रमाणभूता सा[10]ध्यार्थं प्रतिपादयति, किमङ्ग हेतूपन्यासेन ? । अथ अप्रमाणभूता, तर्हि तदेव दूषणमिति । तस्मात् वचनस्य प्रत्यक्षादिवत् प्रमाणभूतत्वात् ततः प्रेक्षावतां फलार्थिनां युक्ता प्रवृत्तिरिति युक्तम् । अथ कस्यचिद्वाक्यस्य—'नद्यास्तीरे शर्कराशकटं पर्यस्तम्'—इत्यादि[11]कस्य मिथ्यारूपस्योपलब्धेः कथं प्रेक्षावतां ततः प्रवृत्तिरित्यभिधीयते; तर्हि मरुमरीचिकाजलोल्लेखिनो ज्ञानस्य मिथ्यात्वोपलब्धेः कथं प्रेक्षावतां प्रत्यक्षा[12]देरपि प्रवृत्तिरिति ? । अथ मिथ्येतरयोः संवादासंवादलक्षणो विशेषोऽस्तीत्युच्यते; अत्रापि आप्तप्रणीत[13]त्वानाप्तप्रणीतत्वलक्षणोऽस्तीति वक्ष्या[14]मः । नच शब्दानां संबन्धबलादर्थप्रतिपादकत्वम्, किन्तु विवक्षावशात् । सा च पुरुषसत्य[15]त्वासत्यत्वेन सत्येतरा भवन्ती शब्दानां स[16]त्यत्वासत्यत्वं ख्यापयतीति पुरुषप्रामाण्यमेव दर्पणसंक्रा[17]न्तं प्रतिबिम्बमिव शब्देष्वभिधीयत

---

१. विसंवादेनाभि° मु० । २. इति तत्राक्षेपपरिहारः अ० । ३. तत्र निष्फलमिदं ब० क० मु० । ४. असाध्यानु° मु० । ५. °तामादौ वाच्य° मु० । ६. कृषिवला° अ० ब० । ७. उपेयसंदे° क० मु० । ८. °स्य निवा° मु० क० । ९. विनिवार्यते अ० । १०. साध्यमर्थम् मु० क० । ११. इत्यादिवाक्यस्य अ० । १२. प्रत्यक्षादपि मु० । १३. °प्रणीतत्वाऽप्रणीतत्वलक्ष° क० मु० । १४. वक्षामः क० । १५. °सत्यासत्यत्वेन ब० । °सत्यासत्येन क० मु० । १६. सत्यतासत्यत्वं मु० क० । १७. संक्रान्तप्र° क० ।

इति । अथेष्टोऽयमर्थः शंक्येत ज्ञातुम् अतिशयो यदीत्यभिधीयते । एतत् पश्चात् प्रतिपादयिष्यामः ।

§ ८. हितोऽपि कालान्तरेण ज्वरितादेरिव दध्यादिकं यद्यप्यहितो भवति, तथापि इष्टत्वाद्धितः । अहितोऽप्येवम् । उपेक्षणीयोऽपि प्रमाणाविषयत्वात्, यदि वा अनुपादेयत्वात् सोऽप्यहित एव । तयोर्हिताहितयोः प्राप्ति-त्यागौ यतः प्रमाणनिबन्धनौ अतः तत् प्रकर्षेण—संख्या-लक्षण-गोचर-फलविप्रतिपत्तिनिराकरणरूपेण, स्वतः परतः प्रामाण्यलक्षणेन वा, प्रत्यक्ष-परोक्षरूपेण वा वक्ष्यामः ।

प्रथमकारिकार्थः

§ ९. नन्वतीत-वर्तमानयोरुपयुक्तफलत्वेन प्रवृत्त्यविषयत्वात्, भाविनस्त्वर्थक्रियाकारिणः [3]प्रमाणागोचरत्वात्, भाविनि प्रमाणाभावादिति । तत् कथं हिताहितयोः प्राप्ति-त्यागौ प्रमाणनिबन्धनाविति ? । नैष दोषः, अतीत[4]-वर्तमान-भविष्यतां कथञ्चिदेकत्वस्य प्रतिपादयिष्यमाणत्वादिति ।

§ १०. यदि वा हितो मोक्षः, अहितः संसारः, तयोः प्राप्ति-त्यागौ सर्वज्ञनिबन्धनौ, अतस्तमेव भगवन्तं प्रमाणभूतं प्रतिपादयिष्याम इति ।

§ ११. तत् किं स्वातन्त्र्येण ? । न इत्याह—सिद्धसेनार्कसूत्रितम्—इति । सिद्धसेन एव जगज्जन्तुमनोमोहसंततितामसीतमःसमूहापोहकारित्वात् अर्क इव अर्कः, तेन सूत्रितम् । तत्सूत्राणामतिगम्भीरार्थत्वात् किञ्चिल्लेशतो यथाबोधं व्याख्यास्यामः [१] ।

§ १. तदेवाह—प्रमाणम्—इत्यादि ।

प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम् ।
प्रत्यक्षं च परोक्षं च द्विधा मेयविनिश्चयात् ॥ २ ॥

—इति शास्त्रार्थसंग्रहः ॥

§ २. अथेदं सूत्रं—किं सकलमेव शास्त्रार्थं प्रतिपादयति, किं वा एकदेशमिति ? । न तावत् सकलम्, फलप्रमाणाभासतत्त्वाप्रतिपत्तेः । नाप्येकदेशम्, सकलप्रमाणलक्षणप्रतिपादनात्—इत्याशङ्क्याह—शास्त्रार्थसंग्रह इति । तथाहि—प्रमाणं सामान्यविशेषरूपतयाऽनेन संगृह्यत इति । स एव [5]च शास्त्रार्थ इति । संग्रहस्तु विस्तरविरोधीत्यन[6]न्वयेनाप्रतीतावपि न दोषः । यल्लक्षणं च यद् वस्तु येषां प्रतिपाद्यते तल्लक्षणविकलं तद् वस्तु तदाभासतया ते स्वयमेव प्रतिपद्यन्त इति किं प्रमाणाभासप्रतिपादनेनेति ? । निश्चयात्मकप्रमाणप्रतिपादनात् तद्रूपस्य फलस्य प्रतीतेः किं तदुपन्यासेन ? ।

शास्त्रार्थसंग्रह इति पदस्य तात्पर्यार्थः

§ ३. तत्र सूत्रपूर्वार्धेन प्रमाणसामान्यम्, उत्तरार्धेन तद्विशेषोऽभिहित इति समुदायार्थः । अवयवार्थं तु सकलमेव शास्त्रमभिधास्यतीति ।

§ ४. तत्र विधिवाक्ये लक्ष्यानुवादेन लक्षणं विधीयते । तदुत्तरकालं तु तत्र तत्र लक्ष-

---

१. शब्दे तज्ज्ञा° मु० । २. यदित्य° क० मु० । ३. °रिणः प्रमाणाभावादिति अ० । ४. अतीतानागतवर्तमानानां मु० । ५. एव शास्त्रा° मु० । ६. साकल्येन अ-द्वि० ।

णानुवादेन लक्ष्यमिति। तत्र प्रमाणम् इति लक्ष्यनिर्देशः । शेषं लक्षणमिति। नचैतद्वाच्यम्—तादात्म्यात् लक्षणासिद्धौ लक्ष्यस्याप्यसिद्धिः, तत्सिद्धौ वा तस्यापीति। यस्मात् यदेतत् प्रमाणशब्दवाच्यं वस्तु सर्वेषां[1] प्रसिद्धं, तदनुवादेन विप्रतिपत्त्याऽसिद्धं लक्षणं विधीयत इति। [२]

§ १. तत्र ज्ञानं प्रमाणम्, न सन्निकर्षादि। तदाह—सन्निकर्षादिकम्—इत्यादि

सन्निकर्षादिकं नैव प्रमाणं तदसंभवात्।
अवभासो व्यवसायो न तु ग्रहणमात्रकम् ॥ ३ ॥

§ २. तदसंभवादिति। तस्यैव सन्निकर्षस्यैवा[2]संभवात्। यदि वा तस्य प्रमाणत्वस्यासंभवात्।

सन्निहितवस्तुद्वयव्यतिरिक्तस्य सन्निकर्षस्य निषेधः।

तथाहि—न सन्निहितवस्तुद्वयव्यतिरिक्तः कश्चिद् दण्डायमानः संयोगः प्रत्यक्षेणोपलभ्यते। 'द्वयो[3]रङ्गुल्योरयं संयोगः' इति प्रतीतेः कथं नोपलभ्यत इति चेत्; 'तासामङ्गुलीनाम् अयं मुष्टिः' इति किं न प्रतीतिः ?। तत्रापि[4] संयोगविशेषो निमित्तमिति चेत्; न, 'संयोगविशेषः' इति स्यात्, न 'मुष्टिः' इति। न हि नीले 'पीतम्' इति प्रत्ययो भवति। अथ संकेतवशात् तथाप्रतीतिः। तर्हि पुरुषेच्छानिर्मितसंकेतवशात् प्रवर्तमाना एवंविधाः शब्दविकल्पा न किञ्चिद्वस्तुभूतं[5] निमित्तमवलम्बन्त इति नैतद्वशाद् वस्तुव्यवस्था विदुषामुपपन्नेति । अन्यथा 'इदं नगरम्' इत्यादिष्वपि निमित्तमभिधानीयम्। तत्र न तावत् नगरं द्रव्यम्, गृहैरसंयुक्तैर्विजातीयैश्च तस्यानारम्भात्। कतिपयगृहाणामस्ति संयोग इति चेत्; तत्[6] किं संयोगेष्वपि संयोगः ?। यतो गृहाण्यपि न द्रव्याणि, विजातीयैः काष्ठेष्टका[7]दिभिस्त[8]दनारम्भात् । सत्ता नगरमिति चेत्; किं नाटव्यां तत्प्रत्ययमुत्पादयति ?। गृहैर्विशेषितेति चेत्; न, कूटस्थनित्याया विशेषणाऽयोगात्। अकिञ्चित्करस्याविशेषणत्वात्। किञ्चित्करत्वे नित्यताहानेः। षण्णगरीत्यत्र च समूहार्थो वाच्यः। सत्ताया एकरूपत्वेन समूहार्थत्वानुपपत्तेः। सत्तां च निषेत्स्यामः। गृहाणां संयोगरूपाणां संयोगाभावात्, गुणैर्द्रव्यानारम्भाच्चेति न कश्चित् समूहार्थः[9]। तेनैवंविधाः प्रत्यया वस्तु व्यवस्थापयन्तीति न संयोगः प्रत्यक्षगम्यः।

§ ३. अथानुमानात् तत्प्रतीतिः। तथा हि—क्षिति-बीज-सलिलादयः सर्वे विरलदेशस्थाः अन्यनिमित्तापेक्षाः, सामर्थ्ये सति कार्यानुत्पादकत्वात्। यत्तत् सामर्थ्ये सति कार्यानुत्पादकम्, तत्तद् अन्यापेक्षं दृष्टम्। यथा त एव बीजादयोऽन्यतरविकला। नोत्पादयन्ति च समर्था अपि विरलदेशस्थाः सर्वे [10]बीजादयोऽङ्कुरमिति। तस्मादन्यनिमित्तापेक्षाः। यत् तन्निमित्तं स संयोग इति।

§ ४. ननु बीजादयो दूरदेशस्था अपि सहकारिणं किं न संयोगमुपपा(मुत्पा)दयन्ति ?। तस्याभावादिति चेत्। स किं न भवति ?। कारणाभावात्। किं तस्य कारणम् ?। त एव। किं

---

१. सर्वेषु मु०। २. °र्षस्याऽसंभ° ब० मु० क०। ३. तयोर° मु० ब० क०। ४. तत्रापि न संयो° क०। ५. °स्तुकृतनिमि° मु०। ६. तत्तु संयो° मु०। ७. काष्ठेष्टिका° अ० ब०। ८. तदारम्भात् मु० क०। ९. °हार्थः तेनैवंविधाः क० मु०। १०. सर्वे अङ्कुर° मु०।

न दूरस्थाः ?। संयोगाभावात्। तत् किं संयोगेऽपि संयोगः ?। तत्राप्यपर इत्यनवस्था। अथ योग्यदेशस्थाः संयोगमन्तरेणापि संयोगमुत्पादयन्ति। कार्येण किमेषामपराद्धं यत्तन्नोत्पादयन्ति ?।

§५. अपि च, किमेषां दूरस्थानां[1] कार्यानुत्पादकत्वं संयोगापेक्षया व्याप्तम्, प्रत्यक्षेण प्रतीयते, किं वाऽनुमानेन ?। न तावत् प्रत्यक्षेण, तेन तस्याप्रतीते[2]रित्युक्तम्। नाप्यनुमानेन, अनवस्थाप्रसंगात्। अथ निमित्तमात्रा[3]पेक्षया व्याप्तं प्रतीयते। तर्हि योग्यदेशादिविशिष्टं[4] ज्ञानसामर्थ्यमात्मपर्यायमपेक्षमाणास्ते कार्यं न कुर्वन्तीति, न पुनः संयोगमिति। तन्नास्ति कश्चित् सन्निकर्ष इति।

§६. भवतु वा, तथापि तस्य प्रमाणत्वं न संभवति। तथा हि–किमसौ स्वयमेव प्रमाणम्, किं[5] वा प्रमाणजननादिति। स्वयम[6]पि किं ज्ञातोऽर्थं ज्ञापयति, अज्ञातो वा ?। ज्ञातोऽपि किं प्रत्यक्षेण, किं वाऽनुमानेन ?। प्रत्यक्षेणापि किं सामान्यरूपतया, किं वा विशेषरूपतया ?। यदि सामान्यरूपतया; न प्रतिकर्मव्यवस्थां कुर्यात्। विशेषरूपतयाऽपि तज्ज्ञानं कर्मणि ज्ञाते स्यात्। नहि नीलाज्ञाने 'नीलस्यायं सन्निकर्षः' इति ज्ञानं भवति। नीलज्ञानं किं तत एव सन्निकर्षात्, अथान्यतः ?। यदि तत एव तदा इतरेतराश्रयत्वम्, नीले ज्ञाते तज्ज्ञानम्, तज्ज्ञाना[7]च्च नीलज्ञानमिति। अथान्यतः सन्निकर्षात्। तदा तदेव चोद्यम्, तदेवोत्तरमिति, अनवस्था च। अथान्यतः प्रमाणान्नीलज्ञानम्। तर्हि किमन्तर्गडुना तेन ?। तदर्थं हि स परि[8]कल्प्यत इति। किञ्च[9]। स्वसंवेदनप्रत्यक्षं नाभ्युपगम्यते। तत्परिज्ञानं पुनरन्येन्द्रियसन्निकर्षेण। तस्याप्यन्येनेत्यनवस्था। न च सन्निकर्षे सन्निकर्षो, निर्गुणा गुणा इत्यभ्युपगमात्।

सन्निकर्षप्रामाण्यनिषेधः।

§७. अथ संयुक्तसमवायात् तस्य ग्रहणम्। तथाहि–संयोगात् द्रव्यग्रहणम्। संयुक्तसमवायात् गुणग्रहणम्। संयुक्तसमवेतसमवायात् गुणत्वग्रहणम्। समवायात्[10] शब्दग्रहणम्। समवेतसमवायात् शब्दत्वग्रह[11]णम्। विशेषणविशेष्यभावात् अभावग्रहणमिति षोढा सन्निकर्ष इति।

§८. तदसत्। यतश्चक्षुर्नीलसन्निकर्षः किं स एव यः संयुक्तसमवायाद् गृह्यते, किं वा सन्निकर्षान्तरमिति ?। यदि स एव। तन्न। यतो न स्वयमेव स्वं ज्ञापयति, स्वसंवेदनप्रसङ्गात्। सन्निकर्षान्तर[12]कल्पनेऽनवस्था। तन्न प्रत्यक्षप्रतीतः सन्निकर्षः। अनुमानं तु तस्मिन् प्रागेव निरा[13]सीति न पुनरुच्यते। तन्न ज्ञातो ज्ञापयति।

§९. अज्ञातस्यार्थज्ञापकत्वे शशविषाणस्यापि प्रसंगः। असमवायात् न शशविषाणमिति चेत्; किं न रूपादि ?। अज्ञापकत्वान्नेति चेत्; न, तत्र समवाय एव सन्निकर्षस्यापि ज्ञाप-

---

१. दूरदेशस्थानां मु०। २. प्रतीतिरि° क० मु०। ३. निमित्तमात्रेण व्या° ब०। ४. °शिष्टं सामार्थ्यमात्रपर्या° मु०। ५. किं प्रमा° अ०। ६. स्वयमेव किं मु०। ७. °ज्ञानान्नील° अ० ब०। ८. परिकल्पत अ०। ९. किं वा स्व° मु० क०। १०. °याच्च शब्द° मु०। ११. °हणमिति। विशे° ब० मु० क०। १२. °न्तरपरिकल्प° क० मु०। १३. निरासीदिति क० मु०।

कत्वम् । तच्च रूपादेरप्यस्तीति । वस्तुस्वभावैरुत्तरं वाच्यमिति चेत्; तदेतत् पादप्रसारणमिति । तन्नाज्ञातस्यापि ज्ञापकत्वम् ।

§१०. अथ प्रमाणजननात् सन्निकर्षादिः प्रमाणम् । नन्वौपचारिकमिदं स्यात् । किञ्च, इदं लक्षणमतिव्यापकम्, अव्यापकं च स्यात् । तथाहि—आत्मनोऽपि प्रमाणजनकत्वात् प्रमाणत्वं स्यात् । ईश्वरस्य च इन्द्रियादिसन्निकर्षाभावात् प्रामाण्यं न स्यात् । अथ ईश्वरस्यापि ज्ञेयार्थैः सहास्ति सन्निकर्षः । कथमविद्यमानैरतीतानागतैरिति ? । मा भूदिति चेत्; कथमतीतानागतज्ञः ? । अथ नित्यं तस्य प्रमाणम् । तर्हि न सन्निकर्षस्तत्रेत्यव्यापकम् ।

§११. अथोत्सर्गोऽपवादेन प्रमातृत्वेन बाध्यत इति नातिव्याप्तिः । किं न प्रमेयत्वेन सन्निकर्षादौ ? । अपि च कारणत्वाविशेषेऽपि 'इदं प्रमाणम्' 'अयं प्रमाता' इति विशेषो वक्तव्यः । अथ यत्र प्रमाणं समवेतं स प्रमाता, तदितरत् प्रमाणमिति । नैतदस्ति । यतः समवायस्य व्यापित्व-नित्यत्वोपगमात् सर्वप्रमाणैः सर्वे प्रमातारः प्रसज्येरन् । समवायिविशेषाद् विशेषोपगमे नित्यत्वक्षतिः ।

§१२. न च कश्चित्समवायं प्रत्यक्षात् प्रतीमः । अनुमानतस्तत्प्रतीतिरिति चेत्—तथाहि—

समवायपदार्थस्य निषेधः ।

इहेतिप्रत्ययः संबन्धनिबन्धनः, अबाधितेहप्रत्ययत्वात् । यो योऽबाधितेहप्रत्ययः स स संबन्धनिबन्धनः, यथा 'इह कुण्डे दधि' इति प्रत्ययः । तथा च 'इह तन्तुषु पटः' इति प्रत्ययः । तस्मात् संबन्धनिबन्धन इति । 'इह ग्रामे वृक्षाः' इति भ्रान्तप्रत्ययनिवृत्त्यर्थमबाधितग्रहणम् । तथा सामान्येन संबन्धनिबन्धनत्वे साध्ये नाऽन्वयदोषः । सामर्थ्याच्च विशेषसिद्धिरिति । उक्तमत्र—एवंविधानां कल्पनाज्ञानानां वस्तुव्यवस्थापकत्वाभावादिति । न चासंबद्धलिङ्गादुदयतामनुमानानां प्रामाण्यमुपपत्तिमत् । अन्यथा, 'स श्यामः, तत्पुत्रत्वात्, परिदृश्यमानतत्पुत्रवद्' इत्यादीनां प्रामाण्यं स्यात् । बाधितत्वान्नेति चेत्; अत्र किं न बाधा ? । काऽसाविति चेत्; इयमेव तावद् यदनियमतो लिङ्गादुत्पत्तिरिति ।

§१३. तथा, अयुतसिद्धानामाधाराधेयभूतानां स व्यावर्ण्यत इति । तत्र अयुतसिद्धि(द्धिः) किं देशैकत्वेन, किम् एककालत्वेन, अथ स्वरूपैकत्वेनेति ? । तत्र न तावद्देशैकत्वेन । न हि य एव तन्तूनां देशः, स एव पटस्यापि । तथाहि—तन्तवः स्वारम्भकेष्वंशुषु स्थिताः, पटस्तु तेष्विति कथं देशैकत्वम् ? । आकाशैकत्वे सर्वेषामेकदेशत्वं स्यात् । न च तदेकदेशत्वेन एकदेशत्वम्, निर्देशत्वात् नभसः । कल्पितास्तस्य त इति चेत्; तत् किं कल्पनातो वस्तुव्यवस्था ? । तन्न प्रथमः पक्षः । नापि कालैकत्वेन । नहि य एव तन्तूनां कालः, स एव पटस्यापि, कार्यकारणभावाभावप्रसङ्गात् । कारणेन हि कार्यस्य समानकालत्वमन्यतः सिद्धस्य स्यात् । ततश्च किं सिद्धोपस्थायिना कारणेन ? । तन्न कालैकत्वेनाप्ययुतसिद्धिः । स्वरूपैकत्वे किं कुत्र समवैतु ? । तन्नायुतसिद्धिः ।

---

१. च तथाहि – अ० ब० । २. प्रामाण्यम् क० मु० । ३. °धितेहेतिप्रत्ययत्वात् क० मु० । ४. यथा मु० । ५. नानन्वयदोषः अ० । ६. °धानां कुकल्प° मु० । ७. चासंबन्धलि° अ० ब० क० । ८. त्वत्पुत्र° मु० क० । ९. °मानपुत्र° ब० क० । °मानत्वात्पुत्र° मु० । १०. यद्विनिय° मु० । ११. तदेकदेशदेशत्वेन मु० । १२. स्वरूपेणैकत्वे क० ।

§१४. आधाराधेयभावोऽप्यात्म-ज्ञानयोर्नोपपद्यते। यथा चाधाराधेयभावो नास्ति तथा नास्तिकनिराकृतावभिधास्यते[1]। यथा चाप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपतया नित्यः समवायोऽन्यो वा न संभवति तथा यथावसरं प्रतिपादयिष्यते। तन्न कश्चित्समवायः। तदभावात् नात्मनो विशेषः। तस्मात् प्रमाणजननात् सोऽपि प्रमाणं स्यात्, न वाऽन्यदपीति। तन्न सन्निकर्षः।

§१५. आदिग्रहणात् सामग्र्येकदेश[2]श्चक्षुरादिर्न[3] प्रमाणम्, किन्तु ज्ञानमिति।

§१६. अथ किमिदं ज्ञानस्य प्रामाण्यम्? । किम् अर्थग्रहणम्, उताग्रहीतार्थप्रापणम्[4],

प्रामाण्यविचारः

आहोस्विद् गृहीतार्थप्रापणमिति? । तत्रार्थग्रहणम्, अगृहीतार्थप्रापणं च मिथ्याज्ञानेऽप्यस्तीति तस्यापि प्रामाण्यं स्यात्। गृहीतार्थप्रापणं तु क्षणिकपर्यायवादिनो न संभवति। तथाहि–यः पर्यायो गृहीतः नासौ प्राप्यते। यस्तु प्राप्यते न स गृहीत इति। अथ वस्तुमात्रं गृहीतं प्राप्यते। तदपि 'सर्वमेकं कथञ्चित्' इति वादिनो मिथ्याज्ञानेऽप्यस्तीति तस्यापि प्रामाण्यं स्यादित्याशङ्क्याह–'अवभासो व्यवसायो न तु ग्रहणमात्रकम्' इति। तेन यद्यपि मरुमरीचिकानिकुरुम्बचुम्बि[5]ज्ञानम्[6] 'इदम्' इत्यंशेन मरीचिकास्वरूपमुल्लिखदुत्पद्यते, तथापि विपर्ययाक्रान्तत्वात् न प्रमाणमिति।

§१७. अथ कोऽयं व्यवसायः? । किमर्थग्रहणम्, उताग्रहणमिति? । यदि ग्रहणम्; तदा तदेव दूषणम्। अग्रहणे कथं प्रामाण्यमिति? । अत्रोच्यते। सदसद्व्यवहारजननसामर्थ्यं व्यवसायः। तथाहि–सदितिज्ञानाभिधानप्रवृत्तिलक्षणः सद्व्यवहारः। नास्तीत्यादिलक्षणश्च असद्व्यवहारः। तयोर्जननसामर्थ्यं व्यवसायं ब्रुवते। तेन मिथ्याज्ञाने तन्नास्तीति न तस्य प्रामाण्यमिति। [३]

§१. भवतु ज्ञानं प्रमाणम्। तत् पुनः केन वेद्यते? किं स्वयमेव, किं वा ज्ञानान्तरेणेति? । यदि ज्ञानान्तरेण; तदाऽभ्युपेतहानिः। अथ स्वयम्। तदपि नास्ति। यतः–

स्वसंवेदनवादः।

"यद्यर्थवेदनं ज्ञानमात्मनोऽपि प्रकल्प्यते।
सुशिक्षितो वटुः स्कन्धं समारोहतु दासवत्॥"

तथाहि–वेद्यतेऽनेनेति वेदनम्, वेद्यते तदिति वेद्यमिति विरुद्धयोः करणकर्मणोः कथमेकत्र सद्भाव इति? । कथमात्मानमात्मना आत्मा[7] वेत्तीति व्यपदेशः? । तस्मात् कल्पिताः क्रियाकारकव्यपदेशाः प्रवर्तमाना न वस्तु[8] विरुन्धन्ति[9]। अपि च–प्रमाणसिद्धे वस्तुनि को विरोधः? । एतदेवाह–

दीपवन्नोपपद्येत बाह्यवस्तुप्रकाशकम्।
अनात्मवेदने ज्ञाने जगदान्ध्यं प्रसज्यते॥ ४॥
प्रत्यक्षं च परोक्षं च ग्राहकं नोपपत्तिमत्।

---

१. नास्तिकमतनिरा° मु०। २. सामग्र्येकदे° अ० क० मु०। ३. °रादि प्रमा° ब०। नेतिशेषः–ब-ढि०। ४. उतार्थप्रापण° ब० क०। ५. °चिकासु उदकचुम्बि मु०। ६. चुम्बिविज्ञानं ब०। ७. °त्मना असौ वेत्ती° मु० क०। ८. वस्तुं वि° मु० क०। ९. वस्तु विरुन्धति अ०। वस्तु निरु° ब०।

§२. प्रदीपवदिति सजातीयानपेक्षत्वेन दृष्टान्तः । तथाहि – ज्ञानम् आत्मप्रकाशकम्, अर्थप्रकाशकत्वान्यथानुपपत्तेः प्रदीपवत् । एतमेव हेतुं विपर्यये बाधकप्रमाणेन समर्थयितुमाह – **नोपपद्येत** इत्यादि । आत्मानं वेदयतीति आत्मवेदनम्, न तथा । तस्मिन् सति न[1] किञ्चित् केनचित् विज्ञायेत इत्यन्धमूकं जगत् स्यात् । [४]

§३. इतश्चानात्मवेदनं ज्ञानं नाभ्युपगम्यते, प्रमाणेनाप्रतीतेः । तथाहि – यत् सदुपलम्भकप्रमाणगोचर[2]चारि न भवति, तत् सकलमेव न सद्व्यवहृतिपथमवतरति । यथा शशविषाणम् । नावतरति च सदुपलम्भकप्रमाणगोचरताम् आत्मव्यापारादिलक्षणं विज्ञानमिति । तथाहि – तद्ग्राहकं प्रत्यक्षं वा स्यात्, परोक्षं वा ? ।

§४. प्रत्यक्षमपि किम् इन्द्रियार्थसंप्रयोगजम्, आहोस्विद् आत्म-मनःसन्निकर्षसमुत्थम्, उत[3]श्चित् स्वसंवेदनं यदर्थोऽयमारम्भ इति ? । तत्र ज्ञानेनेन्द्रियस्य संनिकर्षाभावात्, अनभ्युपगमाच्च न प्रथमः पक्षः । नापि द्वितीयः, मनःसद्भावे प्रमाणाऽभावात् । न चाप्रमाणकं वस्तु विपश्चितः समाश्रयन्ते । न च युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिः तत्प्रमाणम्, तस्या अन्यथाप्यु[4]पपत्तेः । तथाहि – यस्मिन्नात्मा आभिमुख्यं प्रतिपद्यते तस्मिन् विज्ञानमुदेति, अन्यत्र नेति किं मनःपरिकल्पनया ? ।

§५. अथेदमाभिमुख्यं किम् आत्मनो व्यतिरिक्तम्, आहोस्विद् अव्यतिरिक्तमिति ? । तत्र यदि व्यतिरिक्तम्; तदा संज्ञामात्रं भिद्यते नार्थ इति । अथाव्यतिरिक्तम्; तदाऽऽत्मनः स्वरूपाप्रच्युतेः सर्वदा तदस्तीति सर्वदा सर्वविषयं[5] विज्ञानं स्यात् । नन्वात्मनो मनसा संयोगकर्तृत्वं किं भिन्नम्[6], अभिन्नं वेति ? । यदि भिन्नम्; नात्मनः कर्तृत्वम् । अथाभिन्नम्; तदा तदपि तत्स्वरूपवत् सर्वदाऽस्तीति सर्वदा संयोगः स्यात् । ततश्च सर्वदा ज्ञानोत्पत्तिरपि स्यादिति ।

§६. अथ शक्तेः कर्तृत्वम्, सा च सहकारिकारणवशात् कदाचिद्भवन्ती न दोषपोषं[7]मावहति । यद्येवं तर्हि कर्मणः सामर्थ्यादाभिमुख्यमात्मनः समुत्पद्यमानं क्रम[8]वर्तीं ज्ञानोत्पत्तिं विधास्यतीति किं मनःपरिकल्पनया ? । विधास्यते चायमर्थो "जीवांशात् कर्मनिर्मुक्तात्" [का० १८] इत्यत्रान्तरे । तन्नात्म-मनोजनितमपि प्रत्यक्षं ग्राहकमिति ।

§७. अपि च – तत् तस्य कारणं, कार्यम्, अनुभयं वा सत् ग्राहकं स्यात् ? । न तावत् कारणम्; तदानीं ग्राह्यस्याभावात् । नाप्यनुभयम्; असंबन्धात् । अथैकसामग्रीतस्तदुभयं ग्राह्यग्राहकरूपं समुत्पद्यत इति । तन्न, युगपज्ज्ञानोत्पत्त्यनभ्युपगमात् । किञ्च ज्ञानाविशेषेऽप्येकं ग्राह्यम्, अपरं ग्राहकमिति किंकृतोऽयं विशेषः ? । अथ कार्यम्; तदा तदपि ज्ञातम्, अज्ञातं वा ? । [अथाज्ञातम्; तन्न,] अज्ञातस्य ज्ञापकत्वाऽयोगात् । तदुक्तम् –

"अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिद्ध्यति" ।

अथ ज्ञातम्; तदपि यदि प्रत्यक्षान्तरेण, तदा किं ग्राह्येण किं वा ज्ञानान्तरेण ? । यदि

१. न केनचित् किञ्चित् ब० क० मु० । २. °चरतावतारि मु० । ३. उतस्वित् मु० क० । ४. °प्युत्पत्तेः अ० । ५. °विषयज्ञानं ब० । ६. भिन्नमथाभिन्नमिति ब० । ७. दोषमावहति क० मु० । ८. °मानं संभवन्तीं ज्ञानो° मु० ।

ग्राह्येण; तदा तस्य[1] ग्राहकत्वात् कार्यत्वम् । ततश्चाग्रे पातो द्वितीयस्य[2] । तस्याप्येवमिति काचपच्यं ज्ञानयोः स्यात् । तन्न ग्राह्येण । ज्ञानान्तरेणापि ग्रहणे तस्याप्यन्येनेत्यनवस्था । तन्न प्रत्यक्षं तद्ग्राहकम् ।

§८. नापि परोक्षम्; यतः तदपि किम् अर्थापत्तिः, उतानुमानमिति ? । तत्र न तावत् प्रथमः पक्षः, अर्थापत्तेरप्रमाणत्वात् । तथाहि – अर्थप्राकट्यादसावुत्पद्यते इत्यभ्युपगमः । तच्च तत्र किं नियतम्, अनियतम् वा ? । यद्यनियतम्; कथं नियमेन गमयेत् ? । अथ नियतम्; तदा नियमग्रहः किं तस्मिन्नेव धर्मिणि, किं वा धर्म्यन्तरे इति ? । यदि तस्मिन्नेव; तदा येनैव प्रमाणेन नियमग्रहः, तेनैव साध्यस्यैव साधितत्वात् किमर्थापत्त्या ? । अथ धर्म्यन्तरे; तदा अन्यत्र गृहीतप्रतिबन्धम् अन्यत्र गमयद[3]नुमानतां नातिक्रामति ।

§९. अपि च – अर्थापत्तिरपि किमर्थापत्त्या ज्ञायते, किं वा स्वसंवेदनेनेति ? । यदि स्वसंवेदनेन; तदा प्रथमे कः प्रद्वेषः ? । अथार्थापत्त्या; तदा किं तेनैव प्राकट्येनोत्थाप्यते, किं वाऽन्येन ? । यदि तेनैव; तदा किं युगपत्, किं वा क्रमेण ? । प्रथमपक्षे अभ्युपगमहानिः । अथ क्रमेण; त[4]दपि नास्ति, अननुभवात् । अथान्येन; तदा तदर्थापत्तावपि ज्ञानप्रभेऽपरिमितार्थापत्तिमाला प्रसज्येत । तन्नार्थापत्त्याऽपि ज्ञायत इति । निषेत्स्यते चार्थापत्तिस्तत्प्रस्ताव इति ।

§१०. अनुमानमपि न तद्व्यवस्थापकम्, यतस्तदपि गृहीतसंबन्धमेव प्रवर्तते । संबन्धग्रहस्तु किमन्वयमुखेन, किं वा व्यतिरेकमुखेण ? । न तावदन्वयमुखेन, यतः 'तद्भाव एव भावः' इति स प्रतीयते । तद्भावभावित्वं च किं प्रत्यक्षेण प्रतीयते, किं वाऽनुमानेन ? । न तावद् अत्यन्तपरोक्षे विज्ञाने प्रत्यक्षेण । नाप्यनुमानेन, अनवस्थाप्रसङ्गात् । व्यतिरेकमुखेणापि नास्ति, यतो विपक्षे हेतोरभावः किमभावप्रमाणेन प्रतीयते, आहोश्विदनुपलम्भेन ? । अभावप्रमाणाभावाद् न प्रथमः पक्षः । अनुपलम्भोऽपि किं दृश्यानुपलम्भः, किं वा अदृश्यानुपलम्भः ? । अन्त्य[5]स्य सत्यपि वस्तुनि भावाद् न व्यतिरेकसाधकत्वम् । दृश्यानुपलम्भमपि स्वभाव-कारण-व्यापकाद्यनुपलम्भभेदेन व्यावर्णयन्ति । तत्र दृश्यानुपलम्भो नादृश्ये ज्ञाने संभवति । नापि कार्यकारणभावः । स हि प्रत्यक्षानुपलम्भसाधक[6]ः कथं परोक्षे वस्तुनि स्यात् ? । व्याप्यव्यापकभावोऽपि प्रत्यक्षानुमानाभ्यां तस्य न प्रतीयते इत्युक्तम्[7], अतः कथं तत[8]स्त[9]दभाव इति । तन्न व्यतिरेकद्वारेणापि संबन्धनिश्चयः ।

§११. किञ्च, तल्लिङ्गम् अर्थः, चक्षुरादयो वा ? । अर्थोऽपि किं सामान्यरूपः, विशेषरूपो वा ? । सामान्यस्य ज्ञापकत्वे अतिप्रसङ्गः । विशेषोऽपि यदि प्राकट्यम्, आभिमुख्यम्; तदपि अर्थात् भिन्नम्, अभिन्नं वा ? । यदि भिन्नं स्वप्रकाशम्; तदा सिद्धं साध्यम्, कि[10]मनेन ? । अथाभिन्नम्; तदा स्वप्रकाशोऽर्थः प्र[11]सज्येत । एवं चक्षुरादिष्वपि वाच्यम् ।

---

१. तदस्य ब० । २. द्वितीयस्याप्ये° क० अ० ब० । ३. गमयेतानुमा° अ० । ४. एतदपि मु० क० । ५. अनुपलम्भमात्रस्य अ० ब० क० । ६. प्रत्यक्षानुपलम्भौ साधकौ यस्य इति विग्रहः कार्यः–सं० । ७. °कम् तत् कथं क० मु० । ८. अनुपलम्भात् अ-टि० । ९. विपक्षे हेतोरभावः अ-टि० । १०. किमन्येन क० मु० । ११. प्रसाध्येत अ० ब० ।

§ १२. किञ्च—इदमर्थशून्यं[1] विकल्पविज्ञानं केन ज्ञायते ? । न च तस्याननुभवः । नापि तद् बाह्यम्, अध्यात्मं परिस्पन्दात् । योऽपि कारकसंबन्धान्यथानुपपत्त्या व्यापारः परिकल्प्यते; सोऽपि न युक्तः, यतो यदि तेन[2] तेषां मीलनं क्रियते तदा तेषां सं[3] न स्यात्, पूर्वमेव सिद्धत्वात् । संबद्धानां यदि स स्यात्; तदा किं तेन ?, स्वयमेव संबन्धात् ।

§ १३. अपि च—स किं कारकजन्यः, अजन्यो वा ? । अजन्योऽपि[4] भावरूपः, अभावरूपो वा ? । अभावरूपत्वे न फलजनकत्वं स्यात् । भावोऽपि किं नित्यः, अनित्यो वा ? । नित्यत्वे न कदाचिद् अर्थाधिगतिविरतिः स्यात् । 'अजन्यश्च अनित्यश्च' इति व्याहतम् । जन्योऽपि किमेकक्षणस्थायी, किं वा कालान्तरस्थायी ? । प्रथमपक्षे क्षणादूर्ध्वं प्रतीतिविरतिः स्यात् । प्रतिक्षणमपरापरोत्पत्तौ न कदाचिद्विरमेत । अथ कालान्तरस्थायी; तदा "क्षणिका हि सा" [शाबर० पृ० ३२] इत्य[5]भ्युपेतहानिः ।

§ १४. अपि च—असौ क्रियारूपः, अक्रियारूपो वा ? । सो[6]ऽपि किं परिस्पन्दरूपा[7], अपरिस्पन्दरूपा[8] वा ? । परिस्पन्दात्मिका नास्पन्दस्यात्मनः स्यात् । यदर्थः प्रयासः स एव[9] त्यक्तः स्यात् । अपरिस्पन्दः किं परिस्पन्दाभावः, किं वा वस्त्वन्तरमिति ? । अभावस्य जनकत्वविरोधादित्युक्तम् । वस्त्वन्तरमपि किं चिद्रूपः, किं वा जडः ? । चिद्रूपोऽपि किं धर्मी, किं वा धर्मः ? । यदि धर्मी; न प्रमाणं स्यात्, आत्मवत् । अथ धर्मो यदि आत्मनोऽभिन्नः; न प्रमाणम् । भिन्नोऽपि असंबन्धात् न तस्य । 'तत्कार्यत्वात् तस्य' इति चेत्, तत्कर्तृत्वं यदि व्यापारान्तरेण; तदा अनवस्था । निर्व्यापारस्य[10] कार्यकर्तृत्वे; किं तेन ? । जडोऽपि यदि धर्मी; लोष्टवत् न किञ्चित् । अथ धर्मः; तदाऽऽत्मनः कथं जडो धर्मः ? ।

§ १५. अपि च—व्यापारेण फलं यदि व्यापारवता जन्यते; तदा अनवस्था । अव्यापार[11]पक्षे प्रथमेनापि तेन किम् ? । अथ व्यापारस्य[12] तद्रूपत्वाद् न तदन्तरमिति चेत्, किमिदं तद्रूपत्वम्—किं[13] पराश्रितत्वम्, किं वा परजन्यत्वम् ? । संयोग-समवायनिराकरणेन आश्रितत्वानुपपत्तेः । जन्यत्वमपि अविचलितानुत्पन्नस्थिरैकरूपेणात्मना क्रमाऽक्रमाभ्यां नोपपद्यत इति न व्यापारः कश्चित् । तन्न परोक्षं ज्ञानं प्रमाणमिति ।

§ १६. किञ्च—

अनात्मविदि विज्ञाने तादात्म्यात् सुखदुःखयोः ।
वेदनं नोपपद्येत न स्यातां प्रीतितापने ॥ १ ॥
एकार्थसमवायस्य पूर्वमेव निराकृतेः ।
नैषामज्ञानरूपत्वं एकहेतुसमुद्भवात् ॥ २ ॥

§ १७. उक्तं च—

"तदतद्रूपिणो भावास्तदतद्रूपहेतुजाः ।
तत्सुखादि किम[14]ज्ञानं विज्ञानाभिन्नहेतुजम् ॥" [प्रमाणवा० २.२५१.]

---

१. °शून्यविक° ब० । २. यदि तेषां मु० क० । ३. तेषां संबन्धः स्यात् मु० । ४. अजन्यो भाव° क० मु० । ५. °भ्युपगतहानिः ब० । ६. सोऽपि मु० । ७. °रूपोऽप° मु० । ८. रूपो वा मु० । ९. एवं प्रत्युक्तः मु० । १०. °रस्याकार्य° क० मु० । ११. अव्यापारवता जन्यते पक्षे प्रथ° ब० । १२. °रस्यातद्रूप° क० । १३. °त्वम् परा° अ० । १४. °दिकमज्ञा° क० मु० ।

"अविशेषेपि बाह्यस्य विशेषात् प्रीतितापयोः।
भावनाया विशेषेण नार्थरूपाः सुखादयः॥
प्रज्ञादिवद्विशिष्यन्ते भावनाबलभावतः।
नार्थेन जनिताकारो बुद्धौ भोगस्तदात्मनः॥
नियतविषयत्वेन ज्ञानाकारो निवर्तितः।
अर्थान्वयातिरेकेण व्याप्तो[1] नीलादिभासवत्॥
भिन्नाभः सितदुःखादिरभिन्ने[2] बुद्धिवेदने।
अभिन्नाभे विभिन्ने चेद्भेदाभेदौ किमाश्रयौ॥
नानात्वैकत्वलोपः[3] स्यादेवं सति जगत्त्रये।
तस्मादन्तर्भवा एते चेतनाश्चेति साधितम्॥"

ततः[4] स्थितमेतत् स्वसंवेदनं विज्ञानमिति॥ [५[5]]

§ १. अथ प्रमाणात् प्रवर्तमानाः किं निश्चितप्रामाण्यात् प्रवर्तन्ते, किं वाऽनिश्चितप्रामाण्यादिति ?। यदि[6] अनिश्चितप्रामाण्यात् किं प्रमाणपरीक्षया ?। अथ निश्चितप्रामाण्यात्; तन्निश्चयः किं संवादज्ञानात्, किं वा कारणगुणज्ञानाद्विति ?। प्रथमपक्षे संवादज्ञानं [7]किं सहकारिकारणं सत् तन्निश्चयमुत्पादयति, किं वा ग्राहकं[8] सदिति ?। यदि सहकारिकारणम्; तन्नोपपद्यते, भिन्नकालत्वात्। ग्राहकमपि किं प्रत्यक्षं सत्, किं वा लिङ्गभूतमिति ?। न तावत् प्रत्यक्षं सत्, प्रवर्तकस्य सुदूरं नष्टत्वात्। अपि च–इन्द्रियजं प्रत्यक्षं ज्ञानान्तरस्वरूपमपि[9] न प्रतिपद्यते। कुत एव तत्प्रामाण्यमिति ?। लिङ्गभूतमपि नास्ति, यतो लिङ्गं गृहीतसंबन्धं ज्ञापयति। संबन्धग्रहो[10] न ताभ्याम्, परस्परस्याग्रहणात्। नापि ज्ञानान्तरेण तत्स्वरूपाग्रहणादेव।

प्रामाण्यनिश्चयोपायचर्चा।

§ २. अथानादित्वात् संसारस्य संवादकज्ञाननिबन्धनं प्रवर्तकस्य प्रामाण्यमनेकशो विनिश्चित्य संदेहभाजि प्रवर्तकज्ञाने संवादकज्ञानात् निश्चय इति। ननु अत्र चक्रकं[11] दूषणम्। तथाहि–निश्चितप्रामाण्यात् प्रवृत्तिः। प्रवृत्तौ संवादज्ञानम्। ततः प्रामाण्यनिश्चय इति।

§ ३. किञ्च–अनादौ संसारे निरात्मवादिनः(ना) केन संबन्धो गृह्यते ?। अथ अस्त्यनन्तवासनाऽऽलयभूतम् आलयविज्ञानं रागादिबाह्याहङ्कारास्पदभूतम्, तेनेति। ननु निरन्वयक्षणिकविनाशे भेदाविशेषात् विभिन्नसंतानवासनासंक्रान्तिरपि कस्मान्न भवति ?। अथ

"यस्मिन्नेव हि संताने आहिता कर्मवासना।
फलं तत्रैव संधत्ते कर्पासे रक्तता यथा॥"

इत्यभिधीयते। न, संतानिव्यतिरिक्तस्य संतानस्याभावात्। अथ अस्ति कार्यकारणप्रवाह[12]रूपः संतानः। न, कार्यकारणभावस्य निरन्वयक्षणिकपक्षे निषेत्स्यमानत्वादिति।

§ ४. किञ्च–[13]संवादज्ञानमपि यदि संवादज्ञानापेक्षया प्रमाणम्। तदा[14] तदपि तदन्यापेक्षयेत्यनवस्था। अथ स्वतः; तदा पूर्वमपि तथैवास्तु, किं संवादज्ञानेन ?।

---

१. व्याप्ता मु० क०। २. °रभिन्नो° अ० ब०। ३. °कल्पयोर्यः स्या° मु०। ४. तत् मु०। ५. °दनं ज्ञान° मु० क०। ६. यदि निश्चित° अ०। ७. °ज्ञानं सह° मु०। ८. ग्रहणं मु० क०। ९. ज्ञानान्तरे स्व° मु०। १०. °ग्रहोऽपि न मु० क०। ११. चक्रकदू° ब०। १२. कार्यकारणरूपः अ०। १३. किञ्च संवादज्ञानापेक्षया अ०। १४. णम् तदपि अ०।

§५. अथ प्रेक्षापूर्वकारिणः[1] प्रयोजनमुद्दिश्य प्रवर्तमाना अर्थक्रियायां सिद्धायां निष्पन्नप्रयोजना न तत्प्रामाण्यपरीक्षायां मनः प्रणिदधति । अन्यथा अन्यस्यापि[2] यत् प्रामाण्यकारि तत् स्वतः कथं न प्रमाणमिति । नैतदस्ति । यतो यथा ते प्रेक्षावत्तया प्रवर्तकं विचारयन्ति, तथाऽर्थक्रियाज्ञानमपि । तथाहि—इदमर्थक्रियाज्ञानं किं स्वप्नदशायामिवासत्यम्, उत सत्यमिति ? । अथ[3] तस्य बाधितत्वेनैव असत्यत्वम् । तथाहि—प्रबोधानन्तरमेव शरीरवस्त्रादेरतिम्यदवस्थामुपलभमाना[4]: 'धिग् मिथ्येदं जलार्थक्रियाज्ञानम्' इति निश्चिन्वन्ति । जाग्रदवस्थायां तु सर्वदैवाबाधितमर्थक्रियाज्ञानमनुभवन्तो न साशङ्का इति न प्रमाणान्तरमपेक्षन्त इति नानवस्था । तर्हि अबाधितत्वेनैव प्रामाण्यनिश्चयः[5] ।

§६. किञ्च—तत् संवादकज्ञानं किम् एकसंतानम्, भिन्नसन्तानं वा ? । तदपि किम् एककालम्, भिन्नकालं वा ? । तदपि किं समानजातीयम्, उत भिन्नजातीयम् ? । समानजातीयमपि किम् एकविषयम्, आहोस्विद् भिन्नविषयम् ।

§७. तत्र एकसन्तानवर्ति समानकालं समानजातीयं समानविषयं[6], भिन्नविषयं वा विज्ञानद्वयं युगपन्नोपपद्यते । भिन्नकालं तु तत् तैमिरिकचन्द्रद्वय[7]दर्शनेन व्यभिचारि । तैमिरिकस्य पुनः पुनस्तज्ज्ञानमुत्पद्यत एव । किञ्च—एकविषयत्वे यथा प्राक्तनं[8] विज्ञानमप्रमाणं तथा तदुत्तरकालभाव्यपि तस्मिन्नेव विषये प्रवर्तमानम् अप्रमाणं स्यात् । प्राक्तनस्य प्रामाण्ये तदभिन्नविषयत्वाद् अधिकं किञ्चिद् अपरिच्छिन्दद् गृहीतग्राहित्वेन अप्रमाणं[9] स्यात् । न चाप्रमाणेन प्रामाण्य[10]निश्चयो युक्तः । भिन्नकालस्य तु[11] भिन्नविषयस्य रूपादिविज्ञानस्य संवादकत्वे मरीचिकाजलज्ञानस्यापि तदुत्तरकालभावि मरीचिकारूपग्राहि दर्शनं संवादकं; स्यात् । भिन्नजातीयं त्वेकसंतानवर्ति समानकालं भिन्नकालं वा यदि संवादकं; तदा मिथ्यादर्शनस्यापि विभिन्नवस्तुस्पर्शादिविज्ञानं संवादि स्यात् । एकविषयत्वे सतीति चेत्; कथं रूपस्पर्शादिविज्ञानानामेकविषयत्वम् ? । न चैकं[12] द्रव्यमभ्युपगम्यत इति । भिन्नसंतानं तु समानजातीयं भिन्नविषयम्, एककालम्, भिन्नकालं वा यदि संवादकं स्यात्; तदा मिथ्याज्ञानस्याऽपि तथा भवेत् । एकविषयत्वं तु तत्स्वरूपापरिज्ञाने तत्कर्मताऽप्रतिपत्तौ तयोर्नोपपद्यते । अथ तुल्याभिधानप्रवृत्तिदर्शनात् तयोरेकविषयत्वं प्रतीयते । ननु तैमिरिकद्वय[13]द्विचन्द्रदर्शनेऽप्येतदस्तीति तयोरपि परस्परस्य संवादकत्वेन प्रामाण्यं स्यात् । अथ तत्र बाधकोपलब्ध्येनै[14]तदेवमित्युच्यते । तर्हि तदेव प्रामाण्यनिबन्धनम्, न संवादकज्ञानमिति ।

§८. अथ कारणगुणज्ञानम् । तत् किं प्रत्यक्षम्, उत अनुमानमिति ? । न तावत् प्रत्यक्षम्, इन्द्रियाणां परोक्षत्वात् । न हि धर्मिणः[15] परोक्षत्वे तद्धर्माणां प्रत्यक्षत्वं दृष्टम् । कथं बुद्ध्यादीनामिति चेत्; न, तेषामपि परोक्षत्वात् । येषां तु तत्प्रत्यक्षत्वं तेषामात्मनोऽपि । अन्येषां बुद्ध्यतिरेकिणोऽभाव एव । अपरेषां कथञ्चिदभेदाद् तद्ग्रहण एव तेषां ग्रहणमिति

१. प्रेक्षाकारिणः ब० मु० क० । २. अन्यच्चान्यस्यापि मु० क० । ३. अथैतस्य ब० । ४. °मानाः भिन्नमेवेदं मु० । ५. नैव निश्चयः अ० मु० । ६. °विषयं वा भिन्न° मु० क० । ७. °द्वयदर्शिदर्शनेन ब० । °द्वयदर्शितदर्शनेन मु० क० । ८. प्राक्तनवि° अ० मु० क० । ९. अप्रामाण्यं स्यात् अ० ब० । १०. प्रामाण्येऽनि° मु० । ११. °स्य भिन्न° मु० क० । १२. चैकद्रव्य° अ० । १३. °द्वये द्विचन्द्र° अ० । १४. बाधकोपपत्तेनैत° मु० । १५. धर्मिपरो° अ० ब० क० ।

न व्यभिचारः। अथ अनुमानम्। तदपि प्रतिबन्धबलाद् उदयमासादयति। प्रतिबन्धग्रहश्च न तावत् प्रत्यक्षेण—

"द्विष्ठसंबन्धसंवित्तिः नैकरूपप्रवेदनात्।"

इति। अनुमानेन प्रतिबन्धग्रहणे अनवस्था, इतरेतराश्रयत्वं वा स्यात्। लिङ्गमपि नानुपलब्धिः, तस्याः अभावसाधनत्वात्। स्वभावहेतुरपि दृश्ये व्यवहारमात्रसाधनफलः। कार्यमपि यदि प्रामाण्यनिश्चयः तदेतरेतराश्रयत्वम्।

§९. न च नैर्मल्यादयो गुणाः दोषाभावव्यतिरेकिणः केचित्। भावेऽपि च[1] तद्ग्राहिज्ञानं तदन्यकारणगुणज्ञानापेक्षम्। तदपि तदन्यापेक्षमिति अनवस्था स्यात्। तन्न कारणगुणज्ञानापेक्षोऽपि प्रामाण्यनिश्चय इत्याशङ्क्याह—बाधनेत्यादि—

बाधनात् संशयाद्यासे सूक्तं सामान्यलक्षणम्॥ ५॥

§१०. बाधनं बाधितत्वम्, तस्मात्। संशयश्च। आदिग्रहणात् विपर्ययश्च। तस्य असनं क्षेपणम् आसः। तस्मिन् सति प्रामाण्यं निश्चीयत इति।

बाध्यविषयकपूर्वपक्षे ख्यातिविचारः।

§११. ननु किं बाध्यम्, किं वा बाधकम्, कश्च तदभाव इति?। बाध्यम् मिथ्यात्वमिति चेत्; किमिदं मिथ्यात्वम्?। वैपरीत्यमिति चेत्; कस्य वैपरीत्यम्?, किं ख्यातेः; ख्यायमानस्य वा?। तदपि तयोः किम् अभावः, किं वाऽन्यरूपाविनाऽवभासनम्?। अभावोऽपि किम् अवभासकाले, कालान्तरे वा?। न तावद्[2] अवभासकाले, तदानीमेव अवभासमानत्वात्। कालान्तरे चेत्; क्षणिकत्वात् सर्वख्यातीनां वैपरीत्यप्रसङ्गः। अर्थक्रियाऽभावाद् अभाव इति चेत्; कथमन्यस्याभावे अन्यस्याभावोऽतिप्रसंगात्?। तदानीं च सर्वस्यार्थक्रियाविरहोऽस्तीति तथाभावः स्यात्। कालान्तरे तदभावो नासत्तां ख्यापयति, अतिप्रसंगात्।

§१२. रूपा[3]दिवैपरीत्यं च केन प्रतीयते? किं पूर्वज्ञानेन, किं वा तेनैव, आहोस्विद् उत्तरकालभाविनेति?। पूर्वज्ञानेन किं बाध्यकालाविस्थेन, स्वकालाविस्थेन वा?। न तावत् पूर्वपक्षः[4], तदानीं तस्याविद्यमानत्वात्। नापि द्वितीयः, तत्काले मिथ्याज्ञानस्याभावात्, प्रमाणाभावेन विषयैक्य[5]स्याभावाद् न तथाप्रतीतिरिति। अथ तेनैवात्मनोऽन्य[6]देशतया प्रतीयते। तत् किं सा तस्मिन् काले अस्ति, किं वा नास्ति?। यद्यस्ति; कथं वैपरीत्यम्?। अथ नास्ति; कथं विपरीतख्यातिः?। तथा सत्यसत्ख्यातिः स्यात्। उत्तरकालभावि च चिरविनष्टस्य कथं तथात्वं प्रतिपद्यते?। किञ्च—बाधकम् 'असत्' इति प्रत्येति न वैपरीत्यमिति। तन्न विपरीतख्यातिः।

§१३. अथ स्मृतेः प्रमोषः तथाहि—नागृहीतरजतस्य शुक्ति[7]काशकलावलोकनेऽपि 'इदं रजतम्' इति प्रतिभासो भवति। किन्तु गृहीतरजतस्य तदनुभवाहितसंस्कारस्य चाकचिक्यसाम्यापहृतचेतसः शुक्ति[8]काखण्डदर्शनप्रबोधितस्मृतिबीजस्य तत्र 'अनेन सदृशं रजतम्'

---

१. °पि वा तद्ग्रा° ब० क० मु०। २. तावत् तदानीमेव ब० अ० क०। ३. रूपवैप° मु०। ४. पूर्वः पक्षः मु० क०। ५. विषयैक्याभा° ब० क०। ६. °नोऽन्यादेश° ब० अ०। ७. शुक्तिकावलो° मु०। ८. शुक्तिखण्ड° क० मु०।

इति स्मरणं नोत्पादि, किन्तु 'इदमेव रजतम्' इति दर्शन-स्मरणयोस्तद्विषययोश्चैकत्वप्रतिपत्तिः तत्प्रमोषः ।

§ १४. ननु किं दर्शनविषयस्य स्मृतिविषये आरोपः, किं वा स्मृतेः दर्शनविषय इति ? । तत्र प्रथमपक्षे यत्र यद् आरोप्यते तत्र तत्प्रतिभासो भवति । यथा मरीचिकासु जलमारोप्यमाणं मरीचिकादेशे चैकास्ति[1] । ततः स्मर्यमाणदेशे शुक्तिप्रतिभासः स्यात्, नेदंतया रजतस्येति । द्वितीयेऽपि पक्षे स्मर्यमाणस्य अस्पष्टत्वात् परोक्षत्वाद् 'इदम्' इति दर्शनं कथं स्पष्टतयाऽपरोक्षतया प्रतिभासेत ? ।

§ १५. किञ्च—तयोरैक्यं केन प्रतीयते ? । किं ताभ्यामेव, अथान्येन ? । तत्र अस्वसंवेदनाभ्यां दर्शनस्मरणाभ्याम् आत्मापि[2] न प्रतीयते, कुत एव अन्येन स्वैक्यमिति[3] ? । स्वसंवेदनाभ्यामपि स्वात्मनिमग्नाभ्यां[4] न द्वयस्यैक्यप्रतीतिः । अपि च—यदि द्वयं वेद्यते, कथमैक्यम् ?; अथ न वेद्यते; कथमैक्यम् ? । अथ पूर्वं द्वयं प्रतीत्य तदेवैकत्वेन प्रत्येति । न, संवेदनस्य क्षणिकत्वेन एतावन्तं कालमनवस्थानात् । तत्तादात्म्येन च स्वसंवेदनमपि[5] विभिन्नमिति कथं पूर्वापरयोरैक्यं प्रतिपद्येत ? । भ्रान्तत्वात् तथाप्रत्येति[6] इति चेत्; न, आत्मख्यातित्वप्रसङ्गात् । तत्र च वक्ष्यामः । अथ अन्यत् । तच्च पूर्वदर्शनाहितसंस्कारस्य[7] उत्तरदर्शनप्रबोधितस्मृतिबीजस्य विकल्पकं विज्ञानं तयोरसन्तमभेदं ख्यापयति । तर्हि असत्ख्यातिः स्यात्, न स्मृतिप्रमोष इति । तन्न स्मृतिप्रमोषोऽपि मिथ्यात्वम् ।

§ १६. अलौकिकत्वमिति चेत्; किमिदं अलौकिकत्वम् ? । किम् अन्यरूपत्वम्, अथ अन्यक्रियाकारित्वम्[8], किं वा अन्यकारणजन्यत्वम्, आहोस्विदजन्यत्वमिति ? । तत्र न तावद् अन्यरूपत्वम् । यदेव हि सत्यस्य रूपं प्रतिभाति, तदेवासत्याभिमतस्यापि । न चान्यक्रियाकारित्वम्, अदर्शनात् । अन्यजन्यत्वे; सर्वत्र नियमो न स्यात् । लौकिकेष्वेव स इति चेत्, इतरेतराश्रयत्वम्[9] । सत्यनियमेऽलौकिकत्वम्, सति अलौकिकत्वेऽनियम इति । अजन्यत्वे; नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा भवेत् । ततश्च सत्यज्ञानविषयोऽपि स्यात् । तन्नालौकिकत्वमिति ।

§ १७. आत्मख्यातिरिति चेत्; तत्किं परं ब्रह्म, आहोस्विद् विज्ञानमिति ? । तत्र यदि तद् अद्वयं; तदा द्वयदर्शननिबन्धना कथं तत्र[10] भ्रान्तिः ? । अन्तरुपप्लवादिति[11] चेत्; तत्रापि यदि स्वरूपप्रतिभासः कथं भ्रान्तिः ? । अथ अन्यरूपप्रतिभासः; कथमात्मख्यातिः ? । अथ आत्मरूपस्यैव भ्रान्त्या अन्यरूपत्वेन अवभासनम् । ननु इतरेतराश्रयत्वम् । तथाहि—अन्यस्वरूपमवभासन्ती[12][13] भ्रान्तिः, भ्रान्त्याऽन्यरूपावभासनमिति ।

§ १८. अथ अविद्यया भ्रान्तं वेदनं जन्यते । कथं नित्यत्वं ब्रह्मणः ? । न च तद्व्यतिरेकेण तदस्ति, ग्राह्यग्राहकाकारयोरनात्मरूपत्वात् । आत्मरूपत्वे वा तयोरपि सत्यत्वम्, आत्मनो वाऽसत्यत्वमिति । अथ संवेदनमात्रं सत्यमात्मनो रूपम् । तथाप्रतिभासस्त्वविद्यावशादिति ।

---

१. °शेऽवभासते मु० । २. स्वरूप[म्] अ-टि० । ३. अन्येन स्वात्मैक्यम् मु० । ४. स्वात्मनि निमग्ना° अ० ब० । ५. च संवेदन ब० क० मु० । ६. °त्येति चेत् क० मु० । ७. अन्यस्य अ-टि० । ८. °रित्वमिति, किं अ० मु० । ९. °यत्वमिति सत्य° अ० । १०. तत्र मु० । ११. अतद्रूपभ्रमादिति मु० । १२. अन्यरूपमव° मु० ब० । १३. °मवभासयन्ती क० । °मवभासयतीति भ्रा° मु० ।

ननु सा अविद्या[1] किम् आत्मरूपम्, अथान्यदेव किञ्चित् ? । यद्यात्मरूपम्; कथमविद्या ? । अथान्यत्; कथमद्वैतम् ? ।

§१९. अथ भेदे प्रमाणाभावात् तथाप्रतिभासो भ्रान्तिरिति । तथाहि—भेदो वस्तुतः किं भिन्नः, किं वा अभिन्नः ? । यद्यभिन्नः; न भेदः । अथ भिन्नः । स किं प्रत्यक्षेण[2] प्रतीयते, अथानुमानेन ? । प्रत्यक्षेणापि किं तद्वस्तुग्राहिणा, उतान्येन ? । यदि तद्वस्तुग्राहिणा; तदा किं तस्मिन्नेव काले, कालान्तरे वा ? । न तावत् तस्मिन्नेव काले, द्वयोः प्रतिभासाभावात् । कालान्तरे प्रत्यक्षस्यैव नष्टत्वात् न तेन भेदग्रहः । अन्यस्य तु तदानीमननुभवात् । अनुमानमपि न प्रत्यक्षाभावे भेदग्राहि । किञ्च—भेदस्यापि वस्तुनोऽन्यो भेदः । तत्राप्यन्य इत्यनन्तभेदावभासः स्यात् । न चास्तावस्ति ।

§२०. इत्यादिपरविकल्पितं गजविकल्पायते । यतो भेद एव प्रत्यक्षे प्रतिभासते । तथाहि—ग्राहकाकारमहंकारास्पदमूतम्, नीलादिकं च ग्राह्याकारं मुक्त्वा नान्यैत्[3] संवेदनमात्रं प्रतिभाति । केवलमद्वैतवादी तदाशया उत्स्वप्नायत इति । अपि च—अयमभेदः किं वस्तुनो भिन्नः, किं वाऽभिन्नः ? । यद्यभिन्नः तदा नाऽभेदः । अथ भिन्नः; स किं प्रत्यक्षेण प्रतीयते, किं वाऽनुमानेन ? । प्रत्यक्षेणापि किं वस्तुग्राहिणा, उतान्येन ? । वस्तुग्राहिणापि किं युगपत्, क्रमेण वा ? । न तावद् युगपत्, द्वयप्रतीतेरयोगात् । प्रतीतौ वा[4] लुंठितोऽभेदः[5] । नापि क्रमेण, क्षणिकत्वात् । न चान्यत् प्रतिभाति । प्रत्यक्षाभावादनुमानमपि नास्ति । अथ वस्तुनो ग्रहणे तदभिन्नस्य[6] अभेदस्यापि ग्रहणमिति । भेदस्यापि तथाग्रहणं किं न भवति ? ।

§२१. किञ्च—अभेदो नाम अद्वि(नाम द्वि)[7]तीयापेक्षः । तदग्रहे कथं ग्रहणमस्य ? । नहि यथा नीलग्राहि ज्ञानम् 'यदेवं न भवति तदतोऽन्यद्' इति व्यवस्थापयति, तथा[8] 'पीताद्यनेनाऽभिन्नम्' इति शक्नोति[9] । नहि पीताद्यप्रतिभासने तेन सहैकत्वप्रतिभासो युक्तः । भेदोऽपि कथम् भिद्यमानाप्रतिभास इति चेत्; तत् किं नीलस्यापि नास्ति[10] प्रतिभासः ? । अस्तीति चेत्; यद्येवं तत् किं पीतादि तत्र[11] भासते ? । नेति चेत्; तत्कथं न भेदप्रति[12]भासः ? । न चैवं द्वितीयाप्रतिभासने तेन सहैक्यमिति प्रतिभासो[13] युक्तिमानिति । प्रतिपादयिष्यते चाध्यक्षग्राह्यत्वं भेदस्य अभावप्रमाणनिराकृताविति । तस्मात्सत्ख्यातिरपि[14] ।

§२२. बाधकमपि किम् अनुपलब्धिः, आहोस्विद् ज्ञानमिति ? । अनुपलब्धिरपि किं तस्मिन्नेव काले कालान्तरे वा ? । तत्र तस्मिन्नेव काले मिथ्याज्ञानेऽपि ज्ञानज्ञेययोरनुपलब्धिर्नास्तीति तदपि अबाध्यं स्यात् । उत्तरकालं तु सत्यविज्ञानेऽपि संदिग्धोऽनुपलब्धिः[15] । प्रवृत्तौ तन्निश्चये चक्रकमितरेतराश्रयत्वं चाऽभाणि[16] ।

बाधकविषयकः पूर्वपक्षः ।

§२३. अथ ज्ञानम् । तत्किम् समानजातीयम्, उत भिन्नजातीयम् ? । समानजातीय-

---

१. अविद्या आत्म° मु० क० । २. प्रत्यक्षेण किं क० मु० । ३. नान्यसंवे° अ० ब० । ४. प्रतीतौ च क० । ५. लुठितोऽभेदः अ० ब० क० । ६. तदभिन्नस्य तस्यापि प्र° ब० । ७. नाम द्वितीयः पक्षः मु० क० । ८. तदा क० मु० । ९. इति प्राप्नोति मु० । १०. °स्यापि प्रति° क० मु० । ११. तत्र न भासते मु० । १२. भेदः प्रति° क० । १३. °मिति युक्ति° मु० । १४. °ख्यातिरिति क० मु० । १५. संदिग्धप्रवृत्तौ ब० । संदिग्धाप्रवृत्तौ मु० क० । १६. °त्वं चाऽभाणि मु० क० ।

मपि किमेकसंतानम्, [1]अथ भिन्नसंतानम् ? । तदपि किं एकविषयं भिन्नविषयं वा ? । तदपि किं एककालं, भिन्नकालं वा ? । तत्र समानजातीयमेककालं एकसंतानं एकविषयम्, भिन्नविषयं वा युगपद् ज्ञानद्वयं नोत्पद्यते । कथं तयोर्बाध्यबाधकभावः ? । भिन्नकालं तु तज्ज्ञानं एकविषयं संवादकमेव स्यात्, न बाधकम् । भिन्नविषयं तु तज्ज्ञानं यदि बाधकं स्यात् तदा सर्वं सर्वेण बाध्येत । भिन्नसंतानं तु समानजातीयमेककालम्, भिन्नकालं [2]वा यद्येकविषयं, संवादि स्यात्, न बाधकम् । भिन्नविषयस्य [3]तस्य बाधकत्वे अतिप्रसङ्ग उक्तः । विजातीयं तु एकसंतानवर्ति एकविषयं समान[4]कालं भिन्नकालं वा यदि स्यात् संवादवत् स्यात्, न बाधकम् । उक्तज्ञानस्य विभिन्नविषयस्यापि सतो बाधकत्वे सर्वं तेन बाध्यं स्यात् । भिन्नसंतानमपि विजातीयं समानकालम्, भिन्नकालं वा यद्येकविषयम्; तदा अस्तु संवादकम् । अथ भिन्नविषयम्; तदाऽकिञ्चित्करमिति । तन्न बाधकमपि किञ्चित् ।

§२४. बाधकाऽभावोऽपि किं तुच्छरूपः किं [5]वा वस्त्वन्तरज्ञानम् ? । तुच्छरूपस्य कथं प्रतीतिः ? । अथ ज्ञानवत्स्वतः इति । तन्न,

"सर्पिषो यदि सौरभ्यम्, गोमयस्य किमागतम् ।"

अथ स्वसंविदितं ज्ञानं तत्राभवत् तन्निश्चा[6]ययति । 'तत् तत्र नास्ति तेन च निश्चयः' इति व्याहतम् । अननुभवात् तन्निश्चय इति चेत्; स्वापाद्यवस्थास्वपि स्यात् । अथ वस्त्वन्तरज्ञानम्; तन्मिथ्याज्ञानेऽप्यस्तीति तत्रापि तन्निश्चयः स्यादिति । तत् कथमबाधितत्वेनापि प्रामाण्यनिश्चय इति ।

§२५. अत्रोच्यते । यत् तावद् बाध्यबाधकनिराकरणमकारि तत् किम् अद्वैतमाश्रित्य, उत्तरपक्षः । अथ बहिरर्थे स्थिते सतीति ? । तत्राद्वैतस्य शून्यस्य चाग्रे निराकरिष्यमाणत्वात् तदास्ताम् । बहिरर्थमाश्रितवतः प्रमाणविप्लवः प्रकृतं तिरोदधातीत्यवश्यं प्रमाणेतरव्यवस्थाऽभ्युपगन्तव्या ।

§२६. तत्र प्रमाणं किम् अविसंवादित्वेन, किं वाऽबाधितत्वेन, किं वा

"प्रसिद्धानि प्रमाणानि व्यवहारश्च तत्कृतः ।
प्रमाणलक्षणस्योक्तौ ज्ञायते न प्रयोजनम् ॥" [न्याया० का० २]

इति विचारः प्रवर्तते । तत्र केषां प्रसिद्धानि प्रमाणानि ? किं शास्त्रविदाम्, उतस्वित् तदितरेषामिति ? । तत्रेतरे जनाः प्रमाणस्य नामापि न जान[7]न्ति किं तेषां प्रसिद्धम् ? । शास्त्रविदामपि संख्यादिविप्रतिपत्तिदर्शनात् न प्रसिद्धानि । अतस्तेषां तन्निराकरणाय प्रमाणप्रणयनमुपपत्तिमदिति ।

§२७. तत्राविसंवादित्वं द्वितीयप्रमाणापे[8]क्षमिति सकलं प्रागुक्तं दूषणजालमापतति । अपि च–शाकटिका अपि शास्त्रज्ञैस्तुल्याक्षूणविधानाः । तथा, कतिपयपदपरिमिता प्रवृत्तिश्चानिश्चयादपि भवन्ती कां क्षतिं करिष्यतीति न दृष्टार्थे[9] तल्लक्षणप्रणयनम्, किन्तु दृष्टे व्यामोहः अदृष्टमपि प्रसर्पेदिति शास्त्रम् । तत्राविसंवादित्वलक्षणमदृष्टाव्यापीति नोपपत्तिमत् ।

---

१. °नम् उत भि° मु० । २. °कालं यद्ये° मु० । ३. °यस्य बाध° मु० क० । ४. समानकालं वा यदि अ० क० मु० । ५. किं वस्त्व° ब० । ६. °श्चापयति मु० । ७. जानते ब० । ८. °णापेक्षमि° ब० । ९. दृष्टार्थं लक्षण° क० मु० ।

§२८. अबाधितत्वं पुनः सकलोपाधिविशुद्धमिहोपपद्यमानमदृष्टमपि[1] व्याप्नोतीति युक्तम् ।

अबाधितत्वं प्रमाणलक्षणम् ।

तथाहि[2]—यथा नात्रात्यासन्नातिदूराशुभ्रमणादिको विषयदोषः, नापि चलनादिरूपः आधारदोषः, न तिमिराद्युपप्लवोऽक्ष्णाम्, नापि मनसो निद्राद्युपहतत्वमिति कारणगुणपर्यालोचनादबाधितत्वं निश्चीयते; तथा 'नाऽयं शास्ता रागद्वेषोपहतः, नाप्यज्ञः' इति आप्तगुणपर्यालोचनात् श्रुतज्ञानस्याप्यबाधितत्वं निश्चित्यासंवादेऽपि प्रेक्षावन्तः प्रवर्तन्त इति युक्तम् ।

§२९. कारणगुणनिश्चयश्च क्वचिदबाधितत्वेन । न चेतरेतराश्रयत्वम् व्यक्तिभेदात्, अनादित्वाच्च संसारस्य । यदप्यभ्यधायि—'इन्द्रियाणामतीन्द्रियत्वात् तद्गुणानां[3] कथं प्रत्यक्षादिना ग्रहणम्' इति तदेतद् दोषेष्वपि[4] समानम् । तेऽपि हि न प्रत्यक्षादिना प्रतीयन्ते । अथ मिथ्यात्वात् तन्निश्चयः । सम्यक्त्वाद् गुणानां किं न भवति ? ।

§३०. अथ यथा[5] घटस्योदकाहरणलक्षणा शक्तिः मृत्पिण्डात् न भवति तच्छक्तिविकलत्वात् तस्य; तथा अर्थतथात्वप्रकाशनशक्तिः प्रामाण्यरूपा कारणेषु असती, भवन्ती उत्पत्तौ स्वत इत्युच्यते । किमयथार्थप्रकाशनशक्तिः कारणेषु अस्ति न[6] वा ? । न इति चेत्, कथमप्रामाण्यं परतः ।

§३१. अपि च—सा शक्तिः शक्तिमतो भिन्ना, किं वाऽभिन्ना, अथ भिन्नाभिन्ना, अथोभयनिषेधः ? । यद्यभिन्ना अप्रामाण्यशक्तिरपि शक्तिमत्स्वरूपवत् न दोषेभ्यः स्यात् । अथ भिन्ना तर्हि प्रामाण्यजननशक्तिरपि कारणेभ्यो भिन्ना । न चात्र व्यवस्थितविभाषा । अथ सा नास्ति कारणेषु; अशक्तादुत्पद्यमानं प्रामाण्यं सर्वस्मादुत्पद्येत[7] । अहेतुकं वा स्यात् । ततश्च सर्वत्र स्यात् । न वा क्वचिदिति ।

शक्तिविचारः

§३२. किञ्च—सा शक्तिमति संबद्धा[8] किं वाऽसंबद्धा ? । यद्यसंबद्धा, न तस्य सा । अथ संबद्धा; तदा कार्यकारणभावाभावापरो व्यतिरिक्तस्य संबन्धः । तत्र यदि शक्तिमता शक्तिर्जन्यते इति पक्षः; तदा किं तेन शक्तेन जन्यते, किंवाऽशक्तेन ? । यद्यशक्तेन तदाऽन्येनापि जन्येत । अथ शक्तेन तदा[9] तत्रापि यदि सा शक्तिरभिन्ना तदा पूर्वापि तथैवास्तु । किं भेद[10]कल्पनया ? । अथ भिन्ना तदा तदेव वाच्यम्, तदेवोत्तरमित्यनवस्था । संबन्धान्तरं च निषेत्स्यमानमास्त इत्यास्ताम् । व्यतिरेकाव्यतिरेके च प्रामाण्यं स्वतः परतश्च स्यात् । उभयनिषेधस्तु वस्तुनो[11] नोपपद्यत[12] इति । न हि तदेव तदानीमेव विधीयते च[13] निषिध्यते चेति युक्तम् । तन्नोत्पत्तौ स्वतः प्रामाण्यम् । स्वकार्यपरिच्छेदे तु प्रवर्तमानमप्रामाण्यमपि[14] न किञ्चित् परमपेक्षत इति स्वतः स्यात् । अस्वसंवेदनवादिनस्तु ज्ञानस्वरूपमपि न स्वतः सिद्धं कुत एव तद्गतं प्रामाण्यमिति ? ।

§३३. यच्चोक्तम्—'किं बाध्यम्, किं बाधकम्, कश्च तद्भावः' इति तत्रासत्प्रकाशनसामर्थ्यं मिथ्यात्वं बाध्यम् । तथाहि—ज्ञानस्य सदर्थप्रकाशनशक्तिरिव असदर्थप्रकाशनशक्ति-

---

१. °दृष्टं व्या° क० मु० । २. तथाहि नात्रा° अ० । ३. °त्वात् गुणानां मु० । ४. दोषेऽपि अ० । ५. अथ घट° मु० क० । ६. अस्ति नेति चेत् अ० ब० क० । ७. °दुत्पद्यते अ० । ८. संबद्धाऽसंबद्धा वा । यद्य° मु० । ९. तदापि यदि मु० क० । १०. भेदे ब० अ० । ११. °वस्तु नोपप° ब० । १२. नोपपद्येत क० । १३. °पद्ये निषि° क० मु० । १४. °मप्रमाणमपि अ० क० मु० ।

रप्यस्ति[1] । किमासन्नं सर्वमेव प्रकाशयतीति चेत् । न, नियतविषया हि भ्रान्तयो भवन्ति । असदपि कचित् किञ्चित् प्रकाशयतीति । तत्र कचित् बाह्यात्[2] सादृश्यात् भ्रमहेतोः, कचित् विचित्रानुभवाहितवासनाप्रबोधविपर्यासादिति ।

§ ३४. तथा, बाधकमपि समानजातीयं विजातीयं[3] वा विज्ञानं समानकालं भिन्नकालं वा एकसन्तानवर्ति भिन्नसन्तानवर्ति[4] वा, एकविषयं सन्मन्यते[5] । ननु यदेव बाध्यविज्ञाने[6] वस्तु प्रतिभातं तदेव यद्यक्षतं[7] बाधकेऽपि प्रतिभाति तत् कथं तद्बाधकम्, संवादकमेव स्यादित्युक्तम् । नाक्षतं[8] प्रतिभाति किन्तु यदेव हि मिथ्याज्ञानेन असदाकारारोपेण वस्तु प्रतिपन्नं तदेव बाधकेन तदाकारनिरासेन अन्यथा प्रतीयत इति ।

§ ३५. अथैकं वस्तु उभयविज्ञानगोचरचारि अन्यथाप्रतिभासे सति नास्तीत्युच्यते क्षणिकत्वाद्[9] वा । तन्न[10], यतो विज्ञानप्रतिभासभेदवद् अभेदप्रतिभासोऽप्यात्मनोऽस्ति । तथाहि— 'तदेवेदं वस्तु मम मरीचिकारूपेणेदानीं चकास्ति, यत् पूर्वं जलरूपेण प्रतिभातमासीत्' इति । एतच्च क्षणिकत्वनिराकरणप्रस्तावे प्रतिपादयिष्यामः ।

§ ३६. तथा, तुच्छरूपमभावमनभ्युपगच्छतां सदसदात्मकवस्तुवादिनां न तत्पक्षक्षेपः क्षतिमावहतीति । ततो वस्तुग्राहिप्रमाणं विपर्यस्तप्रमाणान्तरशून्यमात्मानं[11] वेदयमानं समारोपिताऽसदाकारविविक्तं च प्रतिपद्यमानं ज्ञानं[12] ज्ञेयाभावव्यवहारं प्रवर्तयतीति कथं न बाधकाभावनिश्चय इति ? । तस्मात् स्थितम् 'अबाधितं प्रमाणम्' इति । ततः साधूक्तम्—बाधविवर्जितमिति ।

§ ३७. सूक्तमिति प्रमाणोपपन्नम् । लक्ष्यते व्याप्यते प्रामाण्यं तादात्म्यादनेन इति लक्षणमिति । [५]

§ १. अत एव तद्भावे[13] भावस्तदभावे चाभाव[14] इति दर्शयितुमाह—वेदेश्वरादय—इति

वेदेश्वरादयो नैव प्रमाणं बाधसंभवात् ।
प्रमाणं बाधवैकल्यादर्हंस्तत्त्वार्थवेदनः ॥ ६ ॥

§ २. वेदाश्च[15] ईश्वरश्च आदिग्रहणात् प्रधानान्तरज्ञानपरिग्रहः । ते न प्रमाणम्, व्यापकाभावात् । तदभावश्च विरोधिसन्निधेः । तदेवाह—बाधसंभवादिति । बाधनम् बाधः । तस्य संभवात् । बाधाबाधयोः परस्परविरोधात् । निमित्तेन निमित्तिनं दर्शयति—प्रमाणम् इत्यादि । शक्रादिभ्यः पूजामर्हतीति इति, यद्वा रागादीन् अरीन् हन्तीति अर्हन् । तत्त्वम् जीवादयः सप्तपदार्थाः । तान् वेदयतीति "नन्द्यादिभ्यो ल्युः" । तत्त्ववेदनेन हि हेतोः सिद्धिं दर्शयति । यत एव तत्त्ववेदनोऽत एव तज्ज्ञेयेऽतथारोपनिरास[16] इति । एतच्च सर्वज्ञसिद्धौ दर्शयिष्यते । [६]

वेदेश्वरादीनां प्रामाण्यस्य निषेधः ।

---

१. °न्ति । यदपि मु० । २. बाह्यसाद° क० ब० मु० । ३. समानजातीयं वा समानकालं मु० । समानजातीयं विजातीयं वा समान° क० । ४. एकसन्तानवर्ति वा एक° मु० । ५. °मन्यन्ते क० मु० । ६. बाध्ये वि° क० मु० । ७. यद्यविकलं बाध° ब० । ८. न तथैव प्रति° ब० । ९. क्षणिकाद्वा मु० । १०. तत्र मु० । ११. प्रमाणं प्रमाणान्तर° मु० । १२. ज्ञानज्ञेया° अ० ब० । १३. अत एव तद्भावः तद्भावे तदभावे वाऽभावः इति मु० । १४. °भावेऽभाव इति अ० ब० । १५. वेदश्च ब० क० । १६. °ज्ञेयेऽतत्त्वारो° मु० क० ।

§१. चोदनायास्तावत् अपौरुषेयत्वनिबन्धनं प्रामाण्यं समूलमुन्मूलयितुमाह—वचस इत्यादि ।

वचसोऽपौरुषेयत्वं नाऽविशेषात् पटादिवत् ।

वचसोऽपौरुषेयत्वनिषेधः ।

§२. अनेन हि प्रयोगार्थो दर्शितः । प्रयोगस्तु—यद्येनासंभवद्विशेषस्वरूपम्, तत् तेन सकलमेव समानहेतुकम् । यथाऽसंभवद्विशेषः पटः पटान्तरेण । असंभवद्विशेषाणि चापौरुषेयत्वेनाभिमतानि वाक्यानि पौरुषेयैर्वाक्यैरिति । न तावदयमसिद्धो हेतुः, यतः स विशेषो दृश्यो वा स्यात्, अदृश्यो वा ? । दर्शनाभावात् न दृश्यः । दुर्भणत्वादिर्दृश्यत इति चेत्; न, जैनेन्द्रैर्षितेत्यादिष्वपि पौरुषेयेषु तस्य भावात् । विषापनयनादिको विशेष इति चेत्; न, तस्य शाबरेष्वपि मन्त्रेषु भावात् ।

§३. न च सत्यतपःप्रभाववतां संकेतमात्रमपास्य मन्त्रत्वमुपलभ्यते । ते हि कांचन देवतां समाराध्य 'य इमामस्मद्ग्रथितां वर्णपदक्रमरचनामध्येष्यते तस्मै त्वयेदं फलं दातव्यम्' इति संकेतयन्ति । अन्यथा नित्यान्मन्त्रात् सर्वदा फलदानप्रवृत्तिः स्यात् । यतो हि भावशक्तेः फलोत्पत्तिः, साऽविकलेति न फलवैकल्यं कदाचिदपि स्यात् । न हि कारणसाकल्ये कार्यवैकल्यं युक्तिमत् तस्याऽकारणत्वप्रसंगात् । अथ न केवलान्नित्यमन्त्रादिष्टफलसिद्धिः । किं तर्हि ?, विधानादिसहकारिकारणसव्यपेक्षादिति ।

§४. ननु यदि मन्त्राः विधानादन्यतो वा कंचित् स्वभावातिशयमासादयेयुः तदापेक्षेरन् सहकारिकारणम् । न चासादयन्ति । तथाहि—स सहकारिणा विधीयमानो विशेषस्तेभ्यो व्यतिरिक्तो वाऽव्यतिरिक्तो वा स्यात् ? । व्यतिरेके ते स्वरूपेण निरतिशया एव विधानादिसहकारिसन्निधानेऽपि पूर्वकालवत् न फलं दद्युः । अव्यतिरेके तेषामनित्यताप्रसक्तेः । तथा च पौरुषेयत्वमेव स्यात् ।

§५. किञ्च—यदि भावशक्त्यैर्वाऽसंस्कार्या मन्त्राः फलं प्रयच्छन्ति तदा यजमानस्येवान्यस्याऽपि सिद्धिविधायिनो भवेयुः । नहि अन्यं प्रति अविचलितरूपो भावोऽन्यत्राचो भवति, तेन तस्य कस्यचित् स्वभावस्यानपाकरणात् अन्येन वा कस्यचित्स्वभावस्यानुत्कर्षणात् । तन्नापौरुषेया मन्त्राः ।

§६. अवैदिकानां च जैनादिमन्त्रकल्पानां पुरुषप्रणीतानां दर्शनात् तत्राप्यपौरुषेयत्वकल्पनायां नापौरुषेयत्वमवितथं स्यात् । तथाहि—जैनेतरयोर्मन्त्रकल्पयोर्हिंसामैथुनमिथ्यावादादीनादयोऽनभ्युदयहेतवोऽन्यथा च वर्ण्यन्ते । तत् कथमेकत्र विरुद्धाभिधायिद्वयं सत्यं स्यात् ? । जैनानाममन्त्रत्वे तदन्यत्रापि कोशपानं करणीयं स्यात् । विषकर्मादिकृतोऽपि हि जैना वैधर्म्यादन्यत्रापि मन्त्रत्वं न स्यात् ।

---

१. °रुषेयनिब° अ० ब० । २. जैनेन्द्रृषिते° ब० । जैनेन्द्रघृषिते मु० । जैनेन्द्रघृषिते क० । ३. विषापनय° मु० क० । ४. °मात्र तयाऽस्य मन्त्र° मु० । ५. °नित्यादिष्ट° अ० । ६. कश्चित् स्व° मु० । ७. °रिक्तोऽव्यति° अ० । ८. °क्त्येव संस्का° मु० । ९. °यजमवि° अ० ब० । १०. तथा जैने° अ० ब० । ११. जैना अमन्त्रा° क० मु० ।

§ ७. [1]मुद्रामण्डलध्यानैरप्यनक्षरैः कर्माणि [2]विषापनयनादीनि क्रियन्ते । [3]नैव तान्यपौरुषेयाणि नित्यानि वा युज्यन्ते । तेषां पुरुषक्रियासंभवे [4]अक्षररचनायां कः प्रतिघातः पुरुषाणां येन महत्त्वं विशेषो भवेत् ? । अथ यदि सत्यतपःप्रभाववत्पुरुषप्रभवौ मन्त्रकल्पौ कथं परस्परविरोधिनौ ? । न वै सर्वत्र तौ सत्यतपःप्रभाववत्पुरुषप्रभवौ किन्तु क्षुद्रदेवताप्रतिज्ञालक्षणोऽपि हिंसाद्यनुष्ठानसाध्यफलः कश्चिदिति न पौरुषेयत्वे विरोधः ।

§ ८. अथ वेदेतरयोस्तत्स्वलक्षणोऽस्त्येव विशेषः । सत्यम्, अस्ति, न केवलं [5]तयोरेव । किं तर्हि ?, डिण्डिकपुराणेतरयोरपि । न [6]स प्रक्रियाभेददीपनो नाम भेदः [7]पुरुषप्रकृतिं बाधतेऽन्यत्रापि प्रसंगात् । यदि च [8]तादृशीं रचनां पुरुषाः कर्तुं न शक्नुयुः, [9]कृतां वाऽकृतसंकेतो विवेचयेत्–'इयं पुरुषकृता, नेयम्' इति तदा व्यक्तमपौरुषेयो वेदः स्यात् । तन्न दृश्यो विशेषः ।

§ ९. नापि द्वितीयः, [10]अनुपलभ्यमानस्य विशेषस्याविशेषकत्वात् । नागृहीतं विशेषणं विशेष्यं विशेषयति । अथ यथा विषं नागरस्वरूपादनुपलभ्यमानशक्तिकमपि [11]विविच्यते तथा लौकिक-वैदिकयोः स्वरूपभेदानुपलक्षणे[12]ऽपि महान् विशेषः । ननु [13]तत्र विषस्वरूपात् न काचिद् अपरा शक्तिरस्ति या भेदिका स्यात् । भवतु वा तत्र व्यतिरिक्ताऽव्यतिरिक्ता वा शक्तिः, सा कार्यदर्शनाद् व्यवस्थाप्यते । अत्र [14]तु न किञ्चित् कार्यमस्ति यद्दर्शनाद् भेदव्यवस्था स्यात् । अथात्रापि [15]प्रमेये प्रमाणभूतप्रतीति[16]कार्यजननाद् भेदव्यव[17]स्था । [18]न, सति प्रामाण्यलक्षणे [19]विशेषेऽपौरुषेयत्वम् सत्यपौरुषेयत्वे विशेष इतीतरेतराश्रयत्वम् ।

§ १०. किञ्च–किल गिरां मिथ्यात्वहेतूनां दोषाणां पुरुषाश्रयत्वात् तदभावे तन्निबन्धनस्याप्रामाण्यस्य निवृत्तेः प्रामाण्यं वेदे भविष्यतीति [20]परस्याशयः । [21]तदित्थं गिरां सत्यत्वहेतूनां गुणानां पुरुषाश्रयत्वात् तदभावे तन्निबन्धनस्य प्रामाण्यस्य निवृत्तौ [22]आनर्थक्यमेव वेदस्य स्यात्, विपर्ययो वा । तथाहि–ज्योत्स्नादयो अपौरुषेया अपि रात्रौ पीते वस्त्रादौ रक्तज्ञानहेतुतां प्रतिपद्यमाना मिथ्याज्ञानहेतवो दृश्यन्ते । तन्नाऽपौरुषेयत्वात् प्रामाण्यम् ।

§ ११. किञ्च–अपौरुषेयत्वं प्रत्यक्षेण वा व्यवस्थाप्येत अनुमानेन वा ? । न तावत् प्रत्यक्षेण तस्याक्षानुसारितया प्रवृत्तेः । अक्षं च वर्तमानकालभाविनि वस्तुनि प्रत्यासीदति । अतस्तदनुसारिणी धीस्तावत्कालस्यैव अर्थस्य व्यवस्थापिका न [23]अनादिकालस्य । [24]तावत्कालस्यापौरुषेयत्वव्यवस्थापने कादम्बर्यादेरपि अपौरुषेयता दुर्निवारा स्यात् । अनादिका[25]लोलिङ्गितस्य वेदस्यापौरुषेयत्वमध्यक्षग्राह्यम् अभ्युपगच्छतो मीमांसक[26]स्यासर्वज्ञाभ्युपगमो विरुद्ध [27]एवं स्यात् । तन्नाध्यक्षग्राह्याऽपौरुषेयता ।

१. मुद्रामण्डल° मु० । २. विषापनय° मु० क० । ३. नैव तानि मु० । ४. °रचनायाः मु० । ५. °रेव न किं मु० क० । ६. न स क्रिया° मु० । ७. पुरुषकृतिं मु० क० । ८. तादृशी रचनाः क० । ९. कृतां वा कृत° अ० ब० । १०. °मानस्य विशेषक° क० मु० । ११. विविच्यते मु० क० । १२. °क्षणे महान् मु० क० । १३. ननु विष° मु० क० । १४. अत्र किंचित् क० मु० । १५. अथात्रापि प्रामाण्यल° मु० । १६. प्रमाणभूतप्रतीतिजननात् क० । १७. °व्यवस्थापनम् अ० मु० । व्यवस्थापना ब० । १८. ननु सति क० । १९. °लक्षणविशे° ब० । २०. पराशयः ब० । २१. तर्हि गिरां मु० । २२. अनर्थत्वमेव मु० । २३. न अतीतानादिकाल° मु० क० । २४. तावत्कालस्यापौरुषेयता मु० क० । २५. °कालकिलित° मु० क० । २६. °कस्य सर्वज्ञा° मु० । २७. विरुद्धवचः स्याद् मु० ।

§ १२. नाप्यनुमानग्राह्या । यतोऽनुमानं लिङ्गबलेनोदयमासादयति । न चापौरुषेयत्वप्रतिबद्धं किंचनापि लिङ्गमस्ति यद्बलेनानुमानमुदयमासादयेत् । कर्तुरस्मरणं लिङ्गमिति चेत् । ननु तदस्मरणं वादिनो लिङ्गत्वेनोपादीयते, सर्वस्य वा ? । न तावद् वादिनः, तस्य सकर्तृकेऽपि सद्भावेनानैकान्तिकत्वात् । नापि सर्वस्य, तस्यासिद्धत्वात् । तथाहि – स्मरन्त्येव बौद्धाः वेदस्य कर्तृनष्टकादीन्, काणादाश्च हिरण्यगर्भम् । तन्न तदस्मरणं हेतुः ।

§ १३. अथ छिन्नमूलं वेदे[2] कर्तुः स्मरणम् । तथाहि – अनुभवो मूलं स्मरणस्य । न च वेदे[3] कर्तुरनुभवः । ननु केन कर्तुरननुभवः ? किं प्रत्यक्षेण, उतानुमानेन ? । तत्र यदि प्रत्यक्षेण कर्तुरननुभवाद् वेदे छिन्नमूलं स्मरणम्, तदा आगमान्तरेऽपि प्रत्यक्षेण वादि-प्रतिवादिभ्यां कर्तुरननुभावात् छिन्नमूलं स्मरणं स्यात् इति तदप्यपौरुषेयं प्रसज्यते । अथानुमानेन, तदाऽनुमानस्य वेदकर्तृसाधकस्य प्रतिपादितत्वात् कथं छिन्नमूलं स्मरणम् ? । अथानुमानमनेनानुमानेन बाध्यते; तदेतदितरेतराश्रयत्वम् । तथाहि – तद्बाधायामस्य प्रामाण्यम्, अस्य च प्रामाण्ये तद्बाधेति ।

§ १४. अथ आगमान्तरे प्रयोजनाभावात् कर्तुरुपलम्भे यत्नं वादी न कृतवान् तेनानुपलम्भः । तन्न, कृतयत्नेनापि केषांचित् वटे वटे वैश्रवणादीनां कर्तुरनुपलम्भात् । अथ वैदिकेषु कर्मसु प्रचुरव्ययेषु बह्वा(ह्वा)यासेषु च प्रवर्तमानः यत्नेन कर्तुरुपलम्भं कृतवान्, न चोपलब्धवान्, ततो ज्ञायते नास्ति कर्ता । तन्न, अनुपलब्धिलक्षणप्राप्तेषु देशकालस्वभावविप्रकृष्टेषु यत्नवतोऽप्यनुपलम्भो नासत्तां साधयति इति नास्मर्यमाणकर्तृकत्वमनुमानम् ।

§ १५. नाप्यर्थापत्तिरभावप्रमाणं वा तयोर्निराकरिष्यमाणत्वात् । नापि यद्वेदाध्ययनं तदध्ययनपूर्वकं वेदाध्ययनत्वात्, इदानींतनाध्ययनवत् इत्यव्यभिचारि साधनम् । अन्यथा 'यः पथिकाग्निः स ज्वालापूर्वको नारणीनिर्मथनपूर्वकः पथिकाग्नित्वात् इदानींतनपथिकाग्निवत्' इत्यादेरपि साधनता स्यात् । एवमन्यदपि यदपौरुषेयतासाधनं तदविद्यमानप्रतिबन्धं सर्वमनैकान्तिकमेव । तन्नानुमानावसेयाप्यपौरुषेयतेति ।

§ १६. किञ्च – अयमपौरुषेयः किं संबन्धः, किं वा वाक्यादीति ? । तत्र नित्यं [11]संबन्धं व्यवस्थापयितुं संबन्धापौरुषेयतामाह –

शब्दार्थसंबन्धो नित्य इति पूर्वपक्षः ।

> "समयः प्रतिमर्त्यं वा प्रत्युच्चारणमेव वा ।
> क्रियते जगदादौ वा सकृदेकेन केनचित् ॥" [श्लोक० संबंधा० १३.]

अयं हि पुरुषेण संबन्धः क्रियमाणः प्रतिमर्त्यं किमेकः क्रियते, किं वाऽनेक इति ? । एकत्वे कृतको न स्यात्, पूर्वमेव सिद्धत्वात् । अनेकत्वेऽपि किं सर्वे वाचकाः, किं वा तेषां मध्ये एकः कश्चिदिति ? । यद्येकः, तदा तदभावे शेषसंबन्धसद्भावेऽपि प्रतीतिर्न स्यात् ।

---

१. °दीयेत क० मु० । २. वेदकर्तुः अ० ब० मु० । वेदे कर्तुः अस्मर° मु० । ३. वेदकर्तुः अ० ब० । ४. कर्तुरनुभवः क० मु० । ५. °मूलमस्म° मु० । ६. °रणं स्यादिति । अथ मु० । ७. °मनेन बाध्यते क० मु० । ८. तत्र मु० । ९. °लम्भोऽसत्तां ब० । °लम्भो नासत्तां शोधयतीति मु० । १०. कर्तृत्वम° क० मु० । ११. किंचायमपौरुषेयतामाह मु० क० । १२. नित्यसं° ब० । १३. अनेकेऽपि मु० क० ।

सर्वेऽपि वाचकाः किं समुदिताः, अथान्यथा ? । तत्र सर्वसंबन्धानां समुदायाभावात् न किंचित् केनचित् प्रतीयेत । अथ किमनेन ? । यस्य यः संबन्धः स तेन प्रतिपत्स्यत इति ।

§ १७. अस्तु नामैवम्, यदा पुनर्बहुभिः पुंभिरेकस्य समानार्था बहवः संबन्धाः क्रियन्ते, तदा किं प्राघूर्तिकन्यायेन, किं विकल्पेन, किं वा समुच्चयेन प्रतिपादयेयुः ? । तत्र प्राघूर्तिकक्रमो यदा पशूनां पङ्क्त्या स्थितानामालम्भनार्थं शलाकया चक्षुरञ्जनं क्रियते, तदा यस्य प्रथमं नयनाञ्जनं कृतं तस्यैव वध इति । तेन न्यायेन यः प्रथमः संबन्धः कृतस्तेनैवार्थप्रतिपत्तिरिति । तर्हि शेषाणामानर्थक्यमिति । अथ विकल्पेन । तदुक्तम्—

"एकार्थानां विकल्पश्चेत् ।" [श्लोक० संबन्धा० १७]

इति तदपि नास्ति । यतः तत्र नाम विकल्पो भवति यत्रैकमुपादाय अपरोपादाने यत्नः स्यात् । इह तु प्रथमेनैव प्रतिपन्नत्वात् किमन्येन ?, व्यवहारस्याप्रतीतेः । समुच्चयोऽपि नैवास्ति । तदुक्तम्—

"समुच्चयोऽपि नैवैषाम् ।" [श्लोक० संबन्धा० १७]

इति तदेवमाद्यस्यापि पौरुषेयसंबन्धस्य पाश्चात्यसंबन्धवत् नार्थप्रतिपादकत्वमिति ।

§ १८. किञ्च—पुरुषः किं प्रतिपन्नार्थं पूर्वसंबन्धं करोति, किं वाऽप्रतिपन्नार्थमिति ? । पूर्वस्य कृतत्वात् किं तस्य करणेन ? । अपूर्वस्य करणे नार्थप्रतीतिः स्यात् । श्रोतुस्तदैव भविष्यतीति चेत्, कथं वक्ताऽप्रतिपन्नार्थं करोति । तस्मान्न पौरुषेयः संबन्धः । किन्तु अर्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या शब्दस्य वाचिका शक्तिः, अर्थस्य तद्वाच्यशक्तिः । अयमेवासौ संबन्ध इति नित्यत्वेऽपि यस्यैव प्रतीतस्तस्यैव प्रतीतिं जनयति नान्यस्येति ।

§ १९. तदेतदविदितपरमार्थस्य परस्य प्रलपितम् । तथाहि—न संबन्धः पुरुषेण कश्चित् क्रियते किन्तु संकेतमात्रादक्षिनिकोचवत् शब्दादर्थप्रतीतिरिति । तन्न कश्चित् नित्यः संबन्धः ।

§ २०. शब्दस्य नित्यत्वात् तस्यापि नित्यत्वमिति चेत्, न च सर्वदोपलब्धिः । तदुक्तम्—

शब्दनित्यत्वखण्डनम्

नित्यत्वव्यापित्वेऽपि शब्दस्याकाशस्येव प्रयत्नानन्तरमुपलब्धिरुपपद्यते । तथाहि—कूपादौ पूर्वमनुपलब्धस्य प्रयत्नादाकाशस्योपलब्धिर्दृष्टा, न च तस्यानित्यत्वम्, नापि व्यापित्वेऽपि सर्वत्रोपलम्भः । तथा, 'शब्दं कुरु' इति व्यपदेशाः 'आकाशं कुरु' इत्यादि व्यपदेशवत् नानित्यत्वं साधयन्ति । तथा, स्तिमितवायुस्थगितस्य शब्दस्य कौष्ठेन वायुना तदपसारणे न कार्त्स्न्येनोपलब्धिः स्वरूपमात्रस्यैवोपलब्धेः । नियतदेशा हि वायवीया ध्वनयः प्रतिवर्णं भिन्ना यथा शब्दकर्तुः, तेन न सर्वत्र सर्वेषामुपलब्धिरिति । अत एव यस्यां दिशि न वायोर्गतिर्न तत्र शब्दः श्रूयत इति । तथा, एकस्यैव मुखस्य व्यञ्जकस्यादर्शखड्गादिभेदात्, यथा भेदाः तथा ध्वनिधर्मा अल्पमहत्त्वादयः सांनिध्यात् शब्दे उपलभ्यन्ते । तेन न प्रत्ययभेदभेदित्वादनित्यत्वमिति । यथा हि घटः स्वल्पेन महता वा शब्देन प्रतिपाद्यमानो न भिद्यते, तथा शब्दोऽपि महता ध्वनिनाऽल्पेन वा श्राव्यमाणोऽर्थप्रतिपादनलक्षणार्थक्रियाकारी न भिद्यत इति ।

---

१. प्रतीयते ब० क० मु० । २. मालभना° अ० । ३. तदप्युक्तम् क० । ४. किमनेन अ० ब० । ५. नार्थे प्रतिपा° क० मु० । ६. °र्थस्य प्रलपि° क० मु० । ७. तथापि मु० । ८. न नित्यः संबन्धः क० मु० । ९. कोष्ठेन मु० क० । १०. °खड्गादिभिर्भेदात् मु० । ११. प्रत्ययभेदित्वा° मु० । प्रत्ययाभेदित्वा° क० ।

§२१. अथ वायवीयानां ध्वनीनां श्रोत्राऽग्राह्यत्वात् कथं तद्धर्माणामल्पमहत्त्वादीनां श्रोत्रेणोपलम्भ इति?। न, शब्दस्यैकत्वेनोपलब्धेर्न तद्धर्माः कल्प्यन्ते। तथा हि–स एव गकारो महानल्पो वा। न तु सोऽन्योऽयमन्य इति प्रतीतिः। तस्माद् ध्वनिधर्माः सान्निध्यात् तथा भासन्त इति।

§२२. अथ भिन्नदेशस्थितैः पुरुषैर्भेदेनोपलब्धेर्नैकः शब्द इति। तदप्यादित्येनानैकान्तिकम्। तथा हि–"विभिन्नदेशस्थिताः पुरुषा एकमप्यादित्यं केचित् पश्चिमायां दिशि उपलभन्ते, अपरे पूर्वस्यामिति।"

शब्दनित्यत्वस्य निषेधः।

§२३. तदप्यसंगतम्। तथा हि–व्यञ्जकेन किमावरणविनाशः क्रियते, अथ शब्दसंस्कारः, किं वा श्रोत्रसंस्कारः, उभयसंस्कारो वा?। तत्र आवरणं यदि नित्यं न तस्य विनाशः। अथानित्यं तदा यदि नाशितं तदा न मृतः पुनर्जीवतीति सर्वदा शब्द उपलभ्येत। अथ क्षणिकं संतानेनोत्पद्यते तदा सर्वदा सान्तरमुपलभ्येत प्रयत्नविरामेऽपि। शब्दस्य मीमांसकैर्व्यापिनो निरवयवस्योपगमात् तत्संस्कारे सर्वत्र सर्वैरुपलम्भः स्यात्। श्रोत्रं संस्कृतं सर्वान् शब्दानुपलभेत। न हि चक्षुरुन्मीलितं किंचिदेवोपलभते योग्यदेशस्थं नान्यमिति दृष्टम्।

§२४. अपि च–तत्किमाकाशम्, अथान्यदेव किंचित्। आकाशस्यैकत्वात् सर्वेषां सर्वत्र सर्वदोपलब्धिः स्यात्। अथास्माकं मीमांसकानां प्रतिपुरुषं भिन्नं श्रोत्रं तेन नायं प्रसंगः। न, सर्वेषामात्मनां सर्वव्यापित्वादेकश्रोत्रसंस्कारे सर्वे आत्मान उपलभेरन्निति तत्प्राप्यकारित्वेऽपि। अथ संबन्धेऽपि यस्यैवादृष्टेनोपभोगाय संस्कृतं श्रोत्रं स एवोपलभते नान्यस्तद्देशस्थोऽपि। यथा नगरस्थितोऽपि तदधिकाराद् भ्रंशितो न तद्भोगं लभत इति। नैतदस्ति। तददृष्टमपि सर्वसंबन्धि किं न भवति?। सर्वैरकरणादिति चेत्। सर्वे किं न कुर्वन्ति?। मनोभिसन्धेरभावादिति चेत्। ननु सर्वव्यापित्वेऽविचलितरूपत्वे नैतद् युज्यते एकस्य मनोभिसन्धिर्नान्यस्येति। तस्मात् यत्किंचिदेतदिति। एतेनोभयसंस्कारोऽपि निरस्त इति।

§२५. नित्यपरमाण्वारब्धस्य घटस्येव नित्यवर्णारब्धस्य क्रमस्यानित्यत्वे [13]वर्णनित्यत्वं कोपयोगि?। अथ वर्णानां वाचकत्वं न क्रमस्य। न हि घटक्रमो वाचको दृष्टः। नैतदस्ति। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां हि क्रमस्यैव वाचकत्वं न वर्णानाम्, अन्यथा व्यस्तक्रमाणामपि तदर्थप्रतिपत्तिः स्यात्। क्रमविशिष्टानां वाचकत्वमिति चेत्; न, समर्थविशेषणत्वात्। तस्य च पौरुषेयत्वात्।

§२६. यच्च क्रमस्य पट[14]कुटीदृष्टान्तेन नित्यत्वं व्यावर्णितं तत् सदा जलसंगाज्जाड्यजृम्भितम्[15]। तथा हि–[16]तक्षा पट[17]कुटीं नष्टां कुर्वंस्तामेव करोति न पुनरपूर्वामिति। तद्वद्वर्णक्रमोऽपि नापूर्वः क्रियत इति। यतो दृष्टान्तेऽपि न [18]तस्या नित्यत्वं तत् कथं[19] दृष्टान्तात्

---

१. °यानां श्रोत्रा° मु०। २. °लब्धिर्न° मु०। ३. कल्पन्ते क०। ४. धर्मः मु०। ५. तदा मृतः पुनर्न जीव° मु० क०। ६. मृतः जीवती° अ०। ७. क्षणिकर्स° मु० क०। ८. °नोपपद्यते मु० क०। ९. विरामेऽपि मु०। १०. °काशमन्यद्वा यदेव किं ब०। ११. सर्वोपल° मु० क०। १२. मनोऽभिसंबन्धो नान्य° मु०। १३. वर्णानित्य° अ०। १४. पट्टकुटी° ब० क० मु०। १५. जाड्यक्षुभितम् मु०। १६. तत्तु पट्टकु° मु०। १७. पट्टकुटीं ब० क०। १८. तस्याऽनित्यत्वं अ० ब०। १९. कथं न दृष्टान्तात् अ० ब०।

क्रमस्य नित्यत्वम् ? । कल्पितं तु व्यवहारमात्रं न वस्तु साधयति । न च नित्यव्यापिनां वर्णानां क्रम उपपद्यत इति । एतच्चाग्रेऽभिधास्यते । तस्मात् संकेतमात्रमेव न कश्चित् संबन्ध इति ।

§ २७. किञ्च – किमसौ एकार्थनियतः[1] संकेतेनाभिव्यज्यते, अनेकार्थनियतो वा ? । यद्येकार्थनियतः[2] न संकेतवशादर्थान्तरे वेदस्य गतिः स्यात् । दृश्यते च व्याख्यातृविकल्पः । अथ 'मा भूँ[3]दृष्टविरोधः' इत्यनेकार्थनियतोऽभिव्यज्यते । तर्हि सकलार्थसाधारणस्य वेदस्य इष्टव्यक्तिमेव करोति व्याख्यातृरूपः समयकारः, कुत एतत् ? । तेन "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" [मैत्रा० ६.३६] इति श्रुतौ 'खादे[4]च्छ्वमांसम्' इत्येष नार्थ इत्यत्र का प्रमा । तन्न स्वाभाविकः शब्दार्थयोः संबन्धः, किन्तु संकेतमात्रमेव ।

§ २८. भवें[5]तु, असौ नित्यो वा स्यात्, अनित्यो वा ? । अनित्योऽपि[6] पुरुषेच्छावृत्तिः, अवृत्तिर्वा ? । पुरुषानधीनत्वे न पुरुषाणां यथाभिप्रायं देशादिपरावृत्त्या तेनार्थप्रतिपादनं स्यात् । न हीच्छायामनायत्तः कश्चिन्नियुज्यते पर्वतादिवत् । पुरुषेच्छां[7]वृत्तित्वे कथमपौरुषेयत्वं स्यात् । नित्योऽपि शब्दार्थयोराश्रितः स्यात्, अनाश्रितो वा ? । अनाश्रितत्वे आकाशकल्पस्य कः संबन्धा[8]र्थः ? । आश्रितत्वे च आश्रयाणामनित्यत्वा[9]दाश्रितेऽप्यनित्यता स्यात् । अथ सामान्यस्यैवाश्रयत्वभावात् तस्य च नित्यत्वात् संबन्धस्यां[10]पि नित्यता ।

§ २९. तदसत् । सामान्यस्य परपरिकल्पितस्याभावात् । तथा हि – तद् व्यक्तिभ्यो भिन्नं स्यादभिन्नं वा ? भिन्नाभिन्नं वा ? । न तावद्भिन्नाभिन्नं विरोधात् । अथ केनाप्यंशेन भिन्नं केनाप्यभिन्नम् । ननु निरंशस्य सामान्यस्य कथमेतत् ? । किञ्च – यमात्मानं पुरोधाय 'इदं सामान्यम्' 'अयं विशेषः' इति व्यवस्थाप्यते यदि तेनात्मना भेदः, तदा भेद एव; अथाभेदः, तदा अभेद एव । अथ तत्रापि भेदाभेदौ तर्हि अनवस्था । न चेदृशं वस्तु शतशाखमध्यक्षमीक्षामहे । तन्न [11]तत् ताभ्यो भिन्नाभिन्नम् । नो[12]प्यभिन्नम् । तासां नानात्वे तस्यापि नानात्वोपपत्तेः । [13]तदेकत्वे तासामेकताप्रसंगादिति नाभिन्नम् । नापि भिन्नम् । असामान्यरूपतापत्तेः दण्डादिवत् ।

सामान्यविचारः ।

§ ३०. अनेकसंबन्धात् सामान्यमिति चेत्; न, संख्या-कार्य-द्रव्यादेरपि सामान्यरूपताप्रसंगात् । अथानुस्यूताकारतया प्रं[14]तीयमानं सामान्यं नेतरदिति चेत्; ननु किमात्मरूपानुस्यूतम्, पररूपानुस्यूतं वा ? । तं[15]त्र न तावदात्मरूपानुस्यूतम्, आत्मन्यनुगमाभावात् । अथ पररूपानुस्यूतम्, पररूपानुस्यूतता किं तादात्म्यम्, तत्समवायो वा ? । तद्यदि तादात्म्यम्, पूर्ववं[16]त् दोषप्रसङ्गः । अथ समवायः, तदयुक्तम्; तस्याभावात् । भवतु वा । स सर्वव्यां[17]पी

---

१. नियमतः मु० क० । २. °यतः संके° मु० क० । ३. अथ मास्तु दृष्ट° मु० । ४. खादेत्स्व अ० ब० मु० । ५. भवति असौ मु० । ६. अनित्यः पुरु° क० मु० । ७. °षेच्छाप्रवृत्ति° क० । ८. संबन्ध्यर्थः मु० । ९. नित्यत्वात् कथमाश्रयानित्यत्वात् संब° ब० । नित्यत्वात् कथमाश्रयनित्यत्वात्संबं° क० मु० । १०. °स्यानित्यता ब० मु० क० । ११. तत्र ताभ्यो मु० । १२. 'नाप्यभिन्नम्' इति नास्ति क० मु० प्रत्योः । १३. सामान्यस्य अ-टि० । १४. °तया अनुभूयमानं मु० । १५. वा । न ताव° मु० क० । १६. तासां नानात्वे तस्यापि नानात्वोपपत्तेरित्यादिकः अ-टि० । १७. सर्वव्यापि मु० क० ।

गोत्वं यथा गोपिण्डेषु संबन्धयति[1] तथा कर्कादिपिण्डैरपि संबन्धयेत्। अवान्तरसंबन्धकल्पनायामनवस्था।

§ ३१. किञ्च—सामान्यं व्यक्तिषु वर्तमानमेकदेशेन वा वर्तेत, अनेकदेशेन वा?। नैकदेशेन, निष्प्रदेशत्वात् सामान्यस्य। नापि सामस्त्येन, एकस्यामेव व्यक्तौ परिसमाप्तिप्रसंगात्।

§ ३२. किञ्च—केयं वृत्तिः?। आधेयता वा स्यात्, व्यक्तिर्वा[2] भवेत्?। नाधेयता, निष्क्रियत्वात् सामान्यस्य। गुरुणो हि द्रव्यस्य पततः स्थितिकरणादाधारः स्यात्। न चैतत् स्थितेर्भिन्नाभिन्नकरणेन सामान्ये युज्यते। नापि व्यक्तिः, नित्यस्य व्यक्तेरयोगात्। तथा हि—व्यक्तिरावरणापगमे सति ज्ञानजनकत्वमुच्यते। न च नित्यस्य ज्ञानजनकत्वं विद्यते। यदेव हि ज्ञानजनकावस्थायां सामान्यस्य रूपं तदेव[3]ाव्यक्तावस्थायामपीति प्रागिव[4] न जनयेत्। यद्वाऽव्यक्तावस्थायामप्येकरूपत्वाज्जनयेत्। अथ कारकान्तरमपेक्ष्य जनयति। ननु कारकान्तरेण किं तस्य जनकत्वं क्रियते, अथ ज्ञाप्यते?। तद्यदि क्रियते, सुस्थितं नित्यत्वम्!। अथ ज्ञाप्यते, सिद्धं तर्हि जनकत्वं कारकान्तराभावेऽपि। भवतु, को दोष इति चेत्; कार्योत्पत्तिप्रसङ्गः। अथ कारकत्वेऽपि कार्यं न जनयेत्। अहो राजाज्ञा गरीयसी देवानांप्रियस्य!।

§ ३३. इतोऽपि न विद्यते सामान्यम्, तदुपलम्भकप्रमाणाभावात्। नन्वस्ति प्रमाणम् 'अनयोः सादृश्यम्' 'एषां सारूप्यम्' 'तेन सदृशोऽयम्', 'असौ वा अनेन सदृशः' इत्यादि ज्ञानं अप्रतिपन्नसामान्यस्य नोपपद्यते। अस्तीदं विज्ञानं बाधाविकलं[5] जातिज्ञापकम्। तदेतदयुक्तम्[6]। यतः किं तेन निमित्तभूतेनैवं विज्ञानमुत्पाद्यते, कर्मतापन्नेन वा?। तद्यदि निमित्तभूतेनोत्पाद्यते, तदा ता एव व्यक्तयः समानाकारपरिणतास्तन्निमित्तं सन्तु अलं परपरिकल्पितेन सामान्येन। अथ कर्मतापन्नेनोत्पाद्यते, तन्नैवावभाति। न ह्यशेषव्यक्तिसाधारणं सामान्यस्वरूपमध्यक्षमीक्षामहे[7]। तन्न किंचित्सामान्यं यदाश्रितः[8] संबन्धः स्यात्।

§ ३४. किञ्च—आश्रयेण नित्यस्य सतः संबन्धस्योपकारः[9] क्रियते न वा?। अकरणे साकल्येन सकलं जगदाश्रयेत। करणे वा स तस्माद् भिन्नः स्यात्, अभिन्नो वा?। अभेदे नित्यताहानिप्रसंगात्। भेदे च न किंचित् संबन्धस्य कृतं स्यात्। तत्संबन्ध्युपकारकरणकल्पनायामनवस्था गगनतलावलम्बिनी धूमलतिकेव प्रसरन्ती दुर्निवारा स्यात्। तन्न कश्चित् नित्यः[10] संबंधः। न च क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधेन संबन्धः सामान्यमन्यद्वा वस्तु नित्यं समस्तेऽपि जगत्यस्ति।

§ ३५. किञ्च—असौ संबन्धः प्रतीतो वाऽर्थं प्रकाशयेत्, अप्रतीतो वा?। अप्रतीतस्य सन्निधिमात्रेणार्थप्रकाशने सर्वदा सर्वप्रतिपत्तॄणां[11] प्रकाशयेत्। प्रतीतश्चेत्, केन प्रतीतः?। किं प्रत्यक्षेण, आहोस्विदनुमानेन?। न तावत् प्रत्यक्षेण, शब्दार्थव्यतिरेकेण तस्यानुपलब्धेः। नाप्यनुमानेन, लिङ्गस्य प्रत्यक्षेण संबन्धस्याग्रहणात्। अनुमानेन तेनैव संबन्धग्रहणे इतरेतराश्रयत्वम्। तथा हि—यावन्न संबन्धग्रहणं तावन्नानु-

(हाशिया: शब्दार्थसंबन्धविचारः।)

---

१. °षु समर्थयति मु० क०। २. व्यक्तिपूर्वा वा क० मु०। ३. तदेव व्य° क० मु०। ४. प्रागेव जनयेत् क० मु०। ५. बाधकवि° मु० क०। ६. तदेतद्युक्तम् मु०। ७. °न्यरूप° क० मु०। ८. यत्राश्रितः क० मु०। ९. °स्योपचारः क० मु०। १०. कश्चित् सं° अ०। ११. सर्व प्रति° अ०।

मानम्; यावन्नानुमानं तावन्न संबन्धग्रहणमिति । अपरेणानुमानेन संबन्धग्रहणेऽनवस्था । तन्न प्रमाणप्रतीतः[1] संबन्धः ।

§ ३६. किञ्च – असौ परिकल्प्यमानः तादात्म्यलक्षणो वा स्यात्, तदुत्पत्तिलक्षणः[2], संयोगलक्षणः, समवायलक्षणः, विषयविषयिलक्षणो वा स्यात्? । तत्र न तावत् तादात्म्यलक्षणः संभवत्यप्रतीतेः । अन्यथा क्षुरिकामोदकादिशब्दोच्चारणे[3] मुखपाटनपूरणादिरुपलभ्येत । न चोपलभ्यते । तन्न प्रथमः । नापि द्वितीयः, यतः शब्देन वा अर्थो जन्यते, अर्थेन वा शब्दः? । प्रथमपक्षे न कश्चिदपरिपूर्णेच्छः स्यात् । द्वितीयेऽपि अर्थेषु यथास्वं पुरुषबुद्धिनिरपेक्षाणां[4] शब्दानां श्रवणं स्यात् । न चार्थमात्रात् पुरुषबुद्धिनिरपेक्षाः शब्दा उत्पद्यन्ते । तथा हि – अर्थदर्शनम्, ततः तत्प्रतिपादनाभिप्रायः, ततो विवक्षा, ततः स्थानकरणाभिघातः, ततः शब्दनिष्पत्तिरिति नार्थजन्यता शब्दानाम् । न च नित्यत्वेनाभ्युपगतानां शब्दानामयं प्रकारः संभवति । तन्न तदुत्पत्तिलक्षणोऽपि[5] । नापि संयोगलक्षणः, यतो मुखे शब्दस्योपलब्धिः, भूमावर्थस्य । नापि समवायलक्षणः, अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानामेव हि स[6] वर्ण्यते । न च शब्दार्थयोरयुतसिद्धिराधाराधेयभावो वा[7] घटते । तन्न समवायोऽपि । विषयविषयिभावोऽपि वाच्यवाचकभाव एव । स च सति संबन्धे नित्ये सांकेतिके वा[8] स्यात् न पुनरसति संबन्धे । अन्यथा सर्वार्थैर्वाच्यवाचकभावः[9] स्यात् । तन्न कश्चित् वास्तवः संबन्धो यस्यापौरुषेयता परिकल्प्येत ।

वर्णापौरुषेयत्वनिषेधः

§ ३७. नापि वर्णा अपौरुषेयाः, तेषां लोक-वेदयोर्भेदानभ्युपगमात् । तदपौरुषेयत्वसाधने न किंचिन्नाऽपौरुषेयं स्यात् । ततो मिथ्याशब्दानामप्यपौरुषेयत्वे निष्फलैवापौरुषेयता । भेदाभ्युपगमे वाऽभ्युपेतहानिः । प्रत्यभिज्ञाया अप्रामाण्यं च स्यात् । तथा हि – वेदगकारं श्रुत्वा पुंसः 'स एव गकारो यो मया लौकिकेषु वाक्येषूपलब्धः' इति प्रत्यभिज्ञानोत्पत्तेः । तदप्रामाण्ये सर्वत्र प्रत्यभिज्ञायामनाश्वास इति न वर्णानामपौरुषेयता भवतां श्रेयस्करीति ।

वाक्यविचारः ।

§ ३८. नापि वाक्यम् । यतस्तद् वर्णेभ्यो भिन्नं वा स्यादभिन्नं[10] वा? । अभेदे वाक्यमेव स्यात्, वर्णा एव वा स्युः । भेदेऽपि तददृश्यं वा स्यात्, दृश्यं[11] वा? । अदृश्यत्वे न ततोऽर्थप्रतिपत्तिः स्यात् । न ह्यप्रतीताद् वाक्यादर्थप्रतीतिः साधीयसी । अप्रतीतादप्यर्थप्रतीतौ न प्रतीतेर्विरामः स्यात् । नापि दृश्यम्, अनुपलम्भात् । न हि देवदत्तादिवर्णव्यतिरिक्तं किञ्चिद्वाक्यमुपलभामहे ।

§ ३९. किञ्च – तद्वाक्यं वर्णद्वारेण वा प्रतीयेत, स्वातन्त्र्येण वा? । न तावत् स्वातन्त्र्येण, न हि अवर्णश्राविणो[12] वाक्यप्रतीतिरस्ति । वर्णैरपि प्रतीयमानं वाक्यं सावयवं स्यात्, अन-

१. °प्रतीतस° मु० क० । २. °णः, तदुत्प° मु० । ३. °रणात् मुख° क० । ४. °निरपेक्षात् श° अ० ब० क० । ५. °क्षणो नापि° क० मु० । ६. हि वर्ण्य° क० मु० । ७. °भावो घटते क० मु० । ८. सांकेतिके च स्यात् अ० । ९. सर्वार्थे वाच्य° मु० । १०. वाऽभिन्नं क० । ११. दृष्टं वा मु० । १२. न हि अनवर्ण° अ० ।

वयवं वा ? । तेऽप्यवयवाः प्रत्येकं सार्थकाः स्युः, निरर्थका वा ? । सार्थकत्वे एकावयवप्रतीतावपि सकलवाक्यार्थप्रतीतिः प्रसज्येत । निरर्थकत्वे सकलावयवप्रतीतावपि न वाक्यार्थप्रतीतिः स्यात्[1] । नापि निरवयवम् । तद्धि वर्णैः समस्तैर्वा प्रत्याय्यते व्यस्तैर्वा ? । न तावत् समस्तैः, उच्चरितप्रध्वंसिनां वर्णानां सामस्त्यासंभवात् । नापि व्यस्तैः, प्रथमवर्णश्रवणकाल एव सकलस्य वाक्यस्य प्रतीतेः शेषवर्णोच्चारणस्य वैयर्थ्यप्रसंगात् ।

§४०. अथ समस्तवर्णसंस्कारवत्या अन्त्यवर्णबुद्ध्या वाक्यावधारणमिष्यते । ननु[2] किं तत् स्मरणं उताध्यक्षम् ? । न तावत् स्मरणम्, विद्यमानान्त्यवर्णग्राहकत्वात् । नापि प्रत्यक्षम्, अविद्यमानपूर्ववर्णविषयत्वात् । अथ पूर्ववर्णस्मरणान्त्यवर्णग्रहणाभ्यामेकं विकल्पज्ञानं जन्यते तेन वाक्यावधारणम् । नन्वेवं[3] कल्पनाज्ञानविषयत्वे काल्पनिकत्वं वाक्येऽभ्युपगतं स्यात् । न वस्तुरूपता । अनेकवर्णानां चैकवाक्यप्रतिपादनेऽर्थे[4] क एषां व्याघातः ?, येनैकं वाक्यं वर्णव्यतिरिक्तम् अर्थप्रतिपादकं कल्प्येत ।

§४१. कल्प्यमानं वा तदनित्यं स्यात्, नित्यं वा ? । यद्यनित्यम्[5], करणव्यापारान्वयव्यतिरेकानुविधानात् पौरुषेयमेव स्यात् । तदुक्तम्—

"अनित्यं यत्नसंभूतं पौरुषेयं कथं न[6] तत् ।" [प्रमाणवा० ३.२५१]

अथ नित्यम्, सामर्थ्यतिरस्कारा[7]योगात् सर्वदाऽर्थप्रतीतिं जनयेत्[8] । आवृतत्वान्नेति चेत्; न, नित्यस्यावरणायोगात् । किंचित् कुर्वाणं हि आवरणं स्यात् । न च नित्यस्य किंचित् कर्तुं पार्यते । करणे वाऽनित्यताप्रसक्तेः । यदि च ताल्वादिव्यापारेऽपि कदाचिदनुपलब्धिर्वाक्यस्य स्यात् तदा व्यंग्यधर्मा[9]नुविधानात् किंचिदावरणमपि कल्प्येत[10] । व्यङ्ग्यस्य हि घटादेरेष धर्मो यदुत प्रदीपादौ व्यञ्जके सति न सर्वदोपलब्धिः । अन्यथा ताल्वादिव्यापारे नियमेनोपलभ्यमानस्य शब्दस्य व्यङ्ग्यत्वपरिकल्पने घटस्यापि कुलालादिव्यङ्ग्यताप्रसंगः । तन्न किंचित् वाक्यम् ।

§४२. वर्णानुपूर्वी वाक्यमिति चेत्; ननु साप्यानुपूर्वी वर्णेभ्यो भिन्ना स्यात्, अभिन्ना वा ? । न तावद्भिन्ना, भिन्नवाक्यदूषणेनैव तस्या निरस्तत्वात् । नाप्यभिन्ना, यतो वर्णबाहुल्यानभ्युपगमात् । तद्रूपायां चानुपूर्व्यामग्निरित्येव स्यात्, न गगनमिति ।

§४३. किञ्च—तेऽपि वर्णा नित्याः स्युः, अनित्या वा ? । अनित्यत्वे तेषां पौरुषेयत्वमेव स्यात् । नित्यत्वे व्यापिनो स्युः अव्यापिनो वा ?[11] । अव्यापित्वे न सर्वत्रोपलम्भः स्यात् । तथा हि—कान्यकुब्ज[12]देशव्यवस्थितस्य शब्दस्य न मान्यखेटदेशव्यवस्थैः पुंभिरुपलम्भः स्यात् । अप्राप्यकारित्वात् श्रोत्रस्य अदोष इति चेत्; न, तत्रापि योग्यतापेक्षणात् अयस्कान्ता[13]यःकर्षणवत् । व्यापित्वाभ्युपगमे नानुपूर्वी स्यात् । तथा हि—सा देशकृता वा स्यात् यथा पिपीलिकानां पङ्क्तौ, कालकृता वा स्यात् यथा बीजांकुरादीनाम् । तत्र न तावत् देशकृता, अन्योऽन्यदेशपरिहारेण वृत्तिर्हि देशपौर्वापर्यम् । तत् सर्वस्य सर्वत्र तुल्यदेशत्वात् वर्णेषु न

---

१. °तीतिः प्रसज्येत । नापि मु० । २. ननु तत् अ० । ३. नत्वेवं क० । ४. अर्थे प्र° क० अ० । ५. यत्र मु० क० । ६. कथं नु तत् क० । कथं तु तत् मु० । ७. °तिरस्कारयोगात् क० । ८. जनयेत् न नित्य° अ० । ९. तदा व्याप्यधर्मा° मु० । १०. कल्पेत अ० । ११. °पिनो वा स्युः क० । १२. कन्य क० अ० ब० । १३. °न्तापकर्षण° अ० ।

संभवति वातातपादिवत् आत्मादिवच्च । नापि कालकृता, यतः कालपौर्वापर्यं यदैको नास्ति तदा अन्यस्य सद्भावात् स्यात् । तच्च नित्येषु न संभवति । सर्वस्य सर्वदा भावात् । न चान्या गतिरस्ति । तत् कथं वर्णानुपूर्वी वाक्यं यदपौरुषेयं परिकल्प्येत ।

§ ४४. वाक्यदूषणेनैव च पदस्यापि निरस्तत्वात् न तद्दूषणं पृथगुच्यते । तन्न किञ्चि-द्वैदिकमपौरुषेयं यन्निबन्धनः प्रामाण्यलक्षणो विशेषो वेदे स्यात् यत्सद्भावात् असिद्धता हेतोर्भवेत् ।

§ ४५. नापि विरुद्धता, हेतोः सपक्षे सद्भावात् । नाप्यनैकान्तिकता, जगतोऽहेतुकता-प्रसङ्गात् । तथा हि – कार्यभेदाभेदौ कारणभेदाभेदपूर्वकौ, अन्यस्य भेदहेतोरभावात् । तदु-क्तम् – "अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा यदुत विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्च ।" तौ चेन्न भेदकौ विश्वस्य वैश्वरूप्यं [1]हीयेत । तत्र यदि लौकिक-वैदिकयोर्भिन्नकारणता स्यात् तदा कार्या-भेदोऽहेतुकः स्यात्, कारणस्य हेत्वभेदस्याभावात् । तथाऽविकलेऽपि कारणभेदे यदि कार्य-भेदो न भवेत् सोऽप्यहेतुकः स्यात् । यथा हि कारणाभावे भवद् अहेतुकम् तथाऽविकलेऽपि कारणे अभवद् अहेतुकमेव स्यात् । न च भेदाभेदौ विहाय अपरं जगदस्तीति अहेतुकं सकलं स्यात् । न चाहेतुकम्, नित्यं सत्त्वादिप्रसङ्गात् । तन्नानैकान्तिकताऽपि । तस्मात् स्थित-मेतत् नापौरुषेयो वेद इति । तन्न तन्निबन्धनं वेदस्य प्रामाण्यमिति स्थितम् ॥ [७[१]] ।

§ १. नन्वीश्वरस्य सर्वकर्तृत्वात् सर्वज्ञत्वे सिद्धे कथं न प्रामाण्यम् ? । तथा हि – भूर्भूध-रादिकं बुद्धिमत्कारणपूर्वकम्, कार्यत्वात् । यद्यत् कार्यं तत्तत् बुद्धिमत्कारण-पूर्वकम्, यथा घटादि । तथा च भूभूधरादिकम् । तस्मात् तत् तथेति । नैतत् साधनम्, स्वरूपासिद्धत्वात् । तदाह – स्वरूपेणेत्यादि –

ईश्वरप्रामाण्यविचारः ।

स्वरूपेण विशेषेण न सिद्धं भूधरादिषु ॥ ७ ॥

§ २. ननु कस्येदमसिद्धम् ? । किं गृहीतसंकेतस्य, किं वाऽगृहीतसंकेतस्य ? । यद्यगृहीत-संकेतस्य, तदा धूमोऽपि न नालिकेरद्वीपायातस्य सिद्धः । अथ गृहीतसंकेतस्य, तदाऽस्मदादेः सिद्धत्वात् कथमसिद्धम् ? । नैतदस्ति । नागमसिद्धं वस्तु साधयति किन्तु प्रमाणसिद्धम् । न च जगदादौ भूविमानादीनां प्रत्यक्षेण कार्यत्वं प्रतीयते । अनुमानेन प्रतीयत इति चेत्; तथा हि – यत् संस्थानवत् तत् कार्यम्, यथा पटः । तथा, यद्रचनावत् तदवश्यं विनश्यति, यथा तन्तुव्यतिषङ्गजनितं रूपं तन्तुविनाशात्, तन्मोचनाद्वा विनश्यति ततो विनाशात् कार्यत्वं पृथिव्यादेरनुमीयत इति ।

§ ३. अथ किमिदं रचनावत् ? । किं परमाणवः, किं वाऽवयवी ? । न तावदणवः, तेषां नित्यत्वाभ्युपगमात् । यथा हि जैनस्यावयविनमन्तरेणापि परमाणवः परिणमन्तः कार्यरूपतां भजन्ते न तथा नित्याणुवादिनामिति । नाप्यवयवी, तस्याभावात् ।

---

१. सद्भावः स्यात् मु० क० । २. °वति सर्वदा क० मु० । ३. हीयते मु० ब० । ४. भूभृद्धरादि° मु० क० । ५. तथेति । ननु कस्ये° मु० । ६. साध्यति मु० । ७. किन्तु सिद्धम् मु० । ८. विनंक्ष्यति ब० मु० क० ।

§४. ननु धर्मिणं प्रतिपद्यते परः किं वा नेति ? । यदि न प्रतिपद्यते, तदा[1] तन्निराकरण-हेतोराश्रयासिद्धत्वमस्य । अथ प्रमाणेन[2] प्रतिपद्यते; तदा कथं तन्निरासः ? । नैष दोषः । यतः प्रसङ्गविपर्ययसाधनाभ्यां तन्निरासं मन्यते । तथा हि—यदनेकवृत्ति[3] तदनेकम्, यथा अकानकम् । अनेकवृत्तिश्चावयव्यभ्युपगम्यते इति प्रसङ्गः । न चानेकरूपोऽभ्युपगम्यते । तस्मानेकवृत्तिरिति प्रसङ्गविपर्ययः । व्याप्याभ्युपगमस्य व्यापकाभ्युपगमनान्तरीयकत्वप्रदर्श[4]-नात् नाश्रयासिद्धता प्रसङ्गहेतोः । व्यापकश्च निवर्तमानो व्याप्यमादाय निवर्तत इति व्याप-काभावे व्याप्याभावोऽपि नासिद्ध इति सिद्धो विपर्ययहेतुरपि । निमित्तान्तराभावाद् व्याप्तिसिद्धेः नानैकान्तिकौ[5] । तथा हि—यत् यन्मात्रनिमित्तं तत् तस्मिन् सति भवत्येव । यथान्त्यकारण-सामग्रीमात्रनिबन्धनोऽङ्कुरः । विरुद्धधर्माध्यासमात्रनिमित्तश्च भेदव्यवहार इति स्वभावहेतुः । प्रतिभासभेदोऽपि न विरुद्धधर्मतामतिक्रामतीति नासिद्धता । सपक्षे भावात् न विरुद्धता । तन्निमित्ते सत्यप्य[6]भवतोऽन्यनिमित्ताभावात् सर्वत्राभवनप्रसङ्गो व्यापकविरुद्धोपलब्धिः[7] । विपर्यये बाधकं प्रमाणम्, सापेक्षत्वानपेक्षत्वयोर्विरोधात्[8] । तथा हि—यथा निमित्ताभावेऽपि भवतोऽहेतुकता तथाऽविकले निमित्ते सत्यप्य[9]भवतोऽहेतुतैव । अहेतोश्चासत्त्वं सत्त्वमेव वा सदा स्यात् । तस्मानैकान्तिकता ।

§५. एकस्य युगपदनेकवृत्तित्वमेव च विरुद्धधर्मसंसर्गः । तथा हि—अवयवेषु अवयवी सामस्त्येन वा वर्तेत, एकांशेन वा ? । सामस्त्येन[10] वृत्तावेकस्मिन्नेवावयवे परिसमाप्तत्वादनेक-वृत्तित्वं न[11] स्यात् । एकद्रव्यं[12] च द्रव्यं स्यात् । एकस्य चाणोर्विभागाभावात् नित्यत्वं च कार्य-द्रव्यस्य स्यात् । एकस्य चाजनकत्वम्, सामग्र्या जनकत्वात् । अवयवेषु चावयवीति प्रत्य-याभावः प्रसज्येत । वृत्तौ चैकैकस्मिन्नवयवे युगपद्भावाभावौ स्याताम् । तथा हि—'एकस्मिन्न-वयवे सामस्त्येन वर्तते' इति तत्र सद्भाव उक्तः । पुनरन्यत्र तथैव वर्तत इति तदैव तत्रैवा-सद्भाव इत्येकत्र युगपद्भावाभावयोर्विरोधः ।

§६. नाप्यंशेन निरंशस्य तस्योपगमात् । सांशत्वे वा तेऽपि ततो भिन्नाः स्युरभिन्ना वा ? । भिन्नत्वे पुनरप्यनेकांशवृत्तेरेकस्य सामस्त्यैकांशविकल्पानतिक्रमः । अभिन्नत्वे अंशा-न्तर्गमेंऽशिनः तद्वदे[13]दाभावप्रसङ्गः । अंश्यन्तर्गमेंऽशानां, ततो निरंशोऽशी स्यात् । तत्र च पूर्वनीतितोऽनेकवृत्त्यभावोऽनेकवृत्तित्वे वा विरुद्धधर्माध्यासिता ।

§७. अथ अवयविनोऽवयवेषु वृत्तिस्तत्र[14] समवायः । ननु सोऽपि समवायस्तेषु वर्तते न वा ? । यदि समवायस्य समवायान्तराभावात् न वर्तते तदा यावदसौ पाण्यादिषु पुरुषाव-यविनं संबन्धयति[15] तावत् तन्त्वादिषु अपि किं न संबन्धयति, अवृत्तेरविशेषात् । अथ वर्तते, तदा तत्रापि यदि समवायो वृत्तिः, तदानवस्था । अथानेकावयवाधेयत्वम्, तदा 'यद् अनेक-वृत्ति तदनेकम्' इत्यनेनैव साधनेन तस्याभावः । तस्मादवयविनोऽनेकावयवसमवायस्तत्र वृत्तित्वम् । ततः सिद्धा प्रसंगहेतोर्विरुद्धधर्मात्मता ।

---

१. तदा किं तन्नि° मु० । २. प्रमाणे प्र° मु० । ३. °कवृत्तिः तद° मु० क० । ४. °रीयकप्रद° मु० ब० क० । ५. °कान्तिकः । तथाहि ब० । ६. सत्यपि भव° मु० क० । ७. °लब्धिः सापेक्ष° मु० । ८. °रोधात् विपर्यये बाधकं प्रमाणं तथाहि मु० क० । ९. सत्यपि भव° मु० क० । १०. सामस्त्ये वृ° मु० क० । ११. त्वं स्यात् मु० क० । १२. एकं द्रव्यं मु० क० । १३. तद्वदभेदा-भावप्र° अ० । १४. वृत्तिस्तत्सम° अ० । १५. संबन्ध्यति अ० ।

§८. इतोऽप्यवयविनोऽनेकावयववृत्तेर्विरुद्धधर्माक्रान्तता । यत एकस्मिन्नवयवे चलति[1] चलत्वं प्राप्नोति । पुनस्तत्रैव द्वितीयावयवाचलत्वेऽचलत्वम् । तथैकावयवरागे रागोऽपरागे चापरागः[2] । तथा, आवरणे आवरणम्, अनावरणे चानावरणमिति. निरंशस्य युगपच्चलाचलत्वादियोगो विरुद्धधर्मसंसर्गः । न चावयवानामेव चलत्वादिकं नावयविन इति वक्तव्यम् । एकस्य पाण्यादेश्चलाचलादिप्रतीतिप्रसङ्गात् । तथा हि – अवयवचलनाच्चलत्वावभासः स्यात्, तत्रैव चावयवे स्थितस्यावयविनोऽचलनादचलत्वप्रतीतिरित्येवं रक्तादिषु अपि वाच्यम् ।

§९. किञ्च – अवयवेभ्योऽवयवी भिन्नो वा[3] स्यादभिन्नो वा[4] ? । यद्यभिन्नः, तदाऽवयवभेदवद् अवयविनः खण्डशो भेदप्रसङ्गः । अवयविस्वरूपवद्वा अवयवानामभेदः स्यात् । तथा चैकस्यानंशस्याप्रतिभासनाद् अप्रतिभासं जगत् स्यात् । अथ भिन्नः, तदा तस्यानुपलम्भाद् असत्त्वमेव । तथा हि – यदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते तदसदिति व्यवहर्तव्यम् । यथा खरविषाणादि[5] । नोपलभ्यते चोपलब्धिलक्षणप्राप्तोऽवयवेभ्यो[6] व्यतिरिच्यमानमूर्तिरवयवीति स्वभावानुपलब्धिः । परैरवयविनो दृश्यत्वाभ्युपगमान्नासिद्धविशेषणता[7][8] हेतोः । ऊर्ध्वाधोमध्यभागव्यतिरिक्तवपुषोऽप्रतिभासनात् न स्वरूपासिद्धता[9] । न च समानदेशत्वादवयविनोऽवयवेभ्यः पृथगनुपलक्षणमिति वाच्यम्, समानदेशत्वेऽपि रूपरसयोर्वातातपयोश्चैकेन्द्रियग्राह्यत्वेऽपि पृथगुपलक्षणात् ।

§१०. अथ दूरदेशस्यावयवाप्रतिभासेऽप्यवयविनः प्रतिभासनात् कथं नासिद्धता ? । तदसत्, अस्पष्टाकारस्यावस्तुत्वेन तत्प्रतिभासस्य भ्रान्तत्वात् । वस्तुत्वे वा[10]ऽन्यस्यापि निकटदेशस्य सोऽस्पष्टाकारः सुतरां प्रतिभासेत[11] । अथाकारद्वयमवयविनः स्पष्टम् अस्पष्टञ्च । तत्र निकटस्थः स्पष्टमुपलभते, दूरस्थस्तु[12] अस्पष्टमिति । ननु असावस्पष्टाकारो यदि अवयवदेशः, तदा निकटस्थ आकारद्वयमुपलभेत । अथान्यदेशस्तदा[13]त्मनः पृष्ठतः तं पश्येत् । किञ्च तदाकारद्वयम् अवयविनः केन गृह्यते ? । न तावद्दूरदेशज्ञानेन । तत्र निकटदेशज्ञानविषयस्पष्टरूपानवभासनात् । अस्पष्टस्वरूपप्रतिभासं हि तदनुभूयते[14] । नापि निकटदेशज्ञानेन । स्पष्टरूपावभासवेलायां हि तत्र[15] नापरोऽस्पष्टाकारः प्रतिभाति[16] । तन्नावयविन आकारद्वययोगः ।

§११. अथ 'दूरदृष्टमवयविनः स्वरूपं परिस्फुटमिदानीं पश्यामि' इति तयोरेकता । ननु किमपरिस्फुटरूपतया परिस्फुटमवगम्यते, आहोस्वित् परिस्फुटरूपतयाऽपरिस्फुटम् ? । तत्र यद्याद्यः पक्षस्तदाऽपरिस्फुटस्वरूप[17]संबन्धित्वमेवावयविनः प्राप्नोति, परिस्फुटरूपस्यापरिस्फुटरूपानुप्रवेशेन प्रतिभासनात् । अथ द्वितीयः, तदा स्पष्टस्वरूप[18]संबन्धित्वमेव स्यात्, अस्फुटस्य विशदरूपानुप्रवेशेनावभासनात् । तन्न स्वरूपद्वयावगमोऽवयविनः । न चैकस्य विरुद्धधर्मद्वययोग उपपत्तिमान् । ततः स्फुटास्फुटरूपयो[19]रेकत्वप्रतिभासनमभिमानमात्रम् ।

---

१. चले सति मु० । २. चारागः अ० ब० । ३. भिन्नो स्या° अ० । ४. °भिन्नो यद्य° मु० । ५. खरे विषा° अ० । ६. °प्राप्तोऽवय° क० मु० । ७. °विनोऽदृश्य अ० । ८. °णता । नच मु० । ९ °सिद्धता । अस्पष्टा° अ० । १० °त्वे चान्य° ब० । ११. °भासते क० मु० । १२. °स्थोऽस्प° मु० । १३. °देशस्थस्त° मु० । १४. दूरदेशज्ञानम् अ-टि० । १५. हि नाप° अ० । १६. प्रतिभासते क० मु० । १७. स्फुटरूप° मु० क० । १८. स्पष्टरूपत्वमेव क० मु० । १९. °स्फुटतयोरे अ० ।

§१२. अथालोकभावाभावकृतस्तत्र स्फुटास्फुटप्रतिभासभेदः। नन्वालोकेनापि अवयविस्वरूपमेवोद्भासनीयम्। तच्चेदविकलं दूरदेशज्ञाने प्रतिभाति कथं न तत्र स्फुटावभासः?। अन्यथा विषयभेदमन्तरेणापि ज्ञानप्रतिभासभेदे न ज्ञानावभासभेदो रूप-रसयोरपि भेद[1]-व्यवस्थापकः स्यात्। अथावयविस्वरूपमुभयत्राप्येकमेव प्रतीयते। स्फुटास्फुटाकारौ तु ज्ञानस्यात्मानावित्युच्यते। तदसत्। यदि तौ ज्ञानाकारौ; कथमवयविरूपतया प्रतिभासत इत्यभ्युपगमः?। तदुपगमेऽवयव्याकारौ तावुपगन्तव्यौ। न चापरं[2] स्फुटास्फुटाकारतां मुक्त्वा अवयविस्वरूपमाभाति। व्यक्ताव्यक्ताकारात्मनश्चावयविनो व्यक्ताव्यक्ताकारवद् भेदः। तन्नावयवी दूरदेशस्थावयवाप्रतिभासेऽपि प्रतिभाति।

§१३. किञ्च — किं कतिपयावयव[3]प्रतिभासे सत्यवयवी प्रतिभातीत्युपगम्यते, आहोस्वित् समस्तावयवप्रतिभासे?। यद्याद्यः[4] पक्षः, तदा जलमग्नमहाकायस्तम्भादेरुपरितनकतिपयावयवप्रतिभासेऽपि समस्तावयवव्यापिनः स्तम्भावयविनः प्रतिभासः स्यात्। नापि द्वितीयः, मध्यपरभागवर्तिसमस्तावयवप्रतिभासासंभवेनावयविनोऽप्रतिभासप्रसंगात्।

§१४. अथ भूयोऽवयवग्रहणे सत्यवयवी गृह्यते इत्य[5]भ्युपगमः। तस्मिन्नपि समस्तावयवव्यापिनोऽवयविनो[6]ऽग्रहणात्। तथा हि — अर्वाग्भागभाव्यवयवग्राहिणा प्रत्यक्षेण परभागभाव्यवयवाग्रहणात् न तेन तद्व्याप्तिरवयविनो गृहीतुं शक्या, व्याप्याग्रह[7]णे तद्व्यापकस्यापि ग्रहीतुमशक्यत्वात्, ग्रहणे वाऽतिप्रसङ्गः स्यात्। न[8] च व्यवहितावयवाप्रतिभासेप्य(पि) व्यवहितोऽवयवी प्रतिभाति इति वाच्यम्। व्यवहितावयविस्वरूपावभासे तद्गमान्यावयविस्वरूपस्याप्यवभासः स्यात्, तथा तदन्यस्यापि इति सर्वस्य सर्वावयविग्रहणप्रसङ्गात्। ततो[9] व्यवहितावयवव्यापिरूपादर्वागवयवव्यापिनोऽवयविरूपस्य भेदप्रसङ्गः। तथा हि — यस्मिन्नवभासमाने[10] यन्न प्रतिभाति तत् ततो भिन्नम्। यथा घटादप्रतिभासमानः पटः। न प्रतिभाति चार्वागवयवव्यापिरूपे प्रतिभासमाने परावयवव्याप्यवयविरूपम्। तत् कथं न ततो भिन्नम्। तथाप्यभेदेऽतिप्रसङ्ग उक्तः। परभागावय[11]वग्राहिणा तु प्रत्यक्षेण तद्व्याप्येवाऽवयविस्वरूपं गृह्येत, नार्वागवयवव्यापकमपि पूर्वोक्तनीत्येति। नापि स्मरणेनार्वाक्[12]परावयवव्याप्यवयविस्वरूपग्रहः [13]प्रत्यक्षानुसारेण स्मृतेः प्रवृत्तेरिति। तत्रे[14]श्वरवादिमतेन किञ्चित्कार्यं सिद्धमस्ति।

§१५. तथा — यथाविधं घटादिषु बुद्धिमता व्याप्तं दृष्टम्, अदृष्टकर्तृकाणा[15]मपि जीर्णकूपादिषु 'बुद्धिमता कृतम्' इति बुद्धिमुत्पादयति, न तथाविधं भूधरादिषु सिद्धम्। तदाह — "विशेषेण न सिद्धं भूधरादिष्विति"। नन्वेवं विकल्पने न किञ्चिदनुमानं स्यात्। तथा हि — यथाविधो धूमो धूमध्वजपूर्वकत्वेन दृष्टान्ते दृष्टः, न तथाविधः साध्यधर्मिणि सिद्ध इति। अथ धूमसामान्यं सिद्धम्। अत्रापि कार्यसामान्यमिति समानम्। ननु कार्यसामान्यात्

---

१. °रपि व्यव° अ०। २. °परं स्फुटाकारतां मु०। ३. °वयवाभासे अ० ब०। ४. यद्याद्यः क० मु०। ५. इत्युपगमः क० मु०। ६. °यविग्रहणात् क० मु०। ७. °ग्रहणात् तद्व्या° मु०। ८. स्यात्। तत्र व्य° मु०। ९. ततोऽव्य° मु०। १०. °माने अपरा° अ०। ११. °गावयविग्रा° ब०। १२. °णेनार्वाकारावयवव्या क० मु०। १३. °ग्रहः अक्षानु° ब०। १४. तत्रेश्वरादिवादि° अ०। १५. °कर्तृणामपि क० मु०।

कारणसामान्ये सिद्धेऽपि नेष्टसिद्धिः । न, यथा वह्निसामान्यसिद्धौ तद्विशेषसिद्धिः तथा कारणसामान्यात् कारणविशेषसिद्धौ कथं नेष्टसिद्धिः ? । सिद्ध्यतु यथादृष्टो विशेषः । न हि धूमेनाप्यलौकिको वह्निः साध्यते; तथेहापि दृष्टान्तदृष्टो विशेषः सिद्ध्यतु । न तु नित्यबुद्ध्यादियुक्तः ।

§ १६. अपि च—नित्यायां बुद्धौ संबन्धाभावात् मत्वर्थीयोऽपि नोपपद्यते । अनित्यत्वे तु तां यदि बुद्ध्यन्तरेण करोति तदा तामपीति अनवस्था । अथ बुद्धिमन्तरेणापि करोति; तदा न बुद्धिमत्पूर्वकं सर्वमिति व्याप्तिः । अकृष्टोत्पत्तयश्च वने वनस्पतयः कर्तारमन्तरेणापि उत्पद्यमाना दृश्यन्त इति कथं व्याप्तिः ? ।

§ १७. अदृश्यत्वात् कर्तुस्तथेति चेत्; ननु किमदृश्यत्वात्, किं वाऽभावात्तथेति संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिको हेतुः । पक्षेणै व्यभिचाराभावादिति चेत्; येन येन व्यभिचारः तस्य तस्य पक्षीकरणे न कश्चिदहेतुः स्यात् । किंच घटेऽपि स एवादृश्यः कर्ता भवतु न कुलालः । तत् कथं तद्दृष्टान्तात् कर्तृसिद्धिः ? । कुलालस्य दृष्टत्वात् नान्यकल्पनेति चेत्; वनस्पत्यादिष्वपि दृष्टमस्तु, किमदृष्टकल्पनया ? । [७]

§ १. अपि च—यथाऽयं हेतुः कर्तारं साधयति तथेष्टविपर्ययमपि । तदाह—विरुद्धमित्यादि ।

विरुद्धं चेष्टघातेन न कार्यं कर्तृसाधनम् ।

§ २. तथा हि—कुलालः शरीरी, सरागः, असर्वज्ञश्च । ईश्वरोऽपि तथा स्यात् । तथा,

ईश्वरकर्तृत्वनिषेधः । ईश्वरः कर्ता न भवति, शरीररहितत्वात्, मुक्तात्मवदित्यपि स्यात् ।

§ ३. अथेह हेत्वन्तरेण किं प्राक्तनस्य हेतोरन्यतररूपाभावः ख्याप्यते ?, किं वा तस्मिन्नेव धर्मिणि विशेषः साध्यते ?, यथा शब्देऽनित्यत्वे सिद्धे अम्बरगुणत्वमिति । तत्र न तावदनेनान्यतररूपाभावः ख्याप्यते । नापि विशेषः साध्यमानो दोषमावहति । यदि साध्यविपर्ययसाधनेऽपि नँ दोषस्तदा न विरुद्धस्य हेतोर्दोषः स्यात् ।

§ ४. अथ शरीरमैस्योपेयते । यदि तन्नित्यम्, तदा 'रचनावत् सर्वं कार्यम्' इति न स्यात् । अथानित्यम्, तदा तदपि शरीरवतान्येन कर्तव्यम् । तदप्यन्येन 'शरीरिणेत्यनवस्था ।

§ ५. किञ्च—इदं चेतनावताऽचेतनस्याधिष्ठानं किं तद्धेतुकत्वम्, किं वा तदिच्छानुविधायित्वमिति ? ।

§ ६. तत्र

"सचेतनं यदा कर्म किमीशेन प्रयोजनम् ।
अचेतनः कथं भावस्तदिच्छामनुवर्तते ॥
कुलालकरसंपर्कजन्यः कुम्भस्तदिच्छया ।
दृष्टान्ते न भवन् दृष्टस्तदिच्छासाधनः कथम् ॥
जगतः करणे चास्य यदि किञ्चित् प्रयोजनम् ।
हीयेतं कृतकृत्यत्वं प्रेक्षाकारी न चान्यथा ॥

---

१. तां बुद्ध्य° अ० । २. अदृश्योऽपि करोति चेत् अ० । ३. पक्षेणाव्य° क० मु० । ४. अथ हेत्व° क० ब० मु० । ५. शब्दे नित्ये क० मु० ब० । ६. °पि दोषः क० मु० । ७. शरीरमवश्यमभ्युपेयते मु० । ८. शरीरेणे° क० मु० । ९. हीयते ब० मु० ।

प्रेक्षावतां यतो वृत्तिर्व्याप्तास्ते कार्यवत्तया।
प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते॥
प्रयोजनं विनाप्यस्य कृपया यदि तत्क्रिया।
सृजेच्च शुभमेवैकं कृपया परिचोदितः॥
छागादीनां पुरीषादेर्वर्तुलीकरणेन किम्।
क्रीडार्था तस्य वृत्तिश्चेत् नार्यता स्यात् समाहिता॥
किंचिन्मात्रविशुद्धोऽपि नार्यः क्रीडासु वर्तते।
स त्वत्यन्तविशुद्धात्मा कथं क्रीडासु वर्तते॥
एकस्य क्षणिका तृप्तिरन्यः प्राणैर्वियुज्यते।
कर्मणां पारतन्त्र्येण यदि चास्य प्रवर्तनम्॥
कर्मणामीशता प्राप्ता तदा क्लृप्तमनेन किम्।
कर्मणां कारणे चास्य सामर्थ्यं यदि विद्यते॥
शुभान्येव कृपायुक्तः किं न कारयते सदा।
अनुरूपं फलं यद्वत् भृत्ये राजः प्रयच्छतः।
नासामर्थ्यं न चैकत्वं फलस्याप्युपलभ्यते॥
उक्तमत्र समर्थश्चेत् शुभं कारयतां सदा।
अथेदृशः स्वभावोऽस्य कोऽत्र पर्यनुयुज्यताम्।
स्वभावो यदि विधौ नित्यः संहारं विदधाति किम्॥
अथानित्यः सहेतुः स्यात् अहेतुर्वेति कल्पना।
अहेतुर्यदि सर्वस्य स स्वभावः प्रसज्यते॥
सहेतोर्हेतुरस्यास्तु स एवान्योऽथ कश्चन।
यद्यन्यस्तत्र कर्तृत्वं स्वभावस्य विधातरि॥
तेनैव चेद् विधीयेत प्रसंगः पूर्ववद् भवेत्।
किञ्चैककर्तृपूर्वत्वं जगतोऽनेककर्तृता॥
संघातेनैकताव्याप्तिः प्रासादादिषु दृश्यते।
एकेन सूत्रितत्वं चेत् तत्रापि नियमो नहि॥
स्वातन्त्र्येण कश्चित्तेषामेककार्ये[11] प्रवर्तनात्।
अनेककर्तृपक्षश्चेदात्मभिः किं न सिध्यति?॥
कुर्वन्तु खण्डमेकैकं तज्ज्ञत्वात् चन्द्रचूडवत्।
ज्ञानवन्तोऽपि तेऽन्येन प्रेर्यन्ते यदि कर्मणि॥
सोऽप्यन्येन तदन्योऽपीत्यनेकेश्वरसंगमः।
को दोषश्चेद् भवेदेवं नैकोऽपि हि तवेश्वरः॥
सर्वेषां परतन्त्रत्वात् अमीशत्वं कुलालवत्।
तदेवं कार्यताहेतुं सर्वदोषै[13]रुपद्रुतम्।
आश्रित्य जगतो हेतुं साधयन्तो निराकृताः॥"

इति निखिलविधानाधीनविज्ञानमस्य, त्रिभुवनभवभावग्राहि दूराभिरस्तम्।
तदिह सकलवस्तुज्ञानशून्यस्य[14] रागात्, कथमिव [15]वनिताङ्गासङ्गिनो मानताऽस्तु॥ [८[1]]

१. करुणया परि° अ० ब०। २. करणे अ० ब० मु०। ३. क्रिया अ०। ४. अनरूपं मु०। ५. यच्च यू° मु०। ६. स्वभावश्चेद्विधौ क०। ७. अहेतुश्चेति अ० मु०। ८. °न्यस्तात्र मु०। ९. विधातकम् मु०। १०. साध्यतेनैक° अ० ब०। ११. °कार्यप्रव° अ० ब०। १२. °तदान्यो अ० ब०। १३. °दोषैरभिद्रुतम् ब०। १४. शून्यः स रागात् मु०। १५. °मिव दयिता क० मु०।

§ १. एवमीश्वरस्य प्रामाण्यं निरस्य सांख्याभिमतस्य प्रकृतिपुरुषान्तरज्ञानस्य प्रामाण्यं निरस्यन्नाह – प्रकृत्यन्तरविज्ञानम् – इत्यादि ।

प्रकृत्यन्तरविज्ञानं पुंसो नित्यमथान्यथा ॥ ८ ॥
नित्यत्वे सर्वदा मोक्षोऽनित्यत्वे न तदुद्भवः ।

प्रकृत्यन्तरविज्ञानपरीक्षा ।

§ २. ते हि एवं मन्यन्ते केवलानन्दभोक्तृस्वरूपो हि पुरुषः, प्रकृतिश्चाचिदात्मिका । कथमसौ तां भुङ्क्ते ? । केवलमज्ञानतमश्छन्नः प्रकृतिसाध्यमेवात्मगतं मन्यमानः तत्सुखं दुःखं चोपभुङ्क्त इति । [1]यदा तु ज्ञानमस्य [2]भवेति 'दुःखहेतुरियम्, न ममानया सह [3]संगो युक्तः' इति तदा किमिति तदुपार्जितं कर्मफलमुपभुङ्क्ते ? । सापि च 'विज्ञातस्वरू[4]पाऽहं न [5]मदीयंकर्मफलमनेन भोक्तव्यम्' इति बुद्ध्वा न किंचिदपि करोति । कुष्ठि[6]नीव विज्ञातस्वरूपा दूरादपसर्पति । अतः केवलज्ञानं मोक्षायालमिति ।

§ ३. [7]अत्रेदमभिधीयते – कस्य तज्ज्ञानं किं प्रकृतेरथात्मन इति ? । न तावत् प्रकृतेः, अचिद्रूपत्वात्, अनभ्युपगमा[8]च्च । अत एव 'निर्ज्ञाताऽहमनेन' इति अस्याः याचितकमण्डनम् । अथात्मनः, तदपि किं भिन्नमथाभिन्नम् ? । यद्यभिन्नम्, तदा तत्स्वरूपवत् नित्यं स्यात् । तत आदित एव मुक्तो भवेत् । अत आह 'सर्वदा मोक्षः' इति । अथ भिन्नम्; भिन्नमपि किं नित्यमथानित्यम् ?, नित्यमपि[9] संबद्धम्, असंबद्धं वा ? । असंबद्धे सर्वस्य स्यात् । ततश्च न कस्यापि संसारः । संबन्धोऽपि न नित्ययोः परस्परमनुपकार्योपकारकयोः स्यात् । संबन्धेऽपि [10]वां सदा मुक्तिरिति । अनित्यमपि किं जन्यमजन्यं वा ? । तत्रानित्यमजन्यं चेति व्याहतम् । अव्याहतावपि सर्वस्य स्यात् । जन्यमपि किं प्रकृतिवियुक्तात्मजन्यम्, किं वा तत्सहितजन्यमिति । प्रथमपक्षे इतरेतराश्रयत्वम् । तथा हि – सति ज्ञाने प्रकृतिवियोगः, सति वियोगे तज्ज्ञानमिति । तत्सहितजन्यत्वे किं तद्वियोगेन ? । सर्वदा सर्वेषां [11]च मुक्तिः स्यात् । ननूक्तम् 'अविज्ञानतमश्छन्नः' इति तमोवि[12]गमादस्य विज्ञानमुपजायत इति ।

§ ४. अथ किमिदं तमः ? । रागादय इति चेत् – न, तेषां प्रकृतिधर्मत्वात् । न [13]च साम्यावस्थायां तदुत्तरकार्यभाविनः प्रकृतावपि ते सन्ति । शक्तिरूपतया सन्तीति चेत्; शक्तिरपि न [14]कार्यकार्यं करोति । किन्तु स्वकार्यमेव करोति । न हि क्षीरे दधिशक्तिः दधिसाध्यं कार्यं करोति । किन्तु दध्येव करोति । दधि पश्चात् स्वकार्यं करोति । पश्चाद्भवन्तु, तथापि रागादयः सिद्धा इति चेत्; न, प्रधानस्य विकार[15]जनने सहकारिकारणाभावेन तेषां पश्चादप्यसिद्धेः ।

§ ५. सन्तु वाऽविद्यारागादयः, ते मुक्तात्मनः किं न तमो भवन्ति । अधिकारिण एव ते भवन्ति, न मुक्तात्मन इति चेत्; किमिदम् अधिकारित्वम् ? । [16]योग्यत्वमिति ब्रूमः । तथा हि – प्रकृतिरचेतना भोग्यरूपा । सा भोक्तारमपेक्षते । पुरुषोऽपि चेतनो भोक्ता च । स

१. यदा ज्ञान° मु० । २. भवेत् ब० । ३. संयोगः अ० । ४. °पाहं मदीयं मु० । ५. मदीयं कर्म° अ० । ६. नीव निर्ज्ञात क० । ७. अथेदम मु० । ८. °गमाद्वा मु० । ९. °मपि किं सं° मु० । १०. °ऽपि सदा अ० । ११. सर्वेषां मुक्तिः अ० । १२. तमो विरामाद° क० । तमो विरामेऽवश्यं विज्ञा° मु० । १३. न साम्या° अ० मु० । १४. न कार्यं क० । १५. विकाराज° मु० । १६. इतः आरभ्य 'योग्यतालक्षणः' इतिपर्यन्तः पाठः मु० क० प्रत्योः 'सन्ति' [पृ० ४४ पं० ……] इत्यनन्तरं वर्तते सं० ।

च भोग्यमपेक्षते । तयोरयं योग्यतालक्षणः संबन्धो वनगतयोरिव पङ्ग्वन्धयोर्ग्रामं निर्जिगमिष्वोरिति[1] । ननु सा योग्यता तयोर्नित्या न कदाचिदपैति[3] । ततो न कदाचित् ज्ञानोत्पत्तिरिति । तदाह – न तदुद्भवः इति । न तस्य ज्ञानस्योद्भव उत्पत्तिः स्यादिति[4] । न चाप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपस्यात्मनः[5] स्वभावविगमो युक्तिमानिति न तस्य प्राग्वत् केवलज्ञानं प्रमाणमिति स्थितम्[6] । [९[1]]

§ १. निरस्ते[7] कुमतध्वान्ते[8] जिनार्कोदयकांक्षिणा[9] ।
इदानीमुदयोपायस्तस्यायमभिधीयते[10] ॥

–कालवैपुल्येत्यादि[11] –

कालवैपुल्ययोग्यत्वकुशलाभ्याससंभवे ॥ ९ ॥
आवृतिप्रक्षयाज्ज्ञानं सार्वज्ञ्यमुपजायते ।

§ २. तथा हि –

जीवस्वाभाव्यतः सिद्धा गुणा गम्भीरतादयः ।
चरमे पुद्गलावर्ते भव्यत्वे पाकमागते ॥
रत्नत्रयाख्यं कुशलमवाप्याभ्यस्यतः क्रमात् ।
ज्ञानावृतिक्षयाज्ज्ञानमर्हतो[12] जायतेऽक्षतम् ॥ [१०[1]]

§ १. शरीराद्भिन्नमात्मानं प्रत्यक्षं नैव वीक्षते ।
प्रामाण्यं नानुमानस्य सर्वमेतदसंगतम् ॥
नानुमानं प्रमेत्येतद्वचनं चार्वाकचर्चितम्[13] । किं प्रमाणमथान्यथा ? ।

अप्रमाणं कथमनुमाननिषेधायालम् ? । प्रमाणमपि नाध्यक्षम्, अनक्षजत्वात् । अथानुमानम् । तदेतत् पीतमद्यस्य प्रलपितम् । प्रतिपादयिष्यतेऽनुमानप्रामाण्यं प्रमाणद्वित्वसिद्धाविति । तदेवोपन्यस्यन्नाह[14] – संदेहेतुकमित्यादि[15] –

सदहेतुकमस्तीह सदैव क्ष्मादितत्त्ववत् ॥ १० ॥

§ २. अनेन प्रयोगार्थो दर्शितः । प्रयोगश्च – यत् संदहेतुकं[15] तत् सर्वदा अस्ति । यथा पृथिव्यादितत्त्वम्[16] । संदहेतुकं[17] च आहाराद्यासक्तिचैतन्यपर्यायं जीवद्रव्यमिति । [१०]

§ १. एतत् साधयितुमनुमानमाह – आहारासक्तीत्यादि –

आहारासक्तिचैतन्यं जन्मादौ मध्यवत्तथा ।

§ २. इह आहारग्रहणमुपलक्षणम् । इह चेतसो यदासक्तिः सा तदभ्यासपूर्विका । यथा जीवसिद्धिः । यौवनावस्थायां[18] रागाद्यासक्तिचित्तं तदभ्यासपूर्वम् । अस्ति च जन्मादावाहाराद्या-

१. °न्धयोर्निर्जि° अ० ब० । २. °मिषोरिति क० । ३. °दपि निवर्तते न कदा° मु० । ४. उत्पत्तिः । न चा° ब० । ५. °त्पन्ने स्थि° अ० । ६. स्थितिः मु० । ७. निरस्तकु° क० मु० । ८. कुमुदध्वा° मु० । ९. कांक्षिणः मु० । १०. °दयो यस्य तस्या° मु० । ११. किलवै° क० । १२. मर्हते जा° अ० ब० । १३. चर्वितम् मु० । १४. °न्यस्यन्नाह अ० ब० । १५. सद्धेतु° मु० । १६. °त्यादिकं मु० । १७. सद्धेतु° मु० । १८. यौवनाद्यव° मु० ।

सत्किञ्चैतन्यमिति कार्यहेतुः । तत्क्षणजातस्यापि स्तनपान-शरीररक्षाद्युपलब्धेर्नासिद्धता हेतोः । सपक्षे सत्त्वान्न विरुद्धता । कार्यकारणभावसिद्धेर्नानैकान्तिकता । अनुगमस्य भावात् सदास्तित्वमात्मन इति ।

§ ३. अथ कार्यकारणभावाव्यवस्थानात् कथमेतत् ? ।

तथा हि—

"धूमो धूमान्तरोत्पन्नो न धूमादेव सर्वथा ।
शालूकादपि शालूकः कथं भवति गोमयात् ? ॥"

तथा—

"चित्रं चित्रकराज्जातं पतत्रिष्वपि किं तथा ? ।
तथाभ्यासाद्विशेषो यः सोऽन्यथाऽपि भविष्यति ॥"

§ ४. तदसत् ।

"धूमो धूमाद्यथाभूतः सोऽन्यथाऽपि न जायते ।
अभ्यासात्तु विशेषो यः स जन्मादौ तथा स्थितः ॥"

प्रामान्तराभ्यासवज्जन्मान्तराभ्यासानुपलब्धेर्न तत्कारणता चैतन्यस्य, किन्तु तदैव तस्योपलब्धेः । तस्मात् तदैव तदिति चेत् । तदेतज्जौताख्यानम्—

"कश्चिज्जौतः किलान्येन पृष्टः कथय संभवः ।
मातुर्दीर्घविषाणस्य महिषस्य कथं स्थितेः ।
स प्राह कुक्षेर्जायन्ते न मातुर्महिषा अमी ॥
हट्टागतानामेवैषां मूल्येन क्रयमात्रकम् ।
न च मातापितृचैतन्यजन्यत्वेन चेतसः ॥"

सिद्धता बाध्या । अन्यथा सकलस्य पाण्डित्यादिविशेषस्याप्यनुवर्तनं स्यात् । न चेहान्यस्य संस्कारोऽन्यस्य दृष्टः । उपाध्यायसंस्कारानुवर्तनमुपलभ्यत इति चेत्; न, स्वसंतानपूर्वविज्ञानस्यैवाभिरुचिविशेषितस्य भावाद् अन्यथाऽदृष्टेः । ये चाचेतनात् काष्ठादेरुपजायन्ते तेषां कथं मातापितृचैतन्यपूर्वकत्वम् ? ।

§ ५. किञ्च—तत्र कस्यचिन्मरणाभावात् सकलमातापितृस्वभावानुवर्तनं स्यात् । परलोकिनस्तु मरणगर्भजन्मदुःखसमुद्घातव्याकुलत्वेन कस्यचिदेव दृष्टेः । कस्यचित्तु जातिस्मरणमुपलभ्यते । अपूर्वोत्पन्नस्य तु सैवावस्थितिर्न दुःखम् ।

"तदैव तत्रोत्पन्नस्य न दुःखं विषकीटवत् ।
परलोकिनस्तु तद्दुःखमनाद्यभ्याससेवनात् ॥"

§ ६. "अथ देहात्मिका देहकार्या देहस्य च गुणो (°र्या देहगुणो) मतिः ।
मतत्रयमिहाश्रित्य न परलोकस्य संभवः ॥"

---

१. सदा नित्य° अ० ब० । २. साल्लूका° अ० ब० । ३. साल्लूकः अ० ब० । ४. °न्येन स्पष्टः कथमसंभवः मु० । ५. वृषभस्य क० मु० । ६. °मेवैषा शून्येन क्रयविक्रयमात्रकम् मु० । ७. क्रयविक्रयमा° क० । ८. न च मातृपि° क० । न मातृपि मु० । न मातापि अ० ब० । ९. सिद्धसाध्यता बाध्या क० मु० । १०. °स्य व्यापित्वावि° मु० । ११. °न्यसंस्का° क० मु० । १२. स्वसंतानस्य पूर्व° क० मु० । १३. किञ्च कस्य° क० मु० । १४. °मरणभावात् क० मु० । १५. परलोकिकस्तु क० मु० । १६. °चिज्जाति° क० मु० । १७. चैतन्यम् अ-टि० ।

तथा हि—न धूमो धूमध्वजान्तरादागच्छति। नापि धूमध्वजान्तरं प्रयाति। नापि धूमध्वजविरहे भवति। चित्रं वा न कुड्यान्तरादागच्छति, कुड्यान्तरं वा संक्रामति, कुड्यविरहितं वाऽवतिष्ठते; मदशक्तिर्वा कषायादेः सशर्करादपूर्वा जायमाना न मद्यान्तरमवलम्बते, मद्यान्तराद्वा आगच्छति, तद्विलये वाऽवतिष्ठते।

§७. तदसत्। महाभूतपरिणामरूपस्य चैतन्यकारणत्वे सर्वं स्तम्भकुम्भादि सचेतनं स्यात्। अथ महाभूतसंभविनोऽपि रत्नादयो न सर्वत्र भाविनः, तद्वत् कश्चिदेव महाभूतपरिणतिविशेषश्चैतन्यहेतुः। तदप्यसत्। यतः—

> "न स कश्चित् पृथिव्यादेरंशो यत्र न जन्तवः।
> संस्वेदजाद्या जायन्ते सर्वे बीजात्मकं ततः॥" [प्र० वा०]

अथ यदि न महाभूतकार्याः प्राणिनः कथं काष्ठाद्यन्वयिनी प्राणिजातिरुपलभ्यते?। न, यतः समानजातीयं सर्वं तद्रूपप्राणिमयं स्यात्। न चैवम्। तथा हि—परिशोष्य स्थापितेऽम्भसि सकलतद्रूपप्राणिगणोत्पत्तिः स्यात्। कुतो वर्णसंस्थानवैलक्षण्यम्?।

> "तथा हि रक्तशिरसः पीतकायादयोऽपरे।
> जलादिप्राणिनो दृष्टाः स आकारः कुतो भवेत्?॥
> तद्रूपबीजात् कमलादिभेदः, किं दृष्ट इष्टोऽनियतः कदाचित्।
> न प्राणिभेदो नियतोऽस्ति बीजात्, सर्वत्र कर्माणि नियामकानि॥"

§८. न च चैतन्यादुत्पद्यमानमुपलब्धमन्यदा[13] शरीरादुत्पद्यत इति वाच्यम्। सर्वत्र कार्यकारणभावोच्छेदप्रसक्तेः। तथा च सति—

> "नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वाऽहेतोरन्यानपेक्षणात्।
> अपेक्षातो हि भावानां कादाचित्कत्वसंभवः॥" [प्रमाणवा० ३.३४]

§९. किञ्च—तदुत्पद्यमानं चैतन्यं किं समस्तादुत्पद्यते, व्यस्ताद्वा?। न तावत् समस्तात्, अङ्गुल्यादिच्छेदेऽपि मरणप्रसङ्गात्, अन्यथा शिरश्छेदेऽप्यमरणप्रसक्तेः। नापि व्यस्तात्, एकस्मिन्नेव कायेऽनेकचैतन्योत्पत्तिप्रसङ्गात्। अथैकः शरीरावयवी तत एकमेव चैतन्यमुत्पद्यते। तदप्यसत्। आवृतानावृतत्वेन, रक्तारक्तत्वेन, चलाचलत्वेन च तस्यासंभवात्।

§१०. किञ्च—शरीरस्यावैकल्यात् मृतशरीरेऽपि चैतन्योत्पत्तिः स्यात्। अथ वातादिदोषवैगुण्यात् न मृतशरीरस्य चैतन्योत्पादकत्वम्। नैतत् सारम्। यतो मृतस्य समीभवन्ति दोषाः, ततो देहस्यारोग्यलाभात् पुनरुज्जीवनं स्यात्।

> "तेषां समत्वमारोग्यं क्षयवृद्धी विपर्ययः।" [प्र० वा०]

इति वचनात्। अथ समीकरणं दोषाणां कुतो ज्ञायते?। ज्वरादिविकारादर्शनात्। अथ वैगुण्यकारिणि निवृत्तेऽपि नावश्यं तत्कृतस्य वैगुण्यस्य निवृत्तिः। यथाऽग्निनिवृत्तावपि न

१. धूमान्तरा° क० मु०। २. गच्छति मु०। ३. तद्विगमे मु०। ४. °ष्ठते तदप्यसत्। यतः मु०। ५. तदसत् महाभाविनः तद्वत् क०। ६. न कश्चित् अ० क० मु०। ७. सर्वबीजा° क० मु०। ८. परिताप्य मु०। ९. स्थाप्यतेऽम्भसि ब० मु०। १०. रक्तः शिर° अ० ब०। ११. इष्टो वानि° क०। १२. सन्त्वत्र मु०। १३. °न्यथा श° मु०। १४. व्यस्तादेवास्मि° अ०। १५. कुतो जायते ब०।

काष्ठे दारदाहस्याऽपि । तदपि न, यतः किंचित् क्वचिदनिवर्त्यविकारारम्भकं दृष्टम्, यथा काष्ठेऽग्निः । क्वचिच्च निवर्त्यविकारारम्भकम्, यथा सुवर्णे द्रवतायाः । तत्र यदि दोषविकारोऽनिवर्त्यः स्यात्, चिकित्साशास्त्रं वृथैव स्यात् । ततो दौर्बल्यादिविकारस्येव महतोऽपि मरणविकारस्य निवृत्तिः प्रसज्येत[2] । अथ चिकित्साप्रयोगाद्दौर्बल्यादिनिवृत्त्युपलब्धेः प्रत्यानेयविकारत्वम्, असाध्यव्याध्युपलब्धेश्चाप्रत्यानेयविकारत्वं चेत्युभयथाभावात् मरणानिवृत्तिः । तदसत् ।

"[3]दुर्लभत्वात् समाधातुरसाध्यं किंचिदीरितम् ।
आयुःक्षयाद्वा दोषे तु केवले नास्त्यसाध्यता ॥" [प्र० वा०]

तथा हि—तेनैव व्याधिना कश्चित् म्रियते, कश्चिन्नेति । नेदमसमञ्जसं केवले दोषे[4] विकारकारिणि घटते । तस्मात् कर्माधिपत्यमेवात्र परिहारः । अन्यथा—

"मृते विषादिसंहारात् तद्दंशच्छेदतोऽपि वा ।
विकारहेतोर्विगमे स नोच्छ्वसिति[5] किं पुनः ॥" [प्र० वा०]

§ ११. किञ्च—उपादानविकारमन्तरेण नोपादेयस्य विकारो दृष्टः, यथा मृद्विकारमन्तरेण न कुम्भस्य । इह[6] तु स्वच्छेऽपि देहे भयशोकादिना मनोविकारदर्शनात् न देहस्योपादानता । शरीरविकारेणापि चेतसो विकारोपलब्धेः तदुपादानमिति[7] चेत्; न, पुत्रेण व्यभिचारात् । नियमाभावाच्च । यथा हि चित्तविकारमन्तरेण नोत्तरचेतसो विकारो नैवं शरीरे नियमः । अवस्थाकारणं तु स्यात् ।

"अवस्थाकारणं यद्वत्[8] नैवोपादानकारणम् ।
अवस्थाकृन्निवृत्तौ हि सैवावस्था निवर्तताम् ॥
सन्तानकारणं यत्तु तदुपादानकारणम् ।
तन्निवृत्तौ भवेत्तस्य सन्तानस्य निवर्तनम् ॥
अग्नेर्निवृत्तौ ताम्रस्य[9] द्रवतैव निवर्तते ।
[10]चेतसः सह कायेन तावत्[11]कालमवस्थितिः ॥
[12]अन्योऽन्यसहकारित्वादग्निताम्रद्रवत्ववत् ।
[13]तयोर्हेत्वोरकार्ये तु [14]भिन्नं तिष्ठति हेमवत् ॥"

तच्चित्तमेव चेतस उपादानम्, न शरीरमिति ।

§ १२. नापि चक्षुरादीनि, यतो मनःसमाश्रितान्येव चक्षुरादीन्युपलभ्यन्ते, न मनस्तदाश्रितम् । यस्मान्नियमेन भयशोकक्रोधादिनोपहते मनसि चक्षुर्विकारो दृश्यते । न तु सात्त्विकानां चक्षुरादिविकारेऽपि मनोविकारः । कादाचित्कस्तु मनसो विकारः पुत्रेन्द्रियविकारेऽपि पितुरुपलब्धे[15] इति । न ततो व्यभिचारः । न च यथाग्नेर्विकारमासाद्य[16] घटादिवस्तु तत एव नोत्पद्यते तथेन्द्रियाणीति वाच्यम् । यतः—

"घटादिरन्यथा दृष्टस्ततो न तत एव सः ।
नान्यथा तु पुनर्दृष्टमिन्द्रियं तद्विकारतः ॥"

---

१. काष्ठात् दाह॰ मु० । २. प्रसज्यते ब० । ३. वातादिदोषवैषम्यादसाध्यं मु० । ४. केवलदो॰ ब० । ५. ॰च्छ्वसति अ० मु० । ६. इह सच्छे अ० । ७. शरीरम् अ-टि० । ८. ॰कारणं यत्तु तदुपा॰ मु० । ९. ॰त्तौ हेम्नस्तु द्रव॰ मु० । १०. पूर्वार्धेन हेतुनिवृत्तौ निवृत्तिमुक्त्वा हेतुसद्भावे युगपत्सत्तामाह—ब-टि० । ११. यावत् देह-कर्मवासितं चेतश्च—ब-टि० । १२. कुतः ब-टि० । १३. तयोर्हेतोर॰ मु० क० । १४. तु चित्तं तिष्ठ॰ मु० । १५. ॰लब्धेरिति मु० । १६. मासाद्य घटा॰ मु० ।

§ १३. किञ्च, चक्षुरादिभ्यः किमेकैकशो मनोविज्ञानमुत्पद्यते, समस्तेभ्यो वा ?। प्रथमपक्षे नियतविषयमेव मनोज्ञानं स्याद् रूपादिदर्शनादिवत्। द्वितीये तु नान्धबधिरादेर्मनोविज्ञानं स्यात्। न हि बीजादिभ्यः समस्तेभ्यः समुत्पद्यमानोऽङ्कुरस्तदेकापायेऽप्युत्पद्यते[1]। तन्न चक्षुरादिकार्यता।

§ १४. नापि प्राणापानकार्यता। प्राणापानौ हि मनोविज्ञानान्वयव्यतिरेकानुविधायिनौ। न मनोविज्ञानं तदन्वयव्यतिरेकानुविधायि[2]। अन्यथा मूर्च्छाविच्छेदे चैतन्यं न स्यात्[3]। तत्कार्यतामन्तरेण मनोज्ञानवश्यता च तयोर्न स्यात्। न खल्वन्याधीनम् अन्येन वशयितुं शक्यम्। अथ अन्यत उत्पन्नोऽपि अन्येन नियम्यते, यथा स्वामिना भृत्यः। तदप्यसत्।

"भृत्यस्यान्यत उत्पत्तिर्दृश्यते न पुनस्तयोः।
न चित्तमन्तरेणास्ति तयोरुत्पत्तिरन्यतः॥"

§ १५. अथ स्वापावस्थायां प्राणापानौ चित्तमन्तरेणापि दृश्येते। तत् कथं तत्कार्यौ ?। तन्न। निद्राभिभूतस्य[4] तदाऽपि भावात्।

"शरीरचेष्टा यावत्यस्ताः सर्वाश्चित्तसंस्कृताः[5]।
सुप्तस्य दीर्घह्रस्वादिनिःश्वासाः पूर्वचित्ततः॥"

न हि चैतन्यमन्तरेण प्रेरणाकर्षणे भवतः। न च प्रेरणाकर्षणे एव चैतन्यात्[6] न प्राणापानाविति। तत्स्वरूपव्यतिरेकेण प्रेरणाकर्षणयोरभावात्।

§ १६. अथ स्थिरो वायुः प्राणापानयोर्हेतुः, ततश्चेतना। तदप्यसत्। मृतस्यापि स्थिरो वायुरस्ति इति प्राणापानानिवृत्तौ चैतन्यस्यानिवृत्तिः[7] स्यात्। यदि च प्राणापानकार्यं चैतन्यं तदा तयोर्निर्ह्रासातिशये तस्यापि तौ स्याताम्। अवश्यं हि कारणे परिहीयमानेऽभिवर्धमाने वा कार्यस्य हानिरुपचयश्च स्यात्। अन्यथा तत् तस्य कार्यमेव न भवेत्। न चैवम्। अतो न शरीरेन्द्रियप्राणापानकार्यं चित्तम्।

§ १७. नापि देहाश्रितम्। आश्रयाश्रयिभावप्रतिषेधात्। तथा हि—असतस्तावत् खरविषाणस्येव नाश्रयः। केवलमसत् कारणादुत्पत्तिमेवेहते, अतोऽसतः कारणमेव स्यात्, नाश्रयः। सतोऽपि सर्वनिराशंसत्वात् न कश्चिदाश्रयः। अथ सतः स्थितिकरणादाश्रयः[8]। न, स्थितेः स्थातुरव्यतिरेके[9] तत्करणे स एव कृतः स्यात्। न च सतः करणमुत्पन्नस्य पुनरुत्पादायोगात्। अथोत्पन्नस्यापि किञ्चिदनुत्पन्नमस्ति तत्करणादाश्रयः[10]। सर्वात्मनोत्पादे कारणमुच्यते, कस्यचित्तु धर्मस्योत्पादे आधारः[11]। न च स्थितिरव्यतिरिक्ता स्वरूपात्, पततोऽपि स्थित्यभावे स्वरूपसद्भावात्। यदि पुनरव्यतिरिक्ता स्थितिः स्यात्, स्थितेरव्यतिरिक्तः स भवेत्, ततः सर्वदा स्थितिरेव भवेत्। तेन स्वरूपे सति निवर्तमाना विरुद्धधर्माध्यासात् ततो व्यतिरिक्ता सा। तदप्यसत्। व्यतिरेके[12] हि सति तद्धेतुरेवासौ, न तस्याधारः।

---

१. °ये उत्प° मु०। २. °रेकविधायि अ० ब०। ३. स्यात् कार्य° अ० ब० मु०। ४. मिद्धाभि° अ० ब०; सिद्धाभि° क०। ५. ताः स्वार्थाश्चि° क० मु०। ६. °न्यात् प्राणा° मु०। ७. °न्यानिवृ° क०। ८. °करणे वाश्रयः मु०। ९. °रेकेण तत्क° मु०। १०. तत्कारणा° मु०। ११. आधारोऽनवस्थिति° अ० ब०। १२. °तिरिक्ते हि मु०।

§१८. तस्य स्थितिकरणात् तदाधार इति चेत्; किमसावुत्पन्ना सती स्थाप्यस्यैं भवति, अन्यथा वा ?। अनुत्पन्ना असत्त्वात् न तस्य। उत्पन्नाप्यन्यस्मात् कथं भावस्य, तादात्म्यतदुत्पत्तिसंबन्धाभावात् ?। अथ तत एवोत्पद्यते नान्यतः। तथा सति तत्कार्या स्यात् नाश्रयकार्या। तत्र चोक्तं दूषणम्। तथा हि—स्थाप्येन स्थितिः क्रियते नाश्रयेण। अथ स्थितेः स्थितिः क्रियते आश्रयेण तर्हि अनवस्था स्यात्।

§१९. यदि चाश्रयो देहः, तदा यस्य स्थितिकारणमस्ति तस्य न विनाशः स्यात्। अथ तत्स्थापके सत्यपि नाशहेतोर्नाशः। न नाशो नामाऽन्य एव भावात्। व्यतिरेके च नाश एव तेन कृतः स्यात्, न भावः। ततोऽनाशात् स्वयमेवास्त इति किं स्थितिहेतुना ?। यदि च नाशहेतोर्नाशो यावन्नाशको नायाति तावत् स्वयमेवास्त इति किं स्थितिहेतुना ?। अथ विनाशकात् पूर्वं स्थापकेन विनाशप्रतिबन्धः क्रियते। ननु सोऽपि विनाशप्रतिबन्धोऽन्यो विनाश्यात्। ततश्च विनाश्यस्य[3] न किंचिदिति विनश्येत्। अथानन्यः, तर्हि विनाश्यः स्थापकेन क्रियेते न स्थितिः। अथ प्रतिक्षणं विनश्वरः स्थापकादन्यथा भवति, तस्यापि विनाशोऽहेतुक इति स एव प्रतिक्षणं विनाशः। स च अन्यथा स्थापकादुत्पन्न इति कारणमेव स्यात्, न स्थापकः।

§२०. अथ पततो धारणोपलब्धेः कथं न स्थापकः ?। न पततो धारणं, यस्य च धारणं न तस्य पतनम्, पतनापतनयोः परस्परविरोधात्। पूर्वं पतनं पश्चादपतनमिति चेत्, न तर्हि यस्य पतनं तस्य धारणम्, प्रत्यक्षेणैकत्वाप्रतिपत्तेः। न ह्येकोऽवस्थाता पतनेतरव्याप्युपलभ्यते।

§२१. स एव पतन्नवतिष्ठत इति एकत्वाभिमानादवस्थातुः प्रतीतिरिति चेत्; न, प्रत्यभिज्ञानस्याभिमानमात्रत्वात्। ततः प्रतिक्षणविनाशिनामपरापरदेशोत्पादवतामुपादानदेशोत्पत्तिरेवं आधारसमागमकृतेति हेतुरेव विशिष्टावस्थाया आधार उच्यते।

§२२. किं च, गुरुणो द्रव्यस्य पततः पातप्रतिबन्धात् स्थापकः स्यादपि, निष्क्रियाणां तु गुणसामान्यकर्मणां किमाधारेण ?। चैतन्यं च सामान्यं गुणः कर्म वा ? तच्च सर्वथा निष्क्रियमिति नाऽधारेणास्य किंचित्। अतोऽनाधेयस्य चेतसो नाधारविनाशेन विनाशः। कियत्कालं तु सहस्थानमात्रंमभिताम्रद्रवत्ववदित्युक्तम्। तन्न कायाश्रितं चेतः।

§२३. नापि कायात्मकम्। यतः परमाणुसंघातमात्रमेव शरीरम्। तत्तादात्म्ये प्रत्येकं सकलपरमाणुसंवेदनप्रसङ्गः स्यात्। न च अवयव्येको विद्यते तत्सद्भावेऽपि वा श्यामताविवदन्येन चैतन्यवेदनं स्यात्। अन्तःस्प्रष्टव्यरूपत्वान्नेति चेत्; न, व्रणं स्पृशतोऽन्यस्यापि तद्वेदनावेदनं स्यात्। तच्छरीरे गृह्यमाणे चैतन्याग्रहणाद् विरुद्धधर्माध्यासेन न तादात्म्यम्। तन्न देहकार्यं देहगुणो देहात्मकं वा चैतन्यं किन्तु जन्मान्तरचैतन्योपादानमेव। जन्मादिजन्यचैतन्यपर्यायं जीवद्रव्यमिति।

---

१. स्थाप्या भवति मु०। २. अथ स्थापके क० मु०। ३. विनाशस्य अ० ब०। ४. स्थापकेन न स्थितिः अ० ब०। ५. करण° मु०। ६. चेत् तर्हि मु०। ७. °शोत्पत्तिराधार° क० मु०। ८. °मात्रकमभि° क० मु०। ९. °ध्यासेन तादा° मु०।

§२४. अथ कथं परलोकशरीराच्छरीरान्तरसंचारः ? । वृद्धादिशरीरावस्थासंचारवत्। अथैकोपादानभावेन तदेकत्वात् न शरीरान्तरम्। पश्वादिशरीरं तु नैवम्। तदपि स्वप्नान्तिक[1]शरीरसंचारदर्शनाद् अनैकान्तिकम्। किं च, शरीरान्तरे मनःसंक्रान्तिः कथञ्चित् तद्ग्रा[2]हकत्वेनैव, नान्यथा। सा चेह पश्वादिशरीरेष्वप्युपलभ्यते। तत् कथं न शरीरान्तरसंचारोपलब्धिः ? । अथ प्राप्ततामात्रे संचारे परशरीरवत् स्वशरीरक्षतावपि न व्याकुलतादयः स्युः[3]। तदप्यसत्। पररक्तादिदर्शनेऽपि केषांचिद् व्याकुलितोपलब्धेरात्मशरीरक्षतावपि केषांचिद्भावात्। [4]तदनेकजन्मपरंपरावासनादार्ढ्यादात्मीयग्रहसद्भावे व्याकुलतादयः प्रवर्तन्त इति।

§२५. अथ भवतु कार्यादतीतपरलोकानुमानम्, भाविनस्तु कथं ?, तदर्था च दानादिक्रियेष्यते ? । तदपि यत्किंचित्। सिद्धे हि[5] कार्यकारणभावे, यथा कार्यात् कारणानुमानम्, तथाऽविकलकारणात् कार्यस्यापि इत्यनैकान्तिकत्वादिदूषणं नैव संभवति।

"कार्यकारणसद्भावात् चैतन्येनान्यचेतसः" इति।
"एवं क्षणिकपर्यायपरिणामिनि संस्थिते।
गुणाः प्रकर्षमायान्ति कालेन सहकारिणा" ॥ [११[1]]

§१. इति निगदितमेतत् केवलज्ञानहेतुः, कुशलमखिलबन्धो ज्ञानचारित्रदृष्टिः।
सकलमलविहीनं साधनं तस्य सिद्धौ, कथयितुमिदमन्यद् वार्तिकस्याह कर्ता ॥

अन्त्यसामग्र्यवद्धेतुरित्यादि—

अन्त्यसामग्र्यवद्धेतुः संपूर्णः कार्यकृत् सदा ॥ ११ ॥
ज्योतिः साक्षात्कृतिः कश्चित् संपूर्णस्तत्त्ववेदने।

§२. हेतुः कारणकलापः। संपूर्ण इति अविकलः। सदेत्यवश्यमेव कार्यकारी। अन्यथा

सर्वज्ञसिद्धिः। कार्योत्पत्तिर्न कदाचित् स्यात्। अन्त्यसामग्र्यवदिति व्याप्तिविषयोपदर्शनम्। कश्चिद् विवादाध्यासितः तत्त्वज्ञानोत्पत्तौ ग्रहोपरागादिसाक्षात्कारित्वाद[6]विकलकारणं इति। प्रयोगश्च—यदविकलकारणं तदवश्यमेव कार्यमुत्पादयति। यथा अन्त्या कारणसामग्री[7]। अविकलकारणश्च[8] तत्त्वज्ञानोत्पत्तौ अतीन्द्रियग्रहोपरागादिसाक्षाद्द्रष्टा तज्जातीयेष्वतीन्द्रियेषु[9] जीवादिषु कश्चिदिति। हेतुमेव समर्थयितुमाह—यस्य यज्जातीयाः पदार्थाः प्रत्यक्षाः, तस्यासत्यावरणे तेऽपि प्रत्यक्षाः। यथा घटसमानजातीयभूतलप्रत्यक्षत्वे घटः। प्रत्यक्षाश्च कस्यचिदतीन्द्रियजीवादिपदार्थसजातीयग्रहोपरागादयो भावा इति। न तावदयम[10]सिद्धो हेतुः। यतो यो यद्विषयानुपदेशा[11]लिङ्गाविसंवादिवचनरचनानुक्रमकर्ता स तत्साक्षात्कारी। यथास्मदादिरात्मीयानुभववचनरचनानुक्रमकर्ता। ग्रहोपरागादिशास्त्र[12]कर्ता च स, तस्मात् साक्षात्कारीति। न चापौरुषेयत्वेनासिद्धत्वमभिधानीयम्, तस्य पूर्वमेव निरस्तत्वात्।

१. तदपि स्वाप्निकशरीर° मु०। २. °क्रान्तिः तद्ग्रा° अ० ब०। ३. °दयः। तद° अ० ब०। ४. तदानेक° क० मु०। ५. सिद्धे कार्य अ० ब०। ६. °कारित्वाविक° क० मु०। ७. कारणमिति क० मु०। ८. °कारणश्चातीन्द्रि° क० मु०। ९. तज्जातीयेषु जीवा° क०। १०. तावदयं सि° मु०। ११. °देशलिङ्ग° क०। १२. ग्रहोपरागादिसाक्षात्कारी तत्शास्त्रकर्तेति नचा° क० मु०।

§ ३. ननु अनुमानबाधितेयं प्रतिज्ञा । तथा हि – देशान्तरे कालान्तरे च यद्रूपं तदिदानींतनचक्षुर्जनितप्रत्यक्षसमानजातीयप्रत्यक्षग्राह्यम्, रूपशब्दवाच्यत्वाद् इदानीन्तनरूपवदिति । एवं रसादिष्वपि पञ्चानुमानानि भवन्ति । तथा यच्चक्षुर्जनितं प्रत्यक्षं तद्देशान्तरादावपि नियतदेशकालरूपग्राहकं प्रत्यक्षशब्दवाच्यत्वाद्, इदानींतनरूपप्रत्यक्षवदिति । एवं शेषेन्द्रियप्रत्यक्षेष्वपि पञ्चानुमानानि भवन्ति । तदुक्तम् –

सर्वज्ञवादे मीमांसकस्य पूर्वपक्षः ।

"यज्जातीयैः प्रमाणैस्तु यज्जातीयार्थदर्शनम् ।
दृष्टं संप्रति लोकस्य तथा कालान्तरेऽप्यभूत् ॥" [श्लोक० २.११३]

इति न च गृध्रादिभिर्व्यभिचारो वाच्यः । तेऽपि न स्वार्थमुल्लङ्घ्य वर्तन्ते । तदुक्तम् –

"यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात् ।
दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्यात् न रूपे श्रोत्रवृत्तितः ॥" [श्लो० २.११४]
"येऽपि सातिशया दृष्टाः प्रज्ञामेधाबलैर्नराः ।
स्तोकस्तोकान्तरत्वेन न त्वतीन्द्रियदर्शनात् ॥
प्राज्ञोऽपि हि नरः सूक्ष्मानर्थान् द्रष्टुं क्षमोऽपि सन् ।
सजातीरनतिक्रामन्नतिशेते परान् नरान् ॥" इति [तत्त्वसं० का० ३१६०,६१]
"एकशास्त्रविचारेषु दृश्यतेऽतिशयो महान् ।
न तु शास्त्रान्तरज्ञानं तावन्मात्रेण लभ्यते ॥
ज्ञात्वा व्याकरणं दूरं बुद्धिः शब्दापशब्दयोः ।
प्रकृष्यते, न नक्षत्रतिथिग्रहणनिर्णये ॥
ज्योतिर्विच्च प्रकृष्टोऽपि चन्द्रार्कग्रहणादिषु ।
न भवत्यादिशब्दानां साधुत्वं ज्ञातुमर्हति ॥
तथा वेदेतिहासादिज्ञानातिशयवानपि ।
न स्वर्गदेवताऽदृष्टप्रत्यक्षीकरणक्षमः ॥
दशहस्तान्तरं व्योम्नो यो नामोत्प्लुत्य गच्छति ।
न योजनमसौ गन्तुं शक्तोऽभ्यासशतैरपि ॥
तस्मादतिशयज्ञानैरतिदूरगतैरपि ।
किञ्चिदेवाधिकं ज्ञातुं शक्यते न त्वतीन्द्रियम् ॥"
[तत्त्वसं० का० ३१६४–३१६९]

इति । तत् स्थितमनुमानबाधितेयं प्रतिज्ञेति ।

§ ४. तथा, अभावप्रमाणबाधिता । तथा हि – प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्त्यभावेऽभावप्रमाणमेव विजयते । [3]तद्भावमेव दर्शयितुमाह –

"सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः ।
दृष्टो न चैकदेशोऽस्ति लिङ्गं वा योऽनुमापयेत् ॥
न चागमविधिः कश्चिन्नित्यः सर्वज्ञबोधकः ॥"
[तत्त्वसं० का० ३१८६,३१८७]

§ ५. "वेदाहमग्रे पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः पुरस्तात् । तमेव विदित्वा [4]मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विद्यते अयनाय" इति । तथा, "विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो, विश्वतो बाहुरुत विश्वतः पात् । संबाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव

---

१. मनुष्यजातिभाविनी प्रकृतिरदिव्यचक्षुष्ट्वादिलक्षणा, ब-टि० । २. °न्तराद्व्यो° अ० ब० । ३. प्रत्यक्षाद्यभावम्, ब-टि० । ४. विदित्वातिमृ° मु० ।

एक आस्ते" इत्यादेर्विद्यमानत्वात्, इति चेत्; न, स्तुतिमात्रत्वात् एतेषां न प्रामाण्यमिति। तथा चाह –

"न च मन्त्रार्थवादानां तात्पर्यमवकल्पते।
न चान्यार्थप्रधानैस्तैस्तदस्तित्वं विधीयते ॥
न चानुवदितुं शक्यं पूर्वमन्यैरबोधितम्।
अनादिरागमस्यार्थो न च सर्वज्ञो नादिमान् ॥"
"कृत्रिमेण त्वसत्येन स कथं प्रतिपाद्यते ॥
अथ तद्वचनेनैव सर्वज्ञोऽन्यैः प्रतीयते ॥
प्रकल्प्येत कथं सिद्धिरन्योन्याश्रययोस्तयोः।
सर्वज्ञोक्ततया वाक्यं सत्यं तेन तदस्तिता ॥
कथं तदुभयं सिद्ध्येत् सिद्धमूलान्तराद्दते।
असर्वज्ञप्रणीतात्तु वचनान्मूलवर्जितात्।
सर्वज्ञमवगच्छन्तः स्ववाक्यात् किन्न जानते? ॥"
[तत्त्वसं० का० ३१८७-३१९०]

"सर्वज्ञसदृशं[2] किंचित् यदि पश्येम संप्रति।
उपमानेन सर्वज्ञं जानीयामं[1] ततो वयम् ॥" [तत्त्वसं० का० ३२१५]
"उपदेशो हि बुद्धादेर्धर्माधर्मादिगोचरः।
अन्यथा नोपपद्येत सर्वज्ञो यदि नाभवत् ॥" [तत्त्वसं० का० ३२१७]
"बुद्धादयो[3] ह्यवेदज्ञास्तेषां वेदादसंभवः।
उपदेशः कृतोऽतस्तैर्व्यामोहादेव केवलात् ॥" [तत्त्वसं० ३२२४]
"येऽपि मन्वादयः सिद्धाः प्राधान्येन त्रयीविदः।
त्रयीविदाश्रितग्रन्थास्ते वेदप्रभवोक्तयः ॥" [तत्त्वसं० ३२२८]

तदेवम् –

"प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते।
वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता ॥" [श्लोक० अभाव० १]

§ ६. तथोपमानबाधिता। तथा हि –

"नरान् दृष्ट्वा त्वसर्वज्ञान् सर्वानेवाधुनातनान्।
तत्सादृश्योपमानेन[4] शेषासर्वज्ञसाधनम् ॥" [तत्त्वसं० का० ३२१६]

इति। तदेवमनुमानाभावप्रमाणोपमानबाधितेयं प्रतिज्ञेति।

§ ७. भवतु वा, तथापि निष्फला। तथा हि –

"समस्तावयवव्यक्तिविस्तरज्ञानसाधनम्[5]।
काकदन्तपरीक्षावत् क्रियमाणमनर्थकम् ॥
यथा च चक्षुषा सर्वान् भावान् वेत्तीति निष्फलम्।
सर्वप्रत्यक्षदर्शित्वप्रतिज्ञाप्यफला तथा ॥
स्वधर्माधर्ममात्रज्ञसाधनप्रतिषेधयोः[6]।
तत्प्रणीतागमग्राह्यहेयत्वे हि प्रसिद्ध्यतः ॥

१. जानीयामस्ततो क० मु०। २. सर्वज्ञसदृशः कश्चित् यदि दृश्येत सम्प्रति। तदा गम्येत सर्वज्ञसद्भाव उपमाबलात् ॥ तत्त्वसं०। ३. ये हि तावदवेद° तत्त्वसं०। ४. सादृश्यस्योपमा° तत्त्वसं०। ५. °साधने अ० ब०। ६. °षेधतः मु०।

तत्र सर्वजगत्सूक्ष्मभेदज्ञत्वप्रसाधने ।
अस्थाने क्लिश्यते लोकः संरंभाद् ग्रन्थवादयोः ॥"
[तत्त्वसं० ३१३८–३१४१]

"एतच्च फलवज्ज्ञानं यावद्धर्मादिगोचरम् ।
न तु वृक्षादिभिर्ज्ञातैरस्ति किञ्चित् प्रयोजनम् ॥" [तत्त्वसं० ३२०३]
"क्रत्वर्थाः पुरुषार्थाश्च यावन्तः खदिरादयः ।
सर्ववृक्षज्ञता तावत् तावत्स्वेव समाप्यते ॥
लताः सोमगुडूच्याद्याः काश्चिद्धर्मार्थहेतवः ।
सिद्धान्तज्ञानमात्रेण लतासर्वज्ञताऽपि नः ॥
व्रीहिश्यामाकनीवारग्रामारण्यौषधीरपि ।
ज्ञात्वा भवति सर्वज्ञो नानर्थकशतान्यपि ॥
तथा कतिपयेष्वेव यज्ञाङ्गेषु तृणेष्वपि ।
दर्भादिषु च बुद्धेषु तृणसर्वज्ञतेष्यते ॥
तृणौषधिलतावृक्षजातयोऽन्याः सहस्रशः ।
विविक्ता नोपयुज्यन्ते तदज्ञानेन नाज्ञता ॥
यत्रापि चोपयुज्यन्ते व्यक्तयो जातिलक्षिताः ।
जातिज्ञानोपसंहारात्तत्रापि व्याप्तिरस्ति नः ॥
अतश्च व्यक्तिभेदानामनभिज्ञोऽपि यो नरः ।
सर्वज्ञत्वफले प्राप्ते सर्वज्ञत्वं न वाञ्छति ॥
जरायुजाण्डजोद्भेदसंस्वेदजचतुर्विधे ।
भूतग्रामेऽल्पकज्ञोऽपि सर्वज्ञफलमश्नुते ॥
पृथिव्यादिमहाभूतसंक्षेपज्ञश्च यो नरः ।
सविस्तरानभिज्ञोऽपि सर्वज्ञान्न विशिष्यते ॥
भूमेर्य एकदेशज्ञो भूमिकार्येषु वर्तते ।
सप्तद्वीपमहीज्ञानं क नु तस्योपयुज्यते ॥
तथाल्पेनैव तोयेन सिद्धं तोयप्रयोजनम् ।
तोयान्तराण्यविज्ञाय नाज्ञदोषेण युज्यते ॥
वह्नेश्चानन्तभेदस्य ज्ञातस्योपासनादिभिः ।
पञ्चभिः कृतकार्यत्वादन्याज्ञानमदूषणम् ॥
शरीरान्तर्गतस्यैव वायोः प्राणादिपञ्चके ।
ज्ञाते शेषानभिज्ञत्वं नोपलम्भाय जायते ॥
व्योम्नश्च पृथुनः पारमज्ञात्वाप्येकदेशवित् ।
न च व्योमानभिज्ञत्वव्यपदेशेन दुष्यति ॥"

§ ८. धर्मकीर्तिनाऽप्युक्तम् –

"ज्ञानवान्मृग्यते कश्चित् तदुक्तप्रतिपत्तये ।
अज्ञोपदेशकरणे विप्रलम्भनशङ्किभिः ॥
तस्मादनुष्ठेयगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम् ।
कीटसंख्यापरिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते ॥
हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदकः ।
यः प्रमाणमसाविष्टो न तु सर्वस्य वेदकः ॥
दूरं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु ।
प्रमाणं दूरदर्शी चेदेते गृध्रानुपास्महे ॥" [प्रमाणवा० १.३२–३५]

१. एकं च फ° अ० ब० । २. फलदज्ञानं तत्त्वसं० । ३. °तैः सर्वैः किञ्चित् तत्त्वसं० ।

"धर्मज्ञत्वनिषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते ।
सर्वमन्यद् विजानंस्तु पुरुषः केन वार्यते ॥" [तत्त्वसं० का० ३१२८]
"सर्वप्रमातृसंबंधिप्रत्यक्षादिनिवारणात् ।
केवलागमगम्यत्वं लप्स्यते पुण्यपापयोः ॥
एतावतैव मीमांसापक्षे सिद्धेऽपि यः पुनः ।
सर्वज्ञवारणे यत्नस्तैः कृतं मृतमारणम् ॥
येऽपि चैवं च्छिन्नमूलत्वाद् धर्मज्ञत्वे हते सति ।
सर्वज्ञान् पुरुषानाहुस्तैः कृतं तुषखण्डनम् ॥" [तत्त्वसं० का० ३१४२-३१४४]

§ ९. किञ्च, सर्वज्ञे सिद्धेऽपि न प्रतिज्ञातोऽर्थः सिद्ध्यति । तथा हि—

"यत् सत्यं नाम लोकेषु प्रत्यक्षं तद्धि कस्यचित् ।
प्रमेयज्ञेयवस्तुत्वै र्दधिरूपरसादिवत् ॥
ज्ञातर्यत्राप्यनिर्दिष्टे पक्षे न्यूनत्वमापतेत् ।" [तत्त्वसं० का० ३२३५,३२३६]
"यदि बुद्धातिरिक्तोऽन्यः कश्चित् सर्वज्ञतां गतः ॥
बुद्धवाक्यप्रमाणत्वे तज्ज्ञानं क्वोपयुज्यते ।" [तत्त्वसं० ३२३७]
"सर्वज्ञो यस्त्वभिप्रेतो न श्रुत्यार्थेन वाऽपि सः ॥" [तत्त्वसं० ३२३६]
"विज्ञायते यतः पक्षः साध्यत्वेनेप्सितो भवेत् ।
यस्त्वीप्सिततमं पक्षं विशिष्यात् तस्य संज्ञया ॥
यावज्ज्ञेयं जगत्सर्वं प्रत्यक्षं सुगतस्य तत् ।
तैरेव हेतुभिः सर्वैः घटकुड्यादिरूपवत् ॥
तत्र नैवं विशिष्टोऽपि पूर्वसादेव भिद्यते ।
विशिष्टग्रहमात्रेण हेतोर्नैव विशिष्टता ॥
शक्त्या हि यदा हेतुः दृष्टान्तानुग्रहेण वा ।
पक्षान्तरेण तुल्यः स्यात् तदा काऽस्य विशिष्टता ? ॥
सत्प्रमेयत्वमित्येतद् यतोऽन्येष्वपि वर्तते ।
साधनं नियमाभावात् तेनाकिंचित्करं हि तत् ॥"
"नरः कोऽप्यस्ति सर्वज्ञः स तु सर्वज्ञ इत्यपि ।
साधनं यत् प्रयुज्येत प्रतिज्ञामात्रमेव तत् ॥
सिसाधयिषितो योऽर्थः सोऽनया नाभिधीयते ।
यैस्तूच्यते न तत्सिद्धौ किञ्चिदस्ति प्रयोजनम् ॥
यदीयागमसत्यत्वसिद्धौ सर्वज्ञतोच्यते ।
न सा सर्वज्ञसामान्यसिद्धिमात्रेण लभ्यते ॥
यावद् बुद्धो न सर्वज्ञस्तावत्तद्वचनं मृषा ।
यत्र क्वचन सर्वज्ञे सिद्धे तत्सत्यता कुतः ॥
अन्यसिद्धे हि सर्वज्ञे वचसोऽन्यस्य सत्यता ।
सामानाधिकरण्ये हि तयोरङ्गाङ्गिता भवेत् ॥"
[तत्त्वसं० का० ३२३०-३४]

---

१. निषेधस्तेके° तत्त्वसं० । २. °द्विजानानः पुरु° तत्त्वसं० ३१२८ । ३. °संबद्धप्रत्य° तत्त्वसं० । ४. येऽपि विच्छिन्न° तत्त्वसं० । ५. यत् सर्वं नाम तत्त्वसं० । ६. °वस्तुत्वादधि° मु० । ७. ज्ञान-मात्रेऽपि निर्दिष्टे पक्षे° तत्त्वसं० । ८. सर्वज्ञ इति योऽभीष्टे नेत्थं स प्रतिपादितः तत्त्वसं० । ९. °मपि-पूर्वैः क० मु० । १०. सत्त्वात् प्रमेयमि° मु० । ११. सर्वज्ञः तत्सर्वज्ञत्वमित्यपि तत्त्वसं० । १२. प्रतिज्ञा-न्यूनमेव तद् तत्त्वसं० । १३. यतू° तत्त्वसं० । १४. °सिद्ध्यै स° तत्त्वसं० । १५. °सर्वज्ञसिद्धे भा० मु० ।

§१०. “तदेवं[1] दोषदुष्टस्य पक्षस्यास्य न पक्षता ।
इदानीं हेतुदोषेण हेतोर्दूषणतोच्यते ॥
वचसोऽपौरुषेयत्वं पूर्वमेव स्थितं यदा ।
नष्टमुष्ट्यादिकं नैव कृतं पुंसास्ति किंचन ॥
एवं तावदसिद्धत्वमनैकान्तिकता तथा ।
पारम्पर्योपदेशेन वचसः संप्रवर्तनात् ॥
असत्यार्थे च तद्वाक्यं तेन हेतोर्विरुद्धता ।
एवं सर्वज्ञतासिद्धिः कथञ्चिन्नोपपद्यते ॥” इति ।

§११. अत्रोच्यते –

“दशोत्पाद्यापि मानानि मीमांसा दोषवाहिनी ।
सदैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति गर्दभी ॥
यत्साध्यबाधनायोक्तं प्रमाणदशकं परैः ।
प्रामाण्ये तद्विधस्यैषां बहु स्यादसमञ्जसम् ॥”

तथा हि –

“तच्छब्दवाच्यतामात्रं प्रामाण्यं यदि कल्प्यते ।
न मानं विधिवाक्यं स्यादीश्वरस्य च सिद्धता ॥
वेदाहमग्रे पुरुषं महान्तमित्यादिवच्छेदवचोऽप्रमाणम् ।
तच्छब्दवाच्यत्वसमानभावाद्भूभूधरादेरपि कर्तृसिद्धिः ॥
संस्थानशब्दवाच्यत्वं यतस्तस्यापि विद्यते ।
घटवद्बुद्धिमत्कर्ता तेन तत्रापि सिध्यतु ॥
विशेषैः परिहाराय यदि कल्प्येत कश्चन ।
नियोगादिस्तदा तस्य दोषाः शाक्यकृतोदिताः ॥”

§१२. तथा हि – यत् प्रमाणगोचरचारि न भवति तन्न सद्व्यवहृतिपथमवतरति । यथा व्योमोत्पलम् । न भवति च नियोगः प्रमाणगोचरचारीति व्यापकानुपलब्धिः ।

नियोगखण्डनम् ।

तथा हि – किमसौ स्वतन्त्र इष्यते, परतन्त्रो वा ? । न तावत् पटादिपदार्थवत् स्वतन्त्रोऽध्यक्षतः प्रतीयते । नाप्यनुमानात्, तत्सद्भावे लिङ्गाभावात् । न च पुरुषप्रवृत्तिर्लिङ्गम्, तस्याः फलाभिलाषकार्यत्वात् । अन्यथा “स्वर्गकामः” इति फलोपदर्शनं न विदध्यात् । अथ प्रचण्डप्रभुनियोगात् फलाभिलाषमन्तरेणापि प्रवर्तमानो दृश्यते । तन्न, तत्रापायपरिहारस्यैव फलत्वात् । नापि शब्दैकप्रमाणसमधिगम्यता तस्य वाच्या, यतः शब्देन प्रतीयमानोऽसौ किं संबद्धेन प्रतीयते, असंबद्धेन वा ? । असंबद्धेन प्रतीतावतिप्रसंगः स्यात् । संबद्धेनापि किं स्वाभाविकसंबन्धात्, साङ्केतिकाद् वा ? । प्रथमपक्षे बालगोपालादेरपि प्रतीतिप्रसंगः । नह्याकाशं अनाकाशं कस्यचित् । संकेतोऽपि नियोगे प्रतीतेऽप्रतीते वा ? । यद्यप्रतीते तदाऽतिप्रसङ्गः स्यात् । प्रतीतिश्च किं तेनैव शब्देन शब्दान्तरेण वा ? तेनैव चेत्; किं संकेतेन ? । इतरेतराश्रयत्वं च स्यात् । शब्दान्तरेण चेत्; तदपि शब्दान्तरम् गृहीतसंकेतं प्रवर्तते । पुनरपि सङ्केतग्रहः शब्दान्तरेणेत्यनवस्था ।

---

१. तदेव मु० । २. प्रमाणं क० मु० । ३. °वाच्यं स्या° मु० । ४. विशेषपरि° अ० ब० । ५. तथापि मु० । ६. व्योमेत्पलम् मु० । ७. संबन्धेन मु० । ८. प्रतीतावप्यति° क० । ९. प्रवर्तेत मु० ।

§१३. किञ्चासावेकोऽनेको वा ? । एकश्चेत्; सर्वपुरुषाणां नियोगः[1] प्रतीतः स्यात् । अथ विपर्ययात् न परस्येति चेत्; तवापि पक्षपातादिति समानम् । अनेकश्चेत्; प्रतिपुरुषमसाधारणतया न संकेतक्रिया स्यात् । किञ्च, शब्दप्रमाणैकसमधिगम्यतया सत्त्वे आकाशकुसुमस्यापि सत्त्वमासज्येत, विशेषो वा वक्तव्यः । न च शब्दप्रवृत्तिमात्रेण सत्त्वं युज्यते । अन्यथा दाराः[2] षण्ण(ण्ण)गरीत्यादावपि सत्त्वमासज्येत[3] । तन्न कश्चित् स्वतन्त्रो नियोगो वाक्यार्थः प्रतीयते ।

§१४. परतन्त्रोऽपि किं तत्कार्यतया, तद्धर्मतया[4] वा ? । न तावत् प्रथमः पक्षो यतः किमसौ यागकार्यः, नियोज्यैककार्यः[5], शब्दकार्यो वा ? । न तावद्यागकार्यः, तस्य तदानीमनिष्पन्नत्वेनाभावात् । नापि पुरुषकार्यः, पुरुषस्य पूर्वमपि सद्भावेन[6] तद्भावप्रसङ्गात् । नापि शब्दकार्यः, तदा हि न शब्दस्य वाच्यः स्यात्, कार्यत्वात् । न च वैदिकस्य शब्दस्य नित्यत्वेन क्रमयौगपद्याभ्यां जनकत्वं युज्यते । तद्धर्मतायामपि किमसौ यागधर्मः, पुरुषधर्मः, शब्दधर्मो वा ? । न तावद्यागधर्मः, तस्याविद्यमानत्वेन तद्धर्मस्याप्यविद्यमानत्वात् । अविद्यमानविषयत्वे[7] च वाक्यं निरालम्बनमपोहमात्रविषयमेव स्यात् । नापि पुरुषधर्मः, तथाहि—पुरुषाद्व्यतिरिक्तः स्यात्, अव्यतिरिक्तो वा ? । अव्यतिरेके पुरुषस्य सर्वथा निष्पन्नत्वात् न नियोगरूपता स्यात् । नियोगो[8] हि अनुष्ठेयोऽर्थोऽभिधीयते । निष्पन्नस्य चानुष्ठाने[9] नानुष्ठानविरतिर्भवेत् । अथ निष्पन्नस्यापि किंचिदनिष्पन्नमस्ति । तन्न, निष्पन्नानिष्पन्नयोर्विरोधेन तादात्म्याभावप्रसङ्गात् । अथ व्यतिरिक्तः; ननु यावदसौ तस्य धर्मः तावदन्यस्य किं न भवति ? । तस्यैवाधारशक्तिर्नान्यस्येति चेत्; सापि किं नान्यत्राऽऽधीयते[10] । तां प्रति तस्यैवाधारशक्तिर्नान्यस्येत्यभ्युपगमेऽनवस्था । न च हेतुफलभावादन्यो व्यतिरेके[11] संबन्धोऽस्ति । तद्भावे च न समानकालता । असमानकालयोर्न[12] च[13] धर्मधर्मिभावः । एतच्च शब्दधर्मतायामपि दूषणं वाच्यम् ।

§१५. किञ्च, यद्यसौ[14]वस्ति; न पुरुषः प्रवर्तेत । न हि कश्चित् निष्पन्ननिष्पादनाय प्रवर्तते । अप्रवर्तकस्य च वाक्यस्य न प्रामाण्यमुपेयते । अथ नास्ति; तथापि न प्रामाण्यम्, अविद्यमानविषयत्वात् । तन्न[15] कश्चित् नियोगो वाक्यार्थतया प्रतीयते ।

§१६. अथ शब्दाद् 'यागादिविषये नियुक्तोऽहमनेन' इति प्रतीतेः कथमप्रतीतिः[16] ? । तथाहि—नियोक्ता शब्दो वेदे पुरुषाभावात् । नियोज्यः पुरुषः । यागो विषयः । सकलं चैतत् प्रतीयते । तत् कथं प्रतीतावप्यप्रतीतिः ? । तदसत् । नेयमगृहीतसंकेतस्य प्रतीतिरुदेति । किं तर्हि ? । येन यागं कश्चित् कुर्वाण उपलब्धस्तस्य तत्रैव[17] गृहीतसंकेतस्य पूर्वदृष्टानुसारेण विकल्पिका बुद्धिरुत्पद्यमाना अन्यापोहविषयैवोत्पद्यते । नातस्तत्त्वव्यवस्था ।

---

१. नियोगप्रतीतिः क० मु० । २. दारः मु० । ३. सत्त्वं समासज्येत मु० क० । ४. °तथा धर्मतया मु० क० । ५. नियोगकार्यः मु० । ६. सद्भावे तद्भाव° ब० । ७. °विषयत्वं वाक्यं क० । ८. नियोगेन हि मु० । ९. °ष्ठाने न विरतिर्भ° अ० । १०. °त्राभिधीयते क० । ११. °रेकसंबं° क० मु० । १२. °लयोर्न धर्म° मु० क० । १३. नियोगः अ-टि । १४. °र्तते । प्रव° क० मु० । १५. °स्मात् । कश्चित् मु० क० । १६. कथं न प्रतीतिः अ० ब० । १७. तत्रैव मु० ।

§ १७. एतेन भावनादयोऽपि वाक्यार्था निरसनीयाः ।

“इति वाक्यस्य ये वाच्यं नियोगं संप्रचक्षते ।
खरशृङ्गस्य ते तैक्ष्ण्यं नूनं व्यावर्णयन्त्यलम् ॥
विधेरपि[1] विधेयत्वेऽनवस्थैव प्रसज्यते ।
स्वरूपवाचकत्वे तु न स्यादन्यविशिष्टता ॥
विधिर्वाक्यस्य[2] कृच्छ्रेण विशेषपरिकल्पने[3] ।
कैरेथ[4] भक्षितः काकैरध्यक्षे येन[5] नेष्यते ॥
नकुलखरवराहादिप्रत्यक्षेऽप्यक्षवीक्षितम्[6] ।
विशेषमाक्षिपन्मूढः कथं नाध्यक्षबाधितः ॥
मनुष्यत्वे सतीत्येवं यदि हेतोर्विशेषणम् ।
मनुष्यत्वं तदा हेतुः पूर्वस्य स्यादहेतुता ॥
जैमिन्यादिर्विशेषज्ञस्तदा नैव भवेत्तव ।
प्रज्ञोन्मेषस्य चोत्कर्षः कनु[7] नाम व्यवस्थितः ॥
स्तोकस्तोकान्तरज्ञत्वं येन पुंसः प्रसाध्यते ।
इन्द्रियान्तरविज्ञानं नेन्द्रियान्तरवस्तुनः ॥
ग्राहकं ‘चेति[8] यो दोषः सोऽतीन्द्रियदृशः कुतः ।
अथातीन्द्रियविज्ञानं न दृष्टं केनचित् क्वचित् ॥
विनेन्द्रियं च वैशद्यं कुतस्तस्य भविष्यति ।
सर्वदेशेषु[9] कालेषु सर्वज्ञो नेति यो[10] वदेत् ॥
तस्य सर्वज्ञता प्राप्ता सिद्धं चासत्समीहितम् ।
कामादिभावनाजातं विज्ञानं विशदं यदा ॥
तदेन्द्रियसमुत्थत्वं वैशद्ये नोपयोगवत् ।
अक्षाश्रितत्वमध्यक्षे व्युत्पत्तेरेव कारणम् ॥
निमित्तं तु पुनस्तस्य वस्तुसाक्षात्क्रिया मता ।
तदेवं जैनमध्यक्षं नानुमानेन बाधितम् ॥
न प्रमाणमभावाख्यं बाधकं कुत एव तत् ।
सर्वसंबन्धि चाध्यक्षं नेति तत्रेति यो वदेत् ॥
तस्य सर्वज्ञता प्राप्ता नैकस्यास्य निषेधकृत् ।
अनुमानं निषेधाय यद्युच्येतास्य किंचन ॥
असिद्धावाश्रयासिद्धिः सिद्धौ हेतोर्विरुद्धता ।
अर्थः[11] को नोपपद्येत विनाऽसर्वज्ञतां[14] तव ॥
अपौरुषेयता नो चेन्नास्याः[12] पूर्वं निषेधनात् ।
नोपमानस्य मानत्वं बाधकं कुत एव तत् ॥
विशेषाः पुंसि[15] दृश्यन्ते तेऽमादृष्टेषु का कथा ।”

तथाहि । केचित् सकलशास्त्रज्ञाः केचिन्न किंचिद्विदन्ति । केचिच्चतुर्वेदपाठकाः । केचिद्गायत्रीमपि न पठन्ति । तत् कथमदृष्टेषु पुरुषेषु साम्यं सिद्ध्येत् ? ।

§ १८. ननूक्तं ‘दशहस्तान्तरम्’ इत्यादि ।

---

१. विधिरपि अ० क० ब० । २. विधिबाधस्य मु० । ३. विशेषः परिकल्पते मु० । ४. केरेव ब० । कैरवे मु० क० । ५. येनेष्यते क० । ६. °प्रत्यक्षेप्यक्षवी° मु० । ७. तु माने च° मु० । ८. वेति मु० । ९. °शेषु राष्ट्रेषु मु० । १०. योऽवदत् मु० । ११. बाध्य° मु० । १२. यद्यपेक्षास्य मु० । १३. केनोप° ब० मु० क० । १४. विना सर्व° क० अ० । १५. पुंसु दृश्य° मु० क० ।

"तद्वत्तुल्यजातीयपूर्वबीजप्रवृत्तयः।
ज्ञेयेषु बुद्धयस्तासां सत्यभ्यासे[1] कुतः स्थितिः॥
यथैवं लङ्घनादेव लङ्घनं वलयत्रयोः।
तत्रेत्योः स्थितरूपत्वात् लङ्घनस्य स्थितात्मता॥
वलयत्रोत्थमभ्युच्चैर्लङ्घनं हि गरुत्मति।
श्रूयते तेन मानत्वं नोपमानस्य युक्तिमत्॥
न चागमविधिः कश्चित्तन्निषेधाय वर्तते[2]।
तच्चास्य बाधकं किंचित् साधकं प्रतिपादितम्॥
§ १९. धर्माधर्मज्ञतामात्रात् सिद्धमसत्समीहितम्।
यदुक्तं तदसत् माननिष्ठा नेच्छानुवर्तिनी॥"

न हि प्रमाणं वस्तुनि प्रवर्तमानं विभाषया प्रवर्तते, तेन –

"समस्तवस्तुविस्तारि सार्वज्ञ[3]ज्ञानमक्रमात्।
प्रतिय[4]ज्जगतः कार्त्स्न्यं किमन्यत् परिवर्जयेत्॥
धर्माधर्मौ तयोः कार्यं वेत्ति नासकलार्थवित्।"

तदुक्तम् – "जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ।" [आचा० १.३.४.१२२] तथाहि[5] – सकलकर्मकारणं सर्वप्राणिकर्माणि। तत्कार्यं नरकादि। तत्कारणकार्यपरंपरार्थाः[6] परमाण्वन्तपरिज्ञाने कथं न सर्वज्ञता?। तस्मादावरणविगमादनन्तवस्तुज्ञानम्। न च वस्तुपरिसमाप्तिः[7]। यथाहि वयमनाद्यनन्तरूपतां विकल्पविज्ञानेन रात्रिंदिवादीनां बुद्ध्यामहे न च तत्परिसमाप्तिः, तथा भगवतोऽप्यनाद्यनन्तरूपतया साक्षात्कुर्वतो न विरोधः। अकरणाधीनतया च न रसास्वादनप्रसङ्गः। अत एवापराधीनतयाऽनियतविषयम्। न चातीतानागतस्य वस्तुन इदानीमसत्त्वेनासद्विषयम् तदिति वाच्यम्। तत्कालालिङ्गितत्वेन तस्य सत्त्वात्[8]। तदापि हि यदि तद्वस्तु न भवेत् तदा तन्निर्विषयं स्यात्। अन्यथा चोदनाबुद्धिरपि कथं भूतभवद्भविष्यद्वस्तुविषयिणी सतो[9]ऽभ्युपेयते। तदुक्तम् –

"किंच तत्कालयोगेन तस्य साक्षात्क्रिया यदा।
तदेदानीमसत्त्वेऽपि तस्यास्तित्वमदुर्घटम्॥"

अथ यस्य भावी सुतस्तदनुभूयमानतया दृष्टस्तेनाप्रतीयमानतायां कथमभ्रान्तता?। तदप्यसत्[10]

"यथा स दृष्टः शारदादिकालयुक्तस्तथा तस्य न बाधितत्वम्।
तत्कालयोगस्तु न तेन दृष्टस्तथाप्रतीतावपि नास्ति दोषः॥"

यच्च विशेषापरिज्ञाने दूषणमभाणि, तदसत्। यतश्चूडामणिप्रभृतिकेवलीनामतीन्द्रियार्थानामर्हत्प्रणीतत्वेन सुप्रसिद्धत्वात्। यच्चान्यदुक्तम् तदसंबद्धतयोपेक्षितमिति। विस्तरेण सर्वज्ञवादटीकायामु[11]क्तमिति[12] विरम्यते।

बाधाकलङ्कविकलं निखिलप्रमाणसामान्यलक्षणमिदं विवृतं स्वबुद्ध्या।
ये[13]तेन तीर्थिकमतानि निरस्य नीतं ज्ञानं व्यतीतमनसां[14] परमां प्रतिष्ठाम्॥ [१२*]

॥ इति श्रीशान्त्याचार्यविरचितायां वार्तिकवृत्तौ प्रथमः परिच्छेदः॥

---

१. °भ्यासेषु कुतः क०। २. °थया वर्तते अ० ब० मु०। ३. सर्वज्ञज्ञान मु० क०। ४. प्रतिपद्यमानम् अ-टि०। ५. यथाहि मु०। ६. परंपरापरमार्थपरि° अ०। ७. वस्तुपरिज्ञानपरिस° क० मु०। ८. भवस्य° मु० क०। ९. सताभ्यु° मु० क०। १०. यदपरि° मु०। यथपरि° क०। ११. °वाद-टीका° क०। १२. °मुक्त इति क०। १३. यतेन तैर्थिक° मु०। १४. मनसः मु० क०।

२. प्रत्यक्षपरिच्छेदः ।

§ १. एवं प्रमाणसामान्यलक्षणमभिधाय इदानीं संख्या-लक्षण-गोचर-फलविप्रतिपत्ति-निराकरणद्वारेण विशेषलक्षणमभिधातुकामो व्यक्तिभेदकथनमन्तरेण प्रतिव्यक्तिनियतं लक्षणं कथयितुं न शक्यत इति व्यक्तिभेदमेव तावत् कथयितुमाह—ज्ञात्रपेक्ष[1]मित्यादि ॥

ज्ञात्रपेक्षं प्रमेयस्य द्वैविध्यं न तु वास्तवम् ॥ १२ ॥

§ २. न हि नीलपीतवद्वस्तुस्थित्या प्रमाणविषयस्य किंचिद्द्वैविध्यमस्ति । किन्तु ज्ञातारमपेक्षते—ज्ञात्रपेक्षम् । तथाहि—तदेव वस्तु कस्यचित् प्रत्यक्षम्, कस्यचित् परोक्षमिति ।

§ ३. ननु इदं द्वैविध्यं केन प्रतीयते ? । न तावत् प्रत्यक्षेण, परोक्षे तस्याप्रवृत्तेः । प्रवृत्तौ वा प्रत्यक्षतैव स्यात् । अथा[2]कस्माद् धूमदर्शनात् परोक्षे वह्नौ प्रतीतिः प्रत्यक्षा, नानुमानम् । यतोऽनु व्याप्तिस्मरणात् मानम् अनुमानम् । न चेह तदस्ति । नैतदस्ति । यतोऽक्षासंबन्धि[3]न्यपि वस्तुनि यद्यक्षजं ज्ञानं प्रवर्तेत तदा सकलपरोक्षवस्तुविषयं प्रवर्तेत । न हि संनिहितासन्निहितयोः परोक्ष[4]त्वे विशेषोऽस्ति । अथ संबद्धधूमदर्शनात् नातिप्रसङ्गः । तदसत् । यतः किं तदेव धूमदर्शनं परोक्षवह्निविषयं कल्प्यते[5] ?, किं वा तज्जनितमन्यदिति । न तावत्तदेव । न हि अन्यवस्तुग्राहकमन्यस्य ग्राहकम् । न च तथाप्रतीतिरस्ति । न हि तद्देशोऽन्यदेशो वा वह्निस्तद्दर्शने प्रतिभासते । ननूक्तम् 'संबद्धधूमदर्शनात् तद्दर्शनम्' इति । उक्तमिदम्, किन्त्वयुक्तम् । यतो यद्यप्रतीतसंबन्धोऽपि धूमो धूमध्वजप्रतीतिं जनयति किं न नालिकेरद्वीपायातस्यापि ? । अथ प्रतीतसंबन्धस्या[6]भ्यासाद् अकस्मात् प्रतीतिः संबन्धस्मृतिमापेक्षते इत्युच्यते । तन्न, स्मरणेनेवान्तर्लीनं संबन्धं तथा प्रत्येति, अन्यथा अगृ[7]हीतसंबन्धस्यास्य च को विशेषः ? । किञ्च, प्रत्यक्षात्[8] प्रतीतौ विशेषरूपस्य किं न प्रतीतिः ? । कथं न दूरादिति चेत्; न, तत्रापि व्यक्तिविशेषाप्रतीतावपि भास्वरस्य रूपस्य प्रतिभासनात्, न च तथेहेति । तन्न परोक्षे प्रत्यक्षं प्रवर्तत इति । अन्यथा[9] परोक्षमेव तन्न स्यात् । न चेतरेतराश्रयत्वम् । यतः स्वकारणात्साक्षात्कारि विज्ञानमुत्प[10]द्यमानं स्वविषयस्य प्रत्यक्षतां व्यवस्थापयति । तन्न परोक्षे प्रत्यक्षस्य प्रवृत्तिरिति । नाप्यनुमानस्य प्रत्यक्षे । न च मानान्तरमस्ति । सद्भावे वा विषयद्वैविध्यादित्यनर्थकमिति ।

§ ४. अत्रोच्यते । प्रत्यक्षं हीदंतया स्वविषयं परिच्छिनद्यदेवं न भवति तत् सकलमेव परोक्षं व्यवस्थापयति । तथा परोक्षमप्यनिदन्तया स्वविषये प्रवर्तमानं ततोऽन्यत्प्रत्यक्षमिति व्यवस्थापयति । न च परस्परमनन्वयात्[11] कस्य द्वयप्रतीतिरिति वाच्यम् । यस्मान्न ज्ञानमात्मनः सर्वथा भिन्नम् । किन्तु आत्मैव कर्मक्षयोपशमादिन्द्रियद्वारेण लिङ्गद्वारेण वा स्पष्टास्पष्टतया वस्तु प्रतिपद्यत इति कथमनन्वयः[12] ? । [१२]

---

१. ज्ञानापेक्ष° मु० । २. अथ कस्मा° क० ब० मु० । ३. °संबद्धेपि मु० । ४. पक्षत्वे क० । ५. कल्पते अ० । कथ्यते मु० क० । ६. °संबन्धस्य (पं० १७) च को विशेषः ? (पं० १९) । क० । ७. अन्यथा गृहीत- ब० मु० । ८. प्रत्यक्षाप्रतीते मु० । ९. अन्यथापरो° क० । १०. °मुत्पाद्यमा° मु० । ११. °मन्वयात् मु० क० । १२. कथमन्वयः मु० क० ।

§१. तदेवं विषयद्वैविध्यं व्यवस्थाप्येदानीं तयोः लक्षणमाह—दूरासन्नेत्यादि।

दूरासन्नादिभेदेन प्रतिभासं भिनत्ति यत्।
तत् प्रत्यक्षं परोक्षं तु ततोऽन्यद्वस्तु कीर्तितम्॥ १३॥
तन्निमित्तं द्विधा मानं न त्रिधा नैकधा ततः।

§२. दूरं चासन्नं च ते आदिर्यस्य स्वच्छावरणघनावरणादेः स तथा। दूरासन्नादिश्चासौ भेदश्च तेन प्र[1]तिभासं भिनत्ति। ज्ञानस्य स्पष्टास्पष्टत्वं यद्वस्तु करोति तत् प्रत्यक्षम्। तथाहि—प्रत्यक्षे प्रतिभासमानं दूरे घनावरणाच्छादितं चास्पष्टम्, निकटे स्वच्छावरणावृतं च स्पष्टम्। न[2] चैवं धूमात् प्रतीयमानो वह्निः, दूरासन्नादिष्वप्येकरूपतया प्रतिभासनात्। अत एव आह—**परोक्षं तु ततोऽन्यद्वस्तु कीर्तितम्** पूर्वाचार्यैरिति।

द्विविध-विषयस्य लक्षणम्।

§३. इह प्रामाण्यं यन्निमित्तं स्यात् सर्वत्र भवेत्। न चार्थवत्त्वमन्तरेणान्यन्निमित्तं संभवति। न ह्यनर्थकेन ज्ञानमात्रेण कस्यचित् प्रयोजनं, हिताहितार्थं च तदुक्तम्। अतो विषयवत्तया प्रामाण्यं व्याप्तम्। तद[3]भावात् प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यामन्यस्य न प्रामाण्यम्। अत आह—**तन्निमित्तं द्विधा मानं** न[4] त्रिधेति। त्रिधेत्युपलक्षणं चतुर्धादेः। प्रयोगश्च—यदर्थवन्न भवति तन्न प्रमाणम्। यथोभयाभिमतं मिथ्याज्ञानम्। नास्ति च प्रत्यक्षपरोक्षव्यतिरिक्तस्य ज्ञानस्यार्थवत्त्वमिति व्यापकानुपलब्धिः। इयं चाग्रे साधयिष्यते।

प्रमाणसंख्यानियमः।

§४. तथा, यत् यन्निमित्तं त[6]त् तस्मिन् सति भवत्येव। यथान्त्यबीजादिसामग्रीनिमित्तोऽङ्कुरः। अस्ति चानुमानादौ प्रामाण्यव्यवहारनिमित्तम्, अन्यथा प्रत्यक्षेऽपि तद्व्यवहारो न स्याद् अन्यनिमित्ताभावात्। अत आह—**नैकधेति।**

§५. तथा,

"प्रमाणेतरसामान्यस्थितेरन्यधियो गतेः।
प्रमाणान्तरसद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित्॥"

अयं हि तार्किकचक्रचूडामणिमन्यश्चार्वाकोऽनुमानमङ्गीकुर्वाणोऽपि उन्मादात्मानमनुध्यते वराकः। तथाहि—प्रत्यक्षेणाशेषप्रत्यक्षव्यक्तीरप्रतिपद्यमानोऽप्यर्थवत्त्वेन तासां साकल्येन प्रामाण्यं व्यवस्थापयन्ननुमानव्यक्तीनां प्रत्यक्षेणाग्रहणेऽपि प्रामाण्यनिमित्ताभावेन अप्रामाण्यं व्यवस्थापयन्ननुमानं प्रतिक्षिपन् कथं नोन्मत्तः ?। व्याहारादिलिङ्गाच्चाप्रत्यक्षं परं प्रतिपद्य तदर्थं शास्त्रं रचयन्कथमनुमानं नाभ्युपैति ?। तथा, अनुमानप्रामाण्यं विना 'नानुमानं प्रमाणमिति' स्ववचनमभ्युपगम्यानुमानप्रतिषेधं[10] कुर्वाणः स्ववचसैव तिरस्क्रियते। परलोकादौ प्रत्यक्षं न प्रवर्तते, तेन च तदभावं करोतीति महत्प्रमाणकौ[11]शलमस्य। प्रत्यक्षनिवृत्तेरभाव इति चेत्; सा किं प्रत्यक्षा सती वराकी तदभावं प्रत्येति किं वा लिङ्गभूता ?। न तावत्

---

१. प्रतिभासन्ते शा° मु०। २. नैवं मु० क०। ३. विषयवत्ता° अ-टि०। ४. न त्रिधेत्यु° अ० ब० क०। ५. °ङ्गिश्चाग्रे मु०। ६. °मित्तं तस्मिन् मु०। ७. °च प्रत्यक्षं मु० क०। ८. परां प्रति° अ० ब०। ९. अनुमानं प्रामाण्याविनाभावि नानुमानं प्रमा° अ० ब०। अनुमान-प्रामाण्यं विनानुमानं न प्रमा° मु०। अनुमानप्रामाण्याविनानुनुमानं प्रमा° क०। १०. प्रतिबन्धं अ० ब०। ११. °माणकोश° क०।

प्रत्यक्षा; न हि प्रत्यक्षाभावः प्रत्यक्षम्, अन्यथा तदभाव एव न स्यात्। यदि लिङ्गभूता; सा किं तदभावाविनाभूता[1], किं वा नेति ?। यदि न; तदा[2] कथमेकान्तेन गमयेत्[3] ?। अथाविनाभूता; कथं नानुमानमिति ?। [१३–१४[1]]

§ १. एवमेकत्वसंख्यां निरस्यानेकत्वसंख्यां निरस्यन्नाह – सादृश्यमित्यादि।

सादृश्यं चेत् प्रमेयं स्यात् वैलक्षण्यं न किं तथा ॥ १४ ॥

§ २. इह 'यथा गौस्तथा गवयो यथा गवयस्तथा गौः' इत्युपमानम्। न तावद्गोर्गवयव्यक्ति[4]विषयमस्य प्रामाण्यम्, तस्याः प्रत्यक्षेण प्रतिपन्नत्वात्। सादृश्यविषयमिति चेत्; महिषगवयवैलक्षण्ये मानान्तरं स्यात्। सादृश्याभावरूपत्वाद् वैलक्षण्यस्य नेति चेत्; वैलक्षण्याभावरूपं सादृश्यं किं न भवति ?।

उपमाननिषेधः।

§ ३. अपि च किमिदं सादृश्यम् ?। न तावत्सामान्यम्, विजातीययोस्तस्यानभ्युपगमात्[5]। अथ धर्मसाधकत्वं सादृश्यं तत्संज्ञाकरणं चोपमानस्य[6] फलम्। तथाहि[7] – गवाभावे गवयालंभनेऽपि[8] तथाविधधर्मोत्पत्तिरिति। तर्हि मृतमिदानीं भट्टसामान्यम्, जीवितं सौगतसामान्यम्[9]। सौगतस्यापि हि वाहदोहाद्येकार्थक्रियाकारित्वं[10] सामान्यनिबन्धनम्। तदर्थिनो गोव्यक्तिषु सामान्यमन्तरेणापि संज्ञाकरणमुपपत्स्यत[11] इति किं तत्कल्पनया ?। यच्च धर्मसाधकत्वं हिंसायामपि, तदलं पापकथयेति। एवंविधेन च कल्पितेनार्थेनार्थवत्त्वे प्रमाणेयत्ता न स्यात्। तन्नोपमानं विषयवत्। [१४[1]]

§ १. तदेवमुपमानस्य प्रामाण्यं निरस्यार्थापत्तेर्निरस्यन्नाह – अर्थापत्तेरित्यादि।

अर्थापत्तेर्न मानत्वं नियमेन विना कृतम्।

§ २. इह पूर्वं सति नियमेऽनुमानत्वं प्रत्यपादि। इदानीम् अनियमे तस्याः प्रमाणत्वं चक्षुर्दृष्टान्तेन[12] प्रतिपादितं निराक्रियते। चक्षुषोऽपि हि रूपे एकसामग्र्यधीनतालक्षणोऽस्त्येव नियमः। अन्यथा यतः कुतश्चिद् अन्यत् सर्वं प्रतीयेत। नचैवम्[13]। अतो नियमेन विना कृतं रहितं नार्थापत्तेः प्रामाण्यमिति[14]।

अर्थापत्तेः पृथक्प्रामाण्याभावः।

§ ३. अत एवास्याः षड्भेदकथनमसत्। तथाहि – हस्तस्फोटादेर्वह्नेर्दाहकशक्तिज्ञानं[15] कार्यानुमानात् न भिद्यते। न च शक्तिः काचिदस्ति। दाहस्वरूपमेव हि मन्त्रादिना तिरस्क्रियते। अन्यथा किं तस्य रूपं स्यात्। तन्न प्रत्यक्षपूर्विकाऽर्थापत्तिः। नाप्यनुमानपूर्विका। सा हि[16] देशान्तरप्राप्तेरादित्यगत्यनुमाने तद्गमनशक्तिप्रतीतिरूपा। तत्रापि[17] न काचिच्छक्तिः। यदि वा समर्थकारणानुमानं तदिति। तथा, शब्दपूर्विका – 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इति दिवाभोजननिषेधं[18] शब्दादवेत्य[19] रात्रौ भोजनप्रतीतिरर्थापत्तिरिति। सापि कारणानुमानान्न भिद्यत इति। तथा, गोगवययोः सादृश्यमुपमानात्प्रतीत्य तच्छब्दवाच्यताशक्तिमर्थापत्त्या

१. °भूता नेति अ०। २. तथा अ० ब०। ३. साधयेत् मु०। ४. तावद्गोगवय° क०। ५. विजातीकस्य तस्यानभ्यु मु०। ६. °मानफलम् क० मु०। ७. तथा गवा° क०। ८. गवयोपलम्भेपि मु०। ९. सौगतं सा° अ०। १०. वाहदोहा° अ० ब०। ११. संज्ञाकारण° अ०। १२. °न्ते प्रति° क०। १३. नचैवमिति निय° मु०। १४. प्रमाणत्वमिति क० मु०। १५. शक्तेर्ज्ञा° अ०। १६. तथाहि मु०। १७. तथापि मु०। १८. °निषेधः मु०। १९. °वेत्यानन्तरं रात्रौ मु०।

प्रत्येतीति । सापि शक्त्यभावान्न किंचिदिति । तथा, शब्दाद्वाच्यमवेत्य तद्वाचिकां शक्तिमर्थापत्त्या प्रतिपद्य शब्दनित्यत्वमर्थापत्त्या प्रत्येतीति । सापि प्रथमार्थापत्तिनिरासेनैव निरस्ता । तथा, जीवति देवदत्तो गृहे नास्तीति बहिस्तदस्तित्वमभावपूर्विकयाऽर्थापत्त्या प्रत्येति । तत्रापि देवदत्तजीवनं येन प्रमाणेन ज्ञातं तेनैव बहिरस्तित्वमपि, किमर्थापत्त्या ? । तन्नार्थापत्तिरपि प्रमाणमिति । [१५[1]]

§ १. इदानीम् अभावप्रमाणं निरसितुं तत्पूर्वपक्षमुत्थापयन्नाह — प्रमाणपञ्चकेत्यादि ।

प्रमाणपञ्चकाभावेऽभावोऽभावेन गम्यते ॥ १५ ॥

§ २. तथाहि — न तावत् प्रत्यक्षेणाभावो गम्यते । इन्द्रियसंनिकर्षाभावेऽपि हि यद्युत्पद्येत तत्प्रत्यक्षं सर्वाभावेषूत्पद्येत[3] । न[4] चाभावे सोऽस्ति । तदुक्तम् —

"न तावदिन्द्रियेणैषा[5] नास्तीत्युत्पाद्यते मतिः ।
भावांशेनैव संयोगो योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि ॥" [श्लोकवा० अभा० १८]

§ ३. प्रत्यक्षनिषेधे[6] चानुमानमपि तत्र निषिद्धम्, तत्पूर्वकत्वादस्य । नहि अप्रतिबद्धं[7] लिङ्गं कस्यचिद्गमकम् । प्रत्यक्षस्य च तद्ग्रहणनिषेधात् कथमभावेन कस्यचिल्लिङ्गस्य प्रतिबन्धावगमः ? । अनुमानेन ग्रहणेऽनवस्था । सैवं न भवेद्यदि मूलभूतं तद्ग्राहकं कश्चिदुपेयते । नापि सामान्यतो दृष्टाल्लिङ्गात् तदवगतिः, कार्यादेर्लिङ्गस्याभावात् । अनुपपद्यमानस्य चाभावादर्थापत्तिरपि न । नाप्यागमस्तत्प्रतिपादकः, तस्य लौकिकवैदिकभेदेन द्विधा स्थितत्वात् । लौकिकस्य प्रत्यक्षानुमाननिषेधेनैव[8] निषेधः । वैदिकस्याप्यनुष्ठेयविषयप्रतिपादकस्य न तत्प्रतिपादने व्यापारः । यदपि वैदिकं वचः "असद्वा इदमग्र[9] आसीद्" [तैत्ति० २.७] इत्यादि तदर्थवादत्वेन स्वरूपप्रतिपादकं न भवतीति व्याख्यातम् । नाप्युपमानस्याभावो विषयः, तस्य द्विविधस्यापि प्रमेयान्तरप्रतिपादनात् । एतच्च तत्प्रत्यक्षनिषेधेना[10]ऽनुमानमभ्युपगम्योक्तम् ।

§ ४. न तु तत्प्रतिपत्तौ किञ्चिल्लिङ्गमस्ति[11] । न तावद्भावः तेन सह पूर्वं कश्चिदप्यदृष्टत्वात् । दर्शनेऽपि व्यभिचारसंभवात् । यत्र यदभावो गृहीतस्तत्र तद्भावस्यापि कश्चिद्ग्रहणादव्यभिचारे वा तयोर्यस्मादेव व्याप्तिग्राहकात् प्रमाणात् तदवगमः तदेव प्रमेयप्रतिपत्तौ निमित्तं भविष्यतीति किं भावाख्येन लिङ्गेन ? । एतेन तत्प्रतिपत्तिरप्यभावलिङ्गत्वेन निराकृता ।

§ ५. नाप्यनुपलब्धेः प्रतिषिध्यमानवस्त्वग्रहणस्वभावाया लिङ्गता, तस्याः स्वरूपानिश्चयात् । न तावत् प्रतिषिध्यमानवस्तूपलब्धिप्रतिषेधोऽनुपलब्धिस्तस्या अभावत्वेन ग्रहणासंभवे लिङ्गत्वानुपपत्तेः । न च तथाविधेनाऽन्येन लिङ्गेन तद्ग्रहणम्, अनवस्थाप्रसङ्गात् । न चागृहीताया लिङ्गता । भवतु वा तस्या[12] ग्रहणम्, तथापि स्वसाध्येन संबन्धग्रहणं पूर्वं वक्तव्यम् । न हि पक्षधर्मत्वनिश्चयमात्राद[13]नुमेयप्रतिपत्तिः । संबन्धग्रहणाभ्युपगमे वा तत्र

---

१. शब्दवाच्य° मु० क० । २. प्रतिपाद्य मु० । ३. °भावेष्युत्प° मु० । ४. नैवाभावे मु० । ५. दिन्द्रियेरेषा श्लोकवा० । ६. °निषेधेनानु° क० मु० । ७. °बद्धलि° क० । ८. °तिरिति मु० क० । ९. °मसत्र प्र° मु० । १०. निषेधे नि° अ० ब० । ११. लिङ्गम् अ-ढि० । १२. तस्याऽग्रहणम् मु० । १३. °मात्रानुमे° क० ।

प्रमाणं वक्तव्यम् । न तावत्सैव प्रमाणम्, तद्व्यतिरिक्तेनान्येन तयोः संबन्धग्रहणाभ्युपगमात् । न हि धूमाग्न्योः प्रतिबन्धग्रहणकाले धूमे न प्रतिबन्धग्रहः । प्रमाणान्तरसद्भावे तदेवाभावस्यानुमेयस्य प्रतिपादकमस्तु, किमनुपलब्ध्या ? । अनवस्था च तथा प्रतिबन्धग्रहणे ग्रन्थकारैर्दर्शिता । तन्नोपलब्धि[1]प्रतिषेधोऽनुपलब्धि[2]र्लिङ्गम् ।

§६. नाप्यन्योपलब्धिः, विकल्पानुपपत्तेः । तस्या लिङ्गत्वे तद्गम्यं वस्तु वा स्यात्, प्रतिषिध्यमानवस्त्वभावो वा, असद्व्यवहारो वा ? । न तावद्वस्तु, तस्य प्रमेयत्वेऽप्य[3]नुपलब्ध्याख्यालिङ्गागम्यत्वात् । नापि वस्त्वभावः, तस्य तया सह पूर्वोक्तेन न्यायेन प्रतिबन्धग्रहणासंभवात् । असद्व्यवहारश्चेत्; एतदुक्तं भवति—यद्यपि परमते भूतलोपलब्धेर्घटाभावं प्रति पूर्वोक्तेन क्रमेण न[4] लिङ्गता तथापि तस्यास्तद्रूपत्वं प्रतिषेद्धुमशक्य[5]म् । यतः पदार्थान्तरोपलब्धिस्वभावा सा[6] स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धा । प्रमेयमपि तस्या न वस्त्वन्तरम्, नापि वस्तुप्रतिषेधः तस्य गृह्यमाणवस्तुव्यतिरेके[7]णासत्त्वात् । अत एव[8] न तेन सह प्रतिबन्धग्रहणं मृग्यम् । [9]असद्व्यवहारस्तु तया साध्यते । स च तस्मान्निमित्तात् पूर्वमसकृत् प्रवृत्तेर्न प्रवर्त्यते । किं तर्हि क्रियते ? । समयस्मरणमात्रम् । तथा चोक्तम् । "स्मार्यते[10] समये[11] परः ।" अयमर्थः—शशविषाणादावसत्त्वव्यवहारनिबन्धनं भवतोऽस्मान्निमित्तात् नान्यत् किंचित् पूर्वं प्रवृत्तम् । न च तेषु कश्चिदपि सद्व्यवहारं करोति । न चोक्तनिमित्तव्यतिरिक्तस्य निमित्तान्तरस्य संभवः । यथा तदसंभवः तथा वादन्याये निर्णीतमिति नेहोच्यते ग्रन्थगौरवभयात् । अतः तन्मात्रनिबन्धोऽसद्व्यवहारस्तया साध्यते ।

§७. ननु ज्ञानाभिधानस्वभावोऽसद्व्यवहारोऽभिप्रेतः । स चानुपलब्धेः पूर्वोक्तायाः साध्ये[12] उक्तः । सा च स्वभावहेतावन्तर्भाविता । तस्यास्तस्मादर्थान्तरत्वे कथमन्तर्भावः ? नैष दोषः । नात्र तया स साध्यते, तस्य पुरुषेच्छायत्तत्वात् । किन्तु तन्निमित्त[13]दर्शनेन नैमित्तिकस्य व्यवहारयोग्यत्वस्य प्रदर्शनं विवक्षितम् । एवं विषयदर्शनेन विषयी प्रदर्श्यत इति यत्राभिधानं तत्राप्ययमेवाभिप्रायः ।

§८. तथा, अन्यत्रोक्तम्—

"हेतुना यः समग्रेण कार्योत्पादोऽनुमीयते ।
अर्थान्तरानपेक्षत्वात् स स्वभावोऽनुवर्णितः ॥" [प्रमाणवा० ३.९]

यथैतस्य स्वभावहेतुता तद्वदुक्तेऽपि हेतौ । यत उत्पादशब्देनात्र श्लोके न कार्योत्पत्तिरभिधीयते, तस्याः सामग्रीतोऽर्थान्तरत्वेन स्वभावत्वायोगात् । किन्तूत्पद्यतेऽस्मावित्युत्पादः समग्राणां योग्यतैवमुक्ता । तत् स्थितमनुपलब्धेः स्वभावहेतावन्तर्भावः । तत्र यथा शशविषाणादौ तस्मान्निमित्तादसद्व्यवहारं करोति तथा चक्रमूर्द्धन्यपि मूढो घटस्य कार्यते । यत एवमुच्यते तस्य न भवता तत्र निमित्तान्तरमसद्व्यवहारे मृग्यते[14], तस्याविकलस्यात्रापि

---

१. °लब्धिः प्रति° मु० । २. °ब्धिलिङ्गम् क० । ३. °लेप्युपल° क० अ० ब० । ४. क्रमेण लि° मु० क० । ५. °क्यम् तया यतः मु० । °क्यम् ता यतः क० । ६. सा च स्व° क० मु० । ७. °केण सत्वात् मु० क० । ८. एव तेन मु० ब० क० । ९. मृग्यम् सद्व्य° मु० क० । १०. स्मर्यते मु० क० । ११. समयः परम् मु० । १२. साध्यमुक्तः मु० । १३. °मित्तप्रद° मु० क० । १४. मृग्यम् तस्य विकल्पस्या° मु० ।

सद्भावात् किमिति भवान् तत्र न[1] प्रवर्तयति । तस्मादनुपलब्धेः लिङ्गादसद्व्यवहारप्रवृत्तौ कथमिदमुक्तम्—'लिङ्गाभावाद्भावस्यानुमेयतेति' ।

§९. नन्वेवं सुतरां तस्यानुमेयता[2] नास्ति । यतो यल्लिङ्गत्वेन विवक्षितं तत्तन्न प्रतिपादयति । यच्च तस्मात् प्रतीयते सोऽभावो न भवति, योग्यताया भावरूपत्वात् । तस्मात्कथमनुपलब्धेर्लिङ्गात् तत्प्रतिपत्तिरित्युच्यते ? । किञ्च, किमित्यभाव एव पूर्वोक्ताल्लिङ्गात् प्रमाणान्तराद्वा नावसीयते ? । किमत्रोच्यते । तस्य भावव्यतिरेकेणासत्त्वात् । त[3]था चाभावो लिङ्गात् प्रमाणान्तराद्वाऽवसीयमानो न स्वतन्त्रतया प्रतीयते । किन्तु देशादिविशेषणत्वेनैव प्रतिपत्तिः—अत्रेदानीमे[4]स्य चाभावः ।

§१०. न चाभावस्य देशकालाभ्यां सह विशेषणविशेष्यभावैः[5], वस्तुप्रतिषेधरूपत्वेनानुपकार्योपकारकस्वभावत्वात् । नापि भावसंबंधिता तस्य युक्ता, तयोर्भिन्नकालत्वात् । यदा घटाख्यो भावः, न तदा तदभावः । यदा[6] तस्य स[7]त्त्वं न तदा घटोऽस्तीति कथं तस्य त[8]त्संबंधिता ? । न च स्वतन्त्रस्य तस्या[9] प्रतिपत्तिः ।

§११. अ[10]थैवमुच्यते—घटो नास्तीति तयोः समानाधिकरणप्रत्ययविषयता तत् कथं नीलोत्पलादिवत् तयोः संबन्धाभावः ? । अस्त्ययं प्रत्ययः । स तु संबन्धं विना भवन् मिथ्यात्वेन व्याख्यातृभिर्व्यवस्थापितः । यतो न प्रतिभासनिबन्धनं सत्त्वम् । तन्निबन्धनत्वे तस्य नेदानीं किञ्चित् असद् भवेत् । प्रतिभासस्यासत्त्वेऽपि त[11]त्त्वत उपजायमानत्वात् । तस्माद् घटस्याभाव इति प्रत्ययो मिथ्या ।

§१२. विशेषणविशेष्यभाव[12]श्चेत् संबन्धस्तयोरस्तीति । न, तस्य संबन्धपूर्वकत्वेन स्थितत्वात् कथमत्र तद्भावोऽन्यथा पुरुषेच्छया[13] तयोर्विपर्ययो न स्यात् । दृश्यते च तदिच्छया विपर्ययः । कदाचिद्विशेषणत्वेना[14]पि व्यवस्थितं पूर्वं पश्चाद्विशेष्यत्वेन विवक्षे[15]ति । एवं विशेष्येऽपि द्रष्टव्यम् । उभयोरुभयरूपत्वाददोष इति चेत्; त[16]दसत्, तयोरसंबन्धप्रसङ्गात् । न विशेष्यस्य विशेषणेन संबन्धो नापि विशेषणस्य तथाविधेन । अपि चोभ[17]योर्द्विरूपत्वे सर्वदा तयोर्द्वि[18]रूपा प्रतिपत्तिर्भवेत् । न चैतद् दृष्टम् । तस्मान्न घटस्याऽभाव इति तयोर्विशेषणविशेष्यभावः ।

§१३. अ[19]थ मा भूदसौ, विरोधस्तु तयोरस्तीत्येवमभिधानम् । एतदसत् । तस्मिन् सति[20] संबन्धित्वेन प्रतिभासो न स्यात्, अपि तु विरुद्धत्वेन मुद्गरादिवत् । किञ्च, विरोधोऽव्यवस्थाप्यमान एवं व्यतिष्ठते यद्भावे सति भावो न स्यात् प्रकाश इव तमः । न त्वेवं अत्रास्ति । न हि घटे विद्यमाने कुतश्चित् स्वसामग्रीनिमित्तादभावो भवन् भावं विरुणद्धि, प्रकाशवदेव ।

१. तत्र प्रव° मु० क० । २. मेयं नास्ती मु० । ३. तथाभावो अ० । ४. °दानीं तस्य अ० । ५. °ध्यभावोऽस्तु प्रति° क० । °ध्यभावौ स्तः प्रति° मु० । ६. यदा तु तस्यासत्त्वं मु० । ७. तस्यासत्त्वं क० । ८. तस्य संबं° अ० । ९. °न्त्रस्य प्रति° मु० । १०. अत्रैव° क० मु० । ११. °पि सत्त्ववदुप° मु० । १२. °भावश्च सं° मु । १३. पुरुषेच्छायत्तयोर्वि° मु० क० । १४. °णत्वेऽपि मु० क० । १५. विवक्ष्यति ब० । १६. चेत् तदनन्तरयोरसं° ब० मु० क० । १७. अपि चोभयोर्द्विरूपा प्रति° अ० । १८. द्वित्वरूपा ब० मु० । १९. °भावः । मा भूद° मु० क० । २०. वत् । विरो° मु० क० ।

न्या० ९

किन्तु स्वस्माद् मुद्गरादेर्विरोधिनः प्रत्ययात् स्वयमेव न भवति । न च तथा भवनभावेन विरोधमपेक्षते तस्यान्यविरोधिजन्यत्वात् ।

§ १४ अथोच्यते — यथा मुद्गरापेक्षयाऽसौ घटो न भवति तथा स्वसंबन्ध्यभावापेक्षया[1] न भविष्यतीति किमत्रानुपपन्नम् ? । ननु एतदेव यत् तयोरसमानकालत्वम् । समानकालत्वे हि तयोर्विरोधाविरोधौ चिन्त्येते न त्वेवमेव[2] । अपि च, मुद्गरादिवत् तस्य विरोधकत्वाभ्युपगमेऽनवस्थाप्रसक्तिः । यथा मुद्गरो घटस्याभावजनकत्वात् तद्विरोधी एवमभावोऽपि अभावान्तरजनकत्वेन, तैदप्येवमित्यनवस्था । न चाऽकिंचित्करादुत्पन्नस्य पदार्थान्तरस्य तथात्वव्यपदेशः । तन्न भावाभावयोर्विरोधोऽपि संबन्धः ।

§ १५. किञ्च, तस्य शास्त्रे कार्यकारणभावत्वेन स्थापितत्वात् मुद्गराद्यपेक्षा तस्याऽसमर्थतरासमर्थतमोत्पादे । न तु तस्य तदपेक्षया निवृत्तिः, स्वयमेवैकक्षणस्थायित्वेन स्वहेतोरुत्पन्नत्वात् । तन्न मुद्गराद्यपेक्ष्यासौ निवर्तते, स्वयमेव निवृत्तत्वात् । अन्यथा तन्निवृत्त्ययोगात् । तस्मान्न भावाभावयोः कश्चित् संबन्धः । तदभावान्न तस्य प्रतिपत्तिः । न हि भाववदभावो देशाद्यनपेक्षः स्वतन्त्रः प्रत्ययविषयः । अतो यदस्ति कथंचिन्निमित्तमात्रं तन्न प्रमाणगोचरः । यच्च प्रतीयते देशाद्यपेक्षम्, तन्निरूप्यमाणं न तत्त्वतोऽस्तीति कथमभावः प्रमेयः स्यात् ? । तद्भाव एवैकदाऽस्ति पश्चात् स एव न । न तु तस्य पश्चादभावः ।

§ १६. इतश्च नं तस्य निरूप्यमाणं तत्त्वमस्ति । यतोऽसौ भवनधर्मो भवेद्, अन्यथा वा ? पूर्वस्मिन्पक्षे वस्तुनि एव अभाव इति नाम कृतं स्यात् । उत्तरस्मिन्नपि सर्वपदार्थानामसत्त्वप्रसङ्गः । सत्त्वाभ्युपगमे तस्योनताद्यभावादवश्यंभाविनी नित्यता । ततश्च विरोधिनः सर्वदा सन्निधानाद्भावो जगति नाममात्रेणाप्युच्छिद्येत ।

§ १७. अपि च तस्यैकभावसंबन्धिता भवेत्, सर्वसंबन्धिता वा ? । पूर्वस्मिन्पक्षे विशेषो वक्तव्यो येन तस्यैवासौ नान्यस्येति । तन्निवृत्तिस्वभावत्वादेवं भविष्यतीति अपास्तम्, अकिंचित्करत्वेन तस्याः । यथा ह्यसौ तत्राकिंचित्कर्यपि[12] तस्य निवृत्तिः, तथा त्रैलोक्यस्यापि किमिति न भवति ? । तन्नैकभावसंबन्धी । नापि सर्वसंबंधी एकस्य विनाशे उत्पादे वा सर्वस्य विनाशोत्पादप्रसंगात् । न चैवमस्ति । तन्नाभावस्य केनचित्संबन्धः । तस्मात् कल्पनामात्रदर्शित एवाभावो न तत्त्वतः कश्चिदस्तीति स्थितम् ।

§ १८. अत्राहुः — एवमभावनिराकरणे पर्युदासे एवैको नञर्थः स्यात् । तत्र च द्वयी गतिः । वस्त्वन्तरस्य सत्ता अन्यस्याभावः, पदार्थान्तरत्वेन वा भावविलक्षणस्याभ्युपगतस्य ? । उत्तरस्मिन्पक्षे प्रसज्यप्रतिषेधे यो दोष उक्तः सोऽत्राप्यपरिहार्यः । न हि पदार्थान्तरोत्पत्तौ स्वरूपेणाप्रच्युतस्यै पूर्ववदुपलब्ध्यादिकरणं, निवृत्तौ वा स्वयमेव तस्य निवृत्तेर्न[15] पदार्थान्तरोत्पत्त्या किंचित् । तन्नोत्तरः पक्षः । नापि पूर्वः । तत्र स एव भावोऽन्यापेक्षयाऽभावः ।

---

१. तथा संबन्धाभावा° मु० । २. नन्वेवमेव मु० । ३. °त्वेन, न च तदप्ये° क० मु० । ४. °करादेरुत्प° मु० । ५. रुपपन्नलात् मु० क० । ६. °त्वात् । मुद्ग° मु० । ७. मुद्गरादिमपे° मु० अ० ब० । ८. प्रत्यक्षवि° ब० । ९. °षयः यस्मात् तस्य प्रतिपत्तिः नहि भाववदस्ति कथं° मु० । १०. इतश्च तस्य मु० क० । ११. अभावस्य अ-टि० । १२. °चित्कार्यपि मु० । १३. पर्युदासस्यैको मु० । १४. °स्य भावस्य पूर्व° क० । १५. निवृत्तेर्वा पदा° मु० ।

ततश्च घटस्य प्रध्वंसः कपालानां सत्ता । यदा च कुतश्चिन्निमित्तात् तेषां प्रध्वंसः तदा गत्यन्तराभावाद् घटस्याभावे प्रतिषिद्धे सत्तया भाव्यम् । न चैतद् दृष्टम् ।

§१९. किं च यथा कपालानां सत्ता घटस्याकिंचित्कर्यपि प्रध्वंसः, तथा त्रैलोक्यस्यापि सा प्रसज्येत । ततश्चैकविनाशे सर्वविनाशः । एकोत्पादे च सर्वोत्पादः । तथाहि – दध्नः प्रागभावः क्षीरमात्रम्, तन्निवृत्त्या तस्योत्पादात् । यथा च प्रागभावव्यावृत्तौ दध्न उत्पत्तिः एवं पदार्थान्तरस्यापि । अथ येनैवासौ संबद्धः तस्यैवासौ[1] प्रागभावः प्रध्वंसो वा । तेन न पूर्वोक्तो दोषः । उक्तमत्र[2] – 'तेन सह संबन्धे विशेषहेत्वभावः[3]' । तत् प्रसज्यप्रतिषेधे पर्युदासरूपस्याभावाख्यस्य[4] प्रमेयस्याभावात् कथं तत्प्रतिपत्तिः कुतश्चिल्लिङ्गाद् दृश्यते । तत्रैवमभावाभावे[5] ग्रन्थकारैः पदार्थसंकराख्यो दोषः प्रतिपादितः –

"क्षीरे दधि भवेदेवम्" [श्लोकवा० अभा० ५]

इत्यादिना ।

§२०. नैष दोषः । परात्मनाऽसत्त्वानभ्युपगमे पूर्वोक्तमसामंजस्यं प्रतिपादितम् । अथ ब्रूयात् – स्यादयं दोषो यदि स एव भावः पररूपेणासन् भवेत् किन्तु तस्य पररूपेणासत्त्वं धर्मिणो धर्मः । तथा च द्व्यात्मकः पदार्थोऽभ्युपगतो भवति । तदुक्तम् –

"स्वरूपपररूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मके ।
वस्तुनि ज्ञायते[12] किंचित् रूपं कैश्चित्कदाचन ॥" [श्लोकवा० अभा० १२]

न च तयोर्भावाभावलक्षणयोरंशयोरनेन[13] प्रकारेणाभेद उक्तो येनायं दोषः स्यात् किन्तु कथंचिद्भेदस्याप्यभ्युपगमात् । तदुक्तम् –

"धर्मयोर्भेद इष्टो हि धर्म्यभेदेऽपि नः स्थिते ॥" [श्लोकवा० अभा० २०]

§२१. अत्रोक्तम्[15] – "ऐकान्तिको[16] भेदोऽस्तु तयोः, कथञ्चिद्वा भेदस्तावदिष्टः । तथा सति भावस्य घटाख्यस्याभावांशेन[17] पदार्थान्तरात् पटाख्यात् यथाऽसंकीर्णता[18] एवं भावाभावांशयोरपि[19] । ततश्च पटादिर्भावांशादपि[20] तेनासंकीर्णेनाभावान्तरेण भाव्यम् । तस्मादप्यसंकीर्णताभ्युपगमेऽनवस्था[21] प्रदर्शितैव । तन्नाभावांशाभ्युपगमेनापि पदार्थान्तरात्[22] पदार्थान्तरस्य व्यावृत्तिसिद्धेर्वस्त्वसंकरसिद्धिः[23] । किन्तु स्वहेतुतः समुपजायमाना भावाः परस्परासंकीर्णस्वभावा एवोपजायन्ते । अन्यथा पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गः । तदुक्तम् "सर्वे[24] भावाः स्वस्वभाव[25]स्थितयो नात्मानं परेण मिश्रयन्ति" । तत् 'नास्तीति' व्यवहारमात्रम् । न त्वभावो नाम तैर्ज्ञानगम्यः[26] कश्चिद्विद्यते । भाव एवैकदा अस्ति । अन्यदा स एव न । न तु तस्याभावो

---

१. °स्यापि । तस्यैवा° मु० क० । २. अत्रोक्तम् ब० मु० क० । ३. °हेतुभावः मु० क० । ४. °षेधे च पर्यु° क० । ५. तत्रैवमभावे मु० । ६. °त्मनोऽस° मु० । ७. °सत्त्वाभ्यु° मु० क० । ८. °क्तमासमंजस्य क० अ० ब० । ९. °णासद् भवेत् अ० । °णासन् भवेत क० । १०. किन्तु पर° मु० क० । ११. तदा च क० । १२. ज्ञायते कैश्चिद्रूपं किंचित्कदाचन श्लोकवा० । १३. °लक्षणयोरनेन अ० । १४. धर्मभे मु० । १५. अथोक्तम् मु० क० । १६. एकान्तिको अ० क० मु० । १७. °वांशेपि तेन पदा° मु० । १८. यथास्त्वसं ब० । १९. भावांशयोरपि अ० । भावाश्रयैरपि मु० । २०. पटादिभावां° मु० । २१. °र्णत्वाभ्यु° मु० क० । २२. °र्थान्तरत्वात् क० । २३. व्यावृत्तेर्वस्त्व° ब० क० । २४. सर्वे भावाः मु० । २५. सर्वभावाः स्वरूपे पररूपेण क० । २६. अभाव° अ-हि० ।

यतो भावैकपरमार्था भावाः स्व[1]रूपेण । पररूपेण तु न सन्तो नाप्यसन्तः । तथाभ्युपगमे पूर्वोक्तदो[2]षान्निवृत्तिः । तत् स्थितमनुपलब्धेः सविशेषणाया असद्व्यवहारयोग्यत्वं प्रति लिङ्गता ।

§२२. ननु अनुपलब्धेः किं विशेषणं येनैवमुच्यते ? । किमत्र प्रष्टव्यम् ? । निषिध्यमानस्य दृश्यत्वम् । तन्न, तदानीमस[3]न्न दृश्यते । कथं तथा व्यपदिश्यते ?। अदृश्यमानोऽपि दर्शनयोग्यश्चेत् तद्योग्यत्व[4]म् । दर्शनाभावात् कथमवसितम् ? । अत्रोक्तं व्याख्यातृभिः—दृश्यत्वं समारोपितं तत्र, न तु वास्तवम् । अतः समारोपितदृश्यत्वाभिप्रायेणानुपलब्धेः पूर्वोक्तं विशेषणम् । एतच्च पूर्वावगतस्य घटस्य शशविषाणस्य [5]चाऽनवगतस्य द्वयोरपि तुल्यं क्वचित्प्रतिषेधे । तत् स्थितं यथोक्त[6]विशेषणाया अनुपलब्धेर्व्यवहारयोग्यतास्वभावः प्रमेयम् । न तु[7] भावव्यतिरिक्तोऽभावः ।

§२३. अत्राहुः—स[8]र्वस्य [9]ज्ञानद्वयं समुपजायते—'इदमस्ति' 'इदं नास्तीति' । तयोश्च विभिन्नविषयावभासित्वाद्वैलक्षण्यं [10]सुप्रसिद्धम्, एकस्य भावविषयत्वात् अपरस्याभावविषयत्वात् । तत्रैतत् स्यात् द्वयोर्मध्ये कतरद्भावप्रतिभास्यन्यदभावस्य । नन्[11]तु स्फुटे प्रतिभास[12]भेदे कुतस्त्यः संशयः ? ।

§२४. अत्राहुः—प्रतिभासोत्पादादेव । भावो हि सामर्थ्यलक्षणः शास्त्रे गीयते [13]तद्विलक्षणेन चाभावेन भवितव्यम् । अन्यथा तयोर्न स्यात् स्वरूपाभेदाद्वैलक्षण्यम् । तस्मात् तस्यासमर्थत्वेनैव भवितव्यम् । असामर्थ्या[14]च्चाजनकत्वम् । तस्माच्च कुतः प्रतिभासः ? । सामर्थ्ये [15]वा भावस्यैवाऽभाव इति नामकरणम् । न च तन्निबन्धनमर्थतथात्वम् । तत् भाव एव वस्त्वन्तरासंश्र[16]यतयोपलभ्यमानः पूर्वोक्तं[17] ज्ञानद्वयं जनयति । अत इदमभावज्ञानं भावग्राहिप्रमाणसामर्थ्यादुत्पन्नं न प्रमाणान्तरम् ।

§२५. अत्रोच्यते—भावसामर्थ्यादस्योत्पादेऽस्तीत्येवमुत्पत्तिः स्यात् न तु नास्तीति, जनकस्य भावैकस्वभावत्वात् । यथानुभवं च विकल्पेनोत्पत्तव्यम् । न त्वन्यथा विकल्पः । तत्रैतद्भवेत्—अन्यापेक्षया जनकस्य प्रतिषेधरूपताप्यस्तीति अतोऽयमदोषः । नैतच्चारु । तस्योभयरूपत्वे पूर्वोक्तदोषानुवृत्तेः । एतच्च भवद्भिरेवोपगतम्—'स्वरूपेण स[18]न् पररूपेण तु न सन् नासन्निति' व[19]दद्भिः । तद्विधिस्वभावत्वात् अस्तीति विकल्पं जनयेत् न प्रतिषेधविकल्पम्, अतद्रूपत्वात् । अस्ति च प्रतिषेधविकल्पो भवतां मते स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धः । स च विषयभेदात् [20]पूर्वस्मात् प्रमाणान्तरम् ।

§२६. ननु प्रतिषेधविकल्पस्याभावविषयत्वं तस्याजनकत्वेन प्रतिक्षिप्तम् । अत्र केचिदाहुः—भावेऽयं नियमो जनकस्य प्रतिभासः । अभावस्त्वजनकोऽपि स्फुटप्रतिभासोत्पत्तेः प्रतिभासत इति कमुपालभेमहि ? । न च प्रतिभासापलापो युक्तः । अपि च भावेऽप्ययं न

---

१. स्वरूपे पर° मु० । २. दोषानिवृत्तिः अ० ब० । ३. °नीमयं न द° मु० । ४. °ग्यत्वदर्श° क० मु० । ५. °स्य वाऽनव° मु० । ६. यथोक्तविशेषणतयाऽनुप° मु० । ७. ननु भा° मु० । ८. सर्वशस्य क० मु० । ९. सर्वस्य समु° क० । १०. ण्यं प्रसि° मु० । ११. न तु स्फुटे अ० ब० मु० । १२. प्रतिभासेत् मु० । १३. तद्विल° मु० । १४. असामर्थ्याच्च कुतः मु० । १५. °र्थ्ये चाभाव° मु० । १६. °तरासंसृष्टतयो° मु० । १७. °क्तज्ञान मु० । १८. स्वरूपेण तु मु० । १९. भवद्भिः अ० ब० । २०. °भेदात् प्रमाणा° मु० ।

नियमो जनकस्यैव भावस्य प्रतिभासः। यः प्रतिभासे प्रतिभाति ग्राह्याकारो वर्तमानावच्छिन्नो[1] न तस्य प्रतिभास[2]समानकालत्वेन जनकत्वम्। यस्य च[3] जनकता[4] तस्यातीतत्वान्न प्रतिभासः। तत्रैतद्भवेत्—जनकस्य न साक्षात् प्रतिभासः। किन्तु स्वाकारजननमेव तस्य ग्राह्यत्वम्। न तु प्रतिभाससमानकालत्वेन तदभावस्य सामर्थ्यं तथाविधं ग्राह्यत्वेन[5] संभवति।

§२७. अत्र वदन्ति—कथमसौ प्रतिभाससमानकाल आकारोऽनुपकारकस्तत्र प्रतिभाति। न चान्यस्योपकारकत्वेऽन्यस्य प्रतिभासोऽतिप्रसंगात्। एकसामग्र्यधीनत्वेनातिप्रसंगनिवारणं प्रतिक्षिप्तम्। किंच, उपकार्याभावाज्जनकस्य भावस्य ग्राह्यत्वेन परिकल्पितस्योपकारकत्वमनुपपन्नम्। न च ज्ञानप्रतिभास्याकार उपकार्यः, तस्य स्वं[6]तस्त्वतोऽसत्त्वेनाभ्युपगमात्। अतः कथं भावस्योपकारकत्वम्?। मा भूत् ज्ञानाकारस्योपकार्यता ज्ञानं तु परमा[7]र्थसद्विद्यते। तदपेक्षयोपकारकत्वं भविष्यति। एतदप्यसत्। ज्ञानप्रतिभासिन आकारस्यापरमार्थसत्त्वे तद्व्यतिरेके[8] ज्ञानस्याप्यसत्त्वप्रसङ्गः[9] तस्य चाबोधरूपता। कः पुनस्तद्रूपतायां दोषः?। न कश्चित् तदसत्त्वव्यतिरेकेण। यथाहि ग्राह्याकारे[10] वृत्तिविकल्पादिबाधकं प्रमाणं प्रवृत्तमसत्त्वं प्रतिपादयति तथा तद्व्यतिरिक्त[11]स्यापि बोधाकारस्यासत्त्वमावेदयेत्। तदकार्यकारणभूत एव ग्राह्यत्वेनाभिमतो भावः प्रतिभाति। तद्वदभावोऽपि।

§२८. ननु एवमजनकस्याभावस्य प्रतिभास्यत्वे सर्वदा अभावप्रतीतिः स्यात्। स्यादयं दोषो यदि तद्ग्राहकप्रमाणोत्पत्तौ[12] निमित्तं सर्वदा स्यात्। किं पुनस्तद् यत् सर्वदा न भवति?। प्रतिषिध्यमान[13]पदार्थस्मरणम्, भावोपलम्भश्च। अतः प्रमाणोत्पत्ति[14]निमित्तान्वयव्यतिरेकानुविधानात् कादाचित्कत्वमभावग्राहिणो न त्वभावस्य जनकत्वात्, तस्य सदैव भावात्। तत् प्रमाणान्तरमभावः—एवं केचिदाहुः।

§२९. अन्ये ब्रुवते—अभावस्य प्रतिभासजनकत्वं किमक्षणिकत्वान्नेष्यते, आहोस्वित् प्रतिभासजनकत्वेन भावाद्वैलक्षण्यं न स्यादित्युच्यते?। यदि पूर्वः पक्षः तदा[15] एतत् प्रतिसमाधास्यते क्षणभङ्गभङ्गे। यथा भावस्याकिंचित्कर[16]सहकार्यपेक्षस्य[17] कार्यजनकत्वं तथाऽभावस्यापीति वक्ष्यते। अथ द्वितीयः। सोऽपि न युक्तः। न हि जन्यत्व[18]जनकत्वाद्वैलक्षण्यानुपपत्तिः। एवं[19] ह्यवैलक्षण्ये जगति न किंचित्कुतश्चित् विलक्षणं भवेत्। पूर्वोक्तस्य निमित्तद्वयस्य संभवात्।

§३०. अथ तस्मिन्सत्यपि हेतुभेदात् प्रतिभास[20]भेदाच्च भावानां विलक्षणता। तद्वदभावेऽपि स्यात्। अथोच्येत—सर्वसामर्थ्योपाख्याविरहलक्षणमसत्त्वम्। तदेव चाभावोऽतः कथं तस्य

---

१. °न्नो तस्य क० मु०। २. प्रतिभासमानका° क० मु०। ३. यस्य जन° अ० क० मु०। ४. जनकत्वं ब०। ५. ग्राहकत्वेन मु०। ६. तस्य तत्त्व° क० मु०। ७. परमार्थ स° मु०। ८. °रेकज्ञान क० मु०। ९. °प्रसङ्गात्। तस्य चाबोध° अ० ब०। प्रसङ्गः तस्य बोध° क० मु०। १०. ग्राह्यग्राहकाकारे वृ° क०। ग्राहकाकरि(कारे) मु०। ११. तद्व्यति° मु०। १२. प्रमाणोपपत्तौ ब० क० मु०। १३. °ध्यमानं पदा° क० मु०। १४. णोपपत्तिनि° क० मु०। १५. तदेतत् क० मु०। १६. °त्किरस्य सह° क० मु०। १७. °पेक्षस्याकार्य° ब०। १८. जन्यत्वाज्जन° क०। १९. एवं तावद्भाववैल° अ०। २०. प्रतिभासते मे° क० मु०।

जनकत्वम् ? । न सामर्थ्यलक्षणं सत्त्वम्, तस्य क्षणभङ्गभङ्गे निषेत्स्यमानत्वात् । तद् अभावस्य प्रतिभासाजनकत्वात् अप्रमेयत्वमयुक्तम् ।

§ ३१. अथ न पूर्वोक्तेन निमित्तेन तस्याप्रमेयता किन्तु भावं[1]व्यतिरिक्तस्य तस्यासंभवात् एवमुच्यते । एतत् असत्, रूपाद् रसस्य कथं भेदः ? । किमत्र प्रष्टव्यम् ? । भिन्नप्रत्ययविषयत्वात् तस्य तस्माद्भेदे[2]ऽत्राप्यस्तीतिप्रत्ययप्रतिभा[3]सस्य भेदः, तस्मिन्वाऽसति कथं विलक्षणः [4]प्रत्ययः ? ।

§ ३२. तत्रैतत् स्यात्—न प्रतिभास्यभेदान्नास्तीतिप्रत्ययस्य पूर्वस्माद्वैलक्षण्यम् । किन्तु सामग्रीभेदात् । नन्वेकोपलम्भानुभवाद्[5] द्वयोरुत्पादे कथं सामग्रीभेदः ? । नैष दोषः । प्रतिषिध्यमानस्मरणस्य नास्तीतिप्रत्यये पूर्वस्मादाधिक्यात् । ननु[6] तस्यैव कथमुत्पत्तिः ? । न हि अप्रतिबद्धपदार्थदर्शनेऽन्यस्य स्मरणमतिप्रसङ्गात् । एकज्ञानसंसर्गः[7] प्रतिबन्ध इति चेत्; वक्तव्यं तर्हि कोऽयमेकज्ञानसंसर्गः ? । पूर्वं[8] द्वयोः सह प्रतिभास्यतेति चेत्; तर्हि[9] यो यत्र न दृष्टः तस्य तत्रादृश्य[10]मानस्य प्रतिषेधो न स्यात् । प्रतिषिध्यमानस्मरणनिमित्ताभावाद्योग्यतेति चेत् । साऽपि न युक्ता दर्शनं विना, कार्यानुमेयत्वात् तस्याः ।

§ ३३. [11]अथ ब्रूयात्—न योग्यता पूर्वोक्ताऽस्माभिर्भण्यते किन्तु—'यदि प्रतिषिध्यमानं वस्तु तत्र सन्निहितं भवेत् तदा भूतलमिव [12]तत्र द्रष्टुं शक्यं स्यात्'—इयं योग्यता एकज्ञानसंसर्गलक्षणा । अस्यामपि योग्यतायां नैकस्यैव प्रतिभासो भवेत् । किन्तु यावत् तत्र सन्निहितं द्रष्टुं शक्यं तस्य स्मरणे[13] सति प्रतिषेधप्रतिभासः स्यात् । न चैतदस्ति, कस्यचिदेव प्रतिभासात् । तन्न प्रतिषेधविकल्पोत्पत्तौ प्रतिषिध्यमानस्मरणं पूर्वस्मात् सामग्र्यन्तरम् । तत् नास्तीति विकल्पो न भवेद् एकनिमित्तोत्पन्नयोः वैलक्षण्याभावात् । भवतु वा तदुत्पत्तौ सामग्र्यन्तरम्, तथापि नोपायभेदात् विकल्पयोर्भेदः किन्तु प्रति[14]भासभेदात् प्रत्यक्षानुमानयोरिव । तदुक्तम्—

> "प्रामाण्यं वस्तु विषयं द्वयोरर्थभिदां जगौ ।
> प्रतिभासस्य भिन्नत्वादेकस्मिंस्तदयोगतः ॥"

युक्तं चैतत् । अन्यथा नास्तीति प्रत्ययेऽप्रतिपत्तिरेव स्यात् । [15]यतः प्रतिभास्यं तावदसत्त्वात् न [16]प्रतिभाति, प्रतिभासोऽपि वक्ष्यमाणात् स्वसंवेदननिषेधात् नैव । न च वस्त्वन्तरमस्ति । अतो नास्तीति विकल्पोत्पादानुत्पादयोः प्रतिभासाभावात् तुल्यता प्रसक्ता ।

§ ३४. अथ भेदा[17]नुमानस्य प्रतिभासस्य संभवात् प्रत्यक्षानुमानयोर्विषयभेदाद्भेदोऽस्ति[18], प्रमाणत्वात् । नास्तीति विकल्पस्य पुनर्न प्रतिभासोऽस्ति[19] । नापि प्रमाणत्वम् । अतः तुल्यता तस्य न युक्ता । ननु अनुमानेऽपि [20]नैवं प्रतिभास्यं वस्त्वस्ति, आरोपितस्य तद्विषयत्वेनाभ्युपगमात्

---

१. भावाव्यति° क० मु० । २. °द्भेदोऽत्रापि° अ० ब० मु० । ३. °प्रतिभासः स्यात् तदसत् तस्मि° मु० । °प्रतिभासस्य क० । ४. °क्षणः तत्रै° अ० । ५. °नुभवाध्यवसाययोरुत्पादे मु० । ६. न तु मु० । ७. एकज्ञाने सं° अ० ब० । ८. °संसर्गः पूर्वं क० । ९. तर्हि तयोः यत्र मु० । १०. °दृश्व प्रति° अ० ब० । ११. यदि ब्रूयात् मु० । तस्याः । ब्रूयात् अ० क० । १२. मिव द्रष्टुं मु० । °मिव तद् क० । १३. स्मरणासति क० । १४. प्रतिभास्यमे° क० । प्रतिभासस्य मे° मु० । १५. ततः मु० । १६. न प्रतिभासो मु० । १७. भेदो नानुमानस्य अ० ब० । १८. भेदेऽस्ति अ० । १९. °प्रतिभास्योऽस्ति क० मु० । २०. नैवाप्रति° अ० ।

तच्च नास्तीति विकल्पेऽपि न दण्डवारितम्। यथा युक्तिबाधितत्वेऽपि तद्विषयस्याभ्युपगमः, तथा नास्तीति विकल्पविषयस्यापि। तत्प्रामाण्यमप्यस्तीति विकल्पवत् नास्तीति विकल्पस्य प्रापकत्वात् न वार्येते।

§ ३५. ननु न विधिविकल्पस्य तत्र प्रामाण्यं किन्तु दर्शनमेव स्वाकारार्पणात् तद्रूपतामापन्नं वस्तु प्रापयत् प्रमाणम्। प्रतिषेधविकल्पेऽपि दर्शनस्यैवंरूपता किमिति न कथ्यते?। अथ विधिविकल्पस्य पारंपर्येण यो[1] विषयो नीलादिः स प्राप्यते, प्रतिषेधविकल्पस्य तु यो विषयः तस्य न कथंचित् प्राप्तिरिति तदाकारतामापन्नं दर्शनं न तत्र प्रमाणम्। कथं न प्राप्तिर्यतो नीलं प्राप्यमाणं तत्प्रच्युत्यविनाभूतपीताद्यसंसृष्टं प्राप्यते[2] न शुद्धं तस्याश्च पदार्थव्यवस्थानिबन्धनायाः प्रच्युतेः कथंचित् प्राप्तिरस्तीति किन्न[3] तत्र दर्शनं प्रमाणम्?। तदनभ्युपगमे च पदार्थव्यवस्था नास्तीति उक्तं तैर्लोक्षणिकविरोधं प्रदर्शयद्भिः। कल्पितायास्तस्याः सत्त्वाभ्युपगमाददोष इति चेत्; एतन्नातिसुभाषितम्—अकाल्पनिकवस्तुव्यवस्थापकत्वं[4] कल्पितत्वं च।

§ ३६. अथोच्येत—तस्याः प्रापकत्वेऽपि कथंचित् दर्शनं[5] न प्रमाणं तदर्थक्रियाऽकरणात्। ननु केयमर्थक्रिया यामसौ न करोति?। नीलादिसाध्यामिति चेत्। तन्न[6], नीलादिष्वपि तुल्यम्। तेऽपि[7] न परस्परस्यार्थक्रियां[8] कुर्वन्ति। अथ वस्त्वन्तरसाध्यार्थक्रियाऽकरणेऽपि स्वकार्यकर्तृत्वं तेषामस्तीत्युच्यते। तत् प्रच्युतेरपि न केनचिद्वारितम्। तथाहि—पीताद्यवच्छेदकत्वं तत्प्रच्युतेर्भवद्भिरभ्युपगतम्। तदनुमानवद्दर्शनपृष्ठभाविविधिविकल्पवच्च प्रतिषेधविकल्पस्यापि प्रामाण्यम्। तन्नानुपलब्धेर्लिङ्गादसद्व्यवहारयोग्यता[9]ऽवसीयते। किन्तु अभाव एव[10]। स तु प्रमाणान्तरगम्यः। न च[11] सदुपलम्भकप्रमाणगम्यः पूर्वोक्तेन[12] न्यायेन।

§ ३७. इतश्चैतन्न। यतः कश्चित् कुतश्चिदागतः पृच्छयते—'तत्र[13] प्रदेशे चैत्रो स्थितो न वेति'। स प्रश्नात् चैत्रं स्मृत्वा तदभावमवगत्य वक्ति न तत्र स्थितः। न च तत्र तदभावा[14]वगमे तस्य तदानीमिन्द्रियव्यापारः। नापि लिङ्गं किंचिद्विद्यते। न चानुपपद्यमानत्वम्[15], नाप्यागमः, उपमानं वा। न च तदभाव[16]प्रतिपत्तिर्नास्ति, प्रश्नस्योत्तरदानात्। न[17] बाध्यते, संदिग्धा वा। नापीयं स्मृतिः, पूर्वं तदभावानवगमात्। प्रतिषिध्यमानपदार्थस्मरणं तदभावावगमे[18] निमित्तम्। तच्च निमित्ताभावात् पूर्वं तस्य नोत्पन्नम् इदानीं प्रश्ने सति संजातम्।

§ ३८. अथोच्येत[19]—पूर्वमेव तत्रोपलब्धिलक्षणप्राप्ता[20]शेषवस्त्वभावग्रहणं मेचकबुद्ध्या। तस्मिन्सति यस्य स्मरणादिसहकारिकारणमस्ति तस्य[21] व्यक्तितिरस्कृतस्य गृहीतस्य स्फुटप्रतिभासविषयता[22]। एतदसाधु। यतोऽस्य ग्रहणं भवद्विकल्पद्वयं नातिवर्तते स्वतन्त्रस्याशेषवस्त्व-

१. °र्येण विष° क० मु०। २. प्राप्यन्तु मु०। प्राप्यते तस्या° अ०। ३. कथं न क० मु०। ४. °कत्वं विक° अ०। ५. दर्शकं क० ब० मु०। ६. तच्च अ० ब०। ७. ते च न अ०। ८. परस्यार्थ क० मु०। ९. °ग्यतानुमीयते मु०। १०. एव तत्र प्रमा° मु०। ११. न तु सदु° क० मु०। १२. °क्तेन न्यायेन क० मु०। १३. अत्र अ०। १४. तत्र सदभा° क० मु०। १५. मानः ना° मु०। १६. तदप्रति° मु० क०। १७. °दानात् नापीयं मु०। १८. °गमे नि° क० मु०। १९. अथोत्पत्तेः पू° मु०। २०. °प्राप्तावशेष° मु०। २१. तस्य तस्य व्य° मु० क०। २२. विशेष इति ब०। विशेष्यता क० मु०।

भावस्य ग्रहणम्, अन्योपसर्जनस्य वा ? । प्राच्ये[1] विकल्पे नैकाभावस्मरणं भवेत् सर्वेषां सह गृहीतत्वात् । ऐतेना[2]न्योपसर्जनत्वेन ग्रहणं व्याख्यातम् । तत् स्मृतिरपि न भवति । न च सदुपलम्भकं तदवगमे किंचित् प्रमाणमस्ति । पौरिशेष्या[3]दभावाख्यात् प्रमाणात् तस्यावगमः । तदुक्तम् —

"स्वरूपमात्रं दृष्टं[4] च पश्चात् कश्चित् स्मरन्नपि ।
तत्रान्यनास्तितां पृष्टस्तदैव[5] प्रतिपद्यते ॥" [श्लोकवा० अभा० २८]

§ १९. एतदपरे दूषयन्ति । प्रश्नकाल एवाभावावगमे तद्भावाशङ्का न निवर्तेत । तथा च तस्योत्तरम् 'मया पूर्वं न दृष्टस्तत्र तेन तदानीमसौ नास्ति नेदानीं' इतीदृश्येव च संवित्तिः 'तदानीं नासीत् नेदानीम्' इति । तन्न प्रश्नकालेऽभावावगमः । ननु पूर्वमप्यवगमे सर्वस्मरणलक्षणदूषणमभिहितम् । उभयत्र दूषणसद्भावात् संशयोऽस्तु न निश्चयोऽतोऽभावस्य प्रमाणान्तरगम्यत्वे पूर्वोक्त एव न्यायो न त्वनन्तराभिहितः [१५]

अभावस्य पृथक्-प्रामाण्य-निषेधः ।

§ १. अत्रोच्यते । यत्तावदुक्तम् 'अभावेने[6]न्द्रियसन्निकर्षाभावात् न प्रत्यक्षगम्योऽभावः[7]' इति तदसत् । यतः[8] सन्निकर्षस्य पूर्वमेव निरस्तत्वात् । प्राप्यकारित्वे चक्षुषः स्पर्शनेन्द्रियस्येव वह्न्यादिना दाहाद्यापद्येत । अथा[9]प्राप्यकारित्वे मेर्वादेः किन्न ग्रहणम् ? । प्राप्यकारित्वेऽपि किन्न भवति ? । अयोग्यत्वात् नेति चेत्; तर्हि योग्यतैव ग्रहणे[10] निबन्धनं न संबन्धः । तेन भाववदभावेऽपि योग्यत्वात् अक्षमध्यक्षमुत्पादयति ।

§ २. किञ्च, नेन्द्रियसंबन्धात् प्रत्यक्षं वस्तु किन्तु प्रत्यक्षविषयत्वात् । अन्यथाऽऽकाशादेरपि प्रत्यक्षता स्यात् । तथा चाक्षुषे[11] रसस्यापि प्रतिभासो भवेत् तत्रापि [12]संयोगस्य संयुक्तसमवायद्वारेणैकार्थसमवायस्य वा संयुक्तविशेषणभावस्य[13] वा भावात् ।

§ ३. ननूक्तम् 'योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि' इत्यभावांशेन[14] ('वांशे) योग्यतैव नास्ति । ननु भावांशे[15]ऽपि कथं योग्यता ? । तद्विषयज्ञानोत्पत्तेरिति चेत् । अभावांशेऽपि समानम् । तथाहि — अस्तीति ज्ञानस्येव नास्तीति ज्ञानस्यापीन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधानं तुल्यम् । अस्त्येतत् किन्तु अन्यथा[16] सिद्धं तद्भावभावित्वम् । यथा दूराद[17]ग्निदर्शने रूपज्ञानस्यै[18]वेन्द्रियजत्वम्, न[19] तद्गतस्पर्शज्ञानस्य, तस्य रूपदर्शने सति भावाद् । एवमिहापि भूतलग्रहणे सति नास्तीति ज्ञानस्य[20] भावे तद्भावभावित्वं द्रष्टव्यम् । तदुक्तम् ।

"गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् ।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षणात् ॥" [श्लोक० अभा० २७] [21]इति ।

§ ४. एतद[22]युक्तम् । दूरादग्नौ स्पर्शज्ञानं सहचररूपोपलम्भादानुमानिकम् । इह तु भूतलस्य

---

१. प्राते वि° मु० । २. °त्वात् तेन मु० । ३. परिशेषाद° क० मु० । ४. दृष्टापि पश्चा° श्लोकवा० । ५. तदेव अ० ब० । ६. अभावो नेन्द्रि° क० मु० । ७. °भावः तद° अ० । ८. °सत् सन्नि° अ० मु० । ९. तथा° मु० । १०. ग्रहणनि° क० मु० । ११. तथा वा चक्षुषि मु० । १२. तत्रापि संयु° मु० । १३. °भावस्य भावात् अ० ब० । १४. °वांशेनैव यो° क० । १५. °शे कथं क० मु० । १६. अन्यस्मात् सिद्धं मु० । १७. धूमाद मु० । १८. °स्य चेन्द्रि° क० मु० । १९. °त्वम् तद्ग° मु० । २०. °ति विज्ञा° क० मु० । २१. णात् । एत° अ० ब० । २२. इति तद° क० मु० ।

तत्प्रतिपक्षेश्च लिङ्गत्वनिषेधात् न स न्यायः । यथा च भवतां भूतले उपलभ्यमाने अस्तीति ज्ञानस्य,

"ततः परं पुनर्वस्तु धर्मैर्जात्यादिभिर्यया ।
बुद्ध्याऽवसीयते सापि प्रत्यक्षत्वेन संमता" ॥ [श्लोकवा० प्रत्य० १२०]

इत्यभिधानात् प्रत्यक्षता तथा नास्तीति ज्ञानस्यापि ।

§ ५. किञ्च, भावांशस्य ग्रहणं किं वस्त्वन्तरसंसृष्टस्य किं वा असंसृष्टस्य ? । यदि संसृष्टस्य तदा प्रत्यक्षबाधितत्वादभावः प्रमाणं न स्यात् । अथासंसृष्टस्य तदा कथं नाभावस्य प्रत्यक्षता । अथ वस्तुमात्रमेव प्रतीयते, न वस्त्वन्तराभावः । तत् किं वस्त्वन्तरं तत्र प्रतिभाति ? । नेति चेत्; तत् कथं न तदभावः प्रत्यक्षग्राह्यः ? । अथ प्रत्यक्षेण न तद्भावो नाप्यभावः प्रतीयते । तदसत् । एवं हि अप्रवृत्तिनिवृत्तिकं जगत्स्यात् । तदुक्तम्—"न हि अयमनलं पश्यन्नप्यनलमेव पश्यति किन्तु सलिलमपि । ततः तदर्थी न तिष्ठेन्न प्रतिष्ठेतेति दुस्तरं व्यसनमापन्नम्" इति । तस्माद् इदन्तया सदसदात्मकं वस्तु परिच्छिन्दत् प्रत्यक्षं सद्व्यवहारमिव असद्व्यवहारमपि करोति इति न नास्तीति ज्ञानस्य पृथक्प्रामाण्यमिति । तदेवाह—न, नास्तीत्यादि ।

न, नास्तीति यतो ज्ञानं नाध्यक्षाल्लिङ्गगोचरम् ।

§ ६. क्वचिदस्तीति ज्ञानमपि लैङ्गिकमित्यभिधास्यते । [१६[1]]

§ १. ननु अभावप्रमाणनिरासे प्रमेयाभावनिरासाद् अभ्युपेतहानिः स्यादित्याह—अभावोऽपि चेत्यादि ।

अभावोऽपि च नैवास्ति प्रमेयो वस्तुनः पृथक् ॥ १६ ॥

§ २. एतदुक्तं भवति—नाभावो जैनैर्नाभ्युपगम्यते । किन्तु न पृथगिति । उक्तं च सूत्रे ।

"अण्णोण्णाणुगयाणं 'इमं च' 'तं व' त्ति विभयणमजुत्तं ।
जह खीर-पाणियाणं" [सन्मति० १.४७] इति ।

§ ३. ननु अशेषाभावानुभवे[10] युगपत्स्मरणमुत्पद्येत । न किञ्चिदेतत् । यतो नानुभूतं स्मर्यत एव, किन्तु अनुभूतमेव[11] । तेनाशेषाभावानुभवेऽपि यस्य प्रतिषिध्यमानपदार्थस्मरणे प्रभादिनिमित्तमस्ति, तस्यैव स्मृतिः, नान्येषामिति विरोधपरिहारं चाभिधास्यतीति । तदेवं न प्रमाणा(मेया)भावः प्रमाणतः सिद्ध्यति इति । अतः साधूक्तम् "द्विधा मेयविनिश्चयात्" [का० २] इति । [१६]

§ १. यत् सूत्रे द्वैविध्यं "प्रत्यक्षं च परोक्षं च" [न्याया० १] इत्युक्तम्, तदेव व्याख्यातुमाह प्रत्यक्षमिति ।

प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं त्रिधे(धे)न्द्रियमनिन्द्रियम् ।
योगजं चेति वैशद्यमिदन्त्वेनावभासनम् ॥ १७ ॥

---

१. °त्वानिषे° क० मु० । २. सन्न्यायः ब० । संन्यासः मु० । सन्न्यासः क० । ३. भवता क० अ० । ४. °के अनुप° मु० । ५. कथं भाव° क० मु० । ६. कथं तदभा° अ० ब० । कथं न तदाभा° क० मु० । ७. अप्रवृत्तिकं अ० ब० । ८. करोति न क० मु० । ९. जह दुद्धपा° सन्मति० । १०. °नुभावात् अ० । ११. °मेव तत्राशेषा° ब० । १२. प्रमाणमितः साधू° ब० क० मु० ।

न्या० १०

प्रत्यक्ष-विचारः।

§ २. प्रतिगतम् अक्षं प्रत्यक्षमिति । 'प्राप्तापन्ने'त्यादिना तत्पुरुषे परवल्लिङ्गताप्रतिषेधात् त्रिलिङ्गः प्रत्यक्षशब्दः गमनक्रियेव गोत्वस्य अक्षाश्रितत्वमर्थसाक्षात्कारित्वस्योपलक्षणम् । तेनानक्षजेष्वपि तच्छब्दवाच्यता नायुक्ता । इदानीं तस्य लक्षणमाह—विशदमिति ।

§ ३. अथ किमिदं वैशद्यम् ? । न तावन्निर्विकल्पकत्वं, अनभ्युपगमात् । अथ स्पष्टत्वम्, तदा बालापेक्षया वृद्धस्यापि प्रत्यक्षं न स्पष्टम् । तथा, दूरवस्तुनि प्रत्यक्षं च[1] । अथ तच्छ्रुतं; तदसत्, इन्द्रियजत्वात् । अथ त्रिधा श्रुतम्—प्रत्यक्षपूर्वकम्, लैङ्गिकम्, शाब्दं चेति । तन्न, प्रत्यक्षपूर्वकस्य प्रमाणभूतस्य लैङ्गिकत्वात् । न च तदप्रमाणम् । नापि लैङ्गिकम्, व्याप्तिस्मरणादेरननुभवात् । यत् प्रत्यक्षेण परोपदेशसहकारिणा शब्दोल्लेखि ज्ञानं जन्यते तत् प्रत्यक्षपूर्वकं श्रौतम् तच्चाप्रमाणम्, प्रत्यक्षनिश्चितार्थे प्रवर्तमानत्वात् । तस्मात् यदुक्तम्—

"त्रिधा श्रुतमविप्लवम्" [प्रमाणसं० का० २]

इति तदसंगतम् । विप्लवस्योक्तत्वात् । येन च मूढस्य प्रत्यक्षेऽपि वस्तुनि पूर्वसाधर्म्यादर्थक्रियाकारित्वनिश्चयः क्रियते, नित्यानित्यत्वनिश्चयो वा तल्लैङ्गिकम् । न चैवं दूरदेशादौ वस्तुन्यस्पष्टज्ञानमिति । तन्नेदं लक्षणं व्यापीत्याशङ्क्याह—वैशद्यमिदन्त्वेनावभासनम् इति । इदमो भावः इदन्त्वम्—साक्षात्कारित्वमित्यर्थः । तेनानुमानादेरसाक्षात्कारिणो निरासः ।

§ ४. इदानीं व्यक्तिभेदमाह । त्रिधेति । त्रयो विधाः प्रकारा यस्य तत् त्रिविधम् । त्रैविध्यमेवाह—ऐन्द्रियमनिन्द्रियं[2] योगजं[3] चेति इति ।

§ ५. तत्र इन्द्रियस्य इदम् ऐन्द्रियम् । तद्विपरीतमनिन्द्रियम् । योगश्चित्तवृत्तिनिरोधो घातिकर्मक्षयहेतुः । तस्माज्जातं योगजम् । चः समुच्चये । इतिः अवधारणे । इयदेव प्रत्यक्षम् न मानसादि । [१७]

इन्द्रियाणां आहंकारिकत्वपक्षः।

§ ६. अथ किमिदमिन्द्रियम्, तत्र विप्रतिपत्तिदर्शनात् । तथा हि—भौतिकानीन्द्रियाणि स्थापयितुं वैशेषिकः पूर्वपक्षमुत्थापयति । नन्वाहंकारिकत्वादि(कत्वमि)न्द्रियाणाम् । तथा हि—प्रकाशकत्वं सत्त्वधर्म इति सात्त्विकादहंकारादिन्द्रियाणामुदयः । किमत्र प्रमाणमिति चेत्; अप्राप्यकारित्वम् । तच्च शाखाचन्द्रमसोस्तुल्यकालग्रहणाद्विज्ञातम् । अन्यथा हि शाखासंबन्धोत्तरकालं चिरेण चन्द्रमसा संबन्धाद्युगपद्ग्रहणं न स्यात् । अस्ति चातोऽप्राप्यकारित्वम् । तच्च भौतिकेषु न संभवति । प्रदीपादिषु अदर्शनात्[4] इत्यभौतिकत्वमन्येषामपि प्रतिपत्तव्यम् चक्षुर्दृष्टान्तबलादेव । तथा, महदणुप्रकाशकत्वात् । भौतिकं हि यावत् परिमाणं तावत्येव क्रियां कुर्वद् दृष्टमिति । तथा हि—अल्पपरिमाणं वास्यादि महान्तं वटवृक्षं प्राप्य छिदां न करोति इति दृष्टम् । किं तर्हि स्वव्याप्तप्रदेश[5] एवेति । चक्षुरप्यल्पपरिमाणत्वान् न पर्वतादिपरिच्छेदकं स्यात् । तत्तु

---

१. च । अथ श्रुतं ब० । च । अथ त्रिधा अ० । २. °वाह इन्द्रियं तद्विपरीतम् मु० । ३. °मनिन्द्रियं तद्विपरीतम् क० । ४. असंभवात् मु० क० । ५. स्वव्याप्य अ० ।

दृष्टम्। अतो न भौतिकमिति। तथाऽनियतविषयत्वाच्च। यदि चक्षुस्तैजसं स्यात् रूपस्यैव तद्गुण[1]त्वात् ग्राहकं भवेत् न द्र[2]व्यसामान्यादेरिति। एवं शेषेष्व[3]पि नियमेन स्वगुणग्राहकत्वप्रसङ्गः। न चैतद् दृष्टम्। अतो न भौतिकत्वम्। इतश्च न भौतिकानीन्द्रियाणि, इन्द्रियत्वात्। यद्यत् इन्द्रियं तत्तत् अभौतिकं दृष्टम् यथा मनः तथा चेन्द्रियाणि अमूनि, तस्मान्न भौतिकानि इति।

इन्द्रियाणां भौतिकत्वसाधनम्।

§२. यत्तावत् 'अप्राप्यकारित्वात्' इति साधनं तदसिद्धम्। व्यवहितार्थानुपलब्ध्या प्राप्तेरुपलम्भात्। अन्यथा हि व्यवहितस्याग्रहणम्, अन्तिके च ग्रहणं न स्याद् अप्राप्तेरुभयत्राविशेषात्। आवरणानुपपत्तिश्च प्राप्तिप्रतिषेधक[4]त्वात्। तथा च प्राप्तिप्रतिषेधं कुर्वदावरणमग्रहणाय क[5]ल्पते। दृष्टं चावरणसामर्थ्यम् दूरे[6] चाप्रकाशकत्वम्। अतः प्रदीपस्येव प्राप्तार्थपरिच्छेदकत्वम्। तथा च चक्षुः प्राप्तार्थपरिच्छेदकं व्यवहिताप्रकाशकत्वात्। यद्यद् व्यवहिताप्रकाशकं तत्तत् प्राप्तार्थपरिच्छेदकम्। यथा प्रदीपः। तथा च व्यवहिताप्रकाशकं चक्षुः। तस्मात् प्राप्तार्थपरिच्छेदकमिति प्राप्तिसद्भावे प्रमाणोपपत्तेः। शाखाचन्द्रमसोः कालभेदेन संबन्धेऽप्याशुभावादुत्पलपत्रश[7]त-व्यतिभेदाभिमानवत् युगपद्ग्रहणाभिमानः।

§३. यच्च 'महदणुप्रकाश[8]कत्वम्' तदप्यन्यथासिद्धत्वात् असाधनम्। तथा हि। चक्षुर्बहिर्गतम् बाह्यालोकसंबन्धात् विषयपरिमाणमुत्पद्यते महदाद्यर्थप्रकाशनम्, नाभौतिक[9]त्वादिति। यच्चोक्तम् – 'तैजसत्वाद् रूपस्यैव प्रकाशकं स्या[10]त्' इत्येतत् असत्। प्रदीपेऽदर्शनात्। न[11] हि प्रदीपस्तैजसत्वात् रूपस्यैव प्रकाशको दृष्टः किं तर्हि रूपद्रव्यसामान्यादेरिति[12]। तावानेव च विषयश्चक्षुषः। अतस्तैजसत्वं न विरुध्यते इति।

§४. रूपादिषु मध्ये नियमेन रूपप्रकाशकत्वम् त[13]त्तैजसत्वे अनुमानमिति वक्ष्यामः। नियमेन गन्धादिषु गन्धस्यैव प्रकाशकत्वम् [14]पार्थिवत्वात् घ्राणादेरिति। न चैक[15]प्रकृतिकत्वे विषयव्यवस्थोपल[16]ब्धिरिति नानाप्रकृतिकत्वम्। तथा हि एकस्मात् कारणात् उपजाताः प्रदीपभेदाः समानविषया इत्युपलब्धम्। तद्वदिन्द्रियेषु समानविषयत्वं स्यात्। दृष्टा तु घ्राणादेर्गन्धादिषु व्यवस्थेति नानाप्रकृतिकत्वम्। तथा च नानाजात्युपादानानि इन्द्रियाणि, द्रव्यत्वे सति प्रतिनियतविषयत्वात्। यद्यत् द्रव्यत्वे सति प्रतिनियतविषयम्, तत्तत् नानाजात्युपादानं दृष्टम्, यथा व्यजनानिलप्रदीपकस्तूरि[17]कादि। तथा चैतानि द्रव्यत्वे सति प्रतिनियतविषयाणि। तस्मान्नानाजात्युपादानानि इति। तथा हि – ज्ञानशब्देष्वेकजा[18]त्युपादानत्वम्, प्रतिनियतविषयत्वं चेति व्यभिचारः। तदर्थं द्रव्यत्वे सतीति विशेषणम्। न चास्य पक्षधर्मत्वा[19]विमतोऽप्रमाणत्वम[20]तिप्रसंगात्।

§५. य[21]च्चाभौतिकत्वेऽनुमानमिन्द्रियत्वा[22]दिति। अत्र भूतादभिनिर्वृत्तम् भौतिकम्। तत्प्रति-

१. तद्गुणकत्वात् क० मु०। २. द्रष्टव्यसा° अ० ब०। ३. शेषेष्वनियम° मु०। ४. °षेधकत्वात् अ० ब०। ५. कल्प्यते ब०। ६. दूरे प्रका° क० मु०। ७. °पत्रव्यति क०। ८. प्रकाशत्वम् अ०। ९. नालोकिक° अ०। १०. °शकं इत्ये° मु०। ११. तर्हि मु०। १२. °रिति न तावानेव विष° ब०। °रिति न च नैव विष° क० मु०। १३. °त्वम् तु तै° क० मु०। १४. °त्वम् पार्थि° अ० ब०। १५. न चैकप्राकृतिकत्वे अ०। १६. °लब्धेरिति मु०। १७. रिकादेः मु०। १८. °जात्याद्युपा° अ०। १९. °त्वादिकमतो क०। २०. °त्वमिति प्र° मु०। २१. यथाभौति° क० मु०। २२. °त्वमिति अ० ब०।

षेधेन च कारणान्तरप्रभवत्वम् । विशेषनिषेधस्य शेषाभ्यनुज्ञाविषयत्वात् इति साध्यविकलो दृष्टान्तः । तथा च मनसि न[1] भौतिकत्वम् नाप्यभौतिकत्वमिति । अथ भूतादुत्पत्तिप्रतिषेधेन नित्यत्वम् । तत्राप्यभ्युपगमव्याघातो मनस्यपि नित्यत्वानभ्युपगमात् । इन्द्रियत्वं च उक्तविशेषणस्यापरोक्षज्ञानजनकत्वेन न[2] भूतादुत्पत्तिप्रतिषेधेनेत्यन्यथासिद्धम् ।

§ ६. निर्मूलं चेन्द्रियाणामहंकारप्रभवत्वम् । तत्सद्भावे प्रमाणासंभवात् । तथा हि– प्रधानसद्भावे[3] सत्येषा प्रक्रिया । तस्य चासत्त्वम् वक्ष्यमाणमिति । येषां[4] चासंसारमण्डलव्यापीनीन्द्रियाणि तेषामशेषविषयग्रहणप्रसङ्गः । अथादृष्टवशात् नियतदेशा वृत्तिर्व्यज्यत इति चेत्; अत्र वृत्तीनां तादात्म्ये न किंचिदुक्तं स्यात् । व्यतिरेके तु तदेवेन्द्रियमिति संज्ञाभेदमात्रमेव ।

§ ७. अथ नियतविषयावबोधान्यथानुपपत्त्या तदाकारतैवेन्द्रियस्य परिनिश्चीयते । तन्न, अन्यथाप्युपलम्भात्[5] । तथा हि । नियतार्थसन्निकर्षेऽप्युपलम्भो घटत एव । न च व्यापित्वं परस्यामीष्टतरमिति नेह प्रतन्यते इति । इति[6] विप्रतिपत्तीः प्रतीत्याह–जीवांशात् कर्मनिर्मुक्तादिति ।

जीवांशात् कर्मनिर्मुक्तादिन्द्रियाण्यधितिष्ठतः ।
जातमिन्द्रियजं ज्ञानं विनेन्द्रियमनिन्द्रियम् ॥ १८ ॥

§ ८. जीवप्रदेश एव कर्मक्षयोपशमवान्[7] इन्द्रियम्, नान्यत् । तथाहि– किं चक्षुरादेव[8] रूपादि जानाति, किं वा प्रकाशयति ? । प्रथमपक्षे एकस्मिन् अपि शरीरे पञ्चात्मानः प्राप्नुवन्ति । अहंकार-भूतानामचेतनत्वात् तत्प्रकृतेरिन्द्रियस्य कथं द्रष्टृत्वमिति ? । अथ प्रकाशयति । किन्न तमसि ? । बिडालादेर्भूयस्तेजः प्रकाशयत्येव । किन्न मनुष्यस्य ? । स्वल्पत्वात् तेजस इति चेत्; बहूनामेकत्र दृष्टिनिपाते[9] किन्न प्रकाशयति ? ।

इन्द्रियस्वरूपम् ।

§ ९. अपि च तमः किं तेजोऽभावः किं वा वस्त्वन्तरमिति । अभावस्य नायनरश्म्यावारकत्वायोगात् । वस्त्वन्तरमपि रूपमेव रूपस्यावरणम् । अन्यथा वाय्वादेरप्यावारकत्वं स्यात् । ततः तमसा रूपवता चक्षूरश्मीनां संयोगे तमोदर्शनमासज्येत । कृष्णं रूपं दृश्यत इति चेत्; न, तथाविधदर्शनस्य भिन्नाक्षेऽपि भावात् । तन्नेन्द्रियं भौतिकम् । किन्तु आत्मैवेन्द्रियम् । तदुक्तम्–"लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियमिति"[10] [तत्त्वार्थ० २.१८] लब्धिः कर्मक्षयोपशमः । उपयोग आभिमुख्यम् ।

§ १०. यद्येवम् इन्द्रियव्याघाते अन्धकारावरणादौ किन्न जानाति इत्याह–इन्द्रियाण्यधितिष्ठत इति । एतदुक्तं भवति–अनुपहतचक्षुरादिदेशेष्वेवात्मनः[11] कर्मक्षयोपशमः तेनास्थगितगवाक्षतुल्यानि चक्षुरादीनि उपकरणमात्राणि, आत्मनो ज्ञानोत्पत्तौ कर्मणो वैचित्र्याद् । अन्यथाऽऽत्मनो व्यापित्वात् मुक्तात्ममनःसंयोगजं प्रत्यक्षं किं नोत्पद्यते[12] ।

---

१. मनसि भौ° मु० । २. °कत्वेन भू° क० मु० । ३. प्रमाणसद्भा° क० मु० । ४. येषां चासं° मु० । ५. °थानुप° मु० । ६. °न्यते इति वि° क० मु० । ७. °मवात् इन्द्रि° मु० । ८. °रादेरेव अ० ब० । ९. दृष्टिपाते क० मु० । १०. भावेन्द्रियाण्य° मु० । ११. °देशेष्वेवात्मनः क० मु० । १२. नोपपद्यते क० मु० ।

§ ११. यच्च भौतिकत्वसिद्धौ शाखाचन्द्रमसोः स्फुटस्यापि युगपत्प्रतिभासस्य भ्रान्तत्वमाशुकारित्वादुक्तम् तदीश्वरज्ञानस्यापि युगपदनेकार्थग्राहिणो भ्रान्तत्वमापादयति । न च तत्क्रमवत्, अशेषाग्रहणप्रसंगात्, एकत्रैवानन्तपर्याये [1]उपक्षीणत्वात् । यच्च विषयमवाप्य [2]विकोशित्वं चक्षुषः तत् साधनधर्ममनुकरोति । तदेवं फल्गुप्रायं परोदितमुपेक्षितमिति । [3]लैङ्गिकत्वैवद् [4]ऐन्द्रियत्वव्यपदेशः । तेन द्रव्येन्द्रियेण विना यत् प्रत्यक्षं तदनिन्द्रियम् ।

§ १. तत्र ग्रन्थकारमतभेदान् दर्शयन्नाह – स्मृत्यूहादिकमित्यादि ।

स्मृत्यूहादिकमित्येके प्रातिभं च तथाऽपरे ।
स्वप्नविज्ञानमित्यन्ये स्वसंवेदनमेव नः ॥ १९ ॥

§ २. [5]स्मृतिश्च ऊहश्च वितर्कलक्षणः । आदिग्रहणादवायः[6] । तद्रूपमनिन्द्रियमेके अनन्तवीर्यादयः । प्रतिभया 'श्वो मे भ्राता आगमिष्यति' इत्येवंरूपया निर्मितम्

अनिन्द्रिय-प्रत्यक्षम् । प्रातिभम् चापरे टीकाकृतः । [7]स्वप्नविज्ञानं यत् स्पष्टमुत्पद्यते तदन्ये अनन्तकीर्त्यादयः । स्वसंवेदनमेव नः – अस्माकम् इति ।

§ ३. एवं मन्यते वार्तिककारः – अर्थाविनाभाविन एव ज्ञानस्य प्रामाण्यमुचितं न स्मृतेः, अर्थमन्तरेणापि तस्या भावात् । प्रत्यक्षादेस्त्वव्यभिचारनिमित्ताभिधानात् कस्यचिद्व्यभिचारेऽपि न दोषः । नत्वेवं स्मृतेरव्यभिचारनिमित्तं अस्ति । अमूढस्मृतेस्तु पूर्वप्रत्यक्षफलत्वात् न पृथक्प्रामाण्यम् । ऊहस्तु संशयविशेष एव, कुतः तत्प्रामाण्यं स्यात् ? । अवायस्तु प्रत्यक्षानुमानफलत्वेन न ताभ्यां प्रमाणान्तरमिति । काकतालीयसंवादयोरपि प्रातिभ-स्वप्नविज्ञानयोः प्रमाणत्वे न किंचित् न प्रमाणं स्यात् । तस्मात् स्वंस्य ज्ञानात्मनो वेदनमेव प्रमाणमिति । [१९]

§ १. मानसं तु मनोऽभावान्निरस्तम् । अथ मनोऽभावे योग्येऽपि विषये कथं युगपत्

मनसः स्वरूपम् । ज्ञानानुत्पत्तिः ? । उक्तमेतत् – 'उपयोग आभिमुख्यमिति' तद् यत्रात्मनः तत्र भवति तत्रानुत्पत्तिरिति । आभिमुख्ये तु युगपदपि । अथ [8]'भ्रान्ताऽसौ । नैतदस्ति । एवं हि सौगतस्य क्षणिकत्वे सान्तरावभासप्रसङ्गदूषणम् सुदूरं निरस्तं स्यात् । तदुक्तम् ।

> "[9]पञ्चभिर्व्यवधानेऽपि भात्यव्यवहिते च या ।
> सा क्षणध्वंसिनोऽर्थस्य नैरन्तर्यं न वेत्ति किम् ॥" [प्रमाणवा० ३.१३६]

तस्मादात्मैव मनो नान्यदिति । तदेवाह ।

मनःसंज्ञस्य जीवस्य ज्ञानावृतिशमक्षयौ ।
यतश्चित्रौ ततो ज्ञानयौगपद्यं न दुष्यति ॥ २० ॥ इति ।

§ २. मन इति संज्ञा [10]अस्य स एव मन इत्यर्थः । तस्य ज्ञानावरणक्षयोपशमौ यतश्चित्रौ ततो युगपज्ज्ञानमिति । [२०]

---

१. °र्याये क्षीण° क० मु० । २. विकासि° क० मु० । ३. लैङ्गिकवद क० मु० । ४. °वदिन्द्रियव्य° अ० मु० । ५. स्मृतिश्च वितर्कलक्षणा मु० । स्मृतिश्च वि° क० । ६. °दवायस्वरूपम° ब० । ७. स्वप्नस्य क० मु० । ८. भ्रान्तोऽसौ ब० क० । ९. सा मतिर्नामपर्यन्तक्षणिकज्ञानमिश्रणात्–प्रमाणवा० । १०. यस्य मु० ।

§ १. योगजं व्याख्यातुमाह – जिनस्येत्यादि ।

जिनस्यांशेषु सर्वेषु कर्मणः प्रक्षयेऽक्रमम् ।
ज्ञानदर्शनमन्येषां न तथेत्यागमावधः ॥ २१ ॥

§ २. रागादिजयात् जिनः । तस्यासंख्येयात्मप्रदेशेषु[1] ज्ञानावरणीयस्य प्रकर्षेण अवधि-मनःपर्यायप्रत्यक्षापेक्षया क्षये । निमित्तसप्तमीयम्[2] । तस्मान्निमित्तात् य उपयोगः सर्वत्राभिमुख्यलक्षणः आत्मस्वभावो दिनकरस्येव प्रकाशकस्वभावता न पुनः पश्यामीत्यस्मदादेरिव मनःसंकल्पो मनोऽभावात् । तस्मादुपयोगात् अक्रमं युगपत् । ज्ञानदर्शनमित्येकवद्भावः एकत्वख्यापनाय । एकमेव सामान्यविशेषेषु योगिज्ञानम्, नान्येषामिति समनस्कत्वात् । अतो नागमस्य[3] "जुगवं दो नत्थि उवओगा" [आव० नि० ९७९] एवंरूपस्य वधः – त्यागः सिद्धसेनार्कस्येत्यर्थः । तस्याऽजिनविषयत्वात् इति । केवलिग्रहणं[4] सिद्धान्ते अतिशयख्यापनार्थम् । केवलिनोऽपि[5] युगपदुपयोगद्वयं नास्ति, यदि मनः स्यात् इत्यर्थः । [२१]

योगज-प्रत्यक्षम् ।

§ १. एवं संख्या-लक्षणविप्रतिपत्तिं निराकृत्य सामान्येन विषयविप्रतिपत्तिं निराकर्तुमाह – तत्रेत्यादि ।

तत्रेन्द्रियजमध्यक्षमेकांशव्यवसायकम् ।
वेदनं च परोक्षं च योगजं तु तदन्यथा ॥ २२ ॥

§ २. तेषु प्रमाणेषु इन्द्रियजम् एकांशेन – असाकल्येन न त्वेकेनैव । तथा स्वसंवेदनमपि । एतदुक्तं भवति – अनन्तधर्माध्यासितं वस्तु न योगिप्रत्यक्षवद् इन्द्रियजप्रत्यक्षं निश्चाययति[6] । अत एव तद् व्यवहारप्रत्यक्षम् । योगजं तु साकल्येन निश्चाययति । तेन निश्चयप्रत्यक्षमिति । [२२]

§ १. इदानीं विशेषेण विषयविप्रतिपत्तिं निराकर्तुमाह – द्रव्यपर्यायेत्यादि ।

द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषास्तस्य गोचराः ।
अविस्पष्टास्तथैव स्युरनध्यक्षस्य गोचराः ॥ २३ ॥

§ २. तल्लक्षणस्य[7] वक्ष्यमाणत्वात् तस्य – प्रत्यक्षस्य विषया[8] इति ।

§ ३. संक्षेपार्थमिहैव परोक्षस्य विषयविप्रतिपत्तिं निराकुर्वन्नाह – अविस्पष्टा इति । अनिदन्तयाऽवभासमाना द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषाः परोक्षस्य विषया इति । [२३]

§ १. ननु बाह्यार्थाऽभावात् कथं द्रव्यादिना विषयवत् प्रत्यक्षादि ? । अत्रोच्यते । कथमर्थाभावः ? । तत्साधकप्रमाणाभावादिति चेत्; विशदतरदर्शनमेव तत्साधकं प्रमाणम् । स्वप्नदर्शनवदपारमार्थिकमिति चेत्; ननु किमिदमपारमार्थिकत्वम् ? । अर्थशून्यत्वमिति चेत्; इतरेतराश्रयत्वम् । तथाहि – अर्थशून्यत्वेऽपारमार्थिकत्वम्, अपारमार्थिकत्वेऽर्थशून्यत्वमिति । येन चार्थो न दृष्टः स कथं ब्रूयाद् अर्थो नास्तीति । परप्रसिद्ध्या इति चेत्; न, परप्रसिद्धेरप्रमाणत्वात् । प्रमाणत्वे च[9] कथं तन्निषेध इति ।

बाह्यार्थ-सिद्धिः ।

१. तस्याशेषेष्वात्म-ब० । २. °प्तमी तस्मा° क० मु० । ३. नारामस्य मु० । ४. केवलग्र° क० मु० । ५. °लिनो युग° अ० ब० । ६. निश्चापयति मु० । ७. लक्षण° ब० । ८. विषय इति क० मु० । ९. °त्वे वा कथं–क० मु० ।

§२. अपि च अनुभूयमानस्यापि स्वप्नदृष्टान्तेन यद्यर्थस्याभावो ज्ञानस्यापि अभावः स्यात् । स्वप्नानु[1]भूतस्य चार्थस्यासत्यत्वं किम् अप्रतिभासमानत्वात्, किं वा अर्थक्रियावैकल्या-दिति । न तावदाद्यः पक्षः । तदानीं तस्यानुभूयमानत्वात् । उपलब्धेः[2] सत्त्वेति[3] चाभ्युपगमः । अथार्थक्रियावैकल्यात् । तर्हि अर्थक्रियाकारी जाग्रद्दशायामर्थः सत्यः स्यात् ।

§३. विसंवादादिति चेत् । कोऽयं विसंवादः ? । ज्ञानान्तरेणाग्रहणमिति चेत्; तर्हि जाग्रद्दशायां तदस्तीति सत्यता स्यात् । बाधितत्वमिति चेत् । किमिदं बाधितत्वम् ? । 'नेदम्' इति प्रत्ययोत्पत्तिरिति चेत्; जाग्रत्प्रत्ययेषु तदभावात् सत्यताऽस्तु । न हि सत्यस्तम्भ-प्रत्ययेषु कदाचिद्बाधकोत्पत्तिरस्ति ।

§४. अथ स्वप्नप्रत्ययेष्वप्यर्थक्रियाकारित्वं संवादो[4]ऽबाधितत्वमस्ति । न च[5] तस्य सत्यतो-पगता अर्थवादिना, तेन न तत् सत्यत्वे निबन्धनमिति । नैतदस्ति । सर्वोऽपि भ्रान्तिर्[6]-भ्रान्तिनिबन्धना । यथा मरीचिकासु जलभ्रान्तिः । तथा च स्वप्नप्रत्ययेषु[7] सत्यार्थक्रियानुभव-पूर्वकं स्मरणमात्रकमेव[8] । न तु तत्र किञ्चिदर्थक्रियादि, अन्यथा जाग्रदननुभूतस्य किं न कस्यचिदर्थस्य तत्रोपलम्भो भवति ।

§५. अपि च अर्थनिषेधः किं प्रमाणेन क्रियते, किं वा अप्रमाणेन ? । अप्रमाणेन कथं तन्निषेधः ? । प्रमाणमपि तन्निषेधकं किं वा विनाशकत्वेन, किं वा विपरीतार्थोपस्थापकत्वेन, किं वाऽग्राहकत्वेनेति । प्रथमपक्षे सिद्धोऽर्थः । न हि असिद्धस्य विनाशः संभवति । द्वितीयेऽपि पक्षे अर्थोऽर्थस्य बाधक इति कथं नार्थसिद्धिः । अग्राहकं तु संदेहकारि भवतु कथं तन्निषे-धकम् ? । दृश्यस्य कथं नेति चेत्; ननु पूर्वदृष्टस्यैकज्ञानसंसर्गिण्युपलभ्यमाने आरोपाद् दृश्यत्वम् । न चायमत्यन्तादृष्टस्य प्रकारः संभवति । ज्ञानात्मन्युपलभ्यमाने अदृश्यस्यापि[9] तादात्म्येन निषेध इति चेत्; भवतु ज्ञानात्मनो, न भिन्नस्य । अथ भिन्नस्यानुपलम्भात् निषेधः । तत् किम् अयं नीलाद्याकारोऽनुभूयते न वेति ? । अथ अस्त्ययमाकारः किन्तु ज्ञानात्मैव[10], जडस्य प्रकाशाऽयोगात् । तदेवाह—न जडस्येत्यादि ।

न जडस्यावभासोऽस्ति भेदाभेदविकल्पनात् ।
न भिन्नविषयं ज्ञानं शून्यं वा यदि वा ततः ॥ २४ ॥

§६. प्रकाशस्य भेदे जडस्य किमायातम् ? । अभेदे जडमेव न स्यात् । तेन न भिन्न-विषयं ज्ञानम्, किन्तु आत्मविषयमेव । न हि अभिन्नप्रकाशतां दधानाः स्तम्भादयो जडा भवितुं युक्ताः ।

§७. अथ कोऽयं प्रकाशः ? । किं ज्ञानम्, अथ ज्ञानविषयता ? । प्रथमपक्षे स्यादिदम् । द्वितीये तु कथमर्थस्य ज्ञानता ? न हि प्रदीपेन प्रकाश्यमानाः स्तम्भादयः प्रदीपा भवन्ति । अथ तेऽपि प्रकाशस्वभावास्तदानीमेवोत्पद्यन्ते अन्यथा अन्धकारेऽपि प्रकाशेरन्[11] । अस्ति तावदन्धकारेऽपि स्तम्भादिः । प्रकाशपर्यायता तु प्रदीपादुत्पद्यते । तथा अर्थस्य प्रकाशपर्यायता ज्ञानाद्भवतु कथमर्थाभावः ? ।

१. स्वप्नानुभवस्य ब० । २. लब्धेः अ० । ३. सत्येति क० मु० । ४. संवादाबाधि° क० मु० । ५. न च सत्य° मु० । ६. °पि भ्रान्तिनिब° मु० । ७. प्रत्यये सत्यर्थ° मु० । स्वप्नप्रत्ययेषु सत्यर्थ क० । ८. °मेव च न तु अ० । ९. अदृष्टस्या° क० मु० । १०. ज्ञानात्मनैव मु० । ११. प्रकाश्येरन् मु० ।

§८. अथ पूर्वमर्थास्तित्वे किं प्रमाणम् ? । निषेधे किं प्रमाणम् ? । तर्हि अस्तु संशयः । नैतदस्ति । यतः किमेकमेव ज्ञानं क्षणस्थायित्वेन पूर्वापरयोः कालयोरर्थसत्तां न प्रतिपद्यते ?, किं वा अनेकानि परस्परकर्मतां न प्रतिपद्यन्ते, सर्वेषां वर्तमाननिष्ठत्वात्, तेन न[1] विदन्ति ? । प्रथमपक्षे क्षणादूर्ध्वं न किञ्चिदनुभूयेते[2] । तथा[3]सन्मरणपर्यन्तमनुभवस्या[4]बाधितस्योत्पत्तेः । द्वितीयेऽपि ज्ञानानां परस्परानुगमेऽपि आत्मना देशकालाकारा[5]विपर्यस्तस्यार्थस्यानुभूयमानत्वात् । एतेन सहोपलम्भनियमो निरस्तः । [6]सोदरे इव सहशब्दस्यैकत्ववाचित्वात् विज्ञानार्थयोश्च भेदस्य प्रतिपादितत्वात् इति ।

§९. अथ सर्वे प्रत्ययाः निरालम्बनाः, प्रत्ययत्वात्, स्वप्नप्रत्ययवत् इत्यर्थाभावः । तर्हि ज्ञानात्मवेदनमपि प्रत्ययः । सोऽपि निरालम्बनः स्यात् । इष्यते एवेति चेत्; तदेवाह—

शून्यं वा यदि वा ततः प्रतिभासमानत्वादिति । [२४]

§१. तदसत् । यतो ज्ञानशून्यवादिनो[7]ऽनुमानं किं गृहीतव्याप्तिकमुदेति, किं वाऽगृहीतव्याप्तिकम् ? । अगृहीतव्याप्तिकं कथम् अनुमानम् ? । व्याप्तिग्रहणं च न तेनैवेतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गात् । ज्ञानान्तरेण चेत् । कथम् अद्वैतं शून्यं वा ? । तत्र किञ्चित् साधनम् अर्थनिरासे ज्ञानशून्यवादिनः । तदेवाह । ज्ञानशून्यवत इत्यादि ।

ज्ञानशून्यवतो नास्ति निरासेऽर्थस्य साधनम् ।
संवित्सिद्धप्रतिक्षेपे कथं स्यात् तद्व्यवस्थितिः ॥ २५ ॥

§२. अनुभवसिद्धस्य चार्थक्रियाकारिणः सकलजन्तुसाधारणस्यार्थस्य निषेधे ज्ञानशून्ययोरपि कथं स्याद् व्यवस्थितिरिति । तदेवाह । संवित्सिद्धे[8]रित्यादि ।

§३. अथायमर्थः किम् अवयविरूपः किं वा परमाणुस्वरूप इति । तत्रावयविनो भवद्भिरेव निरस्तत्वात्, परमाणूनां अप्रतिभासनात् न बाह्योऽयमाकारः । किन्तु ज्ञानाकार एव तथा प्रतिभातीति । ननु ज्ञानाकारेऽप्येष प्रसंगो दुर्निवारः । तथाहि—तद्देशत्वातद्देशत्वनीलत्वादिको विरोधः चित्राद्वैतेऽपि समानः । न च ज्ञानं परमाणुमात्रं चकास्ति । अथ यथा बाह्यस्यैकावयवावरणेऽपि अवयवान्तरप्रतिभासलक्षणो विरोधः नैवं ज्ञानाकारस्य । मा भूदयं नीलानीलादि[9]कः केन निवार्यः ? । यथा चायमर्थः तथा सविकल्पकसिद्धौ प्रतिपादयिष्यति इति । अत्र बहुवक्तव्यम्, तच्च नोच्यते ग्रन्थविस्तरभयादिति । [२५]

§१. तदेवं बाह्यमर्थं व्यवस्थाप्य इदानीं द्रव्यादीनां लक्षणमाह—[10]पर्येयस्यन्तीत्यादि ।

पर्येयस्यन्ति पर्याया द्रव्यं द्रवति सर्वदा ।

§२. पर्येयस्यन्ति क्षणिकत्वाद् व्यावर्तन्त इति पर्याया इति । उपलक्षणं चैतत् सहभाविनां गुणानां रूपादीनामिति । द्रवति गच्छति तांस्तान् पर्यायान् परिणामनित्यत्वादिति द्रव्यमिति । [२६[1]]

§१. परपरिकल्पितं सामान्यं पूर्वमेव निरस्तम् । इदानीं स्वाभिमतं सामान्यं व्यवस्थापयन्नाह—सदृशः परिणाम इत्यादि ।

---

१. तेन विद्° क० मु० । २. °भूयते मु० । ३. तथासन्म क० मु० । ४. °भवस्य बाधि° मु० । ५. °लकारविपर्ययस्या° मु० । ६. सादरे क० मु० । ७. °वादिनोरनु° अ० ब० । ८. °त्सिद्धस्येत्यादि मु० । ९. °ग्रलानीलानीलता° क० । १०. पर्ययस्य° अ० मु० क० ।

सदृशः परिणामो यः तत् सामान्यं द्विधा स्थितम् ॥ २६ ॥

§२. इह भावानां सदृशपरिणतिः सामान्यम्। समाना एव सामान्यमिति न्यायात्। अन्यथा स्वरूपसामान्यमन्तरेण अन्यसामान्ययोगेऽपि समानरूपता आकाशस्य इव नोपपद्यते। यदि चासमानानामपि सामान्ययोगात् समानरूपता भवति किं न महिषाश्वयोः, पराभ्युपगतस्य सामान्यस्य तत्रापि भावात्। विजातीयत्वान्नेति चेत्; इतरेतराश्रयत्वम्। तथाहि विजातीयत्वे सामान्यायोगः, सामान्यायोगे च विजातीयत्वमिति।

सामान्यस्य स्वरूपम्।

§३. अपि च, सामान्येनें[1] समानानां यदि समानरूपता जन्यते –

"तदा स्वकारणादेव सा तेषामलमन्यतः।
तत्पश्चा[2]दपि कुर्वत्या शिशवो लघवः परम् ॥"

तस्माद्वस्तुस्वरूपमेव समानपरिणामं सामान्यं नान्यत्। नाप्यवस्तु तस्य निषेत्स्यमानत्वाद् इति। तत् च ऊर्ध्वतारूपं तिर्यग्रूपं च। तदेवाह – द्विधेति। [२६]

§१. एवं सामान्यस्य[3] लक्षणमभिधाय इदानीं विशेषस्वरूपमाह – विपरीत इति।

विपरीतो विशेषश्च

§२. साधारणाद्विपरीतः सकलसं[4]जातीयविजातीयेभ्यो व्यावृत्तोऽसाधारणो[5] वस्तुस्वभावो विशेष इति। [२७']

§१. इदानीं विषयद्वारेणैव सविकल्पकसिद्धिमाह – तान् युगपदिति।

तान्युगपद् व्यवस्यति।
तेन तत् कल्पनाज्ञानं न तु शब्दार्थयोजनात् ॥ २७ ॥

§२. युगपदेककालं द्रव्यादीन् व्यवस्यति निश्चाययति[6] यतः तेन तत् प्रत्यक्षं कल्पनाज्ञानं सविकल्पकमित्यर्थः।

§३. ननु अभिलापसंसर्ग[7]योग्यप्रतिभासा प्रतीतिः कल्पना। तथाहि – कल्पना योजना। सा च न वस्तुनो रूपं निरंशत्वाद्वस्तुनः। किन्तु शब्दनिर्मितैर्व[8]। अत एव जात्यादियोजनाऽपि शब्दयोजनानिराकरणादेव निराक्रियते। ततो न तावद् द्रव्यादिकं किञ्चिदस्ति। भवतु वा। तथापि घटपटवदवभासमानं न स्वग्राहिणि कल्पनात्वमारोपयति। पारतन्त्र्येण प्रतिभासमानं कथं नेति चेत्; किमिदं पारतन्त्र्यम्?। विशेषणविशेष्यभाव इति चेत्; नैतदस्ति। नहि जात्या नीलादिवद् विशेषणादि किञ्चिदस्ति, विशेष्यस्यापि विशेषणत्वेन दर्शनात्।

सविकल्पकप्रत्यक्षनिषेधः।

§४. किञ्च, विशेषणविशेष्ययोः किम् एकज्ञानावभासित्वम्, उतानेकज्ञानावभासित्वमिति। तत्रैकज्ञानावभासित्वे न ज्ञायते किञ्चिद्विशेषणं किञ्चिद्विशेष्यमिति। न हि अनयोरुपरि नामास्ति। प्रधानोपसर्जनत्वमिति चेत्; किमिदं प्राधान्यादि?। उपकार्योपकारकत्वमिति चेत्; न जन्यजनकभावादन्य उपकार्यादिभावः। न च कार्यकारणभावः समानकाल-

१. °न्येनासमा° क० मु०। २. तं पश्चा° क०। ३. °न्यलक्ष° मु०। ४. सकलजा° अ० ब०। ५. °धारणवस्तु क० मु०। ६. निश्चीयति क०। निश्चीयते मु०। ७. संसर्गायो° क० मु०। ८. °निर्मिता अत° मु०।

योरिति। आधाराधेयभाव इति चेत्; न, तस्य पूर्वमेव निषेधात्। न हि उपर्यधोभावेन स्थितपदार्थद्वयव्यतिरिक्तः कश्चिदाधाराधेयभावः। न च तथा प्रतिभासे किञ्चित्पारतन्त्र्यमिति। भिन्नज्ञानावभासित्वे का नाम कल्पना?। अथ भिन्नदर्शनेन विशेषणविशेष्येऽनुभूय पश्चात्स्मरणं तयोस्तद्भावं प्रत्येति। तदेतद् इष्यत एव। शब्दोल्लेखिज्ञानं वस्तु योजयति। न तु तथा वस्तुरूपमिति।

§५. अथ शब्दयोजितं वस्तु भविष्यतीति। तन्न। न हि अर्थे शब्दाः सन्ति, तदात्मानो वेत्याशङ्क्याह—न तु शब्दार्थयोजनादिति।

§६. शब्दश्च अर्थश्च तयोर्योजना न संभवति। [२७]

§१. तत्र हि अनवस्थां प्रतिपादयति[1]। तथाहि—नास्मृतेन वाचकशब्देन अर्थो योज्यते। शब्दस्यापि स्मरणं तद्वाचकशब्दस्मृतेः। तस्यापि स्ववाचकशब्दस्मृतेरित्यनवस्था। नच कल्पना ज्ञानाकार एवेति वाच्यम्, आकारवादप्रतिषेधात्। तस्माद्वस्त्वेव स्थूलं सावयवम् अनुभूयमानम्, केवलानामणूनामननुभवात् प्रत्यक्षं कल्पनायुक्तम् अवस्थापयति। किमत्रान्येन प्रमाणेनेति?। एतदेवाह—निरंशेत्यादि।

निरंशपरमाणूनामभासे स्थौल्यवेदने।
प्रत्यक्षं कल्पनायुक्तं प्रत्यक्षेणैव सिध्यति॥ २८॥ [२८]

§१. ननु किमिदं स्थौल्यम्?। किं परमाण्वात्मकम्, किं वा परमाणुजन्यमिति?। न तावत् परमाण्वात्मकम्। तद्धि पूर्वापरा[2]दिदिग्भेदमुपलभ्यते। न चैकस्य परमाणोरसावस्ति। बहूनां भविष्यतीति चेत्; नैतदस्ति। नहि निरंशपरमाणोः कश्चित् परमाणुः पूर्वः कश्चित् पश्चिमः उत्तरो दक्षिणो वा संभवति। तथाहि—यस्यावधिरूपस्यांशस्य प्रत्यासन्नः एकः परमाणुः पूर्वो दृष्टः तस्यैवावधिरूपस्य अपरोऽपि प्रत्यासन्नः। ततः तदवधिरूपया प्रत्यासत्त्या यथैकः पूर्वोऽपरोऽपि पूर्वः स्यात्। एवं शेषेष्वपि वाच्यम्। तन्न परमाण्वात्मकं स्थौल्यमिति।

§२. नापि परमाणुजन्यम्। यतः परमाणुभिः किं संयुक्तै[3]र्जन्यते किंवा असंयुक्तैरिति?। तत्र यदि संयुक्तैः, तदा "पिण्डः स्यादणुमात्रकः" [विंश० विं० १२] तथाहि—परमाण्वन्तरेण संयोगः किम् एकदेशेन, किंवा सर्वात्मनेति?। तत्र न तावत् प्रथमः पक्षः, [4]निर्देशत्वात् परमाणूनाम्। द्वितीयपक्षे तु सर्वपरमाणूनामेकस्मिन् परमाणौ प्रवेशः स्यादिति।

§३. अथासंयुक्ता योग्यदेशव्यवस्थिताः स्थौल्यं जनयन्ति। प्रतिभासं [5]किं न जनयन्ति?। तत्र [6]बाधकस्य[7] प्रतिपादनात् वरं प्रतिभासधर्मः। अस्ति हि कश्चित् [8]वस्तुधर्मो नीलत्वादिलक्षणः। कश्चित् प्रतिभासधर्मः यो बहुषु प्रतिभासमानेषु प्रतिभाति, यथा केशकलाप इति। तस्मान्न स्थौल्यम् वस्तु यत् सावयवं प्रतीयेतेति। एतदेवाह—नासंयुक्तैरित्यादि।

---

१. °यंवीति क०। २. °परादिग्भे मु०। ३. किं संयुक्तैरिति क०। किं संयुक्तैरुतासंयुक्तैरिति मु०। ४. अनिर्दे° क० मु०। ५. °भासं जन° क० मु०। ६. तत्र साध° मु० क०। ७. °कस्याप्रति° क०। ८. कश्चित् धर्मो मु० क०।

नासंयुक्तैर्न संयुक्तैर्निरंशैः क्रियते महत्।
अयोगे प्रतिभासोऽपि संयोगेऽप्यणुमात्रकम् ॥ २९ ॥ [२९]

§ १. अथ कोऽयं प्रतिभासधर्मः ?। किं वस्तु, किं वा अवस्तु ?। यदि वस्तु तदा अवयविदूषणम्। अथावस्तु तदा कथमभ्रान्तं प्रत्यक्षं प्रचयावभासि ?। नैतदस्ति। यतो न किंचित् स्थौल्यं परमाणुभ्योऽन्यत्। किन्तु विततदेशाः परमाणवः तथा प्रतिभासन्त इति। कथं नान्तरावभास इति चेत्; किमिदम् अन्तरम् ? किम् आकाशम्, किं वा विजातीयाणवः, किं वा रूपभेदः, देशभेदो वेति ? तत्राकाशविजातीयपरमाणुप्रतिभासाभावो न दोषाय। नहि रसपरमाण्वप्रतिभासः चाक्षुषे[1] अतीन्द्रियाकाशाप्रतिभासो वा दोषमावहति। भिन्नरूपता तु प्रतिभासत एव। अन्यथा परमाणुमात्रप्रतिभासः स्यात्। देशोऽपि न स्वरूपादन्यः। सोऽपि स्वरूपेणैव व्याख्यातः। अन्यथा भिन्नस्वरूपपरमाण्वप्रतिभासे न किंचित् प्रतिभासेत, अन्धमूकं जगत्स्यादित्येतदेवाह—**भिन्नदेशस्वरूपाणामित्यादि।**

भिन्नदेशस्वरूपाणामणूनामग्रहे सति।
तत्स्थौल्यं यदि कल्पेत नावभासेत किंचन ॥ ३० ॥ [३०]

§ १. इह [2]हि किं स्थौल्यमात्रं प्रतिभाति, किं वा स्थौल्यविशेष इति। तत्र यदि स्थौल्यमात्रम्, तदा नीलार्थी पीतेऽपि [3]प्रवर्तेत। यद्वा न कुत्रचिदपि [4]विशेषानवधारणात्। अथ विशेषः। स नीलपरमाणुप्रतिभासे सति 'नीलस्येदं न पीतस्येति' प्रतिभासेत[5]। तेषां च[6] भिन्नस्वरूपाणां प्रतिभासा[7]नभ्युपगमे 'तेषां स्थौल्यम्' इति[8] न प्रतिभासेत[9]। न चैवम्। अतः परमाणव एव विततदेशाः तथाऽवभान्ति इति नान्यत् किंचिदिति यत् प्रत्यक्षे कल्पनात्वमादधीतेत्याशङ्क्याह—**नैतदस्ति** इति।

नैतदस्ति यतो नास्ति स्थौल्यमेकान्ततस्ततः।
भिन्नमस्ति समानं तु रूपमंशेन केनचित् ॥ ३१ ॥

§ २. यत् प्रत्यपादि परमाणवः प्रतिभान्तीति **एतन्नास्ति**। न हि शपथशतैरपि 'निरंशाः परमाणवः प्रत्यक्षे [10]प्रतिभान्ति' इति कश्चित् प्रत्येति। तदभावाद् अनुमानमपि 'यत् स्थूलं तत् सूक्ष्मपूर्वकम्' इति न तत्स[11]त्तां साधयति। नापि स्थौल्यं परमाणुभ्यो भिन्नम्। न हि परमाणवो भिन्नाः स्थौल्यं भिन्नं किञ्चिदाभाति। एतदेवाह—**यत** इत्यादि। किं तर्हि अस्ति ? [12]इत्याह—**अस्ति** इत्यादि। **समानम्** इति एकपरिणामपरिणतम्। **रूपमिति**—द्रव्यमिति। न तु तस्यामवस्थायां केचिदणवः सन्ति।

§ ३. नन्वेवं द्रव्यमेव स्यात् इत्याशङ्क्याह—**केनचिद्** इति। एतदुक्तं भवति—[13]केनचिदेव **अंशेन** एकः परिणामः न सर्वात्मनेति। ततः पर्यायात्मकं द्रव्यमाभाति न पुनः परमाणुसमूह इति। तत् कथं न प्रत्यक्षं सविकल्पमिति। [३१]

१. चाक्षुषेण मु० क०। २. इह किं मु०। ३. °पि वर्तेत अ० ब०। ४. °दपि शेषा° मु० क०। ५. प्रतिभासेत् क० मु०। ६. चाभिन्न° मु०। ७. °भासताभ्यु° मु०। ८. °ल्यमपि न क० मु०। ९. प्रतिभासते क०। १०. °क्षे सति भान्ति मु०। ११. न तत्संसा° क० मु०। १२. किं तर्हि, अस्ति इत्यादि अ०। १३. भवति तत् कथं मु०।

§ १. पुनरपि विशेषमभिधातुं परमाशङ्कते—अथास्तु[1] इत्यादि ।

अथास्तु युगपद्भासो द्रव्य-पर्याययोः स्फुटम् ।
तथापि कल्पना नैषा शब्दोल्लेखविवर्जिता ॥ ३२ ॥

§ २. उक्तमेतत् घटपटवदेकज्ञानावभासित्वेऽपि शब्दोल्लेखरहिता नेयं कल्पना इति । [३२]

§ १. उक्तमेतत् न पुनर्युक्तमित्याह—चकास्ति इत्यादि ।

चकास्ति योजितं यत्र सोपाधिकमनेकधा ।
वस्तु तत् कल्पनाज्ञानं निरंशाप्रतिभासने ॥ ३३ ॥

§ २. यत्र ज्ञाने योजितं वस्तु प्रतिभाति । कथं योजितमित्याह । सोपाधिकमिति । सहोपाधिना वर्तते सोपाधिकम् । ननु विशेषणविशेष्यभावस्य निराकरणात् कथमेतदित्याह—अनेकधेति चतुरश्र(स्र)त्वादिना । नहि अनुभवसिद्धं युक्तिशतेनापि निराक्रियते तज्ज्ञानं सविकल्पकम् । विपर्यये बाधकमाह—निरंशाप्रतिभासन इति । निरंशस्य परमाणोरप्रतिभासने सतीत्यर्थः । तस्मात् प्रथमाक्षसन्निपात एव दीर्घह्रस्ववर्तुलादि वस्तु प्रत्यक्षे प्रतिभातीति । तेन तत् सविकल्पकमिति स्थितम् । [३३]

§ १. एवं तिर्यक्सामान्यमवस्थाप्येदानीम् ऊर्ध्वतासामान्यमवस्थापयितुमाह—भेदज्ञानादित्यादि ।

भेदज्ञानात् प्रतीयन्ते यथा भेदाः परिस्फुटम् ।
तथैवाभेदविज्ञानादभेदस्य व्यवस्थितिः ॥ ३४ ॥

§ २. तथाहि—यद् यथा प्रतिभाति तत् तथा सद्व्यवहृतिमवतरति । यथा कुवलयं नीलरूपतया विराजत[2] तेनैव रूपेण अस्ति । क्षणपरिगतेनैव[3] रूपेण सकलाः पदार्थमात्राः प्रतिभान्ति न पूर्वापरकालपरिगतेनात्मनेति[4] स्वभावहेतुः प्रत्यक्षसिद्धे व्यवहारप्रवर्तनफल[5] इति ।

§ ३. तथा, यत् सत् तत् सर्वं क्षणिकमित्यादयः भेदज्ञानहेतवः । एतस्माद्भेदज्ञानाद् यथा भेदाः[6] पर्यायाः क्षणिकाः प्रतीयन्ते, तथा अभेदज्ञानादनुगताकाराद् अभेदस्य द्रव्यस्य व्यवस्थितिरिति ।

§ ४. अथेदमनुगतं ज्ञानं निर्विषयत्वादप्रमाणम् । तथाहि—

"किं दृष्टे प्रत्यभिज्ञानमुतस्विन्मध्यवर्तिनि ।
किं वा[7] दृष्टिपथप्राप्ते[8] प्रमाणं वस्तुनीष्यते ॥
तत्र पूर्वोत्तराध्यक्षे पूर्वोत्तरग्रहेक्षमे[9] ।
मध्ये नेन्द्रियवृत्तिः स्यात् कथं तत्र प्रवर्तते ॥
न चावस्थात्रयव्यापि किंचिदेकं प्रतीयते ।
प्रत्यक्षेण तथाभावे जन्ममृत्युगतिर्भवेत् ॥

१. अथास्तीत्यादि अ० । २. विराजते ब० । ३. °नैव च रूपे° मु० । ४. परिगतेनेति अ० । ५. °र्तनहेतुफल अ० । ६. भेदपर्यायाः मु० क० । ७. वाऽदृष्टि ब० । ८. °पथं प्रा° मु० । ९. °ग्रहे क्ष° मु० ।

किञ्च किं दृष्टतां वेत्ति किं वा कालादियोगिताम् ।
दृष्टत्वं दृश्यमानत्वं किमैक्येन प्रपद्यते ॥
किं वा भेदेन पूर्वस्मिन्[1]न्योन्यानुप्रवेशनात् ।
स इत्ययमिति वा स्यात् सोऽयं नेति मतिर्भवेत् ॥
द्वितीयेऽपि यदा सोऽयं द्वयं भाति विरोधवत् ।
सामानाधिकरण्यं हि विरुद्धज्ञानयोः कुतः ? ॥
अथ प्रत्ययभेदेऽपि प्रतिभास्यं न भिद्यते ।
स्वतन्त्रं प्रतिभास्यं स्यात् ज्ञानमात्रं तदा भवेत् ॥
अथात्रुट्यत्तया भाति यदा वस्तु पुरःस्थितम् ।
तदैकत्वग्रहोऽध्यक्षे कथं नास्ति विपश्चिताम् ? ॥
अत्रुट्यद्रूपता केयं किं पूर्वस्य प्रकाशनम् ।
किं वा तत्तुल्यरूपस्य यदि वा सान्तराग्रहः ? ॥
तत्र पूर्वग्रहे न स्याद्वर्तमानग्रहः सदा ।
पूर्वपूर्वग्रहे वा स्यात् जन्मादिप्रतिभासनम् ॥
यदि तत्तुल्यता भाति सिद्धमेव प्रसाध्यते[2] ।
अन्तराग्रहणं त्वा[3]शुकारित्वादुल्मुके न किम् ? ॥
पूर्वकालादियोगित्वे यद्यध्यक्षं न युक्तिमत् ।
पूर्वकालाद्यभावे हि तद्विशिष्टग्रहः कथम् ? ॥
भावे तु पूर्वकालादेर्वर्तमानत्वमापतेत् ।
त[4]था च न नित्यत्वं स्याद्वर्तमानग्रहे सति ॥
अथ स्मृत्युपनीतेन तेन तस्य विशेषणम् ।
स्मरणेनोपनीतं हि न वस्त्वध्यक्षगोचरः ॥
न हि नीलोत्पलज्ञानं गन्धे स्मृत्युपढौकिते ।
वर्तते जातुचित् तस्मात् न तत्कालविशिष्टता ॥
सविकल्पकमध्यक्षं प्रत्यभिज्ञा न चेद्भवेत् ।
अक्षान्नियमतो न स्यादिति चेत् तन्न युक्तिमत् ॥
पूर्वकालविशिष्टे न सं[5]दृशेऽर्थेऽवलोकिते ।
सहचारितया ज्ञानं स्मार्तं चन्दनगन्धवत् ॥
तथाहि चान्दने गन्धे रूपेण सहचारिणि ।
रूपदृष्टेः स्मृतिर्यद्वत् तद्वत् पूर्वविशेषणे ॥
दृश्यमानार्थतुल्येन वस्तुना सहचारि यत् ।
पूर्वकालादि तत्स्मृतं वर्तमानविशेषणम् ॥
तत् स्थितं स्मरणाध्यक्षात् कल्पनाज्ञानमीदृशम् ।
यत् स एवायमित्यस्य नापूर्वार्थग्रहस्थितिः ॥
निश्चितत्वं दृढत्वं वा सविकल्पकताऽपि वा[6] ।
दृढत्वमप्यनाशित्वं किं वाऽबाध्यत्वमुच्यते ॥
सर्वासां क्षणिकत्वेन नाऽनाशित्वं हि संविदाम् ।
अबाध्यताऽपि नैवास्ति यस्मादग्रे व[7]दिष्यते ॥
अनुमानादृते नान्यत्कल्पनाज्ञानमिष्यते ।
प्रमाणं प्रत्यभिज्ञाया न च लिङ्गमिहा[8]स्ति वः ॥

१. पूर्वस्मिन् स इत्य° क० मु० ब० । २. प्रसाध्यति मु० क० । ३. °णं चाशु° ब० । ४. यथा मु० । ५. सदृशर्थे ब० । ६. या क० मु० । ७. गदिष्यते मु० क० । ८. °मिहोच्यते । तस्मान्य° अ० ।

प्रत्यभिज्ञायमानत्वं यदि लिङ्गमिहोच्यते ।
तस्याप्यध्यक्षतो व्याप्तिर्नैकत्वेन सह क्वचित् ॥
यद्यनुमानतो व्याप्तिरनवस्था[1]ऽऽपतेत् तव ।
न ताभ्यां मानमस्त्यन्यत् यस्माद् व्याप्तिग्रहो भवेत् ॥
कल्पनापोढमध्यक्षं निर्विकल्पकसिद्धितः ।
ज्ञातव्यं प्रत्यभिज्ञाऽतो नाध्यक्षं कल्पनायुता ॥
नाक्रमात् क्रमिणो भावा[2] नाप्यपेक्षाऽविशेषिणः ।
क्रमोद्भवा सती सा तु स्वयमेकत्वबाधिका ॥
तेनाबाध्यत्वमप्यस्या नानुमानाच्च बाधनात् ।
न चानयापि बाध्यत्वादनुमानमबाधकम् ॥
अप्रामाण्येन युक्तायाः कुतो बाधकतास्थितिः ।
अप्रामाण्याच्च नैवास्याः अनुमानं प्रमेष्यते ॥
अन्योन्याश्रयदोषोऽपि तेन नास्ति विपश्चिताम् ।
स्वसाध्यप्रतिबन्धाद्धि प्रमाणमनुमेष्यते ॥
क्रमाक्रमक्रियाऽभावात् बाधकात् प्रतिबन्धवित् ।
बाधकं साध्यमाकर्षेल्लिङ्गमालिङ्ग्य धा[3]रयेत् ॥
निरुच्छ्वासतया हंत ! भावानां दुःखमापतेत् ।
तदबाध्याऽनुमा बाध्या प्रत्यभिज्ञा न चा[4]क्षजम् ॥
अनुमानेन नो बाध्यमिति वाच्यं विपश्चिता ।
सूर्यादिवस्तुनोऽध्यक्षमनुमानेन बाधितम् ॥
अर्थस्यासंभवे भावात् न विशेषो द्वयोरपि ।
बीजत्वाच्छालिबीजं च यवाङ्कुरकरं यथा ॥
अनुमा[5] बाध्यतेऽध्यक्षात् प्रत्यभिज्ञापि ते तथा ।
जनकत्वं यदन्त्यस्य स[6] इत्यंशो यदा नयेत् ॥
एकत्वात् प्रत्यभिज्ञानं तदा[7] ह्यध्यक्षबाधितम् ।
तदेवं प्रत्यभिज्ञाया नाऽबा[8]ध्यत्वमिहास्ति वः ॥
कारणादुष्टताप्यस्याः भ्रान्तेरिव कुतो भवेत् ।
नचैतस्याः प्रमाणत्वादन्योन्याश्रयदोषतः ॥
प्रत्यक्षतोऽपि नाक्षाणामत्यक्षाणामदुष्टता ।
तस्याः प्रत्यक्षतायां स्यात् प्रतिबन्धस्य हानितः ॥
अनुमानत्वेऽपि नैवास्याः कारणस्य[9] विशुद्धता ।
तदेवं प्रत्यभिज्ञाया न प्रामाण्यमिति स्थितम् ॥"

§५. अत्रोच्यते—"[10]किमिदमिन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायि स्थिरस्थूरवस्तुग्राहि प्रत्यक्षं नानुभूयते ? किं वा अनुभूयमानमपि निशीथिनीनाथद्वयावलम्बिप्रत्यक्षवद् भ्रान्तमिति ? । तत्र[11] नानुभूयत इति ब्रुवाणोऽनुभवेनैव निराक्रियते । द्वितीयेऽपि किं कदाचित् कुमुदिनीनाथैक्य[12]ग्राहिप्रत्यक्षवत् कस्यचित् क्षणिकग्राहि[13] प्रत्यक्षमुत्पन्नम् ?, येनैतद् भ्रान्तं स्यादिति ।

§७. यच्चानुमानं क्षणिकत्वग्राहि तत् प्रत्यक्षबाधितत्वात् 'अश्रावणः शब्दः' इत्यनु-

१. °स्थापयते तव ब० । २. भावो क० । ३. वारयेत् ब० क० मु० । ४. नवाक्ष° क० मु० । ५. अनुमानं अ० क० मु० । ६. °स्य इत्यं° क० । ७. °ज्ञानं ह्य° क० । ८. न बाध्य° क० मु० ब० । ९. कारणस्याविरुद्धता अ० । १०. किमिदानीमि° अ० । ११. तत्रानुभू° क० । १२. °नाथैकग्राही अ० क० मु० । १३. °ग्राहि न च प्रत्य° ब० ।

मामवदप्रमाणत्वात् अबाधकमिति । किञ्च, सत्त्वादेर्लिङ्गस्य व्याप्तिग्रहणं न प्रत्यक्षेण, परोक्षत्वात् क्षणिकत्वस्य । अनुमानेन ग्रहणेऽनवस्था इतरेतराश्रयत्वं च प्रतिपादयन्ति । तदितरेतराश्रयपरिहारार्थं "प्रत्यभिज्ञानिरपेक्षं स्वप्रतिबन्धबलादनुमानं प्रमाणम्" इति यदुक्तम्, तदयुक्तमिति ।

§ ८. अथ सत्त्वमर्थक्रियाकारित्वेन व्याप्तम् । अर्थक्रियाकारित्वं च क्रमयौगपद्येनेति । तयोश्च व्याप्तिः प्रत्यक्षेणैव प्रतीयत इति नानवस्थेति । तथाहि—क्रमेणाङ्कुरादिकं कार्यमुत्पद्यमानमुपलभ्यते । तदभावे यौगपद्येन उभयनिषेधे केवलभूतलग्राहि प्रत्यक्षं प्रकारान्तराभावं निश्चाययति । तेन क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारित्वस्य व्याप्तिं प्रतिपद्यत इति । ततो नित्यात् क्रमयौगपद्यं निवर्तमानमर्थक्रियाकारित्वलक्षणं सत्त्वमादाय निवर्तमानं क्षणिकेष्वेवावतिष्ठत इति व्याप्तिग्रहणं प्रत्यक्षमूलमिति ।

§ ९. भवत्वेकान्तनित्यात् क्रमयौगपद्यनिवृत्तिनिबन्धनार्थक्रियाव्यावृत्तिः, तथापि न सा क्षणिकेष्वेवावतिष्ठते । यथैकान्तनित्येष्वर्थक्रिया न संभवति, तथैकान्तक्षणिकेष्वपीति । एतच्च पश्चात् प्रतिपादयिष्यते । तन्न गृहीतव्याप्तिकं क्षणिकानुमानं प्रत्यभिज्ञाबाधकमिति । प्रतिपादयिष्यते च प्रत्यभिज्ञायाः प्रामाण्यमिति । तस्मादनुगतव्यावृत्ताकारा बुद्धिर्द्व्यात्मकं वस्तु व्यवस्थापयति । [३४]

§ १. एतदेवाह—घटमौलिसुवर्णेष्विति ।

घटमौलिसुवर्णेषु बुद्धिर्भेदावभासिनी ।
संविन्निष्ठा हि भावानां स्थितिः काऽत्र विरुद्धता ॥ ३५ ॥

§ २. भेदावभासिनीति । भेदमनुगतव्यावृत्तरूपमवभासितुं शीलं यस्याः सा तथा ।

अनुगतव्यावृत्ताकारं वस्तु ।

तथाहि—सुवर्णम् सुवर्णम् इति अनुगताकारा बुद्धिः । घटश्च मुकुटं चेति व्यावृत्ताकारा चानुभूयत इति । न चैतद्वाच्यम्—'विरोधादेकं वस्तु नोभयरूपम्' इति । यत आह—संविन्निष्ठा हीति यस्मादन्यत्रापि नीलपीतव्यवस्था संवेदननिबन्धनैव । तदिहापि विरोधेऽपि संवेदनमेव प्रमाणमिति ।

§ ३. एवं प्रत्यक्षेणोभयात्मकं वस्त्वनुभूयमानमपि यो मोहात् न प्रतिपद्यते तं प्रत्यनुमानमुपन्यस्यते—सत्त्वान्यथानुपपत्तेः सर्वं नित्यानित्यात्मकम् यथा घटः, एकान्तनित्येऽनित्ये वाऽर्थक्रियाविरोधात् । सन्ति च सप्त पदार्थाः । न तावद्विशदतरदर्शनावसेयस्य सत्त्वस्य ज्ञानवादिमताश्रयणेनासिद्धत्वमुद्भावनीयम्, विज्ञानस्याप्यभावप्रसक्तेः । नापि सर्वशून्यवादिमताश्रयणेन, वादे तस्यानधिकारात् । 'सर्वाऽभावे हि कस्मै किं केन प्रतिपादयेत्' इत्यादेरुक्तत्वात् । नापि प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वेनासिद्धत्वम्, धर्मभेदस्याप्यभ्युपगमात् । नापि विकल्पकल्पितो धर्मभेदः । तदा हि खरतुरगविषाणयोरपि गम्यगमकभावः स्यात् । कल्पिताच्च हेतोः कल्पितसाध्यसिद्धिप्रसक्तेः । नाप्येकान्तेन भेदः संबन्धासिद्धेः, समवायादिसंबन्धनिरासात् । न चात्र भेदाभेदपक्षभावी दोषो गुडनागरसंहितवस्त्वभ्युपगमात् । तदुक्तम्—

---

१. °मुत्पाद्य° क० । २. निश्चापयति मु० क० । ३. °तव्या° ब० । ४. °भासिनेति क० मु० । ५. तया मु० । ६. मुकुटश्चेति मु० । ७. सत्त्वाद्यथा मु० क० । ८. धर्म्यभेदः अ० । ९. °साध्यप्रसक्तेः मु० क० । १०. °कान्तेनाभेदः अ० । ११. °बन्धस्य क० ।

"गुडो हि कफहेतुः स्यात् नागरं पित्तकारणम् ।
तन्मूलमन्यदेवेदं गुडनागरसंज्ञितम् ॥
मधुरं न हि सर्वं स्यात् कफहेतुर्यथा मधु ।
तीक्ष्णं वा पित्तजनकं यथा मार्गधिका[1] मता ॥"

तदेवं भिन्नाभिन्ने वस्तुनि नासिद्धो हेतुः ।

§ ४. नापि विरुद्धः सपक्षे सद्भावात् । नापि विरोधाक्रान्तत्वात् नित्यानित्यात्मकत्वं[2] घटस्यासिद्धमिति वाच्यम् । तथाप्रतिभासनात् । संविन्निष्ठा हि विषयव्यवस्थितयः । तथा च छायातपयोरपि यद्येकत्रावभासनं स्यात् विरोधेऽपि, केन नानुमन्येत तथावस्थानम् । तथाहि—मृद्रूपस्य ध्रौव्यसंज्ञितस्य सर्वावस्थानुयायिनो नित्यस्य अनित्येनोत्पाद[3]व्ययसंज्ञितेनै-[4]कात्मतया प्रतीतेः । अन्यथा एकान्तभेदे मृत्संस्थानयोरपरस्परात्मतया प्रतिभासनं स्यात् । नाप्येकान्तेनैकत्वम् अनुगतव्यावृत्त[5]त्वेन द्विरूपाया बुद्धेरुत्पादात् । तदुक्तम् ।

"घटमौलिसुवर्णा[6]र्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥" [आप्तमी० ५९]

न चात्रानुगताकारा बुद्धिः सविकल्पकत्वादप्रमाणमिति वाच्यम् । व्यवसायरूपत्वात् प्रमाणस्य इति उक्तत्वात् ।

§ ५. तदेवं देशकालस्वभावाभेदेऽपि संख्या-संज्ञा-लक्षण-कार्यभेदात् नरसिंहाकारमेव वस्तु । तदुक्तम्—

"न नरः सिंहरूपत्वात् न सिंहो नररूपतः ।
संज्ञा-विज्ञान-कार्याणां भेदात् जात्यन्तरं हि तत् ॥"
"नान्वयो भेदरूपत्वात् न भेदोऽन्वयरूपतः ।
मृद्भेदद्वयसंसर्गवृत्ति[7]र्जात्यन्तरं घटः ॥"

अन्यथा एकान्तकूटस्थ[8]नित्यतायां न कश्चित् क्वचित् प्रवर्तते इत्यप्रवृत्ति[10]निमित्तकं जगत् स्यात् । अन्यथा परिणामित्वमेव स्यात् । एकान्तक्षणिकत्वेऽपि प्रतिसंधानप्रत्यभिज्ञाद्यभावेन स्वगृहेप्यागमनं न स्यात् । तस्मादनेकान्तात्मन्येव वस्तुनि व्यवहारोपि घटते । तदेवमुभयात्मकं वस्तु सिद्धम् ।

§ ६. ननूक्तं विरोधाक्रान्तत्वात् कथमेतदिति । सत्यम्, उक्तम् किन्तु अयुक्तमुक्तम् । तथाहि—विरोधो द्विधा सहानवस्थानलक्षणः परस्परपरिहारलक्षणश्च व्यावर्ण्यते । तत्र किं ययोर्न कदाचिदेकत्रावस्थानं तयोः सहानवस्थानम्, उत कियत्कालावस्थानेऽपि पश्चादनवस्थानेनेति । आद्ये पक्षे अहिनकुलादीनां न विरोधः स्यात् । अन्यथा त्रैलोक्येऽप्युरगादीनामभावः । द्वितीये[11]ऽपि न कस्यचिन्नरवनितादेर्विरोधो न स्यात् तयोरपि किञ्चित्कालमेकत्र स्थित्वाऽपगमात् । किञ्च, वडवानलजलधि[जल]योर्विद्युदम्भोदाम्भसोश्चिरतरमेकत्राव[12]स्थाने कथमयं विरोधः ? ।

---

१. माराधिका मु० क० । २. °त्मत्वं क० । ३. अनित्यत्वेनो° ब० मु० क० । ४. °तेनैकात्म° क० । ५. °वृत्तेन मु० । ६. र्णार्थिना सोत्पा° मु० । ७. °स्थं ज° क० । ८. वृतिर्जात्य° क० । ९. कूटस्थो न मु० । कूटस्थ न कश्चित् क० । १०. निमित्तिकं° मु० क० । ११. द्वितीये न अ० क० । १२. त्राव-स्थातः ब० ।

§७. अथ बलवता[1] द्वितीयस्य निवर्तने तथाभावः न स्वयं, विश्लेषे किलाविकल-कारणस्य भवतोऽन्यभावेऽभावाद्[2] विरोधव्यवस्था[3]। यथा शीतोष्णयोः। तदसत्। यतो बलवता किं क्षणिकस्य निवर्तनम्, उत अक्षणिकस्य?। क्षणिकस्यापि किम् अतीतानागतलक्षणस्य[4] उत वर्तमानक्षणस्येति[5]?। तत्रातीतानागतयोरविद्यमानत्वादेव कस्य केन निवर्तनम्?। देवरक्ता हि किंशुकाः। नाप्येकक्षणावस्थायिनो[6] वर्तमानस्य केनचिन्निवर्तनम्, धारणं[7] वा संभवति।

§८. अथ विरोधिनाऽसामर्थ्योत्पादनेन मन्दतरतमादिकार्योत्पत्तौ त्रिचतुरेषु क्षणेषु निवर्तनम्[8]। ननु सामर्थ्यविनाशने[9] निर्हेतुं[10]विनाशवादो निरर्थकः स्यात्। अथ सहकारित्वमेव सामर्थ्यविनाशनम्। ननु क्षणस्यानुपकार्यत्वात् कथमसौ सहकारी?। एककार्यकरणादिति चेत्; तर्हि कार्यकारणभावमात्रमेव स्यात् न[11] कश्चित् निवर्त्यनिवर्तकभावः। सहकारिणो विरोधव्यवस्थायां न कस्यचिदयं न स्यात्। तन्न क्षणिकस्य निवर्तने[12] सहानवस्थानविरोधः।

§९. अथाक्षणिकस्य। तस्यापि निवृत्तिः किम्—भिन्ना स्याद्, अभिन्ना वा?। अभिन्न-निवृत्तिकरणे स एव कृतः स्यात्। तथा च कारणमेव स्यात्, न विरोधः[13]। भिन्ना चेत्; तस्या एवं[14] कारणं स्यात्। न कस्यचित्[15] निवर्तको नाम।

§१०. किञ्च, भवतु कथञ्चिच्छीतोष्णादीनां विरोधः, तथापि अयं नित्यानित्य[त्व]योर्न [16]संभवति। तथा हि—किमविकलकारणं नित्यत्वं अनित्यत्वेन व्यावर्त्यते, उतानित्यत्वं नित्यत्वेनेति?। न तावदाद्यः पक्षः। यतः कारणवत्त्वे नित्यत्वमेव न स्यात्। अथाविकल-कारणमविचलितस्वरूपम्; तस्यापि न केनचित् निवर्तनम्। निवर्तने वा नित्यतैव[17] न स्यात्। नापि क्षणिकत्वं तस्य[18] स्वत एव नाशात् किं नित्यत्वं कुर्यात्। किंच प्रतिक्षणं विशरारुषु भावेषु तदेव किञ्चिन्नित्यत्वं नास्ति, येन क्षणिकत्वं व्यावर्त्यते। सद्भावे वा कथं सहावस्थितिविरोध[19] इति।

§११. अथ परस्परपरिहारस्थितिलक्षणो नित्यत्वानित्यत्वयोर्विरोधः। स हि किल स्वरूपनिष्ठो व्यावर्ण्यते 'नैकं वस्तु द्विरूपं संभवति' इति। तदसत्[20]। येन एकस्यापि प्रस्तरादेः शीतस्पर्शस्य सतः कालान्तरेणोष्णस्पर्शस्य दर्शनात्[21]। न च तद्वस्तु भिन्नम्। विरुद्धोभयपर्यायात्मतया प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्। अथैकदा[22] विरुद्धोभयरूपता[23] नोपलभ्यते। तदप्यसत्[24]। वह्नेरेकस्याप्युष्णानुष्णस्वभावस्य दर्शनात्। तथा हि[25] स्पर्शरूपतया वह्निरुष्णो न रूपरूपतया[26]। अन्यथा तदवलोकने जननयनदहनमापनीपद्येत[27]।

१. अथ भवलता द्वि° क० मु०। २. भवताऽन्य° क०। ३. विरोधाव्यव° अ०। ४. °क्षणकस्य क० मु०। ५. °क्षणिकस्य मु०। ६. अप्ये° क० मु०। ७. वारणं मु० क०। ८. निवर्तते मु०। ९. विनाशे मु०। १०. निर्हेतुकं वि° मु०। ११. स्यात् निव° मु०। १२. निवर्तते मु०। १३. विरोधी अ०। १४. एवं अ०। १५. कश्चित् क०। १६. स भवति मु०। १७. नित्यत्वमेव मु० क०। १८. क्षणिकत्वं किंच मु० क०। १९. सद्भावस्थि° ब०। २०. तदसत् एक अ०। २१. दर्शनात् तथाहि स्पर्शरूपतया वह्निरुष्णो न रूपरूपतया न च° अ०। २२. अथ वि° मु०। २३. विरोधोभय मु० क०। २४. °भ्यते वह्ने-मु० क०। २५. तथापि क०। २६. न रूपतया मु०। २७. °मापद्येत मु०।

न्या० १२

§ १२. न च स्पर्श-रूपपरमाणूनां परस्परपरिहारेणावस्थानात् नैकमुभयरूपमिति वक्तव्यम् । यतः तथापरिणते[1] बहिर्द्रव्ये न केचनापरे परमाणवो विद्यन्ते । न[2] चेन्द्रियान्तरकल्पनावैफल्यदोषो वाच्यः । कथञ्चिद्भेदस्याप्यभ्युपगमात् ।

§ १३. किञ्चैकस्मिन्नात्मनि विरुद्धधर्माधर्मयोरेकसंबन्धेना[3]वस्थाने कथमयं विरोधः ? । अथ कर्मरूपतया तयोरेकत्वात् तथावस्थानेऽपि न युगपद्विरुद्धफलजनकत्वम् । तदप्यसत् । तस्यापि दर्शनात् । तथा हि—पादादौ[4] व्रणच्छेदकर्मणि दुःखोत्पादेऽपि मुखे कर्पूरादिना सुखोत्पादस्यापि दर्शनात् ।

§ १४. किञ्च, अयं नित्यानित्यत्वयोः[5] सामान्यलक्षणयोः सतोर्विरोधः, उत सामान्यलक्षण-स्वलक्षणयोः, आहोस्वित् स्वलक्षणयोः, किम् आरोपितयोः, अथारोपितानारोपितयोरिति ? । न तावदाद्यः पक्षः । एकत्रैवानेकसामान्यसद्भावाभ्युपगमात् । नापि द्वितीयः । यतः ।

"निर्विशेषं न सामान्यं भवेच्छशविषाणवत् ।
[6]विशेषोऽपि च नैवास्ति सामान्येन विना कृतः ॥" [श्लोकवा० आकृति १०]

नापि तृतीयः । रूपरसादीनामेकत्र सद्भावदर्शनात् । चतुर्थे तु खरतुरगविषाणयोरिव को नाम विरोधः ? । अथ आरोपितानारोपितयोर्भावाभावयोः परस्परपरिहारस्थितिलक्षणो विरोधः । तथा हि—नित्यत्वनिवृत्तिस्तुच्छरूपा अनित्यत्वम् । अनित्यत्वनिवृत्तिश्च नित्यत्वम् । तयोः कथं न विरोधः ? । तदप्यसत् । यतो न तुच्छरूपोऽभावः प्रमाणगोचरचारीति प्रबन्धेन प्रतिपादितम् । कथं तर्हि भावाभावात्मकं वस्तु ? । नैतदस्ति । यस्मात् परदेशाद्यपेक्षया भाव एवाभावः । नापि प्रागभावप्रध्वंसाभावविशेषणसत्तासमवायात्मकः, सत्तया[7] सह संबन्धासिद्धेः[8] । स हि समवायलक्षणोऽभ्युपगम्यते । तस्य च[9] पूर्वमेव निरस्तत्वादिति ।

§ १५. किञ्च सत्तासमवायादनित्यतायाम् आत्मादिष्वपि अनित्यत्वप्रसङ्गः । यथा च[10] समवायोऽन्यद्वा एकान्तनित्यं वस्तु न संभवति तथाऽग्रे प्रतिपादयिष्यामः । तन्न कश्चिद्भावव्यतिरिक्तोऽभावोऽस्ति येन विरोधः स्यात् । ततः सिद्धो नित्यानित्यात्मको घटः । तत्सिद्धौ च न विरुद्धो हेतुः ।

§ १६. नाप्यनैकान्तिकः । विपर्यये बाधकप्रमाणसद्भावात् । तथा हि—इदं सत्त्वम् अर्थक्रियाकारित्वेन व्याप्तम् । सा च कूटस्थनित्यादनित्याच्च व्यावर्तमाना सत्त्वमादायैव निवर्तते । तेन उत्पादव्ययध्रौव्यवत्येव वस्तुनि सत्त्वमवतिष्ठते ।

§ १७. न च सत्तासंबंधेन सत्त्वं वाच्यम्, सत्तादीनामसत्त्वप्रसंगात् । अपरसत्ताभ्यु[11]पगमे वाऽनवस्था । तदव्यापि लक्षणम् । अतिव्यापि च शशविषाणादीनामपि सत्त्वप्रसङ्गात् । तेषां सकलशक्तिरहितत्वात् न सत्तासंबन्ध इति चेत् । तर्हि शक्तिरेव सत्त्वैकलक्षणम्[12], किं सत्तासंबन्धेन ? । इतरेतराश्रयत्वं च स्यात् । तथा हि—सति सत्तासंबन्धे सत्त्वं वाच्यम्[13], सति सत्त्वे सत्तासंबन्धः ।

---

१. °णतवहि° ब० । २. न त्विन्द्रि° अ० । ३. °बन्धिना° अ० । ४. पादे क० मु० । ५. °नित्ययोः ब० मु० क० । ६. "सामान्यरहितत्वाच्च विशेषास्तद्वदेव हि"—श्लोकवा० । ७. सत्ताया अ० । ८. संबंधोऽसिद्धः अ० ब० । ९. तस्य पू° अ० । १०. यथा सम° ब० । ११. अपरसत्त्वाभ्यु° ब० । १२. सत्त्वे ल° मु० । १३. सत्त्वं सति मु० क० ।

§१८. सा च कूटस्थस्य न विद्यते। तथा हि—तन्नित्यं क्रमेण वा शक्तिमत्स्यात् यौगपद्येन वा? । न तावत् क्रमेण। सकलसामर्थ्योपपन्नस्य एकक्षण एव समस्तकार्यकरणप्रसङ्गात्। सहकार्यपेक्षा च समर्थस्य न विद्यते। असामर्थ्ये वा पूर्वमसमर्थस्य सहकारिसांनिध्येन सामर्थ्योत्पत्तौ परिणामित्वप्रसंगः। सहकारिणा सामर्थ्यमुत्पाद्यमानं ततो भिन्नमभिन्नं वा स्यात्? । अभेदपक्षे कूटस्थनित्यताहानिः। भिन्नकरणे तस्मादेव कार्योत्पत्तिः स्यात्, न नित्यात्। इत्यादि सौगतैरेवात्र विजृम्भितं तदिह नोच्यते विस्तरभयात्। तन्न क्रमेण कर्तृत्वम्।

एकान्तनित्ये सत्त्वनिषेधः।

§१९. नापि यौगपद्येन प्रथम एव क्षणे कृतत्वात् द्वितीयादिषु न किञ्चित् कर्तव्यमस्तीति सर्वसामर्थ्यरहितस्य व्योमोत्पलस्येवासत्त्वं स्यात्। पुनः करणे वा क्रमपक्ष एव स्यात्। तत्र चोक्तो दोषः। न च कृतकरणमस्ति। तन्न यौगपद्येनापि करोति। न चापरं क्रमाक्रमरूपं प्रकारान्तरमुपेयते, अस्मन्मतानुप्रवेशप्रसंगात्। तन्न कूटस्थनित्यं किंचित् करोति।

§२०. नाप्येकान्तक्षणिकम्। तदपि हि क्रमेण वा कुर्यात् यौगपद्येन वा? । न तावत् क्रमेण। स हि देशक्रमो वा स्यात् पिपीलिकानामिव, कालक्रमो वा पत्रनालादीनामिव। तत्र नैकस्मिन्देशे कार्यं कृत्वा देशान्तरे क्षणिकं वस्तु करोति। तत्रैव तस्य ध्वस्तत्वात्। नाप्येकस्मिन् क्षणे कृत्वा द्वितीये विदधाति, क्षणिकत्वहानिप्रसंगात्।

एकान्तक्षणिके सत्त्वनिषेधः।

§२१. अथ नायं क्रमः सौगतैरुपेयते। किं तर्हि? । कार्यान्तरासाहित्यं कैवल्यम् अङ्कुरादेः। यौगपद्यमपि कार्यान्तरसाहित्यम्। तथा हि—लोको वदति क्रमेण यवाङ्कुरा उत्पन्ना यौगपद्येन वा इति। ननु कल्पनामात्रमेतत्। वस्तुतः पुनः सौगतानां द्विविधं कारणं सामग्रीलक्षणम् सहकारिलक्षणं च। तत्र यदि सामग्रीलक्षणं कारणमाश्रित्य क्रमयौगपद्यमिष्यते। तन्न संभवति। तत्र यौगपद्याभावात्। एकमेव हि कार्यं सामग्री जनयति। नापरम्। तन्न कार्यान्तरसाहित्यलक्षणं यौगपद्यं तत्रास्ति। नापि सहकारिकारणमभ्युपगम्य तथाभावव्यवस्था। तत्र हि यौगपद्यस्यैव संभव इति। तथा हि तानि स्वं स्वमुपादेयकार्यम् उपादानभावेन परस्परकार्यं च सहकारिभावेन जनयन्तीति कुतः क्रमः। तत् परापेक्षया कल्पित एव क्रमयौगपद्यभावः। न हि निरंशं वस्त्वनेककार्यजनकं संभवति सांशताप्रसंगात्। न चोपादानसहकारिभावः संभवति। तथा हि—द्वितीयस्वभावाभावादेकमेव जनयेत्। न चैकं जनकमुपेयते। तन्न क्षणिकपक्षेऽपि क्रमयौगपद्यक्रियासंभवः।

§२२ किंच क्षणिकं वस्तु सव्यापारं वा कार्यं कुर्यात् निर्व्यापारं वा? । निर्व्यापारस्य करणे खपुष्पस्यापि कार्यक्रिया स्यात्। व्यापारवत्त्वे प्रथमे क्षणे उत्पद्यते द्वितीये व्याप्रियते इति क्षणिकत्वहानिः। अथ प्राक्कालभावित्वमेव व्यापारः नापरः। तर्हि तत्क्षणभाविनां जगत्क्षणानामपि कारणत्वं स्यात्। तथा च सूत्ररूपताऽपि घटस्य स्यात्। न चोपेयार्थिनां नियतकारणोपादानम् स्यात्। न चानन्तरक्षणविनष्टे चिरतरविनष्टे वा कश्चिद्विशेषोऽस्तीति

---

१. सन्नि अ० ब०। २. °कारिसन्निधौ मु० क०। ३. सत्वसा° मु० क०। ४. न वा मु०। ५. वस्तुनः मु० क०। ६. तत्र क्रमयौग° अ० ब०। ७. तत्रास्ति नापि क्रम इति। नापि सह° अ० ब०। ८. न च निरं° क० मु०। ९. द्वितीयांशभा° क० मु०। १०. °कमुपपद्यते ब०। ११. °स्व कार्य० अ० मु०। १२. न चोपेये मार्थि° ब० अ०।

चिरतरविनष्टमपि कुर्यात्। इति मृतेन कुक्कुटेन वासितव्यम्। ततो घटरूपतया परिणमनमेव मृत्पिण्डस्य कारणत्वं न प्राग्भावः। न चानुसन्धातारमात्मानमन्तरेण कार्यकारणभावप्रतीतिः। तथा हि—कारणविषयेण प्रत्यक्षेण कारणमेव प्रतिपन्नम्, न कार्यम्। कार्यविषयेणापि कार्यमेव न कारणम्। अथ निर्विकल्पकदर्शनद्वयानन्तरं 'इदमस्मादुत्पन्नम्' इत्येवमाकारं स्मरणज्ञानमुदेति तेन तथाभावग्रहः। तदप्यसत्। स्मरणं हि अनुभवानुसार्येवोत्पद्यते। न चानुभवद्वयेन कार्यकारणभावोऽनुभूतः येन तथास्मरणं स्यात्। आत्मनश्चाभावे कस्य तत् स्मरणं स्यात्?। तन्न क्षणिकपक्षेऽपि कार्यकारणभावप्रतीतिः।

§२३. किञ्च कार्यं सदुत्पद्यते, उतासत्, आहोस्वित् सदसत्?। यदि सत्। किमुत्पद्यते?। अथासत्। किं न व्योमोत्पलम्?। अथ प्रागभावाभावात्[3] न व्योमोत्पलस्य उत्पत्तिः। ननु प्रागभावोऽपि तस्य किमिति नास्ति?। उत्तरकालमभावादिति चेत्; इतरेतराश्रयत्वम्। तथा हि—यस्योत्तरकालमुत्पत्तिः तस्य प्रागभावः। यस्य प्रागभावः तस्योत्पत्तिरिति। सैव सदसवेत्; हन्त! अस्मन्मतानुप्रवेशः।

§२४. तन्नैकान्तनित्येऽनित्ये वा अर्थक्रिया समस्तीति नित्यानित्यात्मन्येवार्थक्रियाकारित्वेन सत्त्वम्। तथा हि—स एव मृत्पिण्डो घटरूपतया परिणमते इति प्रतीतिः। यद्रूपं हि कारणमुपलभ्यते तद्रूपमेव कार्यमपि। तदेव द्रव्यं तेन तेन पर्यायेण परिणमदुपलभ्यते। नात्यन्तभिन्नमभिन्नं वा घटादिकार्यं प्रतीयते। तदुक्तम्—द्रवति गच्छति तांस्तान् पर्यायानिति द्रव्यम्। तेन द्रव्यमेव अन्तरङ्गम्, बहिरङ्गाः पर्यायाः।

§२५. ननु द्रव्यस्य कुतः सत्त्वसिद्धिः?। प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षादिति ब्रूमः। तथा हि—

द्रव्यस्य सत्त्वसिद्धिः।

यदबाधितबोधगोचरचारि तत् सद् यथा स्तम्भकुम्भादि। अबाधितप्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षगोचरचारि च पूर्वोत्तरपर्यायव्यापि द्रव्यम्। भेददर्शनमपि हि[10] भेदवादिभिरिन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायितया[11] प्रत्यक्षमुपेयते तथा अभेदाध्यवसायिन्यपि पूर्वदर्शनाहितसंस्कारप्रबोधप्रभवस्मरणसहायेन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायिनी प्रत्यभिज्ञा कथं न प्रत्यक्षम्?।

§२६. न[13] च 'अक्षं वर्तमानकालभाविनि प्रत्यासीदति, अतः तदनुसारिणी धीस्तत्रैव प्रवर्तितुम् उत्सहते, न पूर्वत्र[14]' इति वाच्यम्। एवं हि विशददर्शनावसेयाः स्तम्भादयोऽपि न प्रत्यक्षाः स्युः। तथा हि—अर्वाचीनावयवसंबन्धे(द्धे)[15]न्द्रियजनितप्रत्यक्षावसेयं मध्यपरावयवादिव्यापि स्तम्भादिद्रव्यम्। तर्ह्यर्वाचीनावयवमात्रपर्यवसिते[16][17] प्रत्यक्षे न स्यात्। परमाणुरूपावयवानां चाप्रत्यक्षत्वात्। ततः सकलप्रमाणशून्यो प्राप्तताऽऽपद्येत।

§२७. अथ विततदेशव्यवस्थिताः परमाणवः प्रतिभासविषयाः। तदसत्। सान्तराणां

---

१. °ण्डस्यैव का° अ०। २. उताऽसद्यदि क० मु०। ३. प्रागभावभावात् क०। ४. प्रागभावेऽपि मु०। ५. °रिति तन्नैका° मु० क०। ६. °क्रियात्वमस्तीति मु०। ७. द्रव्यं तेन पर्या° मु०। ८. °निति द्रव्यमेव मु०। ९. °चारि पूर्वो° मु० क०। १०. °मपि भेद° क० मु०। ११. °रेकविधा° ब०। १२. °यते अतः अभे° मु०। १३. प्रत्यक्षं वर्त° ब०। १४. पूर्वत्र इति मु०। १५. अर्वाचीनाव° मु० क०। १६. तर्ह्यर्वाचीना° मु० क०। १७. °सितप्रत्यक्षे मु०। १८. वाप्रत्य° मु०। १९. °शून्यमा° अ० ब० मु०।

तेषां अप्रतिभासनात्। संयोगात् तथाभासनमिति चेत्; ननु तेषां संयोगः किम् एकदेशेन सर्वात्मना वा?। न[1] तावदेकदेशेन निर्देशत्वात् परमाणूनाम्। नापि सर्वात्मना पिण्डस्य अणुमात्रत्वप्रसंगात्। तन्न परमाणवः प्रतिभासविषयाः[2]। किन्तु एकपरिणामपरिणतं स्तम्भादिद्रव्यं प्रतिभासगोचरचारि। तद्यथा—अर्वाचीना[3]वयवसंबद्धेन्द्रियजनितप्रत्यक्षेण विभिन्नदेशव्यवस्थितपरोक्षावयवव्यापि पुरोव्यवस्थितं वस्तु प्रतीयते, तथा वर्तमानपर्याय-संबद्धे[4]न्द्रियात् स्मृतिसहायात् उत्पन्नेन प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षेण अतीतदेशकालादिव्यवस्थितानेक-पर्यायव्याप्येकं प्रत्ये[5]ष्यतीति न कश्चिद्दोषः।

§२८. न च क्षणिकानुमानबाधितत्वात् प्रत्यभिज्ञानं भ्रान्तमिति वाच्यम्। अन्यथा विशददर्शनं हिमांशुधवलिमानं परिच्छि[6]न्ददुत्पद्यमानं—'नीलं निशीथिनीनाथबिम्बं सत्त्वात् नीलोत्पलवद्' इत्यनुमानबा[7]धमनुभवदप्रमाणं स्यात्। अथास्य प्रत्यक्षबाधितत्वात् न प्रामाण्यं। क्षणिकानुमानस्यापि प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षबाधायां समानम्। अथ प्रत्यभिज्ञानस्य भ्रान्तत्वात् क्षणिकानुमानस्य प्रमाणता। तर्हि इतरेतराश्रयत्वम्—सति हि प्रत्यभिज्ञानस्य भ्रान्तत्वे अस्य प्रामाण्यम्। सत्यस्य प्रामाण्ये प्रत्यभिज्ञा[8]नभ्रान्ततेति। न च प्रत्यक्षम् अनुमानेन बाध्यते। तत्पूर्वकत्वात् अनुमानस्य। अन्यथाऽनुमानपूर्वकत्वेऽनवस्था स्यात्। ततः सिद्धमबाधितं प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षं।

§२९. किञ्च, यदि नियतव्यक्तिसंबद्धेन्द्रि[9]यजनितं प्रत्य[10]क्षं नातीतादिपर्यायात्मकद्रव्य-ग्राहि स्यात्, त[11]दा यदेतत् सुप्रसिद्धं वह्न्यनुमानं तदपि न स्यात्। तद्धि महानसादिव्य-वस्थित[12]धूमध्वजसं[13]बद्धेन्द्रियजनितप्रत्यक्षेण अशेषत्रैलोक्योदरविवरवर्तिधूमवह्निविशेष-व्यवस्थिततिर्यक्सामान्ययोर्व्याप्तिग्रहणे सति प्र[14]वर्तते। तच्चेन्द्रियसंबद्धवस्तुमात्रविषयप्रत्य-क्षतायां न स्यात्। तस्माद् यथा प्रत्यक्षं व्याप्तिग्राहकम् अशेषविशेषात्मकतिर्यक्सामान्यग्राहि तथा प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षं ऊर्ध्वतासामान्यग्राहीति। न च लूनपुनर्जातकेशादिष्वेकत्वमन्त-रेणोत्पद्यमानं भ्रान्तमिति वाच्यम्। तत्रापि सामान्यस्य सद्भा[15]वात्। न चैकत्र भ्रान्तं प्रत्यक्षं सर्वत्र भ्रान्तमिति वाच्यम्। तस्मात् सिद्धं नित्यानित्यात्मकं वस्तु। तत्सिद्धौ च सदसदात्मकं सामान्यविशेषात्मकं उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं च सिद्धम्, विशेषोत्पाद-विनाशानामनित्यत्वेऽन्तर्भावात्, अन्येषां नित्यत्वे इति।

§३०. न चैतद्वाच्यम्—

"सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति॥" [प्रमाणवा० ३.१८१,१८२]

पर्यायनयस्याप्यभ्युपगमात्। अत एव सप्तभङ्गी सिद्ध्यति। तथा हि—यदा द्रव्यस्य प्रा[16]धान्यं विवक्ष्यते तदा 'स्यादस्ति' इति कथ्यते। यदा पर्यायाणां तदा 'स्यान्नास्ति'

---

१. नैकदे मु० क०। २. °णवः किन्तु° ब०। ३. अर्थाधीना° मु० क०। ४. संबन्धेन्द्रि° मु० क०। ५. प्रत्यक्षतीति क०। प्रत्यक्षमिति मु०। ६. परिच्छिदद्रुत्प° मु० क०। ७. °मानमनु° मु०। °मानबाधामनु° क०। ८. °भिज्ञाभ्रान्ततेति क०। ९. संबन्धेन्द्रि° मु०। १०. °जनितप्र° क०। ११. तथैते-तत् मु० क०। १२. °स्थितधूमध्व° मु० क०। १३. संबन्धेन्द्रि° मु० क०। १४. सति वर्तते मु० क०। १५. सत्त्वात् मु०। १६. प्राधान्यविवक्षा तदा क०। प्रधानविपक्षा तदा मु०।

इति । यदा युगपदुभयप्राधान्यप्रतिपादनं[1] विवक्ष्यते तदा 'अवक्तव्यम्' । एते सकलादेशाः[2] । तत्संयोग एवापरे चत्वारो भङ्गा भवन्ति । ते च स्वावयवापेक्षया विकलादेशाः । तद्यथा — अस्ति च नास्ति च । अस्ति चावक्तव्यं च । नास्ति चावक्तव्यं च । अस्ति च नास्ति चावक्तव्यं च इति नापरभङ्गसम्भवः । [३५]

§ १. एवं संख्या-लक्षण-गोचरविप्रतिपत्तिं निराकृत्येदानीं फलविप्रतिपत्तिं निराकुर्वन्नाह — प्रतीतेस्तु फलमिति ।

प्रतीतेस्तु फलं नान्यत् प्रमाणं न ततः परम् ।
अताद्रूप्येऽपि योग्यस्यानियतार्थस्य वेदनम् ॥ ३६ ॥

§ २. 'तु' पुनरर्थे । फलं पुनः प्रमाणस्यार्थाधिगतिरेव नान्यदिति, तद्धि[3] ज्ञानान्तरं वा स्यात् प्रवृत्तिर्वा अर्थक्रियाप्राप्तिर्वेति ? । तत्र न तावत् ज्ञानान्तरम्[4] । तद्धि प्रमाणाद्भिन्नविषयं वा स्यात्, अभिन्नविषयं वा ? । यदि भिन्नविषयं तदा[5] किं केन संगतम् ? । एवं हि घटज्ञानस्यापि[6] पटज्ञानं फलं स्यात् । अथाभिन्नविषयम् । तदा साधितक्रिये कर्मणि अविशेषाधायि किं कुर्वत् साधनं स्यात् ? । निश्चयमिति चेत्; न, प्रमाणस्यैव निश्चयात्मकत्वात्[7] । अथानिश्चयात्मकं प्रमाणं तर्हि निश्चय एव प्रमाणमस्तु । किं तेन निश्चयकरणात् ? । तदपि चेत्; चक्षुरादिकमस्तु । न[8] चानिश्चयात्मकप्रमाणवादिभिरपि निश्चयः फलमिष्यते । तन्न ज्ञानान्तरं फलमिति ।

प्रमाणफलस्य व्यवस्था ।

§ ३. नापि प्रवृत्तिप्राप्ती, तयोः पुरुषसाध्यत्वात् । उक्तं च शास्त्रकारैः — "नहि प्रमाणं गले गृहीत्वा पुरुषं प्रवर्तयति नाप्यर्थमुत्पाद्य अर्पयति[9] किन्तु अर्थपरिच्छेदकत्वमेव प्रवर्तकत्वं[10] प्रापकत्वं च" इति । तस्मादर्थाधिगतिरेव फलम् ।

§ ४. प्रमाणमपि न ततः प्रतीतेः[11] परं, किन्तु प्रतीयतेऽनेनेति[12] प्रमाणं प्रतीतिरेव[13] । एतदुक्तं भवति — नात्मनः परमार्थेन प्रमाणं भिद्यते किन्तु[14] आत्मैव ज्ञानावरणक्षयोपशमवान्[15] प्रमाणं, स एव प्रतीतिरूपत्वात्[16] फलमिति ।

§ ५. आकारः प्रमाणमिति चेत्; न, अर्थाकारतायां ज्ञानस्य जडता स्यात् । अथ नीलाद्याकारतैव अर्थाद्भवति न[17] जडता । यदि नीलपरमाणुरूपता तदा कथं न जडता ? । अथापरमाण्वात्मके विज्ञाने नीलं[18] प्रतिबिम्बमात्रमेव भवति । यथाऽनीलात्मके स्फटिके नीलादिति । तदसत् । यतो न स्फटिकस्यापि नीलपरमाणुपरिणतेरन्यत् प्रतिबिम्बमिति ।

§ ६. किञ्च, कारणत्वाद् यथा अर्थाकारो[19] भवति तथा चक्षुरादेरपि स्यात् । अयोग्यत्वात् न इति चेत्; तर्हि योग्यतैवास्तु किमाकारेण ? । तेन यदुक्तम् — "आकारमन्तरेण[20]

---

१. °पादनविवक्षा मु० क० । २. सकलदिशाः मु० । ३. तद्विशा मु० क० । ४. ज्ञानान्तरप्रमाणान्तरम् । तद्धि प्रमा° क० । ५. तर्त्कि मु० । ६. °स्यापि पटज्ञानस्यापि पटज्ञानं फलं क० । ७. निश्चयात्मकं प्रमाणं मु० क० । ८. °मस्तु निश्चया° मु० क० । ९. अर्थयति मु० । १०. °कत्वं च प्राप° क० । ११. प्रतीतेऽपरं मु० । १२. प्रतीयन्ते अ० ब० । १३. प्रतीतेरेव मु० क० । १४. किचात्मैव मु० । १५. पशमवात् मु० । १६. °रूपः फलं ब० क० । °रूपफलं मु० । १७. °वति जडता मु० क० । १८. नीलात् प्रतिबिम्बमात्रमेव अ० ब० । १९. अर्थादाकारो क० । २०. °न्तरे प्रति° मु० ।

प्रतिकर्मव्यवस्था न स्यात्" इति तन्निरस्तम्। ज्ञानमेव हि नियतार्थग्रहणे योग्यमस्तु किमाकारेणेति। एतदेवाह—अताद्रूप्येपीत्यादि।

§ ७. यस्मादाकारवादिनापि वस्तुस्वाभाव्यं आकारग्रहणे[1] ज्ञानस्याभ्युपगतम्। तस्मात् तदेव नियतार्थग्रहणे ज्ञानस्यास्तु किं व्यवधिना?। न च स्वाभाव्यमहेतुकम्। किन्तु कर्मणः क्षयोपशमवैचित्र्याद् आत्मैव नियतार्थज्ञानाकारैस्तया परिणमैस्तांस्तानर्थान् प्रतिपद्यते इति स्थितम्।

इत्यन्यलक्षणतमःपटलं निरस्य प्रत्यक्षमक्षिसमसुज्ज्वलदर्शनाय।
श्रीसिद्धसेनघटितस्फुटगीःशलाकां शुद्धामवाप्य विमलं विहितं मयैतत्॥ [३६]

॥ इति श्रीशान्त्याचार्यविरचितायां वार्तिकवृत्तौ प्रत्यक्षपरिच्छेदः॥

३. अनुमानपरिच्छेदः।

§ १. एवं प्रत्यक्षस्य संख्या-लक्षण-गोचर-फलविप्रतिपत्तिं निराकृत्य इदानीं परोक्षस्य तां निराकर्तुमाह—पूर्वमेव परोक्षस्य इत्यादिना।

पूर्वमेव परोक्षस्य विषयः प्रतिपादितः।

§ २. अनुमान-शाब्दलक्षणस्य परोक्षस्य 'अ[वि]स्पष्टास्त एव स्युः' [का० २३] इत्यादिना विषयोऽस्पष्टादिरूपः प्रतिपादितः न सामान्यम्, नाप्यन्यापोह इत्यर्थः। तथा हि—सामान्येऽर्थक्रियाशून्येऽनुमानादेः प्रतीयमानेऽपि नार्थक्रियार्थी ततः प्रवर्तेत।

§ ३. अथ कामर्थक्रियां सामान्यं न करोति?। यद्यन्यसाध्याम्, तदा अन्योऽप्यर्थक्रियाकारी न स्यात्। न हि नीलमपि पीतसाध्याम् अर्थक्रियां करोति। अथ स्वसाध्यां तदा अभिन्नज्ञानाभिधानलक्षणां करोत्येव। कथमर्थक्रियाशून्यं सामान्यमिति?। यद्येवं सुतरां न प्रवर्तेत, तत्प्रतीतिकाल एव तदर्थक्रियायाः सिद्धत्वादिति। न चाभिन्नज्ञानाभिधाने सामान्यसाध्ये, तयोरसामान्यदर्शिनोऽपि छात्रविकल्पेषु भावात्। न चैकान्तनित्यस्य स्वविषयज्ञानोत्पत्तावपि सामर्थ्यमस्तीत्युक्तम्।

§ ४. अथ तत्प्रतीयमानं विशेषेषु प्रवर्तयति। तदसत्। न हि अन्यस्मिन् प्रतीयमाने अन्यत्र प्रवृत्तिर्युक्ता, अतिप्रसंगात्। संबन्धात् प्रवृत्तिरिति चेत्। नैतदस्ति। न ह्येकभागप्रतीतौ द्वितीयप्रवृत्तिर्दृश्यते। अथ सामान्यं विशेषैर्विना न संभवति तेन तेषु प्रवर्तयति। ननु सामान्यं किम् अविशिष्टं प्रतीयमानं विशेषेषु प्रवर्तयति किं वा विशिष्टमिति?। यद्यविशिष्टं तदा तत् सामान्यं प्रतीयमानं विशेषमन्तरेणानुपपद्यमानं सलिलादावपि प्रवर्तयेत्।

§ ५. अथ विशिष्टं तदा वैशिष्ट्यं वक्तव्यम्। किं तत्र समवायः, किं वा 'तस्येदम्' इति प्रतीतिरिति?। न समवायः, तस्य निरस्तत्वात्। साधारणस्य च समवायस्य न विशेषकारित्व-

---

१. अताद्रूपेपी° मु०। अताद्रूपोऽपि क०। २. °ग्रहणाज्ञा° मु०। ग्रहणात् ज्ञा° क०। ३. °कारः तयापरि° मु०। ४. परिणतस्तांस्तान्° ब०। ५. श्री अ० ब० क०। ६. °सम्यक्° ब० मु० क०। ७. प्रवर्तते अ०।

मिति । द्वितीये तु पक्षे इतरेतराश्रयत्वम् । तथा हि – विशिष्टसामान्यप्रतीतौ विशेषप्रतीतिः, तत्प्रतीतौ विशिष्टसामान्यप्रतीतिरिति । किं च 'तस्येदम्' इति प्रतीतावपि नियतदेशविशेषाप्रतीतौ नानुमानादेः प्रवर्तेत । व्याप्तिग्रहणकाले च वह्न्यादिसामान्यस्य सिद्धत्वात् गृहीतग्राहित्वेन च प्रामाण्यं न स्यात् इति । विशेषोऽपि सामान्येन प्रतीयत इति चेत्; सामान्येन इति कोऽर्थः ? । किं सामान्यमेव सामान्यं प्रतीत्य प्रतीयते किं वा विशेष इति ? । यदि सामान्यं तदा तेनापि पुनरन्यत् सामान्यं ततोऽप्यन्यदिति अनवस्था । नापि विशेषः, क्रमाननुभवात् ।

§ ६. अथ नास्ति लक्षणा किन्तु युगपदुभयं प्रतीयते । नैतदस्ति, उभयाप्रतीतेः । न हि एकं दण्डायमानं सामान्यम्, अपरो विशेषः तत्र लक्ष्यते । उक्तञ्च ।

"दोहिं वि णएहिं णीयं सत्थमुलूएण तह वि मिच्छत्तं ।
जं सविसयप्पहाणत्तणेण अण्णोण्णनिरवेक्खा ॥" [सन्मति ३.४९]

अथाभिन्नसामान्यप्रतीतौ नियतदेशविशेषप्रतीतिः । एवं हि अशेषविशेषप्रतीतिरपि स्यात् । तथा हि – यद् यस्मादभिन्नस्वरूपं तत् तस्मिन् प्रतीयमाने प्रतीयते । यथैकव्यक्तिसामान्यप्रतीतौ व्यक्त्यन्तरसामान्यम् । अभिन्नस्वरूपं च व्यक्त्यन्तरमिति । कृष्णादेर्विशेषणस्याप्रतीतिरिति चेत्; न, विशेषणानामभेदे प्रतीतिः स्यात् । भेदेऽप्युपाधिमति निश्चीयमानेऽशेषोपाधीनामपि निश्चयः स्यात् । तस्मादभिन्नसामान्यप्रतीतौ अशेषव्यक्तिप्रतीतिर्भवेदिति ।

§ ७. किञ्च, –

"कस्मात् सास्नादिमत्स्वेव गोत्वं यस्मात् तदात्मकम् ।
तादात्म्यमस्य कस्माच्चेत् स्वभावादिति गम्यताम् ॥" [श्लोकवा० आकृ० ४७]

एवमभ्युपगममुपदर्श्य दूषयति –

"व्यक्तिजन्मन्यजाता चेद् आगतानाश्रयान्तरात् ।
प्रागासीन्न च तद्देशे सा तया संगता कथम् ॥
व्यक्तिनाशे न चेन्नष्टा गता व्यक्त्यन्तरं न च ।
तच्छून्ये न स्थिता देशे सा जातिः क्वेति कथ्यताम् ॥
न याति न च तत्रासीद् अस्ति पश्चान्न चांशवद् ।
जहाति पूर्वं नाधारम् अहो व्यसनसंततिः ॥"

एवं तादात्म्यपक्षोपि न युक्तः । तस्माद्विशेषा एव समानपरिणामवन्तोऽस्पष्टाः परोक्षस्य विषया इति । ननु विशेषविषयत्वेऽनुमानादेः कथं न तार्णादेः प्रतीतिः ? । न, दूरप्रत्यक्षेऽपि तथाऽप्रतीतेः । तदेवं न सामान्यं विषयः ।

§ ८. नाप्यन्यापोहः । स हि पर्युदासरूपो वा स्यात् प्रसज्यरूपो वा ? । प्रथमपक्षे वस्त्वन्तरमेव स्यात् । तच्च सामान्यं वा विशेषो वेति विधिरेव शब्दार्थः स्यात् । द्वितीये तु निषेधमात्रमेव प्रतिपाद्यते । तस्य च शब्दाद्यर्थत्वमयुक्तम्, अप्रतीतेः ।

अपोहनिरासः ।

१. स्यादि° - अ० ब० । २. °दस्या अथ मु० क० । ३. लक्षणं मु० क० । ४. अविशेषविशे° क० । ५. °मनेकप्र° ब० मु० क० । ६. दूषयन्ति मु० क० । ७. सामान्यपरि° क० । ८. नियम इति क० ।

तथाहि—परप्रतिपादनार्थं तस्य प्रयोगः । परस्तु नीलाद्यर्थी नानीलनिषेधमात्रं जिज्ञासति । प्रतिपादकोऽपि तथैव प्रतिपादयति । अजिज्ञासितं प्रतिपादयन्न प्रेक्षापूर्वकारी[1] स्यात् ।

§ ९. अथ 'किम् आनयामि' इति जिज्ञासायाम् अनीलमपि जिज्ञासितं नीलमित्युक्ते निषिध्येते[2] । नैव[3] प्रतिपाद्यस्य विधावेव जिज्ञासा न [4]निषेधमात्रे । प्रतिपादकोऽपि तथैव प्रतिपादयति । सामर्थ्यादन्यप्रतिपत्तिरिति । नैतदस्ति, प्रतिपाद्यस्य सामान्येन विधावेव जिज्ञासा न प्रतिषेधमात्रे । [5]विधिप्रतिपत्तौ सामर्थ्यादन्यप्रतिषेध इति ।

§ १०. किञ्च, अयमपोहो भावे भावस्य वा प्रतीयते[6] केवलो वा ? । प्रथमपक्षे भावयोः प्रतीतिः किं तेनैवानुमानादिना, किं वा प्रमाणान्तरेण ? । यदि तेनैव तदा किं भावौ प्रतीत्य प्रतीयते किं वाऽपोहं[7] प्रतीत्य ताविति ? । न तावत् प्रथम[8]पक्षः । नहि नीलशब्देन अनीलं प्रतीयते । प्रतीयमानत्वे वा कथं तन्निषेध इति ? । नीलं [9]च प्रतीत्य अनीलापोहं[10]प्रतीतौ [11]स्खलन्ती प्रतीतिः स्यात् । अथ नील[12]मेव अनीलापोहात्मकं प्रतीयमानमुभयव्यवहारं रचयति; तर्हि आयातोऽस्मत् पथमिति । नापि द्वितीयः पक्षः । नहि केवलोऽपोहः प्रतीयते पश्चात्ताविति, अननुभवात् । नापि प्रमाणान्तरं किंचित् तत्र अनीलप्रत्यायकमस्ति, येन तदपोहः प्रतीयेत । न चाभावेन भावस्य कश्चित्संबन्धः संभवति इत्युक्तम् । तस्मान्न भावसंबन्धित्वेनापोहस्य प्रतीतिरिति । केवलस्य च [13]तस्य प्रतीतौ सर्वशब्दानां पर्यायता स्यात्, लिङ्गलिङ्गिनोरभावश्च भवेत् । तथाहि—यदेव लिङ्गशब्दवाच्यम् तदेव लिङ्गिशब्दस्यापि । तथा विशेषण-विशेष्यभावोऽपि न स्यात् । [14]असत्त्वं च [15]जगति न किंचिदस्ति [16]यदपोहेन सत्त्वाख्यं साधनं भवेत् ।

§ ११. अथासत्यपि बाह्ये वासनानां नानात्वात् तज्जनितानां ध्वनीनां न पर्यायतेति । तन्न, वासनानामपि नानात्वानुपपत्तेः । ता हि अनुभवनिबन्धनाः । एकरूपस्य [17]चापोहस्य प्रतीतौ कथं वासनाना[18]मपि नानात्वमिति । तथा, अका[19]लापोहस्यैकरूपत्वादतीतानागतवर्तमानताव्यपदेशा नोपपद्येरन्निति । अक्रियानिषेधस्य [20]वा भावैकरसस्य सद्भावे अकार्षीत् करोति करिष्यतीति च व्यपदेशानुपपत्तिरिति । वचनलिङ्गभेदश्च न स्यात् । तथा, सर्व-प्रमे[21]यादिशब्दानामसर्वादे[22]रभावात् अपोह्याभावेन अपोहवाचकत्वं न स्यात् । अपि च, अपोहः किम् आश्रितः, अनाश्रितो वा ? । अनाश्रितत्वे न कस्यापि । आश्रितत्वे गुणो वा स्यात् सामान्यं वा भवेत् । तथा हि—यदि प्रतिव्यक्त्यनेकस्तदा गुणः । अथैकः तदा सामान्यमिति ।

§ १२. [23]अथापोह्यते अनेन इति ज्ञानाकारः, अपोह्यतेऽस्मिन्निति स्वलक्षणम् । अपोहनमपोह इति अन्यनिषेधः । तदेवं विधिरूपापोहाभ्युपगमात् निषेधमात्रे यद्दूषणं तदसदिति ।

---

१. प्रेक्षाकारी ब० मु० क० । २. निषेध्यते मु० । ३. नैवं क० । ४. न प्रतिषेध° मु० क० । ५. विप्रति° अ० । ६. प्रतीयेत मु० क० । ७. °पोहप्रतीताविति क० । ८. प्रथमः पक्षः क० । ९. नीलं वा प्रती° मु० क० । १०. पोहे प्रती° अ० । ११. संवल° मु० । १२. नीललमेव° मु० क० । १३. च प्रतीतौ मु० क० । १४. स्यात् । अथासत्त्वं अ० । १५. च न किं° मु० क० । १६. यदापो° अ० । १७. चापोहप्र° मु० क० । १८. °नानां नानात्व° क० । १९. तथाकारापोह° क० । २०. °स्य चाभा° ब० मु० । २१. °यातिश° अ० । २२. देव भावात् क० । २३. °मिति । अपोह्यते अनेन, अथापोह्यतेऽस्मि° अ० ।

तथाहि – न तावत् सामान्यं शब्दादिविषयः, अविद्यमानत्वात् । नापि स्वलक्षणम्, प्रत्यक्षवच्छाब्देऽप्रतिभासनात् । तदुक्तम् ।

"शब्देनाव्यापृताक्षस्य बुद्धावप्रतिभासनात् ।
अर्थस्य दृष्टाविव तच्छब्दाः कल्पितगोचराः ॥"

इति । नापि ज्ञानम्, तस्यापि स्वलक्षणत्वात् । नापि ज्ञानाकारः । किन्तु स एव दृश्यविकल्प्यावेकीकृत्य बहीरूपतयाऽध्यस्तोऽर्[1]थप्रख्यमाकारः । वैभाषिकाणां तु आकाराभावा[द्]ज्ञानमेव बहीरूपतयाऽध्यस्तमर्थं चतुर्थाकारोऽपोह इति न निषेधमात्रः केवलः, तस्य विधिरूपतया वस्तुनि प्रतीयमाने सामर्थ्यात् प्रतीतेरिति[2] । कल्पिताकल्पिततया स्वपरदर्शनयोर्भेद इति । अतश्च –

"सर्वे भावाः स्वभावेन स्वस्वभावव्यवस्थितेः ।
स्वभावपरभावाभ्याम् य[3]स्माद् व्यावृत्तिभागिनः ॥" [प्रमाणवा० ३.३९]
"त[4]स्माद्यतो यतोऽर्थानां व्यावृत्तिस्तन्निबन्धनाः ।
जातिभेदाः प्रकल्प्यन्ते तद्विशेषावगाहिनः ॥
त[5]स्माद्यो येन शब्देन विशेषः संप्रतीयते ।
न स शक्यस्ततोऽन्येन तेन भिन्ना व्यवस्थितिः ॥"
[प्रमाणवा० ३.४०,४१] इति

§ १३. तेन न स[6]र्वशब्दानां पर्यायता । नापि लिङ्गलिङ्गिनोरभावः । विशेषणविशेष्याभावो वा । तथा हि – स्वकारणादेव भावाः सकलसजातीयविजातीयव्यावृत्ता जायन्ते । तेनानेकव्यावृत्त्यात्मकेषु भा[7]वेषु एकव्यावृत्त्या निश्चयेपि व्यावृत्त्यन्तरेणाऽनिश्चिताः[8] । तन्निश्चयाय शब्दलिङ्गप्रयोगो न पर्यायतामाप्नोति । वस्तुभूते चोपाधौ प्रवर्तमानः शब्दः उपाधिमन्तमशेषोपाध्युपकारकं निश्चाययन्नशेषोपाधीनां निश्चयात् पर्यायतां शब्दान्तराणामापादयेदित्यादयो दोषा वास्तवे शब्दार्थे ग्रन्थकारैः प्रतिपादिताः । तस्माद् अपोहपक्षो ज्यायानिति ।

§ १४. अत्रोच्यते – य[9]त्तावदुक्तम् 'दृश्यविकल्प्ययोरेकीकरणमपोहो न तुच्छरूपः' इति । तदेकीकरणं किं तेनैव ज्ञा[10]नेन किं वा ज्ञानान्तरेणेति ? । न तावत् तदेव विज्ञानं स्वाकारं दृश्यं च पृथक् प्रतिप[11]द्य ऐक्यं प्रतिपद्यतेऽप्रतीतेः, क्षणिकत्वाच्च । नापि ज्ञानान्तरम् । तद्विभिन्नं[12] वा स्यात्, एकं वा भवेदिति ? । भिन्नं कथम् [13]ऐक्यं प्रत्येति ? । स्वसंवेदनं हि ज्ञानविषयं, दर्शनं तु दृश्यविषयमिति । एकं तु यदि द्वयं प्रत्येति कथमैक्यं । अथैक्यं प्रत्येति । कथं द्वयोरैक्यमिति ? ।

§ १५. अथ वासना[14]प्रतिबोधात् विकल्पविज्ञानं सकल[स]जातीयसाधारणम् उत्पद्यते इत्येकत्वग्रहणमुच्यते । न, व[15]स्तुभूतसमानपरिणाममन्तरेण [16]सजातीय[17]विभागानुपपत्तेरिति । एकार्थक्रियाकारित्वात् सजातीयत्वमिति चेत्; क्रियायाः किम् अन्यक्रियैक्यादैक्यम्, किं

१. °स्तोर्ध्वपक्षप्राकारा वै° क० । °स्तोर्ध्व पक्ष° मु० । २. प्रतीतिरिति क० मु० । ३. °भ्यां व्यावृत्तिभागिनो यतः – प्रमाणवा० । ४. यतो यतो क० मु० ब० । ५. तस्माद्विशेषो यो येन धर्मेण सं° प्रमाणवा० । ६. न शब्दा° अ० । ७. °केषु एकव्या° मु० क० । ८. निश्चित्याशे° मु० क० । ९. यथावदु मु० क० । १०. तेनैव ज्ञानान्त° क० मु० । ११. प्रतिपाद्य क० । १२. अनेकं अ-टि० । १३. एकम् मु० । १४. वासनाप्रबो° मु० क० । १५. न च वस्तु° क० । १६. सहजा° अ० । १७. °जातीयावि° क० ।

वा स्वरूपेणेति ? । प्रथमपक्षे अनवस्था । द्वितीये त एव अर्थक्रियाकारिणः किं नैकी-भवन्ति ? । अभ्युपेतहानिश्चेति । तदेवमत्र बहुवक्तव्यम् । तच्च नोच्यते विस्तरभयादिति । तस्मादपोहोऽपि परोक्षस्य विषय इति । [३७[1]]

§ १. एवं विषयविप्रतिपत्तिं निराकृत्य इदानीं फलविप्रतिपत्तिं निराकर्तुमाह—प्रमाण-फलसद्भाव इति ।

प्रमाणफलसद्भावो ज्ञेयः प्रत्यक्षवद्बुधैः ॥ ३७ ॥

§ २. यथैव हि प्रत्यक्षस्य प्रमाणमेव फलम् अर्थाधिगतिरूपं, तदेव च प्रमाणं परिच्छेद-कत्वात्, तथा परोक्षस्यापि [2]विज्ञेयमिति । [३७]

§ १. संख्याविप्रतिपत्तिं निराकुर्वन्नाह—परोक्षं द्विविधम् इति ।

परोक्षं द्विविधं प्राहुर्लिङ्ग-शब्दसमुद्भवम् ।
लैङ्गिकात् प्रत्यभिज्ञादि भिन्नमन्ये प्रचक्षते ॥ ३८ ॥

§ २. अक्षाणां परं परोक्षम् । [3]कारस्करादित्वात् सुडागमः । द्वौ विधौ प्रकारावस्येति द्विविधम् । द्वैविध्यमेवाह—लिङ्गशब्दसमुद्भवम् इति । लिङ्गजनितं, शब्दजनितमेव परो-क्षार्थनिश्चायकं नान्यदिति ।

§ ३. नन्वन्यदपि प्रत्यभिज्ञादिकं परोक्षं मन्यन्ते । तदेवाह—लैङ्गिकात् प्रत्यभि-

अकलङ्क-मतस्य निरासः । ज्ञादि भिन्नमन्ये प्रचक्षते—समानतन्त्राः, "परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि त्रिधा श्रुत-मविप्लवमिति" वचनात् इति । तदयुक्तम् । यतः श्रौतं त्रिविधं भवति । न त्वविप्लवम् । तथा हि—प्रत्यक्षेण परोपदेशसहायेन यज्जन्यते ज्ञानं तच्छ्रौतम् प्रत्यक्षपूर्वकम् । तथा लिङ्गेन परोपदेशसंहितेन जनितं श्रौतं लिङ्गपूर्वकम् । परोपदेशेन तु केवलेन जनितम् शब्दपूर्वमिति[5] । एवं त्रिविधं भवति श्रौतम् । न त्वविप्लवं प्रमाणमित्यर्थः । प्रत्यक्षे हि परोपदेशस्यानर्थकत्वात् । अथ तत्रापि किंचित् परोक्षम् । तर्हि तत्रानुमानमेव स्यात् तथा हि—परोक्षं [6]हि वस्तु न साक्षात् प्रतीयते किन्तु [4]अन्यदर्शनात् । अन्यस्माच्च यदि अनियतात् प्रतीयेत तदा यतः कुतश्चित् सर्वं प्रतीयेत । नियताच्च प्रतीतौ [7]लैङ्गिकमेव । तत्र [8]यदक्षानुसारि प्रत्यभिज्ञानं तत् प्रत्यक्षमेव । न श्रौतम् । यत्तु प्रत्यक्षानिश्चितम् दृष्टसाधर्म्याद् अर्थक्रियाकारित्वं निश्चीयते तल्लैङ्गिकमेवेति कुतस्त्रिविधं परोक्षमिति ? [३८] ।

§ १. अथायमपि वह्निर्दाहादिसमर्थ इति सामर्थ्यविषयं प्रत्यभिज्ञानं न प्रत्यक्षम्,

प्रत्यभिज्ञा-विचारः । सामर्थ्यस्य परोक्षत्वात् । नाप्यनुमानम्, व्याप्तिस्मरणाद्यननुभवात् । तस्मात् प्रमाणान्तरमिति । तदयुक्तम् । यस्मात् न सामर्थ्यं वह्नेरन्यत् । ततः प्रत्यक्षेण तत्स्वरूपनिश्चयादेव सामर्थ्यस्य निश्चयात् । यो हि[9] दाहिकां शक्तिं न जानाति स वह्निमपि । तत् स्वरूपापहारे भिन्नं सामर्थ्यमिति चेत्; न, मन्त्रादेः तथाभूतस्यैव वह्निस्वरूपस्य पर्यायस्योत्पत्तेरिति[10] । भवतु [11]वा सामर्थ्यम् । तन्निश्चयो मूढस्य दृष्टसाधर्म्यादनुमानमेव

१. तदेव प्रमाणं अ० ब० । २. विज्ञानमिति अ० क० । ३. पारस्क° मु० । ४. °देशाद्धि° मु० । ५. शब्दपूर्वकमिति मु० । ६. परोक्षं वस्तु अ० ब० । ७. प्रतीतिर्लैङ्गिकमेव ब० मु० । प्रतीतिर्लौकिक-मेव क० । ८. यदाक्षा° क० । ९. यो दाहि° क० । १०. °त्पत्तिरिति क० । ११. भवतु साम° क० मु० ।

इत्युक्तम् । व्याप्त्यस्मरणं तु कचिदकस्माद् धूमदर्शनात् वह्निप्रतिपत्तौ अपि दृष्टम् । अथ अर्थित्वात् पूर्वमेव सर्वस्य कृत[1]त्वात् तथा प्रतिपत्तिः । अत्रापि समानम् ।

§२. किञ्च, किं तत् प्रमाणान्तरम् ? । श्रौतमिति चेत्; किमिदं श्रौतम् ? किं शब्दविषयम्, किं वा शब्दोल्लेखीति ? । प्रथमपक्षे श्रोत्रेन्द्रियज्ञानं सकलमेव श्रौतम् स्यात् । तच्चागमविरोधीति । तथा हि—अष्टाविंशतिभेदमतिज्ञानाभिधायी जिनागमः । स चैवं त्यक्तः स्यात् । अथ शब्दोल्लेखि । एवमपि मतिज्ञानम् श्रौतं स्यात् । सविकल्पकं च सकलं प्रमाणं प्रसज्येते[2] । तन्नेदं श्रौतस्य लक्षणम् । किं तर्हीत्याह—परोपदेशजं श्रौतम् इति ।

परोपदेशजं श्रौतं मतिं शेषं जगुर्जिनाः ।
परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि त्रिधा श्रौतं न युक्तिमत् ॥ ३९ ॥

§३. परस्मै परस्मादुपदेशः परोपदेशः[3] । तस्माज्जातं यत् ज्ञानं तत् श्रौतं जगुर्जिनाः । तथा चागमः ।

"सुयकारणं जओ सो सुयं च तक्कारणं[4] ति तम्मि ।
कीरइ सुओवयारो सुयं तु परमत्थओ जीवो ॥" [विशेषा० ९९]

अस्यायमर्थः—श्रौतस्य ज्ञानस्य कारणं यतः स इति शब्दः । श्रौतं वा तत्कारणं तस्य शब्दस्य हेतुः । ततः तस्मिन् शब्दे क्रियते श्रुतोपचारः । कारणे कार्योपचारात्[5] कार्ये वा कारणोपचाराविति । परमार्थतस्तु[6] जीव एव[7] श्रुतमिति । ज्ञानस्य जीवात् कथंचिदभिन्नत्वादिति ।

§४. नन्वनेन शब्दस्य जन्यं[8] जनकं वा ज्ञानं श्रुतमभिहितम्, न तु सकलमेव परोपदेशजम्, शरीरचेष्टालक्षणेन उपदेशेन जनितस्यासंग्रहात् । न, शब्दस्योपलक्षणत्वात् । यद्वा सापि शब्द एव इत्याह ।

"सा[9] चिय सद्दत्थो चिय जं तंमि कयंमि पच्चओ होति ।
कत्ता वि हु तदभावे[10] तदभिप्पाओ कुणति[11] चेट्ठं ॥" [विशेषा० १७५]

अयमर्थः । सापि[12] च हस्तादिसंज्ञा परबोधनाय क्रियमाणा[13] शब्दस्थाने प्रयुक्तत्वात् शब्दार्था । शब्दस्य अर्थो यस्याः सा शब्दार्था । शब्द एवेत्यर्थः । कुत एतदित्याह—यत् तस्यां कृतायां प्रत्ययो भवति प्रतिपाद्यस्य । चेष्टायाः स्त्रीलिङ्गत्वेऽपि प्राकृतत्वात् लिङ्गव्यत्ययः । एतदेव समर्थयति—कर्तापि चेष्टायाः । हुरिति यस्मादर्थे । यस्मात् कर्ताऽपि तदभावे[14] शब्दाभावे मूकत्वात् । तदभिप्रायः शब्दार्थप्रतिपादनाभिप्रायः । करोति चेष्टाम्[15] हस्तादिलक्षणाम्[16] इत्यर्थः । तस्मात् परोपदेशजं श्रौतमिति । तेन[17] कश्चित् शब्दाभावेऽपि श्रौतम् । सत्यपि च शब्दे शब्दोल्लेख्यपि कश्चि[18]न्न श्रौतमिति । अत एव आह । मतिं [19]शेषमिति । अपरोपदेशशब्द[20]जनितां मतिं प्रतिपादयन्ति स्म । "श्रुतनिःसृता च" इति वचनात् ।

---

१. कृतकत्वात् अ० ब० मु० । २. प्रसज्यते अ० ब० । ३. °दुपदेशः तस्मा° मु० । ४. °रणं ति णो तम्मि–विशेषा० । ५. कार्योपचारादिति अ० ब० । ६. °मार्थतः जीव° मु० क० । ७. जीवः श्रौतमिति मु० क० । ८. जनकत्वं जन्यं वा । ९. सा वा सद्दत्थो चिय तया वि जं तम्मि पच्चओ होइ विशेषा० । १०. तदभावेपि तद° क० । ११. कुणइ चिट्ठं विशेषा० । १२. सा च मु० क० । १३. °माणश° मु० । १४. तदाभावे अ० । १५. चेष्टा ह° मु० क० । १६. °क्षणा इत्यर्थः मु० क० । १७. तत्र क° अ० । तेन शब्दा° मु० । १८. कश्चिच्छ्रौ अ० ब० मु० । १९. शेषामिति अ० ब० क० । २०. °पदेशजनितां अ० ।

§५. तस्मात् यदि प्रत्यभिज्ञा आप्तोपदेशजनिता तदा प्रत्यक्षार्थविषयत्वात् न प्रमाणान्तरम्। अथानाप्तजनिता तदा च्छात्रविकल्पवत् न प्रमाणमिति निगमयन्नाह—परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि इति। प्रमाणभूतं श्रौतं [1]त्रिधेति न युक्तियुक्तमिति। [३९]

§१. आगमबाधामाह—अन्यथेहादिकमिति।

अन्यथेहादिकं सर्वं श्रौतमेवं प्रसज्यते।
यथोक्तं नागमापेक्षं मानं तज्जाड्यजृम्भितम्॥ ४०॥

§२ यदि सविकल्पकं सकलमेव श्रौतं तदा ईहादि आदिग्रहणात् [2]अवायोहादिपरिग्रह इति। सकलमेव शब्दोल्लेखित्वात् श्रौतं स्यादिति।

§३. अथ कश्चिदागमत्यागोऽपि, यथा इन्द्रियैर्ज्ञानं[3] परोक्षमपि प्रत्यक्षं प्रत्यपादीति। तदयुक्तम् इत्याह—यथेत्यादि[4]। तद् दिगम्बराणां जाड्यविलसितम्। तथा हि—सकलवस्तुज्ञानापेक्षया परोक्षमिन्द्रियज्ञानमुक्तम्। न त्वेकस्मिन्नंश इति। तत् स्थितम् द्विधा श्रौतमिति। [४०]

§१. एवं द्वैविध्यं व्यवस्थाप्य इदानीं लैङ्गिकं परोक्षं व्याख्यातुमाह—लिङ्गाल्लिङ्गिनि इत्यादि।

लिङ्गाल्लिङ्गिनि यज्ज्ञानमनुमानं तदेकधा।
प्रत्येति हि यथा वादी प्रतिवाद्यपि तत् तथा॥ ४१॥

अनुमान-लक्षणम्।

§२. लिङ्गात् लिङ्गविषयमपि ज्ञानं भवति इति लिङ्गिग्रहणम्। लिङ्गिन्यपि तद्देशस्थितस्य प्रत्यक्षं भवतीति लिङ्गग्रहणम्। ननु तस्य तल्लिङ्गमेव[5] न भवति, यस्य तु लिङ्गि तस्य नैं[6] लिङ्गमन्तरेण तत्र ज्ञानमिति किं लिङ्गग्रहणेन?। ये लिङ्गमेवानुमानं मन्यन्ते तन्निरासार्थं लिङ्गग्रहणमिति। लिङ्गात् यत् लिङ्गिनि ज्ञानं तदनुमानं न लिङ्गमेवेत्यर्थः। यद्येवं तदा लिङ्गिनि ज्ञानमित्येवास्तु[7]। अनेन हि तत् सुनिरस्तं भवति। न, एवं हि प्रतिपत्तिगौरवं स्यात् इति लिङ्गग्रहणमिति।

§३. स्वार्थपरार्थभेदेन द्वैविध्यं प्रतिपन्नाः तन्निरासार्थमाह—तदेकधेति। एकप्रकारैव परोक्षार्थस्य प्रतिपत्तिरिति। तदेवाह—प्रत्येति हि यथा वादी प्रतिवाद्यपि तत् तथा—इति। हिर्यस्मादर्थः। यस्मादन्यथानुपपन्नाल्लिङ्गात् यथा स्वयं वादी परोक्षं वस्तु प्रत्येति प्रतिवाद्यपि तथैव तत् स्वयं निश्चितात् लिङ्गात् प्रत्येति न परवचनादिति। तथा हि—परवचनं यदि प्रमाणं तदा किं त्रिरूपवचनेन?, प्रतिज्ञामात्रेणैवार्थसिद्धेः[8]। अथाप्रमाणं तदा कथं ततो लिङ्गप्रतिपत्तिरपि[9]?। अथ प्रत्यक्षमेव तत्र प्रमाणं 'पश्य मृगो धावति' इतिवत्[10] संमुखीकरणादनुमानत्वम्। न, अक्षिनिकोचादेरपि स्यात्। [४१]

§१. अथ शब्दस्य सर्वथाऽप्रमाणत्वात् अनुमानोपचारात् प्रामाण्यं नान्यथेति कथापनार्थमित्याह—उपचारेण चेत् तत् स्यादिति।

---

१. त्रिविधेति अ० ब०। २. °णादपोहादिपरि° ब० मु० क०। ३. इन्द्रियजं ज्ञानं मु०। ४. यथेत्यादि मु० क०। ५. तल्लिङ्गमेव मु०। ६. तस्य लिङ्गमन्तरेण न तत्र अ०। ७. °मित्यवस्तु क० मु०। ८. सिद्धिः क०। ९. °रिति अ० ब० मु०। १०. इति तत्सं° अ० क० मु०।

उपचारेण चेत् तत् स्यादनवस्था प्रसज्यते ।

§ २. यद्यनुमानोपचारमात्रेण अनुमानत्वं वचनस्य तदा पुरुषादेरपि स्यादित्याह—अनवस्थैवं प्रसज्यत इति । उपचारेण प्रामाण्ये यत्किंचिदिति दधिभक्षणादिकमपि अनुमानं स्यादिति । शब्दस्य चाप्तप्रणीतत्वेन प्रामाण्यस्य प्रतिपादयिष्यमाणत्वादिति । तस्मादेक[२]धै-वानुमानमिति । [४२[१]]

§ १. इदानीं अवयवान्तरनिरासेन यस्यावयवस्य साधनाङ्गत्वं तदाह—अन्यस्येत्यादि ।

अन्यस्यासाधनादाह लक्षणे(णं) हेतु-साध्ययोः ॥ ४२ ॥

§ २. अन्यस्योपनयनिगमनादेर[३]साधनादिति असाधनाङ्गत्वादित्यर्थः, हेतुसाध्ययोरेव लक्षणमाह ।

§ ३. ननु प्रतिज्ञामन्तरेणापि पक्षधर्मसंबंधस्मरणादेव साध्यसिद्धेः किं तल्लक्षणकथनेन ? ।

प्रतिज्ञायाः साधनाङ्गत्वम् ।

तथा हि—साध्यवचनं यदि प्रमाणं तदा किं हेतूपन्यासेन ? । अथाप्रमाणं तदा किं तद्वचनेनेति ? । अथ प्रतिज्ञामन्तरेण 'यत् कृतकं तदनित्यम्' इति उक्ते न ज्ञायते किमयं साधर्म्यवान् प्रयोगः किं वा वैधर्म्यवानिति ? । तत्र 'अनित्यः शब्दः' इत्युक्ते[४] साधर्म्यवान् प्रतीयते । 'अकृतकः शब्दः' इति तु वैधर्म्यवानिति । नैतदस्ति । पक्षधर्मवचनाद्धि तन्निश्चयात् । तथा हि—'यत् कृतकं तदनित्यम्' इत्यभिधाय न कश्चिदास्ते साधनन्यूनताभिधानादेव तस्य निरासात्, किन्तु पक्षधर्मोपसंहारं करोति । तत्र 'कृतकश्च शब्दः' इति यद्यभिधत्ते तदा साधर्म्यवान् प्रतीयते । यदि तु 'नित्यः शब्दः' इति तदा वैधर्म्यवानिति ।

§ ४. अथ सर्व एव काष्ठादिविषयं व्यवस्थाप्य कुठारादिसाधनं व्यापारयति । तदत्रापि विषयव्यवस्थापनार्थं प्रतिज्ञाप्रयोग इति । न, पक्षधर्मसंबन्धवचनादेव तदर्थस्य गतत्वात् किं प्रतिज्ञाप्रयोगेण ? । किञ्च, स्वार्थानुमाने कोऽसौ साध्यं व्यवस्थापयति ? । अथार्थित्वात् प्रस्तावात् पक्षधर्माद्वा तद्व्यवस्था; परार्थानुमाने तथैवास्तु । एवमसाधनाङ्गत्वात् प्रतिज्ञां साधनान्निरस्यन्ति[५] ।

§ ५. अत्रोच्यते—यदुक्तम् 'प्रतिज्ञा किं प्रमाणमुता[६]प्रमाणम्' इति तत्र प्रमाणमिति ब्रूमः । तर्हि किं हेतूपन्यासेन ? । आप्तत्वसंदेहे तदुपयोगः । तन्निश्चये[७] तु प्रतिज्ञामात्रादेव साध्यसिद्धेः[८] हेतूपन्यासोऽपि न युक्तः, किं पुनः त्रैरूप्यवचनमिति ? । [४२]

§ १. एतदेव दर्शयितुमाह—अन्यथानुपपन्नत्वमित्यादि ।

'[९]अन्यथाऽनुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ।
नान्यथाऽनुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ॥' ४३ ॥

§ २. एतदुक्तं भवति—आप्तत्वसंदेहे अन्यथानुपपन्नादेव हेतुमात्रात् साध्यसिद्धेः किं

हेतोस्त्रैरूप्यनिरासः ।

त्रिरूपवचनेनेति ? । तथा हि—उपनयनिगमने तावत् सौगतैरेव निराकृते । दृष्टान्ते दृष्टसामर्थ्यस्य हि हेतोः पुनर्धर्मिणि वचनमुपनयं वर्णयन्ति । तथा-

१. °नोपकार° क० । २. देकमेवा° अ० । ३. °गमनादेरस्य अथार्थित्वात् (पं० २०) मु० । गमनादेरथार्थित्वात् (पं० २०) क० । ४. इत्युक्तसा° ब० । ५. °रस्यति मु० क० । ६. प्रमाणमिति मु० अ० । ७. तन्निश्चये हेतुप्र° ब० । ८. सिद्धिः मु० क० । ९. °नेनेति तत्रायुक्तम् (पं० २२) क० ।

युक्तम्। पक्षधर्मवचनादेव तदर्थस्य गतत्वात्। अथानेन दृष्टसामर्थ्यस्य हेतोः स्थापनं क्रियते। तन्न, व्याप्तिवचनादेव सामर्थ्यसिद्धेः[1]। यदि चानेन समर्थहेतुस्थापनं क्रियते तर्हि इदमेवाऽस्तु, किं हेतुवचनेन ?। तदेवम् उपनयं निरस्यन्ति। निगमनमपि अयुक्तम्। तथा हि–गृहीतव्याप्तिकस्य हेतोर्धर्मिण्युपसंहारादेव निगमनार्थस्य गतत्वात् किं तेन ?। तदेवं त्रिरूप एव हेतुरिति।

§३. एतद्दूषयन्ति[3]–यत्र हेतौ साध्येन विनाऽनुपपन्नत्वं तत्र किं त्रैरूप्येण ?। तदभावे 'स श्यामः, तत्पुत्रत्वात्[4]' इत्यादौ सत्यपि त्रैरूप्येऽगमकत्वादित्याह–नान्यथेत्यादि। तथा हि। नित्यानित्यात्मकं सर्वं सत्त्वान्यथानुपपत्तेरिति उक्ते भवत्येवं[5] साध्ये प्रतीतिः। अथ सर्वं नित्यं सत्त्वान्यथानुपपत्तेरित्यपि किं न भवति ?। नै[6], व्याप्तेरग्रहणात्।

§४. अथै[7] व्याप्तेर्दृष्टान्ते ग्रहणे सति कथं न त्रैरूप्यम् ?। ननु दृष्टान्ते व्याप्तिग्रहणम् यद्यसाकल्येन तदा[8] बहिर्व्याप्तिग्रहणेऽपि न साध्यधर्मिणि हेतोर्गमकत्वं स्यात्। अथ साकल्येन तदाऽनुमानं गृहीतग्राहित्वादप्रमाणं स्यात्। अथ देशविशेषप्रतीत्यर्थमनुमानम्। तन्न। यत्र यत्र साधनं तत्र तत्र साध्यमिति आधारान्तर्भावेनैव व्याप्तेर्ग्रहणात्[9] कथं न देशविशेषप्रतीतिः[10] ?। अथ आधारसामान्यस्यैव[11] प्रतीतिर्नाधारविशेषस्य। किमिदं सामान्यम् ? किं विवक्षितसाध्यविशिष्टम्, किं वाऽविशिष्टमिति ?। यदि साध्यविशिष्टं तदा कथं न साध्यप्रतीतिः ?। अथाविशिष्टं तदा न तत्र व्याप्तिरिति।

§५. अथ विवक्षितदेशमन्तरेणापि व्याप्तेरखण्डनात्तद्विशेषप्रतीतिरनुमानादिति[12]। ननु स विशेषः व्याप्तिग्राहिणा प्रमाणेन प्रतिपन्नः, किं वा नेति ?। यदि प्रतिपन्नः तदा किमनुमानेन ?। अथ न[13] गृहीतस्तदा न तस्य व्याप्तावन्तर्भाव इति। तदेवं[14] व्याप्तिग्राहिणा प्रमाणेनान्यथानुपपत्तौ गृहीतायां न किंचित् त्रैरूप्येण।

§६. अथ यदि व्याप्तिग्राहिणा प्रमाणेन साकल्येन व्याप्तिग्रहणं तदा किं हेतूपन्यासेन ?, साध्यस्य सिद्धत्वादिति। सत्यम्[15], प्रतिपाद्यार्थं हि तदुपन्यासः। तथा हि–द्विविधः प्रतिपाद्यः गृहीतव्याप्तिकोऽगृहीतव्याप्तिकश्च। तत्रागृहीतव्याप्तिकस्य व्याप्तिग्राहकप्रमाणोपदर्शनमेव नोपपद्येत प्रथमं हेतूपन्यासमन्तरेण। तच्च सपक्षाद्यनपेक्षं प्रवर्तमानं[16] त्रैरूप्यं व्यपोहति। गृहीतव्याप्तिकस्य तु हेतोरुपदर्शनमात्रमेव क्रियते। एतत् तैरप्युक्तम्, "विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवलः" [प्रमाणवा० ३.२६] इति। तदेवं सति नियमे न किंचित् त्रैरूप्येण ?। [४३]

§१. "कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात्।
अविनाभावनियमोऽदर्शनान्न न दर्शनात्॥" [प्रमाणवा० ३.३०]

इति चेत्–न दर्शनादर्शनाभ्यां नियमं मन्यते। किन्तु तर्कादभ्यूहापरनाम्नः। तथा हि प्रमाणात् तादात्म्यतदुत्पत्ती यथा निश्चीयेते तथा नियमोऽपि निश्चीयतां किं व्यवधिना ?। एतदेवाह–कार्यकारणसद्भाव इत्यादि।

---

१. तदा मु०। २. सिद्धिः मु०। ३. रिति यत्र मु० क०। ४. तत्पुत्रत्वादौ अ० मु०। त्वत्पुत्रत्वादौ क०। ५. °त्येवं अ०। ६. भवति व्या° मु०। ७. अत्र क०। ८. तदा व्या° मु० क०। ९. अथ साकल्यं न मु० क०। १०. न विशेष° मु० क०। ११. साम्यस्यैव मु०। १२. °ण्डना तद्वि मु० अ० ब०। १३. अथ गृही° क०। १४. तदेव मु० क०। १५. असत्यम् मु० क०। १६. °मानं व्यापो° अ० ब०।

कार्यकारणसद्भावस्तादात्म्यं चेत् प्रतीयते ।
प्रत्यक्षपूर्वकात् तर्कात् कथं नानुपपन्नता ॥ ४४ ॥

तर्कात् व्याप्ति-निर्णयः ।

§२. ननु न तर्कात् कार्यकारणत्वादि वस्तु निश्चीयते किन्तु बाधकप्रमाणात् । तेन कथमेतदिति ? । अत्रेदमुच्यते । किमिदं बाधकं प्रमाणम् ? प्रत्यक्षम् उतानुमानमिति ? । तत्र यद्यनुमानम्, तदाऽनवस्था । नापि प्रत्यक्षम् । तद्धि निर्विकल्पकत्वात् पुरो व्यवस्थितयोरपि वह्निधूमयोः कार्यकारणभावं प्रत्येतुं न शक्नोति, किमङ्ग पुनः साकल्येनेति ? । तस्माद् यदि धूमस्यान्यत् किमपि कारणं स्यात् तदा अयमपि धूमो न वह्नेरुत्पद्यमान उपलभ्येत । ततो अभ्यूह्यते सकलमेवैतद्रूपं सर्वत्रैवंविधरूपमन्तरेण नोपपद्यत इति । तच्च तर्काख्यं प्रमाणं केचित् प्रत्यक्षं मन्यन्ते । अपरे अनुमानम् । अन्ये प्रमाणान्तरमिति । तदेवमन्यथानुपपन्नत्वमेव गमकत्वे निबन्धनं न त्रैरूप्यमिति । [४४]

§१. अथ अन्यथानुपपत्तिर्व्यतिरेकः । स च नान्वयमन्तरेण घटते । तथाभूतश्च हेतुः क्वचिद्धर्मिण्युपसंहर्तव्यः, अन्यथा सर्वत्र प्रतीतिं जनयेत्, न वा क्वचिदपीति । तत् कथं न त्रैरूप्यमित्येतदाशंक्याह — व्यतिरेकोऽनुपपत्तिश्चेदित्यादि ।

व्यतिरेकोऽनुपपत्तिश्चेदन्वयनिबन्धनम् ।
कथं सत्त्वं विना तेन क्षणिकत्वप्रसाधकम् ॥ ४५ ॥

§२. नैतदस्ति । न हि सर्वत्रान्वयाविनाभूतो व्यतिरेकः परैरभ्युपगम्यते । तदुक्तम् — "यो हि सकलपदार्थव्यापिनीं क्षणिकतां इच्छति तं प्रति दृष्टान्तस्याभावादिति" । एतदेवाह । कथमित्यादि । [४५]

§१. इदानीं स्वसिद्धान्तमाह — विनाप्यन्वयमात्मादावित्यादि ।

विनाप्यन्वयमात्मादौ प्राणादिः साधनं यदा ।
तदा स्यान्नान्वयापेक्षा हेतोः साध्यस्य साधने ॥ ४६ ॥

§२. 'नेदं निरात्मकं जीवच्छरीरम् अप्राणादिमत्त्वप्रसंगात्' इत्यस्मिन् प्रयोगे केवलोऽपि व्यतिरेको गमकत्वे निबन्धनमिति वर्णयन्ति ।

§३. अथात्मानमन्तरेण प्राणादिमत्त्वस्य अनुपपत्तिः कथं निश्चिता ? । स्तम्भादिषु नैरात्म्यस्य अप्राणादिमत्त्वेन व्याप्तेरिति चेत्; ननु स्तम्भादिषु नैरात्म्यं कथं निश्चितम् ? । न तावत् प्रत्यक्षेण । परोक्षत्वादात्मनः । तदभावात् नानुमानेन । पराभ्युपगमेन तु तन्निश्चये काल्पनिकत्वं हेतोः स्यादिति ।

§४. अत्रोच्यते । नित्यं सत्त्वादिप्रसंगान्न प्राणादयोऽहेतवः । हेतुस्तेषां[11] यद्यचेतनः, तदा स्तम्भादिष्वपि प्रसज्येरन् । सचेतनोऽपि किं नित्यः किं वा क्षणिक इति ? । न तावन्नित्यः । अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपस्य न कदाचित्क्रियाविरामः स्यात् । यद्वा कदाचिन्न भवेदित्युक्तम् ।

---

१. ननु च न अ० । ननु च तर्कात् मु० । २. °त्वाद्यपि° क० अ० । ३. °रुत्पाद्य° क० । ४. स नान्व° अ० ब० मु० । ५. °रेकोऽनु° मु० । ६. स्वसिद्धव्याह—अ० ब० । स्वसिद्धाह क० । ७. जीवशरीरं मु० । ८. निबन्धन इति मु० क० । ९. प्राणादिमत्त्व° क० मु० । १०. चेत् स्तम्भा° ब० । ११. हेतुश्चैषां मु० क० ।

क्षणिकमपि किं विद्यमानं कार्यं करोति, किं वाऽविद्यमानम् ? । प्रथमपक्षे सर्वेषां क्षणानामेककालताप्रसङ्गः । द्वितीये तु पूर्वमेव कार्यमुत्पद्यते कारणाभावाऽविशेषात् । अथ प्राक्कालभावित्वं कारणत्वम् । उत्तरक्षणभावित्वं किं न भवति ? । को हि पूर्वोत्तरक्षणयोर्विशेषः ?, उभयोरप्यविशिष्टत्वात्, अपरस्य च कर्तृत्वस्यानभ्युपगमात् । अथ पूर्वमेव कार्यस्य सद्भावे किं कारणेन ? । उत्तरमपि कार्यस्य सद्भावे किं कारणेन ? । तस्मिन् सति उत्तरस्य भावादिति चेत्; पूर्वस्यापि समानम् । अथैवमस्तु, तथापि क्षणिकस्य कर्तृत्वं सिद्धमिति चेत्; न सिद्धम्, सत्तामात्रेण कर्तृत्वे सर्वकार्यकर्तृत्वं स्यात् । स्वसन्तानमेव कार्यं करोति नान्यसन्तानमिति चेत्; न, इतरेतराश्रयप्रसंगात् । तथा हि—कार्यत्वात् एकसन्तानत्वम्, एकसन्तानत्वात् कर्तृत्वमिति । तन्न क्षणिकस्यापि कर्तृत्वम् । तस्मात्कथंचिदजहत्पूर्वरूपस्य द्रव्यस्यैवोत्तरोत्तरेषु कार्येषु परिणमतः कर्तृत्वं नान्यस्येति । तेन प्राणादिरात्मानमन्तरेणोपपद्यते इति विपक्षव्यावृत्तिरेव अन्वयमन्तरेणापि गमिकेति । [४६]

§ १. ननु संबन्धमन्तरेण कथमन्यथानुपपन्नत्वमित्याशङ्क्याह—संबन्धिभ्याम् इत्यादि ।

संबन्धिभ्यां विभिन्नश्चेत् संबन्धः स्यान्न लोष्टवत् ।
अनवस्था प्रसज्येत तदन्यपरिकल्पने ॥ ४७ ॥

§ २. तथा हि—संबन्धिभ्यां संबन्धः भिन्नः स्याद्, अभिन्नो वा ? । यद्यभिन्नः, तदा संबन्धो वा स्यात् संबंधिनौ वा । अथ भिन्नः, तदा लोष्टकल्पो न तयोरस्याविति । अथ संबन्धान्तरेण तयोरस्याविति । तस्याप्यभेदे पूर्वः प्रसंगः । भेदेऽनवस्था स्यादिति ।

§ ३. किञ्च, संबन्धेनं किं संबद्धयोः संबन्धः क्रियते, यद्वा असंबद्धयोरिति ? । यद्यसंबद्धयोरिति, तदा सह्यविन्ध्ययोः क्रियेत । अथ संबद्धयोः, तदा किं संबन्धेन ?, स्वत एव संबद्धत्वादिति । तस्मादनुपपत्तिरेव गमकत्वे निबन्धनम्, न संबन्धान्तरमिति । [४७]

§ १. तदेवमन्वयं निरस्य पक्षधर्मत्वं निरस्यन्नाह—कृत्तिकोदयपूरादेरित्यादि ।

कृत्तिकोदयपूरादेः कालादिपरिकल्पनात् ।
यदि स्यात् पक्षधर्मत्वं चाक्षुषत्वं न किं ध्वनौ ॥ ४८ ॥

§ २. कृत्तिकोदयश्च नदीपूरश्च । आदिग्रहणात् चन्द्रोदयादिः समुद्रवृद्ध्यनुमाने । तथा हि—

पक्षधर्मत्वाभावेऽपि हेतुत्वम् ।

कृत्तिकोदयाद् रोहिण्युदयानुमाने कालो धर्मी परिकल्प्यते । उपरि वृष्ट्यनुमाने नदीपूराद् देशविशेष इति । तथा समुद्रवृद्धावपि । पिपीलिकोत्सरणभक्ष्यविकारादेर्वृष्ट्यनुमाने भूतविशेष इति । एवं यदि यत्किंचित् कल्पयित्वा पक्षधर्मत्वं व्यवस्थाप्यते तदा ध्वनौ अनित्यत्वे साध्ये चाक्षुषत्वं पक्षधर्मः स्यात्, तत्रापि जगतो धर्मित्वेन कल्पनादिति । तथा हि—जगद्धर्मी अनित्यशब्दवद् भवति इति साध्यो धर्मः चाक्षुषघटवत्त्वाद् इति । तन्न पक्षधर्मत्वमपि गमकत्वे निबन्धनमिति । [४८]

---

१. विद्यमानं करोति क० । २. °विशेषत्वात् अ० । ३. °त्वात् तत्कर्तृ° क० । ४. °त्येति । तेन सिद्धं न प्राणा° मु० क० । ५. तथा संबन्धि° अ० ब० मु० । ६. संबन्धिनः किं अ० । ७. किं संबन्धः क्रियते संबद्धयोः किं वा असंबन्धयोरिति क० । ८. इष्टात्तु क० मु० । ९. भूत इति क० मु० । १०. °वान् भवति मु० । ११. चाक्षुषत्वात् घटवदिति तन्न अ० । चाक्षुषत्वादिति तन्न ब० । चाक्षुषघटत्वादिति मु० ।

§१. "विशेषेऽनुगमाभावात् सामान्ये सिद्धसाध्यता" इति अनुमानदूषणं परिहर्तुमाह– समानपरिणामस्येत्यादि।

समानपरिणामस्य द्वयस्य नियमग्रहे।
नाशक्तिर्न च वैफल्यं साधनस्य प्रसज्यते ॥ ४९ ॥

§२. तुल्यपरिणामयोर्द्वयोर्लिङ्गसाध्ययोर्नियमग्रहेऽन्यथानुपपन्नत्वग्रहे सति नाशक्तिः, अननुगमात्, नापि सामान्यमात्रसाधनात् सिद्धसाध्यतादोषः। किन्तु विशेषा एव समानपरिणामिनः साध्यन्त इति। [४९]

§१. एवं हेतुलक्षणमभिधाय इदानीं पक्षलक्षणमाह– इष्टं साधयितुं शक्यम् इत्यादि।

इष्टं साधयितुं शक्यं वादिना साध्यमन्यथा।
साध्याभासमशक्यत्वात् साधनागोचरत्वतः ॥ ५० ॥

पक्षस्य लक्षणम्।

§२. सिद्धं प्रत्यक्षादिबाधितं वादिना साधयितुं न शक्यते। तथा, इष्टमपि साधनविषयीकृतं साध्यम्। नोक्तमेव। अन्यथेति उक्तविपरीतं साध्याभासम्। कुत इत्याह। अशक्यत्वाद् इति। सिद्धस्य साधयितुम् अशक्यत्वात्। तथा हि– यथा पूर्वं प्रमाणेन सिद्धमपि साधनमपेक्षते तथाऽनेनैव सिद्धमन्यदपेक्ष्येत। तथा, ततोऽप्यन्यदिति न स्यात् साधननिष्ठेति। एवं सिद्धस्य साधयितुमशक्यत्वमिति।

§३. बाधितस्य च साधनागोचरत्वादित्याह– साधनागोचरत्वतः इति। प्रत्यक्षादिबाधितं प्रतिपाद्यमानं न साधनमपेक्षते इति।

§४. यद्वा सिद्धं बाधितं च साधयितुं न शक्यते। ततो हेतोः साधनगोचरचारि न भवतीति। [५०]

§१. एवं पक्षलक्षणमभिधाय इदानीं बाधितोदाहरणान्याह– यथा सर्वगम् इत्यादि।

यथा सर्वगमध्यक्षं बहिरन्तरनात्मकम्।
नित्यमेकान्ततः सत्त्वात् धर्मः प्रेत्यासुखप्रदः ॥ ५१ ॥

बाधितोदाहरणानि

§२. सर्वगतं सामान्यं प्रत्यक्षं प्रतिज्ञायमानं प्रत्यक्षबाधितम्। एकान्तेन नित्यं शब्दादि प्रतिज्ञायमानम् अनुमानबाधितम्। प्रेत्य परलोके धर्मः सुखप्रदो न भवतीति प्रतिज्ञां कुर्वत आगमबाधा। समानतन्त्रैः प्रत्यक्षपूर्वकं श्रौतमभ्युपगतम्। तदपेक्षयोदाहरणम्– बहिरन्तरनात्मकं सर्वमिति। आत्मा परिणामि द्रव्यम् तदभावस्य प्रतिज्ञायमानस्य प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षेण अनुमानेन वा अन्यथा बाधनान्न पृथगुदाहरणं युक्तं स्यादिति [५१]

§१. एवं हेतु-पक्षलक्षणमभिधाय इदानीं हेत्वाभासानभिधातुमाह– रूपाद्यसिद्धित इत्यादि।

---

१. °मयोर्लिङ्ग° क०। २. °भासम् अ° मु० क०। ३. अशक्यादिति ब०। असत्त्वात् मु० क०। ४. सिद्धश्वासा° मु० क०। ५. तथा हि पूर्वं प्रमा° क० मु०। ६. पूर्वप्रमा° अ० ब०। ७. च साधनागोचरत्वतः इति प्रत्य° ब०। ८. °मानो मु० क०। ९. ततो हेतोः साधनागोचरत्वादित्याह साधनगो° ब०

रूपाद्यसिद्धितोऽसिद्धो विरुद्धोऽनुपपत्तिमान्।
साध्याभावं विना हेतुः व्यभिचारी विपक्षगः॥ ५२॥

§ २. स्वरूपासिद्धः—अनित्यः शब्दः, चाक्षुषत्वात्। सन्दिग्धासिद्धः—वह्निसिद्धावुपादीयमानो धूमरूपतया सन्दिह्यमानो बाष्पादिसंघातः। भागासिद्धो यथा—सर्वमनित्यम् प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्। वाद्यसिद्धः सांख्यस्य सुखादीनामचैतन्यं साधयतः। यथा अचेतनाः सुखादयः अनित्यत्वादिति। प्रतिवाद्यसिद्धो वैशेषिकस्य जैनं प्रति द्रव्यादीनां सत्त्वं साधयतः। यथा सन्ति द्रव्यादीनि सत्त्वादिसंबन्धादिति[1]। आश्रयासिद्धो यथा—ईश्वरः सर्वज्ञः सर्वकर्तृत्वादिति। संदिग्धाश्रयो यथा—इह निकुञ्जे मयूरः केकायितादित्यादयः आदिग्रहणेन गृह्यन्ते।

हेत्वाभासाः।

§ ३. विरुद्धमभिधातुमाह—विरुद्ध इत्यादि। साध्याभावाव्यभिचारी विरुद्धः। यथा—नित्यः शब्दः कृतकत्वादिति।

§ ४. इदानीमनैकान्तिकमाह—व्यभिचारीति। सपक्षविपक्षगामी अनैकान्तिक इति। [५२]

§ १. अथवा एकान्तवादिनां सर्व एव हेतुत्रयीं दोषजातिं नातिक्रामतीत्याह—असिद्धः सिद्धसेनस्येत्यादि।

असिद्धः सिद्धसेनस्य विरुद्धो मल्लवादिनः।
द्वेधा समन्तभद्रस्य हेतुरेकान्तसाधने॥ ५३॥

§ २. सिद्धसेनस्य सूत्रकर्तुः साकल्येनासिद्धत्वात् सकल एव हेतुः असिद्ध इति। तथाहि—सामान्यं वा हेतुः स्यात् विशेषो वा? अपोहस्य च पूर्वमेव निरासात् तत्र सामान्यं सकलव्यापि सकलस्वाश्रयव्यापि वा हेतुत्वेनोपादीयमानं प्रत्यक्षसिद्धं वा स्यात् अनुमानसिद्धं वा[2]। न तावत् प्रत्यक्षसिद्धम्। तद्धि अक्षानुसारितया प्रवर्तते। अक्षं च विनियतदेशाविनैव संनिकृष्यते[3]। अतः तदनुसारिज्ञानं तत्रैव प्रवर्तितुमुत्सहते न सकलदेशकालव्यापिनि। अथ नियतदेशस्वरूपाव्यतिरेकात् तन्निश्चये तस्यापि निश्चय इति। ननु[4] नियतदेशस्वरूपाव्यतिरेके नियतदेशतैव स्यात् न व्यापिता। तन्न व्यापिसामान्यरूपो हेतुः प्रत्यक्षसिद्धः। अनुमानसिद्धतायां अनवस्थां प्रतिपादयन्ति[5]। तदुक्तम्।

"सामान्यं नानुमानेन विना यस्य प्रतीयते।
न च लिङ्गविनिर्मुक्तमनुमानं प्रवर्तते॥
असामान्यस्य लिङ्गत्वं न च केनचिदिष्यते।
न चानवगतं[6] लिङ्गं किंचिदस्ति प्रकाशकम्॥
तस्य चाप्यनुमानेन स्यादन्येन गतिः पुनः[7]।
अनुमानान्तरादेव ज्ञातेनैवं[8] च कल्पने॥

१. संबन्धत्वादिति क०। २. वा भवेत् मु० क०। ३. संनिरूप्यते मु० क०। ४. इति तन्नियत° क०। ५. प्रतिपादयति मु०। ६. न वान° क०। ७. इतः परं श्लोकवार्तिके—"तदुत्पत्तिश्च लिङ्गात् स्यात् सामान्यज्ञानसंहतात्। तस्य चाप्यनुमानत्वात् भवेल्लिङ्गेन चोद्भवः" इति पद्यं वर्तते तत् तु नोद्धृतं ग्रन्थकारेण—सं०। ८. ज्ञानेनैवं—श्लोकवा०।

लिङ्गलिङ्ग्यनुमानानामानन्त्यादेकलिङ्गिनि ।
गतिर्युगसहस्रेषु बहुष्वपि न विद्यते ॥" [श्लोकवा० अनुमा० १४९–१५३]

अपि च । अशेषव्यक्त्याधेयस्वरूपं प्रत्यक्षानुमानाभ्यां सामान्यं निश्चीयमानं स्वाधारनिश्चयमुत्पादयेत् । तन्निश्चयोऽपि स्वाधारनिश्चयमिति सकलः सकलज्ञः प्रसज्येत । तन्नैकान्तसामान्यरूपो हेतुः साकल्येन सिद्धः ।

§ ३. नापि विशेषरूपः । स[3] हि एकान्तेन विशेषः परमाणुरूपः स्यात् । तस्य च न प्रत्यक्षानुमानाभ्यां सिद्धिरित्युक्तम् । न चानन्वितस्य हेतुत्वं सिद्धम् ।

§ ४. विरुद्धानैकान्तिकावपि साध्यान्यथानुपपन्नत्वेन न सिद्धौ ।

§ ५. यदि वा असिद्धत्वादेव तौ निरस्तौ । तथाहि — पक्षधर्मत्वे सति तौ स्याताम् । तदभावे तावप्यसिद्धाविति सकल एवैकान्तवादिनो हेतुर्न सिद्ध इति ।

§ ६. मल्लवादिनस्तु नयचक्रविधातुर्मतेन सकल एवैकान्तसाधनो हेतुर्विरुद्ध इति । अनेकान्तात्मकवस्तुविपर्ययसाधनादिति ।

§ ७. अने[4]कान्तिकासिद्धावपि साध्यनिश्चयविपर्ययसाधनाद्विरुद्धाविति । तथाहि — निश्चयेन सहाप्रतिपत्ति-संदेहावपि विरुद्धावेव । तदविनाभूतौ चा[5]सिद्धानैकान्तिकाविति सकल एव हेतुर्विरुद्ध इति ।

§ ८. द्वेधा समन्तभद्रस्येति । स हि प्रतिबन्धविकलानां सर्वेषामेव हेतूनां व्यभिचारित्वं मन्यते । न चैकान्तसामान्ययोर्विशेषयोर्वा प्रतिबन्ध उपपद्यते । तथाहि — सामान्ययोरेकान्तेन नित्ययोः परस्परमनुपकार्योपकारकभूतयोः कः प्रतिबन्धः ? । विशेषयोस्तु नियतदेशकालयोः प्रतिबन्धग्रहेऽपि तत्रैव तयोर्ध्वंसात् साध्यधर्मिण्यगृहीतप्रतिबन्ध एवान्यो विशेषो[6] हेतुत्वेनोपादीयमानः कथं नानैकान्तिक इति ? । तस्मात् समानपरिणामस्यैव सामान्यविशेषात्मनो हेतोरनैकान्तात्मनि साध्ये गमकत्वम् । नैकान्तसाधन इति स्थितम् । [५३]

सर्वज्ञसाधनविधौ परलोकसिद्धौ
आत्मादि यत्र निरुपद्रवसौख्यहेतुः ।
तत्रोपयुक्तमुभयात्मकवस्तुनिष्ठम्
व्युत्पादितं[7] विशदमेतदिहानुमानम् ॥

॥ इति श्रीशान्त्याचार्यविरचितायां वार्तिकवृत्तौ अनुमानपरिच्छेदः ॥

---

१. कश्चिदपि अ० ब० । २. °निश्चयानुत्पा° अ० । ३. °रूपः हि मु० क० । ४. अनेकान्ति° मु० क० । ५. °भूतौ चासि° अ० क० मु० । ६. विशेषहे° मु० । ७. व्युत्पादिते मु० ।

४. आगमपरिच्छेदः ।

पूर्वपक्षिणा शाब्दस्याप्रामाण्यस्थापनम्

§ १. एवं प्रत्यक्षानुमाने व्याख्याय इदानीं शाब्दं[1] प्रमाणं व्याख्यातुमाह — ननु शब्दस्य संकेतवृत्तेरवस्तुविषयत्वात् कुतः प्रामाण्यमिति ? । तथाहि — ये यत्राकृतसंकेताः शब्दाः ते तमर्थं नाभिदधति । यथा गोशब्दादयोऽश्वादिकम् । अकृतसंकेताश्च सर्व एव शब्दाः परमार्थवस्तुनीति व्यापकानुपलब्धिः । अशक्यक्रियत्ववैफल्याभ्यां न तावदयमसिद्धो हेतुः । तथाहि — समुत्पन्ने वा वस्तुनि संकेतः क्रियेत[2] अनुत्पन्ने वा ? । न तावदनुत्पन्ने । न हि अनुत्पन्नं वस्तु शब्दस्यान्यस्य वा विषयतामुपयाति । शब्दो वा अनुत्पन्नविषये नियोज्यमानो न कल्पितगोचरतामतिक्रामेत्[3] शशविषाणादिशब्द इव । तन्नानुत्पन्नं संकेतभूमिः । उत्पन्नमपि किं गृहीतम् अगृहीतं वा ? । न तावदगृहीतं वस्तु संकेतगोचरः, अतिप्रसंगात् । गृहीतमपि क्षणिकत्वेन नष्टत्वात् न शब्दविषयः । तथाहि — वस्तुनो ग्रहणम् । ततो विकल्पः । तदनन्तरं शब्दस्मरणम् । ततो नियोग इति । एवं त्रिचतुरक्षणेषु सुदूरमुत्सन्नत्वात् न शब्दगोचरता । अथ तत्समानजातीयक्षणस्य विद्यमानत्वात् कथं न शब्दविषयता ? । तदसत् । न हि अगृहीतं विद्यमानमपि शब्दविषयतामुपयाति । यथा अश्वाद्यगृहीतं विद्यमानमपि गोशब्दस्य । पूर्वापरैकीकरणप्रक्रमेण नियोज्यमानः शब्दः कल्पितविषय एव नियोजितः स्यात् । तन्न वस्तु शब्दनियोगगोचरः ।

§ २. किं च, वस्तुनि संबंधकरणं प्रत्यक्षेण वा स्यादनुमानेन वा ?, न तावत् प्रत्यक्षेण । तेन पुरोऽवस्थितरूपमात्रस्य[4] प्रकाशनात् शब्दस्य च । न च तयोर्वाच्यवाचकसंबन्धोऽपरः कर्तुं शक्यते । अथेन्द्रियज्ञानारूढ एव रूपे[5] संबन्धव्युत्पत्तिर्दृश्यते — इदमेव तच्छब्दवाच्यम्, अस्येदमभिधानमिति । असदेतत् । तथाहि — अस्येदं वाचकमिति कोऽर्थः ? । किं प्रतिपादकं, यदि वा कार्यं कारणं वेति ? । तत्र यदि प्रतिपादकं तत् किम् अधुनैव[6] अथान्यदा ? । तत्र यदधुना शब्दरूपम् अर्थस्य प्रतिपादकं विशदेन रूपेणेति; तदयुक्तम् । अक्षव्यापारेणैव तथा नीलादेरवभासनात् न तत्र शब्दव्यापारस्योपयोगः । अथान्यदा लोचनपरिस्पन्दाभावे[7] शब्दोऽर्थानुद्भासयेत् । तदपि किं विशदेनाकारेण आकारान्तरेण[8] वा ? । यदि विशदेन तदा चक्षुरादीनां वैफल्यमासज्येत । प्रवृत्तिश्च न स्यात् । सर्वथा वस्तुनः प्रतिपन्नत्वात् । नहि प्रतिपन्न एव तावन्मात्रप्रयोजनो प्रवृत्तिर्युक्ता, प्रवृत्तेरविराम-प्रसंगात्[9] । अथ किंचिदप्रतिपन्नं रूपमस्ति तदर्थं प्रवर्तनम् । ननु यदप्रतिपन्नं[10] व्यक्तिरूपं प्रवृत्तिविषयः [तत्] तर्हि न शब्दार्थः तदेव च[11] पारमार्थिकम्, ततोऽर्थक्रियादर्शनात् । नान्यत्, तत्र अर्थक्रियाविरहात् ।

अथ कालान्तरे स्फुटतरेणाकारेण[12] तानसाववभासयेत् । नन्वसौ आकारस्तदा संबन्ध-

---

१. शाब्दं मु० । २. क्रियन्ताम् मु० । ३. °क्रमेत् मु० । ४. °स्थितशब्दरूप° मु० क० । ५. रूढेः संब° अ० । रूप्यव्यु° मु० क० । ६. °नैव अन्यदा अ० मु० । ७. °दाभावेन श° क० मु० । ८. °नाकारेण, अविशदेन वा अ० । ९. °ङ्गात् प्रवृ° अ० ब० । १०. यदि प्रति° अ० ब० । ११. तदेव पार° अ० । तदेव पर° क० । १२. स्फुटतरेण तान° मु० ।

व्युत्पत्तिकाले कालान्तरे वा नेन्द्रियगोचरः । तत् कथं तत्र शब्दाः प्रवर्तमाना नयनादिगोचरेऽर्थे वृत्ता भवन्ति ? । नापि शब्दोऽर्थानां कारणं स्वहेतोरेव तेषामुत्पत्तेः । नाप्यर्थकार्यम् विद्यमानेऽप्यर्थे दर्शनप्रतिपादनाभिप्रायविवक्षादिभिर्व्यवधानात् । तस्मा[ध्य]क्षतः[1] संबन्धवेदनम् ।

§ ३. नाप्यनुमानतः तदभावे तदनवतारात् । अथार्थापत्त्या[2] संबन्धवेदनम् । तथाहि—व्यवहारकाले शब्दार्थौ प्रत्यक्षे[3] प्रतिभातः श्रोतुश्च शब्दार्थप्रतिपत्तिं चेष्टया प्रतिपद्यन्ते[4] व्यवहारिणः तदन्यथानुपपत्त्या तयोः संबन्धं विदन्ति । तदप्यसत् । सिध्यत्येवं काल्पनिकः संबन्धो न वास्तवः । तथाहि—श्रोतुः प्रतिपत्तिः संकेतानुसारिणी दृश्यते, कलिमार्यादिशब्देभ्यो द्रमिडार्ययोर्विपरीतप्रतिपत्तिदर्शनात्[5] । तत्र वस्तु शक्यसंकेतक्रियम् ।

§ ४. संकेतव्यवहारकालाव्यापिनि[6] वस्तुनि निष्फलश्च संकेतः । तथाहि—कथं नाम अस्माच्छब्दादमुमर्थं प्रतिपद्यन्तां व्यवहारकाले प्रतिपत्तार इति संकेतं कुर्वते प्रेक्षाकारिणः । स चान्यत्वे न संभवति[7] ।

§ ५. अथ कालान्तरस्थायिनो नित्यस्य वा[8] विशेषस्य सामान्यस्य वा आकृतेर्वा[9] अवयवसंयोगलक्षणायाः सद्भावात् कथं न संकेतकरणसाफल्यम् । तदसत् । नित्यस्य क्रमयौगपद्यायोगेन अर्थक्रियाविरहतोऽसत्त्वात् । यदि च वस्तुनि शब्दवृत्तिः[10] स्यात्, तदा न कश्चिद् दरिद्रः स्यात् शब्दस्यैव सर्वार्थप्रतिपादकत्वात् । जातेरभिधानमेदमिति[11][12] चेत्; न जातेरभावात् ।

§ ६. अथावभासमानापि कथं नास्तीति चेत्; न, जातिप्रतिभासाऽभावात् । तथाहि—दर्शने परिस्फुटतयाऽसाधारणमेव रूपं चकास्ति, न साधारणम् । अथ साधारणमपि रूपमनुभूयते गौर्गौरिति । तदसत् । सावले(शावले)यादिरूपविवेकेनाप्रतिभासनात् । न च सावले(शावले)यादिरूपमेव[13] साधारणं, प्रतिव्यक्ति[14]भिन्नरूपोपलम्भात् । नापि कल्पनाज्ञाने । कल्पनापि पुरः परिस्फुटमुद्भासमानं[15] व्यक्तिरूपं व्यवसन्ती हृदि[16] वाभिजल्पाकारं प्रतीयते न तद्व्यतिरिक्तो वर्णाक्षराद्याकारशून्यः[17] प्रतिभासो लक्ष्यते । वर्णादिस्वरूपरहितं च जातेरूपमुपगम्यते । तत्र कल्पनावसेयाऽपि सा । यच्च न कचिद्विज्ञाने भाति तद्वत्[18] शशविषाणमिव ।

§ ७. भवतु वा जातिः शब्दार्थः[19] तथापि न शब्दात् प्रवृत्तिः स्यात् ज्ञानमात्रलक्षणत्वाज्जात्यर्थक्रियायाः । तस्याश्च[20] तदैव निष्पन्नत्वात् । अथ जात्या व्यक्तिर्लक्ष्यते[21] तेन लक्षितलक्षणावृत्तिः । तदसत् । क्रमवत्प्रतीतेरभावात्—पूर्वं जातिः पश्चाद् व्यक्तिरिति । किं च यदि नाम शब्दाज्जातिरा[22]भाति व्यक्तेः किमायातम्, येन सा[23] तां लक्षयति[24] ? । संबन्धाच्चेत्[25] ।

---

१. तत्राक्षितः अ० ब० । २. °त्त्या संवेदनम् अ० क० मु० । ३. प्रत्यक्षः प्रतिभावतः मु० क० । ४. °पद्यते मु० क० । ५. द्रविडार्य मु० । ६. °हारकला° मु० क० । ७. संभावयन्ति मु० । ८. °स्य तत्रापि विशे° मु० क० । ९. °र्वाऽव्ययवसं (?) अ० । १०. शब्दः वृत्तिः अ० ब० । ११. °धानात्रैवमिति चेत् जाते° क० । १२. °मिति जाते ब० । १३. रूपमिव क० । १४. प्रतिशक्ति क० । १५. °मानशक्तिस्वरूपं क० । १६. हृदि याभि° मु० क० । १७. °क्षराकारशू° ब० । १८. भाति तच्छशवि° अ० । १९. जातिः तथापि अ० । २०. तस्यास्तु मु० क० । २१. जात्या शक्ति° क० । २२. जातिः पराभाति ब० । २३. येन तां मु० । २४. लक्षति मु० क० । २५. संबन्धत्वाच्चेत् मु० क० ।

[1]संबन्धस्तयोः किं तदैव प्रतीयते आहोस्वित् पूर्वम्?। न तावत् तदा व्यक्तेरनधिगतेः। अधिगमे वा किं लक्षितलक्षणया?। सैव शब्दार्थः स्यात्। तस्मात् तदनधिगमे[2] तद्गत-संबन्धानधिगतेर्न[3] तदा तत्प्रतीतिः। नापि पूर्वम्। यदि नामैकदा अकार्यकारणभूतयोः[4] सहभावः तथापि सर्वदा ताभ्यां तथा भाव्यमिति कोऽयं नियमः?।

§८ अथ जातेरिदमेव रूपं यदुत विशेषनिष्ठता। ननु सर्वदा सर्वत्र जातिर्व्यक्तिनिष्ठेति[5] किम् अध्यक्षेणाधिगम्यते अनुमानेन वा?। न तावत् प्रत्यक्षेण सर्वव्यक्तीनां युगपदप्रति-भासनात् नैकदा तन्निष्ठता तेन गृह्यते। क्रमेणापि व्यक्तिप्रतीतौ निरवधेर्व्यक्तिपरंपरायाः[6] सकलायाः परिच्छेत्तुमशक्यत्वादिति न तन्निष्ठताग्रहः। नाप्यनुमानेन तत्पूर्वकत्वेन तस्य तदभावेऽप्रवृत्तेः। तन्न जात्या व्यक्त्युपलक्षणम्।

§९. किंच, जातेरपि शब्देन प्रतिपादनं न संभवति, तत्र संकेतासंभवात्। तथाहि— प्रतिपन्नायां तस्यां संकेतः। तत्प्रतिपत्तिश्च[7] प्रत्यक्षानुमानाभ्यां [8]नेत्युक्तम्, शब्दैकप्रमाण-समधिगमे चानवस्थेतरेतराश्रयत्वं वा स्यादिति।

§१०. किं च, शब्दवाच्यं यद्यक्षणिकं तदा व्यवहारकालभावि[9] क्रमवत् विज्ञानं नोत्पद्येत "नाक्रमात् क्रमिणो भावाः[10]" [प्रमाणवा० १.४५]। न च स्वविषयज्ञानोत्पादना-दन्यत्[11] वाच्यत्वं। तन्न शाब्दं[12] विज्ञानं अवस्तुविषयत्वात् प्रमाणम्। इत्याशङ्क्याह—तापच्छेद-कषैः शुद्धमिति।

तापच्छेद-कषैः शुद्धं वचनं त्वागमं विदुः।

§११. तापश्च च्छेदश्च कषश्च। तैर्यद्वचनं शुद्धं तत् प्रमाणमिति।[13] एतदुक्तं भवति—न शब्दस्य[14] बाह्यार्थाविनाभावित्वेनार्थप्रतिपादकत्वात् प्रामाण्यम्। किन्तु पुरुषप्रामाण्यमेव[15] शब्दसंक्रान्तं प्रमाणत्वेनाभिधीयते[16] इत्युक्तम्।

§१२. यच्च 'अशक्यक्रियत्व-वैफल्यादि दूषणम्' अभाणि क्षणिकपक्षाश्रयणेन तन्नोभया-त्मकवस्तुवादिनां क्षतिमावहति अस्पष्टविशेषविषयत्वं च परोक्षस्योक्तम्। तेन न केवल-सामान्यपक्षभावी[17] दोषः संभवी।

§१३. अथ किमिदम् अस्पष्टत्वम्?। किं ग्रहणम्, उताग्रहणम्?। यदि ग्रहणम्, कथमस्पष्टत्वम्?। अथाग्रहणम्। तदा कथं तत्प्रतीतिरिति। न, अनिदन्त्वप्रतीतेरस्पष्टत्व-प्रतिपादनात्। अपि च, घटशब्दादुत्पन्नं विज्ञानं पटं किं न प्रत्येति यदि निर्विषयं शाब्दं विज्ञानम्?। अर्थ[18] संकेतवशात् वस्त्वन्तरमपि प्रत्येत्येव। ननु का प्रतीतिः?। किं ग्रहण-माहोश्विदग्रहणम्?। यदि ग्रहणम् तदा कथं निर्विषयम्?। अथाग्रहणम् तदा कैस्तद्विष-[19]यार्थः?। अथ दृश्यविकल्प्यैकीकरणेन तद्व्यवसायः। न, अग्रहणे व्यवसायाऽयोगात्।

---

१. चेत् स संब° ब०। २. °गमे न तद्ग° ब०। ३. गतिर्न मु०। ४. °भूतयोः ताभ्यां मु०। ५. जातिर्शक्ति क०। ६. °वधिर्व्य° मु० क०। ७. °श्च न प्र° मु० क०। ८. °भ्यामित्यु° मु० क०। ९. °काले नाक्रमात् अ०। १०. भावाः ब०। ११. °न्यवाच्य° ब०। १२. शब्द° अ०। शब्दात् वि° मु०। तन्न अशब्दात् क०। १३. °मिति न मु० क०। १४. शब्दबाह्या अ० ब०। १५. मेव संक्रान्तं मु० क०। १६. प्रमाणशब्दत्वेना° मु० क०। १७. केवलप्रामाण्यप° मु०। १८. अतः मु० क०। १९. तदा सद्विष° मु०। तदा तद्विष° क०।

[illegible]नि ग्रहणं न व्यवसायादन्यत् । नहि प्रत्यक्षं वस्तु अयःसम्बंधकन्यायेन गृह्णाति । किं तर्हि ? । [illegible] एव तद्ग्रहः । स च शाब्देऽपि समानः । किन्तु स्पष्टास्पष्टत्वकृतो विशेष इति । [५४']

§ १. ननु एवं सर्वागमानां प्रामाण्यमापद्येत । नैवमस्ति । एवं हि सर्वप्रत्यक्षाणामपि प्रामाण्यं स्यात् । अथ तत्र कारणविशुद्धिकृतो विशेषः । अत्रापि समानः इति दर्शयितुं तत्परीक्षाकषादुमाह – तापो इत्यादि ।

तापो आप्तप्रणीतत्वे ज्ञातो रागादिसंक्षयात् ॥ ५४ ॥
कषः पूर्वापराघातश्छेदो मानत्रयान्वयः ।

§ २. इह पुरुषप्रामाण्यात् वचनप्रामाण्यमुक्तम् । पुरुषस्तु त्रिभिर्गुणैः प्रमाणम् । सर्वज्ञत्वेन, वीतरागत्वेन, अमूढत्वेन च । तानेव त्रिभिर्लिङ्गैर्दर्शयति । नाऽवीतरागोऽसत्यं जहाति । न मूढः पूर्वापराव्याहतं वक्ति । नासर्वज्ञः प्रमाणसंवादि वक्ति ।

§ ३. [illegible], किं वा नास्ति ? । [illegible] वीतरागः ? । [illegible] । तदा न प्रेक्षापूर्वकारी । किं च, [illegible] कथं ददाति नेत्यादि(?) तदा कथं वीतरागः ? । अथ न ददाति । तदा किं तेन [illegible]ति ? । नैवमस्ति । दिनकरदृष्टान्तेन चिन्तामण्यादिदृष्टान्तेन हि शास्त्रकारैः समाहितमिति नेह प्रतन्यते ।

§ ४. तदेवं गुणत्रयवैकल्यादागमान्तराणां प्रामाण्यम् । तथाहि लोभादिमूलोऽधर्मः । दानं चाधर्मशोधनम् इति पूर्वापरव्याघातः । वैदा,

"गंगाद्वारे कुशावर्ते बिल्वके नीलपर्वते ।
स्नात्वा कनखले तीर्थे संभवेन्न पुनर्भवे ॥"

इत्यभिधाय पुनरप्युक्तम् –

"विज्ञानकर्दमं शुद्धं सर्वतीर्थं शुभावहम् ।
सातत्योऽपि हि तत्तीर्थं सुरामाण्डमिवाशुचि ॥" [जाबाल० ४.५४]

तथा, "न हिंस्यात् सर्वभूतानि" [छान्दो० अ० ८] इत्यभिधाय पुनर्हिंसाभिधानात् । तथाहि –

"षट्शतानि नियुज्यन्ते पशूनां मध्यमेऽहनि ।
अश्वमेधस्य वचनान्न्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः ॥"

तथा, आगमान्तरप्रणेतॄणामवीतरागत्वम्, अङ्गनासमालिङ्गनात् सुप्रसिद्धमेव । [५५']

§ १. तथा प्रमाणसंवादुत्पादव्ययध्रौव्यात्मकवस्त्वनभिधानादप्रामाण्यमित्याह मल्लवादी –

'विधिनियमभङ्गवृत्तिव्यतिरिक्तत्वादनर्थकवचोवत् ।
जैनादन्यच्छासनमनृतं भवतीति वैधर्म्यम् ॥ ५६ ॥' इति ।

---

१. नैतस्य मु० क० । २. तथा लोभ° अ० मु० । ३. तथा च गं° क० । ४. °वर्ते वैल्वके क० । °वर्ते वैल्वके मु० । ५. कनकखले अ० ब० । ६. °नात् तथा आग° मु० । ७. °ब० मु० क० आदर्शेषु नास्तीदं पदम् सं० । ८. °वृत्तिरिक्त क० । ९. °तीति वैधर्म्यमिति तथाहि क० । °तीति वैधर्म्यमिति वैधर्म्यप्रयोगः मु० ।

§२. वैधर्म्यमिति वैधर्म्यप्रयोगः। तथाहि—उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वेन सत्त्वं व्याप्तम्। तद्व्यापकाभावाद् व्याप्याभावप्रतिपादनं वैधर्म्यप्रयोगः। विधिश्च नियमश्च भङ्गश्च ते तथोक्ताः। तेषु वृत्तिस्तदभिधानम्। तद्व्यतिरिक्तत्वात् तद्रहितत्वात्। तैर्वादन्यच्छासनमिति। शास्यन्ते जीवादयोऽनेनेति शासन-मागमः जिनप्रणीतः। तस्मादन्यत्सांख्यादि। अमूर्तं असत्यार्थं भवति अयथार्थतत्त्वप्रतिपादकत्वेन उन्मत्तकप्रलपनमिव। यद्वा, अनर्थकं च तद्वचनं दशदाडिमादिवाक्यवत्। विधिरुत्पादः, भङ्गो व्ययः, नियमो ध्रौव्यमिति तदात्मकं सैकलमेव वस्तु, तस्य साकल्येनाप्रतिपादनाद् आगमान्तराणां न प्रामाण्यमिति।

अन्य-शासन-स्याप्रामा-ण्यम्।

§३. नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता हि सप्त नयाः। तत्र द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकौ मूलनयौ। शेषास्तद्भेदाः। तदुक्तम्।

"दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य सेसा वियप्पा सिं"॥ [सन्मति १.३]

तत्र कापिलं शुद्धद्रव्यार्थिकम्। बौद्धं शुद्धपर्यायार्थिकम्। शेषदर्शनानि शुद्धाशुद्धानि इति।

§४. तत्र सांख्यो ध्रौव्यमेव प्रतिपन्नवान्। न विधिनियमौ। तस्य हि न किंचिदुत्पद्यते नापि विनश्यति। तदुक्तम्—

"असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत् कार्यम्॥" [सांख्य० ९]

एवं पञ्चभिः हेतुभिः सत्कार्यवादः समर्थितः। तथाहि—असत् यत् न केनापि क्रियते यथा आकाशकुसुमम्। असच्च परमतेन प्रागुत्पत्तेः कार्यमिति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः। न चैवम्। तस्मात् सत् कारणे कार्यमिति। तथा, उपादानग्रहणादिति। उपादानं कारणं तस्य नियतस्यैव ग्रहणम्। अन्यथा सर्वस्यैव असत्त्वाविशेषाद् ग्रहणं स्यात् न वा क्वचित्। न चैवम्। अतः सत् कार्यमिति। तथा सर्वसंभवाऽभावाद् इति। सर्वस्मात् सर्वं कार्यमुत्पद्येत। पूर्वं कारणाश्रयणेन प्रसंग उक्तः, संप्रति तु कार्याश्रयणेनेति विशेषः। न च सर्वं सर्वतो भवति। तस्मादयं नियमः। तत्रैव तस्य सद्भावादिति। तथा, शक्तस्य शक्यकरणादिति। यद्यप्यसत्कार्यवादिभिर्नियतमेव कारणं नियतकार्यकरणशक्तिमुपेयते, तथापि शक्यमेव कार्यं करोति। यच्च नीरूपं तदनाधेयातिशयम्। तथाभूतं च कथं केन-चिच्छक्येत कर्तुम्। तस्मात् सदेव शक्यते कर्तुम्, नासदिति। तथा, उक्तन्यायादस-त्कार्ये[11] न किंचित् कारणं स्यात्। अस्ति च कारणम्। तदाह[12]—कारणभावाच्च सत्कार्यमिति।

§५. तदसत्। एवं हि न[13] कार्यकारणे स्याताम्। न हि यद् यतोऽव्यतिरिक्तं तत् तस्य कारणं कार्यं वेति व्यपदेष्टुं युक्तम्, कार्यकारणयोर्भिन्नलक्षणत्वात्। अन्यथा हि 'इदं कार्यं कारणम्' इति व्यवस्था न स्यात्। मा भूदिति चेत्; न, अभ्युपगमविरोधात्। तथाहि—

---

१. सत्वं मु०। २. °र्थकमवोचदनर्थका ब०। ३. तद्वचनं च मु० क०। ४. °त्मकस्य° क०। ५. मौलनयौ ब०। ६. व्यक्त° मु०। ७. पञ्चभिः सत्का° अ० मु० ब०। ८. °भिः प्रसङ्गः क०। ९. तस्मात् स्यात् सत् मु०। १०. उपादानकारणं मु० क०। ११. °दसत्कार्ये क० मु०। १२. तथाह अ० मु०। १३. हि कार्य° क०। १४. °कारणतयो° क०।

"मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥" [सांख्य० ३]

इत्यभ्युपगमात् । स[1] बाध्येत । सर्वेषां हि कार्यत्वं कारणत्वं वा प्रसज्येत । यद्वा पुरुषवत् प्र[2]कृतित्वं विकृतित्वं वा सर्वेषां स्यात् । पुरुषस्य वा प्रकृतिविकृतित्वं प्रसज्येत । तदसंबद्धमिदम् । उक्तञ्च ।

"यदेव दधि तत्क्षीरं यत्क्षीरं तद्दधीति च ।
वदता विन्ध्यवासित्वं ख्यापितं विन्ध्यवासिना ॥"

इति ।

§ ६. 'हेतुमत्त्वादिधर्मासंगि व्यक्तम् अव्यक्तमन्यदिति' एतदपि बाध्येत । न हि यद् यतोऽव्यतिरिक्तस्वभावं तत् ततो विपरीतं युक्तम्, रूपान्तरलक्षणत्वाद्वैपरीत्यस्य । सत्त्वरजस्तमसां चैतन्यस्य च भेदे अन्यनिमित्ताभावात् ततश्च [3]यदि न भेदः सर्व[4] विश्वमेकं द्रव्यं स्यात् । सहोत्पत्तिप्रसंगश्च भवेदिति ।

§ ७. अथ नापूर्वरूपोत्पत्त्या कार्यकारणत्वमभ्युपगम्यते यतो रूपाभेदे तद्विरुध्येत । किन्तु प्रधानं महदादिरूपेण परिणमति, सर्प इव कुण्डलादिरूपेणेति । ततो[5] रूपाभेदेऽपि कार्यकारणव्यपदेशो न विरोधमनुभवतीति । तदसत् । परिणामासिद्धेः । तथाहि—किमसौ पूर्वरूपापरि[6]त्यागेन [7]परित्यागेन वा ? । प्रथमपक्षे अवस्थानां सांकर्यं स्यात् । ततश्च वृद्धावस्थायामपि बालाद्यवस्थोपलभ्येर्[8]त । द्वितीयपक्षे न परिणामः स्यात् । पूर्वकं [9]हि स्वरूपं निरुद्धम् अपरं चोत्पन्नमिति कस्य परिणामः ।

§ ८. अपि च तस्यैवान्यथाभावः परिणामो भवद्भिर्वर्ण्यते । स चैकदेशेन, सर्वात्मना वा ? । न तावदेकदेशेन एकस्यैकदेशासंभवात् । नापि सर्वात्मना । पूर्वपदार्थनिरासेन पदार्थान्तरोत्पादप्रसंगात् । अतो न तस्यैवान्यथात्वं युक्तम् । तस्य स्वभावान्तरोत्पादनिबन्धनत्वात् ।

§ ९. व्यवस्थितस्य धर्मिणो धर्मान्तरनिवृत्तौ धर्मान्तरप्रादुर्भावलक्षणः परिणामोऽभ्युपगम्यते [10]न तत्स्वभावान्यथात्वमिति चेत्; [11]तदयुक्तम् । यतो[12] विपद्यमान उत्पद्यमानश्च धर्मो धर्मिणोऽर्थान्तरभूतोऽभ्युपगन्तव्योऽन्यथा धर्मि[13]ण्यवस्थिते तस्य तिरोभावाविर्भा[14]वासंभवात् । तथाहि—यस्मिन्ननुवर्तमाने यो व्यावर्तते स ततो भिन्नो यथा घटे अनुवर्तमाने ततो व्यावर्तमानः पटः । व्यावर्तते च धर्मिण्यनुवर्तमानेऽपि आविर्भावतिरोभावासङ्गी धर्मकलाप इति कथमसौ ततो [15]न भिन्न इति धर्मी तदवस्थ एवेति कथं परिणतो नाम ? । यतो[16] नार्थान्तरभूतयोः [17]घटपटयोरुत्पादविनाशेऽचलितरूपस्य घटादेः परिणामो भवति, अतिप्रसंगात् । अन्यथा चैतन्यमपि परिणामि स्यात् ।

---

१. मात् सर्वे° अ० । २. प्रकृतिलं च सर्वेषां मु० । ३. ततश्च न क० । ४. सर्ववि° अ० ब० मु० । ५. ततः प्रकृते रूपा° मु० क० । ६. पूर्वरूपात्या° अ० ब० । ७. °गेन वा पूर्वरूपपरि° मु० । ८. °लभ्यते अ० । ९. पूर्वकं स्व° क० अ० । १०. °म्यते ननु स्व° मु० क० । ११. चेत् असदेतत् क० मु० । १२. यतः प्रच्यवमान उत्पद्य क० मु० । १३. धर्मिण्यस्थिते अ० ब० मु० । १४. °भावानां सं° क० । १५. ततो भिन्न ब० । ततो नाभिन्न मु० । १६. यथा मु० क० । १७. °तयोः घटयोरु° मु० । °तयोः घटपटयोरु° क० ।

§ १०. तत्संबद्धयो[1]र्धर्मयोरुत्पाद[2]विनाशात् तस्यासौ अभ्युपगम्यते नान्यस्येति चेत्; न, सदसतोः संबन्धाभावेन तत्संबन्धायोगात्[3] । तथाहि—संबन्धो भवन् सतो वा भवेदसतो वेति ? । न तावत् सतः, समधिगताशेष[4]स्वभावस्यान्यानपेक्षितया क्वचिदपि पारतन्त्र्याऽसंभवात् । नाप्यसतः । सर्वोपाख्याविरहतया तस्य क्वचिदप्याश्रितत्वानुपपत्तेः । न हि शशविषाणादिः क्वचिदप्याश्रित उपलब्धः ।

§ ११. न च व्यतिरिक्तधर्मान्तरोत्पादविनाशे सति परिणामो भवद्भिर्व्यवस्थाप्यते । किं तर्हि ? यत्रात्मभूतस्वभावानुवृत्तिरवस्थाभेदश्च[5] तत्रैव तद्व्यवस्था । न चात्यन्तभेदे[6] धर्माणामात्मभूतो धर्मोऽनुवर्तत इति । तत्र[7] भेदे परिणामः कश्चित् । एकान्ताभेदे[8] धर्मो[9] वा स्यात् धर्मी वा । न तत्रापि कश्चित् परिणाम इति ।

§ १२. ननूक्तम्—न सलिलात् कल्लोलानां भेदो नाप्यहेरुत्फणाद्यवस्थानाम्[10], अथ च भिन्ना इव प्रतीयन्ते । तद्वद्धर्माणामाविर्भावतिरोभावमात्रम् परिणामो नापूर्वविधिरिति । अथ कोऽयमाविर्भावः ? । किं स्वभावातिशयोत्पत्तिरुत तद्विषयं विज्ञानम्, आहोस्विद् उपलम्भावरणविगम इति ? । तत्र न तावदाद्यः पक्षः । यतः स्वभावातिशयो यद्यसमुत्पद्यते[11] तदा कथं सत्कार्यवादः ? । अथ सन् तदा नाविर्भावः । अथ तस्याप्यवस्था पूर्वमसती पश्चाद्भवति । ननु साप्यवस्था यदि सती तदा कथं भवति ? । अथ न सती तदा कथं नापूर्वविधिरिति ? । तत्राप्यवस्थान्तराभ्युपगमेऽनवस्था । तन्न स्वभावातिशयोत्पत्तिराविर्भाव इति । नापि तद्विषयं विज्ञानम् । नित्यत्वोपगमात् । तथाहि—भवतां सिद्धान्तः 'संविदासर्ग[12]प्रलयादेकैव बुद्धिः' इति । न च न बुद्धिस्वभावा तद्विषया[13] वित्तिः, किन्तु मनःस्वभावेति वक्तव्यम् । यतो बुद्धिरुपलब्धिरध्यवसायो मनःसंवित्तिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरत्वात् । तन्न तद्विषयं विज्ञानमप्याविर्भावः । नाप्युपलम्भावरणविगमलक्षणः । न हि अनाधेया[14]नपनेयस्वरूपस्य नित्यस्यावरणं किंचित् । भवतु वा, तद्धि सद्वा स्यात् असद्वा ? । यद्यसत् कथं तस्य विगमः ?, स्वत एव तस्य विगमरूपत्वात् । विगमरूपस्याप्यावारकत्वे[15] न कदाचित् उपलम्भो[16]पलम्भः स्यात् । अथ सत् । तदा कथं तस्य विगमः ? । न हि भवन्मतेन किंचिद्विनश्यति । तिरोभावो विनाश इति चेत्; कोऽयं तिरोभावः ? किं स्वरूपविनाशः, पर्यायविनाशो वा, किं वाऽऽवरणयोगः, विज्ञानानुत्पादकत्वं वेति ? । तत्र न तावत् स्वरूप-पर्यायविनाशोऽनभ्युपगमात् । नाप्यावरणयोगो अविचलितरूपस्यावरणायोगात्[17] । अकिंचित्कुर्वाणस्यावरणत्वासंभवात् । अन्यथा जगतोऽपि स्यात् । करणे वा नित्यताहानेः । विज्ञानानुत्पादकत्वमप्ययुक्तम्[18] । येन हि[19] स्वरूपेण ज्ञानमकार्षीत् तस्य विद्यमानत्वात् सहकारिणोऽकिंचित्करत्वेन निरस्तत्वात् । तदेवमुत्पादव्ययावपि प्रमाणोपपन्नाविति तदनभ्युपगच्छतो द्रव्यास्तिकनयवादिनो मिथ्यात्वमिति ।

---

१. संबन्धयो° अ० मु० क० । २. °रुत्पाद्य वि° अ० । ३. °संबन्धित्वायो° मु० क० । ४. °गतशेष° क० । ५. °भेदस्य तत्रैव अ० । ६. नचात्यन्त्यभेदे अ० । न चासन्तभेदे क० । ७. इति न भेदे अ० ब० । ८. एकान्तभेदे मु० क० । ९. धर्माः वा स्युः धर्मी मु० क० । १०. °वस्था अथ मु० क० । ११. यद्यसदुत्प° मु० । १२. संविदसर्ग° अ० । १३. °स्वभावातिविषया अ० । °स्वभावो तद्विषया संवितिः मु० क० । १४. अनाधिया° अ० । १५. °स्यावारक° क० । १६. चित् उपलम्भः स्यात् मु० ब० । १७. °रूपस्यायोगात् अ० ब० मु० । १८. °त्वमस्य यु° मु० क० । १९. येन स्वरू° ब० ।

§ १३. एतेन आकाशकालदिगात्ममनःशब्दानां केवलं ध्रौव्यमभ्युपगच्छन्तोऽशुद्धनयवादिनो निरस्ता इति । प्रमाणासंबाधार्थाभिधानात् । तथा हि—आत्मनः सर्वव्यापित्वं न प्रमाणसंबाधि । तद्धि प्रत्यक्षं वा स्यादनुमानं वा ? । न तावत् प्रत्यक्षम् परोक्षत्वेनाभ्युपगमात् । यस्याप्यभ्युपगमः सोऽपि न युक्तवादी यतः तत् प्रत्यक्षं नेन्द्रियजन्यम् अभ्युपगम्यते किन्तु आत्ममनःसन्निकर्षजम् । न च कूटस्थस्य प्रागिव मनसा संयोगः संभवति । तस्य हि यदसंयुक्तं रूपं तत् संयोगकाले किमस्ति किं वा नास्ति ? । यद्यस्ति तदा न मनसा संयुज्यते । तथाहि—यदसंयुक्तरूपं तन्न मनसा संयुज्यते । यथा मुक्तात्मादि । असंयुक्तरूपश्च आत्मा पूर्वावस्थायामिति स्वभावविरुद्धोपलब्धिरिति । संयुक्तासंयुक्तस्वरूपयोः परस्परपरिहारेणावस्थानात् । अथैकरूपत्वं न स्वरूपद्वयम्[1] । तेन नासंयुक्तस्वरूपः, सर्वदैव तद्रूपत्वात् । नैतदस्ति । यतो नैकरूपस्य संसरणं स्यात् । तथाहि—यदि कर्तृस्वरूपः तदा न भोक्तृस्वरूपः । अथ भोक्तृस्वरूपस्तदा न कर्तृस्वरूपः । यदि बद्ध[2]स्वभावो न मुक्तस्वभावः । अथ मुक्तस्वभावः, तदा न बद्धस्वभाव इति । किंच, दिगादिभिरपि मनसः संयोगः किं न भवति ? । अनात्मरूपत्वादिति चेत्; न, सर्वव्यापित्वे कूटस्थनित्यत्वे [3]महत्त्वे च सति कथमयं विभागोऽयमात्माऽनात्माऽयमिति[4] ? । यस्य मनःसंबन्धः स आत्मा तदन्योऽनात्मेति चेत्; न, इतरेतराश्रयत्वप्रसंगात् । सत्यात्मत्वे मनःसंबन्धः, सति मनःसंबन्धे आत्मत्वमिति । शरीरसंबन्धेन[5] आत्मा तदन्योऽनात्मेति चेदुच्येत तत्रेदमुच्यते[6]—शरीरसंबन्धोऽपि आकाशादिभिः किं न भवति ? । अनात्मरूपत्वात् । नोत्तरमितरेतराश्रयत्वाभिधानात् । तन्नात्ममनःसन्निकर्षोत्पन्नप्रत्यक्षाधिगम्यः । नाप्यनुमानगम्यः । तदभावे तस्याप्यभावात् ।

आत्मनः सर्वगतत्वस्य खण्डनम् ।

§ १४. अथ 'सर्वगत आत्मा, सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वात्' अतः सर्वगतस्यात्मनः सिद्धिः । तथाहि—सुखदुःखसाधकवस्तूत्पादो देशान्तरे नाहेतुकः । न चादृष्टादन्यः सुखादेर्हेतुः । न चादृष्टस्यानाधारस्य[7] गुणत्वात् तत्र सत्त्वम् । न चासत्त्वे कार्यकर्तृत्वमिति आत्मनः तत्रापि सत्त्वमिति[8] । नैतदस्ति । यतः तत्रात्मनः सत्त्वे सुखाद्युपलम्भः किं न भवति ? । एकार्थसमवायिनो ज्ञानस्याभावादिति चेत्; तदपि तत्र किं न भवति ? । शरीराभावादिति चेत्; तत् किं शरीरे समवेतं किं वा आत्मनि ? । यदि शरीरे तदा शरीरं भोक्तृ स्यात् नात्मा । न चैषोऽभ्युपगमः परस्य । अथ आत्मनि । तदा सर्वत्रात्मनो विद्यमानत्वात् समवायस्य च व्यापित्वात् सर्वत्र सुखाद्युपलब्धिः स्यात् । मनःशरीरविशिष्टस्यैवोपलब्धिः नान्यस्येति[9] चेत्; न, एकत्वहानेः । तथाहि—यस्मिन् विशिष्यमाणे[10] यन्न विशिष्यते तत् ततो भिन्नम् । यथा नीलत्वेन विशिष्यमाणे [11]पटे अविशिष्यमाणो घटः । न विशिष्यते च शरीरात्मनि विशिष्यमाणे[12] देशान्तरस्थ आत्मेति ।

§ १५. किंच, शरीरात्मनि स्थितमदृष्टं देशान्तरस्थसुखादि[13]साधकवस्तूत्पादकमस्तु[14] किं तत्र

---

१. °रूपस्य तस्य रूपद्वयं मु० क० । २. बन्ध° मु० क० । ३. °नित्यत्वे जडत्वे च मु० क० । ४. विभागोऽयमात्मा अयमिति अ० । ५. °संबन्धित्वादात्मा अ० । ६. °मुच्येत मु० क० । ७. °स्थानधारकस्य मु० क० । ८. °मिति यतः क० । ९. °न्यत्रेति अ० ब० क० । १०. विशेष्य° अ० । ११. घटे मु० । १२. °माणो देशा° मु० क० । १३. सुखादि क० । १४. °साधकमस्तु अ० ब० मु० ।

अदृष्ट[1]कल्पनया ? । दूरत्वान्न इति चेत्; कथं चन्द्रादयो विज्ञानोत्पादकाः ? । तस्मान्नास्ति[2] नियमः – सन्निहितेनैव कारणेन कार्यमुत्पादनीयम्, न दूरस्थेनेति । तेन सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वेनात्मनः सर्वगतत्वम् । इत्येकान्[3]ताभेदवादिनो मिथ्यावादिन इति ।

क्षणभङ्गवादिनः पूर्वपक्षः ।

§ १६. तथा, एकान्तभेदवादिनोऽभिदधति – विनाशस्याहेतुक[4]त्वाद् उदयानन्तरं ध्वंसात् कुतो द्रव्यस्य संभव इति । तथाहि – ये यद्भावं प्रत्य[5]नपेक्षाः ते तद्भावनियताः । यथा अन्त्या कारणसामग्री स्वकार्योत्पादने । अनपेक्षा[6]श्च विनाशं प्रति भावा[7] इति । तथाहि विनाशहेतुना किं स्वरूपं क्रियते, किं वाऽभावः क्रियते ? । न तावत् स्वरूपम् । तस्य स्व[8]हेतोरेवोत्पन्नत्वात् । किं च, तत् स्वरूपं नित्यम्, अथानित्यम् ? । यदि नित्यं तदा[9] तस्याविना[10]श्यत्वात् अकिंचित्करो विनाशहेतुः । अथानित्यं तदा तस्य स्वत एव नश्वरत्वात् किं विनाशहेतुना ? । अथ कालान्तरस्थायिनो[11] विनाशहेतुना विनाशः क्रियते । न, कालान्तरस्थायित्वे नित्यतैव स्यात् । येन हि[12] स्वभावेन भावः संवत्स[13]रं स्थितः स चेत् संवत्सरान्तेऽपि स्वभावः, पुनरन्यत् संवत्सरान्तरमासितव्यम् । तत्राप्येवमिति कालान्तरस्थायित्वाभ्युपगमे नित्यतैवापतति । तन्न पक्षान्तरसंभव इति । तत्र च विनाशहेतोरकिंचित्करत्वमिति । तन्न स्वरूपकरणाद्विनाशहेतुरिति ।

§ १७. अथा[14]भावं करोति । तदपि नास्ति । यस्मादभावः किं पर्युदासरूपः किं वा प्रसज्यरूपः ? । तत्र न तावत् पर्युदासरूपः, तस्य[15] वस्त्वन्तरलक्षणत्वात् । तत्करणे न विनाश्यस्य किंचित् कृतं स्या[16]त् । तथाहि – मुद्गराद् यदि कपालानामुत्पादो घटस्य किमायातम् ? । त[17]दंशेन (तद्ध्वंसेन) तेषामुत्पादादिति चेत्; तदुत्पादेऽन्यस्य ध्वंसः किं न भवति ? । तस्यैव निवृ[18]त्तेरिति चेत्; न, निवृत्तेर्वस्त्वन्तररूपत्वात् तदुत्पादे सर्वस्य स्यात् न वा कस्यचिदपि[19] विशेषाभावादिति । असंबद्धं[20] च स्यात् । तथाहि – कपालोत्पत्तौ कपालोत्पत्तिरिति ।

§ १८. अपि च ध्वंसोऽपि किं घटस्वरूपः ? किं वा अर्थान्तरमिति ? किं वा तुच्छरूप इति ? । तदेवावर्तत इति अनवस्था । तन्नार्थान्तररूपाभावकरणे भावस्य किंचित्स्यात् । किन्तु स्वरसत एव निवर्तमानो घटक्षणो मुद्गरादिसहकारिकारणं प्राप्य कपालान्युत्पादयति । तदुत्पत्तौ च विजातीयसन्तानोत्पादे 'नाशितो घटः' इति जनस्याभि[21]मान इति ।

§ १९. अथ प्रसज्यरूपमभावं करोति । तदपि नास्ति । निरूपस्य कर्तुमशक्यत्वात् । करणे वा भावरूपतैव स्यात् । यतो भवतीति भावोऽभिधीयते । नान्यद्भावस्यापि लक्षणम् । अथ भावो भावरूपतया भवति अभावोऽभावरूपतयेति । विचित्ररूपा हि पदार्था भवन्ति । न हि नीलं पीतरूपतया भवति । तदप्यसत् । यतः केनचिद्रूपेणोन्मज्जनं हि भवनमभि-

---

१. अदृष्टपरिक° क० । २. तत्र मु० क० । ३. °कान्तभेद° मु० क० । ४. °हेतुत्वात् अ० ब० । ५. प्रत्यपेक्षाः अ० मु० क० । ६. अनपेक्षश्च मु० क० । ७. भाव इति मु० क० । ८. तस्य हेतोरुत्प° मु० क० । ९. नित्यं तस्या° मु० क० । १०. °विनश्य° क० । ११. °स्थायिना वि° क० । १२. येन स्व° मु० क० । १३. संवत्सरः क० । १४. अथ भावं क० । अथ भावं न करोति मु० । १५. तस्याव-स्थान्तरल° क० । १६. कृतं तथाहि मु० । १७. तदंशेन तेषा° अ० तच्चांशेन तेषा° मु० । १८. निवृत्ति-रिति मु० क० । १९. °चिदभावादिति मु० क० । २०. असंबन्धं स्यात् मु० क० । २१. °भिधान इवि मु० क० ।

धीयते। सर्वोपाख्यारहितस्य निरूपत्वात् न कस्यचिद्रूपस्य करणमिति कथं तत्र हेतुव्यापारः फलवानिति। तस्मात् अभावं करोति[1]–भावं न करोतीति क्रियाप्रतिषेधमात्रं स्यात्। तस्माद्विनाशस्य अहेतुकत्वाद् उदयानन्तरं ध्वंसः। कुतोऽनुगतस्य रूपस्य [2]संभवो येन त्रैरूप्यं वस्तुनः स्यादिति ?।

§२०. अपि च, एकरूपत्वे वस्तुनः प्रथमे क्षणे यद्रूपं तदेव यदि द्वितीयादिष्वपि तदोत्पत्तिरूपत्वात् प्रथमक्षणस्येव सर्वेषामुत्पत्तिरूपता स्यादिति प्रतिक्षणमुत्पादे न कस्यचित् स्थितिरिति। अथ प्रथमे[3] क्षणे उत्पत्तिः द्वितीयादिषु तु स्थितिरिति। तदा [4]उत्पत्तिस्थित्योरुत्पत्तिस्थितिमद्भ्यां न भेद इति तयोरपि भेद[5] इत्यादिना क्षणिकस्य वस्तुनः सिद्धेः कुतो द्रव्यस्य संभव इति ?।

क्षणभङ्गभङ्गः।

§२१. अत्र वदन्ति। यद्यहेतुकत्वं नाशस्य तदा नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा स्यात्। तत्र यदि घटाभावस्य सत्त्वं तदा [6]अहेतोर्देशकालनियमाभावाज्जगति घटस्य नामापि न स्यात्। अथाऽसत्त्वं तदा घटस्य नित्यत्वं व्यापित्वं वा प्रसज्येत। अथ न घटात् तद[7]भावस्य भेदः। एवं[8] तर्हि कथमभावस्याहेतुकत्वम् ?। अन्यथा घटस्या[9]प्यहेतुकता स्यात्। अथ घटहेतोरन्यो न [10]मुद्गरादिर्हेतुरित्यहेतुकतोच्यते। यद्येवं प्रथमेऽपि क्षणे न घटस्य सत्त्वं स्यात्, विरोधिनः[11] संनिधानात्।

§२२. ननूक्तम्–न स्वरूपादन्यो[ऽ]भाव इति कः केन विरुध्यते ?। यद्येवं तदा घटस्य नित्यत्वं व्यापित्वं च स्यात्। तथाहि–यस्य यत्र स्वरूपं तस्य तत्र सत्त्वम्। यथा प्रथमे क्षणे घटस्य। अस्ति च सर्वत्र देशे[12] काले घटस्य स्वरूपभूतोऽभाव इति। अथ स्वहेतोरेकक्षणस्थायी घट उत्पद्यते तेन तदात्मको विनाशः कथ्यते। न पुनर्विनाशो नाम कश्चिद् विग्रहवानिति। तेन द्वितीये क्षणे स[13] एव न भवति। न पुनस्तस्य किंचिद् भवति। अथ द्वितीये क्षणे घटस्य किं सत्त्वं किं वाऽसत्त्वम् ?। यदि सत्त्वं कथं क्षणिकत्वम् ? अथासत्त्वम् तदा तदसत्त्वम् यद्यहेतुकं तदा प्रथमेऽपि क्षणे किं न भवति ?। अथ तदसत्त्वं न किंचिद् येन प्रथमेऽपि क्षणे स्यात्। यदि तन्न किंचिद् किं न घटो भवति ?।

§२३. अथ द्वितीयादिक्षणेषु तुच्छरूपोऽस्याऽभावो भवति तेन न सत्त्वमिति। प्रथमे क्षणे तुच्छरूपाभावाभावात् सत्त्वमिति। ननु तुच्छरूपोऽभावः किं घटादभिन्नः किं वा भिन्न इति ?। यद्यभिन्नः तदा[14] पूर्वः प्रसंगः–प्रथमेऽपि क्षणे सत्त्वं न स्यात्, सर्वदेशकालेषु वा सत्त्वं स्यात् इति। अथ भिन्नः स किं निर्हेतुकः किं वा हेतुमानिति ?। यद्यहेतुकः तदा प्रथमेऽपि क्षणे घटस्य सत्त्वं न स्यात् अहेतुकत्वात् तस्य तत्रापि भावात्। अथ हेतुमांस्तदा कथमहेतुकोऽभावः इति ?।

§२४. अपि च तुच्छरूपाभावोत्पत्तौ द्वितीयादि क्षणेषु यदि घटो न भवति त्रैलोक्यमपि[15] किन्न न भवति ?। तत्संबन्धिनोऽभावस्योत्[16]पत्तेः स एव न भवति न तु[17] त्रैलोक्यमिति

१. करोतीति न करो° ब०। २. सद्भावो क०। ३. प्रथमक्षणे मु०। ४. तदोत्पत्तिस्थितिमद्भ्यां क० मु०। ५. भेदे इत्या° अ० ब०। ६. तदा हेतो मु०। ७. तदाभा° क०। ८. भेदः तर्हि मु०। ९. घटस्याप्य° मु०। १०. न मुद्गरादेर्हेतुकतोच्यते अ०। ११. विरोधिनि क०। १२. देशकाले मु० क०। १३. क्षणे एव मु० क०। १४. तथा अ० ब०। १५. °मपि न किन्न भ° मु० क०। १६. त्पत्तौ स अ०। १७. न त्रैलो° ब० मु० क०।

चेत्; कः संबन्धः ? । न तावत् तादात्म्यम्, तत्र पूर्वमेवोक्तं दूषणम् । अथ तदुत्पत्तिः । तदपि नास्ति[1] यतः किम् अभावेन घटो जन्यते किं वा घटेन अभाव[2] इति ? । तत्र यद्यभावेन घटो जन्यते तदा तत्कारण[3]वैफल्यं स्यात् । सर्वत्र च घटस्य सत्त्वं भवेदिति । अथ घटेनाभावो जन्यते तदा कथमहेतुकत्वम् ? । द्वितीयश्च घटक्षणोऽभावेन व्यवहितोत्पत्तिः स्यात् । अथ द्वितीय[4]घटक्षण एव प्रथमस्याभावो नान्यो[5]ऽभावोऽन्तराले कश्चिदिति । ननु तस्य क्षणिकत्वात् तद्विनाशे प्रथमघटस्योत्पत्तिः स्यात् । एवं कपालविनाशेपि ।

§२५. अपि च यदि वस्त्वन्तरमेवाभावः तदा यदुक्तं—'पर्युदास एवैको नञर्थः स्यात् सोऽपि वा न भवेत् । यदि हि किंचित् कुतश्चिद् व्यावर्तेत तदा तद्व्यतिरेकि[6] संस्पृश्येत तत्पर्युदासेन अन्यथा घटो न भवतीत्युक्ते पटो भवति इति पटस्य विधिरेवोक्तः स्यात् न घटस्य निवृत्तिरिति' [7]विरुध्येत । तस्मात् सुदूरमपि गत्वा वस्तूभयात्मकमभ्युपगन्तव्यम् । स्वरूपेण सत् पररूपेणासदिति । तेन भाववत् तदभावोऽपि हेतुमानिति ।

§२६. अपि चैवमेकान्तवादिनो जन्माप्यहेतुकं स्यात् । तथाहि—कारणेन कार्यस्य किं जन्म भिन्नं क्रियते [8]किं वाऽभिन्नं क्रियते[9] ? । यदि भिन्नं क्रियते तदा कार्यस्य न किंचित् कृतं स्यात् । तत्संबन्धित्वं[10] च [11]संबन्धनिरासात् निरस्तम् । अथाभिन्नं क्रियते तदा तदेव क्रियते न जन्म । तच्च किं विद्यमानं क्रियते किं वा अविद्यमानम्[12] ? । यदि विद्यमानं तदा किं क्रियते ? । अथा[13]विद्यमानं तदा शशविषाणमपि क्रियेत । अथा[14]विद्यमानमेव क्रियते न तु अविद्यमानं क्रियत एव । तेन यस्य कारणमस्ति तत् क्रियते यस्य नास्ति तन्न क्रियते । ननु[15] अविद्यमानत्वा[16]विशेषेऽपि मृत्पिण्डो घटस्यैव कारणं न शशविषाणस्ये[17]ति किं कुतो नियमः ? । अथ यस्योत्पत्तिर्दृश्यते तस्य कारणं नेतरस्य । ननु अविद्यमानत्वाविशेषेऽपि एकस्योत्पत्तिर्नान्यस्येति कुतः ? । वस्तुस्वभावैरुत्तरं वाच्यमिति चेत्; एवं तर्हि हेतुमद्विनाशवाद्यप्येतद्वक्तुं शक्नोति । कपालोत्पत्तौ घटस्यैवा[18]भावः क्रियते नान्यस्येति वस्तुस्वभावैरुत्तरं वाच्यमिति । तद्युक्तिवादिना पादप्रसारणं न कर्तव्यम् किन्तु युक्तिरनुसरणीया ।

§२७. तत्रैकान्तवादे उत्पादव्ययौ [19]निर्युक्तिकाविति । अनेकान्तवाद एव युक्तिभारसह इति[20] तदेव वस्तु केनचिद्रूपेण विनश्यति केनचिदुत्पद्यते[21] नैकान्तेनासदुत्पद्यते नाप्येकान्तेन विनश्यति इति युक्तं । तदेवमुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं वस्त्वनभिदधानानि आगमान्तराणि मिथ्यावादीनि इति । तस्मात् सूक्तम्—जैनादन्यच्छासनमनृतं भवतीति ।

§२८. ननु भवतु विधिनियमभङ्गवृत्तिव्य[22]तिरिक्तत्वादन्यच्छासनमनृतमनन्व(मन्व)-

---

१. नास्तीति यतः क० । २. घटेनेति अ० । ३. तत्करण° मु० क० । ४. द्वितीये घट° अ० । ५. नाद्योऽ मु० क० । ६. °तिरेके सं° मु० क० । ७. विधिरुच्येत मु० क० । ८. भिन्नं क्रियते यदि क० । ९. वाऽभिन्नं यदि मु० । १०. तत्संबंधिनिरासात् अ० । तत्संबन्धनिरासात् मु० क० । ११. संबंधित्वनिरा° ब० । १२. °मानं क्रियते यदि ब० मु० । १३. क्रियते तदा मु० क० । १४. तथा° मु० क० । १५. न तु अ० । १६. त्वविशे° मु० क० । १७. स्यापि किं अ० ब० । १८. स्यैव कि° मु० । १९. °यौ न युक्ति° मु० क० । २०. इत्यादि अ० ब० । २१. °द्यते नाप्येका° अ० । २२. व्यक्तिरि° अ० ।

स्वपुषां त्व[1]भ्युपगमः कथम् ?, तस्य हि विधिनियमभङ्गवृत्त्यव्यतिरिक्तत्वादिति । तेऽपि स्त्रीणाममोक्षमनागममभ्युपेताः तेन मिथ्यादृश इति । तदुक्तम् ।

"पयमक्खरं च [2]एगं जो न रोए[3]इ सुत्तनिद्दिट्ठं ।
सेसं रोतन्तो वि हु मिच्छद्दिट्ठी जमालि व्व ॥"

तथाहि—यथा तिर्यग्नारकामरासंख्यातायुःसम्मूर्च्छजनरेषु रत्नत्रयस्य निर्वाणहेतोरभावोऽभिहितोऽर्हता तथा न योषासु तथापि ते तत्र तदभावं प्रतिपन्ना इति । नापि प्रत्यक्षेण रत्नत्रयस्याभावः, परचेतोवृत्तीनां दुरन्वयत्वात् । नाप्यनु[4]मानेन प्रत्यक्षाभावे तस्याप्यभावात् । तदेवं प्रत्यक्षानुमानाग[5]माबाधितं ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणं रत्नत्रयमविकलं कारणं निर्वाणस्य स्त्रीष्वस्तीति कथमनिर्मोक्ष इति । प्रयोगः—यदविकलं का[6]रणं तदवश्यमेव कार्यमुत्पादयति यथा अन्त्या बीजादिसामग्री अङ्कुरादिकम् । अविकलं च निःश्रेयसकारणं योषित्स्विति ।

§२९. अ[7]थाधस्तादुत्कृष्टगमनवद् उपरिष्टादप्युत्कृष्टगमनासंभवः तासामिति स्त्रीत्वे[8]नैव विरुद्धं रत्नत्रयमित्यसिद्धो हेतुरिति चेत्; न, प्रतिबन्धाभावात् । न हि सप्तमपृथ्वीगमनाभा[9]वो मोक्षाभावेन व्याप्तो[10] विपर्यये व्याप्तेरसिद्धेः । इ[11]ह यद्यत्र नियम्यते तद्विपर्ययेण तद्विपक्षस्य व्याप्तौ नियमः सिध्यति । यथा वह्निना धूमस्य व्याप्तौ धूमाभावेन वह्न्यभावस्य व्याप्तिः । यथा वा शिंशपात्वस्य वृक्षत्वेन व्याप्तौ वृक्षत्वाभावस्य शिंशपात्वाभावेन व्याप्तिरिति । न चैवं सप्तमपृथ्वी[12]गमनं कारणं मोक्षगमनस्य नापि तदात्मकम् येन विपर्ययव्याप्तिः स्यादिति । न चाव्याप[13]कनिवृत्तावपि व्याप्यस्य निवृत्ति[14]रतिप्रसंगात् । न च स्त्रीत्वेनाविकलकारणं भवन्निर्वाणकारणं निवर्त्यमानमुपलब्धम् । येन [15]विरोधादसिद्धो हेतुः स्यादिति ।

§३०. न चोत्कृष्टाशुभपरिणामेन उत्कृष्टशुभपरिणामस्य व्याप्तिः येन तदभावे तस्याप्यभावतः प्रकृष्टाशुभार्जनायोग्यत्वे प्रकृष्टशुभार्जनायोग्यत्वं तासां स्यादिति । उक्तं च ।

"विषमगतयोऽप्यधस्तात् उपरिष्टात्तुल्यमासहस्रारम् ।
गच्छन्ति च तिर्यञ्चस्तदधोगतिन्यूनताऽहेतुः ॥" [स्त्रीमु० श्लो० ६]
"श्रूयन्ते चानन्ताः सामायिकमात्रपदसिद्धाः ॥" [तत्त्वार्थसं० का० २७]

इति वचनात् नोत्कृष्टश्रुताभावेन सिद्ध्यभावः स्त्रीणामिति ।

§३१. न च वस्त्रेण व्यवधानं निर्वाणस्य, अन्यथा तद्रहितानां तस्य सत्त्वं स्यात् । मोहयुक्तत्वात् [न] इति चेत्; स[16] एव तर्हि परिग्रहोऽस्तु न वस्त्रादिरिति । अन्यथा "कप्पइ निग्गंथाणं निग्गंथीणं समणीणं" ति व्यपदेशो न स्यात् । तेन मूर्च्छां परिग्रहं वर्णयन्ति नोपकरणम् । तेन पुंसा[17]मपि वस्त्रपात्रादि धर्मोपकरणं न परिग्रह इति । तदुक्तम् ।

"यत् संयमोपकाराय वर्तते प्रोक्तमेतदुपकरणम् ।
धर्मस्य हि तत् साधनमतोऽन्यदधिकरणमाहार्हन् ॥" [स्त्रीमु० श्लो० १२]

---

१. त्वनभ्यु° ब० । २. एगं पि जो ब० । ३. रोवइ ब० । ४. °मानेन अप्रत्यक्षे एतस्य मु० । ५. °गमबाधि° क० । ६. °विकलका° ब० । ७. अधस्ता° ब० मु० क० । ८. °नैव निरुद्धं अ० ब० । ९. गमनामोक्ष° अ० । गमनाभावे मोक्षा° क० । १०. व्याप्तिः मु० क० । ११. इत आरभ्य 'प्रोक्तमेतदुपकर° [पं० २९] पर्यन्तं मु० प्रतौ नास्ति सं० । १२. गमकं अ० । १३. °पकत्वनिवृत्तावव्याप्यस्य अ० । १४. निवृत्तिरिति प्रसं° अ० । १५. विरुद्धादसि ब० । १६. स च एव परि° क० । १७. पुंसामिति वस्त्र अ० ।

§ ३२. अपि च, संसारस्य[1] किं कारणं वस्त्रादिः, किं वा रागादिरिति ? यदि वस्त्रादिः तदा तद्रहितानां मोक्षः स्यात् । अथ रागादिः तदा तद्विपक्षसेवया रागादिक्षयो न वस्त्रादित्यागेन । अथ वस्त्रादिधावनादौ हिंसा भवति । सा च संसारकारणमिति । तन्न, अप्रमत्तस्य हिंसायामपि बन्धाभावात् । तदुक्तम्—

"जियउ य मरउ य जीवो अजयाचारिस्स निच्छओ[2] बन्धो ॥
पययस्स नत्थि बन्धो हिंसामेत्तेण[3] दोसेण ॥" [प्रवच० ३. १७]
"उच्चालियम्मि पाए ईरियासमियस्स वट्टमाणस्स[4] ।
वावज्जेज्ज कुलिंगी मरेज्ज तं[5] जोगमासज्ज ॥
न[6] हु तस्स तण्णिमित्तो बन्धो सुहुमो वि देसिओ समए ॥"
[ओघ० ७४८–७४९]

तस्मात् प्रमादादिरेव हिंसा न वस्त्रादिधर्मोपकरणग्रहणमिति ।

§ ३३. अवन्द्याः स्त्रियः । तेन न निर्वान्तीति चेत्; ननु[7] कस्यावन्द्याः ? । किं सर्वस्य, किं वा एकस्य कस्यचिदिति ? । न तावत् प्रथमः पक्षः; चक्रवर्त्यादिभिर्वन्द्यत्वात् । द्वितीयपक्षे तु गणधरादीनामप्यनिर्मोक्षत्वप्रसंगः[8] । तेऽपि हि नार्हता वन्द्यन्ते । अथ महत्त्वे[9] सत्यवन्द्यत्वात् इत्युच्यते । तथाहि—महतीभिरपि[10] दिनदीक्षितो[11] वन्द्यते । न पुनस्तास्तेनेति । नैतदस्ति । महत्त्वामहत्त्वव्यवस्थितेरागमनिबन्धनत्वात् । 'धर्मस्य पुरुषप्रधानत्वात् तेन पुरुषस्य महत्त्वं न स्त्रीणाम्' इति आगमः ।

§ ३४. अतिसंक्लिष्टकर्मत्वादिति चेत् । न, कर्मलाघवस्य सम्यक्त्वादिप्राप्तौ तुल्यत्वात् ।

§ ३५. मायाप्रधानत्वात् सत्त्वरहितत्वात् इत्यपि न वक्तव्यम् । यतः—

"शीलाम्बुरोधवेला:[12] गुणरत्नसमुज्ज्वला अतिस्वच्छाः ।
राज्यमपहाय साध्व्यः संजाताः सत्यभामाद्याः ॥"
"गार्हस्थ्येऽपि सुसत्त्वाः विख्याताः शीलवत्तया जगति ।
सीतादयः कथं तास्तपसि विसत्त्वा विशीलाश्च ? ॥" [स्त्रीमु० ३१]

§ ३६. अपि च यदि न स्त्रीणां मोक्षोऽस्ति तदाऽयमागमः कथम् ?

"अट्ठसयमेगसमए पुरिसाणं निव्वुई समक्खाया ।
थीलिंगेण य वीसं सेसा दसगं तु[13] बोद्धव्वा ॥"

औपचारिकत्वादस्येति चेत्—पुरुषस्यापि[14] स्त्रीवेदोदये सति स्त्रीवद् व्यवहृतिर्यथा लोके[15] पुरुषकार्याकरणात् पुरुषोऽपि स्त्रीति व्यवह्रियते । तदसत् । मुख्ये बाधकाभावात् । अन्यथा सर्वशब्दानां व्यवस्था[16] विलुप्येत । किं च, आप्ता अप्यौपचारिकशब्दैर्यदि वस्तु प्रतिपादयेयुः तदाऽऽप्तता हीयेत । प्रयोजनं चोपचारस्य न किंचिदस्ति । वेदोदये तत्संभवप्रतिपादनं

---

१. °रस्य कारणं अ० । २. निच्छिदा हिंसा प्रवच० । ३. हिंसामित्तेण समिदस्स प्रवच० । ४. वचमा° मु० । °यस्स संकमट्ठाए ओघ० । ५. तज्जोग° मु० अ० ब० । ६. न य तस्स ओघ० । ७. चेत् कस्या° क० मु० । ८. गणधराणाम° अ० । ९. महत्त्वेपि सत्य° क० मु० । १०. °भिर्दिन मु० । ११. °क्षितोपि व° मु० क० । १२. शीलानुरोधवलाः मु० । शीलाम्बुरोधवलाः क० । १३. दसगं च बो° अ० ब० । १४. °स्यापि हि स्त्री° क० । १५. लोकेषु क० । १६. स्थाऽपह्न अ० ब० ।

प्रयोजनमिति चेत् । न, क्षीणवेदस्यैव निर्वाणप्राप्तेः । न च स्त्रीवेदोदये सति क्षपकश्रेण्यारम्भकत्वं येन तथा व्यपदेशः स्यात् । न हि दोषवन्तो गुणश्रेणिमारभन्ते । अथ कदाचित् तस्य स्त्रीवेदोदय आसीत् तेन तथा व्यपदेशः, तर्हि क्रोधाद्युदयोऽपि कदाचित् आसीत्, तेन किन्न व्यपदिश्यन्ते क्रोधवन्तः इयन्तः सिध्यन्तीति । तस्मात् औपचारिकत्वमागमस्य प्रतिपद्यमानो विधिवाक्यस्यैव प्रामाण्यमिच्छतो मीमांसकस्यानुहरति ।

§ ३७. अपि च चतुर्दशगुणस्थानानि स्त्रीणामर्हतोक्तानि निर्मोक्षत्वे विरुध्यन्ते ।

एवं जिनवरकथितं स्त्रीष्वपि मोक्षं न साधु मन्यन्ते
विध्यादिवादिनोऽपि हि तथापि मिथ्यादृशोऽह्रीकाः ।
एवं सप्तनयाम्बुधेर्जिनमतात् बाह्यागमा येऽभवन्
स्थित्युत्पादविनाशवस्तुविरहात् तान् सत्यतायाः क्षिपन् ।
[4]यो बौद्धावधिबुद्धतीर्थिकमतप्रादुर्भवद्विक्रमः
मल्लो मल्लमिवान्यवादमजयच्छ्रीमल्लवादी विभुः ॥
प्रामाण्यलक्षणमबाध्यमनन्यनेयं सूत्राभिधानिगदितं विशदं यदर्थम् ।
मोक्षार्थसाधनपदार्थविधौ पटीयः प्रोक्तं प्रमाणमिह शाब्दमिदं गरीयः ॥ [५६]

॥ इति श्रीशान्त्याचार्यविरचितायां वार्तिकवृत्तौ आगमपरिच्छेदः ॥

सूरिश्चन्द्रकुलामलैकतिलकश्चारित्ररत्नाम्बुधिः
सारे लाघवमादधाति च गिरेर्यो वर्धमानाभिधः ।
तच्छिष्यावयवः स सूरिरभवच्छ्रीशान्तिनामा कृता
येनेयं विवृतिर्विचारकलिका नाम्ना स्मृतावात्मनः] ॥ १ ॥
अवज्ञानं हीने समधिकगुणे द्वेषमधिकम्
समाने संस्पर्धां गुणवति गुणी यत्र कुरुते ।
तदस्मिन् संसारे विरलसुजनेऽपास्तविषया
प्रतिष्ठाशा शास्त्रे तदपि च भवेत् कृत्यकरणम् ॥ २ ॥[11]

॥ [12]ग्रन्थाग्र २८७३ ॥

१. नास्तीव मु० क० । २. क्रोधवन्तः सि° अ० । ३. प्रतिपाद्यमाने मु० क० । ४. यो श्रीबुद्ध-मिबुद्धिती° अ० । ५. °थैयंस्तत्र° अ० । ६. सूत्रमिदा नि° ब० । ७. °परिच्छेदः चतुर्थः संपूर्णः इत्येवं एषा पुष्पिका—सूरिश्चन्द्रेत्यादिग्रन्थकृत्प्रशस्तिश्लोकद्वयानन्तरं मुद्रितप्रतौ वर्तते । सं० । ८. इदं पद्यं अ० प्रतौ नास्ति । ९. अवज्ञा न हीने क० । १०. तदपि न भवेत् अ० ब० मु० । ११. ॥ २ ॥ मंगलं महा श्रीः ॥ लिपीकृतं लेया व्यास लादुराम जेठमल । रवासी अहिपुरमध्ये । जसलमेरुस्थः मुथा ज्ञानचन्द्रः बरडीयागोत्रीयः । यस्य भार्यायां लिखापितमिदं पुस्तकं । श्रीमद्विजयानन्दसूरीश्वराणां प्रथमशिष्य-पंडितश्रीमल्लक्ष्मीविजयाभिधानाः, तेषां शिष्यहंसाख्योपदेशात् लिखापितं क० । इति श्रीशांत्या......आगम-परिच्छेदः चतुर्थः संपूर्णः । संवत् १९६५ शाके १८३० पौष कृष्ण द्वितीया २ तिथौ सौम्यवासरे समाप्तम्-मु० । १२. अ० मु० क० आदर्शेषु नास्ति सं० ।

॥ टिप्पणानि ॥

टिप्पणानि ।

पृ० ११. पं० ४. 'हिताहितार्थ'—इस कारिका की दो व्याख्याएँ वृत्तिमें हैं। उनमें से दूसरी व्याख्या (पृ० १३. पं० १२) स्पष्टतया दिग्नागके 'प्रमाणसमुच्चय' के 'प्रमाणभूताय' इत्यादि मंगल श्लोक का अनुकरण करके की गई है[1]। दिग्नागने 'प्रमाणसमुच्चय' की रचना करते समय बुद्ध भगवान् को 'प्रमाणभूत' कहा है। वही बात शान्त्याचार्यने प्रस्तुत कारिका की दूसरी व्याख्या में कही है।

न्यायभाष्यकार वात्स्यायनने कहा है कि "प्रमाणेन खल्वयं ज्ञातार्थमुपलभ्य तमर्थमभीप्सति, जिहासति वा" (१. १. १)। उद्योतकरने स्पष्टीकरण किया है कि उपेक्षणीयार्थ की प्रतिपत्ति से पुरुष की प्रवृत्ति या निवृत्ति होती नहीं है किन्तु सुखहेतु या दुःखहेतु अर्थ की तथाभूत प्रतिपत्ति ही प्रवर्तक या निवर्तक होती है।—न्यायवा. पृ० ७।

इसी बात को लक्ष्य में रख कर आचार्य धर्मकीर्तिने 'प्रमाणसमुच्चय' के उक्त मंगल श्लोक के वार्तिक में कहा है कि भगवान् हेयोपादेय तत्त्व के ज्ञाता होने से प्रमाण है[2]।—प्रमाणवा० १. ३४। उन्हों ने ज्ञान के प्रामाण्य का भी समर्थन उसी प्रकार से किया है।—प्रमाणवा० १. ५। ३. २१७। फलितार्थ यह है कि प्रमाण हेयोपादेय तत्त्व के विवेक में समर्थ होना चाहिए। धर्मोत्तरने 'न्यायबिन्दु' की टीका में आदिवाक्य की व्याख्या में स्पष्ट कहा है कि—सर्व पुरुषार्थ की सिद्धि सम्यग्ज्ञान से होती है और वह सिद्धि हेय के हान में और उपादेय के उपादान में पर्यवसित है।—न्यायबि० टी० पृ० ८। उन्हों ने उपेक्षणीयार्थ को हेय के अन्तर्गत मान लिया है।

यद्यपि वात्स्यायनने प्रमाण के—हान, उपादान और उपेक्षा बुद्धि ऐसे तीन फल माने हैं (न्यायभा० १. १. ३; १. १. ३२) फिर भी उन्हों ने प्रमाण को, जैसा ऊपर कहा गया है, हेय के हान में और उपादेय के उपादान में समर्थ बताया है। उद्योतकरने उस का समर्थन किया है। ठीक वैसे ही यद्यपि सिद्धसेन और समन्तभद्रने प्रमाण के तीन फल माने हैं और उस का समर्थन अकलंकने किया है।—(न्याया० २८; आप्तमी० १०२; न्यायवि० का० ४७६) फिर भी अकलंकने अनेकत्र प्रमाण को हेयार्थ के हान में और उपादेयार्थ के उपादान में समर्थ बताया है[1]। साथ ही उपेक्षणीयार्थ की उपेक्षा की बात नहीं कही। प्रभाचन्द्राचार्य जैसों ने धर्मोत्तरादिकी तरह उपेक्षणीयार्थ के पार्थक्य का भी निरास किया है।—प्रमेयक० पृ० ४।

इससे स्पष्ट है कि अकलंकने इस विषय में वात्स्यायनादिके पूर्वोक्त कथन का अनुसरण

---

१. प्रभाचन्द्रने भी 'परीक्षामुख'के प्रथमश्लोक की दूसरी व्याख्या वैसे ही की है—प्रमेयक० पृ० ७। २. तुलना—"हिताहितविधिव्यासेधसम्भावनम्" आत्मतत्त्वविवेक पृ० १। १. "हिताहितार्थप्राप्तिपरिहारसमर्थे द्वे एव प्रमाणे"—प्रमाणसं० पृ० ९७ पं० ७; लघी० स्व० का० ६१, न्यायवि० का० ४ इत्यादि।

किया है। उन्हीं का अनुकरण शान्त्याचार्यने अन्य जैनाचार्यों की तरह प्रस्तुत कारिका में किया है।

पृ० ११. पं० ५. 'सिद्धसेनार्कसूत्रितम्'–इससे स्पष्ट है कि शान्त्याचार्यने सिद्धसेन के सूत्र के ऊपर वार्तिक किया है। वे अपने वार्तिक का विशेष नामकरण नहीं करते किन्तु वार्तिक की स्वोपज्ञ वृत्ति को उन्हों ने 'विचारकलिका'[3] ऐसा नाम दिया है जो वृत्तिगत प्रशस्तिश्लोक से स्पष्ट है।

सिद्धसेन का वह सूत्र 'न्यायावतार' नामक द्वात्रिंशिका ही है; क्यों कि वार्तिक का आधारभूत 'प्रमाणं स्वपराभासि' इत्यादि शास्त्रार्थ संग्राहक जो श्लोक उन्होंने दिया है वह न्यायावतार की प्रथम कारिका हैं।

श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के आद्य वैयाकरण श्री बुद्धिसागर के सहोदर आचार्य जिनेश्वरने 'श्वेताम्बरों के पास अपना प्रमाणलक्षण ग्रन्थ नहीं है; वे परोपजीवी हैं'[4] ऐसे आक्षेप के उत्तर में पूर्वाचार्यों का गौरव दिखाने के लिए आद्य सूरि की सुकृति[5] न्यायावतार की ही उक्त कारिका को ले कर के 'श्लोकवार्तिक' की रचना की है, और उसे स्वोपज्ञ वृत्ति से विभूषित किया है।

अतएव आचार्य सिद्धसेन के ही न्यायावतार के ऊपर दो वार्तिकों की रचना हुई है यह स्पष्ट है।

इन दोनों वार्तिकों के भी पूर्व में आ० सिद्धर्षि ने इसी न्यायावतार के ऊपर एक संक्षिप्त टीका लिखी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्वेताम्बर आचार्यों ने स्पष्टरूप से सिद्धसेनाचार्य की इस छोटीसी कृति का काफी महत्त्व बढाया है।

दिगम्बराचार्यों ने भी खासकर अकलंकने[7] इस का अच्छा उपयोग किया है।

न्यायावतार को हम जैनन्याय का आद्य लक्षणग्रन्थ कह सकते हैं।

पृ० ११. पं० ६. 'नमः स्वतःप्रमाणाय'–वृत्ति के इस मंगल श्लोक के साथ कुमारिल कृत मंगल तुलना के योग्य है–

"विशुद्धज्ञानदेहाय त्रिवेदीदिव्यचक्षुषे"–मीमांसा श्लोकवा० १।

जैनसंमत आप्त का प्रामाण्य स्वतः है। मीमांसक का प्रत्येक प्रमाण स्वतःप्रमाण है[8]; फिर भी उन के मत से आप्तस्थानीय महेश्वर, मनु आदि अतीन्द्रियार्थ के साक्षाद्द्रष्टा नहीं हैं। ऐसे पदार्थों का उन का ज्ञान वेदाश्रित है और वह वेद किसी पुरुष के द्वारा निर्मित या उपदिष्ट नहीं है किन्तु नित्य है–'अपौरुषेय है। वेदस्वरूप दिव्यचक्षु मिलने पर महेश्वर का

---

१. परीक्षा० १. २, प्रमेयक० पृ० ४, प्रमाणन० १. ३। २. 'तद्वाचः किल वार्तिकं खलु मया प्रोक्तं सिद्धानां कृते' का० ५७। ३. 'येनेयं विवृतिर्विचारकलिका नामा'। ४. प्रमालक्ष्म का० ४०४। ५ प्रमालक्ष्मवृत्ति का० ४०५। ६ 'श्लोकैर्वार्तिकमाद्यसूरिसुकृतौ'–प्रमालक्ष्मटीकाके मंगलाचरणकी कारिका० ४। ७ देखो 'न्यायावतार की तुलना' का परिशिष्ट। ८. "स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम्"–श्लोकवा० २. ४७। ९ "यद्वा वक्तुरभावेन न स्युर्दोषा निराश्रयाः"–श्लोकवा० २. ६३। "वेदस्यापौरुषेयत्वे सिद्धा त्वेव प्रमाणता"–श्लोकवा० २.९७।

ज्ञान विशुद्ध हो सकता है लेकिन जैनों के आप्त की तरह अपने दोषों का क्षय करके सकल अतीन्द्रिय पदार्थों का साक्षात्कार करना उन का काम नहीं।

जैन, बौद्ध, नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य और योग इन सभी के परमाप्त सभी वस्तुओं का साक्षात्कार करके उन के विषय में दूसरों को उपदेश करते हैं अतएव वे प्रत्यक्ष से अपने अपने पक्ष के उपदेष्टा कहे जाते हैं। जब कि मीमांसक के मत से वे ऐसा नहीं कर सकते। मीमांसक के मत से अतीन्द्रिय वस्तुओं का उपदेश आगमाश्रित है और वह आगम स्वयंसिद्ध है। मीमांसकेतर के मत से आगम आप्ताश्रित है और आप्त स्वयंसिद्ध है।

मंगल की रचना के समय स्तोतव्य पुरुष को ग्रन्थगत विषयानुकूल विशेषण देने की प्रथा प्रायः प्राचीन और नवीन ग्रन्थों में देखी जाती है। उसी का अनुसरण करके शान्त्याचार्य ने प्रस्तुत वृत्ति के मंगल में और वार्तिक के प्रथम श्लोक की व्याख्या में भगवान् को 'प्रमाण' कहा है।

आ० दिग्नागने भी 'प्रमाणसमुच्चय' की रचना करते समय भगवान् बुद्ध को 'प्रमाणभूत' कहा है। प्रमाण, खासकर प्रत्यक्ष प्रमाण, बौद्ध के मत से निर्विकल्पक होता है अतएव धर्मकीर्तिने 'प्रमाणवार्तिक' के प्रारम्भ में भगवान को 'विधूतकल्पनाजाल' कहा।

जैनाचार्य प्रभाचन्द्र भी भगवान को 'प्रमाणलक्षण' कहते हैं। कुमारिल जब वेदाश्रित मीमांसा दर्शन का समर्थन करने के लिए प्रस्तुत हुए तब उन्हों ने महादेव को 'त्रिवेदीदिव्य-चक्षुष्' कहा।

पूज्यपाद जब मोक्षमार्गशास्त्र की टीका करने लगे तो भगवान को 'मोक्षमार्ग के नेता' कहा – 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' – सर्वार्थ०।

योगविषयक ग्रन्थ का प्रणयन करते समय आचार्य हरिभद्रने भगवान को अयोगम्, योगिगम्यं (योगदृ०), योगीन्द्रवन्दितम् (योगबिन्दु) कहा। जब कि दार्शनिक कृति में उन्हों ने भगवान को 'सद्दर्शन' (षड्द०) कहा है। वे ही जब 'सर्वज्ञसिद्धि' रचते हैं तब भगवान को 'अखिलार्थज्ञताऽऽश्लिष्टमूर्ति' कहते हैं। 'अनेकान्त की जयपताका' फहराते समय वही आचार्य भगवान को 'सद्भूतवस्तुवादी' के रूप में देखते हैं।

वेदान्त के किसी भी ग्रन्थ में यदि मंगलाचरण है तो वह ब्रह्म के स्वरूप प्रतिपादक विशेषणों से युक्त अवश्य होगा।

ऐसे और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं। इतने उदाहरणों से हम उक्त नतीजे पर पहुंच सकते हैं कि यह भी एक प्रथा अवश्य रही कि ग्रन्थकार अपने प्रतिपाद्य विषय के अनुकूल विशेषण से इष्ट देवको भूषित करते थे।

पृ० ११. पं० ७. **'प्रह्वरूपेण'** – आवश्यक निर्युक्ति में नमस्कार शब्द का पदार्थ बताते समय कहा है कि "द्रव्यभावसंकोयणं' पदार्थ है[1]। अर्थात् नमस्कार दो प्रकार से होता है – एक तो बाह्य शरीर के अवयवों का संकोचन, यह द्रव्यसंकोचनरूप द्रव्य नमस्कार है; और दूसरा विशुद्ध मन को प्रणति में लगाना, यह भावसंकोचरूप भाव नमस्कार है[2]। मनःशुद्धिपूर्वक जो

१. आवनि० ३५२, विशेषा० २८४०। २. विशेषा० २८५७।

द्रव्यनमस्कार किया जाय वही सफल है। कोरा द्रव्य नमस्कार निष्फल होता है। द्रव्य नमस्कार न भी हो किन्तु भाव नमस्कार हो तब भी वह फलदायी है[1]।

प्रस्तुत में शान्त्याचार्य जिन भगवान को पञ्चरूप से नमस्कार करने की बात कहते हैं। यद्यपि यह उल्लेख उन के द्रव्य नमस्कार का ही है फिर भी वह भावनमस्कारपूर्वक ही होगा ऐसा समझना चाहिए। उन्हों ने अपने भाव नमस्कार की सूचना भगवान के गुणवर्णनसे दी है।

द्रव्य नमस्कार जिन पांच रूप से किया जाता है उन का वर्णन वंदनकप्रकीर्णक में है–

"दो जाणू दोण्णि करा पंचमगं होइ उत्तमंगं तु।
पणिवाओ पंचंगो भणिओ सुत्तट्ठदिट्ठीहिं॥" वंदन० १४।

अर्थात् प्रणाम पांच अंगों से किया जाता है। दो हाथ, दो जानु और मस्तक इन पांच अंगों के संकोचन से द्रव्य नमस्कार होता है।

पृ० ११. पं० ८. **'अन्यार्थवत्तेति'** इस पद्य में शान्त्याचार्यने सज्जनों को निर्मत्सर होकर अपने ग्रन्थ की परीक्षा करने को कहा है। यह एक पुरानी प्रथा का अनुकरण मात्र है। महाकवि कालिदासने भी ऐसा ही अपनी कृति 'रघुवंश' में किया है[2]; और कालिदासके बाद भी यही प्रथा बराबर चालू रही[3]।

'अपूर्वार्थक होने से ग्रन्थ की रचना अनावश्यक है, क्यों कि वह स्वरुचिविरचित होने से सत्पुरुषों के आदर योग्य नहीं। यदि पूर्वप्रसिद्धार्थक ग्रन्थकी रचना करते हो तब तो और भी अनादरणीय है; क्यों कि पिष्टपेषण होनेसे व्यर्थ है' इन आक्षेपों का समाधान आचार्य विद्यानन्दने अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें दिया है (पृ० २. पं० २२)।

शान्त्याचार्यने भी 'अन्यार्थवत्ता' शब्द से उपर्युक्त दोनों आक्षेपों का उल्लेख किया जान पाडता है। क्यों कि इस शब्द का 'अन्य अर्थ से युक्तता' अर्थात् अपूर्वार्थकत्व और 'अन्यों के अर्थसे युक्तता' अर्थात् पूर्वार्थकता ऐसे दोनों अर्थ स्पष्टतया फलित होते हैं।

शान्त्याचार्यने इन आक्षेपों का उत्तर दिया है कि दूसरों ने इसी बात को सामान्य रूप से कही है और मैंने उसे अन्यथा अर्थात् विशेष रूप से कहा है। अतएव मेरा कथन मात्र अपूर्वार्थक भी नहीं और मात्र पूर्वार्थक भी नहीं। सत्पुरुषों को चाहिए कि वे इस की परीक्षा करें।

इस के साथ जयन्तके ये शब्द तुलनीय हैं–

"कुतो वा नूतनं वस्तु वयमुत्प्रेक्षितुं क्षमाः।
वचोविन्यासवैचित्र्यमात्रमत्र विचार्यताम्॥"–न्यायमं० पृ० १।

"आदिसर्गात्प्रभृति वेदवदिमा विद्याः प्रवृत्ताः, संक्षेपविस्तरविवक्षया तु तांस्तांस्तत्र कर्तृनाचक्षते"–पृ० ५।

इन्हीं का अनुकरण हेमचन्द्राचार्यने 'प्रमाणमीमांसा' के प्रारंभ में किया है–पृ० १।

पृ० ११. पं० ८ **'अन्यार्थ'** तुलना–**यद्यपूर्वार्थमिदं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकं न तदा वक्तव्यम्, सतामनादेयत्वप्रसंगात्, स्वरुचिविरचितस्य प्रेक्षावतामनादरणीयत्वात्। पूर्वप्रसिद्धार्थं तु सुतरामेतन्न वाच्यम्, पिष्टपेषणवद्वैयर्थ्यात्–इति ब्रुवाणं प्रत्येतदुच्यते"। इत्यादि तत्त्वार्थश्लो० पृ० २ पं० २२; प्रमेयक० पृ० ६. पं० ५।**

१. विशेषा० २८५८, २८५९। २. "तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः" रघु० १.१०। ३. "सन्तः प्रणयिवाक्यानि गृह्णन्ति ह्यनसूयवः" श्लोकवा० ३; न्यायमं० पृ० १।

पृ० ११. पं० १०. **'अभिधेयप्रयोजनम्'** शान्त्याचार्यने स्वकीय वार्तिककी प्रथम कारिकाको 'आदिवाक्य' मान करके कहा है कि इस वाक्यसे ग्रन्थकारने ग्रन्थके अभिधेयके प्रयोजनका अभिधान किया है। अत एव हम यहाँ आदिवाक्यके विषयमें कुछ चर्चा करें तो अनुपयुक्त न होगा।

आदिवाक्य के विषयमें निम्नलिखित मुद्दों पर विचार करना इष्ट है—

(१) आदिवाक्यका स्वरूप और स्थान।

(२) आदिवाक्यकी चर्चाका प्रारंभ कब हुआ?।

(३) आदिवाक्यका प्रतिपाद्य।

(४) आदिवाक्यका प्रयोजन।

(५) आदिवाक्यके विषयमें अनेकान्त।

(१) ग्रन्थकार जब लिखने बैठता है तब कुछ न कुछ प्रारम्भमें लिखेगा ही। उसके आदिवाक्य होने पर भी यहाँ उस एक वाक्य या अनेक वाक्योंके समुदायरूप महावाक्यको 'आदिवाक्य' कहना इष्ट है जिसमें ग्रन्थके अभिधेयादिका प्रतिपादन किया गया हो[१]।

वैसा आदिवाक्य ग्रन्थके प्रारम्भमें या मङ्गलके अनन्तर भी लिखनेकी प्रथा है। प्राचीन सूत्रग्रन्थोंमें विना मङ्गलके ही आदिवाक्य उपलब्ध होते हैं और बादमें मङ्गल करना जब आवश्यक माना जाने लगा तब मंगलके अनन्तर भी कुछ ग्रन्थकारोंने आदिवाक्यका उपन्यास[२] किया है।

प्राचीन कालसे ग्रन्थोंके आदिवाक्य दो प्रकारके मिलते हैं—

(अ) सामान्यतः विषयप्रतिपादक।

(ब) विशेषतः विषयप्रतिपादक।

(अ) सामान्यतः विषयप्रतिपादक वाक्यमें प्रतिपाद्य विषयका विभागशून्य सामान्य कथन होता है। अर्थात् ऐसे वाक्योंमें प्रतिपाद्य विषयका सामान्यरूपसे नामकरण मात्र होता है। ऐसे वाक्य हम प्राचीन श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्रोंमें तथा दार्शनिक सूत्रग्रन्थोंमें पाते हैं। जैसे—"अथ विध्यव्यपदेशे सर्वक्रत्वधिकारः" लाट्यायनश्रौ०। "अथातो गृह्यस्थालीपाकानां कर्म"—पारस्करगृ०। "अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः"—वैशे० इत्यादि।

(ब) विशेषतः विषयप्रतिपादक वाक्योंमें संक्षिप्त किन्तु विभागपूर्वक विषयनिर्देश होता है। जैसे—"अथातो दर्शपूर्णमासौ व्याख्यास्यामः—आपस्तम्बश्रौतसूत्र; "प्रमाणप्रमेयसंशय" इत्यादि न्यायसूत्र; "लक्षणं चावृतिस्तत्त्वं" इत्यादि 'मध्यान्तविभाग' की प्रथम कारिका; "प्रमाणं स्वपराभासि" इत्यादि न्याया० का प्रथम श्लोक इत्यादि।

(२) ऊपर हम देख चुके कि श्रौतसूत्रके कालमें भी आदि वाक्यकी रचना तो होती थी। किन्तु श्रौतसूत्रकी बात तो जाने दें दार्शनिक सूत्रग्रन्थोंमें भी आदिवाक्यकी चर्चा

---

१. "शास्त्रं चेदारम्भणीयं क्रमवृत्तित्वाद्वाचः प्रथममवश्यं किमपि वाक्यं प्रयोक्तव्यम्..." इत्यादि न्यायमं० पृ० ६। २. श्लोकवा० का० २। प्रमाणसं० का० २। लघी० का० ३। न्यायमं० पृ० १. का० ५। इत्यादि।

अर्थात् आदिवाक्यमें क्या कहना चाहिए और उसे क्यों कहना चाहिए यह चर्चा देखी नहीं जाती । इन मूल ग्रन्थोंकी जब टीकाएँ लिखी जाने लगीं तब ही इस चर्चा का सूत्रपात होता है । व्याकरण महाभाष्यके प्रारम्भमें ही पतञ्जलिने व्याकरणके प्रयोजनोंका प्रतिपादन किया है । इससे हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि पतञ्जलिके समयमें ग्रन्थारम्भमें प्रयोजनका प्रतिपादन करनेकी प्रथाने[1] मूर्तरूप धारण किया था । इससे पहलेके ग्रन्थोंमें ऐसी चर्चा हमारे देखनेमें आई नहीं और बादके प्रायः सभी ग्रन्थोंके प्रारम्भमें आदिवाक्यकी विविधरूपसे चर्चा देखी जाती है । इससे यही कहना पडता है कि यह चर्चा पतञ्जलि जितनी प्राचीन अवश्य है । 'व्याकरणका[2] ही प्रयोजन बतानेकी क्यों आवश्यकता हुई' ऐसी शंकाका समाधान भी पतञ्जलिको करना पडा है – यह बात भी उक्त नतीजेकी पोषक ही है ।

(३) आदिवाक्यके प्रतिपाद्यके विषयमें जो मतभेद हैं उन सभीका समावेश निम्नोक्त दो प्रकारोंमें हो जाता है –

(अ) प्रयोजनादित्रयका प्रतिपादन ।

(ब) अनुबन्धचतुष्टयका प्रतिपादन ।

(अ) प्रयोजन, अभिधेय और सम्बन्ध ये तीन प्रयोजनादित्रय कहे जाते हैं । आदिवाक्यसे इन तीनोंका प्रतिपादन गौणमुख्यभावसे अनेक प्रकारसे आचार्योंने बताया है । उनमेंसे मुख्य प्रकार ये हैं –

१ शास्त्रके प्रयोजनका प्रतिपादन ।

२ अभिधेयके प्रयोजनका प्रतिपादन ।

३ अभिधेय और प्रयोजनका साक्षात् प्रतिपादन तथा सम्बन्धका अर्थात् ।

४ प्रयोजनादित्रयका प्रतिपादन ।

५ प्रयोजन और सम्बन्धका प्रतिपादन ।

६ शब्दतः शास्त्रके प्रयोजनका और अर्थतः अभिधेयका, अभिधेयके प्रयोजनका तथा सम्बन्धका प्रतिपादन ।

इन मतोंकी विशेषता और उनके माननेवालोंका वर्णन इस प्रकार है –

१ – कुमारिलके मतसे आदिवाक्यमें शास्त्रके प्रयोजनका वर्णन होता हैं । सम्बन्ध आक्षेपलभ्य है जो कि शास्त्र और प्रयोजनका साध्यसाधनभावरूप है । शिष्यप्रश्नानन्तर्यादि[3] अन्य सम्बन्ध नहीं । यही मत शान्तरक्षितको (वादन्याय पृ० १) और अष्टशती

---

१. "कानि पुनः शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि" इत्यादि पृ० १६ । २. पृ० ३७ । ३. (१) शिष्यप्रश्नानन्तर्यरूप संबंधकी कल्पना माठरने और गौडपादने सांख्यकारिकाकी अपनी अपनी वृत्तिमें की है । पूज्यपादने सर्वार्थसिद्धिमें भी वैसी ही कल्पना की है । (२) गुरुपर्वक्रमसम्बन्ध की कल्पना नन्दीसूत्रके प्रारम्भमें है और किसी मीमांसकने भी की है – न्यायरत्ना० श्लो० २४ । सांख्यकारिकाके अन्तमें भी गुरुपर्वक्रम है । (३) क्रियानन्तर्यरूपसम्बन्ध भी कहीं कहीं देखा जाता है – शांकरभाष्य० सू० १ । तत्त्ववै० १.१ । न्यायरत्ना० श्लो० २२ । शास्त्रवा० का० १ ।

(का० १) में अकलंकको और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० १. पं० ३३) में विद्यानन्दको मान्य है।

२–कुमारिलादिके अनुसार आदिवाक्यसे शास्त्रके प्रयोजनका प्रतिपादन होता है। किन्तु धर्मोत्तरने कहा कि आदिवाक्यमें शास्त्रका प्रयोजन नहीं किन्तु शास्त्रके अभिधेयका प्रयोजन कहना चाहिए; क्यों कि वही बात श्रोताको ग्रन्थमें प्रवृत्ति कराएगी। ग्रन्थके अभिधेयादि सामर्थ्यलभ्य हैं।–न्यायबि० टी० पृ० १–३।

यही मत सन्मतितर्कटीकाकार अभयदेव[1] और प्रस्तुत ग्रन्थकार शान्त्याचार्य का है।

३–इस विषयमें तीसरा मत न्यायमंजरीमें (पृ० ६) जयन्तभट्टका है कि आदिवाक्य से प्रधानरूपसे प्रकरणके प्रयोजन और अभिधेयका कथन होता है। सम्बन्ध आक्षेपलभ्य है। यही मत कमलशील (तत्त्वसं० पृ० २), हरिभद्र (न्यायप्र० वृ० पृ० ९), शीलाङ्क (सूत्रकृ० पृ० ४), सिद्धर्षि (न्याया० टि० पृ० ७–८) आदिको मान्य है।

४–उपर्युक्त प्रायः सभी मतोंमें सम्बन्धको आक्षेपलभ्य माना गया है। किन्तु आचार्य हरिभद्र शास्त्रवार्तासमुच्चयादिमें प्रयोजनादित्रयका प्रतिपादन आदिवाक्यमें मानते हैं।

वाचस्पति, अनन्तवीर्य, प्रभाचन्द्र और वादी देवसूरिका भी यही मत है[2]।

५–पदार्थधर्मसंग्रहके टीकाकार श्रीधरके मतसे आदिवाक्य प्रयोजन और सम्बन्ध का प्रतिपादन करता है।–कंदली पृ० ३।

६–उपर्युक्त सभी मतोंसे विलक्षण मत हेतुबिन्दुटीकाकार अर्चटका है। उन्होंने शाब्दन्यायके अनुसार आदिवाक्यका प्रतिपाद्य प्रकरणका प्रयोजन माना और आर्थन्यायके अनुसार प्रतिपाद्य प्रकरणका अभिधेय, अभिधेयका प्रयोजन और सम्बन्ध माना है। –हेतुबिन्दुटी० पृ० १, ३।

इस प्रकार प्रयोजनादित्रयके विषयमें जो नाना प्रकारके मत हैं उन्हींमेंसे कुछका दिग्दर्शन ऊपर कराया है।

(ब) अधिकारी, प्रयोजन, अभिधेय और सम्बन्ध ये अनुबन्ध चतुष्टय हैं।

आचार्य शंकरने शास्त्रके प्रारम्भमें अनुबन्ध चतुष्टयकी व्यवस्था की है। उन्हींका अनुकरण करके प्रायः सभी वेदान्त ग्रन्थोंमें यही प्रथा देखी जाती है।

इस अनुबन्ध चतुष्टयमें प्रयोजनादित्रयके अतिरिक्त अधिकारीका वर्णन भी होता है। प्राचीन ग्रन्थोंमें अधिकारीका वर्णन करनेकी प्रथा रही[4] उसीको शंकराचार्यने अनुबन्ध-चतुष्टयमें स्थान दिया ऐसा मानना चाहिए।

इस प्रकार भिन्न भिन्न आचार्योंके मतसे आदि वाक्यका प्रतिपाद्य क्या होना चाहिए इसका संक्षिप्त वर्णन हुआ। अब हम उसके प्रयोजनके विषयमें नाना प्रकारके मतों को देखें।

---

१. सन्मतिटीका पृ० १६९। २. शास्त्रवा० का० १। अनेकान्त० टी० पृ० ७। योगदृ० टी० का० १। तत्त्वार्थटी० पृ० ११। ३. तात्पर्य० पृ० ३। सिद्धिवि० टी० पृ० ४। प्रमेयक० पृ० ३। न्यायकु० पृ० २१। स्याद्वादर० पृ० ७. पं० २१। ४. नन्दीसूत्रके प्रारम्भका परिषद्का वर्णन, न्यायवा० पृ० २ इत्यादि।

(४) आदिवाक्यके प्रयोजनके विषयमें भी नाना प्रकारके मतभेद देखे जाते हैं। उनमें से मुख्य ये हैं–

(अ) शास्त्रार्थसंग्रह
(आ) श्रोताकी प्रवृत्ति
(इ) अर्थसंशयोत्पादन
(ई) असिद्धतोद्भावन
(उ) श्रद्धाकुतूहलोत्पादन

(अ) प्राचीन भाष्य ग्रन्थोंमें प्रायः आदिवाक्यका प्रयोजन शास्त्रार्थसंग्रह ही बताया गया है। उस एक ही शास्त्रार्थसंग्रहके तीन रूप नजर आते हैं। वे इस प्रकार हैं–

१–न्यायभाष्यकार वात्स्यायनने शास्त्रकी प्रवृत्ति तीन प्रकारसे मानी है–उद्देश, लक्षण और परीक्षा। उनका कहना है कि आदिसूत्रमें शास्त्रके विषयका उद्देश हुआ है[1]। अर्थात् जिन विषयोंका इस शास्त्रमें लक्षण और परीक्षण किया गया है उन विषयोंका नाममात्रसे कथन ही[2] इस सूत्रसे होता है। सारांश कि आदिवाक्यका प्रयोजन उद्देश है। यह मत न्यायभाष्यकारका है। और यह उद्देश शास्त्रार्थसंग्रह ही है[3]।

तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति भी स्वोपज्ञ भाष्यमें इसी मतका अवलम्बन लेते हैं–"शास्त्रानुपूर्वीविन्यासार्थं तूद्देशमात्रमिदमुच्यते"।

२–उपर्युक्त प्रकार वहीं संभव है जहाँ आदिसूत्रमें विभागपूर्वक विषयका कथन हो किन्तु "अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः" जैसे सूत्रोंमें जहाँ विषयका सामान्य निर्देश है; या "अथ प्रमाणपरीक्षा" जैसे सूत्रोंमें जहाँ सामान्यनिर्देश इस ढंगसे हुआ है कि ग्रन्थके नामका भी निर्देश हो जाय; वहाँ इन सूत्रोंको सकलशास्त्रार्थसंग्राहक होने पर भी उद्देशपरक समझना ठीक न होगा। इसे शबरस्वामीके मतानुसार सकलशास्त्रार्थकी प्रतिज्ञा, जिसका समर्थन संपूर्ण शास्त्रसे होता है, कहना चाहिए।

यही प्रकार योगभाष्यके कर्ता व्यासने अपनाया है ऐसा वाचस्पतिका कहना है। –तत्त्ववै० १.१।

३–उपर्युक्त उद्देश और प्रतिज्ञाके अलावा शास्त्रार्थसंग्रहका एक तीसरा प्रकार भी है जो शास्त्रशरीर के नामसे प्रसिद्ध है। शास्त्रका शरीर दो प्रकारका है शब्दरूप और अर्थरूप–(न्याया० टी० पृ० ८)। आदिवाक्यमें इन दोनों प्रकारके शरीरकी व्यवस्था करना चाहिए ऐसा भी प्राचीनकालमें कुछ लोगोंका मत अवश्य रहा होगा। फलस्वरूप हम न्यायवार्तिकके प्रारम्भमें शास्त्रशरीरकी व्यवस्था देखते हैं।

---

१. "सोऽयमनवयवेन तन्त्रार्थ उद्दिष्टो वेदितव्यः" न्यायभा० १.१.१। २. "नामधेयेन पदार्थमात्रस्याभिधानमुद्देशः" न्यायभा० १.१.२। ३. "स चायं शास्त्रार्थसंग्रहोऽनूद्यते नापूर्वो विधीयते"–न्यायभा० ४.२.१। इससे पता चलता है कि वे उद्देशपरक आदि सूत्रको शास्त्रार्थसंग्राहक भी मानते थे। ४. "इत्येतासां प्रतिज्ञानां पिण्डस्यैतत् सूत्रम्" पृ० १२। ५. वादन्यायटीका० पृ० २. पं० २२। स्याद्वादर० पृ० १९। ६. "शास्त्रं पुनः" इत्यादि पृ० २।

मध्यान्तविभागकी प्रथम कारिकाको वसुबन्धुने शास्त्रशरीरकी व्यवस्थापिका कहा है किन्तु वह उद्देशके लिए ही है ऐसा समझना चाहिए।

(आ) शान्त्याचार्यने आदिवाक्यका प्रयोजन श्रोताकी प्रवृत्ति कराना ही माना है। यह मत बहुत पुराना है। वैसे तो यह मत कुमारिलका समझा जाता है किन्तु उसके पहले भी व्याकरण शास्त्रके प्रयोजन बताते हुए पतञ्जलिने कहा है कि अध्येता की प्रवृत्तिके लिएं शास्त्रारंभमें प्रयोजन बताना आवश्यक है[1]। उसी बातका अनुवाद कुमारिलने दार्शनिक क्षेत्रमें भी–सर्व प्रथम किया जान पडता है[2]। कुमारिलके बादके बौद्धेतर दार्शनिक ग्रन्थोंमें प्रायः कुमारिल का ही मत उन्हींके शब्दोंमें स्वीकृत हुआ है।[3]

(इ) आदिवाक्यको यदि प्रमाण माना जाय तब वह अर्थप्रतिपादक होकर प्रवृत्त्यंग हो सकता है। किन्तु बौद्ध दार्शनिक शब्दको बाह्यार्थमें प्रमाण नहीं मानते अत एव उन्होंने कहा कि शब्दरूप आदिवाक्यसे प्रयोजनका प्रतिपादन हो नहीं सकता। किन्तु 'यह शास्त्र निष्फल है, अशक्यानुष्ठेय है' इत्यादि अनर्थसंशयको निवृत्त करके अर्थका संशय उत्पन्न करना यही–आदिवाक्यका प्रयोजन है। तदर्थी की अर्थसंशयसे ही शास्त्रमें प्रवृत्ति हो जायगी। इसी मतका समर्थन धर्मोत्तर[4], शान्तरक्षित, कमलशील आदि बौद्ध विद्वानोंने किया है।

(ई) हेतुबिन्दुके टीकाकार अर्चटने पूर्वोक्त मतोंका खण्डन करके एक नया मत स्थापित किया है। 'जो सप्रयोजन हो वही आरम्भयोग्य है। यह शास्त्र तो निष्प्रयोजन है अत एव आरम्भयोग्य नहीं' इस प्रकार व्यापकानुपलब्धिके बलसे जो शास्त्रको अनारम्भणीय कहता हो उसको व्यापकानुपलब्धि की असिद्धताका अर्थात् व्यापककी उपलब्धि का भान कराना यही आदिवाक्यका प्रयोजन है। ऐसा अर्चटका मन्तव्य है।

इस मतका कमलशीलने खण्डन करके धर्मोत्तर के पक्षका ही समर्थन किया है। बौद्धों को शब्दका प्रामाण्य इष्ट न होने से इस मतकी अपेक्षा पूर्वोक्त मत ही उनको अधिक संगत जँचे यह स्वाभाविक है। यही कारण है कि यह मत अर्चट के अलावा और किसी बौद्ध दार्शनिकको मान्य हुआ नहीं जान पड़ता। न्यायप्रवेशकी टीकामें हरिभद्रने, जो कि जैन हैं, अर्चटके मत को भी मान्य रखा है।

(उ) आदिवाक्यसे श्रोताके दिलमें श्रद्धा या कुतूहल उत्पन्न करना इष्ट है–यह मत किसी जैनका ही है ऐसा अनन्तवीर्य के 'स्वयूथ्य' शब्दसे प्रतीत होता है[5]। उन्होंने उसी मतको ठीक समझा है। विद्यानन्द इस मतको ठीक नही समझते[6]। उनको प्रथम मत श्रोताकी प्रवृत्ति ही इष्ट है।

---

१. सुहृद्भूत्वा आचार्य इदं शास्त्रमन्वाचष्टे–इमानि प्रयोजनानि अध्येयं व्याकरणम्'' पात० पृ० ३८। २. ''सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य'' इत्यादि–श्लोक० १२। ३. कंदली–पृ० ३। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २। सन्मतिटी० पृ० १६९। प्रमेयक० पृ० ३। ४. इस मतका प्रसिद्ध समर्थक धर्मोत्तर होनेसे दूसरे आचार्य इस मतका उल्लेख धर्मोत्तर के नामसे करते हैं किन्तु उस मतका खण्डन अर्चट में है और अर्चट धर्मोत्तर से पूर्ववर्ती है अतएव वह मत धर्मोत्तरसे पहले किसी आचार्य का होना चाहिये। ५. ''तद्वाक्यादभिधेयादौ श्रद्धाकुतूहलोत्पादः ततः प्रवृत्तिरिति केचित् स्वयूथ्याः'' सिद्धिवि० टी० पृ० ४। ६. तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४।

(५) आचार्य विद्यानन्द ने आदि वाक्यके विषयमें दो प्रकारसे अनेकान्तका स्थापन किया है। एक तो उन्होंने यह कहा कि आदिवाक्यका प्रयोग अवश्य करणीय है सो बात नहीं। आदिवाक्य गम्यमान भी हो सकता है और प्रयुक्त भी हो सकता है। दूसरा उन्होंने यह भी कहा कि आदिवाक्य अनुमान प्रमाण भी है और आगम प्रमाण भी है। यही बात वादी देवसूरिने भी कही है। तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३–४; – स्याद्वादर० पृ० ११–१३।

पृ० ११. पं० १०. 'अभिधेयप्रयोजन' तुलना – "सम्यग्ज्ञानपूर्विकेत्यादिनाऽस्य प्रकरणस्याभिधेयप्रयोजनमुच्यते – न्यायबि० टी० पृ० २। सन्मतिटी० पृ० १६९।

पृ० ११. पं० १०.। 'तदभिधानात्' – तुलना – "अस्मिन्नर्थे उच्यमाने सम्बन्धप्रयोजनाभिधेयान्युक्तानि भवन्ति" न्यायबि० टी० पृ० ३।

पृ० ११. पं० १० 'तत्र श्रोतृ' तुलना – श्लोकवा० श्लो० १२। हेतुबि० टी० पृ० १। १। सिद्धिवि० टी० पृ० ४। सन्मतिटी० पृ० १६९। तत्त्वार्थ श्लो० पृ० २।

पृ० ११. पं० १४ 'कश्चित्' यह मत कुमारिलादि का है।

पृ० ११. पं० १७ 'अन्ये' यह मत किसी बौद्ध का है किन्तु धर्मोत्तरने इसका समर्थन किया है अतएव धर्मोत्तरका माना जाता है – न्यायबि० टी० पृ० ४। तत्त्वसं० पं० पृ० २। न्याया० टी० पृ० २। न्यायप्र० पं० पृ० ३८।

पृ० १२. पं० ४. 'निष्फल' तुलना – न्यायबि० टी० पृ० ४। तत्त्वसं० पं० पृ० २। न्यायकु० पृ० २०।

पृ० १२. पं० ७. 'अर्थसंशयात्' तुलना "उच्यते व्यवहारो हि संदेहादपि लौकिकः" – प्रकरणपं० पृ० १४।

पृ० १२. पं० ९ 'अन्ये' यह मत अर्चटका है – हेतुबिन्दुटी० पृ० २।

पृ० १२. पं० १७. 'यतो' तुलना तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४। सन्मतिटी० पृ० १७१। स्याद्वादर० पृ० १७।

पृ० १२. पं० १३. 'निःप्रयोजन' यह अशुद्ध है। प्राचीन हस्तलिखित प्रतियोंमें विसर्ग लिखनेकी प्रथा है किन्तु 'निष्प्रयोजन' ऐसा शुद्ध पाठ समझना चाहिए।

पृ० १२. पं० २२. 'तस्मात्' यहींसे शान्त्याचार्य अपना मत स्थापित करते हैं। उनका कहना है कि जैसे प्रत्यक्षादि और प्रमाण हैं वैसे ही वचन भी प्रमाण है। अतएव प्रमाणभूत आदिवाक्यसे प्रेक्षावान् फलार्थीकी प्रवृत्ति हो जायगी। विद्यानन्द ने आदिवाक्यको आगम और परार्थानुमानरूप माना है – तत्त्वार्थ श्लो० पृ० ३। उन्हींका अनुसरण वादी देवसूरि भी करते हैं – स्याद्वादर० पृ० १२। किन्तु सन्मतिटीकाकार अभयदेव ने स्पष्ट कहा है कि यह आदिवाक्य प्रत्यक्ष या अनुमानरूप नहीं है। किन्तु वह शब्द प्रमाणरूप अवश्य है (पृ० १७२)। शान्त्याचार्यने इन्हीं का अनुकरण किया है। कमलशीलने भी आदिवाक्यको आगम ही कहा है। उनके मतसे आगमप्रामाण्यका निश्चय प्रवृत्तिके लिए आवश्यक नहीं है। क्यों कि हमलोग आगमप्रणेताके गुणदोषकी परीक्षा करनेमें असमर्थ हैं और अत्यन्त

परोक्षार्थमें आगमको छोड कर दूसरा प्रवर्तक साधन हमारे लिए है भी नहीं। – तत्त्वसं० पं० पृ० ४. पं० ४।

पृ० १३. पं० १. 'पश्चात्' देखो – का० ५४,५५।

पृ० १३. पं० ३. **'हितोऽपि'** अर्थ स्वयं निश्चय दृष्टिसे न हितकारी है और न अहितकारी – ऐसा वाचक उमास्वातिने प्रशमरति प्रकरणमें प्रतिपादित किया है। क्योंकि एक ही अर्थ पुरुषभेदसे, देशभेदसे कालभेदसे इष्ट भी हो सकता है अनिष्ट भी हो सकता है। अतएव व्यावहारिक दृष्टिसे हम उसे तत्तत् अपेक्षासे हित भी कह सकते हैं और अहित भी कह सकते हैं।

इसी बातका समर्थन तात्पर्यटीका (पृ० २९) में वाचस्पतिने भी किया है। और भी देखो – स्याद्वादर० पृ० ४३ – ४४।

इसी बातको दूसरे ढंगसे भर्तृहरिने कहा है –

"योऽसौ येनोपकारेण प्रयोक्तॄणां विवक्षितः। अर्थस्य सर्वशक्तित्वात् स तथैव व्यवस्थितः॥४३७॥ सर्वात्मकत्वादर्थस्य नैरात्म्याद्वा व्यवस्थितम्॥ ४४१॥ – वाक्यप० का० २।

पृ० १३. पं० ४. **'उपेक्षणीयोऽपि'** उपेक्षणीय अर्थको शान्त्याचार्यने प्रमाणका अविषय कहा; किन्तु हान, उपादान और उपेक्षा ऐसे प्रमाण के तीन फलोंको गिनानेवाली न्यायावतार की कारिका (२८) ध्यानमें आते ही उन्होंने 'अथवा' कहके उस अर्थको हेयके अन्तर्गत कह कर उसकी प्रमाणविषयता सूचित की है। ऐसा करनेकी अपेक्षा यदि वे स्याद्वादरत्नाकरकार की तरह उपलक्षणसे उपेक्षणीयार्थका ग्रहण करते (पृ० ४४) तो और भी अच्छा होता।

उपेक्षणीयार्थको स्वतन्त्र मानने न माननेके बारेमें पक्षभेदोंका वर्णन 'प्रमाणमीमासा भाषाटिप्पण' (पृ० ९) में हो चुका है अतः यहां दुहराने की आवश्यकता नहीं।

पृ० १३. पं० ५. **'प्राप्तित्यागौ'** प्रमाणके फलकी चर्चा करते हुए बौद्धोंका अनुसरण करके शान्त्याचार्यने कहा है (पृ० ९४) कि प्रमाणसे अर्थपरिच्छित्ति होती है। ज्ञानगत अर्थपरिच्छेदकत्व ही प्रवर्तकत्व और प्रापकत्व है।

इस का तात्पर्य यह है कि पुरुषको जब अर्थाधिगति होती है तभी वह प्रवृत्त होता है और तद्द्वारा अर्थका प्राप्ति-परिहार करता है।

अतएव प्रमाणको प्राप्ति-परिहारका परंपरासे कारण समझना चाहिए। देखो – न्यायबि० टी० पृ० ५।

पृ० १३. पं० ६. **'प्रकर्षेण'** – तुलना – **"विप्रतिपत्तिनिराकरणार्थं शास्त्रं। संख्या-स्वरूप-गोचर-फलविषया चतुर्विधा चात्र विप्रतिपत्तिः"** – प्रमाणसमु० टी० १. २। न्यायबि० टी० पृ० ९। न्याया० टी० पृ० ८। तत्त्वसं पं० पृ० ३६६।

पृ० १३. पं० ८ **'नन्वतीत'** तुलना – प्रमेयक० पृ० २६. पं० १४।

पृ० १३. पं० १० **'प्रतिपादयि'** देखो का० ३५ § २५–२९।

पृ० १३. पं० १३. 'प्रमाणभूतम्' तुलना—"**तद्वान् प्रमाणं भगवान्**" प्रमाणवा० १। "**एवंभूतं भगवन्तं प्रणम्य प्रमाणसिद्धिर्विधीयते । प्रमाणाधीनो हि प्रमेयाधिगमः । भगवानेव च प्रमाणम्, प्रमाणलक्षणसद्भावात्**"—प्रमाणवा० अ० पृ० १ और पृ० ३७।
"**मा अन्तरङ्गबहिरङ्गानन्तज्ञानप्रातिहार्यादिश्रीः, अण्यते शब्द्यते येनार्थोऽसावाणः शब्दः, मा च आणश्च माणौ, प्रकृष्टौ महेश्वराद्यसम्भविनौ माणौ यस्यासौ प्रमाणो भगवान् सर्वज्ञो दृष्टेष्टाविरुद्धवाक् च, तस्मात् उक्तप्रकारात् अर्थसंसिद्धिर्भवति**" प्रमेयक० पृ० ७. पं० १२।

पृ० १३. पं० १४. '**सिद्धसेन**' तुलना—"**आचार्यो दुष्षमारसमाश्यामासमयोद्भूतसमस्तजनताहार्दसंतमसविध्वंसकत्वेन अवाप्तयथार्थाभिधानः सिद्धसेनदिवाकरः**" सन्मति० टी० पृ० १. पं० १६।

पृ० १३. पं० २०. '**शास्त्रार्थसंग्रह**' तुलना—"**प्रमाणे इति संग्रहः**"—लघी० ३। प्रमाणसं० २। "**इति शास्त्रार्थस्य संग्रहः**" प्रमाणसं० पृ० २। "**अक्षुण्णसकलशास्त्रार्थसंग्रहसमर्थमादिश्लोकमाह**"—न्यायकु० पृ० २०। प्रमेयक० पृ० २।

न्यायावतारकी प्रथम कारिकामें संपूर्ण शास्त्रके विषयका संग्रह होनेसे उसीको उद्धृत करके वार्तिककारने उसे 'शास्त्रार्थसंग्रह' कहा है। प्रमाणलक्ष्ममें भी ऐसा ही उसके कर्ताने किया है।

पृ० १३. पं० ३०. '**तत्र विधिवाक्ये**' शान्त्याचार्यने धर्मोत्तर (न्यायबि० टी० पृ० ११–१२) के समान लक्षणका विधान और लक्ष्यका अनुवाद माना है। किन्तु सिद्धर्षि का कहना है कि अधिकारी भेदसे लक्षणका अनुवाद करके लक्ष्यका भी विधान हो सकता है। किसीको प्रमाणत्व अप्रसिद्ध हो सकता है और किसी को स्वपरव्यवसायित्व। यही बात वादी देवसूरिने भी कही है।—न्याया० टी० पृ० १०। स्याद्वादर० पृ० २०।

प्रमाणलक्ष्ममें प्रस्तुत न्यायावतारकी कारिकाके दो व्याख्याभेदोंका उल्लेख किया गया है। एक मत यह रहा कि कारिकागत 'प्रमाण' पद अनुवाद्य है। और दूसरा यह कि वह पद विधेय है। प्रमाणलक्ष्मकारने द्वितीयको ही ठीक समझा है। और शान्त्याचार्यने प्रथम पक्षको।—प्रमालक्ष्म पृ० ४।

पृ० १४. पं० २. '**तादात्म्यात्**' लक्षण दो प्रकारका होता है—आत्मभूत और अनात्मभूत। प्रमाण और उसका लक्षण अत्यन्त भिन्न नहीं हैं। उन दोनोंका तादात्म्य है। अतएव यह लक्षण आत्मभूत है। इन दोनों का तादात्म्य होते हुए भी बौद्धोंके मतसे एक प्रसिद्ध और दूसरा अप्रसिद्ध हो सकता है। क्यों कि जितना भी शाब्दिक व्यवहार है वह सांवृतिक है। अर्थात् विकल्पजन्य है और विकल्प बाह्य वस्तुकी अपेक्षा नहीं करता। अतएव बाह्य वस्तुकी दृष्टिसे दोनोंका तादात्म्य होते हुए भी किसीको वह प्रमाणरूपसे प्रसिद्ध हो सकता है और उसके लक्षणरूपसे अप्रसिद्ध होसकता है।—स्याद्वादर० पृ० ३०–३१।

न्यायबिन्दुटीकाकारने जिस शंकाका समाधान (न्यायबि० टी० पृ० १२) प्रत्यक्ष लक्षणके व्याख्याके समय किया है उसी शंकाका समाधान शान्त्याचार्यने यहां प्रायः उन्हींके शब्दोंको लेकर किया है; किन्तु जैन दृष्टिसे इस प्रश्नका समाधान जो हो सकता है

उसे तो वादी देवसूरिने स्याद्वादरत्नाकरमें किया है (पृ० २०–२१)। उनका कहना है कि लक्ष्य और लक्षणका तादात्म्य है सही किन्तु बौद्धोंकी तरह वह ऐकान्तिक नहीं कथञ्चित् तादात्म्य है। अत एव वह किसी रूपसे प्रसिद्ध और किसी रूपसे अप्रसिद्ध हो सकता है।

वादी देवसूरिका यह विवेचन विद्यानन्दकी परिनिष्ठित बुद्धिका फल है– तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३२८।

पृ० १४. पं० २. तादात्म्यात्–तुलना–"न चैतन्मन्तव्यम्–कल्पनापोढाभ्रान्तत्वं चेदप्रसिद्धं किमन्यत् प्रत्यक्षस्य ज्ञानस्य रूपमवशिष्यते यत् प्रत्यक्षशब्दवाच्यं सदनुद्येतेति। यस्मादिन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधाय्यर्थेषु साक्षात्कारिज्ञानं प्रत्यक्षशब्दवाच्यं सर्वेषां सिद्धम्, तदनुवादेन कल्पनापोढाभ्रान्तत्वविधिः।" न्यायबि० टी० पृ० १२। स्याद्वादर० पृ० २०–२१।

पृ० १४. पं० ५. 'सन्निकर्षादि' न्यायावतारकी प्रथम कारिकामें ज्ञानको प्रमाण कहा है। उस ज्ञानपदका व्यावर्त्य क्या है इसकी चर्चा प्रस्तुत कारिकाके पूर्वार्धमें की गई है।

वृत्तिमें सन्निकर्ष और सामग्रीके एकदेशरूप चक्षुरादि, अज्ञानरूप होनेके कारण, प्रमाण नहीं है, ऐसा प्रतिपादन किया गया है।

सिद्धर्षिने ज्ञानपदका व्यावर्त्य नैयायिकादि सम्मत सन्निकर्ष है ऐसा कहा है– न्याया० टी० पृ० १३।

प्रमालक्ष्मकारके मतसे चक्षुरादिका व्यवच्छेद प्रमाणपदसे ही होता है–पृ० १। और ज्ञानपदसे निराकार बोधरूप दर्शनकी व्यावृत्ति होती है–पृ० २।

पृ० १४. पं० ९. 'संयोगः' नैयायिक और वैशेषिकके मतसे द्रव्याश्रित संयोग गुण नामक पदार्थ है। वह एक होकर भी अनेक द्रव्याश्रित है। गुण और गुणीका सम्बन्ध समवाय नामक पदार्थ के कारण होता है। अत एव द्रव्य, गुण और समवाय ये तीनो स्वतन्त्र वस्तुभूत पदार्थ हैं।

बौद्धके मतसे संयोग वस्तुभूत स्वतन्त्र पदार्थ नहीं[1]। नैयायिक–वैशेषिक संयोग को संयुक्तप्रत्ययका नियामक मानते हैं। बौद्धोंने कहा कि उस प्रत्ययके नियामकरूपसे संयोग पदार्थकी कल्पना करना आवश्यक नहीं। विजातीयव्यावृत्तिके भेदसे एक ही वस्तु नाना प्रकारकी कल्पनाका विषय बन सकती है। अत एव एक ही वस्तुको अनीलव्यावृत्त्या हम नीलकल्पनागोचर और असंयुक्तव्यावृत्त्या संयुक्तकल्पनागोचर कह सकते हैं[2]।

जैसे 'यह एक पंक्ति है' 'यह दीर्घ पंक्ति है' इत्यादि प्रत्यय होनेपर भी नैयायिकोंने पंक्तिगत एकत्व या दीर्घत्व नहीं माना क्योंकि पंक्ति संयोग होनेके कारण गुण है और गुणमें गुण रहता नहीं। वैसे ही हम बौद्ध भी नीलादि बाह्य वस्तुके अतिरिक्त तद्गत संयोगनामक गुण की कल्पना आवश्यक नहीं समझते। विजातीयव्यावृत्तिके बलसे तत्तद् प्रत्यय उपपन्न हो जाता है[3]। अत एव संयोगि ऐसे रूपादि मानना चाहिए तद्व्यतिरिक्त संयोगकी आवश्यकता

---

१. प्रमाणवा० ३.९३। २. प्रमाणवा० ३.९८। ३. प्रमाणवा० ३.९४.

नहीं । संयुक्तप्रतीतिका विषय संयोगिमात्र है अन्य नहीं[1] । प्रत्यासन्न उत्पन्न ऐसी वस्तुएं ही संयोगि कही जाती हैं । और वेही संयुक्तप्रत्यय की आलम्बन हैं । उनके अतिरिक्त संयोग-नामक कोई और पदार्थ नहीं है—

"प्रत्यासन्नतयोत्पन्नास्तत्र संयोगिनः परम् ।
संयुक्तप्रत्ययालम्ब्या न संयोगस्ततः परम् ॥
पुरःस्थिताः यथा तेऽर्थाः किं संयोगस्तथा स्थितः ॥" प्रमाणवा० अ० पृ० ११६ ।

विप्रकृष्ट अवस्थामें जो वस्तुएं दिखती हैं वेही सन्निकृष्ट अवस्थामें भी दिखती हैं । उनका संयोग तो दिखता नहीं । किन्तु उनकी वैसी अवस्थाका बोध संयोग शब्दसे होता है । अत एव यह विकल्प ज्ञानका विषय होनेके कारण वस्तुभूत नहीं । पदार्थका भेद, शब्दज्ञानकी विलक्षणतासे नहीं किन्तु प्रत्यक्षज्ञानके भेदसे होता है । अर्थात् जहां प्रत्यक्षप्रतीति विलक्षण है वहीं वस्तुभेद है । शब्दजन्य प्रतीतिके भेदसे वस्तुभेद आवश्यक नहीं[2] । अनादिवासनाके कारण नाना प्रकारकी विकल्पात्मिका बुद्धि उत्पन्न होती रहती है । अत एव विकल्पबुद्धिके आधार पर बाह्य वस्तुकी व्यवस्था करना बुद्धिमानी नहीं है । बाह्य वस्तुकी प्रतिष्ठा तो प्रत्यक्षप्रतीतिके ऊपर निर्भर है[3] ।

अत एव जैसे पंक्तिमें दीर्घत्वका या संख्याका प्रत्यय होनेपर भी उसमें वास्तविक दीर्घत्व या संख्या नैयायिक न मानकर औपचारिक मानते हैं । वैसे ही सर्वत्र विकल्पभेदसे वस्तुभेद न मानकरके औपचारिक ही मानना संगत है[4] । अत एव संयोगप्रत्यय होनेपर भी पृथग्भूत संयोगका अस्तित्व मानना ठीक नहीं[5] ।

बौद्धों ने जैसे संयोगके पृथग्भाव का निराकरण किया है वैसे ही द्रव्यसे पृथग्भूत समस्त-गुणोंका निराकरण भी उनको इष्ट है । अत एव उनके मतसे गुण-गुणीका भेद नहीं है । धर्म-धर्मीका भेद नहीं है । एक ही शब्द जिसप्रकार किसी एक धर्मका वाचक है वैसे ही धर्मीका भी वाचक है और धर्मधर्मीके समुदायका भी वाचक है[6] । अत एव शब्दके बल पर वस्तुव्यवस्था करना ठीक नहीं ।

संयोगके विषयमें अद्वैतवादी वेदान्तिओंका मत बौद्धों के समान है । फर्क इतना ही है कि उन्होंने संयोगनामक गुण को द्रव्यात्मक माना[7] और बौद्धों ने द्रव्य जैसी कोई स्थिर वस्तु तो मानी नहीं अत एव उसे रूपादि क्षणिक वस्त्वात्मक माना । बौद्धों की तरह वेदान्तिओंने भी संयोग या समवाय जैसे किसी सम्बन्धका सम्बन्धिओंसे पृथगस्तित्व माना ही नहीं—

---

१. "संयोगिन एव रूपादयः केवलाः न तत्र परः संयोगः उपलब्धिगोचरः···संयुक्त इति संयोगिन एव प्रतीतिः संयुक्तशब्दस्य च नापरमत्रालम्बनम्" प्रमाणवा० अ० पृ० ११६ । २. "न शब्दज्ञानवैलक्षण्यमात्रादेव पदार्थभेदोऽपि तु प्रत्यक्षलक्षणज्ञानभेदात् ।" वही पृ० ११६ । ३. "विकल्पिका हि बुद्धिरनादिवासनासामर्थ्यात् उपजायमाना तथा तथा प्लवते । ततो नार्थतत्त्वं प्रतिष्ठां लभते"–वही ११६ । ४. प्रमाणवा० १.९५ । तत्त्वसं० का० ६५० । ५. कर्ण० पृ० २१७ । ६. प्रमाणवा० १.९९–१०२ । ७. "तस्मात् द्रव्यात्मकता गुणस्य"–शां० ब्रह्म० २.२.१७ ।

"नापि संयोगस्य समवायस्य वा सम्बन्धस्य सम्बन्धिव्यतिरेकेणास्तित्वे किञ्चित् प्रमाणमस्ति।" शां० ब्रह्म० २.२.१७।

बौद्ध मतका आश्रय लेकरके शान्त्याचार्यने नैयायिक संमत संयोग का विस्तारसे खण्डन किया है। और अंतमें कह दिया कि संयोग जैसी कोई पृथग्भूत वस्तु नहीं है। किन्तु द्रव्यकी एक अवस्थाविशेष ही, द्रव्यका एक पर्यायमात्र ही संयोग है—पृ० १५. पं० ६,७।

जैनोंके मतसे द्रव्य और पर्याय का भेदाभेद है। जिस प्रकार द्रव्य वास्तविक है वैसे उसके पर्याय भी वास्तविक हैं। अत एव वे बौद्धोंकी तरह संयोग को सिर्फ वासनामूलक कह करके उस का निराकरण नहीं कर सकते। जहां तक संयोगके एकान्तरूपसे पृथगस्तित्वका सवाल है वहां तक तो नैयायिकों का निराकरण करने के लिए जैन और बौद्ध समान रूपसे कटिबद्ध हैं किन्तु उस की व्यवस्थाके प्रश्न पर दोनोंमें मौलिक मतभेद है। बौद्ध उसे वासनामूलक कह देता है। जैन वासनामूलक कह करके भी उस वासनाका भी कुछ न कुछ मूल खोजता है। और उसे वस्तुकी पर्याय मान करके वस्तुभूत ही सिद्ध करता है और बौद्ध वासनामूलक कह करके अवस्तुभूत कहता है यही दोनोंमें भेद है—स्याद्वादर० पृ० ९३२ से।

व्यावृत्तिभेदका मूल भी जैन दृष्टि से कोरी कल्पना नहीं किन्तु वस्तुका तथाभूत पर्याय है। अत एव व्यावृत्तिके भेदसे भी वस्तुभेदकी व्यवस्था हो सकती है।

मीमांसक पार्थसारथी मिश्रने एक संयोग को नैयायिक की तरह अनेकाश्रित नहीं माना। उन्होंने कहा है[1] कि जैसे सादृश्य प्रतिव्यक्ति भिन्न है वैसे ही संयोग भी प्रतिव्यक्ति भिन्न है। अर्थात् मीमांसक के मतसे दोनों संयोगिव्यक्तिओंमें पृथक् पृथक् संयोग रहता है। किसी एक वस्तुमें संयोगकी वृत्ति और प्रतीति अन्य सापेक्ष है।

संयोगका प्रस्तुत वर्णन जैनोंसे मिलता है। जैनोंने भी प्रत्येक संयुक्त वस्तुमें भिन्न भिन्न पर्यायरूप संयोग माना है। वस्तुके उस पर्यायकी अन्यसापेक्षता भी जैन सम्मत है।

पृ० १४. पं० ९. **'न सन्निहित'** तुलना—"न खलु संयोगोऽपरः प्रतिभासते संयोगिव्यतिरिक्तः"—प्रमाणवा० अ० पृ० ११६। तत्त्वसं० का० ६६६। कर्ण० पृ० २१७। "न च निरन्तरोत्पन्नवस्तुद्वयप्रतिभासकालेऽध्यक्षप्रतिपत्तौ तद्व्यतिरेकेणापरः संयोगः"—सन्मतिटी० पृ० ११४. पं० १। न्यायकु० पृ० २७७। प्रमेयक० पृ० ५९४।

पृ० १४. पं० २४. **'क्षितिबीज'** संयोगसाधक प्रस्तुत अनुमान उद्योतकरने दिया है—न्यायवा० पृ० २१९. पं० १४। उसीका अनुवाद करके खण्डन तत्त्वसंग्रहमें (का० ६५४–६५६,६६४) शान्तरक्षितने और प्रमाणवार्तिककी स्वोपज्ञटीकाकी व्याख्यामें कर्णकगोमीने किया है—पृ० २१७। सन्मतिटीकाकार (सन्मति० टी० पृ० ११४. पं० ६ पृ० ६७९. पं० ५) अभयदेव, और प्रभाचन्द्राचार्य (प्रमेयक० पृ० ६१३. पं० २४) उन्हीका अनुसरण करते हैं।

पृ० १५. पं० १. **'अनवस्था'**—तुलना—"अथ संयोगशक्तिव्यतिरेकेण न कार्योत्पादने कारणकलापः प्रवर्तते इति निर्बन्धस्तर्हि संयोगशक्त्युत्पादनेऽप्यपरसंयोगशक्तिव्यति-

1. शास्त्रदी० पृ० १०२।

रेकेण नासौ प्रवर्तेत इत्यपरा संयोगशक्तिः परिकल्पनीया, तत्राप्यपरेत्यनवस्था–" सन्मतिटी० पृ० ११४. पं० ३३ ।

पृ० १५. पं० २. 'कार्येण' तुलना–"तथा संयोगमन्तरेण कार्यारम्भकत्वमेव किमेष्यते" कर्ण० पृ० २१७ ।

पृ० १५. पं० ६. 'योग्यदेशादि' तुलना– "न च विशिष्टावस्थाव्यतिरेकेण पृथिव्यादयः संयोगशक्तिमपि निर्वर्तयितुं क्षमाः । तस्मादेकसामग्र्यधीनविशिष्टोत्पत्तिमत्पदार्थव्यतिरेकेण नापरः संयोगः ।" सन्मति० टी० पृ० ११४. पं० ३७,४० ।

पृ० १५. पं० ९. 'प्रमाणत्वं न' – प्रत्यक्षकी व्याख्या करते हुए वात्स्यायनने कहा है कि इन्द्रियोंकी वृत्ति – व्यापार प्रत्यक्ष है । वृत्ति का अर्थ उन्होंने सन्निकर्ष और ज्ञान किया है । अर्थात् उनके मतसे ज्ञान अथवा सन्निकर्ष प्रत्यक्ष प्रमाण है । जब सन्निकर्षको प्रमाण मानना हो तब ज्ञान प्रमिति है और जब हानोपादानोपेक्षा बुद्धिको फल मानना हो तब ज्ञान प्रमाण है – न्यायभा० १.१.३ । वार्तिककारने भी इसी मतका समर्थन करके सन्निकर्ष को ही प्रत्यक्ष प्रमाण माननेवाले किसी का खण्डन किया है – न्यायवा० पृ० २९ । तात्पर्य० पृ० १०५ ।

किन्तु जैन-बौद्धोंने[1] तो सन्निकर्षके प्रामाण्य का भी खण्डन किया है । क्योंकि उन दोनों के मतसे ज्ञान ही प्रमाण हो सकता है अज्ञानरूप सन्निकर्ष नहीं ।

नैयायिकोंने प्रमाण को करण कहा है[2] और करण को साधकतम[3] । साधकतम वह है जिसके होनेपर कार्य निष्पत्ति होती है और जिसके नहीं होनेपर कार्य निष्पत्ति नहीं होती[4] । यदि सन्निकर्ष प्रमाण हो तब उसके होनेपर प्रत्यक्ष ज्ञान अवश्य होना चाहिए । किन्तु सन्निकर्ष के होने पर भी प्रमाणभूतज्ञान उत्पन्न न होकर संशयादि उत्पन्न होते हैं । और आकाशादिके साथ चक्षुका सन्निकर्ष होनेपर भी तद्विषयक ज्ञान उत्पन्न होता नहीं । तथा सन्निकर्ष के अभावमें अर्थात् विशेष्यके साथ सन्निकर्ष न होते हुए भी विशेषणज्ञानसे विशेष्यविषयक प्रत्यक्षप्रमिति होती है[5] ।

अतएव ज्ञान ही को साधकतम मानना चाहिए क्योंकि उसके होनेपर अव्यवहितोत्तरक्षणमें प्रमिति होती है ।

ज्ञान ही सर्व पुरुषार्थकी सिद्धिमें उपयोगी है[6] अत एव यदि पुरुषार्थकी सिद्धिके लिए प्रमाण का अन्वेषण हो तब तो प्रमाण को ज्ञानरूप ही मानना चाहिए क्यों कि वहीं हिताहितार्थकी प्राप्तिपरिहारमें समर्थ है, जडरूप सन्निकर्षादि नहीं[7] ।

सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष प्रमाका करण माननेके बारेमें दिग्नागने आपत्ति की है । उनका कहना है कि यदि प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियसन्निकर्ष जन्य हो तब चक्षुसे जो विप्रकृष्टसान्तर वस्तुका

---

१. प्रमाणवा० २.३१६ । प्रमाणवा० अ० मु० पृ० ८ । २. न्यायभा० १.१.३ । ३. "साधकतमं प्रमाणं" न्यायवा० पृ० ६ । ४. "भावाभावयोस्तद्वत्ता" न्यायवा० पृ० ६ । ५. तत्त्वार्थश्लो० पृ० १३८ । अष्टस० पृ० २७६ । प्रमेयक० १४ । न्यायकु० पृ० २९ । स्याद्वादर० पृ० ५५ । ६. न्यायबि० पृ० २ । ७. लघी० स्व० ३ । परीक्षा० १.२ । प्रमाणन० १.३ ।

ग्रहण होता है और जो अधिक का ग्रहण होता है वह नहीं हो सकता । तथा श्रोत्रसे दूर देशस्थित शब्द का ग्रहण होता है वह भी कैसे होगा । अत एव चक्षु और श्रोत्रजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष होने पर भी सन्निकर्षजन्य नहीं होनेसे लक्षण में अव्याप्ति दोष है—प्रमाणसमु० १.२०,४१ ।

दिङ्नाग की इस आपत्ति का उत्तर उद्द्योतकरने सभी इन्द्रियोंकी प्राप्यकारिता सिद्ध करके दिया । उसका कहना है कि जो जो करण होगा वह वास्यादिकी तरह प्राप्यकारि ही होगा—न्यायवा० पृ० ३३,३६ ।

किन्तु कुमारिलने संप्रयोग—सन्निकर्ष का अर्थ ही बदल दिया । इन्द्रियोंका व्यापार ही संप्रयोग है[1]—सन्निकर्ष है । यदि ऐसा माना जाय तब बौद्धोंने जो सन्निकर्ष के विषयमें दोष दिया (प्रमाणसमु० १.४१) उससे मीमांसकका प्रत्यक्ष लक्षण कैसे दूषित हो सकता है? श्लोकवा० ४. ४० । कुमारिल के पहले भवदासादिने संप्रयोग का अर्थ सन्निकर्ष किया था । किन्तु कुमारिलने व्यापार अर्थ किया और बौद्धोक्त दोषोंसे बच गए ।

कुमारिलका कहना है कि विना सम्बन्धके किसी एकसे दूसरेकी प्रतीति होगी नहीं यह कोई राजाज्ञा नहीं । सम्बन्धके विना भी प्रत्यक्ष प्रमाण है—श्लोकवा० अर्था० ८० ।

कुमारिलने इन्द्रिय व्यापार के अलावा संप्रयोग का एक और भी अर्थ किया है । अर्थकी ऋजुदेशस्थिति और इन्द्रियकी योग्यता भी संप्रयोगशब्दवाच्य है—श्लोक० ४.४२–४३ ।

जैनोंको यही पक्ष मान्य है । किन्तु जैनोंने योग्यता का अर्थ किया है प्रतिबन्धापाय अर्थात् ज्ञानावरण के हटनेसे आत्मामें जो शक्ति आविर्भूत होती है वही योग्यता है क्यों कि उसके होनेपर ही ज्ञान होता है और उसके नहीं होनेपर ज्ञान नहीं होता—न्यायकु० पृ० ३१. पं० ६,१७ ।

कुमारिलने उपर्युक्त नाना प्रकारके अर्थ करके दोषवारण किया और आखिरमें फिर बदल कर कह दिया कि सन्निकर्षका अर्थ संयोग मानें तब भी दोष नहीं क्यों कि चक्षुरादि सभी इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हो सकतीं हैं । इस प्रकार उन्होंने बौद्धोंके साथ बैठने की अपेक्षा सांख्य और नैयायिकादि के साथ रहना ही अच्छा समझा । उनको सांख्यादि की अपेक्षा बौद्ध पक्ष कुछ दुर्बल मालूम हुआ—श्लोक० ४.४३ ।

पृ० १५. पं० २२. 'षोढा सन्निकर्ष' सन्निकर्षके छः प्रकारका प्राचीन वर्णन न्यायवार्तिकमें मिलता है—पृ० ३१ । प्रमाणसमुच्चयके टीकाकारने पांच प्रकारके सन्निकर्षका उल्लेख किया है । उन्होंने विशेषणविशेष्यभावका उल्लेख नहीं किया—पृ० ३९ । प्रज्ञाकरने छः प्रकारके सन्निकर्षका उल्लेख किया है—प्रमाणवा० अ० मु० पृ० ८ ।

खण्डनके लिए देखो प्रमाणवा० २.३१५ अ० मु० पृ० ८ । न्यायमं० पृ० ४६ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १६८ । न्यायकु० पृ० ३१ । स्याद्वादर० पृ० ५९ ।

शालिकनाथने 'षोढा सन्निकर्ष' का खण्डन करके सिर्फ १ संयोग, २ संयुक्तसमवाय और ३ समवाय ये तीन सन्निकर्ष माने हैं—प्रकरणपं० पृ० ४३–४६ ।

---

1. "प्रयोग इन्द्रियाणां च व्यापारोऽर्थेषु कथ्यते"—श्लोकवा० ४.३८ ।

पृ० १६. पं० १. 'वस्तुस्वभावैः' दार्शनिकोंमे प्रायः देखा जाता है कि जब वे अपने पक्षका समर्थन दलीलोंसे करनेमें असमर्थ हो जाते हैं तब अखिरमें कह देते हैं –

"इदमेवं न वेत्येतत् कस्य पर्यनुयोज्यताम् ।
अग्निर्दहति नाकाशं कोऽत्र पर्यनुयोज्यताम् ॥" प्रमाणवा० अ० पृ० ४३ ।

किन्तु इस वस्तुस्वभावमूलक उत्तरकी क्या मर्यादा हो सकती है इसका विचार प्रज्ञाकरगुप्तने किया है । उन्होंने कहा है –

"स्वभावेऽध्यक्षतः सिद्धे परैः पर्यनुयुज्यते ।
तत्रोत्तरमिदं वाच्यं न दृष्टेऽनुपपन्नता ॥" वही० पृ० ४३

अर्थात् वस्तु जिस रूपसे प्रत्यक्ष सिद्ध हो उसी रूपके विषयमें कोई यदि पूछे कि वह क्यों है तब ही यह उत्तर देना चाहिए कि जो प्रत्यक्ष सिद्ध हो उसके विषयमें प्रश्न उठाना ठीक नहीं । यदि सर्वत्र यही उत्तर दिया जाय तब तो सभी दर्शनवाले अपने अपने पक्षको उसी एक उत्तरसे सिद्ध करके विजयी हो जायंगे – वही पृ० ४४ । आप्तमी० का० १०० ।

पृ० १६. पं० ४. 'प्रमाणजननात्' – तुलना – न्यायकु० पृ० ३० ।

पृ० १६. पं० ४. 'ईश्वरस्य' तुलना – न्यायकु० पृ०३२ पं० १७ ।

पृ० १६. पं० ८. 'अथोत्सर्गो' 'प्रमाणजननात् प्रमाणम्' यह उत्सर्ग है । अर्थात् इस नियमके बलसे प्रमाणका जनक जो भी कर्ता, करण, कर्मादि हो वह सब प्रमाण है । किन्तु 'जो जनक हो करके भी कर्ता है वह प्रमाता कहा जाता है' इस अपवादके बलसे प्रमाता प्रमाण नहीं कहा जा सकता वह प्रमाता ही कहा जायगा क्यों कि अपवाद उत्सर्गका बाधक है ।

पृ० १६. पं० १३. 'समवायं' समवायके स्वरूपादिके विषयमें जो नानाप्रकारके मतभेद हैं उनका दिग्दर्शन कराना यहां इष्ट है ।

वैशेषिक और नैयायिक प्रतीतिका[1] शरण लेकर समवाय को पृथक् पदार्थरूप मानते हैं । उनके मतानुसार वह एक[2] नित्य, व्यापक और अमूर्त है ।

वैशेषिक के मतसे अतीन्द्रिय है अत एव वह अनुमान गम्य है[3] किन्तु नैयायिकोंने देखा कि बौद्धादि सभी दार्शनिक जब समवायका खण्डन करनेके लिए उद्यत होते हैं तब यही कह देते हैं कि समवायका प्रत्यक्ष तो होता[4] नहीं तो फिर उसका अस्तित्व कैसे मानें ? अत एव उद्द्योतकरने विशेषणविशेष्यभाव नामक सन्निकर्षके बलपर उसका प्रत्यक्ष माना है – "समवाये च अभावे च विशेषणविशेष्यभावात्" न्यायवा० पृ० ३१ । और बादके नैयायिकोंने उसका समर्थन किया है – मुक्ता० का० ११ ।

बौद्धोंके मतसे अवयव और अवयवी, धर्म और धर्मी, गुण और गुणी ऐसी दो वस्तुएं एककालमें या एक देश में नहीं । एक ही वस्तु है उसे गुण कहो या धर्म कहो या और कुछ

१ "सर्वं चैतत् अबाधितप्रतीतिबलात् कल्प्यते न स्वशास्त्रपरिभाषया – न्यायमं० २८५ । "तदुक्तम् – संविदेव हि भगवती वस्तूपगमे नः शरणम्" [प्रकरणपं० पृ० २२] – वैशे० उप० ७.२.२६ ।
२ प्रशस्त० पृ० ३२४ । न्यायवा० पृ० ५२–५३ । स्याद्वादम० का० ७ । ३ वैशे० ७.२.२६ । प्रशस्त० पृ० ३२९ । ४. प्रमाणवा० २.१४९ ।

कहो । अत एव आश्रयाश्रयिभाव या आधाराधेयभाव बौद्ध सम्मत नहीं । इसी लिए बौद्धोंने समवायका खण्डन किया है—प्रमाणवा० १.७१. ।

धर्मकीर्तिने कहा है कि समवाय अतीन्द्रिय होनेसे प्रत्यक्षग्राह्य नहीं । समवायके नहीं होनेपर भी अवयवों में अवयविविषयक 'इन तन्तुओंमें पट हैं' इत्यादि प्रतीति खशाखोद्भूत वासनाके बलसे होती है, नहीं कि वस्तुकृत । क्यों कि 'गौमें शृंग है' ऐसी प्रतीत होनेपर भी शृंग अवयव होनेसे समवेत नहीं—आधेय नहीं । और जिस अवयवीको आधेय माना है उसकी आधेयतया प्रतीति होती नहीं । अन्यथा 'शृंगमें गाय है' ऐसी प्रतीति मानना पडेगा जो लोकसिद्ध नहीं । वस्तुतः बात यह है कि 'इन तन्तुओंमें पट है' ऐसी प्रतीति तो होती नहीं किन्तु 'तन्तुओंसे यह पट बना है' ऐसी प्रतीति होती है और इस प्रतीतिके मूलमें आधाराधेयभाव या तन्मूलक समवाय न होकर कार्यकारणभाव ही है । पट तन्तुका कार्य है अर्थात् सहकारिकारणोंसे संस्कृत तन्तु ही पट है । तन्तु और तद्गत पट ऐसी दो भिन्न वस्तुएं और उनको जोडनेवाला समवाय ये तीन पृथग्भूत पदार्थ एक ही कालमें मानने की आवश्यकता नहीं । कार्य और कारण एक कालमें होते ही नहीं अत एव उनके समवायकृत सम्बन्धकी कल्पनाकी आवश्यकता ही नहीं । यदि कार्य और कारण एक कालमें नहीं होते तब पटमें तन्तुकी प्रतीति कैसे होगी ? इस प्रश्नके उत्तरमें कहा कि कार्यमें कारणका उपचार करके अथवा एकाध तन्तुका पटसे बुद्धिद्वारा अपोद्धर करके भी व्यवहर्ता 'पटे तन्तुः' ऐसी प्रतीति कर सकता है । वस्तुतः तन्तुव्यतिरिक्त कोई पट पदार्थ नहीं । तन्तुका साहित्य ही अर्थात् परस्पर उपकार्योपकारकभावसे व्यवस्थित तन्तु ही पट नामसे व्यवहृत होते हैं । अत एव पट और तन्तु ऐसे दो नामों की भिन्नताके कारण वस्तुभेद का होना अनिवार्य नहीं—प्रमाणवा० २. १४९.—१५३ । तत्त्वसं० का० ८२३—८६६ ।

द्रव्य और गुण का भी भेद नहीं है । अत एव 'घटे रूपम्' इस प्रतीति के बलसे भी समवाय की सिद्धि हो नहीं सकती । वस्तुतः रूपादि ही वस्तुएँ हैं और वे नाना प्रकारकी अवस्थाओंमें पायीं जातीं हैं । कोई रूप पटात्मक है और कोई रूप घटात्मक है । अत एव पटात्मकरूपकी व्यावृत्तिके लिए 'घटे रूपं' ऐसे दो शब्दों का व्यवहार होता है । इसका अर्थ इतना ही है कि घटात्मक रूप है । घट जैसे चक्षुर्ग्राह्य होनेसे रूपात्मक है वैसे रसनग्राह्य होनेसे रसात्मक भी है । अत एव रसात्मक घटकी व्यावृत्ति करने के लिए भी 'घटे रूपं' शब्दका प्रयोग करके उसकी चक्षुरिन्द्रियग्राह्यता दिखाना भी दोनों शब्दोंके एकसाथ प्रयोगका फल है । अत एव समवायके अभावमें भी 'घटे रूपं' इत्यादि प्रतीति हो सकती है । समवाय, घट और रूप इन तीनों को भिन्न माननेकी क्या आवश्यकता है—तत्त्वसं० का० ८३२—८३४ ।

शान्तरक्षितने संयोगका उदाहरण देकर समवायकी एकता और नित्यता का भी खण्डन किया है—का० ८३५—८६६ ।

अर्चटने कहा है कि समवाय भी यदि स्वतन्त्र पदार्थ हो तो उसका दूसरे द्रव्यादिसे सम्बन्ध, एक और सम्बन्धके बिना कैसे होगा ? । एक और समवाय मानने पर अनवस्था होती है । उसकी एकतामें भी दोष अर्चटने दिये हैं—हेतु० टी० पृ० ४२ ।

अद्वैतब्रह्मवादिओं के मतसे भी धर्म-धर्मीका, कार्य-कारणका, अवयव-अवयवीका भेद नहीं अत एव वे समवाय का खण्डन करें यह स्वाभाविक ही है। ब्रह्मसूत्र मूलमें समवाय मानने पर अनवस्थादोष होनेकी बात कही है। और उसका समर्थन शंकराचार्यने अच्छी तरहसे किया है—२.२.१३. । २.२.१७।

वैशेषिक और नैयायिकोंने द्रव्य, गुण, सामान्य इत्यादिको अत्यन्त भिन्न मान करके भी गुणादिको समवाय के कारण द्रव्य परतन्त्र ही माना। तब शंकराचार्यने कहा कि वस्तुतः द्रव्यके होने पर ही गुणादि होते हैं और द्रव्यके अभावमें नहीं होते अतएव गुणादिको द्रव्यात्मक ही मानना चाहिए। द्रव्य और गुणादिका जब तादात्म्य ही सिद्ध है तब समवाय सम्बन्ध की क्या आवश्यकता? द्रव्य ही संस्थानादिके भेद से अनेक प्रकारके शब्दप्रत्ययका विषय बनता है। जैसे एक ही देवदत्त नानाप्रकारकी अवस्थाओंके कारण नानाप्रकारके पिता-पुत्रादि शब्दप्रत्ययका गोचर होता है। वैसे एक ही द्रव्य–गुण सामान्य समवाय इत्यादि अनेक रूपसे प्रतीति होता है—

"तस्मात् द्रव्यात्मकता गुणस्य। एतेन कर्मसामान्यविशेषसमवायानां द्रव्यात्मकता व्याख्याता"—शां० ब्रह्म० २.२.१७।

भेदवादी होने से बौद्धोंने रूपादिको ही वस्तुभूत मानकर उसके द्रव्यरूप आश्रयका निरास किया जब कि अद्वैती वेदान्तियों ने अभेदवादी होनेसे द्रव्यको ही वस्तुभूत मानकर गुणादिरूप आधेय का निरास किया। वस्तुतः दोनों ने आधाराधेयभावका ही निरास करके समवाय का निरास किया है। बौद्ध सभी वस्तुएँ अत्यन्त भिन्न अत एव स्वतन्त्र हैं ऐसा मानकर आधाराधेयभावका निरास करते हैं तब वेदांती संपूर्ण जगत् को एक अखण्ड अद्वितीय ब्रह्मरूप मानकर आधाराधेयकी कल्पनाको निरस्त करते हैं—

"न हि कार्यकारणयोः भेदः आश्रिताश्रयभावो वा वेदान्तवादिभिरभ्युपगम्यते। कारणस्यैव संस्थानमात्रं कार्यमित्यभ्युपगमात्"—शां० ब्रह्म० २.२.१७।

बौद्धोंने कार्यकारणभाव मान करके भी कार्य और कारण को समकालमें नहीं माना अत एव उनका आधाराधेयभाव भी नहीं माना। जब कि वेदान्तने कार्यकारणका अभेद मान कर उनके आधाराधेयभावको नहीं माना। अभेदवादीकी दृष्टि से भेदमूलक कार्यकारणभाव ही संभव नहीं।

सांख्योंने भी समवाय का खण्डन किया है।[1] क्यों कि उनके मतसे भी प्रकृति के विकार का विस्तार चाहे कितना ही हो फिर भी वह है प्रकृत्यात्मक ही, क्यों कि परिणामिनित्य प्रकृति के परिणाम प्रकृतिसे भिन्न नहीं। जब भेद ही नहीं तब समवाय की क्या अवश्यकता?। कार्य और कारण का भी भेद सांख्यसंमत नहीं—"कार्यस्य कारणात्मकत्वात्। न हि कारणाद् भिन्नं कार्यं (सांख्यत० का० ९) इत्यादि प्रतिज्ञा करके वाचस्पतिने अनेक अनुमानके बलसे कार्य और कारण का अभेद सिद्ध किया है (सांख्यत० का० ९) और कहा है कि "तन्तव एव तेन तेन संस्थानभेदेन परिणताः पटो न तन्तुभ्योऽर्थान्तरम्"—(सांख्यत०

१ प्रमाणवा० मनो० १.२३२।

का० ९) । अभेद होनेपर भी भेदव्यवहारकी सिद्धि हो सकती है । जैसे – 'इस वनमें तिलकवृक्ष हैं' इस प्रत्ययमें वन और तिलकका अभेद होने पर भी भेदव्यवहार है, वैसे ही सर्वत्र भेदप्रत्यय होने पर भी वस्तु अभिन्न – एक हो सकती है – सांख्यत० का० ९ ।

सांख्य ने वेदान्त की तरह अभेदवादका आश्रयण करके समवायका निरास किया है । किन्तु मीमांसक द्रव्य और गुण का, जाति और व्यक्तिका, कार्य और कारणका न एकान्त भेद मानता है न एकान्त अभेद[1] । अत एव उसने भेदाभेदवादी होनेके कारण समवायका निरास न करके उसके स्वरूप के विषयमें विप्रतिपत्ति उठा कर[2] समवायका स्वरूप ही बदल दिया । उसका कहना है कि समवायको स्वतन्त्र पदार्थ माननेकी अपेक्षा धर्मधर्मिके स्वरूप का अभेद मानकर उसी अभिन्नरूपको समवाय कहना युक्त है – "अभेदात् समवायोऽस्तु स्वरूपं धर्मधर्मिणोः" – श्लोकवा० ४.१४९ । समवायकी ही महिमासे आधाराधेय विषयक अभेदप्रतीति होती है । समवायके ही कारण किसी व्यक्तिमें सामान्यका अभेद मालूम होता है । क्यों कि समवायकी यह शक्ति है कि आधेय आधारमें स्वानुरूपप्रत्ययकी उत्पत्ति करावे । अत एव आधेयभूत जाति आधारभूत व्यक्तिमें भी जातिका बोध कराती है ।[3]

मीमांसक संमत इस समवायका दूसरा नाम है रूपरूपित्व । बौद्धोंने इस रूपरूपित्व सम्बन्धकी मीमांसा की है और कहा है कि इस विषयमें मीमांसक सिर्फ नयी वचन-भङ्गीका प्रयोग करते हैं उसके स्वरूपका ठीक निर्वचन नहीं करते – "तस्माद्वाचोयुक्तिनूतनतामात्रमिदं कृतम्, न त्वर्थः कश्चिदुत्प्रेक्ष्यते" — न्यायमं० पृ० २७३ ।

जैनोंके मतसे भी द्रव्य और गुणका, धर्म और धर्मीका मीमांसकों की तरह भेदाभेद ही है । अतएव नैयायिक सम्मत समवायका खण्डन करनेमें वे बौद्धादि सबका साथ देते हैं । जैनोंके मतसे समवाय द्रव्यका एक पर्याय मात्र है—

"ततोऽर्थस्यैव पर्यायः समवायो गुणादिवत् ।
तादात्म्यपरिणामेन कथञ्चिदवभासनात् ॥"

तत्त्वार्थश्लो० पृ० २० ।

पर्याय और द्रव्यका भेदाभेद है । अभेद इसलिए कि किसी एक द्रव्यके पर्यायको अन्य द्रव्य में कोई ले नहीं जा सकता –

"स्वाश्रयद्रव्यात् द्रव्यान्तरं नेतुमशक्यत्वस्याशक्यविवेचनत्वस्य कथनात्" — तत्त्वार्थ-श्लो० पृ० २१ ।

अतएव पर्यायका द्रव्यसे विवेक अशक्य है । भेद इसलिए कि पर्याय के नष्ट होनेपर भी द्रव्य विद्यमान रहता है । यदि एकान्त अभेद होता तो पर्यायकी तरह द्रव्य भी नष्ट हो जाता ।

द्रव्यकी गुणादिके साथ अविष्वग्भावरूपसे रहनेकी अनर्थान्तरभूत अवस्था को ही जैनोंने

---

१. "भिन्नं नैव हि जात्यादेः परत्वं व्यक्तितो हि नः ॥ यदि ह्येकान्ततो भिन्नं विशेष्यात्स्याद्विशेषणम् । स्वानुरूपां सदा बुद्धिं विशेष्ये जनयेत् कथम् ॥" श्लोकवा० ४.४१,१५२ । २. वही ४.१४६–१४९ । ३. "येन सम्बन्धेनाधेयमाधारे स्वानुरूपां बुद्धिं जनयति स्वाकारेण चोपरञ्जयति······तस्यैव महिमा येनाधारमाधेयं स्वबुद्ध्यानुरञ्जयति" – शास्त्रदी० पृ० १०० ।

समवाय कहा है। अर्थात् द्रव्यकी गुणादिरूपसे परिणति ही समवाय है – द्रव्यका गुणादिके साथ एकलोलीभाव ही समवाय है – स्याद्वादर० पृ० ९६५,९७० । अ भ य दे व ने स्पष्ट कहा है कि समवायका अन्तर्भाव जीव और अजीवमें है।[१] पिछले समयमें न व्य नै या यि कों ने समवाय के ऊपर दिये गए दोषोंका अवलोकन करके उन दोषोंकी यथार्थता मानकर समवायको अनित्य और अनेकरूप माना है।

पृ० १६. पं० १३. **'न च कश्चित्'** तुलना–**"समवायाग्रहादक्षैः सम्बन्धादर्शनं स्थितम्"** – प्रमाणवा० २.१४९ ।

पृ० १६. पं० १४. **'इहेति'** प्र श स्त पा द ने समवायको इहबुद्धिसे अनुमेय कह दिया है। प्रस्तुत अनुमानके प्रयोगके लिए देखो – व्यो० पृ० १०९ ।

समवायके समर्थनके लिए देखो – न्यायवा० पृ० ५२ – ५३ । व्यो० १०७ – १०९,६९८ । समवायके खण्डनके लिए देखो – श्लोकवा० ४.१४६ । प्रमाणवा० २.१४९–१५३ । तत्त्वो० पृ० ७,७५ । ब्र० शांकर० २.२.१३,१७ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १९, ५९ । न्याया० टी० पृ० ३६ । सन्मति० टी० पृ० १०६,१५६,७०० । न्यायकु० पृ० २९४ । स्याद्वादर० पृ० ९६५ ।

पृ० १६. पं० १८. **'उत्क्रमत्र'** देखो पृ० १४. पं० १४ ।

पृ० १७. पं० २. **'अभिधास्यते'** देखो पृ० ४९. पं० २२ ।

पृ० १७. पं० ३. **'प्रतिपादयिष्यते'** देखो पृ० ९१. पं० १ ।

पृ० १७. पं० ५ **'सामग्र्येकदेश'** सामग्रीप्रमाणवाद दो प्रकारका है। सकल कारकसमुदाय जो बोधाबोधस्वभाव है प्रमाण है – यह पक्ष व्यो म शि व और ज य न्त भ ट्ट का है – **"अव्यभिचारिणीमसन्दिग्धामर्थोपलब्धिं विदधती बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम्"** – न्यायमं० पृ० १२ । व्यो० पृ० ५५४ ।

दूसरे एक पक्षका स्वयं ज य न्त ने निर्देश किया है। उस मतके अनुसार सकल कारकका समुदाय नहीं किन्तु कर्ता और कर्म से व्यतिरिक्त कारक समुदाय प्रमाण है –

"कर्तृकर्मव्यतिरिक्तमव्यभिचारादिविशेषणकार्थप्रमाजनकं कारकं करणमुच्यते । तदेव च तृतीयया व्यपदिशन्ति – दीपेन पश्यामि, चक्षुषा निरीक्षे" इत्यादि न्यायमं० पृ० १३ ।

इसी सामग्र्येकदेशको प्रमाण कहनेवालेके मतसे चक्षुरादि प्रमाण होंगे ।

शा न्त्या चा र्य ने **'आदि'** शब्दसे इसी दूसरे मतका ग्रहण किया है । स न्म ति टी का-का र ने दोनों प्रकारके सामग्रीवादका उल्लेख किया है – सन्मति० टी० पृ० ४५८. पं० ९ ।

सामग्रीप्रामाण्य के खण्डन के लिए देखो – सन्मति० टी० पृ० ४७१ । न्यायकु० पृ० ३३ ।

पृ० १७. पं० ५. **'चक्षुरादिः'** इन्द्रियके प्रामाण्यके खण्डनके लिए देखो तत्त्वार्थश्लो० पृ० १६७ ।

पृ० १७. पं० ६. **'प्रामाण्यम्'** जै न दर्शनमें प्रामाण्यचिन्ता दो दृष्टिओंसे होती है – आध्यात्मिक दृष्टि अथवा निश्चय दृष्टिसे और बाह्य दृष्टि अथवा व्यावहारिक दृष्टिसे ।

---

१. सन्मतिटी० पृ० ७३३ ।

नन्दीसूत्रमें मिथ्यादृष्टि जीवके सभी ज्ञानोंको अज्ञान ही कहा है। और सम्यग्दृष्टिके सभी ज्ञानोंको ज्ञान ही कहा है[1]। मिथ्यादृष्टि घटको घट जाने फिर भी वह अज्ञान है। और सम्यग्दृष्टिके संशयादिक भी ज्ञान ही कहे जाते हैं[2]। आचार्य उमास्वातिने समर्थन किया है कि उन्मत्त पुरुषकी तरह मिथ्यादृष्टि जीवको सदसद्का विवेक नहीं होता। जैसे उन्मादी मनुष्य माताको पत्नी और पत्नीको माता कहता है तब तो उसका अविवेक स्पष्ट है किन्तु जब वह माता को माता या पत्नी को पत्नी कहता है तब भी वहाँ यादृच्छिक उपलब्धि होनेसे विवेकका अभाव ही मानना चाहिए क्योंकि उसको सत्यासत्यके अन्तरका पता नहीं। उसकी चेतना शक्ति मदिराके कारण उपहत है। ठीक वैसे ही जिसकी चेतना शक्ति मिथ्यादर्शनसे उपहत होती है उसका ज्ञान – चाहे यथार्थ हो या अयथार्थ – सत्यासत्यका विवेक नहीं होनेसे, अज्ञान ही कहा जाता है। जिनभद्रगणिने इसके विषयमें और स्पष्टता की है कि मिथ्यादृष्टिका ज्ञान अज्ञान इस लिए कहा जाता है कि वह मोक्षका हेतु न बनकर संसारका ही हेतु होता है। और खास बात तो यह है कि ज्ञानका फल जो चारित्र है वह मिथ्यादृष्टिमें सम्भव नहीं, अत एव निष्फल होनेसे भी वह अज्ञान ही है[3]। तथा वस्तु अनन्तपर्यायात्मक है, फिर भी मिथ्यादृष्टि निर्णयकालमें भी उसे वैसी नहीं जानता, क्योंकि उसका अनेकान्तमें विश्वास ही नहीं। वस्तुतः उसको सर्वत्र विपर्यास ही है क्योंकि उसे अपने मतका मिथ्याभिनिवेश होता है।[4]

इस तरह आध्यात्मिक दृष्टिसे जो सम्यग्दृष्टि मोक्षाभिमुख जीव है उसके सभी ज्ञान प्रमाण ही हैं, और मिथ्यादृष्टि संसाराभिमुख जीवके सभी ज्ञान अप्रमाण ही हैं – इसी बातको ध्यानमें रखकर उमास्वातिने सम्यग्दृष्टिके पांच ज्ञानोंको ही प्रमाण कहा है,[5] और मिथ्यादृष्टिके तीन अज्ञानोंको प्रमाण नहीं कहा।

आगमिकशैलीसे जहाँ प्रमाण-अप्रमाणका विवेचन होता है वहाँ इसी आध्यात्मिक दृष्टिका आश्रय लेकर सैद्धान्तिकोंने ज्ञानके प्रामाण्यका निर्णय किया है। किन्तु तार्किकदृष्टिसे प्रामाण्यके चिन्तन प्रसंगमें व्यावहारिक या बाह्य दृष्टिका अवलम्बन जैन दार्शनिकोंने किया है[6]। अत एव प्रस्तुतमें भी शान्त्याचार्यने व्यावहारिक दृष्टिसे ही व्यवसायको प्रमाण कहा है। यह व्यवसाय सम्यग्दृष्टिका हो या मिथ्यादृष्टिका प्रमाण ही है।

जितने अद्वैतवादी हैं उन सभीको प्रामाण्यकी चर्चा दो दृष्टिओंसे ही करनी पडती है। ज्ञानमें प्रामाण्य या अप्रामाण्यका प्रतिपादन, या प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति और प्रमातारूप क्रिया-कारकोंकी कल्पना बिना भेद माने हो नहीं सकती। सभी अद्वैतवादिओंके मतमें एक, अखण्ड, निरंश तत्त्व ही सत्य माना गया है। किसीने उसे ब्रह्म कहा तो किसीने शून्य; किसीने ज्ञान कहा तो किसीने शब्द। वही पारमार्थिक तत्त्व है। अत एव पारमार्थिक दृष्टिसे सभी भेदमूलकव्यवहार मिथ्या हैं, सांवृत हैं। किन्तु व्यावहारिक दृष्टिसे या सांवृतिक दृष्टिसे ये सभी भेदमूलक व्यवहार सत्य हैं। व्यवहारका मूलाधार ही भेद है। अत एव व्यावहारिक

---

१. नन्दीसूत्र सू० २५। तत्त्वार्थभा० १.३२.-३३। २. विशेषा० गा० ३१४। ३. "सद-सदविसेसणाओ भवहेउजहिच्छिओवलम्भाओ। णाणफलाभावाओ मिच्छद्दिट्ठिस्स अण्णाणं॥"– विशेषा० गा० ११५,३१९। ४. विशेषा० गा० ३२३-३२४। ५. तत्त्वार्थ० १.१०। ६. ज्ञानबिन्दु § ४०-४१।

दृष्टिसे ही अद्वैतवादिओंके मतमें प्रमाण-प्रमेयादि व्यवहारोंकी घटना सत्य समझी जाती है। पारमार्थिक दृष्टिसे ब्रह्म हो या ज्ञान वह निर्विकल्प है अत एव वह न प्रमाण है न अप्रमाण, न वह प्रमाण है न प्रमेय, न वह प्रमिति है न प्रमाता। वह ऐसी सभी कल्पनासे शून्य है। वह स्वयंप्रकाशक है। अनुभवगम्य है—अवाच्य है।

परमार्थ भेदशून्य होते हुए भी भ्रान्तिके कारण, अविद्याके कारण भेदयुक्त प्रतीत होता है। भेदप्रतीति वासनामूलक है। जब तक वासना बलवती रहती है भेदव्यवहारकी सत्यता मानकर प्रमाण-अप्रमाण की व्यवस्था होती है। वासनाके अन्तके साथ भेदव्यवहारकृत व्यवस्थाका भी अन्त होता है। तब परम तत्त्वका स्वप्रकाश न प्रमाण है न अप्रमाण। वह सकल विकल्पातीत और स्वसंवेद्य है।

नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य और मीमांसा दर्शनोंमें इस प्रकार दो दृष्टिओंका अवलम्बन ले करके विचार नहीं किया गया है। ये दर्शन प्रामाण्यकी चिन्ता लौकिक दर्शनके आधार पर ही करते हैं। उनके मतानुसार शास्त्रदृष्टिसे वासितान्तःकरण पुरुषके चाक्षुष ज्ञानमें और रथ्यापुरुषके चाक्षुष ज्ञानमें प्रामाण्याप्रामाण्यकृत कोई भेद नहीं। दोनों के ज्ञान समानरूपसे प्रमाण होंगे। जैन तार्किकोंके मतसे भी यही बात है। किन्तु जैन-सैद्धान्तिकों के मतमें एकका यथार्थज्ञान होते हुए भी अप्रमाण हो सकता है और दूसरेका अयथार्थ होता हुआ भी प्रमाण हो सकता है। सैद्धान्तिकों के मतमें आत्माका ज्ञान कैसा भी हो—अविसंवादि भी क्यों न हो, पर आत्मा यदि मोक्षाभिमुख नहीं है तो उसकी उस अयोग्यताके कारण उसका ज्ञान अप्रमाण ही कहा जायगा। जब कि मोक्षाभिमुख आत्मा का संशय भी ज्ञान है, प्रमाण है।

एक और दृष्टिसे भी प्रामाण्यका विचार दार्शनिकोंने किया है। ज्ञानका ज्ञान—अर्थात् ज्ञानको विषयकरनेवाला ज्ञान—चाहे वह स्वसंवेदन हो या अनुव्यवसायरूप प्रत्यक्ष या अर्थापत्तिरूप परोक्ष—प्रमाण ही है। जैन, बौद्ध और प्राभाकरने ज्ञानको स्वप्रकाश माना है। नैयायिकोंने ज्ञान को विषयकरनेवाला अनुव्यवसायरूप मानस प्रत्यक्ष माना है और भाट्टमीमांसकोंने अर्थापत्तिरूप परोक्ष ज्ञानको ज्ञानविषयक माना है। जैनादिसंमत ये स्वसंवेदनादि कभी अप्रमाण नहीं। या यों कहना चाहिए कि ज्ञानमें जो प्रामाण्यका विचार है वह स्वापेक्षासे नहीं किन्तु स्वव्यतिरिक्त अर्थकी अपेक्षासे ही होता है[1]।

पृ० १७. पं० ११. **'अवभासो'** तुलना—"**व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्थग्राहकं मतम्। ग्रहणं निर्णयस्तेन मुख्यं प्रामाण्यमश्नुते ॥**" लघी० ६०।

पृ० १७. पं० ११. **'व्यवसायो'** संशयादि सभी ज्ञान तो हैं किन्तु अमुक ज्ञानको ही प्रमाण कहा जाता है अन्यको नही। तब सहज ही प्रश्न होता है कि ज्ञानके प्रामाण्यका नियामक तत्त्व क्या हो सकता है जिसके होनेसे किसी ज्ञानव्यक्तिको प्रमाण कहा जाय ?।

---

१. भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिह्नवः। बहिःप्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्निभं च ते ॥" आप्तमी० का० ८३। स्याद्वादर० १.२०। "स्वरूपे सर्वमभ्रान्तं पररूपे विपर्ययः" प्रमाणवा० अ० मु० पृ० ४१।

इस प्रश्नके उत्तरमें दार्शनिकोंका ऐकमत्य नहीं । शान्त्याचार्यने अर्थग्रहण, अगृहीतार्थप्रापण और गृहीतार्थप्रापण ऐसे तीन प्रामाण्य नियामक तत्त्वोंका उल्लेख करके खण्डन किया है और अपना मत बताया है कि व्यवसाय ही ज्ञानका प्रामाण्य है ।

अर्थग्रहणरूप प्रामाण्य सौत्रान्तिक को सम्मत है । उसके मतसे ज्ञानगत अर्थाकार ही अर्थात् अर्थग्रहण ही प्रामाण्य है जिसे वह सारूप्य भी कहता है ।

अगृहीतार्थप्रापणका मतलब है अपूर्वार्थप्रापण या अनधिगतार्थप्रापण । बौद्ध[1] और मीमांसक[2] दोनोंको यह इष्ट है । दोनों के मतसे ज्ञान अपूर्वार्थक हो तभी प्रमाण है अन्यथा नहीं । वेदकी नित्यताके स्वीकारके कारण मीमांसकोंको प्रामाण्यका नियामक अपूर्वार्थकत्व मानना पडा है । और वस्तुकी ऐकान्तिक अनित्यता – क्षणिकताके स्वीकारमें ही बौद्ध सम्मत अपूर्वार्थकत्वका मूल है ।

वेद यदि नित्य न हो तो पौरुषेय होने से श्रुतिको प्रत्यक्ष या अनुमानमूलक मानना पडेगा । ऐसी स्थितिमें वेदभिन्न अन्य पौरुषेय आगम शास्त्र भी प्रमाण हो जायँगे जो मीमांसकोंको इष्ट नहीं । अत एव वेदको अपूर्वार्थक मान कर प्रमाणके लक्षणमें ही 'अगृहीतग्राहि' ऐसा विशेषण मीमांसकों ने दिया ।

बौद्धों के मतसे सभी वस्तुएँ क्षणिक हैं । अत एव जैसे एक ज्ञान भिन्नकालीन दो वस्तुओंको विषय नहीं कर सकता वैसे ही एक ही वस्तु भिन्नकालीन दो ज्ञानोंका विषय हो नहीं सकती । क्योंकि ऐसा होने पर वस्तु अक्षणिक सिद्ध होगी । अत एव बौद्धोंने स्वसंमत क्षणिकत्वकी रक्षा करनेके लिए प्रमाणको अगृहीतग्राहि–अपूर्वार्थक कहा । इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध और मीमांसक परस्पर अत्यन्त विरुद्ध मन्तव्यके आधार पर एक ही नतीजे पर पहुंचे कि प्रमाण तो अपूर्वार्थक ही होना चाहिए ।

इस प्रकार प्रमाण लक्षणमें जब इस विशेषणने प्रवेश कर ही लिया तब जैनों ने भी इसे अपने ढंगसे अपनाया है । अकलङ्कने अप्रसिद्ध अर्थकी ख्यातिको प्रमाण कहा – "प्रामाण्यमप्रसिद्धार्थख्यातेः" प्रमाणसं० ३ । और माणिक्यनन्दी ने तो अपूर्वार्थ व्यवसायको ही प्रमाण कहा – "स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्" – परी० १.१ । किन्तु उन्होंने अपूर्व पदका स्वसंमत अर्थ भी स्पष्ट कर दिया है कि "अनिश्चितोऽपूर्वार्थः, दृष्टोऽपि समारोपात् तादृग्" – परी० १.४-५ । प्रभाचन्द्राचार्यने स्पष्टीकरण किया है कि हमारे मतमें यह एकान्त नहीं कि विषय अनधिगत ही हो । ज्ञान अधिगत विषयक हो या अनधिगत विषयक, जो भी अव्यभिचारादिसे विशिष्ट प्रमाको उत्पन्न करता है वह प्रमाण कहलायगा[3] – "तत्र अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वमेव प्रमाणस्य लक्षणम् । तद्धि वस्तुन्यधिगतेऽनधिगते वाऽव्यभिचारादिविशिष्टां प्रमां जनयन्नोपालम्भविषयः ।" प्रमेयक० पृ० ५९ ।

जैनों के मतसे वस्तु द्रव्य-पर्यायात्मक है । अत एव द्रव्यार्थिक दृष्टिसे अधिगत वस्तु भी पर्यायार्थिक दृष्टिसे अनधिगत हो सकती है । मीमांसकोंने भी वस्तुको सामान्यविशेषात्मक

---

१. न्यायबि० पृ० ६ । २. "सर्वस्यानुपलब्धेऽर्थे प्रामाण्यं" श्लोकवा० पृ० २१० । ३. "गृहीतमगृहीतं वा स्वार्थं यदि व्यवस्यति । तन्न लोके न शास्त्रेषु विजहाति प्रमाणताम्" त० श्लो० पृ० १७४ ।

माना ही है। उनके मतमें भी वस्तु सामान्यतया अधिगत और विशेषतया अनधिगत हो सकती है। अत एव 'ऐकान्तिक रूपसे अनधिगत ही प्रमाणका विषय होना चाहिए' यह मीमांसकों का आग्रह ठीक नहीं – प्रमेयक० पृ० ६० ।

इसी प्रकारके अपूर्वार्थक बोधको अकलंकने प्रमितिविशेष, अनिश्चितनिश्चय और व्यवसायातिशय (अष्टश० का० १०१) कहा है। तथा विद्यानन्दने उपयोगविशेष भी कहा है – अष्टस० पृ० ४ ।

श्वेताम्बर जैनाचार्यों ने तो प्रमाण लक्षणमें उक्त विशेषणको स्थान ही नहीं दिया। प्रत्युत उस विशेषणका खण्डन ही किया है – प्रमाणमी० १.४ ।

गृहीतार्थप्रापणका मतलब है अविसंवाद। धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिकमें अविसंवादि ज्ञानको प्रमाण कहा है – **"प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्"** प्रमाणवा० १.३ । और अविसंवाद का अर्थ किया है **"अर्थक्रियास्थितिः अविसंवादनम्"** १. ३ । इसीका अर्थ धर्मोत्तरने न्यायबिन्दु टीका में स्पष्ट किया है – **"लोके च पूर्वमुपदर्शितमर्थं प्रापयन् संवादक उच्यते । तद्वज्ज्ञानमपि स्वयं प्रदर्शितमर्थं प्रापयत् संवादकमुच्यते । प्रदर्शिते चार्थे प्रवर्तकत्वमेव प्रापकत्वम् । तथा हि – न ज्ञानं जनयदर्थं प्रापयति । अपि त्वर्थे पुरुषं प्रवर्तयत् प्रापयत्यर्थम् । प्रवर्तकत्वमपि प्रवृत्तिविषयप्रदर्शकत्वमेव । न हि पुरुषं हठात् प्रवर्तयितुं शक्नोति विज्ञानम्"** न्यायबिन्दुटीका पृ० ५ ।

यदि वस्तु एकान्त क्षणिक हो तब अविसंवाद संभव ही नहीं ऐसा कह कर शान्त्याचार्यने धर्मकीर्ति संमत इस लक्षणका खण्डन किया है। किन्तु उनको भी अविसंवाद एकान्ततः प्रमाण लक्षणरूपसे अनिष्ट है सो बात नहीं। क्योंकि उन्होंने आगम प्रामाण्यके समर्थनमें "छेदो मानसमन्वयः" (का० ५५) कह करके अविसंवादको भी स्वीकृत किया ही है। तथा दूसरोंके आगमको प्रमाणसंवाद्यर्थका अप्रतिपादक होने से (पृ० ११२. पं० २८) अप्रमाण कहा है। इससे भी यही फलित होता है कि उनको अविसंवाद भी प्रमाणलक्षणरूपसे इष्ट है।

वस्तुतः सम्यग्ज्ञान, व्यवसाय, अविसंवादि, अबाधित, निर्णय, तत्त्वज्ञान, साधकतम, समारोपव्यवच्छेदक, अव्यभिचारि, अभ्रान्त – इन सभी शब्दोंसे दार्शनिकोंने प्रामाण्यका ही प्रतिपादन किया है। इन शब्दोंके अभिधेयार्थमें भेद भले ही मालूम हो पर तात्पर्यार्थमें कोई भेद नहीं। सभी दार्शनिक अपनी अपनी प्रक्रियाका भेद दिखानेके लिए नये नये शब्दोंकी योजना करते हैं। परिणामतः तात्पर्यार्थमें अभेद होने पर भी अभिधेयार्थमें भेद होनेके कारण परस्पर खण्डन-मण्डनका अवकाश रहता है।

अत एव हम देखते हैं कि विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें (१.१०) नैयायिकादि सभी दार्शनिक संमत प्रमाणलक्षणके खण्डन प्रसंगमें बौद्धसंमत अविसंवादका भी खण्डन किया है। किन्तु उन्होंने स्वयं और अकलंकने भी आप्तमीमांसाकी टीकामें[1] अनेकत्र अविसंवादको प्रमाण लक्षण माना है। अत एव विद्यानन्दको आखिरकार समन्वय भी करना पडा कि अविसंवाद कहो या स्वार्थव्यवसाय तात्पर्यमें कोई भेद नहीं[2]।

---

१. अष्टस० पृ० ७४,२७८ । २. अष्टस० पृ० २७९ । प्रमाणपरीक्षा पृ० ५३ ।

पूर्वोक्त तीनों प्रामाण्य नियामक तत्त्वोंका खण्डन शान्त्याचार्यने किया है और अपनी ओरसे व्यवसायको ही नियामक तत्त्व माना है। इसके अलावा अन्य जैनाचार्योंने जिन नियामक तत्त्वोंका स्वीकार किया है उनका उल्लेख भी यहाँ आवश्यक है। अकलंक और विद्यानन्द आप्तमीमांसा की टीकामें (का० ६) तर्कका प्रामाण्य सिद्ध करते हुए विचारकत्व, संवादकत्व, और समारोपव्यवच्छेदकत्व ऐसे तीन हेतु देकर इन तीनोंकी प्रामाण्य नियामकता सूचित करते हैं। वैसे ही साधकतमत्व और स्वार्थाधिगमफलत्वकी भी सूचना उन्होंने उसी प्रसंगमें दी है। आप्तमीमांसा मूलमें तत्त्वज्ञानको ही प्रमाणका लक्षण कहा गया है (का० १०१)। उसीके समर्थनमें विद्यानन्दने एक और लक्षणकी भी सूचना की है। वह है—सुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्व। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें भी उसका उल्लेख है (पृ० १७५); और तत्त्वोपप्लवकारको उत्तर देने के लिए भी विद्यानन्दने उसी लक्षण की कल्पना करके कहा है कि अदुष्टकारणारब्धत्वादि अन्यसंमत प्रमाण लक्षण भले ही असंगत हों किन्तु सुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्व असंगत नहीं और वही स्वार्थव्यवसायरूप है—अष्टस० पृ० ४१।

परन्तु सन्मतिटीकाकार अभयदेवको सुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्वरूप प्रमाण लक्षण इष्ट नहीं। उनका कहना है कि बाधकाभावका निर्णय करना संभव नहीं। अत एव वह प्रमाण-लक्षण नहीं हो सकता—सन्मतिटी० पृ० ६१४। यहाँ हमें एक बात अवश्य ध्यानमें रखनी होगी कि अभयदेवने भी प्रमाण लक्षणरूपसे स्वार्थनिर्णितिको[1] ही माना है और विद्यानन्दने स्वार्थनिर्णिति और सुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्वकी एकता सिद्ध की है। ऐसी स्थितिमें दोनों के बीच कोई मौलिक भेद नहीं रहता।

तत्त्वोपप्लवकारने प्रमाणके खण्डन प्रसंगमें जिन प्रामाण्य नियामक[2] तत्त्वोंका उल्लेख किया है वे ये हैं—अदुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यता, बाधारहितत्व, प्रवृत्तिसामर्थ्य (पृ० २), अनधिगतार्थगन्तृत्व (पृ० २२) और अविसंवादित्व (पृ० २८)। विद्यानन्दने तत्त्वोपप्लव-के इस पूरे पूर्वपक्ष को उद्धृत करके अपनी ओरसे सुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्वको नियामक-तत्त्व सिद्ध किया है—अष्टस० पृ० ३८–४१। और वही शान्त्याचार्य संमत व्यवसाय है।

पृ० १७. पं० १६ **'ज्ञानाभिधान'** तुलना—**"प्रत्यक्षस्यापि प्रामाण्यं व्यवहारापेक्षं। स पुनः अर्थाभिधानप्रत्ययात्मकः"** लघी० स्व० ४२।

पृ० १७. पं० १९. **'स्वयमेव'** शान्त्याचार्यने स्वसंवेदनको सिद्ध करनेके लिए यह पूर्वपक्ष उठाया है। स्वसंवेदनके विषयमें दार्शनिक मतभेदोंके वर्णनके लिए देखो—प्रमाण० भाषा० पृ० १३०।

पृ० १७. पं० २३ **'सुशिक्षितो'** तुलना—**"न हि सैवासिधारा तयैव छिद्यते"** प्रमाण०

---

१. "तस्मात् प्रमाणं स्वार्थनिर्णितिस्वभावं ज्ञानम्" **सन्मतिटी० पृ० ४७५।** २. इस के साथ प्रमेयकमलमार्तण्डगत (पृ० ३६) अप्रामाण्यनियामकतत्त्वोंके संचयकी तुलना करना चाहिए। इन तत्त्वोंकी गिनती बौद्ध दृष्टिसे प्रभाचन्द्रने की है।

अ० मु० पृ० १४ । तात्पर्य० पृ० ३६९ । प्रमेयक० पृ० १३६ । स्याद्वादर० पृ० २२१; "अंगुल्यग्रं यथात्मानं नात्मना स्प्रष्टुमर्हति" प्रकरणपं० पृ० ६३ ।

पृ० १७. पं० २५ **'कथम्'** यहाँसे शान्त्याचार्य उत्तरपक्षकी रचना करते हैं । तुलना— **"स्वसित्वेव प्रमोत्पत्तिः स्वप्रमातृत्वमात्मनः । प्रमेयत्वमपि स्वस्य प्रमितिश्चेयमागता ॥"** तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४३ ।

पृ० १७ पं० २५. **'कल्पिताः'** शान्त्याचार्यने क्रियाकारक व्यपदेशको कल्पित कहा है उसका तात्पर्य है कि 'यह कर्ता है', 'यह करण है' 'यह क्रिया है' इत्यादि व्यवहार विवक्षाधीन है अतएव कल्पित है । क्यों कि एक ही वस्तुको हम विवक्षाके भेदसे कर्ता-करणादि अनेक रूपसे कह सकते हैं । विवक्षाका मूल जैन दृष्टिसे वस्तुकी अनेकात्मकता है । जब कि बौद्ध दृष्टिसे वासना है ।

जैन और बौद्ध दोनों कारकव्यवहारको काल्पनिक मानते हैं । बौद्धोंने उसे वासनामूलक माना । जब कि जैनोंने अनन्तधर्मात्मक वस्तुके किसी विवक्षित रूपको तत् तत् व्यवहार का कारण माना—

"कारकाणां विवक्षातः प्रवृत्तेरेकवस्तुनि ॥ विवक्षा च प्रधानत्वात् वस्तुरूपस्य कस्यचित् । तदा तदन्यरूपस्याविवक्षा गुणभावतः ॥ तत्त्वार्थश्लो० पृ० ६१ ।

"एवंप्रकारा सर्वैव क्रियाकारकसंस्थितिः", "एवंप्रकारा=कल्पितैव" – प्रमाणवा० २.३१९ ।

"कल्पितः कर्मकर्त्रादिः परमार्थो न विद्यते ।
आत्मानमात्मनैवात्मा निहन्तीति निरुच्यते ॥" – प्रमाण० अ० मु० पृ० ३७ ।

इस विषयमें भर्तृहरिका मत भी उल्लेख योग्य है – उन्होंने भी सकल पदार्थोंको सर्व शक्तियुक्त मान करके व्यपदेशको विवक्षाधीन स्वीकार किया है – और उस व्यवहारको बुद्धिकृत माना है—

"शक्तिमात्रासमूहस्य विश्वस्यानेकधर्मणः । सर्वदा सर्वथा भावात् क्वचित् किंचिद्विवक्ष्यते ॥ साधनव्यवहारश्च बुद्ध्यवस्थानिबन्धनः । सन्नसन् वार्थरूपेषु भेदो बुद्ध्या प्रकल्प्यते ॥" वाक्य० काण्ड. ३. पृ० १७४,१७५ । **"प्रयोक्तैवाभिसन्धत्ते साध्यसाधनरूपताम् । अर्थस्य वाऽभिसम्बन्धकल्पनां प्रसमीहते ॥"** वाक्य० का० २.४३५ ।

पृ० १८. पं० १. **'प्रदीपवदिति'** तुलना – **"न, प्रदीपप्रकाशसिद्धिवत् तत्सिद्धेः ।"** न्यायसू० २.१.१९ । **"केचित्तु दृष्टान्तमपरिगृहीतं हेतुना विशेषहेतुमन्तरेण साध्यसाधनायोपाददते – यथा प्रदीपप्रकाशः प्रदीपान्तरप्रकाशमन्तरेण गृह्यते तथा प्रमाणानि प्रमाणान्तरमन्तरेण गृह्यन्त इति ।"** – न्यायभा० २.१.१९ । **"उत्पद्यमानैवासौ ज्ञायते ज्ञापयति चार्थान्तरं प्रदीपवत्"** । – शाबर० १.१.५ ।

"आत्मरूपं यथा ज्ञाने ज्ञेयरूपं च दृश्यते ।
अर्थरूपं तथा शब्दे स्वरूपं च प्रकाशते ॥" वाक्य० १.५० ।

"प्रकाशमानस्तादात्म्यात् स्वरूपस्य प्रकाशकः । यथा प्रकाशोऽभिमतस्तथा धीरात्मवेदिनी ॥" प्रमाणवा० २.३२९ । परी० १.१२ । न्याया० टी० पृ० १२ । प्रमाणलक्ष्म पृ० १ । स्याद्वादर० पृ० २२०,२३१ ।

पृ० १८. पं० १. 'सजातीयानपेक्षत्वेन' तुलना–"संवित् स्वप्रकाशे स्वावान्तरजातीयं नापेक्षते, वस्तुत्वात्, घटवत्" प्रमाणमी० १.१.२।

"केवलं प्रकाशकत्वं सजातीयान्तरानपेक्षत्वे साध्ये विकल्पनीयं–किमत्यन्तसजातीयम्, आहो सजातीयमात्रम्। यद्यत्यन्तसजातीयं ततः सिद्धसाधनम्। न हि चक्षुरादिप्रमाणं स्वग्रहणे चक्षुराद्यन्तरमपेक्षते। अथ कथञ्चित्सजातीयम्, तदपेक्षत्वम् आलोकस्याप्यस्ति, तस्य चक्षुराद्यपेक्षत्वात्। ततश्च साध्यहीनो दृष्टान्तः, विरुद्धश्च हेतुः। विषयज्ञानमपि विषयज्ञानेन न गृह्यते किन्तु ज्ञानविषयेण ज्ञानेनेति नात्यन्तसजातीयमिति"–तात्पर्य० पृ० ३७२।

पृ० १८. पं० ३. 'न किञ्चित्' तुलना–"अथात्मरूपं नो वेत्ति पररूपस्य वित्कथम्"–प्रमाणवा० २.४४४। "यदि ज्ञानेऽपरिच्छिन्ने ज्ञातोऽसाविति तत् कुतः। ज्ञातत्वेनापरिच्छिन्नमपि तद्गमकं कथम्॥" वही २.४६७। "सर्वं हि ज्ञापकं ज्ञातं स्वयमन्यस्य वेदकम्" तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४१।

पृ० १८. पं० ४. 'अन्धमूकं' तुलना–"अध्यक्षमात्मनि ज्ञानमपरत्रानुमानिकम्। नान्यथा विषयालोकव्यवहारविलोपतः॥" न्यायवि० १३।

पृ० १८. पं० ५. 'इतश्च' यहाँ से मीमांसक संमत आत्मव्यापारके प्रामाण्य का खण्डन शान्त्याचार्यने किया है। जयन्तने न्यायमञ्जरीमें (पृ० १५) औरोंके प्रमाणलक्षणके खण्डनके प्रसंगमें इसका खण्डन किया है। जयन्तने इसे शाबरों का मत कहा है। और प्रसंगसे कहा है कि "अपि च क्रियापि प्रत्यक्षद्रव्यवर्तिनी प्रत्यक्षैव, भट्टानां प्रत्यक्षश्चात्मा"। पूर्वपक्षमें स्पष्ट कहा है कि वह व्यापार फलानुमेय है और उस बातके समर्थनमें भाष्यकारके "न ह्यज्ञातेऽर्थे कश्चिद्बुद्धिं उपलभते ज्ञाते त्वनुमानादवगच्छतीति" इस वाक्य को उद्धृत करके 'वार्तिककार' कुमारिलके वचनको भी उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट है कि यह मत भाट्टोंका है। प्राभाकरोंका नहीं। किन्तु प्रभाचन्द्रने दो प्रकारके ज्ञातृव्यापारका खण्डन किया है। उनका कहना है कि अज्ञानरूप ज्ञातृव्यापार प्रभाकरसंमत है–प्रमेयक० पृ० २०। और ज्ञानरूप ज्ञातृव्यापार कुमारिलसंमत है–वही० पृ० २५।

इसके विपरीत प्रभाकर और प्राभाकरोंके ग्रन्थकी बात है। प्रभाकरने स्वयं बृहती (१. १. ५) में अनुभूतिको प्रमाण कहा है। और शालिकनाथने भी वही किया है–प्रकरणपं० पृ० ४२। तब प्रश्न यह है कि प्रभाचन्द्रने जो कुछ कहा है उसका मूलाधार क्या है?। प्रभाचन्द्रने पूर्वपक्ष-उत्तरपक्षमें प्रस्तुतवाद में सर्वत्र जयन्तका ही शब्दशः अनुकरण किया है। किन्तु जयन्तने ज्ञातृव्यापारको प्रभाकरसंमत नहीं बताया है। प्रस्तुत वादकी चर्चा सन्मतितर्कटीका (पृ० २०) में भी है।

प्रस्तुत चर्चा शान्त्याचार्यने न्यायमंजरी आदि ग्रन्थोंके आधार पर ही की हुई जान पडती है।

पृ० १८. पं० ७. 'आत्मव्यापार' "शाबरास्तु ब्रुवते······ज्ञानं हि नाम क्रियात्मकं, क्रिया च फलानुमेया ज्ञातृव्यापारमन्तरेण फलानिष्पत्तेः। संसर्गोऽपि कारकाणां क्रियागर्भ एव भवति। तदनभ्युपगमे किमधिकृत्य कारकाणि संसृज्येरन्। न चासंसृष्टानि तानि फलवन्ति······तस्माद्यथा हि कारकाणि तण्डुलसलिलानलस्थाल्यादीनि सिद्धस्वभा-

वानि साध्यं धात्वर्थमेकं पाकलक्षणमुररीकृत्य संसृज्यन्ते । संसृष्टानि च क्रियामुत्पादयन्ति तथाऽऽत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षे सति ज्ञानाख्यो व्यापार उपजायते । स च न प्रत्यक्षः ॥"–न्यायमं० पृ० १५ ।

"अप्रसिद्धसत्ताकश्च प्रभाकरमतानुसारिभिरभिप्रेतो ज्ञातृव्यापारः" न्यायकु० पृ० ४२ । प्रमेयक० पृ० २० ।

पृ० १८. पं० २३. 'मनःपरिकल्पनया' जैनोंको मन अनिष्ट है यह बात यहाँ अभिप्रेत नहीं किन्तु जैसा औरोंने मनका स्वरूप माना है वह इष्ट नहीं–ऐसा शान्त्याचार्यका तात्पर्य है ।

पृ० १९. पं० ५. 'अर्थप्राकट्य' तुलना "नान्यथा ह्यर्थसद्भावो दृष्टः सन्नुपपद्यते । ज्ञानं चेन्नेत्यतः पश्चात् प्रमाणमुपजायते ।" श्लोक० शून्य० १८२ । "वेद्यताऽर्थातिशयलक्षणा अर्थस्य दृष्टा न संवेदनविशिष्टता । सर्वस्यार्थेन्द्रियमनःसन्निकर्षे सत्यर्थस्यापि वेद्यतालक्षणपरोक्षापरोक्षरूपातिशयोऽस्ति यदुत्पन्नः । आत्मनोऽप्यर्थातिशयान्यथानुपपत्तिगम्या यस्मिन् सति ज्ञातृता सञ्जायत इति प्रक्रिया" श्लोक० तात्पर्य० पृ० २८३ । "ज्ञानजन्योऽर्थगतः कश्चिदतिशयः प्रकाशनभासनादिपर्यायपदवाच्यः । स च पाकजन्यौदनादिगतातिशयवदनवगतेऽपि ज्ञाने शक्यतेऽवगन्तुम् ।" श्लोक० न्यायर० पृ० ३१९ ।

पृ० १९. पं० ६. 'नियतम्' "अर्थप्रकाशतालक्षणोऽर्थधर्मोऽन्यथानुपपन्नत्वेनानिश्चितस्तं कल्पयति आहोस्विदनिश्चित इति ।"–सन्मति० टी० पृ० २६. पं० ३८ ।

पृ० १९. पं० १६. 'अनुमानमपि' सन्मति० टी० पृ० २०. पं० ९ से जो चर्चा शरू हुई है उसीका संक्षेप यहाँ है ।

पृ० १९. पं० १४. 'निषेत्स्यते' देखो, का० १५ ।

पृ० १९. पं० २०. 'अभावप्रमाण'–का० १५–१६ ।

पृ० १९ पं० २२. 'दृश्यानुपलम्भ'–दृश्यानुपलब्धिके स्वभावानुपलब्ध्यादि एकादशप्रयोगभेदोंका वर्णन न्यायबिन्दुमें है–पृ० ४७–५५ ।

पृ० २०. पं० २. 'कारकसंबन्ध'–"बाह्येषु कारकेषु व्यापारवत्सु फलं दृष्टम्–अन्यथा सिद्धस्वभावानां कारकाणामेकं धात्वर्थं साध्यमनङ्गीकृत्य कः परस्परं सम्बन्धः । अतस्तदन्तरालवर्तिनी सकलकारकनिष्पाद्याऽभिमतफलजनिका व्यापारस्वरूपा क्रियाऽभ्युपगन्तव्या इति प्रकृतेपि व्यापारसिद्धिरिति"–सन्मति० टी० पृ० २५. पं० १० ।

पृ० २०. पं० ५. 'कारकजन्यः' तुलना सन्मति० टी० २५. पं० १३ ।

पृ० २०. पं० ११. 'क्रियारूपः' तुलना–सन्मति० टी० पृ० २५. पं० ३२ ।

पृ० २०. पं० २०. 'व्यापारेण' तुलना–सन्मति० टी० पृ० २६. पं० ६ ।

पृ०. २०. पं० २२. "संयोग-समवाय" देखो पृ० १४. पं० ९ तथा पृ० १६. पं० १३ ।

पृ० २०. पं० २३. 'नोपपद्यत' देखो पृ० ९१ ।

पृ० २०. पं० २६ 'सुखदुःख' धर्मकीर्तिने[1] सुखादिको ज्ञानरूप सिद्ध किया है। उनका कहना है कि विज्ञानोत्पत्तिके जो कारण हैं वे ही सुखोत्पत्तिके भी हैं। अत एव सुख और ज्ञानमें भेद नहीं। शान्त्याचार्यने भी उन्हींका अनुकरण करके और उन्हींके वचनका उद्धरण देकर सुखादिको ज्ञानात्मक कहा है। शान्त्याचार्य के इस कथनको द्रव्यार्थिक नयदृष्टिसे ही ठीक समझना चाहिए। चेतन आत्मासे अभिन्न ऐसे ज्ञान और सुखका चेतनत्वेन अभेद हो सकता है "एतेन ज्ञानादर्थान्तरभूतत्वात् सुखादीनामचेतनत्वमेवेति वदन्तोऽपाकृताः प्रत्येतव्याः, चेतनादात्मनोऽनर्थान्तरत्वेन कथञ्चित् चेतनत्वसिद्धेः" – अष्टस० पृ० ७८। किन्तु पर्यायनयकी अपेक्षासे ज्ञान और सुख ऐसे दो अत्यन्त भिन्न पर्याय एक ही आत्माके हैं। अत एव ज्ञान और सुख का ऐकान्तिक तादात्म्य नहीं। सुख आह्लादनाकार है और ज्ञान मेयबोधनरूप है – इस प्रकार दोनोंके स्वरूपका भेद स्पष्ट है। दोनोंके कारणोंका भी भेद स्पष्ट ही है। सुख होता है सद्वेद्य नामक अदृष्टके उदयसे और ज्ञान होता है ज्ञानावरणीयादिके क्षयोपशमादिसे। यह भी कोई नियम नहीं कि अभिन्न कारण जन्य होनेसे ज्ञान और सुख अभिन्न ही हो क्यों कि कुम्भादिके भङ्गसे होने वाले शब्द और कपालखण्डमें किसी भी प्रकारसे ऐक्य नहीं देखा जाता – अष्टस० पृ० ७८। न्यायकु० पृ० १२९। स्याद्वादर० पृ० १७८।

नैयायिक-वैशेषिकोंने भी सुख और ज्ञानके भेदको ही माना है और बौद्धों का खण्डन किया है[2]। किन्तु वे जैनों की तरह उनको आत्मसम्बन्धी मानकर भी आत्मासे उनका अत्यन्त भेद ही मानते हैं। समवायके कारण ही आत्मा और उन दोनोंका सम्बन्ध होता है ऐसा वे मानते हैं। जैनोंके मतसे आत्मा ही उपादान कारण है और वही ज्ञान और सुखरूपसे परिणत होता है अत एव ज्ञान और सुखका कथंचिद् भेद होने पर भी आत्मासे उन दोनोंका अत्यन्त भेद नहीं।

सांख्योंने सुखादि को प्रकृति का परिणाम माना है अत एव अचेतन भी। किन्तु जैन और बौद्ध समानरूपसे सुखादिको चैतन्यरूप ही सिद्ध करते हैं और स्वसंविदित भी – प्रमाणवा० २.२४८। तत्त्वसं० का० ३६। तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४९। अष्टस० पृ० ७८।

पृ० २०. पं० २८ 'पूर्व' देखो पृ० १६।

पृ० २०. पं० ३१ 'तदतद्रू' व्याख्या – "तद्रूपिणो विवक्षितैकरूपवन्तोऽतद्रूपिण इतररूपवन्तो भावा यथाक्रमं तद्रूपाद् इष्टैकरूपाद्धेतोः सामग्रीलक्षणाज्जाता अतद्रूपहेतुजाता विलक्षणसामग्रीजाता भवन्तीति तावत् स्थितम्। तत् तस्मादिमं न्यायमुल्लंघ्य विज्ञानेन सहाभिन्न एको हेतुरिन्द्रियविषयमनस्कारादिसामग्रीलक्षणः तस्मात् जातं सुखादिकं कस्मादज्ञानं? समानसामग्रीप्रसूतत्वात् द्वयमपि ज्ञानं स्यादन्यद्वा किञ्चित्" – मनो०।

पृ० २१. पं० १. 'अविशेष' तुलना – "तस्याविशेषे बाह्यस्य भावनातारतम्यतः। तारतम्यं च बुद्धौ स्यात् न प्रीतिपरितापयोः।" प्रमाणवा० २.२७०.।

पृ० २१. पं० ७ 'भिन्नाभः' प्रमाणवा० २. २७९। "इत्यन्तरश्लोकः" – प्रमाणवा० अ०

---

१. प्रमाणवा० २.२५१.। २. न्यायवा० पृ० ३६। तात्पर्य० पृ० १२३। न्यायमं० पृ० ७०। वैशे० १.१.६। व्यो० पृ० ६२७।

पृ० ५०२। व्याख्या–सांख्यस्य तु सितदुःखादिर्भिन्नाकारोऽभिन्न इष्टः। बुद्धिवेदने तु अभिन्नामे विभिन्ने इष्टे चेत्। भेदाभेदौ किमाश्रयौ किंनिमित्तौ ते व्यवस्थापनीयौ।"– मनो०। मूल पुस्तकमें नीचे जो पाठान्तर 'ऽभिन्नो' दिया है वही ठीक है अत एव उसे मूलमें ले लेना चाहिए।

पृ० २१. पं० ११. **'स्वसंवेदनं'** स्वसंवेदनकी चर्चा के लिए निम्न लिखित ग्रन्थ देखें– प्रमाणवा० २.४२३–५३१। प्रमाणवा० अ० पृ० ४६६। प्रकरणपं० पृ० ५१। भामती– १.१.१। न्यायवि० का० १३ से। तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४१,१२५,१६५। अष्टस० पृ० ६४। सन्मति० टी० पृ० ४७५। प्रमेयक० पृ० १२१। न्यायकु० पृ० १७६। स्याद्वादर पृ० २१०। इस विषयमें दार्शनिक मतभेदोंके वर्णनके लिए देखो–प्रमाण० भाषा० पृ० १३०,१३६।

पृ० २१. पं० १२. **'अथ प्रमाणात्'**–यहाँ से प्रामाण्यका निश्चय स्वतः होता है कि परतः–इस चर्चाका उपक्रम शान्त्याचार्यने किया है। इस विषयमें दार्शनिकोंके मतभेदोंके वर्णनके लिए देखो–प्रमाण० भाषा० पृ० १६।

प्रस्तुत चर्चा का प्रारम्भ मीमांसकके द्वारा परतः प्रामाण्यवादिओंका खण्डन करा कर किया गया है। बौद्धसंमत संवादकज्ञान या नैयायिकादिसंमत कारणगुणज्ञान ये दोनों प्रवर्तक ज्ञानके प्रामाण्यके निश्चयमें असमर्थ हैं–इस बातकी स्थापना मीमांसक करता है (§ १–९)। शान्त्याचार्यने उत्तर दिया है कि ज्ञानके अबाधित होनेसे प्रामाण्य का निश्चय होता है (§ १०)। सिद्धसेनने प्रमाणको बाधविवर्जित कहा है–न्याया० १। उसी पदका यह विवरण है ऐसा समझना चाहिए।

फिर प्रश्न हुआ कि बाधकाभावका निश्चय भी कैसे होता है?। जब बाध्यबाधकभाव ही संभव नहीं तब बाधकाभावका निश्चय कैसे होगा? यदि वह न हो तो अबाधितत्वके कारण प्रामाण्य-निश्चय नहीं हो सकता (पृ० २६. पं० १६)। यह पूर्वपक्ष (§ ११–२४) बौद्ध का है क्यों कि उसे प्रामाण्यका नियामकतत्त्व अबाधितत्व नहीं किन्तु [1]अविसंवादित्व इष्ट है। अत एव उसने अबाधितत्वके खण्डनके लिए बाध्यबाधकभावका ही खण्डन किया है।

उत्तरपक्षमें (§ २५) शान्त्याचार्यने बाध्यबाधकभावके निराकरणको असंगत बता कर इस मूल प्रश्नको स्पष्ट किया है कि प्रमाणका नियामक तत्त्व क्या है–अविसंवाद या अबाधितत्व (§ २६)?। उन्होंने अविसंवादका खण्डन करके (§ २७) अबाधितत्वको ही प्रमाणका लक्षण सिद्ध किया है (§ २८) और उसका निश्चय कारणगुणकी पर्यालोचना के द्वारा स्थापित करके मीमांसकसंमत स्वतःप्रामाण्य वादका खण्डन किया है।

---

१. "एवं तर्हि अर्थक्रियाप्राप्तेः अनालम्बनत्वेपि प्रामाण्यव्यवहार इति किं नेष्यते" प्रमाणवा० अ० पृ० २५५। निरालम्बनवाद सिद्ध करनेके लिए प्रज्ञाकरने भ्रमका निरूपण किया है। उनका कहना है कि ज्ञानमें आकारमात्रका अनुभव होनेके कारण ही वह सालम्बन होगा नहीं। ऐसा मानने पर भ्रान्ता-भ्रान्तविभाग संभव नहीं। सालम्बन होने पर भी अर्थक्रियाप्राप्तिकृत प्रामाण्य यदि माना जाय तब अच्छा यही है कि ज्ञान सालम्बन न भी हो किन्तु यदि अर्थक्रियाप्राप्ति हो तब प्रमाण माना जाय। अर्थक्रियाप्राप्ति ही अविसंवाद है–प्रमाणवा० १.३। इसी प्रसंगमें ख्यातिओंका निरूपण जैसा कि शान्त्याचार्यने पूर्वपक्षमें किया है–(§ ११–२४) प्रज्ञाकरने किया है।–प्रमाणवा० अ० २५७।

अन्य जैनाचार्य संमत स्वतःपरतःप्रामाण्यके अनेकान्तकी शान्त्याचार्यने चर्चा नहीं की है। इसका मुख्य कारण तो यह जान पडता है कि 'प्रामाण्यका निश्चय परतः हो ही नहीं सकता' इस मीमांसकसंमत एकान्त का खण्डन करना ही उनको यहाँ मुख्यतया इष्ट है। और प्रसंगतः प्रमाणका अबाधितत्व स्थापित करके अविसंवादका खण्डन करना भी इष्ट है।

इस चर्चाकी सन्मतितर्कटीकागत चर्चाके साथ तुलना करना जरूरी है। देखो सन्मति० टी० पृ० ५।

पृ० २२. पं० ९. 'किञ्च' इस कण्डिकाकी और अनन्तरवर्ती कण्डिकाकी तुलना आगे आनेवाली बाधककी चर्चागत कण्डिका (§ २३) से करना चाहिए।

पृ० २३. पं० ३. 'द्विष्ठ' यह कारिका प्रज्ञाकरगुप्तकी है। इसका उत्तरार्ध है—"द्वयस्वरूपग्रहणे सति सम्बन्धवेदनम्।"—प्रमाणवा० अ० पृ० २।

पृ० २३. पं० १३. 'ननु किं बाध्यम्' यहाँ से (§ ११) जो बाध्यबाधकभावका निराकरण किया गया है वह प्रज्ञाकरगुप्तकृत प्रमाणवार्तिकालंकारसे (पृ० २५७) प्रायः शब्दशः लिया गया है। अन्य दार्शनिकोंने भी पूर्वपक्षरूपसे जो बाध्यबाधकभावका निराकरण किया है वह भी प्रायः उक्त ग्रन्थके आधार पर ही किया है। देखो व्यो० पृ० ५२५। न्यायमं० पृ० १६१। सन्मति० टी० पृ० १२,३६७।

तत्त्वोपप्लवकारने भी अपने ढंगसे मिथ्यात्वका विचार किया है—देखो तत्त्वो० पृ० १३. पं० २१। और बाध्यबाधकभावका निराकरण भी किया है—पृ० १४. पं० २४।

पृ० २३. पं० १४. 'मिथ्यात्व' अतत्त्वज्ञान मिथ्यात्व, मिथ्याप्रत्यय, भ्रम, विभ्रम, भ्रान्ति, व्यभिचारिज्ञान, विपर्यय, मिथ्याज्ञान इत्यादि शब्दोंसे दार्शनिकोंने असम्यग्ज्ञान—अविद्याका बोध कराया है। किन्तु उसके निरूपणमें नाना प्रकारके मत-मतान्तर देखे जाते हैं। अतः यहाँ पर मिथ्याज्ञान[1] के विषयमें निम्न लिखित बातों पर विचार किया जाता है।

१—अस्तित्वके विषयमें मतभेद।
२—मुख्य भ्रम और व्यावहारिक भ्रम।
३—व्यावहारिक भ्रमकी प्रक्रियामें मतभेद।
४—दोषमीमांसा।
५—प्रत्यक्षेतर भ्रम।
६—प्रामाण्यचिन्ता।

१—अस्तित्वके विषयमें मतभेद।

तत्त्वोपप्लववादी जयराशि भट्टका एक मात्र मुख्य कार्य यह है कि दूसरे दार्शनिकोंने

---

१. विद्यानन्दने विपर्ययके दो अर्थ किये हैं। सामान्य और विशेष। सामान्य विपर्ययमें संशय, अनध्यवसाय और विपर्यय—विपरीतनिर्णय का समावेश है। और विशेषविपर्ययमें भ्रमका। प्रस्तुतमें दूसरा अर्थ ही विवक्षित है—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २५५।

अपने अपने तर्कबलसे जो कुछ सिद्ध समझ रखा है उसकी नितान्त असिद्धि उनको दिखलाना। सभी दार्शनिकोंने अपने अपने दर्शनका महल मिथ्याज्ञानके आधार पर स्थिर किया है। सभी दार्शनिक इसी मिथ्याज्ञानके नाश द्वारा मोक्षका होना स्वीकार करते हैं। यदि संसारसे मिथ्याज्ञानका अस्तित्व ही मिट जाय तब दर्शनका प्रयोजन ही नहीं रहता। अतएव दार्शनिकोंके निरूपणीय मिथ्याज्ञानका भी खण्डन करना जयराशिने उचित समझा। नैयायिकसंमत प्रत्यक्ष लक्षणमें अव्यभिचारि पद है। जयराशिने बतलाया है कि कोई व्यभिचारि ज्ञान संसारमें हो तब तो उसकी व्यावृत्ति करनेके लिए प्रमाण लक्षणमें वह पद रखना योग्य है; किन्तु जब व्यभिचारि ज्ञानका अस्तित्व ही नहीं तब अव्यभिचारी विशेषण से किसकी व्यावृत्ति करना[1]? । यदि ज्ञानके विषयकी व्यवस्था घट सके तब तो हम यह कह सकते हैं कि ज्ञानका आलम्बन अन्य है और प्रतीति किसी अन्यकी होती है अतएव अमुक ज्ञान मिथ्या है। परन्तु जब वास्तवमें ज्ञानके विषयकी व्यवस्था ही नहीं बन पाती तब मिथ्याज्ञानका अस्तित्व कैसे सिद्ध होगा? । उसने अनेक विकल्प उठा करके यह सिद्ध किया है कि ज्ञानके विषयकी व्यवस्था ही नहीं हो सकती[2]।

इसका उत्तर जैन दार्शनिक प्रभाचन्द्रने दिया है[3]।

२ – मुख्य भ्रम और व्यावहारिकभ्रम।

सभी दार्शनिकोंने अपनी अपनी दृष्टिसे तत्त्वकी विवेचना की है। अतएव सभीके मतसे तत्त्वज्ञान भिन्नभिन्न विषयक फलित होता है। जब नैयायिकादि कहते हैं कि द्रव्य-गुण आदिका भेद ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान – तत्त्वज्ञान है तब इसके विरुद्ध अद्वैतवादी कहते हैं कि उस भेदज्ञानसे बढकर दूसरा कोई मिथ्याज्ञान ही नहीं। अर्थात् किसीको परमतत्त्वविषयक भ्रम है या नहीं इसका निर्णय अत्यन्त कठिन है। क्यों कि जबतक परमतत्त्वके विषयमें सभी दार्शनिक एकमत नहीं हो जाते तब तक सबमें परम तत्त्व विषयक भ्रम सदा बना ही रहेगा[4]। दार्शनिकोंका यह भ्रम परम भ्रम या मुख्य भ्रम है।

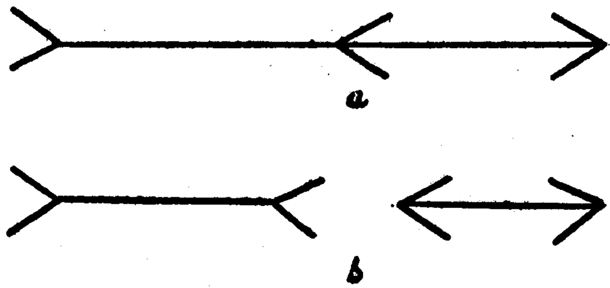
इस परमभ्रमकी व्याख्या करना कठिन है। इस परमभ्रमको सभी दार्शनिक मानते हैं किन्तु इसका कोई एक लक्षण नहीं बन सकता।

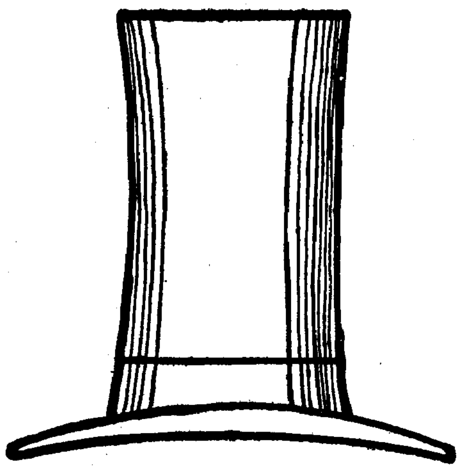
दूसरा भ्रम है व्यावहारिकभ्रम। इस व्यावहारिक भ्रमका ही प्रमाण शास्त्रमें मुख्यतः विवेचन होता है। सभी प्रामाणिकोंने इस भ्रमके अस्तित्वको समानरूपसे स्वीकार किया है और कौनसा ज्ञान इस भ्रम के अन्तर्गत है इस बारेमें भी विवाद नहीं। विवाद यदि है तो इस भ्रमज्ञान की उत्पत्तिकी प्रक्रियामें।

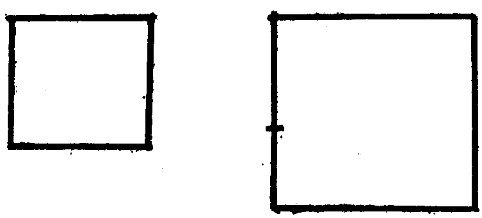
मरुमरीचिकामें जल ज्ञान, शुक्लशंखमें पीतज्ञान, चलती गाड़ीसे दौड़ते हुए वृक्षादिका ज्ञान, केशोण्डुकविज्ञान, अलातचक्रज्ञान, द्विचन्द्रज्ञान, शुक्तिकामें रजतज्ञान, गन्धर्वनगरज्ञान, रज्जमें

---

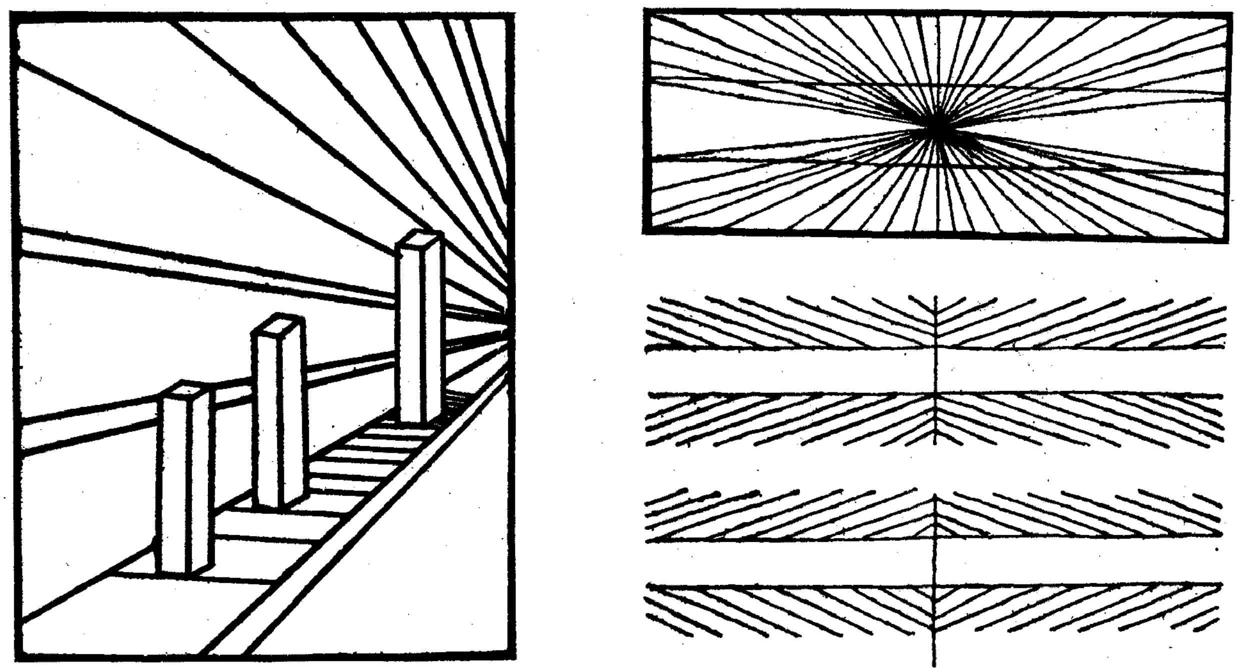
१. तत्त्वो० पृ० ११. पं० २०। पृ० १३. पं० १६। २. "कोऽयमालम्बनार्थो नाम येनेदमुच्यते अन्यदालम्बनमन्यच्च प्रतिभातीति? । किं विज्ञानजनकत्वम्, आकारार्पकत्वम्, विज्ञानाधिकरणत्वम्, विज्ञानावभासितता वा? ।" तत्त्वो० पृ० १२। ३. प्रमेयक० पृ० ४८। ४. तुलना–"सर्वज्ञेषु च भूयस्सु विरुद्धार्थोपदेशिषु । तुल्यहेतुषु सर्वेषु को नामैकोऽवधार्यताम् ॥ सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा । अथोभावपि सर्वज्ञौ मतभेदस्तयोः कथम् ॥" तत्त्वसं० ३१४८–९।







न्यायावतार वार्तिकवृत्ति (देखो, टिप्पण पृ. १५९)



न्यायावतार वार्तिकवृत्ति (देखो, टिप्पण पृ. १५९)

सर्पज्ञान, पित्त दोषसे शर्करामें तिक्तताका ज्ञान, स्वप्नविज्ञान इत्यादि ज्ञानोंको सभी दार्शनिक एकमतसे भ्रम मानते हैं। इसी व्यावहारिक भ्रमकी प्रक्रियामें दार्शनिकोंका जो कुछ मत-मतान्तर है उसीका विवेचन आगे करना इष्ट है।

आधुनिक मानस शास्त्रने भी व्यावहारिक भ्रमका विवेचन किया है। इन्द्रियके सामने उपस्थित पदार्थमें होने वाले मिथ्याप्रत्ययको मानसशास्त्री 'इल्यूझन' (Illusion) कहते हैं। और निर्विषयक मिथ्याज्ञानको 'हेल्यूशिनेशन' (Helucination) कहते हैं। रज्जुमें सर्पका ज्ञान 'इल्यूजन' है और स्वप्नविज्ञान 'हेल्यूशिनेशन' है, क्योंकि उसमें विषयकी उपस्थितिके बिना ही पदार्थका स्पष्ट आकार प्रतिभासित होता है। 'इल्यूजन' के दृष्टान्त बडे मनोरंजक हैं। उनमेंसे कुछका यहाँ निदर्शन करना अप्रस्तुत नहीं।

विषयकी अवस्थाविशेषमें इन्द्रियाँ सभीको अवश्य धोखा देती हैं। उस दशामें इन्द्रियज्ञान यथार्थ हो ही नहीं पाता। जैसे एक नापकी दो रेखाएँ हों फिर भी अवस्थाविशेषमें उनमेंसे एक छोटी और दूसरी बडी मालूम होगी (देखो चित्र नं० १)। नियम यह है कि क्षितिजकी समानान्तर (Horizontal) रेखासे लम्बरूप रेखा (Vertical) हमेशा बडी ही प्रतीत होगी। इसी नियमके आधार पर टोपीकी ऊंचाई और चौडाई समान हो तब भी चौडाईसे ऊंचाई ज्यादह मालूम होगी (देखो चित्र नं० २)।

खाली जगह से भरी जगह या विभक्त जगह हमेशा ज्यादह मालूम होती है (चित्र० नं० ३)। इस चित्रमें श्याम लकीरोंसे भरी जगह रिक्त जगह से अधिक प्रतीत होती है किन्तु दोनोंका नाप बराबर ही है।

विरोध भी इन्द्रियज्ञानोंमें भ्रम पैदा करता है। तीरकी नोकके आकारको किसी रेखाके अंतभागमें उलटा और सीधा रखनेसे रेखाके नापके जाननेमें भ्रम अवश्य होता है। चित्र नं० ४ (अ)में तीरके एक सिरेसे दूसरे सिरे तकका अन्तर समान होने पर भी असमान प्रतीत होता है। (ब) में असमानता अत्यन्त स्पष्ट है। फुटपट्टीसे नापकर समानता जानकर भी आँखोंको असमानता ही नजर आती है।

दूसरी रेखाओंके अमुक प्रकारसे संसर्गसे रेखाएँ अपना असली रूप दीखा नहीं सकतीं। सीधी रेखा टेढ़ी दिखती है (चित्र नं० ५)। इस चित्रमें अ-ब और क-ड रेखाएँ सीधी होने पर भी टेढी ही दिखती हैं। क्षेत्रफल विषयक हमारा अन्दाज प्रायः गलत होता है। नीचेके चित्र नं० ६ में दो चौरस हैं। उनमेंसे बडा छोटेसे दूना है। फिरभी वह दूना मालूम नहीं पड़ता। द्रष्टाकी दूरी या निकटताके कारण तथा उसकी अमुक स्थानमें अवस्थितिके कारण भी भ्रम होता है (Illusion of Perspection)। इसके लिए देखो चित्र नं० ७। इसमें तीनों लकडीके टुकड़े समानाकार हैं फिरभी छोडे बड़े मालूम होते हैं। हम सभी जानते हैं कि रेलकी दोनों पटरियाँ कभी नहीं मिलतीं किन्तु दूरदूर वह मिलती हुई नजर आती हैं।

३–व्यावहारिकभ्रमकी प्रक्रियामें मतभेद।

सभी दार्शनिक शुक्तिकामें रजतज्ञानको भ्रम तो मानते हैं। किन्तु उसको भ्रम क्यों कहना इस विषयमें उनका ऐकमत्य नहीं। सभी दर्शन अपने अपने तत्त्वज्ञानकी प्रक्रियाके अनुसार

उस भ्रम ज्ञानकी उपपत्ति करते हैं। दर्शनभेदसे इन उपपत्तिओंके आठ प्रकार पाये जाते हैं। जैसे –

(१) चार्वाक संमत अख्यातिवाद।
(२) माध्यमिक संमत असत्ख्यातिवाद।
(३) सांख्य संमत प्रसिद्धार्थख्यातिवाद।
(४) योगाचार संमत आत्मख्यातिवाद।
(५) ब्रह्माद्वैतवादि संमत अनिर्वचनीयख्यातिवाद।
(६) मीमांसक संमत अलौकिकार्थख्यातिवाद।
(७) प्राभाकर संमत स्मृतिप्रमोषापरपर्याय विवेकाख्यातिवाद।
(८) नैयायिक-जैनादि संमत विपरीतख्यातिवाद।

सभी दार्शनिकोंके सामने मुख्य प्रश्न यही है कि शुक्तिकामें रजतप्रत्ययकी उत्पत्तिका निमित्त क्या है?। अर्थात् शुक्तिकाके होने पर भी उसमें रजतप्रत्यय क्यों होता है? रजतका तो नेत्रके साथ संसर्ग है ही नहीं तब रजतप्रत्यय हुआ कैसे?। शुक्तिका उपस्थित होनेपर भी उसका ज्ञान क्यों नहीं हुआ?। दोष किसका? । आत्मा – प्रमाताका, शुक्तिका – विषयका, इन्द्रिय – अधिपतिका या आश्रयका। इन दोषोंकी मीमांसाके समय ही सभी दार्शनिक दो विभागोंमें विभक्त हो जाते हैं। बाह्यार्थवादिओंके लिये समस्याका हल एक है। और अद्वैतवादिओंके लिये समस्याका हल दूसरा ही है। बाह्यार्थवादिओंके सामने प्रश्न यह है कि यदि ज्ञान अर्थानुसारि हो तो फिर शुक्तिकाका अनुसरण न करके वह रजतावसायि कैसे हुआ?। जब कि अद्वैतवादिओंके सामने प्रश्न यह है कि शुक्तिका और रजत इन दोनोंका अस्तित्व न होते हुए भी वहाँ रजत क्यों दिखाई देता है और शुक्तिमें शुक्तिका ज्ञान अभ्रान्त और उसीमें रजतका ज्ञान भ्रान्त क्यों?। जब कि अर्थाभाव दोनों स्थलमें समान है फिर भ्रान्ताभ्रान्त विवेक कैसे?। इन प्रश्नोंके उत्तरमें से उपर्युक्त मतोंका आविर्भाव हुआ है।

(१) चार्वाक संमत अख्यातिवाद।

चार्वाक अख्यातिवादी है। प्रभाकर संमत विवेकाख्याति भी संक्षेपमें अख्याति कहलाती है। किन्तु चार्वाक संमत अख्यातिका मतलब कुछ और है और प्रभाकर संमत अख्यातिका मतलब कुछ और।

चार्वाकका कहना है कि अन्य वस्तु अन्याकारसे प्रतीत नहीं हो सकती। वह दलील करता है कि यदि रजतज्ञानका विषय रजत माना जाय तब वह भ्रान्त कैसे सिद्ध होगा?। और शुक्तिकाको तो रजतज्ञानका विषय मान ही नहीं सकते क्योंकि रजत ज्ञानमें वह प्रतिभासित ही नहीं होती। अत एव चार्वाकका सिद्धान्त यह है कि शुक्तिकामें रजत प्रत्ययको निरालम्बन ही मानना उचित है। क्यों कि इस प्रत्ययमें किसी भी वस्तुकी ख्याति है ही नहीं, इस लिये इसे अख्याति कहना चाहिए[१]।

---

१. प्रमेयक० पृ० ४८। स्याद्वादर० पृ० १२४।

चार्वाक के इस मन्तव्यमें निरालम्बनज्ञानवादी योगाचार और माध्यमिक बौद्धों की स्पष्ट छाप है । येही बौद्ध सभी ज्ञानोंको निरालम्बन मानते हैं । क्योंकि उनके मतमें बाह्यार्थका अभाव है फिर भी प्रत्ययका अस्तित्व तो है । वे वासनाके बलसे निरालम्बन प्रत्ययोंकी उत्पत्ति घटाते हैं । चार्वाकोंने नैयायिकादि बाह्यार्थवादिओंकी युक्तिका आश्रय लेकरके सम्यग्ज्ञानोंको सविषय माना जब कि मिथ्याज्ञानोंको निरालम्बन सिद्ध करनेमें बौद्धों की युक्तिओंका उपयोग किया ।

विपर्ययको भी सालम्बन माननेवालोंने चार्वाकको उत्तर यह दिया है कि यदि विपरीत-प्रत्यय निरालम्बन है, उसमें स्व या पर कुछ भी प्रतिभासित नहीं होता तब वह रजतज्ञान क्यों कहा जाता है ? ।

दूसरी बात उन्होंने चार्वाकसे यह कही है कि तुम्हारे मतसे सुप्तावस्था और भ्रम इन दोनोमें जब कुछ प्रतिभासित नहीं होता तब उक्त दोनो अवस्थाओंमें भेद क्या रहा ? ।

यह चार्वाकसंमत अख्यातिवाद प्रभाचन्द्र के पहलेके ग्रन्थोंमें देखा नहीं जाता । मालूम होता है कि तत्त्वोपप्लवकारके भ्रमज्ञानके निराकरणको ही प्रभाचन्द्रने चार्वाकसंमत अख्यातिवाद मानकरके उसे अख्यातिवादी कहा है । उनका ऐसा कहना युक्तिसंगत ही है । क्योंकि तत्त्वोपप्लवकार भ्रमनिराकरणके प्रसंगमें बारबार कहता है कि "स्वविषयपर्यवसायिन्यो हि बुद्धयः" (पृ० १४, पं० २३ । पृ० १५, पं० २६) । और उसी प्रसंगमें उसने आलम्बनका निषेध किया है (पृ० १२) ।

तत्त्वोपप्लवके शब्दोंका अनुवाद करके ही प्रभाचन्द्रने अख्यातिवादको उपस्थित किया है । इससे स्पष्ट है कि चार्वाक संमत अख्यातिवादका मूल तत्त्वोपप्लवमें ही है—देखो प्रमेयक० पृ० ४८ और तत्त्वो० पृ० ११ से ।

(२) माध्यमिक संमत असत्ख्यातिवाद ।

सुषुप्ति अवस्थामें अर्थका प्रतिभास नहीं है और भ्रान्त प्रत्ययमें अर्थका प्रतिभास है यही दोनों अवस्थाका भेद है अत एव भ्रान्तप्रत्ययको चार्वाककी तरह निरालम्बन माना नहीं जा सकता । 'जिस अर्थका प्रतिभास होता है उसीको आलम्बन मानना उचित है' ऐसा मानते हुए भी माध्यमिक कहता है कि भ्रममें प्रतिभासका विषय कोई बाह्य सत् तो नजर आता नहीं अत एव उसमें असत् का ही प्रतिभास होता है ऐसा मानना चाहिएं[1] ।

इस प्रकार माध्यमिकने एक ही तीरसे दो पक्षिओंको मारनेकी उक्तिको सार्थक किया है । क्योंकि ज्ञानको सालम्बन मान करके भी यदि वह बाह्यार्थको आलम्बन नहीं मानता तो उसके मतसे एक प्रकारका निरालम्बनवाद ही सिद्ध होता है । इसी तरह वह यदि ज्ञानके विषयको असत् मानता है तो उसके मतानुसार प्रमाणके बलसे प्रमेयकी सिद्धि न होनेके कारण शून्यवाद ही सिद्ध होता है ।

सारांश यह है कि माध्यमिक सभी वस्तुओंको असत् ही—निःस्वभाव ही मानता है[2] ।

१. प्रमेयक० पृ० ४९ । २. विग्रह० का० १, २१-२३,६७ ।

वह पदार्थोंकी[1] व्यावहारिक सत्ता मानकर उनकी परीक्षा करता है और अन्तमें सभी की असत्ता सिद्ध करता है। माध्यमिककी कोई प्रतिज्ञा या स्थापना नहीं है। दूसरोंकी प्रसिद्धिको असंगत बताना ही उसका कार्य है।[2] अत एव उसके मतानुसार सभी सविषयक ज्ञान मिथ्या – भ्रम ही हैं[3]। व्यावहारिकसत्यके आधार पर ज्ञानोंमें भ्रमाभ्रम विवेक भले ही हो पर परमार्थदृष्ट्या सभी ज्ञान भ्रम हैं।

(२) सांख्यसंमत प्रसिद्धार्थख्याति।

माध्यमिकसे ठीक विरुद्ध बात सांख्य कहता है। माध्यमिकके मतसे सभी शून्य है असत् है निःस्वभाव है। तब सांख्यके मतसे सर्व वस्तुकी सर्वत्र सत्ता है। माध्यमिकके मतसे बाह्यार्थको विषय करनेवाले सभी ज्ञान परमार्थतः भ्रान्त हैं तब सांख्यके मतसे कोई ज्ञान परमार्थतः भ्रान्त नहीं। अर्थात् स्थूलदृष्ट्या ही कुछ ज्ञानोंमें भ्रान्तताका व्यवहार होता है। सांख्य का कहना है कि यदि वस्तु सर्वथा असत् हो तो आकाशकुसुमवत् वह प्रतिभासका विषय बन ही नहीं सकती[4]। ज्ञानमें जब और जहाँ अर्थ प्रतिभासित होता है तब और तहाँ वह अर्थ प्रमाणप्रसिद्ध ही है। अत एव जिसे भ्रमज्ञान कहा जाता है वह प्रसिद्ध अर्थकी ही ख्याति होनेसे प्रसिद्धार्थख्याति है। बादमें जब अर्थ अव्यक्त हो गया तब व्यवहारमें उसकी अनुपलब्धि होनेसे हम उस ज्ञानको भ्रम भले ही कहें पर वस्तुतः वह भ्रम नहीं है। क्योंकि विद्युत् आदि क्षणिक पदार्थकी तरह उत्तरकालमें उसकी उपलब्धि न भी हो तो भी ज्ञान कालमें उसका अस्तित्व सिद्ध ही है। अन्यथा विद्युदादि ज्ञानोंको भी भ्रम मानना होगा।

सांख्यका यह मत उसके सिद्धान्तानुकूल ही है। तथापि उसे प्रस्तुतमें नैयायिकादिके प्रभावसे मुक्त नहीं माना जा सकता। क्योंकि 'ज्ञान निरालम्बन हो नहीं सकता' इस नैयायिक आदिके सिद्धान्तको अर्थतः स्वीकार करनेके बाद ही अपनी ज्ञेय-मीमांसाके आधार पर उसे यही कहना पडा कि भ्रममें भी ख्याति प्रसिद्धार्थकी ही होती है। सांख्यके मतसे किसी वस्तुका कहीं भी अभाव नहीं है। इसी लिये वह सत्कार्यवादी है।

सांख्यमतके साथ रामानुजसंमत भ्रमका निरूपण तुलना के योग्य है। रामानुजने भ्रम स्थलमें सत्ख्याति मानी है। उनका कहना है कि जिसे हम शुक्तिका समझते हैं वस्तुतः उसमें रजतांश और शुक्तिकांश दोनों हैं। शुक्तिकामें शुक्तिकांश का बाहुल्य होनेसे वह शुक्तिकाके नाम से व्यवहृत मात्र होती है। अत एव शुक्तिकामें जब रजत प्रत्यय होता है तब वह यथार्थ ही है। फिर भी व्यवहारमें मिथ्या – भ्रम इस लिए कहा जाता है कि चक्षुरादिके दोषके कारण मात्र रजतांशका दर्शन हुआ और शुक्तिकांशका नहीं हुआ। दोषके हट जानेसे

---

१. "संव्यवहारं च वयं नानभ्युपगम्य कथयामः।" विग्रह० २८। "व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते। परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते॥" माध्य० २४.१०। २. "यदि काचन प्रतिज्ञा तत्र स्यात् एष मे भवेद् दोषः। नास्ति च मम प्रतिज्ञा तस्मान्नैवास्ति मे दोषः॥" विग्रह० २९। माध्य० वृ० पृ० १६। ३. "यदि किञ्चिदुपलभेयं प्रवर्तयेयं निवर्तयेयं वा प्रत्यक्षादिभिरर्थैस्तद्-भावान्मेऽनुपालम्भः॥" विग्रह० ३०। ४. प्रमेयक० पृ० ४९।

शुक्तिकांशका दर्शन होने पर रजतज्ञान निवृत्त हो जाता है। इस प्रकार रा मा नु ज के मतानुसार व्यवहारमें रजतप्रत्यय बाध्य होनेसे भ्रम कहा जाता है पर वस्तुतः वह यथार्थ ही है।

रा मा नु ज ने सां ख्यो की तरह सब वस्तुओंकी सर्वत्र सत्ता मानी है अत एव उनके मतानुसार परमार्थतः सभी ज्ञान यथार्थ ही होते हैं।

स्वप्नादिज्ञानोंमें अन्य दार्शनिक जब विषयका अत्यन्ताभाव मानते हैं तब रामानुज मानते हैं कि उन ज्ञानोंमें भी जीवके पापपुण्यके कारण ईश्वर तत्तत्कालभावी पदार्थोंकी रचना कर देता है—

"यथार्थं सर्वविज्ञानमिति वेदविदां मतम्। श्रुतिस्मृतिभ्यः सर्वस्य सर्वात्मत्वप्रतीतितः" ॥ "शुक्त्यादौ रजतादेश्च भावः श्रुत्यैव चोदितः। रूप्यशुक्त्यादिनिर्देशभेदो भूयस्त्वहेतुकः ॥ रूप्यादिसदृशश्चायं शुक्त्यादिरुपलभ्यते। अतस्तस्यात्र सद्भावः प्रतीतेरपि निश्चितः ॥ कदाचिच्चक्षुरादेस्तु दोषाच्छुक्त्यंशवर्जितः। रजतांशो गृहीतोऽतो रजतार्थी प्रवर्तते ॥ दोषहानौ तु शुक्त्यंशे गृहीते तन्निवर्तते। अतो यथार्थं रूप्यादिविज्ञानं शुक्तिकादिषु ॥ बाध्यबाधकभावोऽपि भूयस्त्वेनोपपद्यते। शुक्तिभूयस्त्ववैकल्यसाकल्यग्रहरूपतः ॥ नातो मिथ्यार्थसत्यार्थविषयत्वनिबन्धनः। एवं सर्वस्य सर्वत्वे व्यवहारव्यवस्थितिः ॥ स्वप्ने च प्राणिनां पुण्यपापानुगुणं भगवतैव तत्तत्पुरुषमात्रानुभाव्याः तत्तत्कालावसानास्तथाभूताश्चार्थाः सृज्यन्ते ॥" श्रीभाष्य १.१.१.।

(४) योगाचारसंमत आत्मख्याति ।

[1]वि ज्ञा न वा दी बौ द्धों ने भ्रम दो प्रकारका माना है। एक मुख्य भ्रम और दूसरा प्रातिभासिक भ्रम। व्यवहारमें हमारी इन्द्रियोंकी जितनी शक्ति है उसके अनुसार ही, उसकी मर्यादामें ही रहकर हम सभी अपने संवादि ज्ञानोंको प्रमाण – अभ्रान्त मानकर प्रवृत्त होते हैं। यद्यपि ये हमारे सभी ऐन्द्रियक ज्ञान पारमार्थिक दृष्टिसे अर्थात् योगिज्ञानकी दृष्टिसे भ्रान्त ही होते हैं। जैसे दोनों तैमिरिकोंको परस्पर द्विचन्द्रदर्शनमें संवाद है और एक दूसरे की अपेक्षासे उन दोनोंका ज्ञान उनको अविसंवादि ही मालूम होता है। उसी प्रकार हम सभी पृथग्जनोंकी ऐन्द्रियक शक्तिमर्यादा करीब करीब एकसी है अत एव एक हदतक, हम सभी, अपने कुछ ज्ञानोंको अभ्रान्त और कुछ को भ्रान्त मानकर, अपना व्यवहार चलाते हैं। वस्तुतः जिस इन्द्रिय ज्ञानको हम प्रमाण – अभ्रान्त समझते हैं वह भी योगिज्ञानकी दृष्टिसे अर्थात् पारमार्थिक प्रत्यक्षकी दृष्टिसे भ्रम ही है। जिस अविसंवादके कारण इन्द्रिय ज्ञानको अभ्रान्त समझा जाता है वह अविसंवाद वस्तुतः दृश्य और प्राप्यके एकत्वारोपसे ही घट सकता है ऐसी स्थितिमें पृथग्जनोंका अविसंवादि ज्ञान भी परमार्थ दृष्टिसे भ्रम ही समझना होगा। इसी पारमार्थिक दृष्टिसे ही अनुमान ज्ञानको[2] भ्रान्त कहा जाता है। व्यावहारिक दृष्टिसे तो वह भी अभ्रान्त है।

व्यावहारिक दृष्टिसे भी जो विसंवादि है वह व्यावहारिक या प्रातिभासिक भ्रम है। यदि इन्द्रियजन्य कोई ज्ञान पारमार्थिक दृष्टिसे अभ्रान्त हो सकता है तो वह साक्षात् अर्थ-

---

१. 'बुद्धिस्ट लोजिक' भाग. १. पृ० १५३। २. "भ्रान्तं हि अनुमानम्" न्यायबि० टी० पृ० १३।

जन्य अर्थात् प्रथमक्षणभावि इन्द्रियज्ञान ही है, अन्य नहीं। बादके सभी ज्ञान कल्पनाजनित हैं अर्थजन्य नहीं। स्वलक्षणका साक्षात्कार करनेवाला ज्ञान निर्विकल्पक है, अव्यपदेश्य है, कल्पनापोढ है। जितने भी सविकल्पक ज्ञान हैं, जिन्हें हम इन्द्रियजन्य मानते हैं वे बौद्ध मतानुसार साक्षात् इन्द्रियजन्य नहीं किन्तु परंपरासे इन्द्रियजन्य है। अत एव सविकल्पक ज्ञान वस्तुतः इन्द्रियजन्य नहीं किन्तु मनोजन्य हैं।[1]

कोई भी इन्द्रियजन्य ज्ञान भ्रान्त नहीं होता। भ्रान्त ज्ञान मनोजन्य होते हैं–"मनोविषयो हि विभ्रमविषयः"–प्रमाणसमु० १.१९. वृत्ति[2]। सभी इन्द्रियजन्य ज्ञान अभ्रान्त ही होते हैं। अत एव दिग्नागने प्रत्यक्षलक्षणमें अभ्रान्त विशेषण देनेकी आवश्यकता नहीं समझी।

धर्मोत्तरने भी धर्मकीर्तिकृत प्रत्यक्षलक्षणगत अभ्रान्तपदकी दो व्याख्याएँ की हैं। एक व्याख्याके अनुसार तो उन्होंने कहा कि इन्द्रियप्रत्यक्षज्ञान भी भ्रान्त होते हैं। और दूसरी व्याख्याके अनुसार कहा कि अभ्रान्त विशेषणका व्यावर्त्य भ्रान्त ऐसा अनुमान ज्ञान है। क्योंकि अनुमानका यद्यपि ग्राह्य अनर्थ–सामान्य है तथापि वह अनर्थ–सामान्यमें अर्थाध्यवसायी होनेसे विपर्यस्त है। जब कि प्रत्यक्ष अपने ग्राह्य विषयमें विपर्यस्त नहीं होता। अत एव वह सर्वदा अभ्रान्त ही होता है[3]।

व्यवहारमें जिस ज्ञानको हम पृथग्जन भ्रम कहते हैं उसका स्वरूप योगाचार बौद्धोंने अपनी दृष्टिसे इस प्रकार प्रतिपादित किया है कि अन्य दार्शनिक जैसा समझते हैं, 'भ्रमस्थलमें विषय कुछ और है और प्रतिभासित कुछ और होता है' वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। विश्वमें तत्त्व तो एक ही है और वह है विज्ञान। विज्ञान भिन्न कोई बाह्य वस्तु है ही नहीं। वह स्वयंप्रकाश विज्ञान भी ग्राह्यग्राहकभावसे रहित है[4]। ऐसी स्थितिमें अन्यमें अन्यका प्रतिभास संभव ही नहीं। योगाचारकी दृष्टिसे वस्तुतः आन्तर तत्त्व विज्ञानका आकार ही बाह्यरूपसे प्रतीत होता है। यदि भ्रम है तो उसका अर्थ इतना ही समझना चाहिए कि अन्तस्तत्त्वमें बाह्यरूपका आरोप है। उसका ग्राह्यग्राहकरूपसे द्वैधीभाव करना ही भ्रम है–

"अविभागोपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः। ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥" प्रमाणवा० २. ३५४।

अर्थके अभावमें भी वासनाके कारण प्रतिभासभेद हो सकता है तब अतिरिक्त अर्थको माननेसे क्या लाभ?—

"कस्यचित् किञ्चिदेवान्तर्वासनायाः प्रबोधकं। ततो धियां विनियमो न बाह्यार्थव्यपेक्षया ॥" प्रमाणवा० २.३३६।

---

१. "अविकल्पमपि ज्ञानं विकल्पोत्पत्तिशक्तिमत्" तत्त्वसं० का० १३०६। "दर्शनं चार्थसाक्षात्करणाख्यं प्रत्यक्षव्यापारः। उत्प्रेक्षणं तु विकल्पव्यापारः"–न्यायबि० टी० पृ० २७। २. बुद्धिस्ट लोजिक भाग १. पृ० १५६। तत्त्वसं० पं० पृ० ३९४। ३. "तथाभ्रान्तग्रहणेनापि अनुमाने निवर्तिते कल्पनापोढग्रहणं विप्रतिपत्तिनिराकरणार्थम्। भ्रान्तं हि अनुमानं स्वप्रतिभासेऽनर्थेऽर्थाध्यवसायेन प्रवृत्तत्वात्। प्रत्यक्षं तु ग्राह्ये रूपे न विपर्यस्तम्।" न्यायबि० बुद्धिस्ट लोजिकमें संशोधित-पाठ जो दिया गया है वही ऊपर उद्धृत किया है–भाग २ पृ० १७। भा० १. पृ० १५५। ४. "नान्योऽनुभाव्यस्तेनास्ति तस्य नानुभवोऽपरः। तस्यापि तुल्यचोद्यत्वात् स्वयं सैव प्रकाशते"। प्रमाणवा० २.३२७।

योगाचार की उक्त दृष्टिसे केवल शुक्तिकामें रजतप्रत्यय ही भ्रान्त नहीं किंतु सभी सविषयक प्रत्यय भ्रान्त हैं।[1] योगाचार मानता है कि सभी प्रत्ययोंमें ज्ञानकी अपनी ही ख्याति होती है अत एव आत्मख्याति मानना ही उचित है। ज्ञानोंमें भ्रान्ताभ्रान्तका विवेक लोक-व्यवहारसे है[2]। जब वस्तुतः बाध्यबाधकभाव ही नहीं घटता तब परमार्थतः ज्ञानोंमें भ्रान्ता-भ्रान्तका विवेक करना संभव नहीं–प्रमाणवा० अ० पृ० २५७। वही मु० पृ० २३।

सारांश यह है कि जितना भी वासनाका कार्य है चाहे वह संवादि हो या अविसंवादि वह सब मृषा–मिथ्या है। वासनाप्रतिबद्धत्व ही मिथ्यात्व है। इस न्यायसे पृथग्जनोंके सब व्यवहार वासनामूलक होनेसे परमार्थतः मिथ्या हैं। व्यवहारमें अविसंवाद होनेसे जहाँ पृथग्जन ज्ञानको अभ्रान्त समझते हैं वहाँ वह अविसंवाद अविपरीतवासनाप्रबोधमूलक है। और जहाँ विसंवाद होनेसे पृथग्जन भ्रमका व्यवहार करते हैं वहाँ वह विसंवाद विपरीतवासनाप्रबोधमूलक है। अर्थात् दोनों स्थलमें वासनाप्रतिबद्धत्व समानरूपसे है। अत एव ये दोनों व्यवहार परमार्थतः मिथ्या हैं–"**कथं तर्हि मृषात्वपरिज्ञानम्? । वासनाप्रतिबद्धत्वज्ञानादेव । द्विविधं हि मृषार्थत्वम्–असदर्थत्वं विसंवादित्वं च । विसंवादित्वं विपरीतवासना-प्रबोधतः। अविपर्यासवासनाप्रबोधतश्च संवादित्वम् इति । ननु संवादश्चेदस्ति कथम-सदर्थत्वम्?। अविसंवादाकारस्यापि वासनाप्रतिबद्धत्वात् । नाविसंवादिप्रतिभासेऽपि अर्थान्वयव्यतिरेकानुविधानमस्ति । एतदेवासदर्थत्वम्**"–प्रमाणवा० अ० मु० पृ० ५८।

(५) ब्रह्माद्वैतवादिसंमत अनिर्वचनीयख्याति।

ब्रह्माद्वैतवादिके मतसे सभी प्रपञ्च अविद्याका विलास है। भामतीटीकामें वाचस्पति-मिश्रने[3] भ्रमस्थलमें अनिर्वाच्यख्याति मानी है। उनका कहना है कि मरुमरीचिकामें जलज्ञानका विषय जो जल है वह सत् नहीं क्योंकि यदि सत् होता तो वह जलज्ञान मिथ्या नहीं कहलाता। वह जल असत् भी नहीं क्योंकि असत् से खपुष्पकी तरह तद्विषयक ज्ञान या प्रवृत्ति ही संभव नहीं। वह जल सदसद्रूप भी माना नहीं जा सकता क्योंकि एक तो इस पक्षमें पूर्वोक्त दोनों दोषोंकी आपत्ति होगी दूसरे विरोध के कारण सदसद्रूपका संभव भी नहीं। अत एव ज्ञानप्रतिभासित उस जलका सदसदादि किसी रूपसे निर्वचन[4] अशक्य होनेके कारण उसे अनिर्वचनीय ही मानना चाहिए। और उसकी ख्यातिको अनिर्वचनीय ख्याति मानना चाहिए।

अद्वैतवादिओंके मतसे एक ब्रह्म ही सद्रूपसे निर्वचनीय है[5] और बाकी सब अविद्यारूप होनेसे–मायिक होनेसे सदादि किसीरूपसे निर्वचनीय नहीं। अत एव भ्रमस्थलमें आविद्यक रजत का प्रतिभास अनिर्वचनीय ख्यातिरूप मानना उचित है।

विज्ञानवादिओंकी आत्मख्याति और अद्वैतवादिओंकी अनिर्वचनीय ख्यातिमें नाममात्रका भेद है। दोनों बाह्य वस्तुको न सत् कहना चाहते हैं न असत्। दोनों ही आन्तरिक तत्त्वका

१. "**सर्वे प्रत्ययाः अनालम्बनाः प्रत्ययत्वात् । इदमेव अनालम्बनत्वं यदात्माकारवेदनत्वम्**" प्रमाणवा० अ० मु० पृ० २२। २. "**परमार्थतः सकलं स्वरूपविषयमेव, व्यवहारतोऽर्थविषयता**" यह सिद्धान्त है अत एव व्यवहारमें अर्थका बाध हो तो भ्रान्त, अन्यथा अभ्रान्त–वही पृ० ९८। ३. ब्रह्मसूत्र० १.१.१.। प्रमेयक० पृ० ५१। ४. चित्सुखी पृ० ७९। ५. "**चिदात्मा तु श्रुतिस्मृतीतिहासपुराण-गोचरतन्मूलतदविरुद्धन्यायनिर्णीतशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः सत्त्वेनैव निर्वाच्योऽबाधितः।**" भामती १.१.१.

ही बाह्यरूपसे प्रतिभास मानते हैं । आन्तरिक तत्त्वको एकने विज्ञान कहा है और दूसरेने अविद्या । एकके मतसे विपरीत वासनाके कारण एकरूप विज्ञान का द्वैधीभाव होकर उसकी ग्राह्यग्राहकरूपसे प्रतीति होती है । और दूसरेके मतसे वस्तु सत् नहीं किन्तु अविद्यानिष्पन्न-अविद्योपादानक रजतकी प्रतीति होती है ।

(६) मीमांसकसंमत अलौकिकार्थख्यातिवाद ।

जिस प्रकार सांख्य अविद्यमानका ज्ञानमें प्रतिभास नहीं मानते उसी प्रकार कुछ मीमांसक भी अविद्यमानका प्रतिभास नहीं मानते । उनका कहना है कि दूसरे लोक शुक्तिकामें रजत-प्रत्यय मानकर उसे विपरीत प्रत्यय कहते हैं सो ठीक नहीं । ज्ञानमें इस प्रकारका विपर्यय संभव नहीं है कि विषय कुछ और हो प्रतिभासित कुछ और हो । उन मीमांसकोंके मतानुसार वस्तुतः अर्थ दो प्रकारका है । एक व्यवहारसमर्थ और दूसरा व्यवहारासमर्थ । व्यवहारसमर्थ अर्थ लौकिक कहा जाता है और दूसरा अलौकिक । भ्रम माने जानेवाले रजतप्रत्ययका विषय लौकिक रजत नहीं किन्तु अलौकिक रजत है । रजतप्रत्ययमें प्रतिभासित होनेसे वह रजत है पर व्यवहारासमर्थ होनेसे अलौकिक है[1] ।

मीमांसक सोचते हैं कि ज्ञानमात्रको निरालम्बन तो मान नहीं सकते क्योंकि ऐसा मानने पर विज्ञानवाद और शून्यवादको अवकाश मिलता है । पर दूसरी और भ्रमस्थलमें रजतके अभावमें भी रजत प्रत्ययका होना स्पष्ट है । यदि सिर्फ भ्रमस्थलमें ज्ञानको निरालम्बन माना जाय तब भी पूर्वोक्त दोनों बौद्ध वादोंको अवकाश मिल जाता है । ऐसी स्थितिमें क्या किया जाय इसी चिन्तामेंसे मीमांसकने यह रास्ता निकाला कि भ्रमस्थलमें रजतको अलौकिक माना जाय । ऐसा मानने पर फलित यह हुआ कि भ्रमस्थलमें रजतसाध्य क्रियाका अभाव रजतकी अलौकिकताके कारण है न कि रजतके अभाव के कारण ।

परन्तु मीमांसकका यह नया मार्ग भी कण्टकरहित नहीं है । क्योंकि यदि अर्थक्रियाकी निष्पत्ति न करना यही अलौकिकताकी कसौटी है तो स्वप्नप्रत्ययमें भासमान योषिद् आदि अर्थ अर्थक्रियाकारी होनेसे लौकिक ही सिद्ध होगा । इसी तरह जब कूटकार्षापणसे सत्यकार्षापण-साध्य अर्थक्रियाकी निष्पत्ति होती है तब उसे कूट क्यों कहा जाय ? ।

(७) प्रभाकरसंमत अख्यातिवाद ।

वृद्धमीमांसकोंने नैयायिकादिकी तरह विपरीत ख्याति मानी है किन्तु प्रभाकरने मीमांसक संमत स्वतः प्रामाण्यवादके साथ उस विपरीतख्यातिवादका स्पष्टतः विरोध देखा । उन्होंने तर्क किया कि यदि कोई ज्ञान अयथार्थ भी हो, मिथ्या भी हो, विपरीत भी हो तब यथार्थज्ञानका स्वतःप्रामाण्य घट नहीं सकता, जो कि मीमांसक का मुख्य सिद्धान्त है । क्योंकि यथार्थ ज्ञानमें भी सहज शंकाका अवकाश रहेगा कि यह ज्ञान मिथ्या तो नहीं ? । उस शंकाको दूर करने के निमित्त यथार्थ ज्ञानको अबाधित सिद्ध करने के लिए बाधकाभावका निर्णय आवश्यक हो ही जाता है । अर्थात् बाधकाभावनिश्चय सापेक्ष ही प्रामाण्य निश्चय होने के कारण यथार्थ ज्ञान भी परतः प्रमाण सिद्ध होगा न कि स्वतः ।

---

१. न्यायमं० पृ० १७२ । अष्टस० पृ० २४५ ।

दूसरा तर्क प्रभाकरने यह भी किया कि यदि अन्यदेशस्थ रजतका अन्यत्र भान हो जाय तब अत्यन्त असत् का भी भान क्यों न हो? । भ्रमस्थलीय विवक्षित देशमें जब अन्यत्र सत् और अत्यन्तासत् का असत्त्व समान ही है । तब शून्यवाद ही फलित होगा । अत एव विपरीतख्याति माननेका मतलब होगा कि शून्यवादको अवलम्बन देना ।

उक्त इन दोनों दोषोंसे बचनेके[1] लिए प्रभाकरने अख्यातिवादका एक नया मार्ग निकाला । यही मार्ग अग्रहण[2] विवेकाग्रहण,[3] स्मृतिप्रमोष[4] और विवेकाख्याति के[5] नामसे व्यवहृत होता है ।

प्रभाकर कहता है कि यह संभव नहीं कि चक्षुरादि इन्द्रियोंका संपर्क तो किसी अन्यसे हो पर प्रत्यक्ष ज्ञान हो अन्यविषयक – "**तस्मात् सूक्तम् – अन्यसंप्रयुक्ते चक्षुष्यन्यविषयं ज्ञानं न प्रत्यक्षम् – इति**" – बृहती पृ० ६६ ।

शबरस्वामिने अपने भाष्यमें वृत्तिकारका प्रत्यक्षविषयक मत उद्धृत किया है । वृत्तिकारके शब्द ये हैं – "**यत् प्रत्यक्षम् न तत् व्यभिचरति, यत् व्यभिचरति न तत् प्रत्यक्षम् । किन्तर्हि प्रत्यक्षम्?, तत्संप्रयोगे पुरुषस्य इन्द्रियाणां बुद्धिजन्म सत्प्रत्यक्षम्, यद्विषयं ज्ञानं तेनैव संप्रयोगे इन्द्रियाणां पुरुषस्य बुद्धिजन्म सत्प्रत्यक्षम्; यदन्यविषयज्ञानमन्यसंप्रयोगे भवति न तत् प्रत्यक्षम्**" शाबर० १.१.५. ।

वृत्तिकारको सामान्यतः इतना इष्ट है कि प्रत्यक्ष और व्यभिचारि ये दो परस्पर विरुद्ध हैं । अन्यके संप्रयोगसे अन्यविषयक ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता अर्थात् सत् प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता प्रत्यक्षाभास – भ्रान्त प्रत्यक्ष भले ही कहा जाय । किन्तु प्रभाकर उसका मतलब कुछ और समझता है । प्रभाकरका मन्तव्य है कि चक्षुका संप्रयोग जिस आकारयुक्त वस्तुके साथ है उसी आकारको विषय करनेवाला प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है । चक्षु किसी अन्यसे संप्रयुक्त हो और तदुत्पन्न ज्ञानका विषय कोई अन्य ही हो यह बात असंभव है । क्योंकि यदि असंप्रयुक्त आकारको भी प्रत्यक्ष ज्ञानका विषय माना जाय तब अन्धपुरुष को भी शुक्तिकामें रजतका प्रत्यय हो जाना चाहिए । जैसे चक्षुष्मान् को भ्रमस्थलमें रजतके साथ चक्षुसंपर्क नहीं उसी प्रकार अन्धको भी नहीं है । फिर भी अन्धको शुक्तिकामें रजतप्रत्यय नहीं होता[6] और चक्षुष्मान् को होता है । अत एव प्रभाकर मानता है कि सभी प्रत्यक्ष ज्ञान यथार्थ ही होते हैं[7] । जिस प्रत्ययमें जो आकार प्रतिभासित होता है वही उसका वेद्य – विषय – आलम्बन है और जो प्रतिभासित नहीं होता वह अवेद्य – अविषय – अनालम्बन है । अत एव

---

१. "भवता शून्यवाद-परतःप्रामाण्यप्रसक्तिभयात् स्मृतिप्रमोषोऽभ्युपगतः, विपरीतख्यातौ तयोरवश्यंभावित्वात्" – सन्मति० टी० पृ० २७ पं० ३८ । २. "कथं तर्हि विपर्ययः? । अग्रहणादेवेति वदामः" – बृहती पृ० ६६ । ३. बृहती० पं० पृ० ६६ । ४. बृहती पृ० ७३ । ५ विवेक=भेद, अख्याति=अग्रह=अग्रहण प्रकरणपं० नयवीथिप्रकरण पृ० ३३,३४ । न्यायकु० पृ० ५२ । ६. "न ह्यन्यसंप्रयुक्ते चक्षुषि अन्यालम्बनस्य ज्ञानस्य उत्पत्तिः संभवति, अन्धस्यानुत्पादात् इत्युक्तम् । अत एवेदमुच्यते – नान्याकारमालम्बनमन्याकारस्य ज्ञानस्योत्पत्तिहेतुः इति" – बृहती पृ० ६४ । ७. "यथार्थं सर्वमेवेह विज्ञानमिति सिद्धये । प्रभाकरगुरोर्भावः समीचीनः प्रकाश्यते ॥ १ ॥" प्रकरणपं० पृ० ३२ ।

रजत प्रत्ययमें रजत ही को आलम्बन मानना उचित है, शुक्तिकाको नहीं। क्योंकि अन्यमें अन्यका भान प्रतीतिपराहत है[1]।

इसीसे भ्रमस्थलमें रजतप्रत्यय प्रत्यक्ष नहीं हो सकता 'न तत् प्रत्यक्षं' किन्तु 'स्मरण' है। जब कोई पुरुष रजतसदृश शुक्तिकाका प्रत्यक्ष कर रहा हो पर वह किसी इन्द्रियादिगत दोषके कारण रजत और शुक्तिकाके भेद–वैलक्षण्यका ग्रहण न करके मात्र दोनों के सादृश्यका ही ग्रहण करे तब उस पुरुषको ऐसे सादृश्यविषयक प्रत्यक्ष ज्ञानसे रजतविषयक स्मरण हो जाता है। वह पुरुष मनोदोषके कारण उस प्रत्यक्ष और स्मरण ज्ञानके भेदका तथा प्रत्यक्षविषय शुक्तिका और स्मरणविषय रजतके पारस्परिक भेदका भी ग्रहण कर नहीं पाता। ऐसी दशामें वह शुक्तिकाको ही रजत कह देता है। एकत्वाध्यवसायके कारण जो भेदाग्रह–विवेकाख्याति–स्मृतिप्रमोष होता है वही विपर्यय–भ्रम कहा जाता है–**"कथं तर्हि विपरीतग्रहः? । उच्यते विषयान्तरं सदृशमवलम्ब्याગृहीतविवेकं यत् ज्ञानमुत्पन्नं तत् सदृशविषयान्तरे स्मृतिज्ञानहेतुतां प्रतिपद्यते–'स्मरामि' इति ज्ञानशून्यस्य"**– बृहती पृ० ६५। प्रकरणपं० ३४।

सारांश यह है कि वृत्तिकारने इस रजत प्रत्ययको जहाँ 'न तत् प्रत्यक्षं' इतना ही कहा था, प्रभाकर उसे स्मरण कह देता है। अर्थात् प्रभाकरके मतसे वह रजत ज्ञान प्रत्यक्षाभास–मिथ्या प्रत्यक्ष नहीं किन्तु यथार्थ स्मरण है इस प्रकार 'इदं रजतम्' यह एक ज्ञान नहीं किन्तु दो ज्ञान हैं–'इदं'विषयक प्रत्यक्ष और रजतविषयक स्मरण। जब अन्य दार्शनिकोंने इसे एक ही ज्ञान माना है तब प्रभाकरने 'सर्वं ज्ञानं यथार्थं' इस सिद्धान्तकी रक्षा करने के लिए इसे दो ज्ञानोंमें विभक्त किया है।

जयन्तने प्रभाकर संमत विवेकाख्याति का प्रबल खण्डन किया है। जयन्तने प्रत्यभिज्ञाके दृष्टान्तसे 'इदं रजतम्' इस प्रत्ययको एक–अखण्ड सिद्ध किया है–न्यायमं० पृ० १६६। और स्पष्ट आक्षेप किया है कि प्रभाकरका यह सिद्धान्त धर्मकीर्तिसे चुराकर लाया गया है–**"श्रुतमिदं यदत्र भवद्भिः धर्मकीर्तिगृहादाहृतं 'दृश्यविकल्प्यावर्थावेकीकृत्य प्रवर्तते' इति"**।–पृ० १६७। धर्मकीर्तिने जैसे दृश्य और विकल्प्यके एकत्वाध्यवसायसे प्रवृत्ति मानी है वैसे ही प्रभाकरने भी स्मरण और अनुभवको एक मान करके पुरुषकी प्रवृत्ति अनुभूत शुक्तिकामें ही मानी है। जयन्तका कहना है कि प्रभाकरकी वह चोरी भी उसके स्वार्थको पुष्ट नहीं करती–पृ० १६७।

आखिरमें जयन्तने यह भी कह दिया है कि स्वतःप्रामाण्यकी रक्षाके लिये तथा शून्यवादका निरास करने के लिये जो प्रभाकरने यह नया वाद स्थापित किया है सो ठीक नहीं। इससे न तो परतःप्रामाण्य निरस्त होता है और न शून्यवाद ही। इसके निरासके लिये कुछ और ही युक्ति देना चाहिए—

"न चैतयापि परतः प्रामाण्यमपह्नूयते। न चैष शून्यवादस्य प्रतिकारक्रियाक्रमः।

---

१. अत्र ब्रूमो य एवार्थो यस्यां संविदि भासते। वेद्यः स एव नान्यद्धि वेद्यावेद्यस्य लक्षणम्॥ २३॥ इदं रजतमित्यत्र रजतञ्चावभासते। तदेव तेन वेद्यं स्यात् न तु शुक्तिरवेदनात्॥ २४॥ तेनान्यस्यान्यथा भानं प्रतीत्यैव पराहतम्। परस्मिन् भासमाने हि न परं भासते यतः॥ २६॥" प्रकरणपं० पृ० ३३।

अथास्ति काचित् परतः प्रामाण्यस्य निषेधिका । शून्यवादस्य या युक्तिः सैव वाच्या किमेतया ॥" – न्यायमं० पृ० १६९ ।

८ – नैयायिकादिसंमत विपरीतख्याति ।

न्याय-वैशेषिक, जैन, कुमारिल आदिको विपरीतख्याति इष्ट है। पूर्वोक्त ख्यातियोंसे विपरीतख्यातिका वैलक्षण्य स्पष्ट है । प्रभाकरकी तरह दो ज्ञान नहीं किन्तु एक ही प्रत्यय मानकर सभी विपरीतख्यातिवादी भ्रमकी उपपत्ति करते हैं । विपरीतख्यातिवादके अनुसार बाह्य वस्तुएँ सर्वथा ज्ञानरूप या शून्यरूप या सर्वत्र सत् रूप नहीं है, अतएव इस वादमें आत्म ख्याति या असत् ख्याति या सत् ख्याति को अवकाश नहीं है । विपरीतख्यातिवादमें बाह्य वस्तुओंका निर्वचन शक्य है अत एव इस वादमें अनिर्वचनीयख्याति भी संभव नहीं । बाह्य वस्तुओंका लौकिकालौकिक रूपसे विभाग भी विपरीतख्यातिवादको मान्य नहीं । अत एव इस वादमें अलौकिकख्यातिको भी अवकाश नहीं । विपर्ययका मतलब यह है कि अन्य आलम्बनमें अन्य प्रत्ययका होना । शुक्तिकामें शुक्तिकाप्रत्यय ही अविपरीत प्रत्यय है और रजतप्रत्यय विपरीत, जो कि इन्द्रियादिके गुण दोषोंका फल है । दोषके कारण शुक्तिका निजरूपसे प्रत्यक्ष न होकर रजतरूपसे दिखती है । रजतसदृश शुक्तिकाके दर्शनजन्य रजत-स्मृतिके कारण शुक्तिकामें ही रजतका दर्शन होता है । अर्थात् हृदयमें परिस्फुट रजतका बाह्य शुक्तिमें दर्शन करना ही रजतविपर्यय है । बाह्यार्थ रजत नहीं पर शुक्तिका है अतएव यह प्रत्यय विपर्यय है[1] । शुक्तिकामें रजत दर्शन रजतस्मृतिजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान है, न कि स्मृति । यही स्मृतिप्रमोष और विपरीतख्यातिका भेद है ।

९ – दोषमीमांसा ।

किसी दार्शनिकने भ्रमज्ञानको निर्दोष नहीं माना है । अत एव सभीने अपनी अपनी दृष्टिसे दोषोंकी मीमांसा की है ।

उद्योतकरने स्पष्ट कहा है कि विपर्ययज्ञानमें ज्ञानको व्यभिचारि मानना चाहिए अर्थको नहीं । निरुक्तकारके वचनको उद्धृत करके वाचस्पति मिश्रने कहा है कि 'स्थाणुको अन्ध पुरुष नहीं देखता यह कोई स्थाणुका अपराध नहीं है, यह अपराध तो पुरुषका है ।' वैसे ही इन्द्रियसे प्रथम मरीचिकाका निर्विकल्पकज्ञान होता है पर जब सविकल्पकज्ञानका अवसर आता है तब मरीचिकासे उपघात होनेके कारण इन्द्रिय अपना कार्य ठीक ठीक कर नहीं पाती अतएव विपर्यय हो जाता है । अर्थात् मरीचिविषयक जलप्रत्ययरूप सविकल्पकज्ञान हो जाता है[2] । सारांश यह है कि दोष अर्थका नहीं, द्रष्टाका है या उसके साधनका है ।

प्रशस्तपादको भी यही विचार मान्य है – देखो पृ० ५३८ । व्यो० ५३९ ।

बौद्धोंके मतसे ऐन्द्रियक प्रत्यक्षमें इन्द्रियोंकी ही मुख्यता है । अत एव बौद्धोंने माना है कि

---

१. "सदृशपदार्थदर्शनोद्भूतस्मृत्युपस्थापितस्य रजतस्यात्र प्रतिभासनमिति ।......हृदये परिस्फुरतोऽर्थस्य बहिरवभासनम् । न चैतावतेयमात्मख्यातिरसत्ख्यातिर्वेति वक्तव्यम् । विज्ञानाद्विच्छेदप्रतीतेः अत्यन्तासदर्थप्रतिभासाभावाच्चेति । अत एव पिहितस्वाकारा परिगृहीतपराकारा शुक्तिकैवात्र प्रतिभातीति" न्यायमं० पृ० १७० । २ देखो न्यायवा० पृ० ३७ । तात्पर्य पृ० १३२ ।

अधिपतिके दोषके कारण ही मिथ्याप्रत्यय होता है । अन्य जितने भी दोष हों वे सभी मिलकर इन्द्रियोंमें ही विकार करते हैं । जब तक इन्द्रियाँ विकृत नहीं होतीं तबतक मिथ्याज्ञानका संभव नहीं[१] ।

जैन दृष्टिसे आत्माकी मुख्यता है । अत एव उसके अनुसार मुख्य रूपसे प्रमाताका ही दोष भ्रमका निमित्त है । सभी दोष मिलकर प्रमाताको ही विकृत कर देते हैं तब प्रमाता भ्रान्त-ज्ञान करता है । शुक्तिका मौजुद हो, इन्द्रिय निर्दोष हो, आश्रय भी दोषमुक्त हो फिर भी यदि प्रमाता शुक्तिकामें रजतभान करता है तो वह उसीका दोष है । जहाँ विषय, साधन आदिका दोष हो वहाँ भी वह दोष आत्माकी मोहावस्था ही के कारण अपना कार्य करता है । इस लिये जैन दृष्टि यही मानती है कि अन्य सभी दोष आत्मदोषके सहायक होकर ही मिथ्याप्रत्ययके जनक हैं, पर मुख्यतया जनक आत्मदोष मोह ही है[२] ।

मीमांसकोंने इन्द्रिय, मन और बाह्य अर्थ इन तीनोंमेंसे किसी एकके दोषके कारण भ्रान्तज्ञानकी उत्पत्ति मानी है । भ्रान्तज्ञान उत्पन्न हुआ भी हो पर यदि दोषज्ञान हुआ न हो तो पुरुष उस ज्ञानको प्रमाण मान कर ही प्रवृत्त होता है । जब तक बाधक प्रत्यय न हो तब तक भ्रमज्ञान प्रमाण ही माना जाता है । जब बाधक प्रत्यय उत्पन्न होकर मिथ्यात्वकी प्रतीति करा देता है तभी वह प्रवर्तकज्ञान भ्रान्त माना जाता है[३] ।

इसी प्रकार अद्वैतवादिओंका कहना है कि मुख्य दोष अविद्या, वासना, माया, अध्यास ही है । उसीके कारण इन्द्रियोंमें विकृति होनेसे भ्रमकी उत्पत्ति होती है ।

५ – प्रत्यक्षेतर भ्रम ।

यहाँ तक जो विवेचन किया गया है वह प्रत्यक्षभ्रम का है । जैनदर्शनमें मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानोंमें विपर्यय होनेकी मान्यता है[४] । अवधिज्ञान पारमार्थिक प्रत्यक्ष है । मतिज्ञान परोक्ष है किन्तु व्यावहारिक दृष्टिसे इन्द्रियजमतिज्ञान प्रत्यक्ष भी कहलाता है । पर श्रुतज्ञान तो परोक्ष ही है । अत एव प्रत्यक्ष और परोक्ष उभय ज्ञानोंमें जैनदर्शनके अनुसार भ्रम का संभव है । इसी बातका स्पष्टीकरण विद्यानन्दने बहुत ही सुंदर ढंगसे किया है[५] ।

विद्यानन्दने विपर्ययके सहज और आहार्य ऐसे दो भेद किये हैं । उपदेशके बिना होने-वाला विपर्यय सहज है, जब कि उपदेश से होनेवाला विपर्यय आहार्य है ।

---

१. "सर्वैरेव च विभ्रमकारणैः इन्द्रिय-विषय-बाह्याध्यात्मिकाश्रयगतैरिन्द्रियमेव विकर्तव्यम् । अविकृत इन्द्रिय इन्द्रियभ्रान्त्ययोगात्" न्यायबि० टी० पृ० १७ । २. "मिथ्यात्वं त्रिषु बोधेषु दृष्टिमोहोदयाद्भवेत् ॥ १४ ॥ यथा सरजसालाबूफलस्य कटुकत्वतः । क्षिप्तस्य पयसो दृष्टः कटुभावस्तथाविधः ॥ १९ ॥ तथात्मनोऽपि मिथ्यात्वपरिणामे सतीष्यते । मत्यादिसंविदां तादृङ्मिथ्यात्वं कस्यचित् सदा ॥ २० ॥ तत्त्वार्थश्लो० पृ० २५६ । ३. "बाधकं हि यत्र ज्ञानमुत्पद्यते 'नैतदेवं, मिथ्याज्ञानम्' इति तदन्यसंयोगे विपरीतं ।······यदा हि चक्षुरादिभिरुपहतं मनो भवति, इन्द्रियं वा तिमिरादिभिः, सौक्ष्म्यादिभिर्बाह्यो वा विषयः ततो मिथ्याज्ञानम् । अनुपहतेषु हि सम्यग्ज्ञानम् ।······कथं दुष्टादुष्टावगम इति चेत् । प्रयत्नेनान्विच्छन्तो न चेद्दोषमवगच्छेमहि प्रमाणाभावाददुष्टमिति मन्येमहि । तस्माद्यस्य च दुष्टं करणम्, यत्र च मिथ्येति प्रत्ययः, स एवासमीचीनः प्रत्ययो नान्य इति" शाबर० १.१.५ । ४. "मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च" तत्त्वार्थ० १.३२ । ५. तत्त्वार्थश्लो० पृ० २५७ ।

मतिज्ञानके अवग्रहादि धारणापर्यंत भेदोंमें जो विपर्यय है वह सहज है क्योंकि उसमें उपदेशकी अपेक्षा नही है। धारणाका एक विशेषभेद स्मृति है उसमें भी सहज विपर्यय है। स्मृति परोक्षज्ञान है। अननुभूत वस्तुका अनुभूतरूपसे स्मरण ही स्मृतिविपर्यय है।

प्रत्यभिज्ञानका भ्रम युगपज्जातशिशुमें स्पष्ट है। या सदृश 'घट'शब्दको सुनकर 'यह वही 'घट'शब्द है जो मैंने पहले सुना था' ऐसा ज्ञान करना प्रत्यभिज्ञानभ्रम है। सादृश्यमें एकताका ज्ञान होनेसे यह भ्रम कहा जाता है। वस्तुतः सभी शब्द वक्ताके प्रयत्नसे उत्पन्न होते हैं किन्तु मीमांसक भिन्न शब्दोंको भी सादृश्यके कारण एक समझ कर नित्य मानता है। अत एव उपर्युक्त प्रत्यभिज्ञान जो मीमांसकको होता है वह प्रत्यभिज्ञाभास है। क्योंकि विषय है तिर्यक्सामान्य किन्तु उसमें वह ऊर्ध्वता सामान्यका बोध करता है।

इसी प्रकार लिङ्गलिङ्गिसंबंधज्ञानरूप तर्क भी विसंवाद होने पर विपरीत कहा जाता है।

स्वार्थानुमानस्थलमें हेत्वाभासजन्य लिङ्गिज्ञान अनुमानका विपर्यय है।

स्मृति, प्रत्यभिज्ञान तर्क और स्वार्थानुमान ये परोक्ष मतिविशेष हैं। उक्त रीतिसे सभी मत्यज्ञान सहज विपर्यय है।

श्रुताज्ञान जो चक्षुरादिमतिपूर्वक है वह सहज विपर्यय है। क्योंकि वह परोपदेशनिरपेक्ष होता है। किन्तु श्रोत्रमतिपूर्वक श्रुताज्ञान आहार्य विपर्यय है, क्योंकि वह उपदेशसापेक्ष है।

श्रुताज्ञानरूप आहार्य विपर्ययके विद्यानन्दने दो भेद किये हैं। एक सद्विषयक और दूसरा असद्विषयक। प्रथमके जो उदाहरण उन्होंने दिये हैं उनमें से कुछ ये हैं—

(१) स्वरूपादि चतुष्टयकी अपेक्षासे सर्व वस्तुओंके सद्रूप होने पर भी शून्यवाद मानना।

(२) अ—ग्राह्यग्राहकभाव होने पर भी विज्ञानवाद।

ब—कार्यकारणभाव होने पर भी ब्रह्माद्वैत।

क—वाच्यवाचकभाव होने पर भी शब्दाद्वैत।

(३) अ—सर्व वस्तुओंमें सादृश्यके होने पर भी तथागत संमत वैसादृश्यवाद।

ब—सर्व वस्तुओंमें एकत्व होने पर भी सर्वथा सादृश्यका स्वीकार।

(४) द्रव्य और पर्यायमें भेदाभेद होने पर भी नैयायिक संमत अत्यन्त भेद।

(५) जीवका अस्तित्व होने पर भी चार्वाक संमत नास्तित्व।

(६) अजीवका अस्तित्व होने पर भी ब्रह्मवाद।

इसी प्रकार असद्विषयक आहार्य विपर्यय के विषयमें विद्यानन्दने ये उदाहरण दिये हैं—

(१) सभी वस्तुएँ पर द्रव्यादिकी अपेक्षासे असत् होने पर भी सदेकान्तवादका स्वीकार।

(२) अ—प्रतीत्यारूढ ग्राह्यग्राहकभाव नहीं होने पर भी योगाचार संमत प्रतीत्यारूढ ग्राह्यग्राहकभाव।

इसी प्रकार उपर्युक्त 'सत्' पक्षके उदाहरणोंसे उलटा असत् पक्षमें घटा लेना चाहिए।

अवधिज्ञानका विपर्यय विभंग नामसे प्रसिद्ध है। उसका सहज विपर्यय ही होता है। क्योंकि वह परोपदेशसापेक्ष नहीं है।

वि द्या न न्द ने विस्तारसे विपर्ययका विवेचन किया है उसमें जो आहार्य विपर्यय है उसके उदाहरणोंमें सभी दार्शनिकोंके मतसे भेद हो सकता है । क्योंकि जै नों के मतसे ब्र ह्म वा द आहार्य विपर्यय है जब कि ब्र ह्म वा द के अनुसार भे द वा द ही आहार्य विपर्यय है । इसी प्रकार सभी दार्शनिक स्वस्वशास्त्रजन्य ज्ञानको सम्यग् मानते हैं और अन्यान्य शास्त्रजन्य ज्ञानको विपरीत मानते हैं ।

प्र श स्त पा द ने स्वागम दृष्टिसे ऐसे आहार्य विपर्ययोंका वर्णन किया है और व्यो म शि व ने उसका पल्लवन किया है – देखो० व्यो० पृ० ५४२ ।

६ – प्रामाण्यचिन्ता ।

जै न द र्श न संमत अ ने का न्त वा द की व्यापकतामें ऐसा संदेह किया जाता है कि यदि अनेकान्त सर्वव्यापक है तब प्रमाण भी अप्रमाण होना चाहिए और अप्रमाण भी प्रमाण होना चाहिए । अन्यथा अनेकान्तको सर्ववस्तुव्यापि कैसे कहा जा सकता है ? । इस शंकाका समाधान वि द्या न न्द ने वि भ ज्य वा द का आश्रयण करके किया है । उस प्रसंगमें अ क लं क की युक्तियोंका[1] आश्रयण करके वि द्या न न्द ने भ्रम ज्ञानका भी प्रामाण्य सिद्ध किया है । इन्द्रिय-दोषजन्य चन्द्रद्वयदर्शनमें संख्यांशके विषयमें विसंवाद होनेके कारण संख्याज्ञान अप्रमाण है सही पर चन्द्रके स्वरूपांशमें तत्त्वज्ञान – सम्यग्ज्ञान – अविसंवादि ज्ञान होने से, उस अंशमें वह ज्ञान प्रमाण ही है । अत एव कोई भ्रम एकान्ततः भ्रम नहीं कहा जा सकता । ज्ञानोंमें प्रामाण्येतर व्यवस्था प्रायशः संकीर्ण है – "**तेन प्रत्यक्षतदाभासयोरपि प्रायशः संकीर्णप्रामाण्येतरस्थितिरुन्नेतव्या, प्रसिद्धानुपहतेन्द्रियदृष्टेरपि चन्द्रार्कादिषु देशप्रत्यासत्त्याद्यभूताकारावभासनात्, तथोपहताक्षादेरपि संख्यादिविसंवादेऽपि चन्द्रादिस्वभावतत्त्वोपलम्भात् ।**" – अष्टशती का० १०१ ।

यदि किसी ज्ञानमें प्रामाण्य या अप्रामाण्य नियत नहीं है तब किसी एक ज्ञानको प्रमाण और दूसरेको अप्रमाण कहा जाता है सो कैसे सिद्ध होगा ? । इस प्रश्नके उत्तरमें अ क लं क ने कहा है कि संवाद या विसंवादके प्रकर्षकी अपेक्षासे प्रामाण्य या अप्रामाण्यका व्यवहार किया जाता है । जैसे कस्तुरिकादि द्रव्यमें स्पर्शादि गुणोंकी अपेक्षा गन्धगुणकी मात्रा उत्कट होने से वह गन्धद्रव्य कहा जाता है वैसे ही जिस ज्ञानमें संवादकी अपेक्षा विसंवादकी मात्रा अधिक हो उसे अप्रमाण कहा जाता है । भ्रमज्ञानोंमें संवादकी अपेक्षा विसंवादकी मात्रा अधिक है अत एव व्यवहारमें उन्हें अप्रमाण कहा जाता है – "**तत्प्रकर्षापेक्षया व्यपदेशव्यवस्था गन्धादिद्रव्यवत्**" – अष्टश० का० १०१ ।

एक और दृष्टिसे भी भ्रममें प्रामाण्याप्रामाण्यका विचार हो सकता है । स्वपरप्रकाशवादी जै न - बौ द्ध दृष्टिसे सभी भ्रमज्ञान स्वपरसंवेदि हैं । अत एव वे स्वांशमें प्रमाण और परांशमें अप्रमाण हैं – "**स्वरूपे सर्वमभ्रान्तं पररूपे विपर्ययः**" । प्रमाणवा० अ० मु० पृ० ४१ । आप्तमी० का० ८३ ।

पृ० २३. पं० २८. '**विपरीतख्याति**' विपरीतख्यातिके खण्डन-मण्डनके लिये देखो

---

१. अष्टशती का० १०१ । अष्टस० पृ० २७६ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १७७ ।

न्यायकुमुदचन्द्र और उस पर संपादककृत टिप्पणियाँ पृ० ६४–६६ । तथा प्रमेयक० पृ० ५२–५९ ।

पृ० २३. पं० २९. **'स्मृतेः प्रमोषः'** प्राभाकर संमत स्मृतिप्रमोषका विस्तृत खण्डन सर्वप्रथम प्रज्ञाकरगुप्तने किया जान पडता है । देखो प्रमाणवा० अ० पृ० २५८ । तथा मुद्रित पृ० १८ । तदनन्तर अन्य दार्शनिकोंने भी तदनुसारी खण्डन किया है । देखो– व्यो० पृ० ५३९ । न्यामं० पृ० १६४ । तत्त्वो० पृ० २७ । तात्पर्य० पृ० ८७ । सन्मति० टी० पृ० २७,३७२ । न्यायकु० पृ० ५२ । स्याद्वादर० पृ० १०४ । शास्त्रदी० पृ० ४९ ।

स्मृतिप्रमोषकी स्थापनाके लिये देखो बृहती० पृ० ६४,६६,७३ । प्रकरणपं० पृ० ३२ ।

पृ० २४. पं० १४. **'वक्ष्यामः'** देखो, § १७.

पृ० २४. पं० १७. **'अलौकिकत्वम्'** अलौकिकख्याति मीमांसकैकदेशीको मान्य है । देखो प्रमाणवा० अ० पृ० २५८ । न्यायमं० पृ० १७२ । कन्दली पृ० १८९ । न्यायकु० पृ० ६४ । स्याद्वादर० पृ० १३४ ।

पृ० २५. पं० ३. **'प्रमाणाभावात्'** सन्मतिटीकामें भेदग्राहक प्रमाणाभावका जो विस्तारसे वर्णन है उसीका संक्षेप शान्त्याचार्यने किया जान पडता है । देखो सन्मति० टी० पृ० २७३, पं० १९ । शब्दसादृश्यके लिये देखो न्यायकु० पृ० १४९ ।

पृ० २५. पं० १०. **'गजविकल्पायते'** हरिभद्रसूरिने योगदृष्टिसमुच्चयमें कुतर्कके उदाहरणमें हस्तिविषयक प्राप्ताप्राप्तविकल्पोंका उल्लेख किया है और उनकी निःसारता बताई है । अत एव विकल्पोंकी निःसारता बतानेके लिये 'गजविकल्पायते' यह प्रयोग रूढ है ऐसा समझना चाहिये । उस ग्रन्थका पाठ यह है– **"जातिप्रायश्च सर्वोऽयं प्रतीतिफलबाधितः । हस्ती व्यापादयत्युक्तौ प्राप्ताप्राप्तविकल्पवत् ॥ ९१ ॥ जातिप्रायश्च दूषणाभासप्रायश्च सर्वोऽयं कुतर्कः । प्रतीतिफलबाधित इति कृत्वा । एतदेवाह–'हस्ती व्यापादयति' उक्तौ मेण्ठेन । किमिवेत्याह–प्राप्ताप्राप्तविकल्पवत् । कश्चिन्नैयायिकच्छात्रः कुतश्चिदागच्छन् अवशीभूतमत्तहस्त्यारूढेन केनचिदुक्तः 'भोः भोः, त्वरितमपसर, हस्ती व्यापादयति' इति च । तदाऽपरिणतन्यायशास्त्र आह–'रे रे बठर किमेवं युक्तिबाह्यं प्रलपसि । तथाहि–किमयं प्राप्तं व्यापादयति, किं वाऽप्राप्तमिति । आद्यपक्षे भवत एव व्यापत्तिप्रसङ्गः, प्राप्तिभावात् ।' एवं यावदाह तावद्धस्तिना गृहीतः स कथमपि मेण्ठेन मोचित इति ।"** योगदृ० पृ० ९१ ।

प्राप्ताप्राप्त विकल्पोंके अलावा गजविकल्पोंका एक दूसरा रूप भी वादी देवसूरिने दर्शाया है । और उपसंहारमें कहा है कि इन विकल्पोंसे जैसे हस्तीके स्वरूपका अपलाप नहीं किया जा सकता वैसे ही अप्रामाणिक विकल्पोंसे प्रमाणसिद्धका निरास नहीं किया जा सकता । विकल्प ये हैं– **"किमयं अन्धकारनिकुरम्बं मूलकान् कवलयति, किं वा वारिवाहोऽयं बलाकावान् वर्षति गर्जति च । यद्वा बान्धवोऽयं–'राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः' इति परमाचार्यवचनात् । अथवा योऽयमासन्नमेदिनीपृष्ठप्रतिष्ठायी पुरुषस्तस्य च्छायेयं स्त्यानीभूतेति ॥"** स्याद्वादर० पृ० १४५ ।

पृ० २५. पं० १०. **'भेदः'** भेदसाधकप्रमाणोंके विस्तारके लिये देखो, सन्मति० टी० पृ० २८५ । शब्दसादृश्यके लिये–न्यायकु० पृ० १५३ ।

पृ० २५. पं० १२. 'अभेदः' तुलना–न्यायकु० पृ० १५४. पं० १३।

पृ० २५. पं० १८ 'किञ्च' इस पंक्तिमें जो पाठशुद्धि की है उसके आधारके लिए देखो–न्यायकु० पृ० १५४. पं० २६।

पृ० २५. पं० २३. 'प्रतिपादयिष्यते'–देखो, का० १६. § १–६।

पृ० २५. पं० २४. 'आत्मख्याति' आत्मख्यातिके समर्थनके लिये देखो, प्रमाणवा० अलं० मु० पृ० २२। खण्डनके लिये देखो–न्यायमं० पृ० १६४। तात्पर्य० पृ० ८५। न्यायकु० पृ० ६२। स्याद्वादर० पृ० १२८।

उपाध्याय यशोविजयजीने ख्यातिवादका एक स्वतंत्र प्रकरण बनाकर अष्टसहस्रीके विवरणमें सन्निविष्ट किया है–"यशोविजयनामेत्थं साधुर्न्यायविशारदः। स्पष्टं निष्टंकयामास ख्यातीरष्टगरिष्टधीः ॥ १ ॥"–अष्टस० वि० पृ० ३१८।

पृ० २५. पं० २५. 'बाधकं' तुलना–

"बाधकः किं तदुच्छेदी किंवा ग्राह्यस्य हानिकृत्।
ग्राह्याभावे ज्ञापको वा त्रयः पक्षाः परः कुतः ॥"

इन विकल्पोंके द्वारा प्रज्ञाकरने विस्तारसे बाधकका निराकरण किया हैं–प्रमाणवा० अलं० मु० पृ० ४२। सन्मति० टी० पृ० १२. पं० १२।

पृ० २५. पं० २८ 'चक्रकम्' देखो–पृ० २१. पं० २२।

पृ० २५. पं० २९. 'समानजातीयम्' ये विकल्प बाधकज्ञानके हैं। संवादकज्ञानके विषयमें भी ऐसे ही विकल्प करनेकी प्रथा है। देखो, सन्मति० टी० पृ० ५. पं० ३५। और प्रस्तुत ग्रन्थ पृ० २२. § ६–७।

पृ० २६. पं० १९ 'निराकरिष्यमाणत्वात्'। देखो, का० २५।

पृ० २६. पं० २२. 'प्रमाणं' प्रमाणका नियामक तत्त्व क्या हो सकता है–इस प्रश्नकी जैसी चर्चा शान्त्याचार्यने प्रस्तुतमें की है वैसी चर्चा सन्मतिटीकामें अभयदेवने भी विस्तारसे की है–सन्मति० टी० पृ० ५।

पृ० २६. पं० २३. 'प्रसिद्धानि' सिद्धसेन दिवाकरने इस कारिकामें पूर्वपक्ष किया है कि प्रमाण और तत्कृत व्यवहार जब प्रसिद्ध ही है तब प्रमाणशास्त्र या प्रमाणके लक्षणका प्रणयन करना निरर्थक है। फिर उसका उत्तर उन्होंने दिया है कि–

"प्रसिद्धानां प्रमाणानां लक्षणोक्तौ प्रयोजनम्।
तद्व्यामोहनिवृत्तिः स्याद्व्यामूढमनसामिह ॥" न्याया० ३।

प्रमाण और तत्कृत व्यवहार प्रसिद्ध होने पर भी कुछ लोगोंको तद्विषयक मोह बना ही रहता है। इसी मोहकी व्यावृत्ति करनेके लिये शास्त्ररचना आवश्यक है।

शान्त्याचार्य वार्तिककार हैं अत एव उन्होंने भी सिद्धसेनके उक्त कथनका स्पष्टीकरण किया है।

शास्त्रके प्रतिपाद्यके विषयमें शास्त्रकारको सर्वप्रथम ऐसी शंकाका समाधान करना पड़ता है। क्योंकि जितने भी पुरुषकृत आगम होते हैं उनका विषय प्रसिद्धसा ही

होता है[1]। किन्तु शास्त्रकार उस विषयका प्रक्रियाबद्ध वर्णन करता है। यदि प्रत्येक शास्त्रकारकी नवीनता है तो मुख्यतया प्रक्रियामें ही है। यही कारण है कि प्रक्रियाभेदसे शास्त्रभेद हो जाता है।

यद्यपि प्रमाण सबको प्रसिद्ध है फिर भी जब उसका प्रक्रियाबद्ध वर्णन होने लगा तब मालूम हुआ कि न्या य द र्श न में उसका जो रूप बताया गया है उससे ठीक विपरीत बात बौ द्ध द र्श न में कही गई है। एक ही वस्तुके विचारविषयक दृष्टिकोणमें तथा वस्तुके वर्णनमें भेद हो जानेसे ही दर्शनभेद – शास्त्रभेद हुआ है। वस्तुतः वस्तुके भेदसे शास्त्र – दर्शनभेद नहीं है किन्तु वस्तुके विचार व वर्णनभेदसे शास्त्रभेद है। अत एव सभी शास्त्रकार समझते हैं कि 'यद्यपि सभी लोक किसी एक वस्तुके विषयमें अपने आपको सम्यक्प्रतीतिसंपन्न समझते हैं फिर भी उनकी वह प्रतीति मिथ्या है। और उस मिथ्याप्रतीतिको दूर करना ही हमारा काम है।' इसी समझके बलपर वे अपने माने हुए वस्तुके रूपका स्वशास्त्रमें वर्णन करते हैं और दूसरोंके माने हुए वस्तुके रूपका निराकरण करते हैं[2]।

अत एव वस्तुतः देखा जाय तो शास्त्रोंमें विद्याकी अपेक्षा अविद्याका ही विलास, अधिक मात्रामें होता है। इस सत्यका स्वीकार भ र्तृ ह रि ने दृढताके साथ किया है।

> **"शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते।**
> **अनागमविकल्पा तु स्वयं विद्योपवर्ण्यते॥"** वाक्य० ३. पृ० ४८९।

यदि शास्त्रोंमें अविद्याका विलास है तो तब उससे सत्यका दर्शन कैसे हो सकता है, और मोहको दूर करनेके लिये शास्त्रोंके प्रणयनकी बात भी कैसे संगत हो सकती है – इस प्रश्नका उत्तर भी स्वयं भ र्तृ ह रि ने ही दिया है कि – **"असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते"** – वाक्य० २.२४०।[3] भावोंका जैसा वर्णन किया जाता है वे वस्तुतः वैसे नहीं होते हैं[4] किन्तु इस असत्य वर्णनके मार्गसे ही परमार्थतक पहुंचना सहज है। परमार्थको देखनेमें स्वयं असमर्थ ऐसे पुरुषोंके लिये शास्त्र चक्षुका काम देते हैं – **"शास्त्रं चक्षुरपश्यताम्।"** वाक्य० ३. पृ० ४८९।

जब योगीतर सामान्य जन तत्त्वके चिंतन पथ पर विचरण करने लगता है तब यदि वह केवल अपने ही तर्कबल पर भरोसा रखकर चले तो संभव है कि वह परमार्थ जाननेमें धोखा खा जाय। अत एव यदि वह दूसरोंके अनुभवोंको जान ले तो उसकी प्रज्ञा विवेकयुक्त बने और उसके बल पर वह परमार्थको सहज ही में पा सके। दूसरोंके अनुभवोंके भंडार शास्त्र ही

---

१. देखो, न्यायमं० पृ० १,५। प्रमाणमी० पृ० १। २. तुलना – **"धर्मः प्रसिद्धो वा स्यादप्रसिद्धो वा? । स चेत् प्रसिद्धः, न जिज्ञासितव्यः । अथाप्रसिद्धो नतराम् । तदेतदनर्थकं धर्मजिज्ञासाप्रकरणम् । अथवाऽर्थवत् । धर्मं प्रति हि विप्रतिपन्ना बहुविदः केचिदन्यं धर्ममाहुः, केचिदन्यम् । सोऽयमविचार्य प्रवर्तमानः कंचिदेवोपाददानो विहन्येत, अनर्थं च ऋच्छेत् । तस्माद्धर्मो जिज्ञासितव्य इति"** – शाबर० १.१.१.। प्रमाणवा० अलं० पृ० ३७। व्यो० पृ० १९०। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २। कन्दली० पृ० २०। ३. तुलना करो – समयसार गाथा ८। **"यद्यपि नामायं संवृत्या व्यवहारः तथापि न तावता क्षतिः । गजनिमीलनेन तावदयं व्यवहारः प्रवर्त्यताम् । पुनरयमपि निरूप्यमाणो विशीर्यत एव ।"** प्रमाणवा० अलं० मु० पृ० ४७। ४. **"भावा येन निरूप्यन्ते तद्रूपं नास्ति तत्त्वतः"** – प्रमाणवा० २.३६०।

हैं । इस दृष्टिसे भी शास्त्ररचना और उसका अभ्यास, अविद्याका विलास होते हुए भी, उपयोगी है[१] ।

पृ० २७. पं० ३. **'विषयदोषः'** तुलना – **"तिमिराशुभ्रमणनौयानसंक्षोभाद्यनाहित-विभ्रमं"** इत्यादि न्याय बिन्दु सूत्र की टीका देखनी चाहिए जिसमें नाना प्रकारके दोषोंका वर्णन किया गया है । तथा देखो, सन्मति० टी० पृ० ३, पं० २२ ।

पृ० २७. पं० १५. **'शक्तिः'** शक्ति वस्तुका सामर्थ्य है । बीजका सामर्थ्य अंकुरजननमें है, वह्निका सामर्थ्य दाहमें है, विषका सामर्थ्य मारणमें है, शब्दका सामर्थ्य अर्थप्रकाशनमें है, परशुका सामर्थ्य छेदनमें है – इस प्रकार सामर्थ्यके विषयमें तो किसी दार्शनिकका मतभेद नहीं है, किन्तु वह सामर्थ्य क्या है, उसका स्वरूप क्या है, सामर्थ्यका समर्थके साथ क्या सम्बन्ध है, सामर्थ्यका ग्रहण किस प्रमाणसे होता है, इत्यादि बातोंमें नाना मतभेद देखे जाते हैं । अत एव यहाँ शक्तिके विषयमें निम्न लिखित मुद्दों पर विचार किया जाता है –

१ – शक्तिकी कल्पनाका बीज ।

२ – शक्तिका स्वरूप ।

३ – शक्तिग्राहक प्रमाण ।

१ – शक्तिकी कल्पनाका बीज ।

संसारमें नाना प्रकारके कार्योंकी उत्पत्ति देखी जाती है । उत्पत्तिमें भी व्यवस्था देखी जाती है । जैसा कारण हो वैसा ही कार्य होता है । जिस किसी कार्य की जिस किसी कारणसे उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु अमुक कार्यकी उत्पत्ति अमुक कारणसे ही होती है । यदि पट बनाना हो तब तन्तुका ही ग्रहण आवश्यक होता है, और घट बनाना हो तो मृत्तिकाका । इस व्यवस्थाके मूलमें ही शक्तिकी कल्पनाका बीज है[२] ।

२ – शक्तिका स्वरूप ।

कार्यकारणभावका विचार दार्शनिकोंने दो प्रकारसे किया है । अद्वैतवादिओंके मतसे कार्यकारणभाव व्यावहारिक सत्य है, संवृतिसत्य है, पारमार्थिक सत्य नहीं । बाह्यार्थवादिओंके मतसे ही कार्यकारणभाव पारमार्थिक सत्य है । अत एव कार्यकारणभावकी व्यवस्थामेंसे ही फलित होनेवाली शक्तिके स्वरूपके विषयमें भी दार्शनिकोंके दो मन्तव्य हों यह स्वाभाविक ही है । अद्वैतवादिओंके मतसे शक्तिस्थानापन्न अविद्या, माया, वासना[३] या मिथ्यात्व है । उसका स्वरूप सामान्यतः अनिर्वचनीय है । वह न सत् है न असत्, न उभयरूप है न अनुभयरूप । बाह्यार्थवादिओंके मतसे शक्ति अनिर्वचनीय नहीं किन्तु पारमार्थिक वस्तु है ।

माध्यमिक बौद्धने सभी व्यवहारोंको अविचारित रमणीय माना है । भावोंको उसने सर्व

---

१. "प्रज्ञा विवेकं लभते भिन्नैरागमदर्शनैः । कियद्वा शक्यमुन्नेतुं स्वतर्कमनुधावता ॥ ४९२ ॥ तत्तदुत्प्रेक्षमाणानां पुराणैरागमैर्विना । अनुपासितवृद्धानां विद्या नातिप्रसीदति ॥ ४९३ ॥" वाक्य० २ ।
२. श्लोकवा० शून्यवाद २५३,२५४ । न्यायकु० पृ० १५८. पं० १३ । पृ० १६०. पं० १७ ।
३. "वासनैव च युष्माभिः शक्तिशब्देन गीयते" श्लोक० शून्य० २५६ ।

स्वभावशून्य माना है[1] । अत एव भाव उत्पादादिधर्मशून्य होनेसे उसमें कार्यकारणभावको वस्तुतः अवकाश नहीं रहता । अनाद्यविद्यावासनाके कारण सब व्यवहार चलते हैं । अत एव शून्यवादीके मतसे कार्यकारणभावकी नियामिका—शक्ति नहीं, किन्तु अविद्या या वासना ही है[2] । अर्थात् वासना ही शक्तिस्थानापन्न है ।

शब्दाद्वैतीके मतसे सकल प्रपञ्चके मूलमें एकमात्र शब्द ही है । सकल बाह्य-आभ्यन्तर वस्तुओंका समन्वय एक शब्दब्रह्ममें ही होता है[3] । शब्दब्रह्मकी नाना शक्तिओंके कारण नाना कार्य दिखाई देते हैं । और नानाशक्तिके कारण ही एक ही ब्रह्म नाना दिखाई देता है । वस्तुतः नानात्व शक्तिमें होने पर भी ब्रह्ममें आरोपित होता है ये शक्तियाँ अनिर्वाच्य हैं[4] । वस्तुतः वेदान्तिओंकी अविद्या—माया और वैयाकरणोंकी शक्तियोंमें मौलिक भेद नहीं । अत एव प्रभाचन्द्राचार्यने शब्दाद्वैतिओंके पूर्वपक्षमें आविर्भावादि भेदप्रपञ्चकी घटनाको अविद्यामूलक[5] बताते हुए जो उसके समर्थनमें बृहदारण्यकवार्तिककी कारिका उद्धृत की है वह असंगत नहीं ।

धर्मकीर्तिने सभी प्रकारके सम्बन्धका निषेध करते समय खास कर कार्यकारणभावका निषेध किया है । उनका कहना है कि दर्शनादर्शनकृतविकल्पका विषय ही कार्यकारणभाव है अत एव वह अवस्तु होनेसे पारमार्थिक नहीं । विकल्पका मूल वासनामें है अर्थमें नहीं । अत एव कार्यकारणभावकी व्यवस्था वासनासे सिद्ध है[6] ।

धर्मकीर्तिके अनुगामी प्रज्ञाकरगुप्तने कहा है कि जितने भी कार्य हैं वे सब, कार्य होनेके कारण ही, स्वप्नदर्शनके कार्योंकी तरह वासनाकृत हैं । ईश्वर हो या कर्म, प्रधान हो या अन्य कुछ, सभी की कल्पना वासनामूलक है । न्यायी ईश्वरको मानकर भी यदि जगतमें वैचित्र्य लाना हो तो वासनाको बिना माने काम चल नहीं सकता । अत एव ईश्वर, प्रधान या कर्म इन सभी नदीओं का स्रोत वासनासमुद्रमें मिलकर एक हो जाता है यही मानना चाहिए—

"कार्यत्वात् सकलं कार्यं वासनाबलसंभवम् ।
कुम्भकारादिकार्यं वा स्वप्नदर्शनकार्यवत् ॥

---

१. "मध्यमाप्रतिपत् सैव सर्वधर्मनिरात्मता" न्यायकु० पृ० १३१ में उद्धृत । २. "न स्वतो नापि परतः न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः । उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन ॥" माध्य० प्रत्य० का० १ । महायानविं० १८ । "यथा माया यथा स्वप्नो गन्धर्वनगरं यथा । तथोत्पादस्तथा स्थानं तथा भङ्ग उदाहृतः ॥" माध्य० संस्कृ० का० ३४ । महायानसू० पृ० ६२ । लंकावतार पृ० १११ । "परमार्थेन नोत्पादो निरोधोऽपि न तत्त्वतः । बुद्ध आकाशवत् तद्वत् सत्त्वा अप्येकलक्षणाः ॥" महायानविंशक २ । ३. "न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते । अनुविद्धमिवाभाति सर्वं शब्दे प्रतिष्ठितम् ॥" वाक्य० १.१२४ । ४. "एकमेव यदाम्नातं भिन्नशक्तिव्यपाश्रयात् । अपृथक्त्वेऽपि शक्तिभ्यः पृथक्त्वेनेव वर्तते ॥" वही १.२ । "एकस्य सर्वबीजस्य ब्रह्मणः तत्त्वान्यत्वाभ्यां सत्त्वासत्त्वाभ्यां चानिर्वाच्या शक्तिरूपा"—वाक्य० टी० १.४ । ५. न्यायकु० पृ० १४१ । ६. "कार्यकारणभावोऽपि तयोरसहभावतः । प्रसिध्यति कथं द्विष्ठोऽद्विष्ठे संबन्धता कथम् ॥ दर्शनादर्शने मुक्त्वा कार्यबुद्धेरसंभवात् । कार्यादिश्रुतिरप्यत्र लाघवार्थं निवेशिता ॥ एतावन्मात्रतत्त्वार्थाः कार्यकारणगोचराः । विकल्पा दर्शयन्त्यर्थान् मिथ्यार्थान् घटितानिव ॥" इत्यादि सम्बन्धपरीक्षा । प्रमेयक० पृ० ५१० । स्याद्वादर० पृ० ८१४-८१७ ।

प्रधानमीश्वरः कर्म यदन्यदपि कल्प्यते।
वासनासङ्गसम्मूढचेतःप्रस्यन्द एव सः॥
प्रधानानां प्रधानं तद् ईश्वराणां तथेश्वरम्।
सर्वस्य जगतः कर्त्री देवता वासना परा॥
अशक्यमन्यथा कर्तुमत्र शक्तिः कथं मता।
वासनाबलतः सोऽपि तस्मादेवं प्रवर्तते॥
इति प्रधानेश्वरकर्तृवादनद्यः सदा शीघ्रवहाः प्रवृत्ताः।
विशम्य एवाद्वयतां प्रयान्ति तद्वासनामेयसमुद्रमेव॥"

प्रमाणवा० अ० मु० पृ० ७५।

शंकराचार्यने ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ताको व्यावहारिकसत्य कहा है, आविद्यक कहा है। और कहा है कि जब विद्यासे आत्मामें सर्व उपाधिओंका नाश हो जाता है तब परमार्थतः ईश्वरमें सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्त्व आदि व्यवहारोंका अभाव हो जाता है।[१]

शंकराचार्यके मतसे शक्ति, माया, और प्रकृति में कोई भेद नहीं। शक्ति ही सर्वप्रपञ्चकी बीजभूत है। और ईश्वरमें शक्ति होने पर भी ईश्वरसे उसका अत्यन्त भेद है। क्योंकि ईश्वर सत्य है तब शक्ति, माया या प्रकृति मिथ्या है–

"सर्वज्ञस्येश्वरस्यात्मभूते इवाविद्याकल्पिते नामरूपे तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये संसारप्रपञ्चबीजभूते सर्वज्ञस्येश्वरस्य माया शक्तिः प्रकृतिरिति च श्रुतिस्मृत्योरभिलप्येते, ताभ्यामन्यः सर्वज्ञः ईश्वरः।" शां० ब्रह्म० २.१.१४।

इन सभी अद्वैतवादिओंसे ठीक विपरीत मार्ग बाह्यार्थवादिओंका है। उनके मतसे कार्यकारणभावकी व्यवस्था पारमार्थिक होनेसे शक्ति भी पारमार्थिक है। किन्तु शक्तिके स्वरूपके विषयमें इन सभीमें ऐकमत्य नहीं।

वैशेषिकोंके मतसे पृथिव्यादि द्रव्योंमें समवायसम्बन्धसे सम्बद्ध पृथिव्यादि जाति और अन्त्यतन्तुसंयोगादि चरमसहकारिरूप दो प्रकारकी शक्ति मानी गई है। सारांश यह है कि यदि पृथ्वीमें पृथ्वीत्व न हो तो पार्थिवकार्य सम्पन्न नहीं हो सकता अत एव पृथ्वीत्व ही शक्ति है। इसी प्रकार पृथ्वीत्वके होने पर भी यदि पार्थिव पटकी उत्पत्ति इष्ट है तब अन्त्यतन्तु-संयोगरूप चरमसहकारि कारण अवश्य चाहिए। अत एव इसे भी शक्ति मानना चाहिए। क्योंकि जिस प्रकार पृथ्वीत्वके बिना कार्य सिद्ध नहीं होता वैसे अन्त्यतन्तुसंयोगके बिना भी कार्यसिद्धि नहीं।

वैशेषिकोंके मतसे पदार्थ और उसका सामर्थ्य अत्यन्त भिन्न हैं क्योंकि उनके मतसे द्रव्य, जाति और गुणका अत्यन्त भेद है[२]।

यही मत नैयायिकोंको भी इष्ट है[३]।

---

१. "तदेवं अविद्यात्मकोपाधिपरिच्छेदापेक्षमेवेश्वरस्येश्वरत्वम्, सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्त्वं च, न परमार्थतो विद्यापास्तसर्वोपाधिस्वरूपे आत्मनीशित्रीशितव्यसर्वज्ञत्वादिव्यवहार उपपद्यते।" – शां० ब्रह्म० २.१.१४।
२. व्यो० पृ० १९३। ३. न्यायमं० पृ० ३८,६५। तात्पर्य० पृ० ३७,१०३। न्यायकु० पृ० १५९।

मीमांसकोंने पदार्थके स्वरूपसे अतिरिक्त – पदार्थगत जाति या सहकारि साकल्यसे अतिरिक्त शक्तिनामक एक अतीन्द्रिय स्वतन्त्र पदार्थकी कल्पना की है।

बीजके होने पर अंकुरोत्पत्ति होती है और बीजके अभावमें नहीं होती – ऐसा अन्वय व्यतिरेक देख कर बीजको अंकुरका कारण माना जाता है। किन्तु यदि बीज मूषिकाघ्रात हो तब बीजके स्वरूपमें और सहकारिओंमें किसी भी प्रकारकी त्रुटि न होने पर भी उस बीजसे अंकुरोत्पत्ति नहीं होती अत एव मानना पडता है कि बीज अंकुरोत्पत्तिमें अकारण भी है। एक ही वस्तु कारण और अकारण नहीं हो सकती। अत एव यदि यह माना जाय कि कार्यकी उत्पत्ति तत्तत् बीजादि वस्तुओंसे नहीं किन्तु तद्गत अतीन्द्रिय शक्तिसे ही होती है – तब ही पूर्वोक्त विरोधका निरास हो सकता है। बीजादिमें जब तक शक्ति अखण्डित रहती है अंकुरोत्पत्ति हो सकती है और जब मूषिकाघ्राणसे या और किसी कारणसे उस शक्तिका नाश हो जाता है तब कार्य उत्पन्न नहीं होता[1]।

इसी युक्तिके आधार पर वह्निमें दाहशक्तिका भी समर्थन मीमांसकोंने किया है। मणि-मन्त्रादिसे अग्निकी शक्तिका जब उपघात होता है तब अग्निका स्वरूप अखण्डित होने पर भी वह दाहकार्य उत्पन्न नहीं कर सकती। अत एव दाहजनक अग्नि नहीं किन्तु अग्निगत अती-न्द्रिय शक्ति ही है[2]।

इन्हीं युक्तिके बलसे तथा अन्य युक्तिओंके बलसे[3] नैयायिकसंमत द्रव्यादि सभी पदार्थोंसे अतिरिक्त अतीन्द्रिय ऐसे शक्तिनामक स्वतंत्र पदार्थकी मीमांसकोंने कल्पना की है।

मीमांसक वस्तुतः वैशेषिकादिकी तरह बाह्य पदार्थोंका विवेचन करनेके लिये प्रवृत्त नहीं हुआ है किन्तु कर्मकाण्डका समर्थन करना ही उसका मुख्य ध्येय है। उस समर्थनमें जहाँ पदार्थ विवेचनाका प्रसंग आ जाता है वह उसे करता है। शक्तिको इस प्रकार स्वतन्त्र पदार्थ माननेकी आवश्यकता उसे कैसे हुई इस बातका पता हमें मीमांसकसंमत 'अपूर्वकी' कल्पनाका समर्थन देख कर लग सकता है[4]।

याग कर्म होनेसे क्षणिक है अत एव प्रश्न हुआ कि यागसे होनेवाला स्वर्गादि फल तो मृत्युके बाद होगा, और मृत्यु पर्यंत यागकी अवस्थिति नहीं, तब यागसे स्वर्गकी उत्पत्ति होगी कैसे ?। इस प्रश्नके उत्तरमें मीमांसकने अपूर्वकी[5] कल्पना की है। याग नष्ट हो जाता है फिर भी यागसे एक 'अपूर्व' उत्पन्न होता है, जिससे स्वर्गकी उत्पत्ति होगी।

कुमारिलने कहा है कि कर्मके अनुष्ठानसे पहले, पुरुष और याग स्वर्गकार्यको उत्पन्न करनेमें अयोग्य होते हैं। उसी अयोग्यताका निरास करके पुरुष और क्रतुमें योग्यताको उत्पन्न

---

१. शास्त्रदी० पृ० ८० । २. प्रकरणपं० पृ० ८१ । ३. "न द्रव्यं गुणवृत्तित्वात्, गुणकर्म-बहिष्कृता । सामान्यादिषु सत्त्वेन सिद्धा भावान्तरं हि सा ॥" – संग्रहश्लोक न्यायली० पृ० २२ । ४. "एवं यागादेरपूर्वस्वर्गादिसाधनशक्तिकल्पनमूहनीयम्" शास्त्रदी० पृ० ८० । ५. "अपूर्वं पुनरस्ति यत आरम्भः शिष्यते 'स्वर्गकामो यजेतेति'। इतरथा हि विधानमनर्थकं स्यात्, भङ्गित्वात् यागस्य । यद्यन्यदनुत्पाद्य यागो विनश्येत् फलमसति निमित्ते न स्यात् । तस्मादुत्पादयतीति ।" शाबर० २.१.५ । "फलाय विहितं कर्म क्षणिकं चिरभाविने । तत्सिद्धिर्नान्यथेत्येवमपूर्वं प्रतिगम्यते ॥" तन्त्र० २.१.५ ।

करना यह अनुष्ठानका कार्य है—यह बात समीको स्वीकार करनी होगी क्योंकि यदि ऐसा न हो तो याग करना न करना तुल्य होगा । यही योग्यता 'अपूर्व' शब्दसे कही जाती है[१] ।

[२]संस्कार, योग्यता, सामर्थ्य, अपूर्व, शक्ति ये एकार्थक हैं फिर भी 'अपूर्व' शब्दका प्रयोग लौकिक कर्म जन्य शक्तिके लिये नहीं होता है सिर्फ वेदबोधित कर्मजन्य शक्तिके लिये ही होता है[३] ।

कुमारिलने एक दूसरा समाधान भी किया है । उनका कहना है कि शक्तिद्वारा फलकी सिद्धि होती है अथवा फल ही सूक्ष्मशक्तिरूपसे उत्पन्न होता है । कोई भी कार्य हो वह हठात् उत्पन्न नहीं होता किन्तु क्रमशः सूक्ष्मतम, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मरूपसे स्थूलरूपमें आविर्भूत होता है । दूधसे दधि हठात् नहीं बन जाता किन्तु दधि अपने अनेक सूक्ष्मरूपों का अनुभव करके नियतकालमें स्थूल दधिरूपको धारण करता है । इसी प्रकार यागसे भी अपने सूक्ष्मतम रूपमें—शक्तिरूपमें स्वर्ग उत्पन्न होता है और कालके परिपाकसे वह स्थूलरूपमें आविर्भूत होता है—ऐसा मानना चाहिए[४] ।

मीमांसकोंने शक्ति दो प्रकारकी मानी है । एक सामान्य शक्ति और दूसरी विशेष । सभी पदार्थोंमें अर्थक्रियाका जो सामर्थ्य है वह सामान्य शक्ति है और नियतकार्योंको उत्पन्न करनेवाली शक्तियाँ विशेष शक्तियाँ हैं । अपूर्व भी एक विशेष शक्ति है[५] ।

अपूर्व सक्रिय भी है और निष्क्रिय भी । चलनादि क्रिया अपूर्वमें नहीं अत एव निष्क्रिय है और कर्ताके साथ सम्बन्धमात्रसे वह कर्ताको देशान्तरादिमें ले जाने आदि क्रिया करता है अत एव वह सक्रिय भी है[६] ।

शक्ति कहाँ रहती है—उसका आश्रय क्या है इसका भी उत्तर कुमारिलने दिया है कि शक्ति प्रत्यक्षगम्य तो है नहीं । वह कार्यानुमेय है अत एव जहाँ मानना उपयुक्त हो वहीं मानना चाहिए[७] । स्वर्गका जनक कर्म है अत एव स्वर्गजनकत्वशक्ति कर्मकी है फिर भी उसका आश्रय कर्म ही हो यह आवश्यक नहीं क्योंकि कर्म तो क्षणिक होनेसे अनन्तर क्षणमें नष्ट हो जाता है । अत एव उसका आश्रय कर्म नहीं किन्तु आत्मा ही मानना चाहिए[८] ।

---

१. "कर्मभ्यः प्रागयोग्यस्य कर्मणः पुरुषस्य वा । योग्यता शास्त्रगम्या या परा साऽपूर्वमिष्यते ॥" तन्त्र० २.१.५ । २. नैयायिकसंमत 'संस्कार' का जो रूप है वह शक्ति नहीं है । तथापि कुमारिलने शक्तिके लिये संस्कारशब्दका प्रयोग किया है—"यदि हि अनाहितसंस्कारा एव यागा नश्येयुः ।" तन्त्र० पृ० ३९६ । ३. तन्त्रवा० पृ० ३९५ । ४. "यागादेव फलं तद्धि शक्तिद्वारेण सिध्यति । सूक्ष्मशक्त्यात्मकं वा तत् फलमेवोपजायते"—तन्त्रवा० पृ० ३९५ । कुमारिकसंमत प्रस्तुत बातका समर्थन पढते समय जैनोंकी नैगमनयसंमत विचारधारा उपस्थित होती है । ५. "सर्वत्र शक्तिसामान्योपलम्भात् तद्विशेषमात्रत्वाच्च अपूर्वस्य ।" तन्त्र० पृ० ३९७ । ६. "सत्यपि चास्य चलनादिक्रियारहितत्वे कर्तृसम्बन्धमात्रेण तद्देशान्तरप्रापणादिक्रियासम्बन्धाभ्युपगमान्निष्क्रियतानुपालम्भः ।" तन्त्र० पृ० ३९७ । ७. "शक्तिः कार्यानुमेयत्वात् यद्गतैवोपयुज्यते । तद्गतैवाभ्युपेतव्या स्वाश्रयान्याश्रयापि वा ॥" तन्त्र० पृ० ३९८ । शास्त्रदी० पृ० ८० । ८. "यदि स्वसमवेतैव शक्तिरिष्येत कर्मणाम् । तद्विनाशे ततो न स्यात् कर्तुस्था तु न नश्यति ।" वही ।

अग्निआदिको दाहकादि शक्तिका आश्रय मानने पर कोई आपत्ति आती नहीं अत एव उसका आश्रय अग्नि आदिको मानना चाहिए।

शक्ति कर्मकी है और वह रहती आत्मामें है यह कैसे संभव है?। इस प्रश्नके उत्तरमें कुमारिलने कहा है कि क्रिया और आत्माका अत्यन्तभेद नहीं[1] अत एव कर्म की शक्ति आत्मामें रह सकती है। शक्ति स्वयं कार्यक्षम हो इतना ही पर्याप्त नहीं है किन्तु स्वाश्रय भी कार्यक्षम होना चाहिए। अत एव नष्ट कर्म अशक्त होनेसे आत्मा को ही शक्त–शक्तियुक्त मानना चाहिए।

अपूर्व अमूर्त है। अमूर्तमें आश्रयाश्रयिभावका कोई विरोध नहीं। आत्मा और सुखादि अमूर्त होने पर भी उनमें जैसे आश्रयाश्रयिभाव है वैसे ही अमूर्त शक्ति और आत्मा का भी आश्रयाश्रयिभाव घट सकता है–तन्त्र० पृ० ३९८।

मीमांसकोंके इस अपूर्वकी तुलना जैन सम्मत भावकर्मसे करना चाहिए। भावकर्म भी अतीन्द्रिय और अमूर्त है। द्रव्यकर्मजन्य[2] होने पर भी वह आत्मा का धर्म है। जैसे मीमांसकोंने कर्म–क्रिया को आत्मासे अभिन्न माना है वैसे जैनोंने भी द्रव्यकर्मको आत्मासे कथञ्चिदभिन्न माना है। मीमांसकोंने अपूर्वको जैसे कर्म जन्य माना है वैसेही भावकर्म को–जैनोंने द्रव्यकर्मजन्य माना है। मीमांसकोंने जैसे अपूर्वको फलजननमें समर्थ माना है वैसे ही जैनोंने भावकर्म को विशिष्ट फलजनक माना है।

प्रभाकरानुगामी शालिकनाथका कहना है कि शक्तिका आश्रय यदि नित्य है[3] तो वह नित्य होगी और यदि अनित्य है तो अनित्य होगी। अनित्य शक्तिकी उत्पत्ति आश्रयके कारणों से ही होती है।

जिस वस्तुसे कभी कार्योत्पत्ति न हो वहाँ शक्ति का नाश माना जाता है और वस्तुका भी नाश माना जाता है। किन्तु कुछ कालके लिये कार्योत्पत्ति न हो तो शक्तिका अभिभव मानना चाहिए, नाश नहीं। जैसे मणिमन्त्रादि से दाहक शक्तिका कुछ कालके लिये अभिभव होता है नाश नहीं[4]।

शास्त्रदीपिकाकारके मतसे मन्त्रादिसे शक्तिका अभिभव नहीं किन्तु नाश होता है।

मीमांसकोंके मतसे वस्तुके साथ शक्तिका भेदाभेद है–तत्त्वसं० का० १६१४।

नैयायिक संमत संस्कार और उक्त शक्तिका भेद यह है कि नित्याश्रय संस्कार अनित्य है तब नित्याश्रया शक्ति नित्य है। अनित्याश्रय संस्कार स्वाश्रयातिरिक्त कारण जन्य है तब शक्ति स्वाश्रयकारणातिरिक्त कारण जन्य नहीं[5]–ऐसा शालिकनाथका मन्तव्य है। किन्तु ऐसा मानने पर शक्ति और तदाश्रयकी भेदरेखा नहिंवत् हो जाती है।

सुखादिसे शक्तिके भेदको स्पष्ट करनेवाला निम्न लिखित श्लोक प्रसिद्ध है–

"सुखमाह्लादनाकारं विज्ञानं मेयबोधनम्।
शक्तिः क्रियानुमेया स्याद् यूनः कान्तासमागमे॥"[6]

---

१. "क्रियात्मनोरत्यन्तभेदाभावात्" वही। २. जैन मतानुसार भावकर्म द्रव्यकर्मका जनक भी है। ३. नित्य आत्माकी स्वशक्ति नित्य होगी किन्तु कर्मजन्य अपूर्व शक्ति यद्यपि आत्माश्रित है फिर भी अनित्य ही है यह अपवाद है। ४. प्रकरणपं० पृ० ८२। ५. प्रकरणपं० पृ० ८२। "न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन शक्यते"–श्लोक० सूत्र० २.४७। ६. अष्टस० पृ० ७९, सन्मति० टी० पृ० ४७८, स्याद्वादर० पृ० १७८ इत्यादिमें उद्धृत।

जैनोंने भी मीमांसकोंकी तरह अतीन्द्रिय शक्ति का समर्थन किया है। और नैयायिकके मतका खण्डन किया है[1]।

जैनोंके मतसे शक्तिकी कल्पना क्यों आवश्यक है इसे ठीक समझनेके लिये जैन संमत वस्तुस्वरूपको समझना होगा। जैनोंके मतसे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त वस्तु ही सत् है। ध्रौव्यांशको द्रव्य कहा जाता है। उत्पाद और व्यय–ये पर्याय हैं। वस्तुमें उत्पादशील और विनश्वर अनन्त पर्याय हैं। वे सभी पर्याय अर्थपर्याय और व्यञ्जनपर्यायके अन्तर्गत हैं। वस्तुके अतीन्द्रिय पर्यायोंको अर्थपर्याय कहा जाता है और स्थूल पर्यायोंको व्यञ्जन पर्याय कहा जाता है[2]। अर्थपर्याय ही शक्तिके नामसे व्यवहृत होते हैं। क्योंकि इन पर्यायोंके कारण ही अर्थ नाना कार्योंके उत्पादनमें समर्थ समझा जाता है। शक्तिमत्–वस्तु अपने व्यञ्जन पर्याय–स्थूलरूपमें ही हमारी इन्द्रियोंका विषय बनती है किन्तु जो उसका सूक्ष्मस्वरूप है–अर्थात् अनन्तसामर्थ्य रूप जो उसका स्वरूप है उस रूपसे वह हमारे प्रत्यक्षका विषय नहीं अत एव शक्तिको अतीन्द्रिय कहा जाता है।

यदि इन अर्थपर्यायोंको–शक्तिओंको अनेक माना न जाय तो एक ही वस्तुको अनेक कार्योंमें समर्थ माना नही जा सकता[3]। व्यञ्जनपर्याय ही अर्थपर्याय नहीं हो सकते क्योंकी उनका स्वरूप तो प्रत्यक्ष है किन्तु अर्थपर्यायका बोध तो किसी कार्यको देखकर ही अनुमानसे होता है–स्याद्वादर० पृ० ३०६।

वस्तुके साथ पर्यायोंका भेदाभेद होने से जैनोंके मतसे शक्तिका पदार्थसे भेदाभेद समझना चाहिए–स्याद्वादर० पृ० ३०६।

शक्ति द्रव्यरूपसे नित्य और पर्यायरूपसे अनित्य है–वही० पृ० ३०४। शक्तिका कारण पदार्थस्वरूप ही है।

सांख्य सत्कार्यवादी हैं। अत एव वे कारण को ही शक्तिसंपन्न मानते हैं। कार्यकी अव्यक्तावस्था का ही दूसरा नाम शक्ति है[4]। तैलके लिये उपादान तिल है अर्थात् तैलके लिये तिल शक्त है और दूसरा पदार्थ अशक्त है इसका मतलब यही है कि तिलमें ही तैल अव्यक्तावस्थामें है। वस्तुतः तिल और शक्तिका भेद नहीं। शक्ति कारणात्मक है।

इस विषयमें वेदान्त और सांख्यमें कोई भेद नहीं। व्यवहारमें जहाँ किसी कारणको किसी कार्यमें शक्त माना जाता है वहाँ शंकराचार्यने शक्तिको कारणात्मक ही बताया है[5]।

---

१. तत्त्वार्थश्लो० पृ० ५९–६०। सन्मति० टी० पृ० २५४। न्यायकु० पृ० १५८। स्याद्वादर० पृ० २८७। २. "अर्थव्यञ्जनपर्यायैः शक्तिव्यक्तिरूपैरनन्तैरनुगतोऽर्थः"–सन्मति० टी० पृ० ४३१। ३. "यथैव हि सहकारफलादौ रूपादिज्ञानानि रूपादिस्वभावभेदनिबन्धनानि तथैकस्मादपि प्रदीपादेर्भावात् वर्तिकादाहतैलशोषादिविचित्रकार्याणि तावच्छक्तिभेदनिमित्तकानि व्यवतिष्ठन्ते अन्यथा रूपादेर्नानात्वं न स्यात्।" स्याद्वादर० पृ० ३०५। अष्टस० पृ० १८३। ४. "शक्तिश्च कारणगता न कार्यस्याव्यक्तत्वादन्या। न हि सत्कार्यपक्षे कार्यस्याव्यक्तताया अन्यस्यां शक्तौ प्रमाणमस्ति। अयमेव हि सिकताभ्यस्तिलानां तैलोपादानानां भेदो यदेतेष्वेव तैलमनागतावस्थं न सिकतास्विति।"–सांख्यत० का० १५। ५. "शक्तिश्च कारणस्य कार्यनियमार्था कल्प्यमाना नान्या नाप्यसती तस्मात् कारणस्यात्मभूता शक्तिः"–शां० ब्रह्म० २.१.१८।

धर्मकीर्तिने भी शक्ति पृथक् न होनेसे पदार्थको ही नानैककार्यकारि माना है। अर्थात् पदार्थ ही शक्त है–शक्ति है तद्व्यतिरिक्त कोई सामर्थ्य उसमें नहीं–प्रमाणवा० २.५३५। धर्मकीर्तिके मतसे सत्त्व ही अर्थक्रियाकारित्व है, वही शक्ति है और वही पदार्थ है। शान्तरक्षितने इसी बातका स्पष्टरूपसे समर्थन किया है–

"तत्र शक्तातिरेकेण न शक्तिर्नाम काचन।
याऽर्थापत्त्यावगम्येत शक्तश्चाध्यक्ष एव हि॥
अर्थक्रियासमर्थं हि स्वरूपं शक्तिलक्षणम्।
एवमात्मा च भावोऽयं प्रत्यक्षाद्व्यवसीयते॥" तत्त्वसं० १६०७,१६१०।

३–शक्तिग्राहक प्रमाण।

मीमांसकके मतसे यह एकान्त है कि शक्ति अतीन्द्रिय होनेसे प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय हो नहीं सकती। वह अर्थापत्तिसे गम्य है–श्लोक० शून्य० २५४।

नैयायिकके मतसे शक्ति जातिरूप या गुणरूप होनेसे प्रत्यक्ष प्रमाणका भी विषय है– न्यायमं० पृ० ६५।

बौद्धके मतसे शक्ति पदार्थका स्वभाव होनेसे अप्रत्यक्ष नहीं। पदार्थका जहाँ प्रत्यक्ष है वहाँ वह प्रत्यक्ष ही है। यही मत सांख्य और वेदान्तको भी मान्य हो सकता है– तत्त्वसं० १६०७।

जैनोंका इस विषयमें एकान्त नहीं। शक्तिका द्रव्यरूपसे प्रत्यक्ष और पर्यायरूपसे अप्रत्यक्ष माना गया है। तत्त्वार्थश्लो० पृ० ६०।

पृ० २७. पं० १५. 'शक्ति' विविधरीतिसे शक्तिका विचार जाननेके लिये देखो–तन्त्रवा० पृ० ३९०–४००। श्लोकवा० शून्य० २४८–२५७; अर्था० १–६; ४७–४८; सम्बन्धा० २५–२९; ३७, ३८; ८९–९७; शब्दनि० ४३–४५; वाक्या० ६० से। तत्त्वसं० पृ० ४५७। प्रकरणपं० पृ० ८१। शास्त्रदी० पृ० ८०। व्यो० १९३। न्यायमं० पृ० ३४–३९१ ६५। तात्पर्य० पृ० ३७, १०३। अष्टस० पृ० १८३। सन्मति० टी० पृ० ९, २५४। न्यायकु० १५८–१६४। प्रमेयक० पृ० १९५–२०२। स्याद्वादर० पृ० २८६–३०६।

पृ० २८. पं० १२. 'प्रतिपादयिष्यते' देखो, का० ३४। क्षणिकत्वनिराकरणके लिये देखो, का० ३५ § २०। का ५६ § २१।

पृ० २८. पं० २१. 'वेदेश्वरादयः' वेद, ईश्वर आदि नित्यप्रमाणोंको शान्त्याचार्यने बाधाका संभव होनेसे अप्रमाण कहा है किन्तु धर्मकीर्तिने वेदादिका प्रामाण्य विलक्षण ढंगसे खण्डित किया है। उनका कहना है कि ज्ञेय ही जब अनित्य है तब तज्जन्य ज्ञान भी अनित्य ही होगा। अत एव नित्य वेदादि प्रमाण नहीं हो सकते–

"नित्यं प्रमाणं नैवास्ति प्रामाण्याद् वस्तुसंगतेः। ज्ञेयानित्यतया तस्याध्रौव्यात्॥" प्रमाणवा० १.१०।

पृ० २८. पं० २३. 'वेदाश्च' तुलना–प्रमाणवा० अ० पृ० ४०।

पृ० २८. पं. २७ 'तत्त्वम्'–"जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्" तत्त्वार्थ० १.४।

पृ० २८. पं० २९. 'दर्शयिष्यते' देखो, का० ११,१२।

पृ० २९. पं० ४. 'यद्येन' तुलना – सन्मति० टी० पृ० ३९ पं० ३५।

पृ० २९. पं० ३. 'अपौरुषेयत्वम्' मीमांसकोंने वेदको अपौरुषेय[1] माना है। धर्मकीर्तिने अपने प्रमाणवार्तिक (३.२३९–३३९) और उसकी स्वोपज्ञ वृत्तिमें वेदकी अपौरुषेयता एवं नित्यताका विस्तारसे खण्डन किया है। दूसरे दार्शनिकोंने[2] प्रायः धर्मकीर्तिकी युक्तिओंका ही संकलन करके वेदकी पौरुषेयता सिद्ध की है। प्रस्तुतमें शान्त्याचार्यने वैसा ही किया है।

पृ० २९. पं० ४. 'यद्येन' तुलना – "यज्जातीयो यतः सिद्धः सोऽविशिष्टोऽग्निकाष्ठवत्।" प्रमाणवा० ३.२४२। "अपि च 'यज्जातीयः' यद्द्रव्यसमानसजातीयः। 'यतो' हेतोः, 'सिद्धः' अन्वयव्यतिरेकाभ्यां। 'सः' तज्जातीयत्वेन 'अविशिष्टः' अन्योऽप्यदृष्टहेतुरपि तस्माद्धेतोर्न भवतीत्येवं संप्रतीयते। किमिव?। 'अग्निकाष्ठवत्'। यथेन्धनादेको वह्निर्दृष्टः, तत्समानस्वभावोऽपरोऽपि तत्समानहेतुरेवादृष्टहेतुरपि संप्रतीयते। अनेन वेदस्यापौरुषेयत्वसाधने प्रतिज्ञाया अनुमानबाधामाह।............लौकिकेन शब्देन समानधर्मो वैदिकोऽपि शब्दो लौकिकवत् पुरुषहेतुकः स्यात् न वा कश्चिदपि।........अयं हि कार्यस्य धर्मो यत् कारणनिवृत्तौ निवृत्तिः। यदा तु निवृत्तेऽपि पुरुषे वैदिकेषु शब्देषु पौरुषेयं रूपं स्यात् तदा तेन कार्यधर्मो व्यतिवृत्तः स्यात्। 'ततः' कार्यधर्मव्यतिक्रमात् ततः पुरुषात् न किञ्चिद्वाक्यं स्यादिति न कश्चिच्छब्दो लौकिकः 'तथेति' पौरुषेयत्वेन वचनीयः स्यात्। रूपविशेषो वा पौरुषेयाणां वैदिकाद् भिन्नो दर्शनीयो यो रूपविशेष एनं पुरुषाख्यं हेतुमनुविदध्यात्। 'येन' विशेषेण, 'इष्टस्य' अपौरुषेयत्वेन वेदस्य। 'अनिष्टस्य' च लौकिकस्य इष्टविपर्ययो न स्यात्। यथाक्रमं पौरुषेयत्वमपौरुषेयत्वम्वा स्यात्। न च लौकिकवैदिकानां कश्चित् स्वभावभेदोऽस्तीत्युक्तम्।" – कर्ण० ३.२४२।

सन्मतिटीका (पृ० ३९. पं० ३५.) में विस्तारसे लौकिक-वैदिकवाक्योंके अविशेषकी सिद्धि की गई है।

पृ० २९. पं० ७. 'विशेषः' तुलना – कर्ण० ३.२४२।

पृ० २९. पं० ८. 'दुर्भणत्वादिः' तुलना – "दुर्भणत्वानुदात्तत्वक्लिष्टत्वाश्रव्यतादयः। वेदधर्मा हि दृश्यन्ते नास्तिकादिवचस्स्वपि" तत्त्वसं० का० २७८८। अष्टस० पृ० २३७।

कुमारिलने तन्त्रवार्तिकमें लौकिककाव्य आदिसे वेदकी विलक्षणता सिद्ध करते हुए कहा है कि – "प्रपाठकचतुःषष्टिनियतस्वरकैः पदैः। लोकेष्वप्यश्रुतप्रायैर्ऋग्वेदं कः करिष्यति॥ अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातममित्येतन्नुवचः कथम्॥ किमालोच्य क वा दृष्ट्वा वाक्प्रतिच्छन्दमीदृशम्। रचयेत् पुरुषो वाक्यं किं चोद्दिश्य प्रयोजनम्॥ अग्नेः पुरोहितत्वं च क दृष्टं येन कीर्त्यते। ईळेशब्दप्रयोगश्च क दृष्टस्तोत्रगोचरः॥......स्वतन्त्रो वेद एवैतत् केवलो वक्तुमर्हति। इषे त्वेत्ययमप्यर्थः पुरुषेणोच्यतां कथम्॥" इत्यादि। तन्त्रवा० पृ० २३७–३८।

प्रभाचन्द्राचार्यने खण्डन किया है कि दुर्भणत्वादि विशेषता अपौरुषेयताके कारण नहीं किन्तु विज्ञान और करण की पटुताके कारण किसी भी पुरुषके वचनमें हो सकती है। न्यायकु० पृ० ७३०। स्याद्वादर० पृ० ६३२।

---

१. शाबरभा० १.१. अधि० ५, ८ और उसकी टीकाएँ – श्लोकवार्तिक, बृहती आदि। तथा प्रकरणपं० पृ० ९७, १३३। २. तत्त्वसं० का० २०८५–२८१०। न्यायमं० पृ० २१३। शास्त्रवा० ६०२–६२६। तत्त्वो० पृ० ११६। अष्टश० का० ७८। अष्टस० का० ७८। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २३८। सन्मति० टी० पृ० २९। न्यायकु० पृ० ७२१। प्रमेयक० पृ० ३९१।

पृ० २९. पं० ९. 'शाबरेषु'–"तथा शबराणां च केषांचित् स्वनियमस्थानामद्यापि विषाद्यपनयनशक्तियुक्तस्य कारणात् शक्नुवन्त्येव पुरुषा मन्त्रान् कर्तुम्।" कर्ण० ३.२४८।

पृ० २९. पं० १०. 'मन्त्रत्वम्' तुलना "अपि च न मन्त्रो नामान्यदेव किञ्चित्। किं तर्हि? सत्येत्यादि। यथाभूताख्यानं सत्यम्। इन्द्रियमनसोर्दमनं तपः। तयोः प्रभावो विषस्तम्भनादिसामर्थ्यम्। स विद्यते येषां पुंसां ते तथा, तेषां सत्यतपःप्रभाववतां पुंसां समीहितार्थस्य साधनम्, तदेव मन्त्रः।"–कर्ण० ३.२४८।

पृ० २९. पं० २५. 'अवैदिकानाम्' तुलना–"अवैदिकानां च वेदादन्येषां बौद्धादीनामिति। आदिशब्दात् आर्हत-गारुड-माहेश्वरादीनां मन्त्रकल्पानाम्। मन्त्राणां मन्त्रकल्पानां च दर्शनात्। विद्याक्षराणि मन्त्राः। तत्साधनविधानोपदेशाः मन्त्रकल्पाः। तेषां च बौद्धादीनां मन्त्रकल्पानां 'पुरुषकृतेः' पुरुषैः करणात्।"–वही।

पृ० २९. पं० २५. 'तत्रापि' तुलना–"तत्रापि बौद्धादिमन्त्रकल्पेऽपि अपौरुषेयत्वे कल्प्यमाने, कथमिदानीमपौरुषेयं वाक्यं सर्वमवितथं स्यात्। किन्तु मिथ्यार्थमपि स्यात्। तथाहीत्यादिना एतदेव बोधयति। बौद्धमन्त्रकल्पे हिंसामैथुनात्मदर्शनादयः, आदिशब्दाद् अनृतवचनादय अनभ्युदयहेतवो दुःखहेतवो वर्ण्यन्ते। इतरस्मिंस्त्वबौद्धमन्त्रकल्पे त एव हिंसादयोऽन्यथा चाभ्युदयहेतवो वर्ण्यन्ते। यदि च सर्वे मन्त्रकल्पाः अपौरुषेयाः स्युस्तदा वेदवद् विरुद्धाभिधायि वाक्यद्वयमेकत्रापौरुषेये कथं सत्यं स्यात्।" कर्ण० ३.२४४।

पृ० २९. पं० २८. 'जैनानाममन्त्रत्वे' तुलना–"बौद्धादीनां मन्त्रत्वमेव नास्तीति चेदाह–बौद्धादीनाममन्त्रत्वे इति। तदन्यत्रापि तस्माद् बौद्धादिमन्त्रादन्यत्रापि वैदिके मन्त्रे मन्त्रत्वप्रतिपादनाय कोशपानं करणीयम्। न हि काचिद् व्यक्तिर्व्यक्तिरस्तीत्यभिप्रायः। दृष्टविरुद्धं चैतत् 'बौद्धादयो न मन्त्राः' इति। तथाहि विषादिकर्मकृतो विषकर्मादीन् कुर्वन्तो बौद्धा अपि मन्त्रा दृश्यन्ते। तेन तत्र बौद्धादिषु मन्त्रकल्पेषु अमन्त्रत्वमपि विप्रतिषिद्धम्। विषकर्मादिकरणद्वारेण वैदिकानामपि मन्त्रत्वव्यवस्थापनात्। न च विप्रलम्भनादिसामर्थ्ययोगात् वेदवाक्यं लौकिकवाक्यादतिशयवदित्येवापौरुषेयं युक्तम्।" कर्ण० ३.२४४।

पृ० ३०. पं० १. 'मुद्रामण्डल' तुलना–"पाण्यङ्गुलसन्निवेशो मुद्रा। मण्डलं देवतादिरचनाविशेषः। ध्यानं देवतादिरूपचिन्तनम्। तैरनक्षरैरशब्दस्वभावैः स्वकर्माणि विषापनयनादिलक्षणानि क्रियन्ते। न च तानि मुद्रामण्डलध्यानानि अपौरुषेयाणि युज्यन्ते।" वही।

पृ० ३०. पं० ३. 'अथ यदि' तुलना–"यदि बौद्धेतरौ मन्त्रकल्पौ द्वावपि पौरुषेयौ तौ च सत्यप्रभवौ अवितथाभिधायिपुरुषादुत्पन्नौ। तत् कथमिदानीं तावेव सत्यप्रभवौ मन्त्रकल्पौ बौद्धेतरौ परस्परविरुद्धौ युज्येते। एकत्र हिंसादीनामनभ्युदयहेतुत्वेन वेदात्मादन्यत्राभ्युदयहेतुत्वेन। नेत्यादिना परिहरति। न वै सर्वत्र तौ मन्त्रकल्पौ सत्यप्रभवौ येनायं विरोधः किन्तु प्रभावयुक्तपुरुषप्रतिज्ञालक्षणावपि तौ मन्त्रकल्पौ स्तः। प्रभाववता पुरुषेण 'इमां वर्णपदरचनामभ्यस्यति तद्विधिं चानुतिष्ठति तस्याहं यथाप्रतिज्ञातं अर्थं संपादयिष्यामि' इति या प्रतिज्ञा तल्लक्षणावपि मन्त्रकल्पा भवतः। ततोऽन्यथा चावपि प्रभावयुक्तौ मन्त्रकल्पौ कुर्यादेवेत्यविरोधः।" वही।

पृ० ३०. पं० ६. 'अथ वेदेतरयोः' तुलना–"ननु सामान्यतो दृष्टं पौरुषं वचनं वितथमुपलभ्य वचनसाम्यादिदमपि वितथमवगम्यते। न, अन्यत्वात्। न हि अन्यस्य

मिलकत्वाचे अन्यस्य वैतथ्यं भवितुमर्हति, अन्यत्वादेव । न हि देवदत्तस्य श्यामत्वे यज्ञदत्तस्यापि श्यामत्वं भवितुमर्हति" शाबर० १.२ । "ननु वेदावेदयोस्तत्वान्यत्वलक्षणो विशेषोऽस्त्येव ।......सत्यमित्याचार्यः । नन्वीदृशो विशेषस्तयोः पौरुषेयत्वापौरुषेयत्वसाधको यस्मान्न केवलमनयोरेव लौकिकवैदिकयोर्विशेषः । किन्तर्हि । डिण्डिकपुराणेतरयोरपि । डिण्डिकैः नग्नाचार्यैः कृतस्य पुराणस्य इतरस्य च पुराणस्य ईदृशो विशेषोऽस्ति । न च तावता स्वयं व्यवहारार्थं स्वप्रक्रियाभेददीपनः समयपरिकल्पितो नाम भेदः संज्ञाभेदः पुरुषकृतिं बाधते वेदस्य । किं कारणं । अन्यत्रापि पुराणेऽपौरुषेयत्वप्रसंगात् । डिण्डिकेतरपुराणानां नामभेदस्य विद्यमानत्वात् । यदि तु या वेदवाक्ये वर्णपदरचना दृश्यते तादृशीं रचनां पुरुषाः कर्तुं न शक्नुयुः, कृतां वा निष्पादितां वा वर्णपदरचनां अकृतसंकेतः श्रवणमात्रात् विवेचयेद् इयं पुरुषपूर्विकेति तदा व्यक्तमपौरुषेयो वेदः स्यात् ।" कर्ण० ३.२४४ ।

पृ० ३० पं० ७. 'नाम भेदः' अशुद्ध है 'नामभेदः' ऐसा शुद्ध करना चाहिए ।

पृ० ३०. पं० १८. 'दोषाणां पुरुषाश्रयत्वात्' –

"शब्दे दोषोद्भवस्तावद् वक्त्रधीन इति स्थितम् ।
तदभावः क्वचित्तावद् गुणवद्वक्तृकत्वतः ॥
तद्गुणैरपकृष्टानां शब्दे संक्रान्त्यसंभवात् ।
यद्वा वक्तुरभावेन न स्युर्दोषा निराश्रयाः ॥" श्लोकवा० चोद० ६२–६३ ।

इन श्लोकोंमें कुमारिलने यही समर्थन किया है कि वेदका प्रामाण्य उसकी अपौरुषेयताके कारण ही है । यदि पुरुष वक्ता हो तब वाक्यमें दोषकी आशंका हो सकती है किन्तु यदि कोई वक्ता ही नहीं तब दोषकी आशंका भी कैसे ? अतएव वेद स्वतः प्रमाणसिद्ध है ।

इसके उत्तरमें धर्मकीर्तिने कहा है कि –

"नापौरुषेयमित्येव यथार्थज्ञानसाधनम् ।
दृष्टोऽन्यथापि वह्न्यादिरदुष्टः पुरुषागसा ॥" प्रमाणवा० ३.२८९ ।

अर्थात् अपौरुषेयताके कारण ही वेद यथार्थज्ञानका साधन नहीं हो सकता । सर्वत्र पुरुषदोषके कारण ही ज्ञापक साधन अयथार्थ ज्ञानका हेतु हो जाता है यह बात नहीं । क्योंकि पुरुषदोष न भी हो तब भी ज्ञापक प्रदीप का ऐसा स्वभाव ही है कि रात्रिमें नीलकमलमें वह पीतप्रतिभासका जनक होता है । ज्योत्स्नाका भी यह स्वभाव है कि पीतवस्त्रमें भी वह शुक्लज्ञानका हेतु होती है । इसी प्रकार ज्ञापक वैदिक शब्दोंके विषयमें भी शंका हो सकती है कि उनका स्वभाव ही ऐसा है कि वे वितथज्ञानके जनक हैं । इसी बातको अत्यन्त स्पष्ट करके धर्मकीर्तिने अपनी स्वोपज्ञवृत्तिमें कहा है । शान्त्याचार्य भी प्रस्तुतमें उन्हींका अनुसरण करते हैं –

"भवन्तु नामापौरुषेया वैदिकाः शब्दाः । तथापि संभाव्यमेवैषामयथार्थज्ञानहेतुत्वम् । न हि पुरुषदोषोपधानादेवार्थेषु ज्ञानविभ्रमः । तद्रहितानामपि प्रदीपादीनां नीलोत्पलादिषु वितथज्ञानजननात् । तदिमे शब्दाः संस्कारनिरपेक्षाः प्रकृत्या चार्थेषु प्रतिभानहेतवः स्युः स्वभावविशेषाद् वह्न्यादिवत्, वितथव्यक्तयश्च नियमेन । नियमकारणाभावादयुक्तमिति चेद् । अवितथव्यक्तिनियमे किं कारणम् । तस्माद् यथार्थव्यक्तिनियमवद् प्रकृत्या अयथार्थव्यक्तिनियमः किन्न कल्प्यते । अथवा वह्न्यादिवदेवार्थेषूभयज्ञानत्वहेतुत्वं स्यात् । न ह्यपौरुषेया अपि वह्न्यादय एकत्र यथार्थज्ञानहेतवोऽपि सर्वत्र तथा भवन्ति । तथा शब्दानामपि

अपौरुषेयत्वेऽपि उभयं स्यात्" – प्रमाणवा० स्व० ३.२८४। सन्मति० टी० पृ० ११. पं०९। पृ० १९. पं० २४।

पृ० ३०. पं० २३. 'प्रत्यक्षेण' तुलना – सन्मति० टी० पृ० ३१. पं० ९। न्यायकु० पृ० ७२०।

पृ० ३१. पं० २. 'कर्तुरस्मरणं' – शबरस्वामिने अपने भाष्यमें कर्ताका अस्मरण होनेसे वेदापौरुषेयत्वका समर्थन किया है – १.१.५। उन्हींका अनुकरण बादके मीमांसकोंने किया है।

धर्मकीर्तिने इस हेतुका खण्डन निम्नशब्दोंमें किया है –

"अपौरुषेयतापीष्टा कर्तॄणामस्मृतेः किल।
सन्त्यस्याप्यनुवक्तार इति धिग्व्यापकं तमः॥"

प्रमाणवा० ३.२३९,४०।

"यस्मादिदं साधनं असिद्धमनैकान्तिकं च। तत्रासिद्धमधिकृत्याह – तथाहीति। स्मरन्ति सौगता वेदस्य कर्तॄन् अष्टकादीन्। आदिशब्दाद् वामकवामदेवविश्वामित्रप्रभृतीन्। हिरण्यगर्भं ब्रह्माणं वेदस्य कर्तारं स्मरन्ति काणादा वैशेषिकाः।" कर्ण०।

"अनैकान्तिकत्वमप्याह – दृश्यन्ते चेत्यादि। उपदेशपारम्पर्यं सम्प्रदायः। विच्छिन्नः क्रियासंप्रदायः पुरुषकृतत्वसंप्रदायो येषां वटे वटे वैश्रवणादिशब्दानां ते तथा। अनेनास्मर्यमाणकर्तृत्वमाह कृतकाश्च पौरुषेयाश्च। ततः पौरुषेयेऽपि वाक्ये कर्तुरस्मरणं वर्तते इत्यनैकान्तिकोऽयं हेतुः।" कर्ण०।

पृ० ३१. पं० ५. 'अष्टकादीन्' दीघनिकायके तेविज्जसुत्त (भाग १. पृ० २३५) में वैदिक मन्त्रोंके कर्ताओंके जो नाम दिये हुए हैं वे ये हैं – अट्ठक, वामक, वामदेव, वेस्सामित्त, यमतग्गि, अंगिरस, भारद्वाज, वासेट्ठ, कस्सप और भृगु। इन्हीं ऋषिओंको बुद्धकालीन ब्राह्मणोंके पूर्वजरूपसे कहा है।

इन ऋषिओंमेंसे वामदेव ऋग्वेदके चौथे मण्डलके कर्ता माने जाते हैं और भारद्वाज तथा वसिष्ठ क्रमशः छठे और सातवें मण्डलके। अट्ठक (अष्टक) ऋषिका उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण (७.१७) में तथा सांख्यायन श्रौतसूत्र (१५.२६) में विश्वामित्रके पुत्ररूपसे आता है। वामक और भृगु ऋषिका उल्लेख शतपथब्राह्मण (१०.६.५.९;७.२.१.११) में मिलता है। यमतग्गि (जमदग्नि) वशिष्ठ ऋषिके विरोधीरूपसे ब्राह्मण ग्रन्थोंमें प्रसिद्ध ही है। अंगिरसका उल्लेख तैत्तिरीयसंहितामें (३.१.७.३;७.१.४.१) मिलता है।

कश्यपके ऋषि ब्राह्मण और श्रौतसूत्रकालमें अत्यंत प्रसिद्ध रहे हैं – Early monastic Buddhism p. 26। सन्मति० टी० पृ० ४०. पं० २६।

पृ० ३१. पं० ५. 'काणादाः' – "प्रजापतिर्वा इदमेक आसीन्नाहरासीन्न रात्रिरासीत्, स तपोऽतप्यत। तस्मात्तपसश्चत्वारो वेदा अजायन्त इत्याम्नायेनैव कर्तृस्मरणात्" कन्दली० पृ० २१६।

पृ० ३१. पं० ६. 'अथ छिन्नमूलं' तुलना – सन्मति० टी० पृ० ४०. पं० २२। पृ० ४२. पं० १४। न्यायकु० पृ० ७२२,७२९।

पृ० ३१. पं० १३. 'अथ आगमान्तरे' तुलना–सन्मति० टी० पृ० ४२. पं० ३३।

पृ० ३१. पं० १८. 'यद्वेदाध्ययनम्' इस अनुमानको शबर स्वामिने मूलसूत्र (१.१.३०) में से फलित किया है। कुमारिलने इसे स्पष्ट शब्दोंमें इस प्रकार रक्खा है–

"वेदाध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्।
वेदाध्ययनवाच्यत्वाद्धुनाध्ययनं यथा॥"

श्लोकवा० वाक्या० ३६६।

देखो सन्मति० पृ० ४०। न्यायकु० पृ० ७२२।

पृ० ३१. पं० २८. 'एकत्वे' तुलना–"एकत्वे कृतको न स्याद् भिन्नश्चेद्वेदधीर्भवेत्।" श्लोकवा० संबन्धा० १४।

पृ० ३२. पं० ८. 'एकार्थानाम्' संपूर्ण पद्य इस प्रकार है–

"एकार्थानां विकल्पश्चेदेतरात्यन्तबाधनात्।
समुच्चयोऽपि नैतेषां व्यवहारेऽवगम्यते॥"

इस पद्यकी टीका इस प्रकार है–

"शङ्कते–एकार्थानामिति। एकशब्दविषया अपि सम्बन्धा विकल्पन्त इति। निराकरोति वेति। यत्र ह्येकस्य शब्दस्यानेकैराप्तैरनाप्तैश्च नानार्थसम्बन्धः कथ्यते यथा पीलुशब्दस्यार्यैर्वृक्षसम्बन्धो म्लेच्छैश्च हस्तिसम्बन्धः। तत्र म्लेच्छोक्तस्यात्यन्तबाधः क्रियते। विकल्पे हि वृक्षो वा हस्ती वाऽभिधेय इति गम्येतेति। नापि समुच्चय इत्याह–समुच्चय इति। समुच्चयेऽप्युभावर्थाविति गम्येत। न चैवमस्ति इति।" न्यायर० पृ० ६४२।

पृ० ३२. पं० २३. 'नित्यत्व' तुलना–"प्रयत्नानन्तरा दृष्टिर्नित्येऽपि न विरुध्यते" श्लोकवा० शब्द० १९। "आकाशमपि नित्यं सद्यदा भूमिजलावृतम्॥ ३०॥ व्यज्यते तदपोहेन खननोत्सेचनादिभिः। प्रयत्नानन्तरं ज्ञानं तदा तत्रापि दृश्यते॥ ३१॥ वही।

पृ० ३३. पं० ८. 'शब्दसंस्कार' तुलना–"सा हि स्याच्छब्दसंस्कारादिन्द्रियस्योभयस्य वा।" वही॥ ५२॥ सन्मति० टी० पृ० ३४।

पृ० ३३. पं० ९. 'श्रोत्रं' तुलना–"सकृच्च संस्कृतं श्रोत्रं सर्वशब्दान् प्रबोधयेत्। घटायोन्मीलितं चक्षुः पटं न हि न बुध्यते।" श्लोकवा० शब्द० ६०,६१। सन्मति० टी० पृ० ३६।

पृ० ३३. पं० १२. 'शब्दस्य' तुलना–"तत्र सर्वैः प्रतीयेत शब्दः संस्क्रियते यदि॥ निर्भागस्य विभोर्न स्याद् एकदेशे हि संस्क्रिया।"–श्लोकवा० शब्द० ५२,५३।

पृ० ३३. पं० १५. 'आकाशम्' तुलना–"आकाशश्रोत्रपक्षे च विभुत्वात् प्राप्तितुल्यता॥ दूरभावेऽपि शब्दानामिति ज्ञानं प्रसज्यते। श्रोत्रस्य चैवमेकत्वं सर्वप्राणभृतां भवेत्॥ तेनैकश्रुतिवेलायां शृणुयुः सर्व एव ते॥" वही ५६–५८॥

पृ० ३३. पं० १६. 'अथास्माकं' तुलना–"तेनाकाशैकदेशो वा यद्वा वस्त्वन्तरं भवेत्॥ कार्यार्थापत्तिगम्यं नः श्रोत्रं प्रतिनरं स्थिरम्।" वही ६७,६८।

पृ० ३३. पं० २२. 'उभयसंस्कारो' तुलना–"प्रत्येकाभिहिता दोषाः स्युर्द्वयोरपि संस्कृतौ।" वही ६२।

पृ० ३४. पं० ७. **'तेन'** इस शब्दसे लेकर 'का प्रमा' तकका भाग प्रमाणवार्तिक की कारिका है जिसे इस तरह पढना चाहिए—

> "तेनाग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम इति श्रुतौ ।
> खादेच्छ्वमांसमित्येष नार्थ इत्यत्र का प्रमा ॥" [प्रमाणवा० ३.३१८]

हरिभद्र सूरिने इसे शास्त्रवार्तासमुच्चयमें (का० ६०५) उद्धृत किया है ।

इस विषयमें प्रमाणवार्तिककी निम्नलिखित कारिकाएँ अवगाहनके योग्य हैं—

> "अर्थोऽयं नायमर्थो न इति शब्दा वदन्ति न ।
> कल्प्योऽयमर्थः पुरुषैस्ते च रागादिसंयुताः ॥
> स एकस्तत्त्वविन्नान्य इति भेदश्च किं कृतः ।
> तद्वत् पुंस्त्वे कथमपि ज्ञानी कश्चित् कथं न वः ॥
> प्रमाणमविसंवादि वचनं सोऽर्थविद्यदि ।
> न ह्यत्यन्तपरोक्षेषु प्रमाणस्यास्ति सम्भवः ॥
> यस्य प्रमाणसंवादि वचनं तत्कृतं वचः ।
> स आगमः इति प्राप्तं निरर्थाऽपौरुषेयता ॥"　　３.३१२—३१५ ।

पृ० ३४. पं० १६. **'सामान्यस्य'** यहाँ से परपरिकल्पित सामान्यका निरास किया गया है । सामान्यका जैन संमत स्वरूप आगे दिखाया है—देखो कारिका २६ § १ । उसी प्रसंगमें हम भी सामान्यके विषयमें विशेष विचार करेंगे ।

धर्मकीर्तिने सामान्यको निःस्वभाव सिद्ध करनेके लिये बारबार इसी बातको दोहराया है कि जाति व्यक्तिसे न तो भिन्न ही सिद्ध हो सकती है, न अभिन्न । देखो—प्रमाणवा० २.२५—२९ । ३.१४९—१५३ इत्यादि । प्रज्ञाकर गुप्तने भी धर्मकीर्तिका अनुगमन किया है ।

प्रस्तुतमें शान्त्याचार्यने प्रज्ञाकरका अनुसरण प्रायः शब्दशः किया है—देखो प्रमाणवा० अ० पृ० २६४,२७९,२८०,३६६,५४४,७२४ आदि ।

अन्य जैनाचार्य भी इस विषयमें प्रमाणवार्तिक और तदनुगामी दूसरे बौद्ध आचार्योंका अनुसरण करके ही मीमांसक और नैयायिक संमत जातिवादका खण्डन करते हैं—देखो तत्त्वसं० का० ७०८ से । अष्टश० का० ६'१, अष्टस० पृ० ३३,२१४,२१९ इत्यादि । सन्मति० टी० पृ० ११०,२३९,६८९ इत्यादि; न्यायकु० पृ० २८५, प्रमेयक० पृ० ४७०—८१; स्याद्वादर० पृ० ९५० इत्यादि ।

पृ० ३६. पं० ३. **'तादात्म्य'** तुलना—"अथ सति सम्बन्धे ननु कोऽयं तस्य तेन सम्बन्धः—संयोगः, तादात्म्यम्, विशेषणीभावः, वाच्यवाचकभावो वा" । न्यायकु० पृ० १४३ ।

पृ० ३६. पं० ५. **'क्षुरिका'** तुलना—"पूरण-प्रदाह-पाटनानुपलब्धेश्च सम्बन्धाभावः"—न्यायसू० २.१.५४ । "स्याच्चेदर्थेन सम्बन्धः क्षुरमोदकशब्दोच्चारणे मुखस्य पाटनपूरणे स्याताम्" । शाबर० १.१.५ । "सक्कयपाययभासाविणियुत्तं देसतो अणेगविहं । अभिहाणं अभिधेयातो होइ भिण्णं अभिण्णं च ॥ ५७ खुरअग्गिमोयगुच्चारणम्मि जम्हा उ वयण-सवणाणं । ण वि छेदो ण वि दाहो, णवि पूरण तेण भिण्णं तु ॥५८॥ जम्हा उ मोयगे अभि-

हियम्मि तस्सेव पुव्वओ होइ । णय होइ सो अणत्ते तेण अभिण्णं तदत्थातो ॥ ५९ ॥ बृहत्० । शास्त्रवा० ६४५ । सन्मति० टी० पृ० ३८६ । न्यायकु० पृ० १३४ । स्याद्वादमं० का० १४ ।

पृ० ३६. पं० १७. 'भेदानभ्युपगमात्' – "य एव लौकिकाः शब्दाः त एव वैदिकाः" – शावर० १.३.३० । "अन्याविशेषाद् वर्णानां साधने किं फलं भवेत् ।" – प्रमाणवा० ३.२४७ ।

पृ० ३६. पं० २३. 'नापि वाक्यम्' तुलना – "वाक्यं भिन्नं न वर्णेभ्यो विद्यतेऽनुपलम्भतः । अनेकावयवात्मत्वे पृथक् तेषां निरर्थता ॥" प्रमाणवा० ३.२४८ ।

पृ० ३७. पं० १. 'सार्थकाः' – "प्रत्येकं सार्थकत्वेऽपि मिथ्यानेकत्वकल्पना ॥ एकावयवगत्या च वाक्यार्थप्रतिपद् भवेत् ॥" वही ३.२४९,२५० ।

पृ० ३७. पं० २२. 'वर्णानुपूर्वी' तुलना – "वर्णानुपूर्वी वाक्यं चेन्न वर्णानामभेदतः" प्रमाणवा० ३.२५९ ।

पृ० ३७. पं० २६, 'अव्यापित्वे' तुलना – "सर्वत्रानुपलम्भः स्यात् तेषामव्यापिता यदि ॥ २५३ ॥ सर्वेषामुपलम्भः स्यात् युगपद् व्यापिता यदि ।" वही० ।

पृ० ३७. पं० २९. 'नानुपूर्वी स्यात्' तुलना – "देशकालक्रमाभावो व्याप्तिनित्यत्ववर्णनात् ॥ २६० ॥" वही० ।

"सा चेयमानुपूर्वी वर्णानां देशकृता वा पिपीलिकानामिव पंक्तौ स्यात्, कालकृता वा बीजाङ्कुरादीनामिव । द्वयोरपि देशकालक्रमयोरभावो वर्णानां व्याप्तिनित्यत्वयोर्वर्णनात् । अन्योऽन्यदेशपरिहारेण वृत्तिर्हि देशपौर्वापर्यम्, तच्च सर्वगानामसम्भवि । तथान्योऽन्यकालपरिहारेण वृत्तिः कालपौर्वापर्यं च नित्यानामसम्भवि ।" मनो० ३.२६० ।

पृ० ३८. पं० ९. 'अयमेव' तुलना – "अयं हि भेदो भेदहेतुर्वा विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्च । ततश्चेत् न भेदः अन्यनिमित्ताभावात् एकं द्रव्यं विश्वं स्यात् इत्यादि प्रसज्येत –" हेतुबिन्दुटी० पृ० ४७ । सन्मतिटीका (पृ० ३) में भी ऐसा ही वाक्य उद्धृत है ।

अवतरणसमाप्तिके सूचक चिन्हको 'हीयेत' शब्दके बाद रखना चाहिए ।

यह वाक्य धर्मकीर्तिका होना चाहिए । देखो, अनेकान्तज० पृ० ३९ ।

पृ० ३८. पं० १४. 'सत्त्वादिप्रसंगात्' तुलना – "नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वाऽहेतोरन्यानपेक्षणात् । अपेक्षातश्च भावानां कादाचित्कस्य सम्भवः ॥" प्रमाणवा० ३.३४ । १.१८२ ।

पृ० ३८. पं० १६. 'ईश्वरस्य' न्यायसूत्रमें (४.१.१९–२१) एकान्तवादोंकी परीक्षा की गई है । जिसमें प्रसंगसे पुरुषकर्म प्रधान है या ईश्वर इस प्रश्न का भी निराकरण किया गया है । मनुष्य प्रयत्न करता है किन्तु फलनिष्पत्ति ईश्वराधीन है । पुरुषकर्मसे रहित ईश्वर कुछ भी फल नहीं दे सकता और ईश्वरके अनुग्रहके बिना पुरुषकर्म भी निष्फल ही रह जाते हैं – इस प्रकार पुरुषार्थ और ईश्वरकारणतावादमें अनेकान्तकी सिद्धि करके एकान्त पुरुषार्थवाद और एकान्त ईश्वरकारणवादका निराकरण किया गया है । – न्यायसू० ४.१.१९–२१ ।

चर्चासे स्पष्ट है कि नैयायिकोंको ईश्वर निमित्तकारण रूपसे इष्ट है[1]। अत एव बादके टीकाकारोंने इस प्रकरणको 'ईश्वरोपादानतानिराकरणप्रकरण' ऐसा नाम दिया है और मूलसूत्रोंकी टीकामें वेदान्तसंमत ब्रह्मकी उपादानकारणताका निरास किया है[2]। नैयायिकोंके मतसे जगत्का उपादान कारण पार्थिव आदि परमाणु हैं[3]।

ईश्वरकारणवाद प्राचीन है। किन्तु प्राचीन कालमें ब्राह्मणग्रन्थोंमें और उपनिषद् साहित्यमें ब्रह्म या प्रजापतिके रूपमें उसे जगत्का उपादान कारण माना है[4]। नैयायिकोंने अपनी तर्क बुद्धिसे उसे कारण तो सिद्ध किया किन्तु उपादान न मानकर निमित्त कारण माना। यही बात वैशेषिकोंने भी की।

इसके विपरीत ब्रह्मसूत्रमें शंकर आदि आचार्योंने नैयायिक और वैशेषिक संमत निमित्तकारणवादका प्रबल विरोध करके ईश्वरको जगत् का अधिष्ठाता और उपादान सिद्ध किया है। – शां० ब्रह्म० २.२.३७–४१।

जैन, मीमांसक, सांख्य, योग और बौद्ध ईश्वरको जगत्का निमित्तकारण या उपादान-कारण कुछ भी नहीं मानते।

ईश्वरकी सिद्धिमें शान्त्याचार्यने जो अनुमान उपस्थित किया है उसके लिये तथा वैसे दूसरे अनुमानोंके लिये देखो – न्यायवा० पृ० ४५७–४६७। व्यो० पृ० ३०१। कंदली० पृ० ५४। न्यायमं० पृ० १७८। तात्पर्य० पृ० ५९८।

पृ० ३८. पं० १६. 'सर्वज्ञत्वे' तुलना – "सर्वकर्तृत्वसिद्धौ च सर्वज्ञत्वमपजतः। सिद्धमस्य यतः कर्ता कार्यरूपादिवेदकः॥" तत्त्वसं० का० ५४।

"सा च बुद्धिः सर्वार्थातीतानागतवर्तमानविषया प्रत्यक्षा नानुमानिकी" – न्यायवा० पृ० ४५६।

पृ० ३८. पं० २०. 'स्वरूपेण' तुलना – "तदत्रासिद्धता हेतोः प्रथमे साधने यतः। सन्निवेशो न योगाख्यः सिद्धो नावयवी यतः॥" – तत्त्वसं० का० ५६।

इस कारिकाकी व्याख्याका मूलाधार सन्मतिटीका है। सन्मतिटीका भी अपने पुरोगामि बौद्ध ग्रन्थोंकी ऋणी है। – देखो सन्मति० टी० पृ० १०२–१०५। तथा तत्त्वसं० द्रव्य-पदार्थपरीक्षा। सन्मतिमें पूर्वपक्ष पृ० ९३ वें से शुरू होता है।

पृ० ३८. पं० २५. 'संस्थानवत्' इस अनुमानसे पर्वतादिमें कार्यत्व सिद्ध किया गया है। देखो व्यो० पृ० ३०१। न्यायमं० पृ० १७८। तात्पर्य० पृ० ५९९। इसकी समालोचनाके लिये देखो, श्लोकवा० पृ० ६५९। सम्बन्धाक्षेपपरि० ७४ से। प्रमाणवा० १.१२।

पृ० ३८. पं० २८. 'अवयवी' प्राचीन समयसे ही दार्शनिकोंने स्थूल दृश्य विश्वका

---

१. "तत्कारितत्वादित्येवं ब्रुवता निमित्तकारणमीश्वर इत्युपगतं भवति" – न्यायवा० पृ० ४५७। २. तात्पर्य० पृ० ५९३। ३. "जगतः साक्षादुपादानकारणं किम्? उक्तं पृथिव्यादिपरमसूक्ष्मं परमाणुसंज्ञितं व्यक्तमिति"। न्यायवा० पृ० ४५७। ४. आह्लादमं० में प्रो० जगदीश चन्द्रने 'वैदिक साहित्यमें ईश्वरके विविध रूपोंका वर्णन' किया है उसे देखना चाहिए – पृ० ४११। तथा ब्रह्मसूत्र २.२.३७–४१।

सूक्ष्म तत्त्वके साथ क्या सम्बन्ध है इस प्रश्नको नाना प्रकारसे सोचा है। इसी प्रश्नके विचारमें-से ही अवयव और अवयवी का विचार भी फलित हुआ है। दृश्य जगतके प्रपञ्चको दार्शनिकोंने अपनी अपनी दृष्टिसे माने हुए कुछ ही मूल सूक्ष्म तत्त्वोंमेंसे घटाया है। यह घटना सभीके मतसे एक ही प्रकारसे नहीं है। नैयायिक–वैशेषिक आरम्भवादके पुरस्कर्ता हैं। बौद्ध प्रतीत्यसमुत्पादके द्वारा घटनाको बताते हैं। सांख्य–योग और जैन परिणामवादके द्वारा स्थूल विश्वकी योजना सिद्ध करते हैं। मीमांसक कुमारिल भी इसी मतका अनुगामी है। और अद्वैतवादिओंने ब्रह्मविवर्तवादका आश्रय लिया है[1]।

इतनी पूर्वभूमिकाको ध्यानमें रखकर अब हम अवयवीका विचार करें। अवयवीके विषयमें निम्न लिखित बातें विचारणीय हैं।

(१) अवयवीकी सत्ता और स्वरूप

(२) अवयवी और प्रत्यक्ष प्रमाण

(१) अवयवीकी सत्ताके विषयमें ही नागार्जुनने आपत्ति की है। उनका कहना है कि उत्पत्ति ही जब नहीं घट सकती तब अवयवीकी सत्ता कैसे संभव है[2]? उन्होंने स्कन्ध-परीक्षामें घटपटादि 'रूप' के अस्तित्वका ही निराकरण किया है[3]। और अग्नीन्धन परीक्षामें उपादानोपादेयभावका निराकरण किया है[4]। अवयवीकी सत्ताकी सिद्धि तब ही हो सकती है जब उपादानोपादेयभाव सिद्ध हो, उत्पत्ति सिद्ध हो और रूपस्कन्ध सिद्ध हो। किन्तु नागार्जुनने इन तीनोंका विस्तारसे खण्डन किया है अत एव उनके मतमें अवयव और अवयवी वस्तुसत् नहीं किन्तु काल्पनिक हैं।

वसुबन्धुको विज्ञानाद्वैत सिद्ध करना था। अत एव उनके लिए बाह्यार्थका निराकरण अनिवार्य था। बाह्यार्थके विषयमें उन्होंने तीन विकल्प किये हैं–

"न तदेकं न चानेकं विषयः परमाणुशः।
न च ते संहता यस्मात् परमाणुर्न सिध्यति॥" विज्ञप्ति० का० ११।

इसमें एकका मतलब है अवयवी[5]। इन तीनों पक्षका खण्डन उन्होंने यह कह करके किया है कि इन तीनों पक्षमें परमाणुकी सत्ता अनिवार्य है; और परमाणु तो असिद्ध ही है। क्यों कि–

"षट्केन युगपद्योगात् परमाणोः षडंशता।
षण्णां समानदेशत्वात् पिण्डः स्यादणुमात्रकः॥" विज्ञप्ति० का० १२।

---

१. आरम्भवाद आदिके विषयमें सूक्ष्म निरूपणके लिये देखो प्रमाणमी० प्रस्तावना पृ० ६। २. "न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः। उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन॥" माध्य० १.१। ३. "रूपकारणनिर्मुक्तं न रूपमुपलभ्यते। रूपेणापि न निर्मुक्तं दृश्यते रूपकारणम्॥ निष्कारणं पुनः रूपं नैव नैवोपपद्यते। तस्माद्रूपगतान् कांश्चिन्न विकल्पान् विकल्पयेत्॥ न कारणस्य सदृशं कार्यमित्युपपद्यते। न कारणस्यासदृशं कार्यमित्युपपद्यते॥" वही ४.१,५,६। ४. "अग्नीन्धनाभ्यां व्याख्यात आत्मोपादानयोः क्रमः। सर्वो निरवशेषेण सार्धं घटपटादिभिः॥" वही १०.१५। "घटादयो हि कार्यकारणभूता अवयवावयविभूता लक्ष्यलक्षणभूता गुणगुणिभूता वा स्युः। तत्र मृद्दण्डचक्रसूत्रसलिलकुलालकरव्यायामादयो घटस्य कारणभूताः घटः कार्यभूतः। कपालादयो नीलादयो वा अवयवभूताः, घटोऽवयवी।......इत्येवं व्यवस्थाप्य अग्नीन्धनवत् क्रमो योज्यः।" वही वृ०। ५. "तदेकं वा स्यात् यथावयविरूपं कल्प्यते वैशेषिकैः।" विज्ञप्ति० भा० ११।

वसुबन्धु ने स्थूल द्रव्यको एक — अखण्ड — जैसा कि नैयायिक-वैशेषिकों ने अवयवीको माना है — मानने पर भी आपत्ति की है। उनका कहना है कि यदि स्थूल पृथ्व्यादि द्रव्य एक है तब उसमें गमन और अगमन, ग्रह और अग्रह, भिन्न भिन्न पदार्थों की अनेकत्र वृत्ति, प्राप्ति और अप्राप्ति इन सभीकी घटना युगपद् हो नहीं सकती। अत एव अवयवीको एक — अखण्ड द्रव्य माना नहीं जा सकता[1]।

वसुबन्धु के बाद दिग्नाग, धर्मकीर्ति आदि आचार्योंने अवयवीके खण्डनमें इन्हीं मुख्य दलीलोंका उपयोग किया है। और पंडित अशोकने तो अवयविनिराकरण नामक एक छोटासा प्रकरण ही लिख दिया है।

आगे चलकर अवयवी और सामान्य की चर्चा के प्रसंगमें आचार्योंने बहुतसी समान दलीलोंका उपयोग किया है। क्योंकि जैसे सामान्य एक है वैसे अवयवी भी एक है। सामान्य अनेकवृत्ति है तो अवयवी भी अनेकवृत्ति है। कृत्स्नैकदेशवृत्तिका विकल्प जैसे सामान्य-विषयक होता है वैसे ही अवयवीके बारेमें भी होता है। और यही बात भेदाभेदके विकल्पके विषयमें भी है। इस प्रकार अवयवी और सामान्यविषयक चर्चाका साम्य देखकर ही जयन्त ने बौद्धोंको आवेशपूर्ण भाषामें जो उत्तर दिया है वह देखने योग्य है—

"अपूर्व एष तर्कमार्गो यत्र प्रतीतिमुत्सृज्य तर्जनीविस्फोटनेन वस्तुव्यवस्थाः क्रियन्ते। ......न च शक्नुमः पदे पदे वयमेभिरभिनवमल्पमपि किञ्चिदपश्यद्भिस्तदेव पुनः पुनः प्रकुर्वद्भिः शाक्यनर्तकैः सह कलहमतिमात्रं कर्तुम्।......किं वा तदस्ति यत्सामान्यसमर्थनावसरे न कथितम्। तस्मात्तयैव नीत्या अवयव्यपि सिद्ध एव, तद्ग्राहिणः प्रत्यक्षस्य निरपवादत्वात्।" न्यायमं० वि० पृ० ५४९।

शंकराचार्य ने भी ब्रह्म व्यतिरिक्त बाह्य तत्त्व अनिष्ट होनेके कारण परमाण्वारब्ध अवयवीकी[2] चर्चाके प्रसंगमें परमाणुका खण्डन वसुबन्धु की युक्ति का अवलम्बन करके किया है[3]।

सांख्य भी कार्य और कारणका अभेद इष्ट होनेसे अवयवीकी पृथक् सत्ता नहीं मानते। सांख्यत० का० ९।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैशेषिक सम्मत अवयवीकी सत्ताके विषयमें दार्शनिकोंने प्राचीन कालसे आपत्ति की है। तब यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि इन दार्शनिकोंने जब दृश्य स्थूल अवयवीका निषेध किया अर्थात् दृश्य घट-पटादिकी स्वतन्त्र सत्ताका निषेध किया तब इस दृश्य स्थूल पदार्थके विषयमें अपना क्या क्या मन्तव्य स्थिर किया ?।

अद्वैतवादिओं ने तो अविद्या — वासना का आश्रय लिया। प्रकृतिपरिणामवादी सांख्य ने स्थूल जगत्को प्रकृतिका परिणाम माना। अर्थात् स्थूल वस्तुका प्रधानसे अभेद ही सिद्ध

---

१. "यदि यावदविच्छिन्नं नानेकं चक्षुषो विषयः तदेकं द्रव्यं कल्प्यते — पृथिव्यां क्रमेणेतिर्न स्यात् — गमनमित्यर्थः। सकृत्पादप्रक्षेपेण सर्वस्य गतत्वात्। अर्वाग्भागस्य च ग्रहणं परभागस्य चाग्रहणं युगपन्न स्यात्। न हि तस्यैव तदानीं ग्रहणं चाग्रहणं च युक्तम्। विच्छिन्नस्य चानेकस्य हस्त्यश्वादिकस्य अनेकत्र वृत्तिर्न स्यात्। यत्रैव हि एकं तत्रैवापरमिति कथं तयोर्विच्छेद इष्यते। कथं वा तदेकं यत् प्राप्तं च ताभ्यां न च प्राप्तं अन्तराले तच्छून्यग्रहणात्।" — विज्ञप्ति० भा० १५। २. ब्रह्म० शा० २.२.१२-१७। ३. "परमाणूनां परिच्छिन्नत्वाद्यावत्यो दिशः षडष्टौ दश वा तावद्भिरवयवैः सावयवास्ते स्युः" ब्रह्म० शा० २.२.१७।

किया। जैन और मीमांसक भी परिणामवादी हैं किन्तु दोनोंने अनेकान्तवादके आधारसे सूक्ष्म–परमाणु और स्थूलका भेदाभेद माना। परमाणुवादी–सौत्रान्तिक और वैभाषिक बौद्धोंने कह दिया कि स्थूल पदार्थ–और कुछ नहीं किन्तु परमाणुपुञ्ज मात्र है।

अवयविवादके विरुद्ध प्रथम तो बौद्धोंने इतना ही कहा कि वह परमाणुपुञ्ज मात्र है। किन्तु दार्शनिकोंमें परमाणुकी एक परिभाषा[१] रूढ हो गई थी कि वह निरवयव होता है–इसी परिभाषाके प्रकाशमें जब बौद्धोंने परमाणुपुञ्जका विचार किया तब इस परमाणुपुञ्जके बारेमें बौद्धोंमें ही तीन मत प्रचलित होगये ऐसा कमलशीलके स्पष्ट उल्लेखसे मालूम होता है।

"तत्र केचिदाहुः परस्परं संयुज्यन्ते परमाणवः इति, सान्तरा एव नित्यं न स्पृशन्तीत्यपरे, निरन्तरत्वे तु स्पृष्टसंज्ञेत्यन्ये।"–तत्त्वसं० पं० पृ० ५५६।

वस्तुतः परमाणुओंका परस्पर संयोग होता है कि नहीं इस बातको लेकर ही ये मतभेद हुए हैं। प्रथम मतके अनुसार परमाणुओंका परस्पर संयोग होता है और अंतिम दोनों मतोंके अनुसार परमाणुओंका परस्पर संयोग नहीं होता। उन दोमेंसे एकका कहना है कि परमाणुओंमें व्यवधान अवश्य होता है। और दूसरेका कहना है कि व्यवधान होता भी है और नहीं भी होता। जब व्यवधान नहीं होता तब परमाणु निरन्तर होनेसे उनकी 'स्पृष्ट' ऐसी संज्ञा है।

प्रथम मत प्राचीन बौद्धोंका है। दूसरा काश्मीरवैभाषिकोंका और तीसरा भदन्त (वसुबन्धु) का है[२], जो कि अभिधर्मकोषकार वसुबन्धुसे प्राचीन है।

इन तीनों मतोंका साधर्म्य यही है कि जब परमाणुपुञ्ज होता है तब भी पुञ्जघटक परमाणुओंके अतिरिक्त वहाँ और किसी द्रव्यकी उत्पत्ति नहीं होती। इसके विपरीत वैशेषिक और नैयायिकोंका कहना है कि परमाणुपुञ्जसे एक अपूर्व अवयवी उत्पन्न होता है। उसकी सत्ता पुञ्जघटक परमाणुओंसे अर्थात् अवयवोंसे भिन्न है। वह सभी अवयवोंको व्याप्तकरके रहता है। अवयवी अनित्य होता है क्योंकि वह कार्य है। द्व्यणुकव्यतिरिक्त अवयवीका विनाश स्वस्व अवयवविनाशसे होता है। और द्व्यणुकावयवीका विनाश अणुओंके विभक्त होनेपर हो जाता है।

जैनोंके मतसे अवयवी कार्य ही हो यह नियम नहीं। आकाश, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीवास्तिकाय ये द्रव्य नित्य होते हुए भी सावयव[३] हैं। घटपटादि पुद्गलस्कंध अनित्य होते हुए सावयव हैं। इन नित्य और अनित्य सावयव द्रव्यमें भेद सिर्फ इतना ही है कि नित्य द्रव्यके अवयव कभी पृथक् नहीं होते। वैशेषिक परिभाषाके अनुसार इस प्रकार कह सकते हैं कि जैनोंके मतसे नित्य द्रव्यके अवयव सर्वदा अयुतसिद्ध होते हैं–अपृथक्सिद्ध होते हैं। जैनोंके मतसे परमाणु और कालव्यतिरिक्त कोई ऐसा द्रव्य नहीं जो निरवयव हो। काल भी इसी लिये निरवयव माना गया है कि वह क्षणिक है अत एव उसका स्कंध बन नहीं सकता।

---

१. "तथा चोक्तम् 'आत्मादिरात्ममध्यं च तथात्मान्तमतीन्द्रियं। अविभागं विजानीयात् परमाणुमनंशकम्।'"–तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४३०। २. आलम्बन० पृ० ९६। ३. सप्रदेशी और सावयवमें सूक्ष्मभेद है किन्तु उसकी प्रस्तुतमें उपेक्षा की है।

बौद्ध और जैन मान्यतामें यह भेद है कि बौद्ध परमाणुवादी हैं। अर्थात् परमाणुसे अतिरिक्त या परमाणुपुञ्जसे अतिरिक्त स्कंधकी स्वतन्त्र सत्ता उनके मतसे नहीं है। जैनोंके मतसे पुद्गल द्रव्य अणुरूप भी है और स्कंध रूप भी है[1]। जैनसंमत स्कंध सिर्फ परमाणुपुञ्ज ही नहीं है किन्तु परमाणुओंका विशिष्ट प्रकारका परिणाम ही स्कंध है। जैन मत आरम्भवादी नैयायिकों मान्य नहीं। बौद्ध क्षणिकवादी हैं अत एव उनको भी वह मत मान्य नहीं, क्योंकि परिणामवाद द्रव्यनित्यताके स्वीकारमेंसे ही फलित हो सकता है।

जैनोंके मतसे अवयव और अवयवीका भेदाभेद है अर्थात् कथंचित् तादात्म्य[2] है। नैयायिक अत्यन्त भेद मानकर भी उनको अयुतसिद्ध कहते हैं। अर्थात् दोनोंको संयुक्त नहीं मानते। वस्तुतः तादात्म्य और अयुतसिद्धिमें नाममात्रका फर्क है। विचारपद्धति के भेदके कारण ही परिभाषामें ऐसा भेद हो जाता है इस बातको भूलना नहीं चाहिए। नैयायिक किसी वस्तुका परिणाम नहीं मानते। उनके मतसे अदृश्य परमाणु दृश्यरूपसे परिणत हो नहीं सकते। फिर भी वे परमाणुओंके मिलने पर स्थूलद्रव्यके दिखाई देनेका इनकार तो कर ही नहीं सकते। अत एव उनके लिए दृश्य अवयवीकी – परमाणुपुञ्जसे अतिरिक्त अवयवीकी कल्पना करनेके सिवाय और कोई चारा ही नहीं रहता[3]। इसीसे उन्होंने अवयवीकी सत्ताको सिद्ध तो किया पर वे उसे संयुक्त घट और जलादिकी भांति अत्यन्त भिन्न – पृथक् सिद्ध न मान कर, उसे अवयवोंसे अपृथक्सिद्ध – अयुतसिद्ध कहने लगे। इस तरह कथंचित् तादात्म्य और अयुतसिद्धिमें वस्तुतः नाम मात्रका भेद है।

मीमांसकोंने भी कार्य द्रव्यको सिर्फ परमाणुपुञ्ज न मान कर स्वतन्त्र माना है[4]। स्वतन्त्र मान कर भी उन्होंने नैयायिकोंकी तरह कार्य द्रव्यको अवयवोंसे अत्यन्त भिन्न न मान कर जैनोंकी तरह अवयव और अवयवीका भेदाभेद ही माना है। तदनुसार अवयवोंकी विशिष्ट अवस्थामें अवस्थिति ही अवयवी कहा जाता है[5]। मीमांसकोंका यह मत उनकी परिणामवाद की स्वीकृतिमें से ही फलित हुआ है। परिणामवादी जैन और मीमांसक भेदाभेदवाद समानरूपसे मानते हैं जबकि सांख्य परिणामवादी होकर भी अभेदवाद ही मानता है।

(२) अब अवयवी और प्रत्यक्ष प्रमाण – इस प्रश्नके विषयमें विचार करना क्रमप्राप्त है।

बौद्धोंने परमाणुपुञ्जको ही माना तब उन पर आक्षेप हुआ कि परमाणु अतीन्द्रिय होनेसे परमाणुपुञ्जका भी प्रत्यक्ष हो नहीं सकता। न्यायसूत्रकारने तो यहाँ तक कह दिया कि यदि अवयवी असिद्ध हो तो संसारमें किसी भी वस्तुका प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकता[6]।

---

१. "अणवः स्कन्धाश्च" – तत्त्वार्थ० ५.२५। २. "सर्वथार्थान्तरत्वस्याभावादंशांशिनोरिह" – तत्त्वार्थश्लो० पृ० १२२। ३. "सर्वाग्रहणं अवयव्यसिद्धेः" – न्यायसूत्र २.१.३४। ४. शास्त्रदी० पृ० ४२–४३। ५. "वयं तु भिन्नाभिन्नत्वम्। न हि तन्तुभ्यः शिरःपाण्यादिभ्यो वा अवयवेभ्यः निष्कृष्टः पटो देवदत्तो वा प्रतीयते। तन्तुपाण्यादयोऽवयवा एव पटाद्यात्मना प्रतीयन्ते। विद्यते च देवदत्ते 'अस्य हस्तः शिरः' इत्यादिः कियानपि भेदावभास इत्युपपन्नमुभयात्मकत्वम्। तस्मादवयवानामेवावस्थान्तरमवयवी न द्रव्यान्तरम्। त एव हि संयोगविशेषवशादेकद्रव्यतामापद्यन्ते, तदात्मना च महत्त्वं पटजातिं च बिभ्रतः पटबुद्ध्या गृह्यन्ते। तेन पटात्मना तेषामेकत्वं अवयवात्मना तु नानात्वम्" – शास्त्रदी० पृ० १०६। ६. "सर्वाग्रहणमवयव्यसिद्धेः।" न्यायसू० २.१.३४।

बौद्ध इस आक्षेपका जो उत्तर न्यायसूत्रकारके समय पर्यन्त देते होंगे वह यह है–जैसे सेना या वन कोई एक द्रव्य नहीं किन्तु हस्ती, अश्व आदि का समूह ही सेना और आम्रादि अनेक वृक्षों का समूह ही वन कहा जाता है। और सेनाघटक या वनघटक प्रत्येक हस्त्यादि या आम्रादिके प्रत्यक्ष न होने पर भी सेना या वनका प्रत्यक्ष होता है। वैसे ही परमाणुपुञ्ज वस्तुतः एक न होने पर भी एक मालूम पडता है और पुञ्जघटक प्रत्येक परमाणु अतीन्द्रिय होनेपर भी पुञ्जका प्रत्यक्ष हो सकता है[1]।

न्यायसूत्रकारने सेना-वन-न्यायके अतिरिक्त बौद्धसम्मत एक और न्यायका भी उल्लेख किया है–जैसे तैमिरिक व्यक्ति एक एक केशकी उपलब्धिका सामर्थ्य न रखते हुए भी केशसमूहका प्रत्यक्ष कर सकता है वैसे ही हम सभी यद्यपि प्रत्येक परमाणुके प्रत्यक्ष करनेमें असमर्थ हैं फिर भी परमाणुपुञ्जका प्रत्यक्ष कर पाते हैं[2]।

बौद्धोंकी इन युक्तिओं का उत्तर नैयायिकोंने यह दिया है कि अणु अतीन्द्रिय होनेसे परमाणुपुञ्ज का भी प्रत्यक्ष हो नहीं सकता[3]। वनघटक प्रत्येक वृक्षमें या सेनाघट प्रत्येक अंगमें प्रत्यक्ष होनेकी योग्यता है किन्तु परमाणुपुञ्जके घटक प्रत्येक परमाणुमें वैसी योग्यता नहीं। दूसरी बात यह भी है कि इन्द्रियाँ स्वविषयोंका अतिक्रमण नहीं करतीं[4]। चक्षु कितनी ही पटु क्यों न हो फिर भी वह गन्धग्राहक नहीं हो सकती। चक्षुरिन्द्रिय के मन्द होनेसे तैमिरिक पुरुषको एक एक केश नहीं दीखता पर केशसमूह दिखाई देता है। परन्तु अतैमिरिकको एक एक केश भी दिखता है और केशसमूह भी। इससे स्पष्ट है कि केशोंमें चक्षुरिन्द्रियके विषय होनेकी योग्यता है। जब कि परमाणुमें तो वह योग्यता ही नहीं। अत एव उनका समूह भी केशसमूह की तरह कैसे दिख सकता है?।

इतनी चर्चाका फलितार्थ इतना ही है कि यदि परमाणुको अतीन्द्रिय माना जाय तब परमाणुपुञ्ज भी अतीन्द्रिय ही रहेगा। परिणामवादी जैन, मीमांसक और सांख्य अतीन्द्रिय परमाणु या प्रकृतिकी तथापरिणति मानकर स्थूल पदार्थको इन्द्रियका विषय मानते हैं परन्तु नैयायिक-वैशेषिकोंने तो स्पष्ट ही कह दिया कि परमाणु या प्रकृतिका तथापरिणाम माननेकी अपेक्षा परमाणुओंसे एक नूतन अवयवीका आरम्भ मानना ही ठीक है। क्योंकि ऐसा माननेसे परमाणु तो अपने स्वभावानुसार अतीन्द्रिय ही बने रहते हैं जब कि अवयवी स्वभावतः अतीन्द्रिय न होनेके कारण दृश्य भी बन सकता है। परन्तु बौद्धके सामने तो यह समस्या बनी ही रह गई कि परमाणुओंके स्वयं अतीन्द्रिय होने पर भी तदभिन्न पुञ्ज दृश्य कैसे हो जाता है?।

इस समस्याको लेकर बौद्धोंमें अनेक मतभेद हुए होंगे ऐसा जान पडता है। न्यायसूत्रमें बौद्धकी ओरसे पूर्वपक्ष किया गया है कि 'यह वृक्ष है' ऐसा ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं किन्तु अनुमान है[5]। इसी प्रसंगमें न्यायसूत्रकारने अवयवीको सिद्ध करके उसका प्रत्यक्ष भी सिद्ध किया

---

१. "सेनावनवद् ग्रहणम्"–न्यायसू० २.१.३६। "अन्यस्तु मन्यते एकैकपरमाणुरन्यनिरपेक्षोऽतीन्द्रियः। बहवस्तु परस्परापेक्ष्या इन्द्रियग्राह्याः।" विज्ञप्ति० त्रिं० भाष्य० पृ० १७। २. "केशसमूहे तैमिरिकोपलब्धिवत् तदुपलब्धिः।" न्यायसू० ४.२.१३। ३. "न, अतीन्द्रियत्वादणूनाम्।"–न्यायसू० २.१.३६। ४. "स्वविषयानतिक्रमेणेन्द्रियस्य पटुमन्दभावाद्विषयग्रहणस्य तथाभावो नाविषये प्रवृत्तिः" न्यायसू० ४.२.१४। ५. "प्रत्यक्षमनुमानमेकदेशग्रहणादुपलब्धे।" न्यायसू० २.१.३०।

है। इस पर से हम यह कह सकते हैं कि स्थूल वृक्षादि पदार्थ, जिसे वैशेषिकादि अवयवी कहते हैं, वह प्रत्यक्षका विषय नहीं किन्तु अनुमेय है ऐसा किसी बौद्धका मत न्यायसूत्रके पहले था। संभवतः वह मत सौत्रान्तिकका ही होगा क्योंकि वह बाह्य पदार्थोंको प्रत्यक्ष नहीं किन्तु अनुमेय मानता है[1]।

इसी सौत्रान्तिक मतका प्रतिघोष दिग्नागके द्वारा स्थापित और धर्मकीर्तिके द्वारा पोषित बौद्ध तार्किक परंपरामें भी हुआ। कहा जाता है कि वह बौद्ध तार्किक परंपरा सौत्रान्तिक और योगाचारके सिद्धान्तोंके सम्मिश्रणसे निष्पन्न हुई है। इस परंपराके अनुसार प्रमेय दो प्रकारका है—स्वलक्षण और सामान्यलक्षण—

"स्व-सामान्यलक्षणाभ्यां भिन्नलक्षणं प्रमेयान्तरं नास्ति।" – प्रमाणसमु० वृ० का० २।

इसमेंसे प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण और अनुमान का विषय सामान्य है[2]—

"तस्य विषयः स्वलक्षणम्।...तदेव परमार्थसत्।...अन्यत्सामान्यलक्षणम्। सोऽनुमानस्य विषयः।" – न्यायबि० पृ० २१–२५।

'यह वृक्ष है' 'यह गौ है' इत्यादि ज्ञान जो कि सविकल्पक और सनिर्देश हैं वे सामान्य विषयक ही हैं क्योंकि स्वलक्षण तो अनिर्देश्य है[3]। अत एव फलितार्थ यही हुआ कि दिग्नागादि के मतसे अवयवी सामान्यलक्षणरूप प्रमेय होने के कारण अनुमानका विषय हो सकता है प्रत्यक्षका नहीं। दिग्नागका यह मन्तव्य प्राचीन सौत्रान्तिक मान्यताका प्रतिघोष मात्र कहा जा सकता है।

दिग्नागने आलम्बनपरीक्षामें एक मतविशेषका उल्लेख किया है जिसके अनुसार सञ्चिताकार परमाणु ही प्रत्यक्षके विषय माने गये हैं[4]।

आगे जाकर इसी मतका समर्थक भदन्त शुभगुप्त हुआ जान पड़ता है। उसका कहना है कि परमाणुका उत्पाद और विनाश समुदायरूप में ही होता है। अर्थात् उसके मतानुसार परमाणुका उत्पाद और विनाश प्रत्येकक्षण में होता है पर वह असंयुक्तरूपसे न होकर संयुक्त अर्थात् सञ्चितरूपसे ही होता है। जब कि परमाणु कभी स्वतन्त्र असंयुक्त अवस्थामें है ही नहीं तब प्रत्येक परमाणुके प्रत्यक्ष होने न होने का प्रश्न ही नहीं उठता[5]। इस प्रकार भदन्त शुभगुप्तने परमाणुपुञ्जके ज्ञानको प्रत्यक्ष मानकर भी परमाणुओंमें स्थूलताके ज्ञानको स्पष्ट ही भ्रम कहा है। शुभगुप्त भ्रमका समर्थन यह कह कर करता है कि—जैसे सदृशापरापर क्षणोंकी उत्पत्तिसे ज्ञाताको नित्यत्वका भ्रम होता है वैसेही सजातीय और अविच्छिन्नदेशोत्पन्न परमाणुओंमें भी स्थूलताका ज्ञान मानसिक भ्रम मात्र है[6]।

---

१. "प्रत्यक्षो न हि बाह्यवस्तुविसरः सौत्रान्तिकैराश्रितः।" षड्द० गुण० का० ११। २. "स्वलक्षणविषयकं प्रत्यक्षमेव सामान्यलक्षणविषयकमनुमानमेव।" – प्रमाणसमु० टी० पृ० ६। ३. "स्वसंवेद्यमनिर्देश्यं रूपमिन्द्रियगोचरः" – प्रमाणसमु० ५। ४. "साधनं सञ्चिताकारमिच्छन्ति किल केचन'-आलम्बन० ३। ५. "अथापि स्यात्–समुदिता एव उत्पद्यन्ते विनश्यन्ति चेति सिद्धान्तात् नैकपरमाणुप्रतिभास इति। यथोक्तं भदन्तशुभगुप्तेन–'प्रत्येकपरमाणूनां स्वातन्त्र्ये नास्ति संभवः। अतोऽपि परमाणूनामेकशाप्रतिभासनम् ॥' इति।" – तत्त्वसं० पं० पृ० ५५१। ६. "तुल्येत्यादिना भदन्तशुभगुप्तस्य परिहारमाशंकते–'तुल्यापरक्षणोत्पादाद्यथा नित्यत्वविभ्रमः। अविच्छिन्नसजातीयग्रहे चेत्स्थूलविभ्रमः' ।" – तत्त्वसं० पृ० ५५२।

शुभगुप्तके मन्तव्यका सारांश यह है कि परमाणुका प्रत्यक्ष हो सकता है अत एव स्थूल-पदार्थकी प्रतीतिको सिद्ध करनेके लिये स्वतन्त्र अवयवी माननेकी कोई आवश्यकता नहीं। स्थूल अवयवीका ज्ञान भ्रम मात्र है। और भ्रमके विषयको वास्तविक मानना उचित नहीं।

नैयायिकोंने अवयवीको एक और अखण्ड मानकर भी अनेक अवयवोंमें व्याप्त माना है। इस सिद्धान्तको लक्ष्यमें रखकर दूसरे दार्शनिकोंने यह आक्षेप किया है कि—अवयवीका प्रत्यक्ष-ग्रहण संभव ही नहीं। क्योंकि किसी भी अवयवीके सभी अवयव कभी प्रत्यक्ष हो नहीं सकते। बहुतसे मध्यभागवर्ती और अपरभागवर्ती ऐसे अवयव हो सकते हैं जिनका प्रत्यक्ष, व्यवहित होने के कारण, संभव ही नहीं। कतिपय अवयवके प्रत्यक्षमात्र होने से अवयवीका प्रत्यक्ष हो जायगा ऐसा भी—माना नहीं जा सकता, क्योंकि एक बात तो यह है कि वह उतने ही अवयवोंमें पर्याप्त नहीं, दूसरी बात यह है कि यदि कतिपय अवयवोंके प्रत्यक्षमात्रसे संपूर्ण अवयवीका प्रत्यक्ष हो तब यह मानना पडेगा कि पानीमें डूबे हुए महास्तम्भके बाहरी कुछ ही अवयवोंके दर्शनसे संपूर्ण स्तम्भ उपलब्ध हो, किन्तु यह बात प्रतीतिबाधित है। अत एव अवयवीका प्रत्यक्ष संभव ही नहीं।

इस आक्षेपके उत्तरमें नैयायिकोंने कहा है कि हम अवयवी और अवयवको अत्यन्त भिन्न मानते हैं। अतएव अवयवग्रहण और अवयविग्रहण का विषय भी अलग है। अनेक अवयवोंके विषयमें सकल और कतिपय ऐसा विकल्प हो सकता है किन्तु जो एक है—अखण्ड है उसके विषयमें ये विकल्प असंभव हैं[1]। अवयवी जो कि एक है—अखण्ड है उसके विषयमें एकदेशसे ग्रहण और दूसरे देशसे अग्रहण संभव ही नहीं। वस्तुतः बात यह है कि जिन अवयवोंका इन्द्रियके साथ सन्निकर्ष होकर ग्रहण होता है उन अवयवोंके 'साथ' अवयवीका भी ग्रहण हो जाता है किन्तु जिन अवयवोंका व्यवधानके कारण ग्रहण नहीं होता उनके 'साथ' अवयवीका भी ग्रहण नहीं होता[2]।

इस प्रकार ग्रहण और अग्रहण होते हुए भी अवयवीमें भेद्का—अनेकताका आपादन संभव नहीं। जैसे देवदत्त यदि चैत्रके साथ देखा गया और मैत्रके साथ न देखा गया तो एतावता देवदत्त दो नहीं हो जाते किन्तु एक ही रहता है वैसे ही अवयवी कुछ अवयवोंके साथ दिखाई दे और कुछ के साथ नहीं तो एतावता वह दो नहीं हो सकता है[3]।

नैयायिकोंके इस उत्तरमें एक त्रुटि तो रह ही जाती है और वह यह कि यदि अवयवी एक है—अखण्ड है—निरंश है उसमें कृत्स्नैकदेशका विकल्प संभव नहीं तब वह अपने संपूर्णरूपमें दिखाई क्यों नहीं देता? वह भागशः क्यों दिखता है?। जलमग्न स्तम्भ बाहर और भीतर पूर्ण-रूपेण क्यों नहीं दिखता?। यह कह देना कि एकमें—अखण्डमें कृत्स्नैकदेशका विकल्प करना अनुचित है—मूल आक्षेपका यथार्थ उत्तर नहीं है, न प्रतीतिकी पूरी व्याख्या ही है।

प्रस्तुत चर्चामें अनेकान्तवाद ही सहायक हो सकता है। यदि अवयवीको अवयवोंसे

---

१. "एकस्मिन् कृत्स्नैकदेशशब्दासम्भवाद्" न्यायवा० पृ० २१४। २. "इदं तस्य वृत्तं येषां इन्द्रियसन्निकर्षाद्ग्रहणमवयवानां तैः सह गृह्यते। येषां अवयवानां व्यवधानादग्रहणं तैः सह न गृह्यते। न चैतत्कृतोऽस्ति भेद इति"—न्यायभा० २.१.३२। ३. न्यायवा० पृ० २१६।

कथंचिदभिन्न माना जाय तब यह कहा जा सकता है कि चूंकि अवयव अदृश्य हैं अत एव तदभिन्न अवयवी भी अदृश्य है और कथंचिद् भिन्न होनेसे कुछ अवयव अदृश्य हों तब भी अवयवीका दर्शन हो सकता है। तथा अवयवोंसे कथंचिदभिन्न होने के कारण अवयवी उनकी तरह अनेक भी कहा जा सकता है अत एव उसका दर्शनादर्शन भी घट सकता है।

पृ० ३९. पं० १. 'ननु धर्मिणं' प्रस्तुत प्रश्नका उत्तर पंडित अशोक ने एक दूसरे ढंगसे दिया है–"इह दृश्यमानस्थूलो नीलादिरर्थो धर्मी; स चानुभवावसितोऽसति बाधके प्रत्यक्षसिद्धो हेतोराश्रयासिद्धिं निहन्ति। ननु भवद्भिरसन्नेवावयवी प्रतिज्ञायते स कथं प्रत्यक्षसिद्धः। नावयविनमिह धर्मिणं प्रतिपन्नाः स्मः किन्तु प्रतिभासमानस्थूलनीलादिकमर्थम्। न तर्हि विरुद्धधर्मसंसर्गादवयविन एकत्वं निषिद्धं स्यात्। यद्येवं कस्तर्हि भवतोऽवयवी। एकोऽनेकावयवसमवेतार्थ इति चेत्। स किं प्रतिभासमानात् स्थूलनीलादेरन्योऽनन्यो वा। न तावदन्यः, दृश्यत्वेनाभ्युपगमात्। न च प्रतिभासमानस्थूलनीलार्थव्यतिरेकेणापरः प्रतिभाति। अनन्यश्चेत्। तस्यैकत्वप्रतिक्षेपे कथमप्रतिषिद्धमेकत्वमवयविनः।"–अवय० पृ० ७९। तुलना–व्यो० पृ० ४६।

पृ० ३९. पं० ३. 'प्रसङ्गविपर्ययसाधन' व्याख्या–"प्रसङ्गश्च नाम परप्रसिद्धेन परस्य अनिष्टापादनमुच्यते।–न्यायमं० वि० पृ० १०२। कन्दली पृ० ४३। "साध्यसाधनयोर्व्याप्यव्यापकभावसिद्धौ हि व्याप्याभ्युपगमो व्यापकाभ्युपगमनान्तरीयको यत्र प्रदर्श्यते तत् प्रसङ्गसाधनम्। व्यापकनिवृत्तौ चावश्यंभाविनी व्याप्यनिवृत्तिः स विपर्ययः।"–प्रमेयक० पृ० २५७। प्रमाणवा० मनो० १.८६।

पृ० ३९. पं० १६. 'सामस्त्येन' तुलना–

"यद्वा सर्वात्मना वृत्तावनेकत्वं प्रसज्यते।
एकदेशेन चानिष्टा नैको वा न कश्चिच्च सः॥"–तत्त्वसं० का० ६१३।

"कृत्स्नैकदेशावृत्तित्वादवयवानामवयव्यभावः" न्यायसू० ४.२.७। न्यायवा० पृ० २१६,५०६। व्यो० पृ० ४४। कंदली० पृ० ४२।

पृ० ३९. पं० १३. 'अहेतोश्च' तुलना–"नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वाऽहेतोरन्यानपेक्षणात्। अपेक्षातश्च भावानां कादाचित्कस्य संभवः॥" प्रमाणवा० ३.३४।

पृ० ४०. पं० १. 'इतोपि' तुलना–प्रमाणवा० अ० पृ० ११३।

पृ० ४०. पं० १. 'चलति' तुलना–"पाण्यादिकम्पे सर्वस्य कम्पप्राप्तेर्विरोधिनः। एकस्मिन् कर्मणोऽयोगात् स्यात् पृथक्सिद्धिरन्यथा॥" प्रमाणवा० १.८६। अवय० पृ० ८१।

पृ० ४०. पं० २. 'एकावयवरागे' तुलना–"दृश्येत रक्ते चैकस्मिन् रागोऽरक्तस्य वाऽगतिः॥" प्रमाणवा० १.८७। तत्त्वसं० का० ५९४। अवय० पृ० ८७।

पृ० ४०. पं० ३. 'आवरणे' तुलना–"एकस्य चावृतौ सर्वस्यावृतिः स्यादनावृतौ।" प्रमाणवा० १.८७। "स्थूलस्यैकस्वभावत्वे मक्षिकापदमात्रतः। पिधाने पिहितं सर्वमासज्येताविभागतः॥" तत्त्वसं० का० ५९३। अवय० पृ० ८५।

पृ० ४०. पं० ४. 'न चावयवानामेव' तुलना–"तदारम्भकेऽवयवे वर्तत इति चेत्; यद्येवम्–अवयवानामेव रक्तत्वादवयविरूपमरक्तमिति रक्तारक्तं समं दृश्येत।" तत्त्वसं०

पं० पृ० २०० । **"स्यादेतत्–पाण्याद्यावेकस्मिन्नवयवे कम्पमाने नावयविनः कम्पकरूपमभ्युपेयम्। अवयव एव हि तदा क्रियावान् दृश्यते। न चेदं मन्तव्यम्। अवयवे क्रियावति तदाधेयेन अवयविनापि क्रियावता भवितव्यम्। यथा रथे चलति तदारूढोऽपि चलतीति।"** अवय० पृ० ८२।

पृ० ४१. पं० १३. **'भूयोऽवयव'**–तुलना–**"भूयोऽवयवेन्द्रियसन्निकर्षानुगृहीतेनावयवेन्द्रियसन्निकर्षेण ग्रहणात्।"** व्यो० पृ० ४६। अवय० पृ० ८५,८७।

पृ० ४१. पं० १६. **'न च'** प्रस्तुत पंक्तिमें 'प्रतिभासेप्यव्यव' के स्थानमें 'प्रतिभासेपि व्यव'–ऐसा संशोधन उपस्थित किया है वह पूर्वापरसंदर्भ की दृष्टिसे ही समजना चाहिए। शान्त्याचार्यने दलील की है कि व्यवहित अवयवीको भी यदि जाना जाय तब तत्संलग्न अन्य भी जाना जा सकता है और इस प्रकार सबको सभी अवयवीका ज्ञान हो जायगा। यह दलील शान्त्याचार्यकी ही होना चाहिए। इस दलीलको ध्यानमें रखें तो 'व्यवहित' पाठ ही ठीक जंचता है, 'अव्यवहित' नहीं।

सन्मतितर्कटीकामें प्रस्तुत प्रसंगमें 'अव्यवहित' ही पाठ है। और वहाँ वह संगत है। सन्मति० टी० पृ० १०४ पं० ३। उपर्युक्त शान्त्याचार्यकृत दलील सन्मतिमें नहीं है।

पृ० ४१. पं० २४. **'प्रवृत्तेरिति'** यहाँ तक शान्त्याचार्यने यह सिद्ध किया है कि अवयवीका ग्रहण प्रत्यक्ष या स्मृतिसे नहीं हो सकता है। अवयवीके अग्रहणका समर्थन सन्मतितर्कटीकामें (पृ० १०३–१०५) विस्तारसे है। प्रस्तुतमें वस्तुतः अवयवीका अग्रहण अभयदेवने बौद्ध मतानुसार समर्थित किया है। और तदनुगामी शान्त्याचार्यने भी वैसा ही किया। किन्तु जैन दृष्टिसे अवयवीका ग्रहण होता है कि नहीं, होता है तो किस प्रमाणसे–इस प्रश्नका उत्तर प्रस्तुतमें न तो अभयदेवने दिया है और न शान्त्याचार्यने। दोनोंको ईश्वरसाधक कार्यत्व हेतुका खण्डन करना ही अभीष्ट है। अवयवीका विचार इसी प्रसंगमें है अत एव बौद्ध नयका आश्रयण करके नैयायिक संमत अवयवीके खण्डनसे ही दोनोंका उद्देश सिद्ध हो गया। इसीसे प्रस्तुतमें जैन दृष्टिसे अवयवीके स्वरूप और ग्रहणका विचार दोनोंने नहीं किया।

अवयवीके ग्रहणके विषयमें जैन दृष्टिसे प्रभाचन्द्रने यह कहा है–**"प्रत्यक्षस्मरणादिसहायेन आत्मना अर्वाक्परभागभाव्यवयवव्यापकत्व(?)स्य अवयविनो ग्रहणोपपत्तेः। न हि अस्माभिः प्रत्यक्षादिज्ञानपर्याय एव अर्थग्राहकोऽभिप्रेतः येनायं दोषः स्यात्, किन्तर्हि? तत्परिणत आत्मा।"** न्यायकु० पृ० २३५।

अवयवीमें बौद्धों नें विरुद्धधर्मसंसर्गके कारण भेद सिद्ध किया है। जैन दृष्टिसे प्रभाचन्द्र नें उसमें संशोधन यह किया है कि वह भेद कथंचित् माना जाय ऐकान्तिक नहीं। क्योंकि जैन दृष्टिसे अवयवी निरंश नहीं–न्यायकु० पृ० २३५।

प्रभाचन्द्रका कहना है कि अवयवी रूपाद्यात्मक भी है। और उसकी सिद्धि प्रत्यभिज्ञा प्रमाणसे होती है। अवयवी अवयवोंसे कथंचिदभिन्न है, वास्तव है और एकानेकस्वभाव है–न्यायकु० पृ० २३६।

अवयवीकी चर्चाके लिये देखो—न्यायसू० २.१.३२–३६ । ४.२.५–१७। न्यायमं० वि० पृ० ५४९–५५१ । व्यो० पृ० ४४ । कंदली पृ० ४१ । वादन्याय पृ० ३८ । प्रमाणवा० १.८६ इत्यादि । प्रमाणवा० अलं० पृ० ११३ । तत्त्वसं० का० ५३१–६२१ । अष्टस० का० ६२ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४०५, ११८–१२० । सन्मति० टी० पृ० १०२ । न्यायकु० २२० । प्रमेयक० पृ० ५४० । स्याद्वादर० पृ० ८७३ । श्लोकवा० वन० ७५ । शास्त्रदी० पृ० ४२,१०६ ।

पृ० ४१. पं० २६. 'यथाविधम्' तुलना—"**स्थित्वा प्रवृत्तिः संस्थानविशेषार्थक्रियादिषु । इष्टसिद्धिरसिद्धिर्वा दृष्टान्ते संशयोऽथवा ॥ १२ ॥ सिद्धं यादृगधिष्ठातृभावाभावानुवृत्तिमत् । सन्निवेशादि तद्युक्तं तस्माद् यदनुमीयते ॥ १३ ॥**" प्रमाणवा० १ । तत्त्वसं० का० ६१ से । व्यो० पृ० ३०२ । कंदली पृ० ५५ । तात्पर्य० पृ० ६०० । सन्मति० टी० पृ० ११५ । न्यायकु० पृ० १०२ ।

पृ० ४२. पं० १६. 'विरुद्धं' तुलना—**अत एवायमिष्टस्य विघातकृदपीष्यते ।**" तत्त्वसं० का० ७४ ।

पृ० ४२. पं० २७. 'तत्र' इसके बाद शान्त्याचार्यने ईश्वरकर्तृत्ववादकी असंगति दिखानेके लिये जिन कारिकाओं की रचना की है उनमें से बहुतसी श्लोकवार्तिक और प्रमाणवार्तिकालंकारसे शब्दशः उद्धृत की हैं और शेषकी रचना ईश्वरवादकी चर्चा करनेवाले अन्यग्रन्थोंकी युक्तिओंके आधार पर की है ।

ईश्वरवादके लिये निम्नलिखितग्रन्थ देखने चाहिए—न्यायसू० ४.१.२१ । न्यायवा० पृ० ४५७ । तात्पर्य० पृ० ५९५ । न्यायमं० वि० पृ० १९० । कुसुमांजली स्त० ५ । श्लोकवा० संबन्धाक्षे० श्लो० ४३ । प्रमाणवा० १.१२ । प्रमाणवा० अलं० पृ० ४४ । तत्त्वसं० का० ४६ । शास्त्रवा० का० १९४ । आप्तपरीक्षा का० ८ । अष्टस० पृ० २६८ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३६० । सन्मति० टी० पृ० ९३ । न्यायकु० पृ० ९७ । प्रमेयक० पृ० २६६ । स्याद्वादर० पृ० ४०६ ।

पृ० ४२. पं० २८. '**सचेतनं**' तुलना—श्लोक० संबन्धा० ८१ । प्रमाणवा० अलं० पृ० ४४ ।

पृ० ४२. पं० ३०. '**कुलाल**' तुलना—प्रमाणवा० अलं० पृ० ४४ ।

पृ० ४३. प० १. '**प्रेक्षावताम्**' तुलना—वही पृ० ४४ ।

पृ० ४३. पं० २. '**प्रयोजनम्**' तुलना—श्लोक० सं० ५५ । तत्त्वसं० का० १५६ । तत्त्वसं का० १६९ ।

पृ० ४३. पं० ३. '**प्रयोजनम्**' तुलना—वही० ५२ । प्रमाणवा० अलं० पृ० ४४ ।

पृ० ४३. पं० ४. '**छागादीनाम्**' तुलना—प्रमाणवा० अलं० पृ० ४८ ।

पृ० ४३. पं० ६. '**क्रीडार्था**' तुलना—श्लोक० सं० ५६ । प्रमाणवा० अलं० पृ० ४६, ९५ । तत्त्वसं० का० १६१ ।

पृ० ४३. पं० ७. '**किञ्चित्**' तुलना—प्रमाणवा० अलं० पृ० ४९ ।

न्या० २६

पृ० ४३. पं० ९. **'एकस्य'** तुलना – प्रमाणवा० अलं० पृ० ४६,९५ ।

पृ० ४३. पं० १०. **'कर्मणां'** तुलना – तत्त्वसं० का० १५९ ।

पृ० ४३. पं० १७. **'अथेदृशः'** तुलना – प्रमाणवा० अ० पृ० ४२ ।

पृ० ४३. पं० १८. **'स्वभावो'** तुलना – तत्त्वसं० का० १५९ ।

पृ० ४४. पं० ३. **'प्रकृत्यन्तर'** इत्यादि कारिका और उसका व्याख्यान मूलतः प्रमाणवार्तिकालंकारानुगामी है–पृ० १९० । और परंपरासे सन्मति० टी० पृ० ३०० और न्यायकु० पृ० ८२२ के साथ भी शब्द साम्य है ।

पृ० ४४. पं० ५. **'ते हि'** व्योमशिवने भी 'गुणपुरुषान्तरविवेकदर्शनं निःश्रेयससाधनम्' इस सांख्यसंमत वाक्यको उद्धृत करके उसका खण्डन किया है । व्यो० पृ० २० (घ) ।

पृ० ४४. पं० ५. **'पुरुषः'** **"तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य । कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ।"** सांख्य० का० १९ ।

पृ० ४४. पं० ६. **'भुङ्क्ते'** तुलना – **"भोगापवर्गौ बुद्धिकृतौ बुद्धावेव वर्तमानौ कथं पुरुषे व्यपदिश्येते इति ? । यथा विजयः पराजयो वा योद्धृषु वर्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते, स हि तस्य फलस्य भोक्तेति एवं बन्धमोक्षौ बुद्धावेव वर्तमानौ पुरुषे व्यपदिश्येते, स हि तत्फलस्य भोक्तेति । बुद्धेरेव पुरुषार्थापरिसमाप्तिर्बन्धः । तदर्थावसायो मोक्ष इति । एते ग्रहणधारणोहापोहतत्त्वज्ञानाभिनिवेशाः बुद्धौ वर्तमानाः पुरुषेऽध्यारोपितसद्भावाः, स हि तत्फलस्य भोक्तेति ।"** योगभाष्य २.१८ ।

पृ० ४४. पं० ६. **'अज्ञानतमश्छन्नः'** तुलना – **"तस्य हेतुरविद्या"** योगद० २.२४ । **"तथैतदत्रोक्तम्–'व्यक्तमव्यक्तं वा सत्त्वमात्मत्वेनाभिप्रतीत्य तस्य सम्पदमनु नन्दति आत्मसम्पदं मन्वानः, तस्य चापदमनु शोचत्यात्मव्यापदं मन्वानः, स सर्वोऽप्रतिबुद्धः' इति ।"** योगभा० २.५ । न्यायकु० पृ० ८१५ ।

पृ० ४४. पं० ७. **'ज्ञानम्'** यह ज्ञान विवेकख्याति के नामसे प्रसिद्ध है । इसे प्रकृत्यन्तर-विज्ञान, तत्त्वज्ञान, केवलज्ञान या गुणपुरुषान्तरोपलब्धि भी कहते हैं –

"एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम् ।" सांख्य० का० ६३ । **विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ।"** योगद० २.२६ । **"किं ज्ञानं ? गुणपुरुषान्तरोपलब्धिरूपमित्यर्थः ।"** – माठर० ६३ ।

पृ० ४४. पं० ९. **'विज्ञातस्वरूपा'** तुलना – **"प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति । या दृष्टास्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥ दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाऽहमित्युपरमत्येका । सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य ॥"** सांख्यका० ६१, ६६ ।

पृ० ४५. पं० १. **'पङ्ग्वन्ध'** तुलना – **"पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य । पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगात् तत्कृतः सर्गः ।"** सांख्यका० २१ ।

पृ० ४५. पं० १३. **'पुद्गलावर्त'** पञ्चसंग्रहमें द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके भेदसे पुद्गलपरावर्त चार प्रकारका माना गया है[1] ।

---

१. पञ्चसं० ७१ ।

द्रव्य पुद्गलपरावर्तका स्वरूप इस प्रकार है—संसारमें भ्रमण करता हुआ एक जीव जितने कालमें समस्त परमाणुओंको ग्रहण करके छोड देता है उतने कालको बादर पुद्गल परावर्त और औदारिकादि किसी एक शरीरके द्वारा जितने कालमें समस्त परमाणुओंको ग्रहण करके छोड देता है उतने कालको सूक्ष्म पुद्गल परावर्त कहते हैं[1]।

इसी प्रकार क्षेत्र, काल और भाव पुद्गल परावर्तो के स्वरूप वर्णनके लिये देखो—पञ्चसं० ७३–७५। पञ्चप्रकर्मग्रन्थ गा० ८६–८८।

दिगम्बर शास्त्रोंमें उक्त चारके अतिरिक्त भवपरिवर्तनका वर्णन आता है। और द्रव्यादि पुद्गलपरिवर्तके स्वरूपमें भी थोडा मतभेद है। देखो—षट्खण्डागम पुस्तक ४. पृ० ३२५। सर्वार्थ० २.१०। पञ्चमकर्मग्रन्थ पृ० २८१।

पृ० ४५. पं० १४. **'रत्नत्रय'** सम्यग्दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीन रत्न यहाँ अभिप्रेत हैं।

यह कारिका उत्पादादिसिद्धिमें उद्धृत है—पृ० २१४।

पृ० ४५. पं० १६. **'शरीराद्भिन्नं'** यहाँ से पृथिव्यादिभूतातिरिक्त आत्मतत्त्वके तथा अनुमानप्रामाण्यके निषेधक चार्वाकके खण्डनका प्रारंभ किया गया है।

पृ० ४५. पं० १८. **'नानुमानं प्रमा'**—जिस प्रकार माध्यमिकके सर्वशून्यवादका निषेध करनेके लिये स्ववचनविरोध[2] नामक दोष दिया जाता है उसी प्रकार चार्वाकसंमत अनुमानाप्रामाण्यका खण्डन करनेके लिये भी वही दोष दिया जाता है—**"स्ववचननिराकृतो यथा नानुमानं प्रमाणम्"** न्यायबि० पृ० ८५।

'अनुमानप्रमाण नहीं है' चार्वाककी इस मान्यताका स्पष्टीकरण पुरन्दर नामके[3] किसी चार्वाकानुगामीने किया है कि लोकप्रसिद्ध अनुमान चार्वाकको सम्मत है। किन्तु दूसरे लोग लौकिक मार्गका अतिक्रमण करके अनुमान का निरूपण करते हैं अत एव उस अलौकिक अनुमानका प्रामाण्य खण्डित करना ही बृहस्पतिको अभिमत है।

सारांश यह है कि प्रत्यक्षगम्य वस्तुओंका परस्पर सम्बन्ध जान कर अनुमान किया जा सकता है। किन्तु यदि उस अनुमानका क्षेत्र परोक्ष परलोक आदि तक विस्तीर्ण किया जाय तब वह अनुमान अलौकिक हो जाता है।

अनुमानकी मर्यादित शक्ति सिर्फ चार्वाकने ही मानी है यह बात नहीं है। भर्तृहरिने भी एक ही विषयमें परस्पर विरोधी अनुमानों की प्रवृत्ति देखकर अनुमान प्रामाण्यमेंसे अपना विश्वास खो दिया[4]।

पृ० ४५. पं० १८. **'चार्वाक'** चार्वाक भूतवादी है। भौतिकवादका प्रारंभ दार्शनिक

---

१. पञ्चसं० ७२। २. विग्रहव्या० का० १। ३. "पुरन्दरस्तु आह—लोकप्रसिद्धमनुमानं चार्वाकैरपि इष्यत एव, यत्तु कैश्चिल्लौकिकं मार्गमतिक्रम्यानुमानमुच्यते तन्निषिध्यत इति"—तत्त्वसं० पं० पृ० ४३१। ४. "अवस्थादेशकालानां भेदात् भिन्नासु शक्तिषु। भावानामनुमानेन प्रसिद्धिरति दुर्लभा॥ यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः। अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते॥" वाक्यप० काण्ड १। तत्त्वसं० का० १४६०–१४६२।

विचारोंके साथ साथ ही है। उपनिषद् जैसे प्राचीन ग्रन्थमें भी भौतिकवादके बीजका पता चलता है[1] "विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति। न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति।" बृहदा० २.४.१२।

प्राचीन जैन और बौद्ध शास्त्रमें भौतिकवादका स्पष्ट उल्लेख है। सूत्रकृतांगमें (१.१. ६–८) कहा है कि कुछ श्रमण-ब्राह्मण ऐसे हैं जो मानते हैं कि इस विश्वमें पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और आकाश ये पांच भूत ही हैं। आत्मा, देही या जीव इन पांचों भूतोंमेंसे ही उत्पन्न होता है। और इन पांचोंके विनाशके साथ ही जीवका भी विनाश हो जाता है।

एक और मतका भी उल्लेख उसीमें (१.१.११–१२) है जिसके अनुसार यह शरीर ही आत्मा माना गया है। यह मत भी भौतिकवादविशेष ही है।

इन दोनों मतोंके विषयमें सूत्रकृतांगके द्वितीय श्रुतस्कंधमें (अ० १.) विशेषतः कहा गया है कि ये लोग परलोकको नहीं मानते, पुण्यपापको नहीं मानते, हिंसा-अहिंसाको नहीं मानते और कहते हैं कि शरीर है तब तक जितना भोग किया जा सके करना चाहिए।

बौद्ध ग्रन्थोंमें अजितकेसकम्बलके सिद्धान्त का वर्णन आता है। वह भी भौतिकवादी ही है–उसका कहना था कि न दान है, न यज्ञ है, न होम है, न पुण्य या पाप है। मनुष्य चार महाभूतोंसे बना है। मनुष्य जब मरता है तब उसमेंसे पृथ्वी धातु पृथ्वीमें लीन हो जाती है, अप्धातु जलमें, तेजो धातु तेजमें, और वायु धातु वायुमें लीन हो जाती है। तथा इन्द्रियाँ आकाशमें मिल जाती हैं। मनुष्य मरे हुए को खाटपर रख कर ले जाते हैं। उसकी निन्दा प्रशंसा करते हैं। और जला देते हैं तब वह भस्म हो जाता है। आस्तिकवाद झूठा है। दान होमादि कार्य मूर्खता मात्र है इत्यादि[2]।

महाभारतमें भी भौतिकवादिओंका उल्लेख है[3]। कौटिल्यके अर्थशास्त्रमें तथा पुराणोंमें भी उल्लेख मिलते हैं[4]।

इस दर्शन का मुख्य सूत्रग्रन्थ बृहस्पति कृत माना जाता है जो उपलब्ध नहीं। किसी अन्य चार्वाकाचार्य की भी चार्वाक सिद्धान्त प्रतिपादक कृति उपलब्ध नहीं होती। धर्मकीर्ति कृत प्रमाणवार्तिक, हरिभद्रकृत षड्दर्शनसमुच्चय और शास्त्रवार्तासमुच्चय तथा माधवाचार्यका सर्वदर्शनसंग्रह ही ऐसे ग्रन्थ हैं जिनमें चार्वाक दर्शनका संक्षिप्त वर्णन पूर्वपक्ष रूपसे मिलता है।

गायकवाड सिरीजमें तत्त्वोपप्लवसिंह नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। उसमें चार्वाक दर्शनका मंडन नहीं है किन्तु इतर दार्शनिक संमत प्रमाणों का खण्डन करके कहा गया है कि जब प्रमाण ही सिद्ध नहीं तब प्रमेयकी सिद्धि कैसे हो सकती है? इस प्रकार एक वैतण्डिकके रूपमें तत्त्वोपप्लवसिंहकार जयराशि भट्ट दार्शनिकोंके बीच उपस्थित होते हैं।

प्रो. राधाकृष्णम् का कहना है कि प्राचीन मंत्रवाद और धार्मिक क्रियाकाण्डके विरोध करने में चार्वाक जैसे भौतिकवादिओंको काफी बल लगाना पडा है। कालक्रमसे धार्मिक

१. सर्वद० पृ० १। २. दीघ° सामञ्ञफलसुत्त। ३. शांतिपर्व–श्लो० १४१४,२२३०–४२। शल्यपर्व श्लो० ३६१९। ४. विष्णुपुराण–३.१८.१४–२६।

संस्थाएँ रूढ हो जाती हैं और मनुष्य धार्मिकक्रियाकाण्डोंको यन्त्रवत् करने लग जाता है तब वैसी संस्थाओंसे और वैसे क्रियाकाण्डोंसे मनुष्य पूरा लाभ नहीं उठा सकता है। ऐसे समयमें मनुष्यको अपने अन्धविश्वासों और वहमोंसे मुक्त करने के लिये चार्वाक जैसे वादका उत्थान आवश्यक हो जाता है। वस्तुतः भौतिकवाद व्यक्तिके स्वातन्त्र्यवादको अग्रसर करता है। और आगमप्रामाण्यका बहिष्कार करके तर्कवादका आश्रय लेता है। चार्वाकने भूतकालीन पीडाजनक भारसे उस समयकी जनताको मुक्त करने के लिये अत्युग्र प्रयत्न किया है। धार्मिक कट्टरताका उसने जो निषेध किया वह उस जमानेमें आवश्यक भी था। फलस्वरूप कट्टरताके स्थानमें आगे जाकर रचनात्मक दार्शनिक विचारों की विविध धाराएँ चलीं[1]।

प्रो० राधाकृष्णम् का यह कथन भगवान् बुद्ध और महावीरके जमानेको लक्ष्यमें रखकर हुआ है। किन्तु भौतिकवाद का सामान्यलक्षण उन्होंने जो यह बताया कि भौतिकवाद व्यक्तिके स्वातन्त्र्यवाद को प्राधान्य देता है और मनुष्यको रूढिवादसे छुडाने का कार्य करता है वह जयराशिके दर्शनमें भी चरितार्थ हुआ हम देखते हैं।

बृहस्पतिके दर्शनने उस जमानेमें परलोक के लिये किये जानेवाले नानाप्रकारके वेदप्रतिपादित यज्ञों और क्रियाओंके भारसे मनुष्यको मुक्त करानेका सत्साहस किया और साथ ही दार्शनिक विचारधाराओं तथा ध्यान और तपस्या जैसे धार्मिक आचारोंके निर्माणके लिये भी मार्ग साफ कर दिया। किन्तु समय की गतिमें पड कर ये दार्शनिक विचार भी रूढ और स्वतन्त्रबुद्धिशक्तिके घातक ही सिद्ध हुए। बुद्ध या महावीर, गौतम या कणाद, जैमिनी या बादरायण, कपिल या पतञ्जली इन सभी के विचारोंको लेकर भिन्न भिन्न दार्शनिक धाराएँ चलीं। किन्तु समयके चक्रमें पडकर सभी दार्शनिक धाराएँ भी रूढ मान्यताओंमें परिवर्तित हो गईं। वेदके ऋषिओंके वचनोंका जैसा महत्त्व था वैसा ही महत्त्व इन बुद्ध-महावीर आदि सभी दार्शनिकोंके वचनोंका भी हो गया। प्रायः सभी दार्शनिक अपनी बुद्धि और तर्कशक्तिसे स्वतन्त्र विचार करना छोड कर उन प्राचीन पुरुषोंके वचनोंका समर्थन करनेमें ही चरितार्थताका अनुभव करने लगे। ऐसे समयमें फिर बृहस्पति जैसे एक चार्वाक की अत्यन्त आवश्यकता थी जो इन सभी आगमाश्रित बुद्धिवादिओंको बताता कि तुम्हारी बुद्धिशक्तिका, तर्कशक्तिका मार्ग अवरुद्ध हो गया है। तुम लोगोंने अपनी तर्कशक्तिको एक खीलेमें बांधकर उसका स्वैरविहार रोक दिया है। अत एव देखो तुम तार्किक कहलानेवालोंमें कैसा परस्पर विरोध आता है और तुम्हारे तर्कवादमें कैसा खोखलापन है। जयराशिने आठवीं शताब्दिमें यही किया। उन्होंने दार्शनिकोंकी ही दलिलोंका उपयोग परस्परके खण्डनमें कर के यह सिद्ध कर दिया कि किसी भी दार्शनिक की कोई बात अविरुद्ध सिद्ध नहीं होती है।

जयराशिकी परंपरा उन्हीं तक सीमित रही हो ऐसा माळुम देता है। क्योंकि जयराशिकी शैलीका तो दूसरे दार्शनिकोंने पूर्वपक्षोंका खण्डन करनेके लिये उपयोग किया है किन्तु 'प्रामाणप्रमेय सर्वथा असिद्ध है अत एव परम तत्त्वकी सिद्धि मानी नहीं जा सकती' इस बातका समर्थन जयराशिके बाद किसीने किया हो ऐसा अभी तक देखनेमें नहीं आया। खण्डन-

---

१. Indian Philosophy Vol. I. P. 283.

खाद्यमें श्रीहर्षने परमब्रह्मका बाधक प्रमाण कोई हो नहीं सकता इस बातको समर्थित करनेके लिये प्रमाणों की असिद्धि बतलाई है किन्तु उस असिद्धिके पीछे परम ब्रह्मकी सिद्धि उनको अभिप्रेत है। जब कि जयराशिको प्रमाणकी असिद्धिके पीछे तत्त्वोपप्लव अभिप्रेत है। जयराशिको बृहस्पतिसंमत भूत भी अनिष्ट है। वह तो कहता है कि बृहस्पतिने चार भूतोंके अस्तित्वकी बात सूत्रबद्ध की है वह उनका सिद्धान्त नहीं है, किन्तु उन्होंने लोकसिद्ध भूतोंका अनुवाद मात्र किया हैं।

पृ० ४५. पं० २०. 'प्रतिपादयिष्यते' देखो, पृ० ६१.

पृ० ४५. पं० २६. 'चैतन्यम्' जैनागमोंमें चार्वाकमतका निषेध किया गया है। निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि आदि आगमिक टीकाग्रन्थोंमें तथा सन्मतितर्क टीका जैसे दार्शनिक ग्रन्थोंमें भी चैतन्यसाधक प्रमाण उपलब्ध होते हैं। किन्तु प्रस्तुतमें शान्त्याचार्यने प्रमाणवार्तिकालंकार (पृ० ६७–११२) में से ही शब्दशः अवतरण करके जीवतत्त्वकी सिद्धि की है। प्रज्ञाकरके कई श्लोकों को 'तदाह' या 'तदुक्तं' ऐसे निर्देशके बिना ही तथा उनकी युक्तिओंको शब्दशः उतार कर शान्त्याचार्यनें प्रज्ञाकरके पाण्डित्यके प्रति अपना मूक आदर ही व्यक्त किया है।

यहाँ एक बातका स्पष्टीकरण करना अत्यन्त आवश्यक है। बौद्धोंने चैतन्यकी सिद्धि की है सही। परंतु बौद्धोंके मतसे चैतन्यका अर्थ जीवद्रव्य नहीं है। अपि तु चित्तसंतति है। जैन मतसे ज्ञानधाराका – ज्ञानपर्यायोंका जो स्वरूप है वही बौद्धसंमत चित्तसंतति है। जैसे जैनोंके मतसे ज्ञानपर्याय प्रत्येकक्षणमें बदलते रहते हैं और पूर्वज्ञानका नाश होते ही उत्तरज्ञान पर्याय उत्पन्न होता है। वैसेही बौद्धोंके मतसे पूर्वचित्तका नाश और उत्तर चित्तका उत्पाद होता है। इस प्रकार चित्तकी धारा – चित्तकी संतति अनादि कालसे प्रवृत्त है और आगे भी चलती रहती है।

बौद्ध पर्यायवादी हैं, द्रव्यवादी नहीं। अत एव उनके मतसे चित्त अर्थात् एकमात्र ज्ञान ही है किन्तु ज्ञानको धारण करनेवाले किसी अन्य द्रव्य का अस्तित्व नहीं। जब कि जैन द्रव्यपर्यायात्मक वस्तुवादी होनेसे ज्ञानको जीवद्रव्यका गुण कहते हैं। और इसी गुणकी विविध अवस्थाओंको पर्याय। अत एव चैतन्यकी सिद्धिके प्रसङ्गमें जैन-बौद्ध एक होकर चार्वाकको परास्त करें यह स्वाभाविक है। किन्तु इतना करनेके बाद भी जैन और बौद्धों का आपसी शास्त्रार्थ बाकी ही रह जाता है[1]। प्रस्तुत प्रसंगमें शान्त्याचार्यने चैतन्यके पार्थक्यकी सिद्धि करके ही शास्त्रार्थ पूर्ण किया है किन्तु अन्यत्र अनेकान्तवाद की सिद्धिके प्रसंगमें (पृ० ११७) बौद्धसंमत द्रव्याभाव का निरास किया है।

बौद्धोंके मतसे चित्तक्षण एकान्त क्षणिक हैं। क्षणिक चित्तोंका उत्तरोत्तर उत्पाद निरन्तर होता रहता है। निरन्तर अपरापर सदृश चित्त क्षणोंकी उत्पत्तिके कारण सादृश्यमें एकत्वका भ्रम होता है और द्रष्टा इन अनेक चित्तक्षणोंकी संतति – धाराको एक वस्तु समज लेता है।

---

१. "सत्यम्, अनाद्यनन्तं चैतन्यं संतानापेक्षया न पुनरेकान्वयिद्रव्यापेक्षया, क्षणिकचित्तानामन्वयानुपपत्तेरित्यपरः। सोऽप्यनात्मज्ञः। तदनन्वयत्वस्य अनुमानबाधितत्वात्। तथा हि। एकसन्तानगाश्चित्तपर्यायास्तत्त्वतोऽन्विताः। प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् मृत्पर्याया यथेदृशाः॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३३।

संतति या संतान एक वस्तु नहीं किन्तु काल्पनिक है, अवस्तु है । अर्थात् अनुयायि कोई जीव द्रव्य संसारमें वस्तुभूत नहीं, काल्पनिक है । और ऐसे अनेक सर्वथा पृथक्भूत काल्पनिक संतान संसारमें विद्यमान हैं जिन्हें हम नाना नामोंसे पुकारते हैं ।

जैन दार्शनिकोंका कहना है कि वस्तुभूत एकत्वका यदि निह्नव किया जाय अर्थात् अनुयायि जीव द्रव्यका निह्नव किया जाय तब संतानकी ही घटना नहीं हो सकती है[1] । संतानकी घटना प्रतीत्यसमुत्पादके बल पर अर्थात् कार्यकारणभावके बल पर की जाती है । पर कार्योत्पत्तिके लिये यह आवश्यक है कि कारण, कार्यके कालमें भी मौजूद रहे । क्षणिकवादमें ऐसा संभव नहीं । यदि समसामयिकोंमें सव्येतर गोशृंगवत् कार्यकारणभाव बाधित मानकर कारणकी स्थिति कार्यकालमें न मानी जाय तो कारणको पूर्वकालमें और कार्यको उत्तरकालमें मानना होगा । किन्तु प्रतिनियत पूर्वभावी वस्तुको ही प्रतिनियत उत्तरभाविकार्यका कारण मानने के लिये अर्थात् प्रतिनियत वस्तुओंमें ही कार्यकारणभाव माननेके लिये यह आवश्यक हो जाता है कि उन पूर्वापरभावि कारण और कार्यमें अन्यकी अपेक्षा अतिशय या प्रत्यासत्तिविशेष माना जाय अन्यथा कार्यकारणभावकी व्यवस्था हो नहीं सकती । सब सबका कार्य या कारण हो जायगा । वह अतिशय या प्रत्यासत्ति और कुछ नहीं किन्तु कथंचिदैक्य ही है अर्थात् द्रव्य ही है[2] ।

पृ० ४५. पं० २६. **'जन्मादौ'** तुलना–"**प्राणिनामाद्यं चैतन्यं चैतन्योपादानकारणकं चिद्विवर्तत्वात् मध्यचैतन्यविवर्तवत् ।**" अष्टस० पृ० ६३ ।

पृ० ४५. पं० २७. **'अभ्यासपूर्विका'** तुलना–"**पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य हर्षभयशोकसंप्रतिपत्तेः । प्रेत्याहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषः ।**" न्यायसू० ३.१.१९, २२ । न्यायमं० वि० पृ० ४६९ । बृहती पृ० २०७ । तत्त्वसं० पं० पृ० ५३२ । प्रमेयक० पृ० ११९ । न्यायकु० पृ० ३४७ ।

पृ० ४६. पं० ४. **'अथ'** यहाँ से लेकर पं० १९ पर्यन्त शब्दशः प्रमाणवार्तिकालंकारके पृ० ६७ से उद्धृत है ।

पृ० ४६. पं० ४. **कार्यकारणभावः'** कार्यकारणभाव व्यवस्थित नहीं हो सकता है इस बातका समर्थन भर्तृहरिने भी किया है । देखो वाक्यप० १.३२ से । भर्तृहरिके इस मतका खण्डन धर्मकीर्तिने किया है–हेतुबिन्दु पृ० १५३ ।

तुलना–प्रमाणवा० ३.३३–३७ । तत्त्वसं० का० १४६०–१४६२, १४७५–७७ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १४९ । अष्टश० अष्टस० पृ० ७१–७२ । सन्मति० टी० पृ० ५०, ७० । प्रमेयक० पृ० ११८, ५१३ ।

पृ० ४६. पं० २०. **'न च'** यह पंक्ति गद्यमें है । किन्तु पद्यरूपसे छपी है । **'चेतसः'** के बाद का पूर्णविराम तथा अवतरणचिह्न निकाल देना चाहिए ।

यहाँ से लेकर आगेका भाग प्रमाणवार्तिकालंकार पृ० १०५ से उद्धृत है ।

पृ० ४६. पं० २७. **'अपूर्वोत्पत्तस्य'** प्रमाणवा० अलं० पृ० १०६ ।

---

१. आप्तमी० का० २९ । २. अष्टशती का० २९ । न्यायकु० पृ० ९ ।

पृ० ४६. पं० ३०. 'अथ' 'अथ' शब्दके बाद अवतरण चिह्न रखना चाहिए। कोष्ठकान्तर्गत पाठ निकाल देना चाहिए।

पृ० ४६. पं० ३०. 'देहात्मिका' तुलना – प्रमाणवा० अलं० पृ० ६५। व्यो० पृ० ३९३।

पृ० ४७. पं० १७. 'अथ यदि' प्रमाणवा० अलं० पृ० ७०।

पृ० ४७. पं० २६. 'यतो मृतस्य' प्रमाणवा० अलं० पृ० ८९।

पृ० ४७. पं० २९. 'अथ वैगुण्य' प्रमाणवा० अलं० पृ० ९०।

पृ० ४८. पं० ९. 'तथा हि' प्रमाणवा० अलं० पृ० ९३।

पृ० ४८. पं० १३. 'किञ्च' प्रमाणवा० अलं० पृ० ९३।

पृ० ४८. पं० २७. 'चक्षुरादीनि' प्रमाणवा० अलं० पृ० ७०।

पृ० ४९. पं० ५. 'प्राणापान' प्रमाणवा० अलं० पृ० ८४।

पृ० ४९. पं० १६. 'अथ स्थिरो वायुः' वही।

पृ० ४९. पं० २२. 'नापि देहाश्रितम्' – प्रमाणवार्तिकमें आश्रयाश्रयिभावका निरास करके देहाश्रितचैतन्यका निरास किया गया है – प्रमाणवा० १.६५–७४। उसीके आधार पर प्रज्ञाकरने जो विवरण किया है वही यहाँ उद्धृत है – अलं० पृ० ९६। अष्टस० पृ० १८६। तत्त्वार्थश्लो० पृ० १५१।

पृ० ५०. पं० २६. 'नापि कायात्मकम्' प्रमाणवा० अलं० पृ० १११।

पृ० ५०. पं० २८. 'अन्तःस्प्रष्टव्य' प्रमाणवा० अलं० पृ० १०६।

पृ० ५१. पं० १. 'अथ' वही पृ० ८६।

पृ० ५१. पं० ८. 'अथ' वही पृ० ७२।

पृ० ५१. पं० ११. 'चैतन्येन' शरीरादिसे अतिरिक्त आत्मतत्त्वकी सिद्धिके लिये देखो – न्यायसू० ३.१। न्यायमं० वि० पृ० ४३७। व्यो० ३९१। श्लोकवा० आत्मवाद। प्रमाणवा० १.३७। तत्त्वसं० का० १८५७–१९६४। ब्रह्मसू० शां० ३.३.५३। धर्मसंग्रहणी गा० ३६–। विशेषा० गणधरवाद। अष्टस० पृ० ६३। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६। प्रमेयक० पृ० ११०। न्यायकु० पृ० ३४१। स्याद्वादर० पृ० १०८०।

पृ० ५१. पं० १७. 'अन्त्यसामग्र्य' इस कारिकाकी टीकामें मीमांसक और धर्मकीर्ति संमत सर्वज्ञखण्डन को विस्तारसे पूर्वपक्षरूपसे उपस्थित करके सर्वज्ञकी सिद्धि की गई है। पूर्वपक्ष को उपस्थित करनेमें गद्यकी अपेक्षा पद्य का ही विशेष अवलम्बन लिया है। क्योंकि मूल पूर्वपक्ष मीमांसाश्लोकवार्तिक और प्रमाणवार्तिकमें कारिकाबद्ध ही है। और शान्तरक्षितने भी सर्वज्ञसिद्धिके प्रसंगमें कुमारिलसंमत पूर्वपक्ष कारिकाओंमें ही उपस्थित किया है। शान्त्याचार्यने प्रायः सभी पूर्वपक्षकी कारिकाएँ उक्त तीनों ग्रन्थोंसे ही उद्धृत करके पूर्वपक्षकी योजना की है। कुछ कारिकाएँ ऐसी हैं जो उक्त ग्रन्थोंमें नहीं हैं। उन्हें शायद शान्त्याचार्यने स्वयं निबद्ध किया हो या अन्य किसी ग्रन्थसे उद्धृत किया हो।

सर्वज्ञवादके तुलनात्मक ऐतिहासिक विवेचन के वास्ते जिज्ञासुओंको प्रमाणमीमांसाका भाषाटिप्पण (पृ० २७) देखना चाहिए।

उत्पादादिसिद्धिके कर्ताने सर्वज्ञवादकी चर्चा, शान्त्याचार्यकी इस टीका के आधारसे ही की हो ऐसा दोनोंकी तुलना करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है—उत्पादा० पृ० २०९ ।

पृ० ५१. पं० २९. 'पूर्वमेव' देखो, पृ० २९ ।

पृ० ५६. पं० १०. 'दशोत्पाद्यापि' देखो, पृ० ५२. पं० १–५ ।

पृ० ५६. पं० २४. 'नियोगः' प्रज्ञाकरने प्रमाणवार्तिकालंकारके प्रारम्भमें ही नियोगवाद, विधिवाद और भावनावादका विस्तारसे खण्डन करके अपोहवादकी स्थापना की है । अष्टसहस्री[1] और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें विद्यानन्दने इन वादोंके विवेचनमें उक्त ग्रन्थसे प्रायः शब्दशः उद्धरण किया है । प्रस्तुतमें शान्त्याचार्यने भी नियोग, भावना और विधिवादका खण्डन करनेके लिये प्रज्ञाकरका ही अनुसरण किया है ।

इन वादोंके विषयमें तुलनात्मक दृष्टिसे विशेष जाननेके लिये न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ५५१) और उसकी संपादककृत टिप्पणियाँ देखने योग्य हैं । तथा देखो, सन्मति० टी० पृ० १७३ ।

पृ० ५६. पं० २८. 'प्रचण्डप्रभु' तुलना—प्रमाणवा० अ० पृ० ८ ।

पृ० ५७. पं० २. 'विपर्ययात्' तुलना—वही ।

पृ० ५७. पं० ११. 'तद्धर्मतायामपि' तुलना—वही पृ० ९ ।

पृ० ५७. पं० २०. 'एतच्च' तुलना—वही पृ० १४ ।

पृ० ५७. पं० २५. 'अथ शब्दात्' तुलना—वही पृ० १० ।

पृ० ५८. पं० १. 'भावना' तुलना—वही० पृ० १८ ।

पृ० ५८. पं० ३७. 'उक्तम्' देखो, पृ० ५२. पं० २३ ।

पृ० ५९. पं० १. 'तुल्यजातीय' तुलना—"यस्माच्च तुल्यजातीयपूर्वबीजप्रवृद्धयः । कृपादिबुद्धयस्तासां सत्यभ्यासे कुतः स्थितिः ॥" प्रमाणवा० १.१२८ । तत्त्वसं० का० ३४१४ ।

पृ० ५९. पं० ९. 'धर्माधर्मज्ञता' तुलना—"स्वधर्माधर्ममात्रज्ञसाधनप्रतिषेधयोः । तत्प्रणीतागमग्राह्यहेयत्वे हि प्रसिद्ध्यतः ॥ ३१४० ॥ तत्र सर्वजगत्सूक्ष्मभेदज्ञत्वप्रसाधने । अस्थाने क्लिश्यते लोकः संरम्भाद् ग्रन्थवाद्योः ॥ ३१४१ ॥ निःशेषार्थपरिज्ञानसाधने विफलेऽपि च । सुधियः सौगता यत्नं कुर्वन्त्यन्येन चेतसा ॥ ३३०८ ॥ स्वर्गापवर्गसंप्राप्तिहेतुज्ञोऽस्तीति गम्यते । साक्षान्न केवलं किन्तु सर्वज्ञोऽपि प्रतीयते ॥ ३३०९ ॥ तत्त्वसं० । "मुख्यं हि तावत् स्वर्गमोक्षसंप्रापकहेतुज्ञत्वसाधनं भगवतोऽस्माभिः क्रियते, यत्पुनरशेषार्थपरिज्ञातृत्वसाधनमस्य तत् प्रासङ्गिकम्, अन्यत्रापि भगवतो ज्ञानप्रवृत्तेर्बाधकप्रमाणाभावात् साक्षादशेषार्थपरिज्ञानात् सर्वज्ञो भवन् न केनचिद्बाध्यत इति ।" तत्त्वसं० पं० पृ० ८६३ ।

पृ० ५८. पं० १५. 'जे एगं जाणइ' तुलना "यथोक्तं—'भावस्यैकस्य यो द्रष्टा द्रष्टा सर्वस्य स स्मृतः । एकस्य शून्यता यैव सैव सर्वस्य शून्यता ॥'' इति । "आर्यगगणगञ्जसमाधिसूत्रेऽपि—'एकेन धर्मेण यु सर्वधर्मान्, अनुगच्छते मायमरीचिसदृशान् । अगाह्य-

---

1. अष्टसहस्री पृ० ५ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६१ ।

तुच्छनालिकानशाश्वताम् सो बोधिमण्डं न चिरेण गच्छति ॥' इति।" मध्यमकवृत्ति पृ० १२८। विशेषा० गा० ३२०। स्याद्वादमं० का० २४।

पृ० ५९. पं० १५. 'सकलकर्म' तुलना–प्रमाणवा० अ० पृ० २३५।

पृ० ५९. पं० १८. 'यथाहि' तुलना वही० पृ० ५११।

पृ० ६०. पं० २. 'संख्या' तुलना–"**विप्रतिपत्तिनिराकरणार्थं शास्त्रम्। संख्यास्वरूपगोचरफलविषया चतुर्विधा चात्र विप्रतिपत्तिः।**" प्रमाणसमु० टी० १.२। न्यायबि० टी० पृ० ९। न्याया० टी० पृ० ८।

द्वितीयपरिच्छेदः।

पृ० ६०. पं० ५. 'ज्ञात्रपेक्षं' तुलना–"**अयमत्राभिप्रायः–स्वसंवेदनं प्रति निखिलज्ञानानामेकरूपतया साक्षात्करणचतुरत्वात् नास्त्येव भेदः, बहिरर्थं पुनरपेक्ष्य कश्चित् चक्षुरादिसामग्रीबललब्धसत्ताकः स्वावयवव्यापिनं कालान्तरसंचरिष्णुं स्थगितक्षणविवर्तमलक्षितपरमाणुपारिमाण्डल्यं संनिहितं विशदनिर्भासं सामान्यमाकारं साक्षात्कुर्वाणः प्रकाशः प्रथते तत्र प्रत्यक्षव्यवहारः प्रवर्तते। यः पुनर्लिङ्गशब्दादिद्वारेण नियतानियतसामान्याकारावलोकी परिस्फुटतारहितः स्वल्वात्मनोऽर्थग्रहणपरिणामः समुल्लसति स परोक्षतां स्वीकरोति।**" न्याया० टी० पृ० २५।

पृ० ६०. पं० ५. **'प्रमेयस्य'** शान्त्याचार्यने द्वितीयपरिच्छेदके प्रारम्भमें दो बातें कही हैं–

(१) प्रमेय दो हैं–प्रत्यक्ष और परोक्ष।

(२) प्रमेय दो हैं अत एव प्रमाण भी दो हैं–प्रत्यक्ष और परोक्ष।

शान्त्याचार्यके इस कथनको समझनेके लिये बौद्ध विद्वान् दिग्नाग और धर्मकीर्तिके ऐसे ही मन्तव्योंका थोड़ा स्पष्टीकरण आवश्यक है। क्योंकि इन दोनों बातोंका जैनदर्शनमें प्रवेश और स्पष्टीकरण, उन्हीं दोनोंकी विचारधाराके आधार पर हुआ है।

जैनाचार्योंने इन बातोंको अपनाकर भी जैनदार्शनिक दृष्टिका पुट उन पर दिया है। अत एव तुलनाके साथ साथ विषमताका स्पष्टीकरण और समन्वय भी दिखाना आवश्यक हो जाता है। इस लिये निम्नलिखित मुद्दों पर यहाँ विचार किया जाता है–

१–दिग्नागसम्मत प्रमाणविप्लव।
२–धर्मकीर्तिसम्मत स्वलक्षण और सामान्यका भेद।
३–धर्मकीर्तिसम्मत एक ही प्रमेय।
४–धर्मकीर्तिसम्मत प्रमाणविप्लव।
५–धर्मकीर्तिके मतका संक्षेप।
६–जैनदार्शनिकोंका अभिमत, उसका बौद्धोंसे साम्य-वैषम्य तथा समन्वय।
७–जैनसम्मत प्रमाणविप्लव और सम्प्लव।

१–दिग्नागने प्रमाणसमुच्चयकी स्वोपज्ञ वृत्तिमें स्पष्ट कहा है कि प्रमेय दो प्रकारका है अत एव दो ही प्रमाण हैं। स्वलक्षण और सामान्यके अतिरिक्त प्रमेय नहीं है। टीकाकारने

स्पष्टीकरण किया है कि स्वलक्षणको विषय करनेवाला प्रत्यक्ष ही है और सामान्यविषयक अनुमान ही है[1]।

भावार्थ यह है कि प्रमाणसंप्लव नहीं किन्तु प्रमाणविप्लव दिग्नागसंमत है । अर्थात् एक प्रमेयको विषय करने वाले दो प्रमाण नहीं हैं और साथ ही एक प्रमाणके अनेक विषय भी नहीं[2] हैं। बौद्धसंमत क्षणिकवादमें से ही उक्त सिद्धान्त फलित हुआ है।

२ – धर्मकीर्ति दिग्नागके प्रमाणसमुच्चयका वार्तिककार है । अत एव उसने इस विषयकी गंभीर चर्चा की है। उसने भी दिग्नागके मूल कथनको दोहराया है–

"मानं द्विविधं विषयद्वैविध्यात् शक्त्यशक्तितः।
अर्थक्रियायां, केशादिर्नार्थोऽनर्थाधिमोक्षतः॥" प्रमाणवा० २.१ ।

धर्मकीर्तिने दोनों विषयोंका स्पष्टीकरण विस्तारसे किया है। किन्तु स्वलक्षण और सामान्यके भेदको संक्षेपमें इस प्रकार अवगत करना चाहिए – प्रमाणवा० २.१–३,२७,२८,५०–५१ ।

स्वलक्षण	सामान्य
१ अर्थक्रियामें शक्त	१ अर्थक्रियामें अशक्त
२ असदृश – सर्वतो व्यावृत्त	२ सदृश – सर्वव्यक्तिसाधारण
३ शब्दाविषय – अवाच्य	३ शब्दविषय – वाच्य
४ स्वातिरिक्तनिमित्तके होने पर स्वविषयक बुद्धिका अभाव	४ स्वातिरिक्तनिमित्तके होने पर स्वविषयक बुद्धिका सद्भाव ।
५ परमार्थसत् – अकल्पित	५ संवृतिसत् – कल्पित
६ सस्वभाव	६ निःस्वभाव
७ वस्तु	७ अवस्तु
८ असाधारण	८ साधारण
९ संकेतस्मरणानपेक्षप्रतिपत्तिकत्व	९ संकेतस्मरणसापेक्षप्रतिपत्तिकत्व
१० सन्निधानासन्निधानसे स्फुट या अस्फुट रूप प्रतिभासभेदका जनक	१० सन्निधानासन्निधानसे स्फुट या अस्फुट रूप प्रतिभासभेदका अजनक[3] ।

३ – इस प्रकार स्वलक्षण और सामान्यका भेद सिद्ध करके धर्मकीर्तिने सूचित किया है कि परमार्थसत् तो स्वलक्षण ही है और सामान्य काल्पनिक है। अत एव सामान्य भाव, अभाव और उभयाश्रित है,[4] स्वतन्त्र नहीं । जब सामान्यकी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं तब वस्तुतः प्रमेय एक ही है[5]। और वह स्वलक्षण ही है। उसीसे अर्थक्रियाकी सिद्धि होती है अत एव प्रमाता उसीकी सत्ता या असत्ताकी विचारणामें तत्पर होता है[6]।

---

१. प्रमाणसमु० १.२ । २. "विजानाति न विज्ञानमेकमर्थद्वयं यथा । एकमर्थं विजानाति न विज्ञानद्वयं तथा"–सर्वार्थसिद्धिमें उद्धृत १.१२ । ३. "यस्यार्थस्य सन्निधानासन्निधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासभेदः तत् स्वलक्षणम् ।···अन्यत् सामान्यलक्षणम् ।" न्यायवि० पृ० २३–२४ । ४. "सामान्यं त्रिविधं तच्च भावाभावोभयाश्रयात्" प्रमाणवा० २.५१ । ५. "मेयं त्वेकं स्वलक्षणम्" प्रमाणवा० २.५३ । ६. तस्मादर्थक्रियासिद्धेः सदसत्ताविचारणात्"–प्रमाणवा० २.५४ ।

यहाँ प्रश्न होता है कि यदि प्रमेय एक ही है तब दि ग्ना ग ने दो प्रमेय माना है और स्वयं ध र्म की र्ति ने भी प्रारम्भमें प्रमेयद्वैविध्य बताया है उसकी क्या गति होगी ? । इस प्रश्नका उत्तर ध र्म की र्ति ने दिया है कि प्रमेय एक ही है किन्तु उसका ज्ञान दो प्रकारसे होता है । अत एव प्रमेयका द्वैत घट सकता है । उसका कहना है कि एक ही प्रमेयकी गति – ज्ञान स्व-पररूपसे होती है । स्वलक्षणका 'स्व'रूप प्रत्यक्ष गम्य है । और 'पर'रूप अनुमानगम्य है । स्वलक्षणका असाधारणरूप 'स्व'रूप है और वही प्रत्यक्षका विषय है । स्वलक्षणका 'पर'रूप सामान्य है या साधारणरूप है । यह साधारणरूप 'पर'रूप इसी लिये है कि वह आरोपित है – कल्पित है और वही अनुमानगम्य है[1] ।

'सामान्य तो आरोपित है अत एव असत् होनेसे प्रमेय हो नहीं सकता इस लिये तद्विषयक अनुमानका प्रामाण्य पृथक् माना नहीं जासकता' चा र्वा क की इस शंकाका भी समाधान ध र्म-की र्ति ने किया है । उसने चा र्वा क की इस बातको तो मान ही लिया कि असत् प्रमेय हो नहीं सकता[2] । किन्तु साथ ही अनुमानके प्रामाण्यको भी दूसरे ढंगसे सिद्ध किया[3] है । प्रस्तुतमें ध र्म की र्ति के अभिप्रायको टीकाकारने स्पष्ट किया है कि स्वलक्षण ही पररूपसे अवगत होता है तब सामान्यलक्षण कहा जाता है । और वह तो सत् ही है अत एव वह अप्रमेय कैसे ? इस लिये उसका साधन भी प्रमाण ही है[4] । यह स्पष्टीकरण धर्मकीर्तिके विचारका विवरण है, टीकाकारकी अपनी सूझ नहीं ।

४ – एक ही प्रमेय को उपर्युक्त रीतिसे दो प्रकारका सिद्ध करके ध र्म की र्ति ने उसी दि ग्ना ग सम्मत प्रमाणविप्लववादका समर्थन किया है । और प्रतिपादित किया है कि प्रमेय दो हैं अत एव प्रमाण भी दो होने चाहिए । इस विषयमें प्रमाणसंप्लववादीकी ओरसे या चार्वाककी ओरसे जो शंकाएँ होती हैं, उसका समाधान करके दिग्नागके मतका स्पष्टीकरण भी धर्मकीर्तिने किया है ।

प्रत्यक्ष ही सामान्य विषयक हो तो क्या बाधा है इस शंकाका समाधान यों किया है कि प्रत्यक्ष निर्विकल्पक होता है और सामान्यका ग्रह विकल्पके विना नहीं होता । अत एव सामान्यग्राहक प्रत्यक्ष हो नहीं सकता किन्तु अनुमानको ही उसमें प्रमाण मानना चाहिए – प्रमाणवा० २.७५ ।

सामान्यविशेषात्मक तृतीयप्रमेयका असंभव सिद्ध करके उसने प्रमेयद्वित्वके नियमसे प्रमाणद्वित्वका नियम स्थिर किया है – वही० २.७६–८० ।

५ – ध र्म की र्ति के मतका संक्षिप्त सार यह है कि प्रमेय वस्तुतः एक ही है किन्तु उसी एक ही वस्तुकी स्व और पर रूपसे होनेवाली प्रतीतिके आधार पर ही प्रमेयके दो भेद हैं – स्वलक्षण और सामान्य । स्वलक्षण प्रत्यक्ष कहा जाता है क्योंकि वह प्रत्यक्ष प्रमाणका विषय है और

---

१. "तस्य स्वपररूपाभ्यां गतेर्मेयद्वयं मतम् ॥" प्रमाणवा० २.५४ । "तस्य स्वलक्षणस्य प्रत्यक्षतः स्वरूपेण, अनुमानतः पररूपेण सामान्याकारेण गतेः मेयद्वयं मतं न तु भूतसामान्यस्य सत्त्वात् ॥" मनो०
२. "एकमेवाप्रमेयत्वादसतश्चेन्मतं च नः" – प्रमाणवा० २.६४ । ३. वही २.६५ से ।
४. "स्वलक्षणमेव तु पररूपेण गतेः सामान्यलक्षणमिष्टम्, तच्च सदेवेति कथम् अप्रमेयम् ? ततः तत्साधनमपि प्रमाणमेव ।" मनो० २.६५ ।

सामान्य परोक्ष कहा जाता है क्योंकि वह परोक्ष प्रमाण—अनुमानका विषय है। अत एव दो ही प्रमेय होनेके कारण प्रमाण भी दो ही हैं[1]।

परोक्षार्थप्रतिपत्तिका साधन मात्र अनुमान ही है अन्य शाब्दादि नहीं[2]। जो भी परोक्ष प्रमेय हो वह सब कभी विशेषरूपसे—असाधारणरूपसे प्रतीतीका विषय नहीं हो सकता[3]। गमकानुयायी सामान्यरूपकी ही प्रतीति लिङ्गसे होती है अत एव सर्वतोव्यावृत्त स्वलक्षणरूप विशेषकी प्रतीति अनुमानसे कभी नहीं हो सकती। उसे तो *प्रत्यक्ष ही विषय करता है।*

६—जैन दार्शनिकोंने भी वस्तुतः प्रमेय एक ही माना है। और वह है द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु[4]। उस एक ही वस्तुकी विज्ञप्ति अनेक प्रकारकी हो सकती है। एक ही वृक्ष प्रमातासे दूरीके कारण या अन्धकारके कारण अस्पष्टप्रतिभासका विषय बनता है और वही सन्निकट हो तब स्पष्ट प्रतिभासका विषय होता है। किसी वस्तुके सन्निहित होने पर या आलोकके होने पर उसका स्पष्ट प्रतिभास होता ही है यह भी नियम नहीं है; क्योंकि अंजनशलाकाका नेत्रसे अतिसन्निधान होने पर भी चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता। और आलोकके होने पर भी घूकादिको दिनमें स्पष्ट प्रतिभास होता नहीं। अत एव मानना यह चाहिए कि वस्तुतः प्रमाताकी नाना प्रकारकी शक्ति या योग्यताके कारण ही नाना प्रकारका ज्ञान होता है[5]। अर्थात् प्रमेयमें भेद न होते हुए भी उसकी नाना प्रकारकी विज्ञप्तिमें प्रमाता या उसकी शक्तियाँ ही नियामक तत्त्व हैं। विज्ञप्तिके भेदसे प्रमेयमें वस्तुतः भेद नहीं माना जा सकता किन्तु प्रमाता या उसकी शक्तिओंमें ही भेद मानना उचित है। इन नाना प्रकारकी विज्ञप्तिओंके आधार पर प्रमेयमें भी भेदकी कल्पना उपचारसे की जा सकती है। अर्थात् प्रतीति यदि अस्पष्ट हो तो प्रमेय को भी अस्पष्ट और यदि प्रतीति स्पष्ट हो तब प्रमेयको भी स्पष्ट कहा जा सकता है। ऐसी स्थितिमें विषयी अर्थात् ज्ञानके धर्मका विषय अर्थात् प्रमेयमें उपचार करके ही उक्त व्यवहारोंकी संगति कर लेना चाहिए।

धर्मकीर्तिने प्रमेय एक ही मानकर स्व और पर रूपसे उसीकी प्रतीतिके आधार पर उसका द्वैविध्य सिद्ध किया है वैसे ही जैन दार्शनिकोने भी द्रव्यपर्यायात्मक एक वस्तुको ही प्रमेय मानकर सामग्रीके भेदसे उसीकी विशद और अविशद रूपसे होनेवाली प्रतीतिके आधार पर उसे प्रत्यक्ष और परोक्ष कहा है—देखो का० १३।

इस प्रकार जैन और बौद्ध दोनोंमें वस्तुके स्वरूपके विषयमें मतभेद होते हुए भी प्रमेय एक ही है और वही अपेक्षाकृत नाना है इस विषयमें मतैक्य है।

---

१. "न प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यां मेयस्यान्यस्य संभवः। तस्मात् प्रमेयद्वित्वेन प्रमाणद्वित्वमिष्यते॥" प्रमाणवा० २.६३। २. "परोक्षार्थप्रतिपत्तेरनुमानाश्रयत्वात्" हेतु० पृ० ३। "सानुमानं परोक्षाणामेकान्तेनैव साधनम्।"—प्रमाणवा० २.६२। ३. "गमकानुगसामान्यरूपेणैव तदा गतिः। तस्मात् सर्वः परोक्षार्थो विशेषेण न गम्यते॥" प्रमाणवा० २.६१। ४. "अनेकान्तात्मकं वस्तु गोचरः सर्वसंविदाम्।" न्याया० का० २९। तद्द्रव्यपर्यायात्मार्थो बहिरन्तश्च तत्त्वतः॥" लघी० ७। ५. "मलविद्धमणिव्यक्तिर्यथाऽनेकप्रकारतः। कर्मविद्धात्मविज्ञप्तिस्तथानेकप्रकारतः॥" लघी० ५७। अष्टस० पृ० २९–३० १२४,१८४,२२६। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २२९। प्रमेयक० २.३। स्याद्वादर० २.२।

न्या या व ता र (का० १) में इतना ही कहा गया कि प्रमेयका विनिश्चय दो प्रकारका है अत एव प्रमाण भी दो हैं। शा न्त्या चा र्य ने वार्तिकमें स्पष्टीकरण किया कि वस्तुनः प्रमेय एक है किन्तु ज्ञाता की अपेक्षासे उसका द्वैविध्य मानना चाहिए। जिसके दूर-आसन्न होनेपर प्रतिभास भेद हो अर्थात् अस्पष्ट या स्पष्ट प्रतिभास क्रमशः होते हों तो वह प्रमेय प्रत्यक्ष कहा जाता है और इसके विपरीत जो हो वह परोक्ष है। धूमादिलिङ्गज्ञानद्वारा अनुमित वह्नि दूर या आसन्न हो तब भी तत्कृत प्रतिभासभेद देखा नहीं जाता अत एव वह्नि परोक्ष प्रमेय है। फलितार्थ यह है कि एक ही वह्नि किसी प्रमाताकी अपेक्षासे प्रत्यक्ष और किसी अन्यकी अपेक्षासे परोक्ष हो सकता है। एक ही प्रमेयके दो रूप होनेसे प्रमाण भी दो ही हैं। शा न्त्या-चा र्य जिसे प्रत्यक्ष प्रमेय कहते हैं उसे ही ध र्म की र्ति स्वलक्षण कहते हैं—

"यस्यार्थस्य सन्निधानासन्निधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासभेदः, तत् स्वलक्षणम्।" न्याय-बिन्दु पृ० २२।

और शा न्त्या चा र्य सम्मत परोक्ष प्रमेय ही ध र्म की र्ति सम्मत सामान्य है—

"अन्यत् सामान्यलक्षणम्" न्यायबिन्दु पृ० २४।

"विकल्पविज्ञानेनावसीयमानो ह्यर्थः सन्निधानासन्निधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासं न भिन-त्ति"– न्यायबिन्दुटीका पृ० २४।

शा न्त्या चा र्य ने प्रमेयको प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप कहा है। ध र्म की र्ति भी स्वलक्षणको प्रत्यक्ष और सामान्यको परोक्ष कहता है। जिस प्रकार दि ङ्ना ग और ध र्म की र्ति ने प्रमेय द्वैविध्यके आधार पर प्रमाण द्वैविध्य सिद्ध किया है उसी प्रकार न्या या व ता र और उसके [1]वार्तिकमें भी द्वैविध्य सिद्ध किया गया है। इतना तो जै न और बौ द्ध का साम्य है किन्तु साम्यकी अपेक्षा जो वैषम्य है वह अधिक महत्त्वका है। वैषम्य भी आपाततः माळूम होता है, वस्तुतः वह है नहीं। अत एव उसका विवेचन कम महत्त्वका नहीं है।

बौ द्ध दार्शनिक जैसा कि प्रथम कहा जा चुका है सामान्यको अवस्तुभूत मानते हैं। तब जै न सामान्यको वस्तुभूत मानते हैं। जै न दार्शनिकोंके मतसे वस्तु सामान्य—द्रव्य और पर्याय—विशेषरूप है। अन्य दार्शनिक विरोधादि दोषोंसे भीत हो कर वस्तुको उभयात्मक माननेसे इनकार करते हैं और यही कारण है कि ध र्म की र्ति ने भी उभयात्मक वस्तुवादका निषेध किया है—प्रमाणवा० २.७६–८०। किन्तु जै न दार्शनिकोंको उभयवादमें कोई दोष प्रतीत नहीं होता[2] बल्कि एकान्तवादमें ही दोष माळूम होता है। ध र्म की र्ति ने वस्तुको एक—विशेष रूप माना फिर भी उसने यदि अनुमानके प्रमेयरूपसे प्रतीत सामान्यको स्वलक्षणसे अत्यन्त पृथक् न मानकर स्वलक्षण ही को सामान्यलक्षण माना[3] तब वह स्वलक्षण एकान्तरूपसे विशेषरूप ही है यह बात सिद्ध हो नहीं सकती। तथापि जैसे जै न दार्शनिक स्पष्ट शब्दोंमें वस्तुको उभयात्मक स्वीकृत करते हैं बौ द्ध दार्शनिक वैसा स्वीकार नहीं करके अपने एकान्तवादका समर्थन करते जाते हैं।

---

१ प्रमालक्ष्मकार भी यही मानते हैं–(पृ० ६ तथा का० ३१६) कि प्रमाणसंख्याका नियमन विषयके आधारसे होता है। २. अष्टस० पृ० २२६। ३. "स्वलक्षणमेव तु पररूपेण गतेः सामान्य-लक्षणमिष्टम्। तच्च सदेव।"–प्रमाणवा० मनो०२.६५।

धर्मकीर्तिने वस्तुके स्वरूप और पररूप ऐसे दो रूप माने हैं। जैनोंने भी ये ही दोनों रूप माने हैं। इस अर्थमें दोनोंको उभयवाद इष्ट है फिर भी दोनोंमें मतभेद है। जैनोंके मतसे आपेक्षिक धर्मके मूलमें केवल वासना ही नहीं है[1]। अत एव वस्तुका पररूप आपेक्षिक होते हुए भी स्वरूप के समान ही वास्तविक है। जब कि बौद्धोंके मतसे पररूप कोरी कल्पना के बलसे प्रवृत्त है। उस कल्पनाका उपादान वस्तु नहीं किन्तु वासना है।

इस प्रकार सामान्य यह वस्तुका पररूप है – अत एव कल्पनाभूलक और वासनामूलक है। बौद्धों ने सामान्यकों वासनामूलक मानकर भी अर्थसम्बद्ध माना है अन्यथा मरुमरीचिकाकी कल्पना या आकाशकेशादिकी कल्पना और वह्निकल्पनामें भेद ही क्या? । इस प्रकार दोनों कल्पनाएँ होते हुए भी एक अर्थसे सम्बद्ध है दूसरी असम्बद्ध। जो अर्थसे सम्बद्ध हो वही सामान्य और असम्बद्ध हो वह असत्। इस प्रकार बौद्धोने सामान्यका उपादान वासना मानकर भी उसे अर्थसे सम्बद्ध ही माना है तब जैन सम्मत आपेक्षिक धर्मोंकी वास्तविकता और बौद्ध-सम्मत आपेक्षिक धर्मोंकी अवास्तविकतामें शब्दतः भेद भले ही हो, अर्थतः कुछ भी भेद नहीं है। जैनोंका तो कहना है कि कथञ्चित् तादात्म्यके अभावमें[2] किसी भी प्रकारका सम्बन्ध घटित नहीं हो सकता है। अत एव सामान्यको यदि अर्थसम्बद्ध माना जाय तो वह कथंचित् अर्थाभिन्न ही सिद्ध होगा। ऐसी स्थितिमें वह एकान्तरूपसे अवास्तविक नहीं हो सकता।

७ – पहले ही यह कहा गया है कि बौद्धोंके प्रमाणविप्लववादके मूलमें क्षणिकवाद है। जैनोंको भी पर्यायार्थिक दृष्टिसे क्षणिकवाद इष्ट है। पर्यायनयकी अपेक्षासे वस्तु प्रत्येक क्षणमें नई नई होती है अत एव कोई भी प्रमाण पर्यायनयकी दृष्टिसे गृहीतग्राहि नहीं[3] होता। अत एव जैन दृष्टिसे भी प्रमाणविप्लव स्वतःसिद्ध है। इसी पर्यायवादका आश्रय लेकर प्रस्तुतमें शान्त्याचार्यने प्रमाणविप्लववादका आश्रय लिया है। परन्तु जैनदार्शनिक एकान्तवादी तो है नहीं। वे पर्यायनयके समान ही द्रव्यनयको भी महत्त्व देते हैं। इस लिये प्रमाणसंप्लव भी जैनसम्मत है। द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे वस्तु स्थिर है, नित्य है। अत एव एक ही वस्तुमें अनेक प्रमाणोंकी प्रवृत्ति संभव है। किन्तु भिन्न भिन्न प्रमाणोंमें उपयोगविशेष होने पर ही प्रमाणसंप्लव इष्ट है, अन्यथा नहीं[4]। अर्थात् अग्निविशेषको परोपदेशसे जानकर यदि कोई उसी अग्निको अनुमानसे जानना चाहे तभी उस अग्निमें अनुमानप्रमाणकी प्रवृत्ति हो सकती है। विशेषता यह होगी कि परोपदेशसे अग्निका ज्ञान मात्र सामान्यरूपसे होता है जबकि अनुमानके द्वारा उसी सामान्य वह्निका ज्ञान धूमसम्बद्धरूपसे होता है। उसी अनुमित वह्निको यदि कोई प्रत्यक्ष करना चाहे तो अग्निदेशमें जा कर उसका प्रत्यक्ष ज्ञान भी कर सकता है। किन्तु विशेषता यह होगी कि प्रमाता उस सामान्य वह्निके विशेषधर्म तृणजन्यत्व, पर्णजन्यत्व आदि भी जान लेता है[5]।

---

१. ततो यावन्ति सम्बन्ध्यन्तराणि तावन्तः प्रत्येकं भावस्वभावभेदाः परस्परव्यावृत्ताः। नहि कस्यचित् केनचित् साक्षात्परंपरया वा सम्बन्धो नास्ति इति, निरूपाख्यत्वप्रसङ्गात्" – अष्टश० का० ११। "न चापेक्षिकता व्याहा नीरूपत्वेन" – तत्त्वार्थश्लो० पृ० १५६। २. "तस्य संबन्धिभिः कथंचित् तादात्म्ये कार्यकारणादीनामपि तदेवास्तु।" अष्टस० पृ० २१८। ३. प्रमाणमी० १.१.४। ४. अष्टस० पृ० ४, और १७१। प्रस्तुत वार्तिककी का० २३। ५. प्रमाणसंप्लववाद न्यायवैशेषिकोंको भी इष्ट है – व्यो० पृ० ३२६, ५८६,। कंदली पृ० ६१। न्यायभा० १.१.३।

पृ० ६०. पं० ८. 'ननु' ऐसा ही प्रश्न जैन दार्शनिकोंने बौद्धोंसे भी किया है। देखो प्रमेयक० २.२। स्याद्वादर० पृ० २७०।

इस विषयकी विशेषचर्चाके लिये देखो—प्रमाणवा० अ० पृ० २०७। प्रमाणवा० मनो० २.१।

पृ० ६०. पं० ९. 'अथाकस्माद्' प्रज्ञाकरका यह सिद्धांत है कि परोक्षवह्निविषयक ज्ञान भी प्रत्यक्ष हो सकता है। यदि ज्ञाता अकस्मात् अर्थात् धूम देखकर व्याप्तिस्मरणके बिना ही वह्निकी प्रतीति करता है तब वह वह्निका ज्ञान प्रत्यक्ष कहा जाता है, अन्यथा अनुमान। देखो, प्रमाणवा० अ० पृ० १३५, १४०, ४३६।

प्रज्ञाकरके इस सिद्धान्तके खण्डनके लिये देखो—सन्मति० टी० पृ० १६. पं० २२। प्रमेयक० २.३। स्याद्वादर० २.२।

पृ० ६०. पं० २५. 'अत्रोच्यते' तुलना—"अत्रोच्यते-प्रत्यक्षमपि स्वलक्षणं विषयीकुर्वत् तत्संभवि विजातीयव्यावृत्त्युपकल्पितं सामान्यं पृष्ठविकल्पेन निश्चिन्वत् तद्विषयमपि, निश्चयविषयेण च प्रत्यक्षविषयव्यवस्था। एवन्तर्हि स्वलक्षणविषयता न स्यादिति चेत्। न। सजातीयव्यावृत्तत्वेनापि ततो निश्चयात्। द्वे च व्यावृत्ती स्वलक्षणे स्तो निश्चिते च प्रत्यक्षबलात्। न चैवमपि अनुमानस्य वैयर्थ्यम्। न हि सामान्यमित्येव प्रत्यक्षविषयः, परोक्षे तस्याऽप्रवृत्तेः। न च यदेकदाऽपरोक्षं तत् सर्वदा तथा। स्वलक्षणं कदाचिदपरोक्षमपि अन्यदा परोक्षम्। एवं सामान्यमपि। ततोऽपरोक्षे सामान्ये गृहीतायां व्याप्तौ परोक्षे तस्मिन्ननुमानवृत्तिरिति न कश्चिद्विरोधः। तस्मात् प्रत्यक्षत्वाद्वा विषयद्वैविध्यसिद्धिः, प्रत्यक्षानुमानाभ्यां वेत्युभयथाप्युपपन्नम्।" प्रमाणवा० मनो० २.१।

"न च प्रत्यक्षपरोक्षातिरिक्तप्रमेयान्तराभावप्रतिपादकप्रमाणान्तराभावादसिद्धो हेतुरिति वक्तव्यम्; अध्यक्षेणैव प्रमेयान्तरविरहप्रतिपादनात्। तद्धि पुरःस्थितार्थसामर्थ्यादुपजायमानं तदात्मनियतप्रतिभासावभासादेव तस्य प्रत्यक्षव्यवहारकारणं भवति तदन्यात्मतां च तस्य व्यवच्छिन्दानमन्यदर्थजातं सकलं राश्यन्तरत्वेन व्यवस्थापयत् तृतीयप्रकाराभावं च साधयति। तत्राप्रतीयमानस्य सकलस्यार्थजातस्यान्यत्वेन परोक्षतया व्यवस्थानादन्यथा तस्य तदन्यात्मताऽव्यवच्छेदे तद्रूपतया परिच्छेदो न भवेदिति न किञ्चिदध्यक्षेणावगतं भवेत्।" सन्मति० टी० पृ० ५७३।

पृ० ६१. पं० २. 'दूरासन्नादि' इस कारिकामें प्रत्यक्ष तथा परोक्ष विषयकी व्याख्या की गई है। यह व्याख्या न्यायबिन्दुगत स्वलक्षण और सामान्यकी व्याख्याकी अनुगामिनी है यह बात पूर्व टिप्पणीमें दोनोंकी तुलनाके साथ बताई गई है।

प्रमेयकी विशेषरूपसे अर्थात् पंचज्ञानोंकी दृष्टिसे विवेचना प्रमालक्ष्ममें की गई है जो इस प्रकार है—

"तत्र केवलापेक्षया सर्वस्यापि प्रमेयराशेः प्रत्यक्षत्वात्, अवधिज्ञानापेक्षया रूपिद्रव्यं प्रत्यक्षम् अन्यच्च परोक्षम्। मनःपर्यायज्ञानापेक्षया मानुषोत्तरपर्वतान्तर्वर्तिसंज्ञिमनोद्रव्यं प्रत्यक्षम्, शेषं परोक्षम्। श्रुतमतिद्वयापेक्षया परोक्षमशेषमिति निश्चयतः, व्यवहारेण पुनरिन्द्रियज्ञानं प्रत्यक्षम्, परोक्षं पुनरनुमानमागमश्च।" पृ० ५।

जयन्तने भी प्रमेयकी प्रत्यक्षता और परोक्षता इन शब्दोंमें स्वीकृत की है—

"प्रत्यक्षत्वं परोक्षोपि प्रत्यक्षोपि परोक्षताम्।
देशकालादिभेदेन विषयः प्रतिपद्यते॥" न्यायमं० पृ० ३४।

पृ० ६१. पं० ४. **'तन्निमित्तम्'** प्रमाणभेदका नियामक तत्त्व क्या है इस विषयमें दार्शनिकोंमें निम्नलिखित नाना मत प्रचलित हैं जिनका विवेचन यहाँ संक्षेपसे किया जाता है—

१ बौद्ध तथा कुछ जैनाचार्यसंमत विषयभेद।
२ मीमांसकसम्मत सामग्रीभेद आदि।
३ नैयायिकसम्मत विषय, सामग्री और फलभेद।
४ जैनदार्शनिकसम्मत लक्षणभेद।

१—प्रमेय दो हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष अर्थात् स्वलक्षण और सामान्य। अत एव प्रमाण भी दो हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। परोक्ष प्रमाण सिर्फ अनुमान है। इस बौद्ध मतका विस्तारसे विवेचन पूर्वकी टिप्पणीमें हो चूका है। इससे स्पष्ट है कि बौद्धोंने प्रमाणभेदका नियामक तत्त्व प्रमेयभेदको ही माना है।

बौद्ध प्रमाणसंप्लव न मान कर प्रमाणविप्लव मानते हैं—यह भी कहा जा चुका है। विप्लववादके समर्थनमें एक युक्ति यह भी है कि प्रत्यक्षके विषय स्वलक्षणमें अनुमान-शाब्दादि किसी परोक्ष प्रमाणकी प्रवृत्ति मानना नहीं चाहिए क्योंकि ऐसा होनेपर बुद्धिभेद नहीं घट सकेगा। अर्थात् अनुमान और शाब्द बुद्धि भी प्रत्यक्ष जैसी ही होगी क्योंकि विषयभेद नहीं है। अनुमान और प्रत्यक्षबुद्धिमें भेद तो स्पष्ट है अत एव विषयभेद मानना चाहिए। और उसीके कारण प्रमाणमें भेद हुआ है यह मानना चाहिए[1]।

इसी बात का समर्थन भर्तृहरिने भी किया है—

"अन्यथैवाग्निसंबन्धाद् दाहं दग्धोऽभिमन्यते।
अन्यथा दाहशब्देन दाहार्थः संप्रतीयते॥" वाक्य० २.४२५।

बौद्ध विद्वान् प्रमेयभेदके आधार पर प्रमाणका भेद माने यह तो समझमें आ सकता है क्योंकि उस बात की संगति बौद्ध सम्मत क्षणिकवाद, प्रमाणविप्लव, स्वलक्षण और सामान्य की कल्पना आदि अन्य सिद्धान्तोंसे हो जाती है किन्तु जैन दार्शनिक शान्त्याचार्य जो प्रस्तुत ग्रन्थके प्रणेता हैं और प्रमालक्ष्मकार जिनेश्वर ये दोनों जब उसी बात को मानें तब उसकी संगति जैन दर्शनसंमत अन्य सिद्धान्तोंसे कैसे करना यह एक समस्या है। यह समस्या और भी जटिल हो जाती है जब हम देखते हैं कि अन्य सभी जैन दार्शनिक लक्षणभेदको ही प्रमाणभेदका नियामक मानते हैं और विषयके भेदसे प्रमाणभेद नहीं माना जासकता—यह दृढतापूर्वक सिद्ध करते हैं।

इस विषयमें शान्त्याचार्यका स्पष्टीकरण क्या है उसे देखना चाहिए और उसका जैन सिद्धान्त के साथ मेल बैठता है या नहीं इसकी विवेचना करनी चाहिए। अन्य जैन दार्शनिक प्रमाणोंके विषयरूपसे एक ही द्रव्यपर्यायात्मकवस्तुको मानते हैं। इस बातको स्वीकार करते हुए भी शान्त्याचार्यका कहना है कि एक ही प्रमेय प्रमाताकी अपेक्षासे द्विविध हो जाता

---

१. "तदाहुः—समानविषयत्वे च जायते सदृशी मतिः। न चाध्यक्षधिया साम्यमेति शब्दानुमानधीः॥" न्यायमं० पृ० ३१। "आह च—अन्यदेवेन्द्रियग्राह्यं अन्यः शब्दस्य गोचरः। शब्दात् प्रत्येति भिन्नाक्षो न तु प्रत्यक्षमीक्षते॥" न्यायमं० पृ० ३१। ये दोनों कारिकायें अन्यत्र भी उद्धृत हैं।

है। शान्त्याचार्यकी यह बात जैन सिद्धान्तके प्रतिकूल नहीं है। फिर भी यह तो मानना पड़ेगा कि मूलतः प्रमेयोंका इस प्रकारसे शान्त्याचार्यकृत वर्गीकरणका विचार बौद्धोंके असरसे अछूता नहीं। यही कारण है कि उनकी प्रत्यक्ष प्रमेयकी व्याख्यामें तथा धर्मकीर्तिकृत स्वलक्षणरूप प्रत्यक्ष प्रमेयकी व्याख्यामें वस्तुतः कोई भेद नहीं दीखता। यही बात दोनोंके परोक्ष प्रमेयके विषयमें भी लागू होती है।

दूसरे जैन दार्शनिक प्रमाणसंप्लववाद को एकस्वरसे मानते हैं यह पूर्व टिप्पणमें कहा जा चुका है। ऐसी स्थितिमें प्रमेयभेदके आधार पर प्रमाणका भेद मानने पर शान्त्याचार्यको प्रमाणसम्प्लववाद का त्याग करना पड़ेगा और बौद्धोंकी तरह विप्लववादको अपनाना पड़ेगा। अत एव प्रमाणविप्लववाद जैन सिद्धान्तके प्रतिकूल है या नहीं इस बातका विवेचन होना भी जरूरी है।

प्रमाणसंप्लव मान कर भी जैनोंने मीमांसकोंकी[1] तरह एक ही अर्थके नये नये परिणामोंको प्रमाणका विषय माना है। अर्थात् धर्मीकी एकताके कारण प्रमाणसंप्लव कहा जाता है। वस्तुतः प्रत्येक प्रमाणान्तरमें धर्मी नये रूपमें या यों कहना चाहिए कि प्रत्येक प्रमाणान्तरमें नये नये धर्म प्रतिभासित होते हैं। जैन दर्शनमें धर्म और धर्मीका एकान्त भेद नहीं है, अत एव प्रत्येक प्रमाणका विषय धर्मकी दृष्टिसे भिन्न होते हुए भी धर्मीकी दृष्टिसे अभिन्न ही है। इसी धर्मीकी एकता—अभेदको मुख्य मान कर जैन दार्शनिकोंने प्रमाणसंप्लवका समर्थन किया है। परन्तु इस धर्मी या द्रव्यदृष्टि के अतिरिक्त एक दूसरी दृष्टि भी है जो पर्यायको प्रधानता देती है और वह जैनसंमत भी है। उसीके अनुसार अर्थात् उसी पर्यायदृष्टिसे सोचा जाय तो प्रमाणविप्लववाद जो शान्त्याचार्यके मतसे फलित होता है वह जैन दर्शनके सिद्धान्तसे प्रतिकूल नहीं कहा जा सकता।

प्रमालक्ष्मकारके मतकी संगति भी इसी प्रकार समझ लेनी चाहिए। क्योंकि प्रमालक्ष्मकार भी इसी मतके समर्थक हैं—

"द्विधामेयविनिश्चयादिति वदता ग्रन्थकृता प्रमेयभेदाधीनः प्रमाणभेदः, नापरं निमित्तान्तरमस्येत्येतत् प्रतिपादितम्। तथा च व्यापकानुपलब्ध्या प्रमाणान्तराभावमाह।" पृ० ६। **"एतान्येव प्रमाणानि नापरं विषयादृते"**—प्रमालक्ष्म का० ३१६।

२—बौद्धोंकी तरह मीमांसक कुमारिलके मतसे भी प्रमाणसंप्लव संभव नहीं है; क्योंकि प्रमाण अपूर्वार्थक—अगृहीतग्राहि होना चाहिए[2]। अत एव उनके मतसे विषयभेदसे प्रमाणभेद है। प्रमाणभेदमें सिर्फ विषयभेद ही कारण है यह बात नहीं। उनके मतसे विषयभेदके अतिरिक्त सामग्रीभेद भी कारण है। अनुमानसे शाब्दप्रमाणका भेद सिद्ध करते हुए कुमारिलने कहा है—

"तस्मादननुमानत्वं शाब्दे प्रत्यक्षवद्भवेत्।
त्रैरूप्यरहितत्वेन तादृग्विषयवर्जनात्॥" श्लोकवा० शब्द० १८।

---

१. **"यत्रापि स्यात् परिच्छेदः प्रमाणैरुत्तरैः पुनः। नूनं तत्रापि पूर्वेण सोऽर्थो नावगतस्तथा॥"** श्लोकवा० २.१४। २. मीमांसकोंने एक ही धर्मीमें प्रमाणान्तरकी प्रवृत्ति मानी है फिर भी प्रमाणसंप्लव नहीं माना वह धर्मकी मुख्यता को लेकर ही।

इससे स्पष्ट है कि सामग्री और विषयके भेदसे अनुमान और शाब्दमें पार्थक्य है । इसी प्रकार उन्होंने उपमान, अर्थापत्ति और अभावका पार्थक्य उन्ही निर्दिष्ट दो कारणोंसे सिद्ध किया है – प्रमेयक० पृ० १८३ । स्याद्वादर० पृ० २११ ।

वा दी दे व सू रि के कथनानुसार कु मा रि ल के मतसे अभावप्रमाणका पार्थक्य तीन कारणोंसे फलित है —

"एवं स्वरूपभेदात्, गोचरभेदात्, फलस्य भेदाच्च ।
भिन्नं सिद्धमभावप्रमाणमपरप्रमाणेभ्यः ॥" स्याद्वादर० पृ० २८३ ।

वस्तुतः यदि सामग्रीभेदको प्रमाणभेदका नियामक माना जाय, जैसा कि कु मा रि ल ने सभी प्रमाणोंके विषयमें माना है, तो वि द्या न न्द का कहना है कि कु मा रि ल योगिज्ञानका – सर्वज्ञ ज्ञानका निषेध नहीं कर सकता । क्योंकि उसकी सामग्री कुमारिलसंमत सभी प्रमाणोंसे पृथक् ही है । सामग्रीभेदको प्रमाणभेदका नियामक न मान कर यदि लक्षणभेदको ही नियामक माना जाय तभी प्रमाणसंख्याका ठीक नियमन होता है – तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८०–१८१ ।

३ – 'तुष्यतु दुर्जनः' न्यायसे ज य न्त ने बौ द्ध संमत विषयके भेदसे प्रत्यक्ष और अनुमानका भेद मानकर भी कहा है कि प्रत्यक्ष और अनुमान की सामग्री तथा फलसे, उपमान-शाब्दकी सामग्री तथा फल भिन्न हैं अत एव इन दो कारणों से भी प्रमाणभेद मानना चाहिए । अर्थात् सामग्री और फलभेद भी प्रमाणभेदका नियामक होना चाहिए यह ज य न्त का मत है । न्यायमं० पृ ३३ ।

४ – अन्य सभी दार्शनिकों की चर्चाको देखकर जैन दार्शनिकोंने यही निर्णय किया कि वस्तुतः लक्षणभेद ही प्रमाणभेदका नियामक मानना चाहिए ।

वि द्या न न्द ने बौ द्ध के विषयभेदके सा म ने मी मां स क संमत सामग्रीवादको उपस्थित किया और मीमांसकसंमत सामग्रीवादमें भी पूर्वोक्त दोष बतलाकर लक्षणभेदको ही प्रमाणभेदका नियामक तत्त्व सिद्ध किया है – तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८०–१८१ । प्रमाणप० पृ० ६४ ।

सि द्ध र्षि ने न्या या व ता र के 'द्विधामेयविनिश्चयात्' इस पादका भावार्थ यह किया है कि ज्ञानकी प्रवृत्ति ही दो प्रकारकी होती है – एक तो विशद और दूसरी अविशद । इनके अतिरिक्त और किसी भी प्रकारकी ज्ञानप्रवृत्ति नहीं होती । अत एव प्रमाणका तीसरा प्रकार हो नहीं सकता ।

"न चैतौ प्रकारौ विहाय प्रकारान्तरेण ज्ञानप्रवृत्तिं पश्यामः न चापश्यन्तः प्रमाणान्तरपरिकल्पनं क्षमामहे । न च द्वयोः प्रथमानयोरेकं निह्नुवानं उपेक्षामहे ॥" न्याया० टी० पृ० २५ ।

सि द्ध र्षि ने कहा है कि सामग्रीके भेदसे कोई ज्ञान स्पष्ट होता है और कोई अस्पष्ट । किन्तु ज्ञानकी स्पष्टता या अस्पष्टताका विचार बाह्यार्थ सापेक्ष है । स्वसंवेदनकी दृष्टिसे तो सभी ज्ञान एकसे साक्षात्कारात्मक हैं । सारांश यह है कि बाह्यार्थका ज्ञान दो प्रकारसे होता है विशद और अविशद । अत एव दो ही प्रमाण हैं ।

प्र भा च न्द्र और वा दी दे व सू रि को भी लक्षणभेदसे ही प्रमाणभेद इष्ट है । चक्षुरादि नाना

सामग्रीके कारण चाक्षुषादि अनेक प्रत्यक्ष ज्ञानव्यक्तियाँ हो सकतीं हैं किन्तु उन सभी का एक सामान्य लक्षण वैशद्य होनेसे सभी प्रत्यक्ष प्रमाणमें अन्तर्भूत हो जातीं हैं। इस प्रकार लिङ्ग-शब्दादि नाना सामग्रीके कारण अनुमानागमादि परोक्षज्ञान व्यक्तियाँ अनेक हो सकतीं हैं किन्तु उन सभी का अन्तर्भाव एक परोक्षप्रमाणमें इस लिये होता है कि उन सभी का एक सामान्य लक्षण अवैशद्य है। इस प्रकार प्रमाणभेदका नियामक लक्षणभेद है, विषयभेद नहीं[1]। यहाँ पर यह बात जान लेना चाहिए कि लक्षणभेदसे प्रमाणभेद जैनोंने माना किन्तु सामग्री-भेद, विषयभेद इत्यादि ही लक्षणभेदके नियामक तत्त्व हैं।

पृ० ६१. पं० ११. 'इह प्रामाण्यं' तुलना–"**प्रमाणभेदव्यवस्थापको हि विषयभेद एव। तदभेदे गृहीतग्राहितया प्रामाण्याभावापत्तेः। कथमन्यथा अनधिगतार्थाधिगन्तृ प्रमाणमिति प्रमाणलक्षणं प्रणीयते। किन्तु अर्थक्रियार्थिनो नान्यद्विषयान्तरमस्ति यत् परिच्छिन्दद् अन्यत् प्रमाणान्तरं स्यात्। न चाविषयस्य प्रमाणचिन्तया किञ्चिद्, अर्थ-क्रियोपयोगिन एव चेतसः प्रमाणतयेष्टेरिति**"–प्रमालक्ष्म पृ० ७५।

पृ० ६१. पं० १६. 'इयं चाग्रे' वार्तिककी आगे आनेवाली कारिकाओंमें 'प्रत्यक्ष और परोक्षके अतिरिक्त और कोई प्रमाण अर्थवत् नहीं है' इसी व्यापकानुपलब्धिकी सिद्धि की गई है–का० १४–१६।

पृ० ६१. पं० २१. 'प्रमाणेतर' यह कारिका धर्मकीर्ति की है–"तदुक्तं धर्मकीर्तिना–'प्रमाणेतर' इत्यादि प्रमाणप० पृ० ६४। स्याद्वादर० पृ० २६८।

पृ० ६२. पं० ५. 'सादृश्यं' तुलना–"**गवयस्योपलम्भे च तुरङ्गादौ प्रवर्तते। तद्वैसा-दृश्यविज्ञानं यत्तदन्या प्रमा न किम्॥**" तत्त्वसं० का० १५५९। प्रमाणवा० अलं० पृ० ५७४। लघी० १९।

पृ० ६२. पं० ६. 'यथा' उपमानका यह उदाहरण मीमांसककी दृष्टिसे दिया है।

पृ० ६२. पं० ६. 'उपमानं' उपमानके १–स्वरूप, २–प्रामाण्य, ३–और फलके विषयमें दार्शनिकोंका जो मतभेद है उसे बताना यहाँ अभीष्ट है।

१–उपमानका स्वरूप।

उपमानके स्वरूपके विषयमें दार्शनिकोंमें निम्न लिखित मतभेद हैं—

(अ) वृद्धनैयायिकसंमत अतिदेशवाक्य।

(आ) उपवर्षादि मीमांसक और वेदान्तसंमत सादृश्य–सादृश्यज्ञान।

(इ) नवीन नैयायिकसंमत सादृश्यप्रत्यक्ष।

(ई) प्राचीन जैनसंमत सादृश्य–वैसादृश्यज्ञान।

(उ) नवीन जैनसंमत संकलनात्मकसादृश्यज्ञान।

---

१. "**तथा हि–यदेकलक्षणलक्षितं तद् व्यक्तिभेदेऽपि एकमेव यथा वैशद्यैकलक्षणलक्षितं चक्षुरादि-प्रत्यक्षम्, अवैशद्यैकलक्षणलक्षितं च शाब्दादि इति। चक्षुरादिसामग्रीभेदेपि हि तज्ज्ञानानां वैशद्यैक-लक्षणलक्षितत्वेनैवाभेदः प्रसिद्धः प्रत्यक्षरूपतानतिक्रमात्, तद्वत् शब्दादिसामग्रीभेदेपि अवैशद्यैकलक्षण-लक्षितत्वेनैवाभेदः शाब्दादीनां परोक्षरूपत्वाविशेषात्।**" प्रमेयक० पृ० १९२। स्याद्वादर० पृ० २८३।

(अ) न्यायसूत्रकारने उपमानका लक्षण यह किया है–"प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्।" १.१.६। इस सूत्रके व्याख्यानमें वृद्ध नैयायिकोंमें तथा उद्योतकरादिमें मतभेद है। वृद्ध नैयायिकोंके मतमें अतिदेश वाक्य ही उपमान प्रमाण है। जयन्तने वृद्ध नैयायिकोंके अनुसार इस सूत्रका व्याख्यान इस प्रकार किया है—

"अत्र वृद्धनैयायिकास्तावदेवमुपमानस्वरूपमाचक्षते। संज्ञासंज्ञिसंबन्धप्रतीतिफलं प्रसिद्धेतरयोः सारूप्यप्रतिपादकमतिदेशवाक्यमेवोपमानम्। गवयार्थी हि नागरकोऽनवगतगवयस्वरूपस्तदभिज्ञमारण्यकं पृच्छति 'कीदृग् गवयः' इति। स तमाह–'यादृशो गौस्तादृशो गवयः' इति। तदेतद्वाक्यमप्रसिद्धस्य प्रसिद्धेन गवा सादृश्यमभिदधत् तद्वारकमप्रसिद्धस्य गवयसंज्ञाभिधेयत्वं ज्ञापयतीत्युपमानमुच्यते।" न्यायमं० वि० पृ० १४१।

जयन्तका कहना है कि भाष्यकार भी अतिदेशवाक्यको ही उपमान प्रमाण मानते हैं, और ऐसा माननेमें कोई असंगति नहीं–न्यायमं० वि० पृ० १४२।

(आ) शबरने अपने भाष्यमें वृत्तिकार उपवर्षके मतका अनुवाद किया हैं। उससे उपवर्षसंमत उपमानलक्षणका पता चलता है। भाष्यके टीकाकार और अन्य ग्रन्थकार इस उपवर्षके मतका ही शबरके मतके रूपमें उल्लेख करते हैं[1] इसका कारण यही है कि शबरने अपने भाष्यमें उसे लिख दिया है[2]।

उपवर्षके मतानुसार उपमानका लक्षण यह है–"उपमानमपि सादृश्यमसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिमुत्पादयति, यथा गवयदर्शनं गोस्मरणस्य"। शाबर० १.१.५।

कुमारिलका कहना है कि अतिदेशवाक्यको उपमान मानने पर आगममें ही उपमान का अन्तर्भाव हो जाता है इसी लिये शबरने (अर्थात् उपवर्षने) उपमानका यह नया लक्षण स्थिर किया है। इसके अनुसार सादृस्य[3] उपमान प्रमाण है। क्योंकि उसीसे असन्निकृष्ट गोमें–जो कि स्मरणका विषय है–गवयसादृश्यकी बुद्धि होती हैं अर्थात् 'वह गो इस गवयके सदृश है' ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है।

सादृश्य नहीं किन्तु सादृश्यज्ञान उपमान प्रमाण है–ऐसा स्पष्टीकरण टीकाकारोंने किया है–"पूर्वदृष्टे स्मर्यमाणेऽर्थे दृश्यमानार्थसादृश्यज्ञानमुपमानम्।" शास्त्रदी० पृ० ७४।

जैसे अनुमानमें ज्ञायमानलिङ्गके स्थानमें लिङ्गज्ञानको करण माना गया[4] है उसी प्रकार उपमितिका करण भी सादृस्य नहीं किन्तु सादृश्यज्ञान ही माना गया है[5]।

मीमांसाकी तरह वेदान्तमें भी उपमान सादृश्यज्ञान ही कहा गया है–"तत्र सादृश्य-

---

१. "शाबरे पुनः। शब्दागमाबहिर्भावार्थमन्यथैवोपवर्णितम्।" श्लोकवा० उप० २। तत्त्वसं० पं० पृ० ४४४। २. "अयं च गोस्मरणश्लोकान्तो भाष्यग्रन्थः उपवर्षसंमत एव भाष्यकारेण लिखितत्वात् टीकाकारादिभिः भाष्यत्वेनैव उच्यते।" शास्त्रदी० युक्ति० पृ० ७४। ३. शबरने उदाहरणमें गवयदर्शनको सादृश्यस्थानीय रखा है। इसका मतलब है–सादृश्यविशिष्टगवयदर्शनम् अर्थात् "अरण्यं गतस्य नयनसन्निकृष्टगवयपिण्डविशेषं पश्यतः 'गोसदृशो गवयः' इत्याकारकं सादृश्यविशिष्टगवयदर्शनम्"–शाबर० प्रभा० पृ० ३७। ४. "अनुमायां ज्ञायमानं लिङ्गं तु करणं नहि।" कारिका० ६७। ५. "सादृश्यदर्शनोत्थं ज्ञानं सादृश्यविषयकमुपमानम्"–प्रकरणपं० पृ० ११०।

प्रमाकरणं उपमानम्। तथाहि–नगरेषु दृष्टगोपिण्डस्य पुरुषस्य वनं गतस्य गवयेन्द्रियसन्निकर्षे सति भवति प्रतीतिः 'अयं पिण्डो गोसदृशः' इति। तदनन्तरं च भवति 'अनेन सदृशी मदीया गौः' इति। तत्र अन्वयव्यतिरेकाभ्यां गवयनिष्ठगोसादृश्यज्ञानं करणं गोनिष्ठगवयसादृश्यज्ञानं फलम्।" वेदान्तप० पृ० १७६।

(इ) यद्यपि जयन्तने वृद्ध नैयायिकोंके लक्षणकी संगति बतलाई है और मीमांसकोंके आक्षेपका उत्तर दिया है। फिर भी अतिदेशवाक्यको उपमान माननेवाले वृद्ध नैयायिक ही रहे हैं यह मानना पडेगा। क्योंकि उद्योतकरसे लेकर सभी नैयायिकोंने–जिन्हें जयन्त 'अद्यतन' कहके पुकारता है–तथा जयन्तने भी उपमानके नये लक्षणको ही अपनाया है। और उसीका समर्थन किया है। इन नवीन नैयायिकोंके द्वारा उक्त न्यायसूत्रकी व्याख्या ऐसी की गई है–"अद्यतनास्तु व्याचक्षते–श्रुतातिदेशवाक्यस्य प्रमातुः प्रसिद्धे पिण्डे प्रसिद्धपिण्डसारूप्यज्ञानमिन्द्रियजं संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिफलमुपमानम्"–न्यायमं० वि० पृ० १४२। अर्थात् इन नवीनोंके मतमें अतिदेशवाक्यस्मृतिसापेक्ष सारूप्यप्रत्यक्ष[1] उपमान प्रमाण है।

प्रस्तुतमें इतना ध्यान रखना चाहिए कि नवीन नैयायिक और मीमांसकसंमत उपमानके स्वरूपमें वस्तुतः भेद नहीं है किन्तु दोनोंके मतसे उपमान प्रमाणका कार्य–फल भिन्न भिन्न है अत एव 'कार्यभेदात् कारणभेदः' इस न्यायसे दोनोंको भिन्न भिन्न रूपसे लिया गया है। दोनोंके फलभेद–कार्यभेदकी चर्चा आगे की जायगी।

दूसरी बात यह भी है कि नैयायिक और मीमांसकोंमें सादृश्यके स्वरूपके विषयमें भी मौलिक मतभेद है अत एव सादृश्यज्ञान दोनोंके मतसे भिन्न प्रकारका ही होगा। अत एव दोनोंके मतसे सादृश्यज्ञान उपमान होते हुए भी उपर्युक्त प्रकारसे मतभेद होनेके कारण दोनोंके मतोंको अलग अलग ही प्रस्तुतमें गिना है।

(ई) जैनोंके अनुयोगद्वारसूत्रमें[2] 'औपम्य' प्रमाणका निरूपण है। अनुयोगद्वारकी शैली यह है कि वस्तुके भेदकथन द्वारा उसका स्वरूप बताना। अत एव उसमें उपमा प्रमाणके भेद तो गिना दिये किन्तु लक्षण नहीं बतलाया किन्तु निर्दिष्ट साधर्म्योपनीत और वैधर्म्योपनीत[3] ऐसे उपमाप्रमाणके दो भेदोंसे अंदाजा करें तो कहा जा सकता है कि अनुयोगद्वारकारके मतसे सादृश्य-वैसादृश्यज्ञान उपमान प्रमाण है।

न्यायसूत्रमें उपमानपरीक्षामें पूर्वपक्षमें कहा गया है कि अत्यन्त, प्रायः और एकदेशसे जहाँ साधर्म्य हो वहाँ उपमान प्रमाण हो नहीं सकता और इन तीनके अतिरिक्त साधर्म्यका अन्य प्रकार नहीं। अत एव उपमान प्रमाण असिद्ध है[4]। किन्तु अनुयोगद्वारमें साधर्म्यो-

---

१. "तस्माद्यथा लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धस्मृत्यनुग्रहे सति लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्, तथा प्रत्यक्षम्, तथाऽऽगमाहितसंस्कारस्मृत्यपेक्षं सारूप्यप्रत्यक्षमुपमानमिति।" न्यायवा० २.१.४८। २. भगवतीमें भी उपमान प्रमाणका निरूपण है–शतक ५. उद्देशा ४। ३. "से किं तं ओवम्मे? ओवम्मे दुविहे पण्णत्ते तं जहा–साहम्मोवणीए अ वेहम्मोवणीए अ।" इत्यादि–अनुयो० पृ० २१७। ४. "अत्यन्तप्रायैकदेशसाधर्म्यादुपमानासिद्धिः"–न्यायसू० २.१.४४। अत्यन्तसाधर्म्यादुपमानं न सिध्यति। न चैवं भवति यथा गौरेवं गौरिति। प्रायःसाधर्म्यादुपमानं न सिध्यति न हि भवति यथाऽनड्वानेवं महिष इति। एकदेशसाधर्म्यादुपमानं न सिध्यति, न हि सर्वेण सर्वं उपमीयते इति"–न्यायभा०।

पनीत उपमान और वैधर्म्योपनीत उपमान प्रमाणके तीन तीन भेद किये गये हैं और वे उक्त पूर्वपक्षीके द्वारा निषिद्ध भेद ही हैं ऐसा तुलना करनेसे पता लगता है—**"से किं तं साहम्मोवणीए? साहम्मो० तिविहे पण्णत्ते, तं जहा किंचिसाहम्मो० पायसाह० सव्वसाह०। से किं तं किंचिसाह०?...जहा मंदरो तहा सरिसवो...जहा समुद्दो तहा गोप्पयं...जहा आइच्चो तहा खज्जोतो...जहा चंदो तहा कुमुदो...। से किं तं पायसाह०?...जहा गो तहा गवयो...। से किं तं सव्वसाह०? सव्वसाहम्मे ओवम्मे नत्थि तहावि तेणेव तस्स ओवम्मं कीरइ जहा अरिहंतेहिं अरिहंतसरिसं कयं...।"** अनुयो० पृ० २१७।

(उ) जैनोंके प्राचीन सूत्र अनुयोगद्वारके उपमान प्रमाणको आगे जाकर जैन दार्शनिकोंने प्रत्यभिज्ञानके अन्तर्गत कर दिया है। और उसका लक्षण संकलनारूप सम्यग्ज्ञान बताया है। इस प्रत्यभिज्ञानमें अतीत और वर्तमान पर्यायकी संकलनाका ज्ञान होता है। ऐसी संकलनाका विषय सादृश्य हो तब दूसरे लोगोंने उसे उपमान कहा जब कि उसीको जैनाचार्योंने सादृश्यप्रत्यभिज्ञान कहा है—तत्त्वार्थश्लो० पृ० १९० । परीक्षा० ३.५ । प्रमाणन० ३.५ ।

२—उपमानका प्रामाण्य

उपमानके प्रामाण्यके विषयमें चार मत निम्नलिखित प्रकारसे हैं—

(अ) उपमानका सर्वथा अप्रामाण्य

(आ) उपमानका अन्यमें अन्तर्भाव

(इ) उपमानका पृथक् प्रामाण्य

(ई) उपमानके प्रामाण्य-अप्रामाण्यका अनेकान्त

(अ) उपमानका सर्वथा अप्रामाण्य बौद्ध संमत है। तत्त्वोपप्लवसिंहकार जयराशि चार्वाक भी इसका प्रामाण्य नहीं मानते। उन्हीं का अनुकरण करनेवाले श्रीहर्ष वेदान्ती और शान्त्याचार्य जैन भी उपमानप्रामाण्यको नहीं मानते।

शान्तरक्षित और प्रज्ञाकरगुप्त इन दोनों बौद्ध आचार्योंने समान रूपसे यही दलील की है कि उपमान प्रमाण नहीं है क्योंकि उसका कोई प्रमेय है ही नहीं[1]। दूसरी बात यह है कि यदि सादृश्यप्रतिपादक उपमान प्रमाण माना जाता है तो वैसादृश्यग्राहक एक अन्य प्रमाणकी कल्पना करनी चाहिए—तत्त्वसं० का० १५५९। प्रमाणवा० अलं० पृ० ५७६।

शान्तरक्षितने उपमान और स्मृतिमें अभेद सिद्ध करके स्मृतिकी तरह उसका अप्रामाण्य स्थापित किया है। उनका कहना है कि गो और गवय दोनोंमें कुछ ऐसे अवयव हैं जो तुल्यप्रत्ययकी उत्पत्तिमें हेतु होते हैं। इन अवयवोंके अतिरिक्त सादृश्य या सामान्य ऐसी पृथग्भूत कोई वस्तु नहीं जो तुल्यप्रत्ययकी उत्पत्तिमें हेतु होती हों। अत एव जब हम गवयको देखते हैं तब गोगत उन अवयवोंकी स्मृति भूयोदर्शनके कारण होती है। यही उपमान है। अत एव स्मृतिरूप होनेसे वह प्रमाण नहीं—तत्त्वसं० का० १५४७–४९।

चार्वाक प्रत्यक्षप्रमाण मानता है यही सामान्यरूपसे सब की धारणा है किन्तु तत्त्वोपप्लव

---

1. **"प्रमेयवस्त्वभावेन नाभिप्रेताऽस्य मानता।"**—तत्त्वसं० का० १५४३। प्रमाणवा० अलं० पृ० ५७४।

सिंहकार जयराशि चार्वाक हो कर भी प्रत्यक्षको भी प्रमाण नहीं मानता। तब उनके मतमें उपमानके प्रामाण्यका प्रश्न ही नहीं। उनका कहना है कि 'जब प्रत्यक्ष ही प्रमाण नहीं तब प्रत्यक्षमूलक उपमान कैसे प्रमाण हो सकता है? उन्होंने भी बौद्धोंकी तरह कहा है कि सादृश्यरूप विषय ही सिद्ध नहीं तब उपमान प्रमेयहीन हो कर प्रमाण कैसे हो सकता है?– तत्त्वो० पृ० ११०।

श्रीहर्षने भी तत्त्वोपप्लव और माध्यमिकोंका अनुसरण करके प्रत्यक्षादि सभी का प्रामाण्य खंडित किया है अत एव उनके मतमें भी उपमानका प्रामाण्य नहीं– खण्डन० प्रथमपरि०।

जयन्तने मीमांसकसंमत उपमानका अन्तर्भाव स्मृतिमें किया है और इस प्रकार उसका अप्रामाण्य सिद्ध किया है। उनका कहना है कि गवयको देखकर प्रतीति यह होती है कि 'अनेन सदृशो गौः मया नगरे दृष्टः' और यह प्रतीति स्पष्टतया स्मृति है– न्यायमं० वि० पृ० १४७।

अकलंकादि अन्य सभी जैनाचार्योंने उपमानको प्रत्यभिज्ञाके अन्तर्गत माना है– इस बातको आगे कहा जायगा। किन्तु न्यायावतार मूलमें तीन ही प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम माने गये हैं। उपमानके विषयमें मूलमें कुछ भी नहीं कहा गया है। शान्त्याचार्यने अपने प्रस्तुत वार्तिकमें अन्य जैनाचार्योंका अनुसरण न करके बौद्धोंकी तरह उन्हींके शब्दोंमें उपमानको अप्रमाण ही सिद्ध किया और अन्य जैनाचार्य संमत उसका प्रत्यभिज्ञामें अन्तर्भाव भी मान्य नहीं रखा। यह उनका मूल न्यायावतारका समर्थन कहा जा सकता है किन्तु इससे अपने समय तक हुए समग्र जैनन्यायके विकास की उपेक्षा भी फलित होती है। प्रस्तुत प्रसंगके अतिरिक्त इसी वार्तिकमें अन्यत्र भी उन्होंने उपमानके प्रामाण्यका निरास किया है– देखो पृ० ५८. पं० ३३।

प्रस्तुत प्रसंगमें एक और बात भी जानने योग्य है वह यह कि शान्त्याचार्यने उपमानको तो अप्रमाण ही कहा किन्तु जिस प्रत्यभिज्ञानमें दूसरे जैनाचार्योंने उपमानका अन्तर्भाव किया है उसे तो प्रमाण ही माना है।

दूसरे जैनाचार्योंने प्रत्यभिज्ञाको स्वतन्त्र परोक्ष प्रमाण माना है तब शान्त्याचार्यने प्रत्यभिज्ञाको नैयायिकादिकी तरह प्रत्यक्ष ही माना है[2]।

(आ) अब उपमानके अन्तर्भावके विषयमें विचार करना क्रमप्राप्त है। जो दार्शनिक उपमानको प्रमाण तो मानते हैं किन्तु पृथक् प्रमाण माननेसे इनकार करते हैं वे उपमानका स्वाभिमत किसी न किसी प्रमाणमें अन्तर्भाव कर लेते हैं। उपमानके अन्तर्भावके विषयमें निम्नलिखित मत पाये जाते हैं—

(१) आगममें अन्तर्भाव।

(२) अनुमानमें अन्तर्भाव।

---

१. "प्रत्यक्षमूलमुपमानम्। तदपगमे तस्याप्यपगमात्।" तत्त्वो० पृ० ११०। २. देखो, प्रस्तुत वार्तिक पृ० ९२. पं० १८।

(३) प्रत्यभिज्ञामें अन्तर्भाव ।

(४) प्रत्यक्षमें अन्तर्भाव ।

(१) प्राचीन नैयायिकोंने अतिदेशवाक्यको उपमान प्रमाण माना है । उस अतिदेशवाक्य स्वरूप उपमानका अन्तर्भाव आगममें ही हो जाता है ऐसा मीमांसकोंने, वैशेषिकोंने तथा सांख्योंने कहा है—

"तस्यागमाबहिर्भावादन्यथैवोपवर्णितम् । पुरुषप्रत्ययेनैव तत्रार्थः संप्रतीयते । तदीयवचनत्वेन तस्मादागम एव सः ॥" श्लोकवा० उप० २,३ ।

"आप्तेन अप्रसिद्धस्य गवयस्य गवा गवयप्रतिपादनादुपमानं आप्तवचनमेव"–प्रशस्त० पृ० ५७६ ।

"उपमानं तावद् 'यथा गौस्तथा गवयः' इति वाक्यम्, तज्जनिता धीरागम एव" सांख्यत० का० ५ ।

इनमें मीमांसकोंको उपमानका पृथक् प्रामाण्य इष्ट है किन्तु उनके मतसे उसका लक्षण नैयायिकोंसे भिन्न ही है । अत एव वृद्ध नैयायिकसंमत उपमानको वे आगममें अन्तर्भूत कर लेते हैं । सांख्य और वैशेषिकोंको उपमानका प्रामाण्य इष्ट है किन्तु पृथक् प्रामाण्य नहीं । अत एव उक्त लक्षणको वे भी आगममें ही अन्तर्भूत करदेते हैं ।

(२) अतिदेशवाक्यके स्पष्टतया आगमरूप होनेसे नवीन नैयायिकोंने उपमानका दूसरा लक्षण किया । इसके अनुसार अतिदेशवाक्यको सुनकर अरण्यमें जानेपर सारूप्य दर्शन होता है अर्थात् गोसदृश गवयका दर्शन होता है तब संज्ञासंज्ञिसंबन्धप्रतिपत्ति होती है अर्थात् यह गवयपदवाच्य है ऐसी प्रतीति होती है । यह प्रतीति उपमानका फल है अत एव सारूप्यदर्शन करण होनेसे उपमान प्रमाण कहा जाता है—ऐसा नवीन नैयायिकोंने माना । इस उपमानको तो आगममें अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता था । अतएव उपमानको पृथक् प्रमाण नही मानने वाले सांख्योंने इसे अनुमानमें अन्तर्भूत कर लिया—**"योऽप्ययं 'गवयशब्दो गोसदृशस्य वाचकः' इति प्रत्ययः सोऽपि अनुमानमेव । यो हि शब्दो यत्र वृद्धैः प्रयुज्यते सोऽसति वृत्त्यन्तरे तस्य वाचकः, यथा गोशब्दो गोत्वस्य, प्रयुज्यते चैवं गवयशब्दो गोसदृशे इति तस्यैव वाचक इति तज्ज्ञानमनुमानमेव"** सांख्यत० का० ५ ।

नवीन नैयायिकोंके इस लक्षणको भी शान्तरक्षित ठीक नहीं समझते । उनका कहना है कि अतिदेशवाक्यका श्रवण हुआ उसी समय समाख्यासंबन्ध प्रतिपत्ति हो ही जाती है अत एव गवयदर्शनके बाद उसे माननेपर गृहीतग्राहि होनेसे स्मृतिकी तरह उपमान अप्रमाण ही हो जायगा—तत्त्वसं० का० १५४४–४५ । आगे आकर उन्होंने यह भी कह दिया है कि यदि उपमान को किसी भी तरह प्रमाण मानना ही हो तब उसे स्वतन्त्र नहीं किन्तु अनुमानान्तर्गतकर लेना चाहिए[1] ।

---

1. **"तेषां तद्गोचरत्वेऽपि भवत्येवानुमैव वा । त्रिरूपलिङ्गजन्यत्वमस्य चैवं प्रतीयते ॥ १५७५ ॥ यो यथा सदृशोऽसौ हि गवयश्रुतिगोचरः । सङ्केतग्रहणापन्नो बुद्धिस्थो गवयो यथा ॥ १५७६ ॥"** तत्त्वसं० ।

जैन व्याख्याकार सिद्धर्षिने भी उपमान प्रमाणको अनुमानके अन्तर्गत कर लिया है— न्याया० टी० पृ० २०।

प्रमालक्ष्ममें भी उपमानका अन्तर्भाव अनुमानमें किया गया है—का० ३१६,३३४। विवेक यह है कि प्रमालक्ष्मकारने मीमांसक संमत उपमानको अनुमानान्तर्गत माना है और नैयायिकसंमत उपमानको अधिगतग्राहि होनेसे शान्तरक्षितकी तरह अप्रमाण ही माना है—प्रमालक्ष्म— का० ३४१।

(३) जैन आचार्योंने उपमानको प्रत्यभिज्ञान नामक परोक्ष प्रमाणान्तर्गत माना है। जैसे ऊर्ध्वता सामान्यको विषय करके 'स एवायं' ऐसा संकलनात्मक प्रत्यय होता है वैसे ही तिर्यग्सामान्यको लेकर 'तत्सदृशोऽयं' ऐसा संकलनात्मक प्रत्यय होता है। जैन आचार्योंके मतसे ऐसे और भी संकलनात्मक प्रत्यय हो सकते हैं, जैसे—'इदमस्मात् दूरं, ह्रस्वम्' इत्यादि। इन सभी प्रकारके संकलनात्मक ज्ञानोंको प्रत्यभिज्ञानके अन्तर्भूत ही माना गया है—प्रमेयक० ३.५–१०। स्याद्वादर० पृ० ४९७।

(४) वाचस्पति मिश्रने सांख्यतत्त्वकौमुदीमें मीमांसकसंमत उपमानका अन्तर्भाव प्रत्यक्षमें किया है—

"यत्तु गवयस्य चक्षुःसन्निकृष्टस्य गोसादृश्यज्ञानं तत्प्रत्यक्षमेव, अत एव स्मर्यमाणायां गवि गवयसादृश्यज्ञानं प्रत्यक्षम्। न हि अन्यद् गवि सादृश्यम्, अन्यच्च गवये। भूयोवयवसामान्ययोगो हि जात्यन्तरवर्ती जात्यन्तरे सादृश्यमुच्यते। सामान्ययोगश्च एकः। स चेद् गवये प्रत्यक्षो गव्यपि तथा।" सांख्यत० का० ५।

(इ) नैयायिक और मीमांसकोंने ही उपमानका पृथक् प्रामाण्य माना है। वेदान्तदर्शन व्यवहारमें भट्टनयका अनुगामि है अतः उसे भी उपमानका पृथक् प्रामाण्य इष्ट है। अन्य किसी दर्शनमें ऐसा नहीं माना गया।

(ई) आचार्य उमास्वातिने उपमान का विचार नयवादरूप जैनदृष्टिसे किया है अत एव उनके मतसे वह प्रमाण है भी और नहीं भी।

आचार्य उमास्वातिने जब प्रमाणके प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो भेद करके मत्यादि पांचों ज्ञानों का उन्हीं दोमें समावेश कर दिया तब उनके सामने प्रश्न हुआ कि नैयायिकादिको सम्मत और भगवती[1] जैसे जैन शास्त्रमें निर्दिष्ट प्रमाणके प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम ऐसे चार भेदोंके साथ इन दो भेदोंका समन्वय कैसे करना ?। आचार्य उमास्वातिने उत्तर दिया कि उन चारों प्रमाणोंका समावेश मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमें कर लेना चाहिए[2]। अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमानका मतिमें और आगमका श्रुतमें अन्तर्भाव कर देना चाहिए। इस प्रकार फलित यह होता है कि ये चारों ही प्रमाण परोक्ष प्रमाणान्तर्गत हैं। प्रस्तुतमें यह कहना चाहिए कि उपमान प्रमाण है पर वह परोक्ष है और मतिज्ञान है।

जैनदृष्टिके अनुसार जो सम्यग्दृष्टि जीव है उसीका मतिज्ञान ज्ञान है अत एव प्रमाण है। और मिथ्यादृष्टि जीवका मतिज्ञान अज्ञान है अत एव अप्रमाण है। इसी दृष्टिसे उमास्वातिने

---

१. भगवती ५.४.। २. तत्त्वार्थभा० १.१२।

फिर कहा कि प्रमाणके निर्दिष्ट चार भेद मिथ्यादृष्टिके द्वारा परिगृहीत होनेसे अप्रमाण ही हैं[1]। इस विचारके अनुसार उपमान यदि मिथ्यादृष्टिका हो तो वह अप्रमाण ही कहा जायगा।

एक और दृष्टिसे भी उमास्वातिने इस विषयका विचार किया है। उनका कहना है कि शब्दनयके मतानुसार कोई जीव मिथ्यादृष्टि या अज्ञ होता ही नहीं। अत एव शब्द दृष्टिसे देखा जाय तो सभी ज्ञान प्रमाण ही हैं[2] प्रस्तुतमें कहना होगा कि इस विचारसे उपमान प्रमाण ही है।

२–उपमानका फल।

उपमानके फलके विषयमें भी विवाद देखा जाता है। इस विषयमें उल्लेखनीय मतभेद नैयायिक और मीमांसकोंका है।

नैयायिकोंने उपमिति को संज्ञासंज्ञिसंबन्धप्रतीतिरूप माना है। अर्थात् अतिदेशवाक्यको सुन कर अरण्यमें जानेवाले व्यक्तिको 'अयं गवयपदवाच्यः' ऐसी जो प्रतीति होती है उसे उपमानका फल माना है। किन्तु मीमांसकोंने ऐसा नहीं माना। उनका कहना है कि उपमानका फल समाख्यासंबन्धप्रतीति नहीं किन्तु परोक्ष गौमें गवयसादृश्यका जो ज्ञान होता है अर्थात् 'मद्गृहगतो गौः गवयसदृशः' ऐसा जो ज्ञान होता है वही उपमानका फल है। अर्थात् संज्ञासंज्ञिसंबन्धप्रतीति नहीं किन्तु परोक्षवस्तुविषयक सादृश्यज्ञान ही उपमिति है।

पृ० ६२. पं० ८ **'महिष'** तुलना–प्रमाणवा० अलं० पृ० ५७६।

पृ० ६२. पं० ८. **'सादृश्याभाव'** तुलना–**"स्यादेतत्–वैसादृश्यं हि सादृश्याभावः। तस्मादस्येवाभावान्तर्गतिरित्याह–अन्योन्येत्यादि। अन्योन्याभावतायां सत्यां यद्यभावरूपं प्रमेयं व्यवस्थाप्यते तदा समम्। कथमित्याह–**

"सादृश्यस्य विवेको हि यथा तत्र प्रमीयते।
सर्वावयवसामान्यविवेको गम्यते तथा॥" तत्त्वसं० का० १५६०,६१।

पृ० ६२. पं० १०. **'किमिदं सादृश्यम्'** कुमारिलने सादृश्यका लक्षण इस प्रकार करके उसे पृथक् वस्तु सिद्ध किया है—

"सादृश्यस्यापि वस्तुत्वं न शक्यमपबाधितुम्।
भूयोऽवयवसामान्ययोगो जात्यन्तरस्य तत्॥ १८॥" श्लोकवा०।

मतलब यह है कि दो गोव्यक्तियोंमें तो गोत्वरूप एक ही जाति होनेके कारण दोमें साधर्म्य या समानता है किन्तु गो और गवयमें गोत्व या गवयत्वरूप एक जाति नहीं। गोमें गोत्व और गवयमें गवयत्व जाति भिन्न भिन्न होने पर भी दोनोंमें समानताका प्रत्यय जो होता है उसका कारण स्वजातिके अतिरिक्त कुछ दूसरा होना चाहिए और वही सादृश्य है। गो और गवयमें बहुतसे समान अवयवोंका जो योग है वही सादृश्य है। शास्त्रदीपिकामें सादृश्यका लक्षण इस प्रकार किया गया है–**"अर्थान्तरयोगिभिः संबंधिसामान्यैरर्थान्तरस्य तादृश-**

---

१. **"अप्रमाणान्येव वा। कुतः मिथ्यादर्शनपरिग्रहात्, विपरीतोपदेशाच्च"**–तत्त्वार्थभा० १.१२।
२. **"चेतनाज्ञस्वाभाव्याच्च सर्वजीवानां नास्य कश्चिन्मिथ्यादृष्टिरज्ञो वा जीवो विद्यते तस्मादपि विपर्ययान्न भवत इति। अतश्च प्रत्यक्षानुमानोपमानाप्तवचनानामपि प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायत इति॥"** तत्त्वार्थभा० १.३५।

योगः सादृश्यम्। यथा गोजातियोगिभिः कर्णाद्यवयवसामान्यैर्गवयजातेर्योगो गवयस्य गोसादृश्यम्। गवयसंयोगिभिश्च गोर्योगः तत्सादृश्यम्।" शास्त्रदी० पृ० ७५।

सामान्यका लक्षण तो यह है कि जो अनुवृत्ति प्रत्ययमें निमित्त हो वह सामान्य है[1]। अर्थात् गोत्वसामान्यके कारण सभी गायोंमें 'अयं गौः' 'अयं गौः' ऐसा प्रत्यय होता है। मीमांसकोंका कहना है कि सादृश्य सामान्यरूप नहीं किन्तु उससे भिन्न पदार्थ है क्योंकि सादृश्यके कारण अनुवृत्ति प्रत्यय नहीं होता किन्तु सादृश्य प्रत्यय होता है[2]। सादृश्य सामान्यमें भी उपलब्ध होता है अत एव वह सामान्यसे भिन्न होना चाहिए[3]।

किन्तु नैयायिकोंने उसे द्रव्यादि सात पदार्थसे अतिरिक्त नहीं माना और उसका लक्षण इस प्रकार किया—

"तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम्" मुक्ता० का० २।

इसका मतलब यह है कि जब हम मुखको चन्द्रकी उपमा देते हैं अर्थात् मुखको चन्द्र सदृश कहते हैं तब इसका अर्थ यह है कि चन्द्रसे भिन्न होते हुए भी चन्द्रगत आह्लादकत्वादि धर्म मुखमें हैं। यही मुखगत चन्द्रसादृश्य है।

नवीन नैयायिकोंने मीमांसकोंकी तरह सादृश्यको पृथक् पदार्थ माना है—

"नव्यास्तु सादृश्यमतिरिक्तमेव। न चातिरिक्तत्वे पदार्थविभागव्याघातः इति वाच्यम्। तस्य साक्षात् परंपरया वा तत्त्वज्ञानोपयोगिपदार्थमात्रनिरूपणपरत्वात्" दिनकरी का० २।

बौद्धोंने तो कह दिया कि जब सामान्य ही सिद्ध नहीं तब 'भूयोवयवसामान्ययोग' रूप सादृश्य कैसे सिद्ध हो सकता है—तत्त्वसं० का० १५४४।

पृ० ६२. पं० ११. **'गवयालम्भने'** उपमानके प्रयोजनमें कुमारिलने बताया है कि प्रतिनिधिके चुनावमें सादृश्यके ज्ञानकी अपेक्षा है। और सादृश्य ज्ञान उपमानसे होता है। उन्होंने व्रीहिके अभावमें नीवारको प्रतिनिधि मान कर यज्ञ करलेना चाहिए ऐसी बात मीमांसासूत्र (६.३.१३–१७) के आधारसे कही है—श्लोकवा० उप० ५३।

प्रस्तुतमें शान्त्याचार्यने गवयको गोके प्रतिनिधिरूपसे बताया है। मीमांसा दर्शनमें गोका गवयसे सादृश्य माना गया है किन्तु गवयको गोका प्रतिनिधि बनाया जाय[4] ऐसी विधि देखनेमें नहीं आती फिर भी ऐसी कल्पना बौद्धोंने और जैनोंने मीमांसकोंकी हिंसाप्रिय प्रकृतिको देखकर की हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

पृ० ६२. पं० १५. **'प्रमाणेयत्ता'** तुलना—"एतावता च लेशेन प्रमाणत्वव्यवस्थितौ। मेयत्ता स्यात् प्रमाणानामन्यथापि प्रमाणतः॥" तत्त्वसं० का० १५५६।

पृ० ६२. पं० १६ **'न······विषयवत्'** तुलना—"प्रमेयवस्त्वभावेन नाभिप्रेताऽस्य मानता॥" तत्त्वसं० का० १५४३।

---

१. प्रशस्त० पृ० ६७७। २. "अनुवृत्तिप्रत्ययनिमित्ताभावाच्च न सामान्यम्" प्रकरणपं० पृ० ११०। ३. "सामान्येपि सत्त्वात् यथा गोत्वं नित्यं तथा अश्वत्वमपि नित्यमिति सादृश्यप्रतीतेः" मुक्ता० का० २। ४. प्रमाणवा० अलं० पृ० ५७६।

पृ० ६२. पं० १८. '**अर्थापत्तिः**' सिर्फ मीमांसक और वेदान्तको छोड कर अन्य किसी दार्शनिकने अर्थापत्तिका पृथक् प्रामाण्य माना नहीं। उसका अन्तर्भाव सभीने अनुमानमें ही किया है। इसकी चर्चाके लिये देखो–शाबरभा० पृ० ३८। श्लोकवा० अर्थापत्तिपरिच्छेद। प्रकरणपं० पृ० ११३। तत्त्वसं० का० १५८७–१६४७। न्यायमं० वि० पृ० ३६। सन्मति० टी० ५७८,५८५। न्यायकु० पृ० ५०५। स्याद्वादर० पृ० २७६।

पृ० ६२. पं० २४. '**पूर्वम्**' देखो, पृ० १९. पं० ९।

पृ० ६२. पं० २४. '**अनियमे**' तुलना–सन्मति० टी० पृ० २६ पं० ४०।

पृ० ६३. पं० ६. '**अभावप्रमाणम्**' देखो, प्रमाणमीमांसाका भाषाटिप्पण पृ० २६।

पृ० ६३. पं० ७. '**प्रमाणपञ्चकाभावे**' तुलना–"**प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः प्रमाणाभाव उच्यते। साऽऽत्मनः परिणामो वा विज्ञानं वाऽन्यवस्तुनि॥**" श्लोकवा० अभाव० ११।

पृ० ६३. पं० ८. '**तथा हि**' यहाँसे मीमांसकने यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि प्रत्यक्षादि भावग्राहि प्रमाणोंसे अभावका ग्रह हो नहीं सकता। प्रारंभमें नैयायिक और वैशेषिकोंके पक्षका खण्डन किया गया है। क्योंकि उनके मतसे अभाव प्रत्यक्ष ग्राह्य है।

पृ० ६३. पं० २२ '**न तु···लिङ्गम्**' तुलना–"**न चाप्यत्रानुमानत्वं लिङ्गाभावात् प्रतीयते। भावांशो न तु लिङ्गं स्यात् तदानीं नाऽजिघृक्षणात्॥ २९॥**" इत्यादि। वही।

पृ० ६३. पं० २६. '**नाप्यनुपलब्धेः**' तुलना–"**प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिर्न तु लिङ्गं भविष्यति। न विशेषणसम्बन्धस्तस्याः सामान्यतो भवेत्॥ ३८॥**" वही। बौद्ध और प्राभाकरोंने अनुपलब्धिलिङ्गक अभावव्यवहार माना है–प्रकरणपं० पृ० १२१।

पृ० ६३. पं० २८. '**अनवस्था**' तुलना–**न चानवगतं लिङ्गं गृह्यते चेद्सावपि। अभावत्वादभावेन गृहीतान्येन हेतुना॥ ४०॥ स चान्येन गृहीतव्यो नागृहीते हि लिङ्गता। तद्गृहीतिर्हि लिङ्गेन स्यादन्येनेत्यनन्तता॥ ४१॥**" इत्यादि वही।

पृ० ६४. पं० २. '**धूमे न**' इसको '**धूमेन**' पढा जाय।

पृ० ६४. पं० ५. '**अन्योपलब्धिः**' अनुपलब्धि हेतुका स्वरूप धर्मोत्तरने इस प्रकार व्याख्यात किया है–"**स एव घटविविक्तप्रदेशः, तदालम्बनं च ज्ञानं दृश्यानुपलम्भनिश्चयहेतुत्वात् दृश्यानुपलम्भ उच्यते। यावदेकज्ञानसंसर्गि वस्तु न निश्चितं तज्ज्ञानं च, न तावद् दृश्यानुपलम्भनिश्चयः। ततो वस्तु अपि अनुपलम्भ उच्यते तज्ज्ञानं च। दर्शननिवृत्तिमात्रं तु स्वयमनिश्चितत्वादगमकम्। ततो दृश्यघटरहितः प्रदेशः तज्ज्ञानं च वचनसामर्थ्यादेव दृश्यानुपलम्भरूपमुक्तं द्रष्टव्यम्।**" न्यायबि० टी० पृ० ३६–५४। अर्थात् बौद्धोंके मतसे घटविविक्त प्रदेश और घटविविक्त प्रदेशका ज्ञान ये दोनों अनुपलब्धि शब्दके प्रतिपाद्य हैं। उनमें से घटविविक्त प्रदेशका ज्ञान प्रस्तुतमें अन्योपलब्धिशब्दसे विवक्षित है।

पृ० ६४. पं० ८. '**असद्व्यवहारः**' वस्तुतः धर्मकीर्तिने अनुपलब्धि हेतुसे असद्व्यवहारकी सिद्धि होती है यही माना है–"**अमूढस्मृतिसंस्कारस्यातीतस्य वर्तमानस्य च प्रतिपत्तृप्रत्यक्षस्य निवृत्तिः अभावव्यवहारसाधनी।**" न्यायबि० पृ० ४४।

असद्व्यवहार अर्थात् अभावव्यवहारकी व्याख्या धर्मोत्तरने इस प्रकार की है–"**अभावस्य**

व्यवहारः – नास्तीति एवमाकारं ज्ञानं शब्दश्च एवमाकारो निःशंकं गमनागमनलक्षणा च प्रवृत्तिः कायिकोऽभावव्यवहारः। घटाभावे हि ज्ञाते निःशंकं गन्तुमागन्तुं च न प्रवर्तते। तदेवमेतस्य त्रिविधस्याप्यभावव्यवहारस्य दृश्यानुपलब्धिः साधनी–प्रवर्तिका।" न्यायबि० टी० पृ० ४६। "इत्यज्ञज्ञापनायैकानुपाख्योदाहृतिर्मता।" प्रमाणवा० ४.२६३।

पृ० ६४. पं० ८. 'एतदुक्तं भवति' बौद्ध अपने पक्षका समर्थन करता है।

पृ० ६४. पं० १०. 'स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धा' तुलना–

"एकोपलम्भानुभवादिदं नोपलभे इति।
बुद्धेरुपलभे वेति कल्पिकायाः समुद्भवः॥" प्रमाणवा० ४.२७०।

पृ० ६४. पं० १३. 'स्मार्यते' संपूर्ण कारिका इस प्रकार है—

"विद्यमानेऽपि विषये मोहादत्रानुब्रुवन्।
केवलं सिद्धसाधर्म्यात् स्मार्यते समयं परः॥" प्रमाणवा० ४.२६७।

व्याख्या – "अभावव्यवहारस्य विषये दृश्यादर्शने विद्यमानेपि केवलं मोहाद् असज्ज्ञान-शब्दव्यवहारान् अननुब्रुवन्–नानुवदन् परो असद्व्यवहारविषयतया सिद्धेन घटेन दृष्टान्तेन दृश्यादर्शनवत्तायाः साधर्म्यात् समयं व्यवहारं स्मार्यते। पूर्वमपि त्वया दृश्या-दर्शनमात्रकोऽसद्व्यवहारः प्रवर्तितः तत्सद्भावादिहापि प्रवर्तयेति परः प्रतिपाद्यते।" मनो०।

पृ० ६४. पं० १६. 'वादन्याये' – "एतावन्मात्रनिमित्तोऽयमसद्व्यवहारोऽन्यस्य तन्निमित्तस्य अभावात्। सर्वसामर्थ्यविवेको निमित्तमिति चेत्" इत्यादि – वादन्याय पृ० २१।

पृ० ६४. पं० १८. 'ननु' मीमांसकने यह शंका की है।

पृ० ६४. पं० १९. 'स्वभावहेतौ' – "ननु यथा स्वभावकार्य(कारण)सिद्ध्यर्थं द्वौ हेतू उक्तौ तथा अनुपलब्धिरपि वक्तुं युक्ता हेतुत्वात्। स्वभावानुपलब्धिस्तावत् तादात्म्यप्रति-बन्धात् स्वभावहेतोर्न भिद्यत इति स्वभावहेतुनिर्देशादेव निर्दिष्टा। कारणव्यापकानु-पलब्धिभ्यां च निषेध्यानुपलब्धिरेव प्रतिपाद्यत इति न ते अपि स्वभावानुपलब्धेर्भिद्येते।"– मनो० पृ० ५०४।

स्वभावहेतुमें बौद्ध तार्किकोंने तादात्म्य सम्बन्ध माना है अत एव धर्मकीर्तिने अनुपलब्धिमें भी तादात्म्य सम्बन्ध की सिद्धि निम्न कारिकामें की है—

"तत्रोपलभ्येष्वस्तित्वमुपलब्धेर्नचापरम्।" प्रमाणवा० ४.२६३।

मनोरथनन्दीने इसकी व्याख्या निम्न शब्दोंमें की है।—

"ननु स्वभावानुपलब्धौ कथं तादात्म्यं प्रतिबन्ध इत्याह – तत्रोपलभ्येषु भावेषु विचार्य-माणमस्तित्वमुपलब्धेरपरं न भवति यदि हि उपलब्धिः कर्मधर्मस्तदा उपलभ्यमानता अस्तित्वम्। अथ कर्तृधर्मः, ज्ञानम्; तदा तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाद् भावसत्ताव्यवस्थान-स्योपचारात् सैव सत्ता। यथा चोपलब्धिरेव सत्ता तथा अनुपलब्धिरेवासत्तेति तादा-त्म्यमनयोः सम्बन्धः।" मनो०।

पृ० ६४. पं० २०. 'नैष दोषः' बौद्ध उत्तर देता है।

पृ० ६४. पं० २४. 'हेतुना' व्याख्या – हेतुना समग्रेण यः कार्योत्पादोऽनुमीयते स कस्मिन् हेतावन्तर्भवतीत्याह – स स्वभावहेतुरनुवर्णितः। न हि समग्राद्धेतोः कार्यसम्भ-

योऽनुमीयते किन्तर्हि–कार्याजनयोग्यत्वम् । तत्कार्यान्तरानपेक्षत्वात् हेतुसाकल्यमात्रानुबन्ध्येवेति । तस्मिन् साध्ये हेतुसाकल्यं स्वभावहेतुरेव ।" प्रमाणवा० मनो० ३.६ ।

पृ० ६५. पं० ३. 'नन्वेवं' मीमांसक बौद्ध पक्षका उत्तर देता है ।

पृ० ६५. पं० ४. 'योग्यतायाः' वस्तुतः असद्व्यवहारकी योग्यता अनुपलब्धि हेतुका साध्य है तभी तो उसका अन्तर्भाव स्वभाव हेतुमें होता है–हेतु० टी० पृ० ५० ।

पृ० ६५. पं० ६. 'तस्य भावव्यतिरेकेण' तुलना–"न हि वस्तुव्यतिरिक्तम् असत्नाम-प्रमाणस्य अर्थविषयत्वात् । सकलशक्तिविरहलक्षणस्य निरुपाख्यस्य स्वभावकार्यादेरभावात् कुतस्तत्प्रमितिः ।" अष्टश० का० ९ ।

पृ० ६५. पं० १४. 'सम्बन्धं विना' तुलना–"कथं तर्हि अभावेन सम्बन्धः ? । न कथञ्चित् । किन्तु बुद्धिपरिकल्पित एवासौ इत्याह–

"तस्मादनर्थास्कन्दिन्योऽभिन्नार्थाभिमतेष्वपि ।
शब्देषु वाच्यभेदिन्यो व्यतिरेकास्पदं धियः ॥" प्रमाणवा० २.११७ ।

पृ० ६५. पं० १८. 'सम्बन्धपूर्वकत्वेन' विशेषणविशेष्यभाव भी तब होता है जब दोनों सम्बन्धिओंमें कोई न कोई सम्बन्ध हो ऐसा प्रतिपादन विद्यानन्दने स्पष्टतया किया है । इन्हीं का अनुगमन प्रभाचन्द्र और देवसूरिने भी किया है ।

"कथं समवायिभिरसम्बद्धस्य तस्य तद्विशेषणभावो निश्चीयते ?" तत्त्वार्थश्लो० पृ० २० ।

"नापि विशेषणभावात् सम्बन्धान्तरेण सम्बद्धार्थेष्वेव अस्य प्रवृत्तिप्रतीतेः, दण्डविशिष्टः पुरुषः इत्यादिवत् । अन्यथा सर्वं सर्वस्य विशेषणं विशेष्यञ्च स्यात् ।" इत्यादि । न्यायकु० पृ० ३०३ स्याद्वादर० पृ० ९६९ ।

पृ० ६५. पं० १९. 'पुरुषेच्छया' तुलना–"विशेषणविशेष्ययोः विवक्षापरतन्त्रत्वात् पुरुषेच्छानुरोधात् न पारमार्थिकत्वम् । तथा विषाणी गौरिति गोर्विषाणमित्यादौ विपर्ययो विशेषणविशेष्ययोः प्रयोक्तुरिच्छावशेन दृश्यते ।" प्रमाणवा० मनो० २.२२७ ।

पृ० ६६. पं० १३. 'स्वतन्त्रः' तुलना–"अभावो हि नाम न कश्चित् स्वतन्त्रो व्यवहारविषयोऽपि तु विवक्षितस्य वस्तुन एव ।" प्रमाणवा० अलं० पृ० ८३३ ।

पृ० ६६. पं० १५. 'एकदाऽस्ति' तुलना–"प्राग्भूत्वा ह्यभवन्भावोऽनित्य इत्यभिधीयते ॥" प्रमाणवा० २.११० । "न तस्य किञ्चिद् भवति न भवत्येव केवलम् ॥" वही ३.२७७ । हेतु० टी० पृ० ८२ ।

पृ० ६६. पं० २२. 'अकिञ्चित्करत्वेन' तुलना–

"अपेक्षेत परः कार्यं यदि विद्येत किञ्चन ।
यदाकिञ्चित्करं वस्तु किं केनचिदपेक्ष्यते ॥" प्रमाणवा० ३.२७९ ।

पृ० ६७. पं० २. 'सत्तया भाव्यम्' तुलना–

"अविनाशात् स एवास्य विनाश इति चेत् कथम् ।
अन्योऽर्थोऽन्यस्य नाशोऽस्तु काष्ठे कस्मान्न दृश्यते ॥" प्रमाणवा० ३.२७० ।

पृ० ६७. पं० ७. 'उक्तमत्र' देखो पृ० ६६. पं० २१–२४ ।

पृ० ६७. पं० १०. 'क्षीरे दधि' प्रासंगिक श्लोक ये हैं—

"क्षीरे दधि भवेदेवं दध्नि क्षीरं घटे पटः।
शशे शृङ्गं पृथिव्यादौ चैतन्यं मूर्तिरात्मनि ॥ ५ ॥
अप्सु गन्धो रसश्चाग्नौ वायौ रूपेण तौ सह।
व्योम्नि संस्पर्शिता ते च न चेदस्य प्रमाणता ॥ ६॥" श्लोकवा० अभा०।

इसके साथ आप्तमीमांसा की निम्न कारिकाएँ तुलनीय हैं—

"कार्यद्रव्यमनादि स्यात् प्रागभावस्य निह्नवे।
प्रध्वंसस्य च धर्मस्य प्रच्यवेऽनन्ततां व्रजेत् ॥ १० ॥
सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्यापोहव्यतिक्रमे।
अन्यत्र समवाये न व्यपदिश्येत सर्वथा ॥ ११ ॥"

पृ० ६७. पं० २३. 'अनवस्था' अर्चटने अनेकान्तवादमें जो अनवस्था दोष दिया है वही यहाँ उद्धृत है—हेतु० टी० पृ० ४३.।

पृ० ६७. पं० २५. 'सर्वभावाः' तुलना—

"सर्वे भावाः स्वभावेन स्वस्वभावव्यवस्थितेः।
स्वभावपरभावाभ्यां व्यावृत्तिभागिनो यतः ॥" प्रमाणवा० ३.३९।

"सर्वभावानां स्वस्वभावव्यवस्थितेः स्वभावसांकर्याभावात्।" हेतु० टी० पृ० २४। तथा पृ० २३,१९५।

पृ० ६८. पं० ४. 'दृश्यत्वम्' बौद्ध तार्किकोंने अनुपलब्धिके दो प्रकार बताये हैं—दृश्यानुपलब्धि और अदृश्यानुपलब्धि। उनमें से दृश्यानुपलब्धि ही अभावव्यवहारकी साधिका है अन्य नहीं। धर्मकीर्तिका कहना है कि पिशाचादिके सद्भाव होने पर भी अदृश्यानुपलब्धिका संभव है क्योंकि पिशाचादि पदार्थ स्वयं दृश्य नहीं अत एव अदृश्यानुपलब्धि अभावका निश्चय नहीं करा सकती, संशयका हेतु है।

"अनिश्चयफला ह्येषा नालं व्यावृत्तिसाधने।" प्रमाणवा० ४.२७७।

"विप्रकृष्टविषयानुपलब्धिः प्रत्यक्षानुमाननिवृत्तिलक्षणा संशयहेतुः, प्रमाणनिवृत्तावप्यर्थाभावासिद्धेरिति।" न्यायबि० पृ० ५९।

दृश्यत्वका लक्षण धर्मकीर्तिने इस प्रकार किया है—"उपलब्धिलक्षणप्राप्तिः—उपलम्भप्रत्ययान्तरसाकल्यं स्वभावविशेषश्च। यः सत्सु अन्येषूपलम्भप्रत्ययेषु सन् प्रत्यक्ष एव भवति स स्वभावः।" न्यायबि० पृ० ३६।

किसी भी वस्तुकी दृश्यताके लिये दो शर्ते हैं—एक तो चक्षुरादि अन्य सभी ज्ञानजनक प्रत्ययोंकी उपस्थिति आवश्यक है तथा उस वस्तुका विशेष स्वभाव जिसके कारण प्रत्ययान्तरोंके साकल्य होने पर वह अवश्य प्रत्यक्ष हो।

धर्मोत्तरने स्पष्टीकरण किया है कि जब किसी वस्तुको कोई द्रष्टा देखनेके लिये प्रवृत्त होता है और उसे देखता है तब समज लेना चाहिए उसमें उक्त दोनों बातें हैं। विप्रकृष्ट वस्तुओंका दर्शन उसी पुरुषको इस लिये नहीं होता है कि अन्य सामग्री मौजुद होते हुए भी उसमें दूसरी बात—विशेष स्वभावकी कमी है।

किन्तु यदि पुरुष देखनेके लिये प्रवृत्त ही नहीं होता है तो वह योग्यदेशस्थ दृश्यको भी नहीं देखता क्योंकि दृश्य पदार्थ तो अपने विशेष स्वभावके साथ मौजुद है परंतु प्रत्ययान्तरका साकल्य नहीं हुआ और वह विप्रकृष्टको भी नहीं देखता क्योंकि उसमें तो दोनों बातोंकी कमी है।

फलित यह होता है कि दर्शनके लिये प्रवृत्त पुरुषकी अपेक्षासे कोई भी पदार्थ प्रत्ययान्तर से विकल होनेके कारण दिखाई न दे यह बात नहीं। स्वभावविशेषकी विकलताके कारण ही न दिखाई दे यह संभव है। तथा देखनेके लिये अप्रवृत्त पुरुषकी अपेक्षासे दृश्य पदार्थ प्रत्ययान्तरकी विकलताके कारण और अदृश्यपदार्थ उभयकी विकलताके कारण दिखाई नहीं देते हैं—न्यायबि० टी० पृ० ३७।

धर्मकीर्ति ने पिशाचादिके अतिरिक्त सर्वज्ञ और वीतरागको भी विप्रकृष्ट पदार्थ माना है। अत एव उनका कहना है कि इन्द्रियगम्य वचनादि जैसे किसी भी हेतुके साथ अतीन्द्रिय सर्वज्ञ और वीतरागका अन्वय सन्दिग्ध ही होगा। व्यतिरेककी असिद्धि तो हो सकती है क्योंकि अवीतराग और असर्वज्ञ अस्मदादिमें वचनव्यावृत्ति नहीं। किसी भी हेतुके लिये अन्वय और व्यतिरेक दोनों रूपोंकी सिद्धि आवश्यक है। वचनादि हेतुमें अन्वय सन्दिग्ध है और व्यतिरेक असिद्ध। अत एव वह अनैकान्तिक हेत्वाभास होगा—न्यायबि० पृ० १०५।

किन्तु समन्तभद्र ने अर्हत् की निर्दोषता—वीतरागतामें युक्तिशास्त्राविरोधि वचनको ही हेतु कहा है और इसीका समर्थन अकलंक और विद्यानन्द ने किया है—आप्तमी० का० ६।

समन्तभद्र ने स्पष्ट कहा है कि विप्रकर्षिता भी आपेक्षिक है। हमारे लिये परमाणु आदि भले ही विप्रकृष्ट हों किन्तु उनका प्रत्यक्ष किसी न किसीको तो अवश्य ही होगा। जिसे होगा वही अर्हन् है, वीतराग है। इसी का समर्थन अकलंकादि ने किया है—वही का० ५।

पृ० ६८. पं० ५. 'तद्योग्यत्वम्' इसके बाद पूर्णविराम चिह्न नहीं चाहिए।

पृ० ६८. पं० ६. 'समारोपितम्'—तुलना—"अथ यो यत्र नास्ति स कथं तत्र दृश्यः। दृश्यत्वसमारोपाद् असन्नपि दृश्य उच्यते। यश्चैवं संभाव्यते—यद्यसावत्र भवेद् दृश्य एव भवेदिति स तत्राविद्यमानोपि दृश्यः समारोप्यः। कश्च एवं संभाव्यः? यस्य समग्राणि स्वान्यदर्शनकारणानि भवन्ति। कदा च तानि समग्राणि गम्यन्ते? यदा एकज्ञानसंसर्गिवस्त्वन्तरोपलम्भः। एकेन्द्रियज्ञानग्राह्यं लोचनादिप्रणिधानाभिमुखं वस्तुद्वयमन्योन्यापेक्षमेकज्ञानसंसर्गि कथ्यते। तयोर्हि सतोर्नैकनियता भवति प्रतिपत्तिः, योग्यतायां द्वयोरपि अविशिष्टत्वात्। तस्मादेकज्ञानसंसर्गिणि दृश्यमाने सत्येकस्मिन् इतरत् समग्रदर्शनसामग्रीकं यदि भवेद् दृश्यमेव भवेदिति संभावितं दृश्यमारोप्यते।" न्यायबि० टी० पृ० २६।

पृ० ६८. पं० ८. 'योग्यतास्वभावः' पदच्छेद करके 'योग्यता स्वभावः' इस प्रकार पढ़ें।

पृ० ६८. पं० १०. 'अत्राहुः' बौद्ध ने जब अभावको भावान्यतिरिक्त सिद्ध करके अनुपलब्धिसे असद्व्यवहारकी उपपत्ति मानकर अभाव प्रमाणका पार्थक्य निषिद्ध किया तब पुनः मीमांसक यहाँसे अपना पक्ष रखता है।

पृ० ६८. पं० १२. 'तत्रैतत् स्यात्' यह शंका बौद्ध की है।

पृ० ६८. पं० १२. 'ननु' यह मीमांसकोंने उत्तर दिया है।

पृ० ६८. पं० १४. 'अत्राहुः' यह बौद्धोंने अपना पक्ष रखा है।

पृ० ६८. पं० १४. 'प्रतिभासोत्पादादेव' तुलना – "यद्यनपेक्षितभावान्तरसंसर्गं च्युतिमात्रमेव तुच्छरूपं ध्वंसः तदा तत्र कारकव्यापारो नैव संभवति भवनधर्मिण्येव तत्संभवात्। तस्याप्यभूत्वा भावोपगमात् कार्यता न विरुध्यते इति चेत्। न। भवनधर्मणो भावरूपताप्राप्तेरभावत्वहानेः। यतो भवतीति भावो भण्यते। नापरमस्मदादेरपि भावशब्दप्रवृत्तिनिमित्तम्। अर्थक्रियासामर्थ्यमिति चेत्। सर्वसामर्थ्यविरहिणस्तर्हि अस्य कथं प्रतीतिविषयता?। न ह्यकारणं प्रतीतिविषयः, अतिप्रसंगात्। तदविषयस्य वा कथं हेतुमत्तावगतिः, वस्तुता वा?, येनोच्यते 'तुच्छरूपमेव तद् वस्तु' इति। प्रतीतिजनकत्वे वा कथं न सामर्थ्यसम्बन्धिता?।" हेतु० टी० पृ० ८०।

पृ० ६८. पं० १५. 'तद्विलक्षणेन' तुलना –

"अभावेऽर्थबलाज्जातेरर्थशक्त्यनपेक्षणे।
व्यवधानादिभावेऽपि जायेतेन्द्रियजा मतिः॥" प्रमाणवा० २.६६।

"नाक्षजा मतिरभावे विषये प्रवर्तते अर्थस्य ग्राह्यस्य बलाज्जातेः। यद्बलेन प्रत्यक्षं प्रवर्तते तदेव प्रतिपद्यते। न चाभावस्य सामर्थ्यं नाम। यदि पुनरर्थसामर्थ्यानपेक्षणमस्य तदा ग्राह्यस्यार्थस्य शक्त्यनपेक्षणे तद्व्यवधानादिभावेपि इन्द्रियजा मतिर्जायेत। न चैतदस्ति। ततोऽर्थसामर्थ्यापेक्षि नाभावविषयं भवितुमर्हति।" मनो०।

पृ० ६८. पं० १७. 'तत् भाव एव' मीमांसकोंने कहा था कि विधिविकल्पकी उत्पत्ति भावसे और प्रतिषेधविकल्पकी उत्पत्ति अभावसे होती है। किन्तु इसके उत्तरमें बौद्धोंने कहा कि भावकी ही उपलब्धिके अनन्तर उपलब्धिसे ही विधिविकल्प और प्रतिषेधविकल्प की उत्पत्ति होती है क्योंकि भाव स्वभावसे ही पररूपासंकीर्णरूपसे व्यवस्थित है।

तुलना – "प्रत्यक्षं हि पुरोवस्थितमौत्तराधर्येण धूमप्रदेशादिकं विधिरूपेण धूमादिस्वलक्षणं सकलसजातीयविजातीयव्यावृत्तं च स्वस्वभावव्यवस्थितेः सर्वासामर्थभावानां परस्परमसंकीर्णरूपत्वात् तत्सामर्थ्यभाविथथास्थानमनुकुर्वत् पाश्चात्यविधिप्रतिषेधविकल्पद्वयं जनयति येन धूमप्रदेशाख्यौ धर्मधर्मिणौ तयोश्चौत्तराधर्यं 'एवमेतत् नान्यथा' इति विकल्पयति।" हेतु० टी० पृ० २२।

पृ० ६८. पं० २०. 'अत्रोच्यते' यहाँसे मीमांसकोंके द्वारा अपने पक्षका समर्थन है।

पृ० ६८. पं० २२. 'तत्रैतद्भवेत्' बौद्ध उत्तर देता है।

पृ० ६८. पं० २२. 'नैतत् चारु' मीमांसकका कथन है।

पृ० ६८. पं० २३. 'पूर्वोक्त' देखो पृ० ६७ §२१।

पृ० ६८. पं० २३. 'उपागतम्' – पंक्ति १ देखो।

पृ० ६८. पं० २५. 'विषयभेदात्' तुलना –

"मानं कथमभावश्चेत् प्रमेयं चास्य कीदृशम्।
मेयो यद्वदभावो हि मानमप्येवमिष्यताम्॥ ४५॥
भावात्मके यथा मेये नाभावस्य प्रमाणता।
तथाऽभावप्रमेयेऽपि न भावस्य प्रमाणता॥ ४६॥" श्लोकवा० अभा०।

पृ० ६८. पं० २७. 'ननु' बौद्ध स्मरण दिलाता है कि अभाव जनक तो हो नहीं सकता अत एव प्रतिषेधविकल्पका विषय भी हो नहीं सकता यह कहा जा चुका है (पंक्ति १६) ।

पृ० ६८. पं० २७. 'अत्र केचिद्' बौद्धों के द्वारा मीमांसक के प्रति किये गये आक्षेपका उत्तर कोई इस प्रकार देता है कि जनक ही विषय बने यह नियम भावके विषयमें ठीक है । अभाव इस नियमका अपवाद है । बौद्धों को यह भी तो कहा जा सकता है कि तुम्हारे मतमें वस्तु क्षणिक है अत एव ग्राह्य जनक ही हो यह नियम बन नहीं सकता । क्योंकि जिस ग्राह्याकार का प्रतिभास हो रहा है वह तो समकालीन होने से ग्राहकका जनक नहीं । जो जनक था वह तो अतीत हो जानेसे ग्राह्य ही नहीं ।

पृ० ६९. पं० १. 'तत्रैतद्भवेत्' उक्त आक्षेपका उत्तर बौद्ध ने यह दिया कि ज्ञान और ज्ञेयमें ग्राह्यग्राहकभाव सन्दंशायोगोलकवत् नहीं जिससे समकालीनता अपेक्षित हो किन्तु ग्राह्य उसे कहा जाता है जो ज्ञानमें स्वाकारका जनन—स्वाकारका समर्पण करे । अभावका कोई आकार ही नहीं तो स्वाकारका समर्पण कैसे ? ।

इस विषयमें देखो प्रमाणवार्तिक की निम्न कारिकाएँ—

"हेतुभावादृते नान्या ग्राह्यता नाम काचन ।
तत्र बुद्धिर्यदाकारा तस्यास्तद्ग्राह्यमुच्यते ॥ २२४ ॥
भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः ।
हेतुत्वमेव युक्तिज्ञा ज्ञानकारार्पणक्षमम् ॥ २४७ ॥
कार्यं ह्यनेकहेतुत्वेप्यनुकुर्वदुदेति यत् ।
तत्तेनाप्यत्र तद्रूपं गृहीतमिति चोच्यते ॥ २४८ ॥
सर्वमेव हि विज्ञानं विषयेभ्यः समुद्भवत् ।
तदन्यस्यापि हेतुत्वे कथञ्चिद् विषयाकृति ॥ ३६८ ॥
यथैवाहारकालादेर्हेतुत्वेऽपत्यजन्मनि ।
पित्रोस्तदेकस्याकारं धत्ते नान्यस्य कस्यचित् ॥ ३६९ ॥
रूपादेश्चेतसश्चैवमविशुद्धधियं प्रति ।
ग्राह्यलक्षणचिन्तेयमचिन्त्या योगिनां गतिः ॥ ५३२ ॥" प्रमाणवा० २ ।

"न हि संदंशायोगोलयोरिव ज्ञानपदार्थयोर्ग्राह्यग्राहकभावः ।" मनो० २.२४७ ।

पृ० ६९. पं० ५. 'अत्र वदन्ति' यह मीमांसकों का कथन है । इस कथनमें जैनों का भी ऐकमत्य है । क्योंकि उनके मतमें भी ज्ञान और ज्ञेयमें कार्यकारणभाव नहीं ।

पृ० ६९. पं० ९. 'मा भूत्' बौद्ध का कथन है ।

पृ० ६९. पं० १०. 'एतदप्यसत्' मीमांसक का कथन है ।

पृ० ६९. पं० ११. 'कः पुनः' बौद्ध का प्रश्न है ।

पृ० ६९. पं० १२. 'न कश्चित्' मीमांसकका उत्तर ।

पृ० ६९. पं० १३. 'तदकार्य' ज्ञान और ज्ञेयमें कार्यकारणभाव नहीं किन्तु ज्ञानकी विशेष योग्यताके कारण ही प्रतिनियत विषयव्यवस्था हो जाती है ऐसा जैनाचार्यों का मत प्रस्तुतमें तुलनीय है—

"यथास्वं कर्मक्षयोपशमापेक्षिणी करणमनसी निमित्तं विज्ञानस्य न बहिरर्थादयः ।

'नान्वनुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणं नाकारणं विषयः' इति बालिशगीतम्।" लघी० स्वो० न्यायकु० पृ० ६७४।

पृ० ६९. पं० १५. 'ननु' यह बौद्ध की आशंका है।

पृ० ६९. पं० १५. 'स्यादयं' यह मीमांसक का समाधान है।

पृ० ६९. पं० १६. 'किं पुनः' बौद्ध की शंका।

पृ० ६९. पं० १७. 'प्रतिबिम्ब्य' मीमांसककृत समाधान—

"गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया॥" श्लोकवा० अभाव० २७।

पृ० ६९. पं० २०. 'अन्ये ब्रुवते' दूसरे प्रकारसे किसीने अभावको प्रमेय सिद्ध करके तद्ग्राहक अभावप्रमाणका पार्थक्य सिद्ध किया है।

पृ० ६९. पं० २२. 'क्षणभङ्गभङ्गे' देखो, पृ० ९१,११८।

पृ० ६९. पं० २४. 'अथ' बौद्ध का कथन है कि वैलक्षण्यके नियामक विरुद्धधर्माध्यास और कारणभेद हैं—"अयं हि भेदो भेदहेतुर्वा विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्च। तदन्यैव न भेदः 'अन्यनिमित्ताभावात् एकं द्रव्यं विश्वं स्यात्' इत्यादि प्रसज्येत। प्रतिभासभेदोऽपि हि इतरेतराभावरूपतया विरुद्धधर्माध्यासतां नातिक्रामति।" हेतु० टी० पृ० ४७।

पृ० ६९. पं० २६. 'तद्वद्भावे' बौद्धों के प्रति यह आक्षेप है।

पृ० ६९. पं० २७. 'अथोच्येत' बौद्ध पक्षका अनुवाद है।

पृ० ७०. पं० १. 'न' मीमांसककृत समाधान।

पृ० ७०. पं० ३. 'अथ' बौद्ध कथन।

पृ० ७०. पं० ५. 'एतत्' मीमांसक का उत्तर।

पृ० ७०. पं० ७. 'तत्रैतत्' बौद्ध पक्षका अनुवाद।

पृ० ७०. पं० ८. 'ननु' मीमांसक की आशंका।

पृ० ७०. पं० १०. 'एकज्ञानसंसर्गः' तुलना—"एकज्ञानसंसर्गाद्-इति। एकत्र हि ज्ञाने द्वावपि तौ स्वाकारद्वारेण संसृष्टौ न साक्षात्। तद्विज्ञानं पदार्थद्वयाकारमाजायमानं तयोरात्मनि संसर्गं दर्शयति।" हेतु० टी० पृ० १७२।

पृ० ७०. पं० १४. 'योग्यता' तुलना—"यावेतौ तुल्ययोग्यतारूपौ तौ यदि सन्तौ भवतस्तदा नैवैकाकारनियता प्रतिपत्तिर्भवति। कस्मात्? असम्भवात्। न ह्येष सम्भवोऽस्ति—यत् तुल्ययोग्यतारूपयोरेक एव प्रतिभासेत नापर इति। तथाहि—अविशिष्टत्वात् योग्यतायाः कस्तत्र स्वाकारं न समर्पयेत्।" हेतु० टी० पृ० १७२।

पृ० ७०. पं० २४. 'वक्ष्यमाणात्' जैनोंके मतसे तो ज्ञानका स्वसंवेदन सिद्ध ही है किन्तु मीमांसक परोक्षज्ञानवादी है, अत एव उसके किसी ग्रन्थके अवतरणकी अपेक्षासे प्रस्तुत कथन को समजना चाहिए। प्रस्तुत ग्रन्थमें तो स्वसंवेदनकी सिद्धि पहले आ चुकी है। देखो, पृ० १७।

पृ० ७०. पं० २८. 'आरोपितस्य' बौद्धों के मतसे अनुमानका विषय सामान्य है। सामान्य

अवस्तु होनेसे—काल्पनिक होनेसे उसे यहाँ आरोपित कहा गया है—"अन्यत् सामान्यलक्षणम् । सोऽनुमानस्य विषयः ।" न्यायबि० परि० १. ।

पृ० ७१. प० ४. 'ननु' तुलना—"तत्र यदसाधारणविषयं दर्शनं तदेव प्रमाणम् । तस्मिन् तथा दृष्टे स येन येन असाधारणं ततो भेदं अभिलपन्ती अतद्व्यावृत्तिविषया स्मृतिरुत्पन्ना प्रत्यक्षबलेन न प्रमाणम्, यथापरिदृष्टाकारग्रहणात् ।...... अर्थक्रियासाधनस्य आलोचना ज्ञानेन दर्शनाददृष्टस्य पुनस्तत्साधनस्य विकल्पेनाप्रतिपत्तेः विधिविकल्पो न प्रमाणम् ।" हेतु० टी० पृ० २५–२७ ।

पृ० ७२. पं० १३. 'निरस्तत्वात्' देखो, पृ० १४ ।

पृ० ७२. पं० २१. 'ननूक्तम्' देखो, पृ० ६३. पं० ११ ।

पृ० ७३. पं० ६. 'किंच, भावांश' के स्थानमें 'किञ्च अभावांश०' ऐसा पाठ होना चाहिए ।

पृ० ७३. पं० १०. 'न हि' ऐसा ही वाक्य हेतुबिन्दुमें भी है—पृ० १८९ । सन्मति० टी० पृ० २८५ पं० २० ।

पृ० ७३. पं० १६. 'अभिधास्यते' देखो पृ० ७४. पं० १३ ।

पृ० ७३. पं० २१. 'अण्णोण्णा०' व्याख्या—"अन्योन्यानुगतयोः परस्परानुप्रविष्टयोः 'इदं वा तद् वा' इति...... विभजनं पृथक्करणं, तद् अयुक्तम्—अघटमानकम्, प्रमाणाभावेन कर्तुमशक्यत्वात् । यथा दुग्धपानीययोः परस्परप्रदेशानुप्रविष्टयोः ।" सन्मति० टी० पृ० ४५२ ।

पृ० ७४. पं० १. 'प्रतिगतम्' तुलना—"प्रतिगतमाश्रितम् अक्षम् । अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीययेति समासः । प्राप्तापन्नालमतिसमासेषु परवल्लिङ्गप्रतिषेधादभिधेयवल्लिङ्गे सति सर्वलिङ्गः प्रत्यक्षशब्दः सिद्धः । अक्षाश्रितत्वं च व्युत्पत्तिनिमित्तं शब्दस्य, न तु प्रवृत्तिनिमित्तम् । अनेन तु अक्षाश्रितत्वेनैकार्थसमवेतमर्थसाक्षात्कारित्वं लक्ष्यते । तदेव शब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तम् । ततश्च यत्किञ्चिदर्थस्य साक्षात्कारिज्ञानं तत् प्रत्यक्षमुच्यते यदि तु अक्षाश्रितत्वमेव प्रवृत्तिनिमित्तं स्यादिन्द्रियज्ञानमेव प्रत्यक्षमुच्येत । न मानसादि । यथा गच्छतीति गौरिति गमनक्रियायां व्युत्पादितोऽपि गोशब्दो गमनक्रियोपलक्षितमेकार्थसमवेतं गोत्वं प्रवृत्तिनिमित्तीकरोति । तथा च गच्छति अगच्छति च गवि गोशब्दः सिद्धो भवति ।" न्यायबि० टी० पृ० १०–११ । सन्मति० टी० पृ० ६२. पं० ३ । प्रमाणमी० भाषा० पृ० २३. पं० २४ ।

पृ० ७४. पं० ५. 'वैशद्यम्' वैशद्यके लक्षणकी चर्चामें शान्त्याचार्यने निर्विकल्पकत्व तथा स्पष्टत्वरूप वैशद्यका लक्षण खण्डित किया है । और अन्तमें 'इदन्त्वेनावभासन'रूप साक्षात्कारित्वको वैशद्यका सम्यग् लक्षण सिद्ध किया है । मतलब यह है कि प्रत्यक्ष ज्ञान विशद होता है अर्थात् साक्षादनुभवरूप होता है ऐसा शान्त्याचार्यको इष्ट है ।

नैयायिक, वैशेषिक, मीमांसक और सांख्योंके प्रत्यक्ष प्रमाणके प्राचीन लक्षणोंमें प्रत्यक्षकी उत्पादक सामग्रीका या अप्रामाण्यव्यावर्तक विशेषणोंका तो निर्देश हुआ है किन्तु प्रत्यक्षका अन्यव्यावृत्त स्वरूप प्रकाशित करनेवाले विशद, स्पष्ट, या साक्षात्कारात्मक जैसे शब्दोंका प्रयोग देखा नहीं जाता । दार्शनिक क्षेत्रमें बौद्धोंके पदार्पणके साथ ही प्रत्यक्षका

संक्षिप्त और स्वरूपबोधक लक्षण प्रत्यक्षलक्षणमें प्रविष्ट हुआ, एक ओर तो उन्होंने प्रत्यक्षका कल्पनापोढ, निर्विकल्प इत्यादि निषेधात्मक लक्षण बताया और दूसरी ओर प्रत्यक्षको विशद प्रतिभास (प्रमाणवा० २.१३०), साक्षात्कारित्वव्यापारयुक्त (न्यायबि० पृ० २०) स्फुटाभ (वही पृ० २१), स्पष्ट (प्रमाणवा० २.२८१,२८४), स्फुटाभता (वही २.८), स्पष्ट प्रतिभास (वही २.१४८,५०४) इत्यादि विधेयात्मक रूपसे प्रतिपादित किया। यही कारण है बादके दार्शनिकोंने भी प्रत्यक्षके लक्षणमें इन विशेषणोंको अपनाया। जैन दार्शनिक अकलंकने[1] और विद्यानन्दने[2] तथा तदनुगामी अन्य[3] आचार्योंने प्रत्यक्षको स्पष्ट, विशद या साक्षात्कारि[4] कहा। यौग विद्वान् भासर्वज्ञने प्रत्यक्षको अपरोक्षानुभव[5] का साधन कहा और न्यायसिद्धान्तमंजरीकारने 'साक्षात्काररूप-प्रमाकारणम्' (पृ० २) कहा। मीमांसक शालिकनाथने साक्षात्प्रतीतिको प्रत्यक्ष कहा[6]। नव्यन्यायके पिता गंगेशने तो प्राचीन लक्षणका खण्डन करके "प्रत्यक्षस्य साक्षात्कारित्वं लक्षणम्।" (तत्त्वचिं० पृ० ५४३) ऐसा प्रत्यक्षका जो लक्षण किया वह बौद्ध असरसे ही किया है ऐसा समझना चाहिए।

यद्यपि इन सभी दार्शनिकोंने प्रत्यक्षको स्पष्ट, विशद या साक्षात्कारात्मक बताया फिर भी बौद्धोंने निर्विकल्पकत्व और स्पष्टत्व का जो समीकरण किया था उसे किसीने मान्य नहीं रखा। यही कारण है कि शान्त्याचार्य वैशद्यके लक्षणरूपसे निर्विकल्पकत्वका खण्डन करते हैं। बौद्धोंकी मान्यता है कि जो स्पष्ट होगा वह निर्विकल्पक ही होगा और जो निर्विकल्पक होगा वह स्पष्ट ही होगा। कल्पनाज्ञान स्पष्ट हो नहीं सकता वह अस्पष्ट ही है[7]। दूसरे दार्शनिकोंने प्रत्यक्षको विशद तो मान लिया किन्तु उसकी ऐकान्तिक निर्विकल्पकता स्वीकृत नहीं की अत एव बौद्धोंके उक्त सिद्धान्तका खण्डन करके ही प्रत्यक्षको स्पष्ट या विशद सिद्ध किया। दूसरे आचार्योंने स्पष्टता और विशदतामें कोई भेद नहीं किया है[8] अत एव प्रत्यक्षको कहीं स्पष्ट कहा और कहीं विशद। पूर्वोक्त बौद्ध उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि कहीं तो धर्मकीर्तिने प्रत्यक्षको स्पष्ट कहा और कहीं विशद। इसी लिये हम बादके दार्शनिकोंमें भी देखते हैं कि किसीने प्रत्यक्षको स्पष्ट कहा और किसीने विशद। किन्तु शान्त्याचार्यने विशद और स्पष्टके अर्थमें भी भेद बताया है। उनका कहना है कि प्रत्यक्षका लक्षण विशदता अर्थात् साक्षात्कारित्व—'इदन्त्वेनावभास' हो सकता है किन्तु स्पष्टता नहीं। क्योंकि दूरदेशस्थित पदार्थका दर्शन अस्पष्ट होते हुए भी प्रत्यक्ष कहा जाता है और बालककी अपेक्षा वृद्धका दर्शन अस्पष्ट होते हुए भी प्रत्यक्षान्तर्गत है। अत एव स्पष्टता प्रत्यक्षका लक्षण नहीं।

---

१. "स्पष्टं साकारमंजसा" न्यायवि० का० ३। "प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं" लघी० ३। २. "विशदज्ञानात्मकं प्रत्यक्षम्" प्रमाणप० पृ० ६७। तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८४। ३. परीक्षामुख २.३। प्रमाणन० २.२। प्रमाणमी० १.१.१३। प्रमालक्ष्म का० २०। ४. न्याया० टी० पृ० २८। ५. न्यायसार पृ० २। ६. प्रकरणपं० पृ० ५१। ७. "विकल्पो हि विकल्पितार्थगोचरत्वादस्पष्टप्रतिभास एव।" प्रमाणवा० मनो० २.५०३। "विधूतकल्पनाजालं स्पष्टमेवावभासते।" "न विकल्पानुबद्धस्य स्पष्टार्थप्रतिभासिता।" प्रमाणवा० २.२८१,२८३। ८. "विशदं स्पष्टं यद्विज्ञानं तत् प्रत्यक्षम्" प्रमेयक० पृ० २१६। "वैशद्यं स्पष्टत्वापरपर्यायं स्वीकार्यम्।" स्याद्वादर० पृ० ३१७।

यही बात विद्यानन्दने भी कही है –

"अध्यक्षत्वं नहि व्याप्तं स्पष्टत्वेन विशेषतः ।
दविष्ठपादपाध्यक्षज्ञानस्यास्पष्टतेक्षणात् ॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० २२८ ।

उनका कहना है कि कभी कभी प्रत्यक्षज्ञान भी अस्पष्ट होता है क्योंकि स्पष्ट प्रत्यक्षमें जैसा क्षयोपशम होता है वैसा अस्पष्ट अध्यक्षमें नहीं होता ।

"क्षयोपशमभेदस्य तादृशोऽसंभवादिह ।
अस्पष्टात्मकसामान्यविषयत्वं व्यवस्थितम् ॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० २२८ ।

तब प्रत्यक्षको स्पष्ट कहा जाता है उसका क्या मतलब है? यदि अस्पष्ट भी प्रत्यक्ष हो तो प्रत्यक्षके लक्षणमें अकलंकने "स्पष्टम्" ऐसा विशेषण दिया है उसकी संगति कैसे करना? इस प्रश्नके उत्तरमें विद्यानन्दने प्रत्यक्षकी लक्षणभूत स्पष्टताका जो समर्थन किया है उसे यदि शान्त्याचार्य स्वीकृत करते तो असंगतिको स्थान रहता नहीं । तथा विशद और स्पष्टमें भेद करने की आवश्यकता रहती नहीं । विद्यानन्दका कहना है कि पारमार्थिक प्रत्यक्षका लक्षण जब स्पष्टत्व कहा जाता है तब मतिज्ञानादि जो इन्द्रियानिन्द्रियसापेक्ष हैं वे आत्ममात्र-सापेक्ष पारमार्थिक प्रत्यक्ष की अपेक्षा अत्यन्त अस्पष्ट होनेसे प्रत्यक्ष कहनेके योग्य ही नहीं अत एव परोक्ष ज्ञान हैं । किन्तु जब व्यवहार नयका आश्रयण किया जाता है तब मत्यादि ऐन्द्रियक ज्ञान प्रादेशिक स्पष्ट होनेसे प्रत्यक्षान्तर्गत हो जाते हैं[1] । दूरदेशसे जो वृक्षादिका दर्शन अस्पष्ट कहा जाता है वह मात्र अस्पष्ट नहीं किन्तु उसमें संस्थान विषयक स्पष्टता भी है और उसी स्पष्टताकी मुख्यतासे उस ज्ञानमें प्रत्यक्षका व्यवहार अनुचित नहीं[2] ।

शान्त्याचार्यका अभिप्राय यह जान पडता है कि इस व्यवहार और निश्चयके झगडेसे अलिप्त रह करके यदि प्रत्यक्षका निर्दोष लक्षण करना हो तो स्पष्टताके स्थानमें वैशद्य शब्द रख करके उसका अर्थ साक्षात्कार करना चाहिए । जिससे अस्पष्ट दूरदेशादि दर्शन भी प्रत्यक्षान्तर्गत हो सके । और अन्य दार्शनिकों को भी उसमें आपत्ति न हो । एक और बात भी है कि सन्मतिटीकाकार अभयदेवने अस्पष्टत्वकी जो व्याख्या की है उसे मद्दे नजर रखकर यदि शान्त्याचार्य प्रत्यक्षका लक्षण बनाते तब वे स्पष्टत्वको प्रत्यक्षका लक्षण नहीं कह सकते थे । क्योंकि अभयदेवने[3] उस अस्पष्ट ज्ञान को भी प्रत्यक्षान्तर्गत गिना है । अत एव शान्त्याचार्यने विशद और स्पष्टमें भेद करके विशदशब्दसे ही प्रत्यक्षका बोध कराना चाहा उसमें उनकी विवेकदृष्टि स्पष्ट है[4] ।

अकलंकदेवने वैशद्यका अर्थ "अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम्" (लघी० ३)

---

१. तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८४ । २. "पादपादिसंस्थानमात्रे दवीयसापि स्पष्टत्वावस्थितेः ।"— तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८५. पं० ३४ । "समन्धकारादौ व्यामलितवृक्षादिवेदनमपि अध्यक्षप्रमाणस्वरूप-मेव संस्थानमात्रे वैशद्याविसंवादित्वसम्भवात् ।" प्रमेयक० पृ० २२० । ३. "प्रत्यक्षबुद्धावपि अस्पष्टलक्षणप्रतिभासस्य प्रतिपादितत्वात् । यत्र हि विशेषोपसर्जनसामान्यप्रतिभासो ज्ञाने तद् अस्पष्टं व्यवह्रियते यत्र च सामान्योपसर्जनविशेषप्रतिभासः सामग्रीविशेषात् तत् स्पष्टमुच्यते ।" सन्मति० टी० पृ० २६० । ४. किन्तु अभयदेव स्वयं स्पष्ट और विशदमें कोई भेद नहीं मानते । उन्होंने स्पष्टके पर्यायरूपसे विशद शब्दका प्रयोग किया है – सन्मति० टी० पृ० ५५२ ।

किया है। इसी अर्थका अनुसरण देवसूरि ने (प्रमाणन० २.३) किया है। न्यायकुमुदचन्द्र में प्रभाचन्द्र ने उसका यह अर्थ किया है—

"अनुमानादिभ्योऽतिरेकेण आधिक्येन वर्णसंस्थानादिविशेषरूपतया अर्थग्रहणलक्षणेन प्रस्फुरतरविशेषान्वितार्थावधारणरूपेण वा यद् विशेषाणां नियतदेशकालसंस्थानाद्यर्थाकाराणां प्रतिभासनम्।" न्यायकु० पृ० ७४।

माणिक्यनन्दि ने **"प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन प्रतिभासनम्"** (परीक्षामुख २.४) ऐसा वैशद्यका लक्षण किया है और प्रमेयकमलमार्तण्डमें प्रभाचन्द्र ने उस लक्षणका समर्थन भी किया है[1]। किन्तु वादी देवसूरि ने इस लक्षणका खण्डन करके पूर्वोक्त अकलंकके मतको ही मान्य रखा है[2]।

गंगेश ने भी माणिक्यनंदी के समान ही प्रत्यक्षका लक्षण स्थिर किया है और नवीन नैयायिकों ने उसको स्वीकार किया है[3]।

आचार्य हेमचन्द्र ने गंगेश और प्राचीन जैनाचार्यों के लक्षणोंको विकल्पसे स्वीकार किया है— **"प्रमाणान्तरानपेक्षेदन्तया प्रतिभासो वा वैशद्यम्।"** प्रमाणमी० १.१.१४।

यशोविजयजी ने अकलंकका ही अनुसरण किया है[4]।

पृ० ७४. पं० ६. **'अथ तच्छ्रुतम्'** दूरदेशस्थपादपादिका अस्पष्टदर्शन श्रुतज्ञान मानना चाहिए ऐसा किसी का मत यहाँ उल्लिखित है। आचार्य विद्यानन्द ने भी इस मतको पूर्वपक्षरूपसे रख कर उसका खण्डन किया है[5]। और स्पष्ट रूपसे उक्तज्ञानको अक्षज प्रत्यक्ष सिद्ध किया है तथा उसकी श्रुतज्ञानता निषिद्ध की है—

"दविष्ठपादपादिज्ञानम् अक्षजम्, अक्षान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् सन्निकृष्टपादपादिविज्ञानवत्। श्रुतज्ञानं वा न भवति साक्षात् परंपरया वा मतिपूर्वकत्वाभावात् तद्वदेवेति।" तत्त्वार्थश्लो० पृ० २२८।

विद्यानन्द ने उक्तपूर्वपक्षका आधार **"श्रुतमस्पष्टतर्कणम्"** इस श्रुतलक्षणको बताया है—यह वाक्य किस जैनाचार्यका है इसका पता नहीं। किन्तु आचार्य विद्यानन्द ने स्वयं श्रुतकी व्याख्याके प्रसंगमें इसका उपयोग किया है और इस वाक्यांशके आगे **"मतिपूर्वं"** ऐसा विशेषण जोड कर श्रुतका निर्दोष लक्षण किया है जिससे मात्र अस्पष्टताके कारण किसी ज्ञानको श्रुत ज्ञान कहनेकी शक्यता नहीं रह जाती।

किन्तु शान्त्याचार्य ने उक्त पूर्वपक्षका आधार **'श्रुतमस्पष्टतर्कणम्'** को न बनाकर अकलंकोपज्ञ श्रुतके तीन भेदमेंसे प्रत्यक्षपूर्वक श्रुतको बनाया है ऐसा उनकी चर्चासे स्पष्ट है।

अकलंकने प्रमाणसंग्रहकी द्वितीय कारिका की स्वोपज्ञ व्याख्यामें "श्रुतम्

---

१. परीक्षामुख तथा उसकी टीकाओंमें सर्वत्र "प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम्" ऐसा सूत्र पाठ छपा हुआ है किन्तु मार्तण्डकार प्रभाचन्द्रको उस सूत्रका "अव्यवधानेन प्रतिभासनं वैशद्यम्" ऐसा पाठ मान्य है—ऐसा मेरा मन्तव्य है। २. स्याद्वादर० पृ० ३१७। ३. "ज्ञानाकरणकं ज्ञानम् इति तु वयम्" तत्त्वचिं० प्र० पृ० ५५२। मुक्ता० का० ५१। ४. जैनत० पृ० २। ५. "मतिपूर्वं ततो ज्ञेयं श्रुतमस्पष्टतर्कणम्" तत्त्वार्थश्लो० पृ० २३७।

अविप्लवं प्रत्यक्षानुमानागमनिमित्तम् ।" ऐसा कहा है उसीके आधारसे शान्त्याचार्यने "अथ त्रिधा श्रुतम्-प्रत्यक्षपूर्वकम्, लैङ्गिकम्, शाब्दं चेति" इत्यादि कथन किया है क्योंकि अंतमें जाकर वे "त्रिधा श्रुतमविप्लवम्" ऐसी प्रमाणसंग्रहकी कारिकाका निरास करते हैं।

इससे स्पष्ट है कि उक्त पूर्वपक्ष अकलंकका है।

प्रत्यक्षके विषयमें अन्य ज्ञातव्य बातोंके लिये देखो, प्रमाणमीमांसा-भाषाटिप्पण पृ० १३२।

पृ० ७४. पं० १७. 'त्रिधा' प्रत्यक्षका विभाग दार्शनिकोंने अनेक दृष्टिसे किया है।

प्रशस्तपादने इन्द्रियज और योगज ऐसे प्रत्यक्षके दो विभाग प्रत्यक्षके कारणके भेदसे या अधिपतिके भेदसे किये हैं। इन्द्रियाँ छः हैं—घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र और मन अत एव इन्द्रियज प्रत्यक्षके छः भेद हैं। और योगिके दो भेद हैं—युक्त और वियुक्त अत एव योगज प्रत्यक्ष भी दो तरहका है[1]।

न्यायसूत्रका आधार लेकरके टीकाकारोंने प्रत्यक्षके निर्विकल्प और सविकल्प ऐसे दो भेद भी किये हैं। ऐसे विभागके समय नैयायिकोंकी दृष्टि प्रत्यक्षके स्वरूपभेदकी ओर विशेषतः है। न्यायसूत्रके भाष्य और वार्तिकमें समस्त प्रत्यक्षसूत्र(१.१.४)को प्रत्यक्ष सामान्यका लक्षणपरक कहा गया है[2]। किन्तु वाचस्पतिने उस सूत्रको प्रत्यक्षके दो भेद—निर्विकल्प और सविकल्पके जुदे जुदे दो लक्षणोंका संग्राहक माना है। उनका कहना है कि सूत्रस्थ 'अव्यपदेश्य' पदसे निर्विकल्पजातीय प्रत्यक्षका और 'व्यवसायात्मक' पदसे सविकल्पजातीय प्रत्यक्षका ग्रहण होता है[3]।

नव्य नैयायिकोंने इन्द्रिय-व्यापारकी विशेषताकी दृष्टिसे प्रत्यक्षका विभाजन किया है। उनके मतानुसार प्रत्यक्षके मुख्य दो भेद हैं लौकिक और अलौकिक। संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय और विशेषणविशेष्यभाव ये छः इन्द्रियोंके लौकिक व्यापार हैं। अत एव इन छः प्रकारके[4]सन्निकर्षरूप लौकिक व्यापारसे जन्य प्रत्यक्षको लौकिक प्रत्यक्ष कहा जाता है। इस लौकिक प्रत्यक्षके मुख्य दो भेद हैं। बाह्येन्द्रियव्यापार-जन्य और अन्तरिन्द्रियव्यापारजन्य। बाह्य चक्षुरादि पूर्वोक्त पांच इन्द्रियके व्यापारजन्य बाह्य प्रत्यक्ष पांच प्रकारका है। और अन्तरिन्द्रिय एक मन है अत एव मनोजन्य मानस प्रत्यक्ष एक प्रकारका है।

अलौकिक व्यापारके तीन भेद हैं—सामान्यलक्षण, ज्ञानलक्षण और योगजधर्म। अत एव अलौकिक प्रत्यक्षका भी उक्त तीन अलौकिक व्यापारके भेदसे त्रैविध्य है[5]।

---

१. प्रशस्त० पृ० ५५२। २. "तस्मादेकद्वित्रिचतुष्पदव्युदासात् पञ्चपदपरिग्रहेण त्रिलक्षणीकृत्य समस्तं लक्षणमित्युच्यते" न्यायवा० पृ० ४०। ३. "इह द्वयी प्रत्यक्षजातिः—अविकल्पिका, सविकल्पिका चेति। तत्र उभयी इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यभिचारीति लक्षणेन संगृहीतापि लक्षणभेदोपात्ता, तत्र विप्रतिपत्तेः। तत्राविकल्पिकायाः पदमव्यपदेश्यमिति। सविकल्पिकायास्तु व्यवसायात्मकमिति।" तात्पर्य० पृ० १२५। ४. देखो प्रस्तुत टिप्पण पृ० १४१। ५. कारिका० का० ५२ से।

लौकिक प्रत्यक्ष सविकल्प और निर्विकल्प दोनों प्रकारका होता है जब कि अलौकिक एक सविकल्पकरूप ही होता है[1]।

धर्मकीर्तिने प्रत्यक्षके चार भेद किये हैं—इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष, स्वसंवेदन और योगिप्रत्यक्ष[2]। ये चारों ही निर्विकल्प होते हैं। प्रत्यक्षका यह विभाजन भी अधिपतिकी प्रधानता को लक्ष्यमें रख कर किया गया है। इन चार भेदोंमें स्वसंवेदन एक ऐसा भेद है जो स्वरूपबोधक है बाकीके तीन साधनभेदसे भिन्न हैं।

प्राभाकरोंने प्रत्यक्षका भेद विषयके भेदसे किया है। प्रमेयप्रत्यक्ष, प्रमातृप्रत्यक्ष और प्रमितिप्रत्यक्ष ऐसे प्रत्यक्षके तीन भेद शालिकनाथने गिनाये हैं[3] उससे स्पष्ट है कि शालिकनाथ प्रत्यक्षके भेदका आधार विषयभेद मानता है। उसने प्रमेयप्रत्यक्षके दो भेद किये हैं—सविकल्प और निर्विकल्प। उसके मतमें प्रमेय हैं—द्रव्य, गुण और जाति। उन्हींके साथ इन्द्रियसन्निकर्षसे जो ज्ञान होगा वह प्रमेयप्रत्यक्ष है। और वह निर्विकल्परूप और सविकल्परूप दो प्रकारका है[4]।

प्राभाकरोंकी मान्यता है कि सभी प्रकारकी प्रतीतिओंमें चाहे वह प्रत्यक्ष हो, अनुमिति या स्मरणरूप हो, आत्माका तो प्रत्यक्ष ही होता है। ऐसी कोई प्रतीति हो नहीं सकती जिसमें विषयका प्रतिभास हो किन्तु आत्माका प्रत्यक्ष न हो। अत एव प्रमाताकी दृष्टिसे सभी ज्ञान—प्रत्यक्ष या परोक्ष—प्रत्यक्ष ही हैं। किन्तु यदि प्रमेयकी दृष्टिसे ज्ञानका विभाजन किया जाय तब यदि प्रमेय परोक्ष हो तो ज्ञान भी परोक्ष कहा जायगा और जब प्रमेय प्रत्यक्ष होगा प्रतीति भी प्रत्यक्ष कही जायगी। अत एव प्रमाणभेदकी व्यवस्थाका आधार प्राभाकरोंके मतानुसार प्रमेयकी प्रत्यक्षता या परोक्षता है। प्रमाता तो सभी प्रतीतिओंमें प्रत्यक्ष ही है[5]।

प्राभाकरोंका कहना है कि प्रमाताकी तरह प्रमिति भी प्रत्यक्ष होती ही है। फर्क यह है कि प्रमेय और प्रमाता को प्रत्यक्ष करनेवाली प्रतीति उन दोनोंसे भिन्न होती है। किन्तु प्रमिति को प्रत्यक्ष करनेवाली प्रतीति भिन्न नहीं किन्तु अभिन्न है। अर्थात् प्रतीति स्वयं प्रत्यक्ष होती है। और प्रमाता और प्रमेय अन्यसे प्रत्यक्ष होते हैं[6]। मेय और माता तो अप्रकाशस्वभाव हैं अत एव उनके प्रत्यक्षके लिये प्रकाशकी आवश्यकता है। किन्तु प्रतीति—प्रकाश तो स्वयं प्रकाशस्वभाव है अत एव अन्य प्रकाशकी अपेक्षा नहीं। प्रकाश हो करके अप्रकाशित रहे यह संभव ही नहीं। उसकी सत्ता ही प्रकाशरूप है[7]।

---

१. न्यायकोष पृ० ४९९। २. न्यायबिन्दु पृ० १७। ३. प्रत्यक्षस्य विशेषमाह—मेयमातृप्रमासु सा" प्रकरणपं० पृ० ५२। ४. "मेयेष्विन्द्रिययोगोत्था द्रव्यजातिगुणेषु सा। सविकल्पाऽविकल्पा च प्रत्यक्षा बुद्धिरिष्यते॥" प्रकरणपं० पृ० १२७। ५. "यावती काचिद्ग्रहणस्मरणरूपा प्रतीतिस्तत्र साक्षादात्मा प्रतिभाति। न ह्यात्मन्यनवभासमाने विषया भासन्ते।······नन्वेवं तर्हि सर्वं प्रत्यक्षं प्रसक्तं? यदि मात्रभिप्रायम्, इष्टमेव। प्रमेयाभिप्रायमिति चेन्न। सर्वत्र प्रमेयस्यापरोक्षत्वनियमाभावात्।······तेन प्रमेयापेक्षया प्रमाणान्तरव्यपदेशः।" प्रकरणपं० पृ० ५६। ६. "सर्वाश्च प्रतीतयः स्वयं प्रत्यक्षाः प्रकाशन्ते। तासाञ्च युक्तमेव स्वात्मनि प्रत्यक्षत्वं मानत्वं च। मेये मातरि च व्यतिरिक्ता प्रतीतिः साक्षात्कारवती। मितौ तु अव्यतिरिक्ता।" प्रकरणपं० पृ० ५६। ७. "अप्रकाशस्वभावानि मेयानि माता च प्रकाशमपेक्षन्ताम्। प्रकाशस्तु प्रकाशात्मकत्वान्नान्यमपेक्षते।······प्रकाशस्य त्वप्रकाशमानस्य सत्तैव नाभ्युपेयते।" प्रकरणपं० पृ० ५७।

प्राचीन जैन आगमोंमें इन्द्रियजन्य मतिज्ञानको प्रत्यक्ष भी कहा है और परोक्ष भी कहा है। इस विरोधका समन्वय करके आचार्य जिनभद्रने कह दिया कि वस्तुतः प्रत्यक्षके दो भेद हैं। एक सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और दूसरा पारमार्थिक प्रत्यक्ष। जैनदार्शनिकोंने प्रत्यक्ष-शब्दगत 'अक्ष'का अर्थ आत्मा किया है। अत एव जो आत्ममात्रसापेक्ष हो वही पारमार्थिक प्रत्यक्ष है और क्योंकि इन्द्रियजन्य ज्ञानोंको लोकमें – अन्य दर्शनोंमें प्रत्यक्ष कहा जाता है अत एव वह सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष है। यही व्यवस्था प्रायः सभी जैन दार्शनिकोंने स्वीकृत की है[1]।

आचार्य अकलंकने भी अन्यत्र यही व्यवस्था की है[2] किन्तु उन्होंने अपने प्रमाणसंग्रहमें – प्रत्यक्षके तीन भेद किये हैं[3] – इन्द्रियप्रत्यक्ष, अनिन्द्रियप्रत्यक्ष और अतीन्द्रियप्रत्यक्ष – प्रमाणसं० पृ० ९७। आचार्य विद्यानन्दने भी प्रमाणपरीक्षामें प्रत्यक्षके उपर्युक्त तीन भेद बताये हैं – प्रमाणप० पृ० ६८। उन्हीका अनुकरण प्रस्तुतमें शान्त्याचार्यने किया है और प्रत्यक्षके उक्त तीन भेद गिनाये हैं।

प्रत्यक्षके अवान्तर भेदोपभेदोंके लिये देखो – प्रमाणप० पृ० ६८। स्याद्वादर० २.४–२३।

पृ० ७४. पं० २१. **'न मानसादि'** यह बौद्धसंमत मानसप्रत्यक्ष और स्वसंवेदन प्रत्यक्षके निषेधको लक्ष्य करके कहा गया है।

पृ० ७४. पं० २२. **'इन्द्रियम्'** इन्द्रियके विषयमें विस्तृत ऐतिहासिक और दार्शनिक आलोचनाके लिये देखो, प्रमाणमीमांसा – भाषाटिप्पण पृ० ३८।

पृ० ७४. पं० २३. **'ननु'** सांख्योंका यह पूर्वपक्ष शब्दशः व्योमवतीटीकासे लिया गया है। देखो, व्यो० पृ० १५८। कंदली पृ० २३।

पृ० ७५. पं० २०. **'वक्ष्यामः'** दूसरे ग्रन्थमेंसे शब्दशः पाठ लेने पर अपने ग्रन्थमें असंगत ऐसी बात भी प्रविष्ट हो जाती है इसका यह उदाहरण है। 'वक्ष्यामः' यह पद व्योमवतीका ज्योंका त्यों शान्त्याचार्यने उद्धृत कर लिया है। प्रस्तुत वार्तिकवृत्तिमें तो 'वक्ष्यामः' कह करके जिस अनुमानका निर्देश किया है उसका कोई प्रसंग आगे आता ही नहीं। किन्तु व्योमशिवको स्वयं व्योमवतीमें उक्त अनुमान का निर्देश करना है अत एव उसने 'वक्ष्यामः' ऐसे पदका प्रयोग किया। शान्त्याचार्यने अवधानपूर्वक पाठमें काटछांट की नहीं अत एव व्योमशिवका वह पद ज्योंका त्यों उद्धृत हो गया, तुलना – "तैजसत्वेऽनुमानमिति वक्ष्यामः।" व्यो० पृ० १५९।

प्रस्तुत अनुमानके लिये देखो, व्यो० पृ० २५६। कंदली पृ० ४०।

पृ० ७६. पं० ६. **'वक्ष्यमाणम्'** यह भी पूर्ववत् व्योमशिवकी ही उक्ति है – व्यो० पृ० १६०। किन्तु पूर्ववत् प्रस्तुतमें असंगत नहीं क्योंकि शान्त्याचार्यने आगे जा करके सांख्योंका खण्डन किया है। देखो, पृ० ११३।

---

१. देखो प्रमाणमी० भाषाटिप्पण पृ० २२।   २. "प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसंव्यवहारतः।" लघी० ३।   ३. लघीयस्त्रयकी स्वविवृतिमें भी अन्यत्र ये ही तीन भेद किये हैं – लघी० स्व० ६१।

पृ० ७६. पं० १२. 'प्रतन्यते' सांख्यके पूर्वपक्षका वैशेषिकने जो उत्तर दिया वह यहाँ समाप्त होता है। और व्योमवतीटीकाका उद्धरण भी यहीं समाप्त होता है। देखो, व्यो० पृ० १६०।

पृ० ७६. पं० २१. 'तमः' नैयायिक, वैशेषिक और प्राभाकरोंने 'तम' को अभावात्मक माना है। जैन, भर्तृहरि, भाट्ट, सांख्य और वेदान्तिओंने उसे भावात्मक माना है। आयुर्वेद सांख्यदर्शनानुगामी होनेसे उसमें भी तमको भावात्मक माना है। अन्धकारके विषयमें दार्शनिक चर्चाके लिये देखो, सन्मति० टी० पृ० ५४३। न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ६६६। इन दोनों ग्रन्थकी तुलनात्मक टिप्पणीमें अन्यदर्शनोंकी मान्यताको तत्तत्-दर्शनके ग्रन्थोंसे मूल पाठ उद्धृत करके बताया गया है।

पृ० ७६. पं० २५. 'लब्धिः'—तुलना—"लम्भनं लब्धिः। का पुनरसौ? । ज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषः। यत्सन्निधानाद् आत्मा द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्तिं प्रति व्याप्रियते, तन्निमित्त आत्मनः परिणाम उपयोगः।" सर्वार्थ० २.१८। "अर्थग्रहणशक्तिः लब्धिः, उपयोगः पुनः अर्थग्रहणव्यापारः।" लघी० स्व० ५।

पृ० ७६. पं० २९. 'गवाक्ष' तुलना—"उवलद्धा तत्थाऽऽया तव्विगमे तदुवलद्धसरणाओ। गेहगवक्खोवरमे वि तदुवलद्धाऽणुसरिया वा॥" विशेषा० गा० ९२।

पृ० ७७. पं० ९. 'स्मृति' स्मृत्यादि अत्यन्त परोक्ष ज्ञानोंको भी मानसप्रत्यक्ष बताने की परंपरा अकलंकके ग्रन्थमें देखी जाती है। उन्होंने स्पष्ट ही कहा हैं कि स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और आभिनिबोधिक ज्ञान अनिन्द्रियप्रत्यक्ष हैं—"अनिन्द्रियप्रत्यक्षं स्मृतिसंज्ञाचिन्ताऽऽभिनिबोधात्मकम्।" लघी० स्व० ६१।

शास्त्रमें इन्द्रिय और अनिन्द्रियसे होनेवाले ज्ञानको मतिज्ञान कहा गया है। अत एव उन्होंने संपूर्ण मति ज्ञानको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मान करके उसके दो भेद किये इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनिन्द्रियप्रत्यक्ष। शास्त्रमें स्मृति आदि ज्ञानोंको मतिरूप माननेकी भी पद्धति थी। अत एव उन्होंने स्मृत्यादि ज्ञानोंको अनिन्द्रियप्रत्यक्षके भेदरूपसे बता दिया।

अकलंककी तरह वादिराजका भी यही मन्तव्य है कि स्मृत्यादि ज्ञान मानसप्रत्यक्ष हैं—प्रमाणनिर्णय पृ० २७।

यद्यपि स्मृति, संज्ञा आदि ज्ञानोंको नंदीसूत्र (सूत्र ३६) तथा आवश्यकनिर्युक्तिमें (गा० १२) मति ज्ञान कहा गया है[1], आचार्य उमास्वातिने भी तत्त्वार्थसूत्रमें आगमिक उक्त परंपराका समर्थन किया है;[2] तथापि आगमिक परंपराको संपूर्ण मतिज्ञान प्रत्यक्षरूपसे—सांव्यवहारिकप्रत्यक्षरूपसे मान्य हो ऐसा प्रतीत नहीं होता। क्योंकि नंदीसूत्रमें इन्द्रियप्रत्यक्षके भेदरूपसे श्रोत्रादि पांच इन्द्रियोंसे होनेवाले ज्ञानको ही बताया गया है—"इन्द्रियपच्चक्खं पंचविहं पण्णत्तं तं जहा, सोइन्दियपच्चक्खं, चक्खिन्दियपच्चक्खं, घाणिन्दियपच्चक्खं, जिब्भिन्दियपच्चक्खं, फासिन्दियपच्चक्खं" नन्दी० सू० ४।

---

१. "सण्णा सई मई पण्णा सव्वं आभिणिबोहियं।" २. "मतिः स्मृतिः संज्ञा, चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्" तत्त्वार्थ० १.१३।

नन्दीसूत्रमें परोक्षके भेद गिनाते हुए मतिज्ञानके संपूर्ण भेदोपभेदोंको बताया गया है[1]। उसमें मानस अवग्रहादि तथा स्मृत्यादि भी गिनाये हैं। किन्तु सिर्फ इन्द्रिय ज्ञानको ही प्रत्यक्षके भेदरूपसे गिनाया। इससे स्पष्ट है कि नन्दीकारके मतमें सांव्यवहारिक प्रत्यक्षमें सिर्फ इन्द्रिय ज्ञानका समावेश है अनिन्द्रिय ज्ञानका नहीं।

अत एव यह कहना पडता है कि अकलंकने स्मृत्यादिको मानसप्रत्यक्ष कहा उसका आधार आगमिक परंपरा नहीं है। उन्होंने अपनी सूझसे ही ऐसा किया है या किसी अज्ञात परंपराका आधार लेकर किया है इसका निर्णय कठिन है। इतना तो निर्णयपूर्वक कहा जा सकता है कि उनके इस अभिप्रायको स्वयं उनके टीकाकारोंने तथा विद्यानन्द जैसे तार्किक विचारकोंने पसंद नहीं किया है। किन्तु शान्त्याचार्यके मतानुसार अनन्तवीर्य उक्त मन्तव्यका स्वीकार करते हैं। अनन्तवीर्यकी उक्त मान्यताका आधार हमें प्राप्त नहीं हुआ है।

विद्यानन्द और प्रभाचन्द्रने तो अकलंकके वचनोंमेंसे ही अपने अभिप्रायको फलित करनेकी कोशिश की है। और अकलंकके मूल अभिप्रायको ही बदल दिया है।

आचार्य विद्यानन्दने उक्त परंपराका परित्याग करके शुद्ध तार्किक दृष्टिसे स्मृति आदि ज्ञानोंको परोक्ष ही कहा है। और आश्चर्य है कि उन्होंने अपने समर्थनमें अकलंककी कारिका भी उद्धृत की है–

"तत्रावग्रहादिधारणापर्यन्तं मतिज्ञानमपि देशतो वैशद्यसद्भावात् सांव्यवहारिकम् इन्द्रियप्रत्यक्षमतीन्द्रियप्रत्यक्षं चाभिधीयमानं न विरुध्यते। ततः शेषस्य मतिज्ञानस्य स्मृति-संज्ञा-चिन्ता-ऽऽभिनिबोधलक्षणस्य, श्रुतस्य च, परोक्षत्वव्यवस्थिते। तदुक्तम् अकलंकदेवैः—

"प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसंव्यवहारतः।
परोक्षं शेषविज्ञानं प्रमाणमिति संग्रहः॥" प्रमाणप० पृ० ६८।

इतना ही नहीं उन्होंने स्मृतिको अनिन्द्रियप्रत्यक्ष माननेवालेका खण्डन भी किया है– वही पृ० ६९।

आचार्य प्रभाचन्द्रने उक्त स्मृतिरूप अनिन्द्रिय प्रत्यक्षकी व्याख्या करते समय कहा है कि अकलंकने स्मृत्यादिको जो मानसप्रत्यक्ष कहा है वह - स्वरूपांशमें स्पष्टताकी अपेक्षासे है। बाह्यार्थकी अपेक्षासे स्मृत्यादि ज्ञान सर्वथा अस्पष्ट होनेसे परोक्ष ही है– न्यायकु० पृ० ६८३। उनका यह स्पष्टीकरण जैन तार्किकोंकी स्मृत्यादिको परोक्षान्तर्गत करनेकी पद्धतिका एकान्ततः अनुसरण और अकलंकसंमत परंपराको अमान्य करके ही हुआ है। अत एव उन्होंने लघीयस्त्रयगत "ज्ञानमाद्यम्" (का० १०) इत्यादि कारिकाकी व्याख्या भी स्वमान्यतानुकूल की है जो विद्यानन्द आदिसे विपरीत ही है। उन्होंने व्याख्या की है कि नामयोजनासे पहले होनेवाले अस्पष्ट ज्ञान भी श्रुत हैं। और ऐसे अस्पष्ट ज्ञानोंमें स्मृति, संज्ञा इत्यादि हैं– न्यायकु० पृ० ४०४। अर्थात् इनके मतसे स्मृत्यादि मतिरूप है ही नहीं। तब विद्यानन्दका कहना है कि[2] स्मृत्यादि ज्ञान नामयोजनासे पहले मति हैं और नामयोजनाके बाद श्रुत हैं। स्मृत्यादि

१. सूत्र २६–३६। २. तत्त्वार्थश्लो० पृ० २३९।

मत्यन्तर्गत हो कर भी परोक्ष हैं ऐसा विद्यानन्दका स्पष्ट अभिप्राय है। अनन्तवीर्य भी स्मृत्यादिको मति और श्रुतरूप मानते हैं–सिद्धिवि० टी० पृ० १००।

अभयदेवने तो एक दूसरा ही रास्ता लिया। उन्होंने उमास्वातिके सूत्रका तात्पर्य बतलाया कि स्मृत्यादि ज्ञानोंका विषय एक है। स्मृत्यादि ज्ञान मतिरूप हैं कि श्रुतरूप या वे कब मति हैं और कब श्रुत–इन प्रश्नोंका उत्तर उन्होंने अपनी ओर से न देकरके अकलंक-विद्यानंद-अनन्तवीर्यसंमत मन्तव्यको 'केचित्' के नामसे उद्धृत कर दिया। तथा उसके विरोधमें सैद्धान्तिकोंके मन्तव्यको रखा कि मतिज्ञानके ही स्मृत्यादि शब्द वाचक हैं[1]। सैद्धान्तिकोंके इस मन्तव्यके लिये विशेषावश्यक भाष्य गा० ३९६–४०१ देखना चाहिए।

पृ० ७७. पं० ११. **'प्रातिभम्'** प्रातिभको मानसप्रत्यक्ष माननेवाला कौन टीकाकार शान्त्याचार्यको अभिप्रेत है यह कहना कठिन है।

न्यायकुमुदचन्द्रमें प्रभाचन्द्रने प्रसंगसे उसे मनोमात्र निमित्तक कहा है[2]। अत एव उनके मतमें वह मानसप्रत्यक्ष हो तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं। अन्यत्र उन्होंने शब्द, लिङ्ग और अक्षसे–इन्द्रियसे वह उत्पन्न नहीं होता ऐसा भी कहा है[3]।

न्यायसूत्र मूलमें प्रसंगसे प्रातिभका[4] उल्लेख है किन्तु उसके स्वरूप और सामग्रीके विषयमें न्यायसूत्र मौन है। परन्तु न्यायसूत्रके टीकाकार जयन्तने स्पष्टरूपसे उसे मानसप्रत्यक्ष सिद्ध किया है–

"अपि चानागतं ज्ञानमस्मदादेरपि क्वचित्।
प्रमाणं प्रातिभं श्वो मे भ्राताऽऽगन्तेति दृश्यते॥
नानर्थजं न सन्दिग्धं न बाधविधुरीकृतम्।
न दुष्टकारणं चेति प्रमाणमिदमिष्यताम्॥......

प्रमाणं च सत् प्रत्यक्षमेव न प्रमाणान्तरम्। शब्दलिङ्गसारूप्यनिमित्तानपेक्षत्वात्। ननु प्रत्यक्षमपि मा भूद् इन्द्रियानपेक्षत्वात्। मैवम्। मनस एव तत्रेन्द्रियत्वात्।...... शब्दाद्युपायान्तरविरतौ च जायमानमनवद्यं ज्ञानं मानसं प्रत्यक्षं भवति।" न्यायमं० वि० पृ० १०६–१०७।

वैशेषिकसूत्रमें आर्ष और सिद्धदर्शनका उल्लेख है। इन दोनों ज्ञानकी उत्पत्तिमें कणादने इन्द्रियको नहीं पर धर्मको कारणरूपसे बताया है[5]। प्रशस्तपादने विद्याके भेद गिनाते हुए आर्षको प्रत्यक्षसे स्वतन्त्ररूपसे गिनाया है और उसकी व्याख्याके समय आर्ष ज्ञानको ही प्रातिभ कहा है–**"विद्यापि चतुर्विधा–प्रत्यक्षलैङ्गिकस्मृत्यार्षलक्षणा।"** प्रशस्त० ५५२। **"आम्नायविधातॄणामृषीणामतीतानागतवर्तमानेष्वतीन्द्रियेष्वर्थेषु धर्मादिषु ग्रन्थोपनिबद्धेषु अनुपनिबद्धेषु चात्ममनसोः संयोगात् धर्मविशेषाच्च यत् प्रातिभं यथार्थनिवेदनं ज्ञानमुत्पद्यते तदार्षमित्याचक्षते। तत्तु प्रस्तारेण देवर्षीणाम्। कदाचिदेव लौकिकानां यथा कन्यका ब्रवीति श्वो मे भ्राताऽऽगन्तेति हृदयं मे कथयतीति"** प्रशस्त० पृ० ६२१।

---

१. सन्मति० टी० पृ० ५५३। २. "इन्द्रियादिबाह्यसामग्रीनिरपेक्षं हि मनोमात्रसामग्रीप्रभवं अर्थतथाभावप्रकाशं ज्ञानं प्रतिभेति प्रसिद्धम्–'श्वो मे भ्राता आगन्ता' इत्यादिवत्" न्यायकु० पृ० ५९६। ३. प्रमेयक० पृ० २५८। ४. न्यायसू० ३.२.३४। ५. "आर्षं सिद्धदर्शनं च धर्मेभ्यः।" वैशे० ९.२.१३।

व्योमशिवने इस प्रातिभज्ञानको इन्द्रियज तथा अनिन्द्रियज नहीं होनेसे स्पष्ट ही प्रत्यक्ष-व्यतिरिक्त माना है। तथा लिङ्ग और शब्द जन्य भी नहीं अत एव उसका समावेश अनुमान या शाब्दमें भी नहीं किन्तु इसे पृथक् ही प्रमाण मानना चाहिए ऐसा उसका मन्तव्य है—व्यो० पृ० ६२२।

किन्तु शंकरमिश्रके उल्लेखानुसार वृत्तिकृत् ने आर्षका समावेश योगिप्रत्यक्षमें किया है। स्वयं शंकरमिश्रका कहना है कि जब उत्प्रेक्षासहकृत मनसे उसकी उत्पत्ति होती है तब उसका समावेश मानस प्रत्यक्षमें होता है। वह नियमदर्शनादि लिङ्ग जनित भी होता है ऐसा शंकरमिश्रका कथन है—वैशे० उप० ९.२.१३।

योगसूत्रमें प्रातिभज्ञानको सर्वग्राहि बताया है "प्रातिभाद्वा सर्वम्" योग० ३.३३। योगभाष्यमें इसके स्वामिरूपसे योगीका उल्लेख है। अत एव कहा जा सकता है कि उनके मतसे प्रातिभ योगिप्रत्यक्षान्तर्गत है।

अभयदेवने प्रातिभको आत्माकी विशेषयोग्यताके कारण उत्पन्न मान कर उसे विशद होनेसे प्रत्यक्षान्तर्गत ही माना है। तथा वह इन्द्रिय या अनिन्द्रिय निरपेक्ष है ऐसा भी कहा है—सन्मति० टी० पृ० ५५२।

आचार्य विद्यानन्दने [1]उत्तरप्रतिपत्तिरूप प्रतिभाको श्रुतान्तर्गत माना है। और अभ्यासज प्रतिभाको प्रत्यभिज्ञाके अन्तर्गत किया है। प्रत्यभिज्ञा मतिज्ञानका भेद है किन्तु परोक्ष है प्रत्यक्ष नहीं—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २४३।

मीमांसकोंका कहना है कि प्रातिभज्ञान लिङ्गाद्याभासजन्य होनेसे अप्रमाण ही है अत एव वह धर्मग्राहक हो ही नहीं सकता।—श्लोकवा० ४.३२। शास्त्रदी० पृ० १९।

पृ० ७७. पं० ११. **'स्वप्नविज्ञानम्'** शान्त्याचार्यके कथनानुसार अनन्तकीर्ति स्वप्न विज्ञानको मानसप्रत्यक्ष (प्रमाण) मानते हैं। अनन्तकीर्तिकृत किसी ग्रन्थमें यह बात देखी नही गई अतः कहना कठिन है कि शान्त्याचार्यके कथनका आधार क्या है।

आचार्य जिनभद्रने स्वप्नज्ञानकी जो चर्चा की है उसमें उन्होंने यह स्वीकार किया है कि वह मानसज्ञान है। इतना ही नहीं किन्तु कुछेक स्वप्नानुभवको सत्य भी माना है। और स्वप्न-शास्त्रके अनुसार होनेवाले अमुक स्वाप्निक दर्शनसे फल भी मिलता है इस बातको भी स्वीकार किया है। किन्तु उनका कहना है कि गमनादिक शारीरिक क्रिया और उसका फल जैसे स्वप्नमें देखे जाते हैं वैसे वस्तुतः होते नहीं हैं।—विशेषा० गा० २२४—२३४। जैनत० पृ० ३।

आचार्य विद्यानन्द तथा तदनुसारी प्रभाचन्द्र और वादी देवसूरिने यह स्पष्ट ही स्वीकार किया है कि स्वप्न सत्य और असत्य होते हैं। इनमेंसे सत्य स्वप्न साक्षात् या परंपरासे स्वपरव्यवसायक होते हैं। इससे स्पष्ट है कि स्वप्न मानस प्रत्यक्ष है।—प्रमाणप० पृ० ५८। न्यायकु० पृ० १३५। स्याद्वादर० पृ० १८६।

---

१. न्यायसूत्र—५.२.२९ में अप्रतिभाका लक्षण है—"उत्तरस्याप्रतिपत्तिरप्रतिभा" उसीसे प्रतिभाका यह लक्षण फलित किया जान पड़ता है।

प्रशस्तपादने स्वप्नका लक्षण इस प्रकार किया है—"उपरतेन्द्रियग्रामस्य प्रलीनमनस्कस्येन्द्रियद्वारेणैव यदनुभवनं मानसं तत् स्वप्नज्ञानम्।"......प्रशस्त० पृ० ५४८ । प्रशस्तपादने भी स्वप्नको मानसप्रत्यक्षमें[1] ही गिना है किन्तु वह उनके मतमें अप्रमाण ही है क्योंकि उसका परिगणन उन्होंने अविद्यामें किया है—पृ० ५२० ।

केशवमिश्रके कथनानुसार सभी—स्वप्नज्ञान अयथार्थ ही होते हैं और मानसप्रत्यक्ष नहीं किन्तु स्मृतिरूप हैं।—"स्वप्ने तु सर्वमेव ज्ञानं स्मरणमयथार्थं च।" तर्कभाषा० पृ० ३० ।

पृ० ७७. पं० १२. 'स्वसंवेदन' मानसप्रत्यक्ष मात्र स्वसंवेदन ही है—शान्त्याचार्यने अपने इस मतकी पुष्टि करनेके लिये स्मृतिको अप्रमाण बतलाया या उसके पृथक् प्रामाण्यका ही निरास किया । ऊहको संशयविशेष बता दिया, प्रत्यक्ष और अनुमानके फलभूत अवायका अन्तर्भाव उन्हीं दोमें कर दिया । प्रातिभ और स्वप्नज्ञानके प्रामाण्यका ही अस्वीकार कर दिया । तथा अन्तमें मन की पृथक् सत्ता न मानकर मानसज्ञान(जो सुखादि संवेदनरूप है)का निरास कर दिया । इस प्रकार अन्य आचार्योंको मानसप्रत्यक्षरूपसे जो जो ज्ञान स्वीकृत थे उन सभीका निरास करके शान्त्याचार्यने स्वसंमत स्वसंवेदनको ही मानसप्रत्यक्ष माना । शान्त्याचार्यकी यह मान्यता अपूर्व है । इस विषयमें किसी जैन—जैनेतर दार्शनिककी संमति हो ऐसा अभी तक देखनेमें नहीं आया । ऐसी अपूर्व मान्यताको सिद्ध करनेके लिए उन्होंने जिन विषयोंमें जैनदार्शनिकोंकी अधिकांश संमति थी उनका भी निरास किया । अन्यथा वे बता सकते थे कि स्मृति प्रत्यक्ष नहीं किन्तु परोक्षज्ञान है । किन्तु सर्व जैनदार्शनिक संमत स्मृतिका पृथक् प्रामाण्य निषिद्ध करके उन्होंने इस विषयमें नैयायिक और बौद्धादि दार्शनिकों का साथ दिया । ऐसा करके उन्होंने अपना नैयायिकत्व ही जाहीर करना चाहा हो तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं । यही बात ऊहके विषयमें भी है । ऊह यदि ईहा अर्थमें लिया जाय तब वह जैनाचार्योंको सर्वसंमतिसे प्रमाण ही है । वे संशय और ईहामें भेदका समर्थन करते हैं। ईहाको संशयविशेष नहीं कहते । ऊहका अर्थ यदि नैयायिक संमत तर्क लिया जाय तब भी वह संशय तो है ही नहीं । इन्द्रियज अवायको या अनुमानके अवयवभूत निगमनरूप अवायको प्रत्यक्ष या अनुमानमें अन्तर्भूत किया जा सकता है किन्तु मनोजन्य अवाय जो आगममें तथा अन्य जैनदार्शनिक ग्रन्थोंमें वर्णित है उसकी क्या गति होगी? इस विषयमें शान्त्याचार्य सर्वथा मौन हैं । दूसरोंने जैसा मन माना है वैसा न हो, किन्तु जैनोंने जैसा माना है तथा उन्होंने स्वयं जैसा स्वीकार किया है वैसे मनका तो अस्तित्व मानना ही चाहिए । अन्यथा सुखादिसंवेदनको किस ज्ञानमें उनके मतानुसार अन्तर्भूत किया जायगा? । सुखादिसंवेदन इन्द्रियप्रत्यक्ष तो है ही नहीं और शान्त्याचार्यके मतानुसार मानसप्रत्यक्षमें मात्र स्वसंवेदन है—ऐसी स्थितिमें सुखादिसंवेदन जिसे सभीने मानस माना है उसकी गति क्या होगी?। प्रातिभकी चर्चामें उसके प्रामाण्यको सिर्फ मीमांसक नहीं मानते यह पूर्व टिप्पणमें कहा गया है । मीमांसकको सर्वज्ञ नहीं मानना है अत एव वह प्रातिभ जैसे ज्ञानोंको अप्रमाण कह सकता है किन्तु शान्त्याचार्य जैसे जैनाचार्य भी—अव्यभिचारि प्रातिभज्ञानके प्रामाण्यका

---

1. "विषयेषु प्रत्यक्षाकारं स्वप्नज्ञानमुत्पद्यते।" प्रशस्त० पृ० ५४८।

निरास करे यह आश्चर्यकी बात है। सभी जैन और नैयायिक-वैशेषिक आचार्योंने अव्यभिचारि होने पर उसका प्रामाण्य स्वीकृत किया ही है। उसे भी शान्त्याचार्यने अप्रमाण बतला कर मानसप्रत्यक्ष ज्ञानकी कोटिसे बहिर्भूत कर दिया। जैसा पहले कहा गया है अन्य जैन दार्शनिकोंने स्वप्नज्ञानको भी अव्यभिचारि होने पर प्रमाण माना है। तब शान्त्याचार्यने उसे अप्रमाण बतलाकर मानसप्रत्यक्षसे बहिर्भूत कर दिया। इस प्रकार स्वसंवेदनको ही मानसप्रत्यक्ष सिद्ध करनेकी धूनमें शान्त्याचार्यने अनेक पूर्वस्थापित मान्यताओंका उत्थापन किया है। यह कहाँ तक ठीक है इसका निर्णय विद्वान् करें।

सभी ज्ञान स्वसंविदित होते हैं अत एव जैन दार्शनिकोंका स्पष्ट मन्तव्य है कि स्वसंवेदनकी दृष्टिसे सभी ज्ञान प्रत्यक्ष हैं। अर्थात् सभी स्वसंवेदन चाहे प्रत्यक्षका हो या परोक्षका प्रत्यक्ष ही है। किन्तु सभी स्वसंवेदनोंका समावेश मानसप्रत्यक्षमें—अनिन्द्रियप्रत्यक्षमें करना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। क्योंकि अतीन्द्रिय प्रत्यक्षका—पारमार्थिक प्रत्यक्षका स्वसंवेदन मानस कभी भी नहीं।

पृ० ७७. पं० २१. 'उक्तम्' देखो, पृ० ७६. पं० २६।

पृ० ७७. पं० २५. 'पञ्चभिः' इस कारिकाका पूर्वार्ध प्रमाणवा० २.१३३ वीं कारिकाका उत्तरार्ध है। टीकाके अनुसार 'भात्यव्यवहितेव या' ऐसा पाठ यहाँ होना चाहिए। यह अशुद्धि 'च' और 'व' के लेखनसादृश्यके कारण हुई है।

व्याख्या—"सङ्क्रान्तकान्तावदनप्रतिबिम्बस्य सहकारसुगन्धिनः शीतस्य भ्रमद्भ्रमरोपगीतस्य स्वादुनो मधुनः सार्वगुणानुभवकाले प्रसरत्संकल्पजन्मनां यूनां या मतिः पञ्चभिरिन्द्रियबुद्धिभिर्व्यवधानेपि त्वरपक्षेऽव्यवहितेव समकालेव भाति।" मनो० २.१३३।

पृ० ७७. पं० २६. '[प्रमा····]' यह कोष्ठक रद करना चाहिए।

पृ० ७८. पं० २. 'अक्रमम्' सर्वज्ञ के ज्ञान-दर्शन-उपयोगकी क्रमिकता, अक्रमिकता और एकता के विषयमें जैन दार्शनिकोंकी विप्रतिपत्तिके इतिहासके जिज्ञासुओंको ज्ञानबिन्दु प्रकरण की प्रस्तावना देखना चाहिए।

पृ० ७८. पं० १६. 'एकांशेन' अकलंकने इन्द्रियज ज्ञानको स्पष्ट होते हुए भी—प्रादेशिक प्रत्यक्ष कहा है उसी अर्थमें शान्त्याचार्यने प्रस्तुतमें इन्द्रियज ज्ञानको एकांशव्यवसायक कहा है—लघी० स्व० ६१। "यद्देशतोऽर्थज्ञानं तदिन्द्रियाध्यक्षमुच्यते॥" न्यायवि० ४।

पृ० ७८. पं० २६. 'बाह्यार्थाभावात्' विज्ञानवादी बौद्धोंने बाह्यार्थके अभावको सिद्ध किया है। इस विषयकी चर्चाके लिये देखो, प्रमाणवा० २.३२० से। तत्त्वसं० का० १९६७। श्लोकवा० निरा०। बृहती। न्यायमं० वि० पृ० ५३६। अष्टस० पृ० २४२। सन्मति० टी० पृ० ३४९। न्यायकु० पृ० ११९। स्याद्वादर० पृ० १४९।

पृ० ७९. पं० ३. 'उपलब्धिः' देखो, "उपलम्भः सत्तोच्यते" प्रमाणवा० अलं० मु० पृ० ९५। सन्मति० टी० पृ० २८७।

पृ. ७९. पं० २२. 'प्रकाशायोगात्' तुलना—"अदृष्टत्वात्, अदृश्य प्रकाशायोगाच्च इत्यपि वदतः सौगतस्य न वक्त्रवक्रता समुपजायते तथा हि—असावप्येवं वक्तुं समर्थः—

तर्हि वस्तु न स्वतः प्रकाशते, विज्ञानवत्, अजडत्वहानिप्रसंगात्। नापि परतः प्रकाशमानं नीलसुखादिव्यतिरिक्तस्य विज्ञानस्यासंवेदनेन असत्त्वात्।" सन्मति० टी० पृ० ६१।

पृ० ८०. पं० ४. 'सहोपलम्भनियमः' तुलना–"सहोपलम्भनियमादभेदो नील-तद्धियोः।"[1] उद्धृत–स्याद्वादर० पृ० १४९। "सकृत् संवेद्यमानस्य नियमेन धिया सह। विषयस्य ततोऽन्यत्वं केनाकारेण सिध्यति॥" प्रमाणवा० २.३८८। तत्वसं० का० २०३०–३१।

निराकरणके लिये देखो० तत्त्वो० पृ० १०२। भामती २.२.२८। अष्टस० पृ० २४२। न्यायकु० पृ० १२२।

पृ० ८०. पं० ८. 'निरालम्बनाः' तुलना–"अत एव सर्वे प्रत्यया अनालम्बनाः प्रत्ययत्वात् स्वप्नप्रत्ययवदिति।" प्रमाणवा० अलं० मु० पृ० २२।

पृ० ८०. पं० २४. 'सविकल्पकसिद्धौ' देखो, पृ० ८१. पं० १६. से।

पृ० ८०. पं० ३१. 'निरस्तम्' देखो पृ० ३४. पं० १६।

पृ० ८१. पं० १. 'सामान्यम्' भारतीय दार्शनिकोंमें सामान्यके विषयमें निम्नलिखित पक्ष हैं–

(१) बौद्धोंका अवस्तुरूपसामान्यवाद।

(२) वैशेषिकादिका भिन्नसामान्यवाद।

(३) सांख्यादिका अभिन्नसामान्यवाद।

(४) मीमांसकोंका भिन्नाभिन्नसामान्यवाद।

(५) जैनोंका अनेकान्तात्मक सामान्यवाद।

सामान्यके विषयमें चार्वाककी क्या राय है इसका निर्णय करना कठिन है। चार्वाकोंका एक मात्र उपलब्ध ग्रन्थ तत्त्वोपप्लवसिंह है। उसमें प्रसंगसे भिन्न, अभिन्न और भिन्नाभिन्न इन तीनों पक्षोंको लेकर सामान्यका खण्डन किया गया है[2]। इससे यह फलित होता है कि जिन दार्शनिकोंने सामान्य को वस्तु सत् माना है उन सभीका खण्डन करना ग्रन्थकारको उक्त प्रसंगमें अभीष्ट है। वस्तुतः बात यह है कि बौद्ध दलीलोंका आश्रय लेकर ग्रन्थकारने वस्तुसत् सामान्यका खण्डन किया है। और अन्यत्र बौद्ध प्रत्यक्षलक्षणपरीक्षाप्रसंगमें सामान्यको काल्पनिक सिद्ध करनेके लिये प्रदत्त सभी बौद्ध युक्तियों का भी निरास किया है[3]। इस प्रकार किसीकी दलीलें ठीक नहीं है–यही दिखाकर ग्रन्थकारने अपने वक्तव्य तत्त्वोपप्लवको पुष्ट किया है। उनका ध्येय किसी वस्तुका निरूपण नहीं किन्तु किसी स्थिर मान्यताका खण्डन ही है। अत एव चार्वाकसंमत सामान्य कैसा है इस विषयमें मौनाश्रयण ही अच्छा है।

अन्य सभी दार्शनिक सामान्यके प्रतिभासको तो स्वीकार करते हैं। अत एव उस प्रतिभासके किसी न किसी प्रकारके निमित्त–सामान्यके बारेमें तो कोई विवाद नहीं[4]। किन्तु उस निमित्तभूत सामान्यका स्वरूप क्या हो इसी विषयमें दार्शनिकोंमें विवाद हैं।

---

१. यह वाक्य दिङ्नागका हो सकता है। क्योंकि कमलशीलने इसे आचार्यीय प्रयोग कहा है–तत्त्वसं० पृ० ५६७। २. तत्त्वो० पृ० ४। ३. तत्त्वो० पृ० ४६। ४. "सामान्यं तच्च पिण्डानामेकानुवृत्तिलक्षणम्। जातिरित्तं च व्यक्तिभिस्सामान्यं शब्दवृत्त्येकवत्। सर्वं पुनेच्छतीयेयमविरोधोऽत्र दर्शितम्॥" श्लोकवा० आकृ० ३,५।

सामान्यके स्वरूपके विषयमें विचार करें इसके पहले यह बता देना आवश्यक है कि वस्तुतः देखा जाय तो सामान्यके बारेमें दो ही पक्ष हैं – एक पक्ष है सामान्यको वस्तुसत् माननेवालोंका जिसमें उपर्युक्त बौद्धातिरिक्त सभी पक्षोंका समावेश है। और दूसरा पक्ष है सामान्यको काल्पनिक माननेवाले बौद्धोंका। अब हम पांचों पक्षोंका क्रमशः विचार करें –

(१) बौद्धोंका अवस्तुरूपसामान्यवाद।

अन्यत्र हम कह आये हैं कि बौद्धोंके मतसे दो प्रमाण हैं और विषय भी दो हैं। प्रत्यक्ष स्वलक्षणरूप वस्तुका ग्रहण करता है और अनुमान सामान्यरूप अवस्तुका। वहीं हमने स्वलक्षण और सामान्यमें क्या भेद हैं यह दिखाया है – देखो, पृ० २१०–२१५।

धर्मकीर्तिने सामान्यको वस्तुसत् माननेवालोंका विस्तारसे खण्डन प्रमाणवार्तिक तथा उसकी स्वोपज्ञ टीकामें किया है – प्रमाणवा० स्वो० पृ० १०७–३४१।

सभी वास्तवसामान्यवादी दार्शनिकोंके विरुद्ध बौद्धदार्शनिकोंका कहना है कि सामान्य वस्तुसत् नहीं। सामान्यप्रतीतिका विषय बाह्य सामान्य नहीं क्योंकि बाह्य वस्तुएँ तो अत्यन्त विलक्षण हैं। अत एव सामान्यप्रत्यय निर्विषय है। अथवा यों कहना चाहिए कि कल्पित सामान्यविषयक हैं[1]। परस्परव्यावृत्त ऐसे पदार्थोंसे ही एकाकारपरामर्शिनी बुद्धि उत्पन्न होती है जो कि पदार्थोंके परस्परव्यावृत्त स्वरूपका संवरण कर देती है अत एव उनमें अभेदका प्रतिभास होने लगता है। वस्तुतः पदार्थोंमें अभेद नहीं किन्तु भेद ही है। एकाकारपरामर्श होनेका कारण विजातीयव्यावृत्ति है –

"एकार्थप्रतिभासिन्या भावानाश्रित्य भेदतः।
पररूपं स्वरूपेण यया संव्रियते धिया ॥ ६७ ॥
तया संवृतनानात्वाः संवृत्या भेदिनः स्वयं।
अभेदिन इवाभान्ति भेदा रूपेण केनचित् ॥ ६८ ॥
तस्या अभिप्रायवशात् सामान्यं सत् प्रकीर्तितम्।
तदसत् परमार्थेन यथा संकल्पितं तया ॥ ६९ ॥" प्रमाणवा० ३।

अत्यन्त व्यावृत्त ऐसे पदार्थोंमें एकाकारप्रत्यय क्यों होता है इस प्रश्नका उत्तर धर्मकीर्तिने दिया है कि –

"तस्माद् यतो यतोऽर्थानां व्यावृत्तिस्तन्निबन्धनाः।
जातिभेदाः प्रकल्प्यन्ते तद्विशेषावगाहिनः ॥" प्रमाणवा० ३.४०।

एक ही गोको अगोव्यावृत्त होनेसे गो कहा जाता है, अपशुव्यावृत्त होनेसे पशु कहा जाता है, अद्रव्यव्यावृत्त होनेसे द्रव्य कहा जाता है और असद्व्यावृत्त होनेसे सत् कहा जाता है। इस प्रकार व्यावृत्तिके भेदसे जातिभेदकी कल्पना की जाती है। जितनी परवस्तुएँ हों उतनी व्यावृत्तियाँ उस वस्तुमें कल्पित की जा सकती हैं[2]। अत एव सामान्य बुद्धि का विषय वस्तुसत् सामान्य नहीं। किन्तु अन्यापोह ही मानना चाहिए[3]।

---

१. "पारमार्थिकस्य गोत्वस्य निषेधः क्रियते न तु कल्पितस्येति।" कर्ण० पृ० १११। "तदात्मानमेव संसृजन्ती बुद्धिः सामान्यविषया प्रतिभासते" प्रमाणवा० स्वो० कर्ण० पृ० ११७। २. तस्माद् एकस्य भावस्य यावन्ति पररूपाणि तावत्यः व्यावृत्तयः तदपेक्षया।" प्रमाणवा० स्वो० पृ० ११९। ३. "तेनान्यापोहविषयाः प्रोक्ताः सामान्यगोचराः ॥ १३३ ॥ शब्दाश्च बुद्धयश्चैव वस्तुन्येषामसंभवात्।" प्रमाणवा० ३।

(२) वैशेषिकादिका भिन्नसामान्यवाद ।

वैशेषिकोंने सामान्यको स्वतन्त्र पदार्थ माना है । सत्ता सामान्य एक[1] होकर भी अनेकवृत्ति है[2] । कणादने उसे द्रव्य गुण और कर्मसे अर्थान्तर सिद्ध करनेका भी प्रयत्न किया है[3] । प्रशस्तपादका कहना है कि क्योंकि वह द्रव्यादिसे अर्थान्तर है अत एव वह नित्य है[4] । यदि द्रव्यादिसे अभिन्न माना जाय तो उसके नाशके साथ सामान्य भी नष्ट हो जाय । और नष्टातिरिक्त द्रव्यादिमें अनुवृत्ति प्रत्यय न हो । प्रशस्तपादने उसे सर्वव्यापक नहीं किन्तु स्वविषयसर्वगत माना है[5] । सामान्य दो प्रकारका है सत्ता पर सामान्य है और द्रव्यत्वादि अपर सामान्य है । पर सामान्य अनुवृत्तिका ही हेतु होता है अत एव वह सामान्य ही कहा जाता है किन्तु द्रव्यत्वादि अनुवृत्तिके अतिरिक्त व्यावृत्तिका भी हेतु होता है अत एव सामान्य की तरह विशेष भी कहा जाता है । अर्थात् उसे सामान्य-विशेष भी कहते हैं[6] ।

नैयायिकोंने भी सामान्यका स्वरूप वैसा ही माना है[7] । यद्यपि वार्तिककारने सामान्यको वैशेषिकोंकी तरह स्वविषयसर्वगत माना[8] है किन्तु न्यायमंजरीकार जयन्तने उसे सर्व-सर्वगत ही माना है । क्योंकि एक और अनेकवृत्ति सामान्य यदि व्यापक न माना जाय तब अर्थात् फलित होगा कि वह एक नहीं हो सकता क्योंकि उसके अंश तो हैं नहीं जो अंशतः प्रत्येक व्यक्तिमें रहे । जयन्तने प्रतीतिका शरण लेकर कह दिया कि वह व्यापक है । अन्तरालमें अनुपलब्धिका कारण व्यक्तिका अभाव है । व्यक्ति ही जातिव्यंजक है अत एव उसके अभावमें अन्तरालमें जातिकी अभिव्यक्ति नहीं होती[9] ।

सामान्यको वस्तुसत् माननेवालोंका कहना है कि सामान्यप्रत्ययका विषय सामान्य उसी प्रकार वस्तुसत् है जैसे व्यावृत्तिप्रत्ययका विषय विशेष[10] । यदि विशेषकी सत्ता प्रतीतिके बलसे सिद्ध है तो सामान्यकी सत्ता भी प्रतीतिके बलसे ही सिद्ध है । किसी वस्तुका दर्शन करते समय उसे सजातीयोंके साथ अनुगतरूपसे तथा सजातीय और विजातीयोंसे व्यावृत्तरूपसे यदि देखा न जाय तो उसके व्यक्तित्वका ठीक ठीक निर्णय नहीं हो सकता । किसी वस्तुका निर्णीतज्ञान 'वह यह नहीं है' ऐसे व्यावृत्ति मात्रके ज्ञानसे हो नहीं सकता किन्तु उसमें अनुगत – विधानात्मक प्रत्यय 'वह घट है' इत्यादि भी – आवश्यक है । जब हम उसे घटत्वेन जानते हैं तब हम उसकी पटादिसे सिर्फ व्यावृत्ति – विशेषका ही ज्ञान करते हैं यह बात नहीं किन्तु उसकी अन्य घटोंसे सजातीयता भी जानते हैं । ऐसी दशामें व्यावृत्ति – स्वलक्षण – विशेषको ही वस्तुसत् मानना और अनुवृत्तिसामान्यको काल्पनिक मानना यह युक्तिसंगत नहीं[11] ।

---

१. "सदिति लिङ्गाविशेषाद् विशेषलिङ्गाभावाच्च एको भावः ।" वैशे० १.२.१७ । २. "सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता ।" वैशे० १.२.७ । ३. "द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं सत्ता । गुणकर्मसु च भावान्न कर्म न गुणः । सामान्यविशेषाभावेन च ।" वही १.२.८–१० । ४. प्रशस्त० पृ० ६७८ । ५. वही पृ० ६७७ । ६. "भावोऽनुवृत्तेरेव हेतुत्वात् सामान्यमेव । द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वं च सामान्यानि विशेषाश्च ।" वैशे० १.२.४,५ । ७. न्यायसू० २.२.६८ । न्यायवा० पृ० ३१५ से । न्यायमं० पृ० २९७ । ८. "न, अनभ्युपगमात् केन सर्वगतत्वं जातेरभ्युपगम्यते ? अपि तु स्वविषये सर्वत्र वर्तते इति सर्वगतेत्युच्यते ।" न्यायवा० पृ० ३१५ । ९. "यथा प्रतीतिरादिशति भगवती तथा वयमभ्युपगच्छामः । सर्वसर्वगता जातिरिति तावदुपेयते । सर्वत्राग्रहणं तस्या व्यञ्जकव्यक्त्यसंनिधेः ॥" न्यायमं० वि० पृ० ३१२ । १०. तत्त्वार्थश्लो० पृ० १०१ । ११. न्यायमं० पृ० ३००,३११ । स्याद्वादमं० पृ० ९९ । न्यायकु० पृ० २८९ ।

प्राभाकरोंने भी प्रतीतिका शरण लेकर जातिका अस्तित्व स्वीकृत किया है[1]। प्राभाकरोंने नैयायिकोंके समान ही जातिको व्यक्तिसे भिन्न, नित्य और एक माना है। एकाकार-परामर्शके कारण जातिका निर्णय होता है इस बातको भी स्वीकार किया है। किन्तु कुछ बातोंमें अपना मतभेद भी प्रकट किया है। शालिकनाथका कहना है कि द्रव्य, गुण और कर्ममें सत्प्रत्ययकी अनुवृत्ति तद्गत सत्तानामक महासामान्यके कारण नहीं किन्तु सामान्य, विशेष और समवाय की तरह स्वरूपसत्तोपाधिक ही है[2]।

इस मतभेदका कारण यह मालूम होता है कि प्राभाकरोंने जातिको भाट्टोंकी तरह आकाररूप माना है। और द्रव्य, गुण तथा कर्मका कोई समानाकार है ही नहीं जिससे कि उनमें एक महासामान्य रूप सत्ता जाति मानी जाय[3]।

इसी प्रकार उसने शब्दगत शब्दत्व जातिका भी निषेध किया है। उसका कहना है कि सब ककारमें कत्व जाति और गकारमें गत्व जाति समानाकारके कारण हो सकती है किन्तु ककार और गकारमें कोई आकारसाम्य नहीं जिससे शब्दत्व जाति पृथग् मानी जाय[4]।

इतना ही नहीं किन्तु उसने ब्राह्मणत्वादि जातिका भी निषेध किया है। नैयायिकोंने[5] तथा भाट्टोंने[6] ब्राह्मणत्व जातिको सिद्ध करनेके लिये प्रयत्न किया था। जातिवादके विरोधी बौद्धोंने[7] ब्राह्मणत्व जातिका खण्डन किया है। जैनोंने[8] भी अपने ग्रन्थोंमें जातिवादका प्रबल विरोध किया है। शालिकनाथने ब्राह्मणोंके अधिकारविशेषकी तो रक्षा की किन्तु ब्राह्मणशब्द की प्रवृत्तिके निमित्तरूपसे ब्राह्मणत्व जातिको न मानकर लोकप्रसिद्ध ब्राह्मण वंशोंको ब्राह्मण माना। और उन वंशोंमें होनेवालेको ब्राह्मण कहा जाय ऐसा स्पष्टीकरण करके कह दिया कि सन्ततिविशेषप्रभवत्व ही ब्राह्मणशब्दकी प्रवृत्तिमें उपाधि है। बौद्धादिकी दलीलोंके कायल होकर शालिकनाथने ब्राह्मणत्व जातिका निषेध तो किया किन्तु ऐसा करके जो प्रयोजन बौद्धादिको इष्ट था वह शालिकनाथको इष्ट न था। इस लिए उसने दार्शनिक दृष्टिसे ब्राह्मण जातिवादका निषेध करके भी लौकिक दृष्टिसे ब्राह्मणोंके अधिकारोंकी रक्षा करके ब्राह्मणोंके जातिमदको पुष्ट ही किया। और इस प्रकार जातिवादके निरासके पीछे [9]जातिमद निरासकी जो बौद्धादिकी भावना रही उसे शालिकनाथ अपना न सका।

शालिकनाथने एक ही वर्तिमें क्रमशः होनेवाली ज्वालाओंमें ज्वालात्व सामान्यका भी निरास किया है। उसका कहना है कि एकाकारप्रत्यय यदि सामान्यको बिना माने घट न

---

१. "संविदेव हि भगवती विषयसत्त्वावगमे शरणम्।" प्रकरणपं० पृ० २२। २. तस्मात् स्वरूपसत्तोपाधिक एव सच्छब्दो न पुनरेक आकारः सत्ता नाम द्रव्यगुणकर्मणाम्। अपि च काश्यपीयानां जातिसमवायविशेषेषु स्वरूपसत्तोपाधिक एव सच्छब्दः इत्यभ्युपगमः।" प्रकरणपं० पृ० २९। ३. "न च नानाजातीयेषु द्रव्येषु सर्षपमहीधरादिषु गुणेषु गन्धरसादिषु समानाकारानुभवो भवति केवलं तु सत्सदिति शब्दमात्रमेव प्रयुज्यते।" –वही पृ० २८। ४. "न हि ककारगकारयोरेकाकारमनुगतं परामृशन्ती मनीषा समुन्मिषति।" वही पृ० ३०। ५. न्यायमं० पृ० ४२२। ६. श्लोकवा० वन० २५–२९। तन्त्रवा० १.२.२। ७. धम्मपद गा० ३९३,३९६। कर्ण० पृ० ६१८। प्रमाणवा० अलं० लि० पृ० १२। तत्त्वसं० का० ३५७५ से। ८. उत्त० २५.३३। सन्मति० टी० पृ० ६९७। न्यायकु० पृ० ७६७। स्याद्वादर० पृ० ९५८। ९. "ज्ञातज्ञः प्रतिषिद्धायां जातौ जातिमदश्च किम्।" तत्त्वसं० का० ३५७५।

सके तभी जातिको मानना चाहिए। प्रस्तुतमें भेदाग्रहणरूप भ्रम माननेसे काम चल जाता है अत एव व्यालाव सामान्यकी कल्पना अनावश्यक है–प्रकरणपं० पृ० ३१।

(३) सांख्यादिका अभिन्नसामान्यवाद।

सांख्योने जड जगत्को प्रकृतिका परिणाम माना है। प्रपञ्चविस्तारमें प्रकृति अनुस्यूत है। अत एव वह सांख्योंके मतसे सामान्य है। "सांख्यैस्तु···त्रैगुण्यरूपस्य सामान्यस्याभ्युपगमात्"। न्यायप्र० पं० पृ० ५४। किन्तु नैयायिक और वैशेषिकोंके समान प्रकृति–सामान्यको एक, नित्य, व्यापक और अनुस्यूत मानते हुए भी उन्होंने उसे अपने परिणामरूप व्यक्तिओंसे अत्यन्त भिन्न नहीं माना है। नैयायिकोंके मतमें भिन्न भिन्न व्यक्तियाँ सामान्यका कार्य नहीं, आश्रय हैं। जब कि सांख्योंके मतसे जो भी पुरुष व्यतिरिक्त दिखता है वह सब प्रकृतिका कार्य–आविर्भाव–परिणाम है। नैयायिकोंके समान सांख्योंने कार्यकारणका अत्यन्त भेद न मान कर अत्यन्त अभेद माना है। अत एव सांख्योंके मतसे कार्य–व्यक्ति-परिणाम–विकारका कारण–प्रकृति–सामान्यसे अभेद ही है[1]।

वेदान्तके अनुसार गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय ये द्रव्यात्मक[2] ही हैं। तदनुसार एक ब्रह्म ही पदार्थ है अत एव वही सामान्यरूप[3] है जब कि नैयायिकसंमत घटत्वादि नित्य जाति द्रव्यसे अत्यन्त भिन्न मानी जाती है। उसकी सिद्धि वे अनुमानसे करते हैं। वेदान्तपरिभाषामें कहा गया है कि–"घटोऽयमित्यादि प्रत्यक्षं हि घटत्वादिसद्भावे मानं न तु तस्य जातित्वेपि। जातिस्वरूपस्याप्रसिद्धौ तत्साधकानुमानस्याप्यनवकाशात्।" पृ० २०।

शब्दाद्वैतवादी भर्तृहरिके मतसे भी शब्दब्रह्म सामान्य कहा जायगा क्योंकि सारा प्रपञ्च शब्दब्रह्मसे ही होता है। सभीमें शब्द अनुस्यूत है–वाक्यप० १.१।

(४) मीमांसकोंका भिन्नाभिन्नसामान्यवाद।

भाट्ट मीमांसकोंने जाति और व्यक्तिका भेदाभेद माना है[4]। जयन्तने यह ठीक ही आक्षेप किया है कि बौद्धोंके वृत्तिविकल्प आदि आक्षेपोंसे डरकर ही मीमांसकोंने जाति और व्यक्तिका भेदाभेद माना है[5]। परन्तु जयन्तके आक्षेपका यदि यह भी अर्थ लिया जाय कि बौद्धोंके आक्षेपोंसे डरने की कोई बात नहीं। उन आक्षेपोंसे सत्यके निकट नहीं पहुंचा जा सकता–तब तो यह एक भारी भ्रम होगा। उन आक्षेपोंसे बचकर सामान्यकी जटिल समस्याको कैसे सुलझाना इसी विचारमेंसे मीमांसकोंने जाति और व्यक्तिमें भेदाभेद माना

१. "अव्यतिरिक्तं सांख्यदर्शनेन" कर्ण० पृ० १९४, २२३। २. शां० ब्रह्म० २.२.१७। ३. "वेदान्तवादिना च सामान्यमेव विषयो द्वयोः आत्माद्वैततया सर्वस्य एकत्वात्" न्यायवि० टीकादि० प्र० परि०। न्यायप्र० टिप्पणी पृ० ८४। ४. "अनुवृत्तैकरूपत्वाद् वीचीबुद्बुदफेनवत्। भावः सारनपेक्षन्ते शब्दब्रह्मोदकाद्वयम्" स्याद्वादर० पृ० ९१ में उद्धृत। ५. "तस्मात् प्रमाणबलेन भिन्नाभिन्नत्वमेव युक्तम्।" शास्त्रदी० पृ० १००। ६. "एतत्तु वृत्तिविकल्पादिभ्यो बिभ्यतैवाभ्युपगतं तत्रभवता इति तिष्ठतु।" न्यायमं० वि० पृ० ३११।

है। क्योंकि जयन्त की तरह ऐकान्तिक भेदवाद मानने पर बौद्धकृत आक्षेपोंसे बचना संभव ही नहीं।

स्वयं जयंतने उन आक्षेपोंका जो जबाब दिया[1] है उसमें उसने तर्कसे काम न लेकर केवल अपनी मान्यतासे येन केन प्रकारेण चिपके रहनेका ही प्रयत्न किया है। किसी भी तटस्थ व्यक्तिको जयन्तकृत समाधानसे संतोष हो नहीं सकता। अत एव बौद्धोंके आक्षेपोंसे डर कर ही सही पर यदि मीमांसकोंने सामान्यके बारेमें नैयायिकोंके विरुद्ध कुछ नया मार्ग लिया है तो उसमें सत्यके निकट पहुंचनेका प्रयत्न ही है ऐसा समझना चाहिए।

कुमारिलने वस्तुको ही सामान्यविशेषात्मक माना है। उसका कहना है कि सामान्यको छोड विशेषका, और विशेषको छोड सामान्यका सद्भाव नहीं हो सकता[2]। अत एव वस्तुको सामान्यविशेष उभयात्मक ही मानना चाहिए। उसे वेदान्तिकी तरह मात्र सामान्यरूप या बौद्धोंकी तरह मात्र विशेषरूप नहीं माना जा सकता। और न नैयायिकों तथा वैशेषिकों की तरह सामान्य और विशेषको अत्यन्त भिन्न ही माना जा सकता है। ऐसा माननेका मुख्य कारण यही है कि हमें जब वस्तुविषयक बुद्धि होती है तब वह बुद्धि व्यावृत्ति और अनुगमात्मक होती[3] है। यदि वस्तु व्यावृत्त्यनुगमात्मक न होती तो तज्जन्य वैसी बुद्धि भी नहीं होती। अत एव वस्तुको सामान्यविशेषात्मक ही मानना चाहिए।

जब वस्तुसे सामान्य और विशेषका अभेद हो गया तब नैयायिकोंके समान मीमांसक सामान्य और विशेषका परस्परमें आत्यन्तिक भेद मान नहीं सकते। अत एव कुमारिलने सामान्य और विशेषमें आत्यन्तिक भेद का निराकरण किया है। उसके मतमें सामान्य विशेषात्मक है और विशेष सामान्यात्मक है क्योंकि निर्विशेष सामान्य और निःसामान्य विशेषका जब सद्भाव ही नहीं तब अर्थात् ही फलित हो जाता है कि सामान्य और विशेषका आत्यन्तिक भेद नहीं है[4]।

जैसे जयंतने आकाशके समान सामान्यको व्यापक सिद्ध किया है उसी प्रकार कुमारिल ने भी उस मतका विकल्पसे समर्थन तो किया है[5] किन्तु उसने अपना मत यही स्थिर किया है कि उसे पिण्डगत मानना चाहिए, व्यापक नहीं[6]। प्रायः यह देखा गया है कि दार्शनिक चर्चाके समय कुमारिल वेदप्रामाण्यमें अबाधक ऐसे परस्पर विरोधी मतोंका स्वीकार करता है। क्योंकि उसका मुख्य उद्देश है वेदप्रामाण्यकी रक्षा। अन्य चर्चा तो प्रासंगिक है। अत एव ऐसी प्रासंगिक चर्चाके समय कुमारिल परस्पर विरोधी मन्तव्योंका स्वीकार और समर्थन कर लेता है, जब कि विरोधी दोनो मन्तव्योंमें तर्कका सहारा हो। यही कारण है कि प्रस्तुतमें उसने सामान्यको व्यापक और अव्यापक माना।

---

१. न्यायमं० वि० पृ० ३११। २. "निर्विशेषं न सामान्यं भवेच्छशविषाणवत्। सामान्यरहितत्वाच्च विशेषास्तद्वदेव हि॥" श्लोकवा० आकृति० १०। ३. "सर्ववस्तुषु बुद्धिश्च व्यावृत्त्यनुगमात्मिका। जायते द्व्यात्मकत्वेन विना सा च न सिध्यति॥" वही ५। ४. "तेन नात्यन्तभेदोऽपि स्यात् सामान्यविशेषयोः।" वही ११। ५. वही २६-३०। ६. "पिण्डेष्वेव च सामान्यं नान्तरा गृह्यते यतः। न ह्याकाशवदिष्टञ्च सामान्यं नाम किंचन॥" वही २५।

कुमारिलने पिण्डसे जातिका तादात्म्य माना है[1] अत एव अर्थात् ही उसके मतमें नैयायिक–वैशेषिकोंके समान सामान्यका ऐकान्तिक एकत्व नहीं किन्तु वह एक और अनेकरूप है। एक ही वस्तुकी एकता और अनेकतामें दृष्टिभेदसे विचार किया जाय तो कोई विरोध नही ऐसा कुमारिलका मन्तव्य है। और सामान्य तथा विशेषमें भेदाभेद मानने पर भी कोई विरोध नहीं यह भी कुमारिलने माना है[2]।

गोत्व जाति स्वरूपसे तो एक ही है किन्तु शाबलेयात्मक गोत्वसे बाहुलेयात्मक गोत्वका भेद है। इस प्रकार जातिमें एकता स्वरूपकृत है और अनेकता व्यक्तिभेदकृत है। इसी प्रकार विशेषोंमें भी एकता और अनेकता निर्विरोध सिद्ध हो सकती है। व्यक्ति व्यक्त्यन्तरसे स्वरूपसे भिन्न है किन्तु जात्यपेक्षया अभिन्न ही है[3]। इस प्रकार अपेक्षाभेदसे विचार किया जाय तो विरोधको अवकाश नहीं रहता ऐसा कुमारिलका मन्तव्य है।

वस्तु उभयात्मक होते हुए भी कभी सामान्य गौण हो जाता है और विशेषका प्रतिभास होता है, कभी विशेष गौण हो जाता है और सामान्यका प्रतिभास होता है। किन्तु जब वस्तुका युगपत् प्रतिभास होता है तब न तो भेदबुद्धि ही होती है और न अभेदबुद्धि ही किन्तु अखण्डका भान होता है। यह अवस्था निर्विकल्पज्ञानके समय होती है। ऐसी अवस्थामें वह वस्तु शब्दागोचर होती है। इससे हम इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि वस्तु न तो केवल सामान्यरूप है और न केवल विशेषरूप किन्तु शबल है[4]।

जाति और व्यक्तिका जब भेदाभेद है तब अर्थात् ही फलित होता है कि जातिको वैशेषिकोंकी तरह मीमांसक एकान्त नित्य नही मान सकते। पार्थसारथिका कहना है कि जाति नित्य भी है और अनित्य भी। जाति जातिरूपसे नित्य है और व्यक्तिरूपसे अनित्य है। सिर्फ जाति ही नित्यानित्य हो सो बात नहीं। व्यक्ति भी जातिरूपसे नित्य है और स्वरूपसे अनित्य है[5]।

नैयायिकोंके समान जाति प्रत्यक्षग्राह्य है ऐसा कुमारिलने माना है[6]।

प्राभाकरोंकी जातिविषयक मान्यता और कुमारिलकी तद्विषयक मान्यतामें अत्यधिक अन्तर है। प्राभाकरोंकी मान्यता नैयायिकोंके सन्निकट है जब कि भाट्टोंकी मान्यता अनेकान्तवादसे रंगी हुई है। मूलतः मीमांसादर्शनका विषय तत्त्वज्ञान नहीं। किन्तु कर्मकाण्डोपयोगि वेदमन्त्रोंके विनियोगका विचार करना है। अतएव मीमांसक टीकाकारोंके सामने वैशेषिक या सांख्योंके समान कोई तत्त्वविषयक सुनिश्चित परंपरा नहीं। यही कारण है कि तत्त्वविचारमें कुमारिल और प्राभाकरोंका मार्ग अत्यन्त भिन्न होगया। जिसको जिस

---

१. "कस्मात् सास्नादिमत्स्वेव गोत्वं यस्मात् तदात्मकम्। तादात्म्यमस्य कस्माच्चेत् स्वभावादिति गम्यताम्॥" वही ४७। २. "विरोधस्तावदेकान्ताद्वक्तुमत्र न युज्यते। सामान्यानन्यविज्ञाते विशेषे चैकवृत्तिता॥ सामान्यानन्यवृत्तित्वं विशेषात्मैकभावतः। एवञ्च परिहर्तव्या भिन्नाभिन्नत्वकल्पना॥ केनचिद्ध्यात्मनैकत्वं नानात्वं चास्य केनचित्। सामान्यस्य तु यो भेदं ब्रूते तस्य विशेषतः॥ दर्शयित्वाभ्युपेतव्यं विशेषैक्यं च जातितः। वही ५४–५७। ३. "एकत्वेऽप्याकृतेर्यद्वद्बहुत्वं व्यक्त्यपेक्षया॥ बहुत्वे हि तथा व्यक्तेरेकत्वं जात्यपेक्षया। एकानेकाभिधाने च शब्दाः नियतशक्तयः॥" वही वन० ८५,८६। ४. श्लोकवा० आकृ० ५९–६३। ५. शास्त्रदी० पृ० १०१। ६. श्लोकवा० वन० २५।

विषयमें जो परंपरा अच्छी प्रतीत हुई उसने अपनी दृष्टिसे उसका समर्थन किया। इस विचारके प्रकाशमें यदि हम कुमारिलका उपर्युक्त जातिविषयक मत देखें तो कहना होगा कि कुमारिलके ऊपर अनेकान्तवादी जैनोंकी गहरी छाप है।[1] इसके विपरीत यह कहना कि जैनोंने अपना अनेकान्तवाद कुमारिलसे सीखा यह एक भ्रम होगा। कुमारिलके पहले भी जैनोंमें अनेकान्तवाद प्रसिद्ध ही रहा। इसका उदाहरण सन्मतितर्क और नयचक्र है। सन्मतितर्क निश्चित ही कुमारिलसे पहले की कृति है। तथा नयचक्र और उसकी टीका भी। क्योंकि उनमें कुमारिलके श्लोकवार्तिकका कोई उल्लेख नहीं।

कुमारिल जैनोंके समान अनेकान्तवादको ही पकड कर बैठे नही रहता। यही कारण है कि उसने जातिका अनेकान्तवादी समर्थन करके भी वैशेषिकोंकी दलीलोंको लेकर जातिके वैशेषिक संमत स्वरूपकी संगति बिठानेका प्रयत्न किया है।[2] इस परसे स्पष्ट है कि कुमारिल वस्तुतः अनेकान्तवादी नहीं पर उसे वह पसंद जरूर है।

कुमारिलका तो कहना है कि मीमांसा शास्त्रमें स्वाभिमत पदार्थोंकी स्थापना करके कोई नया तत्त्वदर्शन स्थिर करना इष्ट नहीं किन्तु लोकप्रसिद्ध पदार्थोंको लेकर ही मीमांसा शास्त्र अपना व्यवहार चला लेता है। अत एव जाति और पंक्तिमें लोकको भेद दिखता है तो हमने भेद बताया है। यदि भेद बाधित भी हो तो भी इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं।[3] इससे भी स्पष्ट है कि कुमारिलने जातिका जो अनेकान्तवादी वर्णन किया है वह जैनोंसे उधार लिया है। पदार्थवर्णनमें उसका खास कोई ध्रुवमत नहीं।

(५) जैनोंका अनेकान्तात्मक सामान्यवाद।

जैन मतानुसार सामान्य दो प्रकारका है। तिर्यग्सामान्य और ऊर्ध्वतासामान्य। दैशिक विस्तारमें समानताकी बुद्धिका कारण तिर्यग्सामान्य है जब कि कालिक विस्तारमें समानताकी बुद्धिका कारण ऊर्ध्वतासामान्य है। सामान्य सदृशपरिणतिरूप है। सदृशपरिणतिका मतलब है समान परिणति। अत एव नैयायिक और वैशेषिकोंकी तरह वह एक नहीं; किंतु प्रत्येक व्यक्ति व पर्यायनिष्ठ होनेसे अनेक है। क्योंकि अनेकमें ही समानताका भान हो सकता है एकमें नहीं। जैनसम्मत द्विविध सामान्य और सांख्यानुसारी प्रकृतिरूप सामान्यमें तत्त्वतः कोई भेद नहीं है। क्योंकि प्रकृति, जैसे अपने अनेक दैशिक कार्यप्रपञ्चमें अनुगत होकर रही है वैसे ही वह अपने कालिक परिणामप्रवाहमें भी अनुस्यूत है। इसी कारण से प्रकृति परिणामिनित्य कहलाती है। परिणामवादी वेदान्तीका चिद्ब्रह्म और शब्दाद्वैतीका शब्दब्रह्म सांख्यसम्मत प्रकृतिकी तरह परिणामिनित्य ही है। अत एव वह भी तिर्यग् और ऊर्ध्वतासामान्यकी व्याख्यामें ही आ जाता है। नैयायिकादिसम्मत सामान्य नित्य ही है जबकि जैनसम्मत सामान्य अनित्य भी है। क्योंकि सदृशपरिणतिकी उत्पत्ति भी उन्हीं कारणोंसें होती है जिन कारणोंसे व्यक्ति व

---

१. "मीमांसकस्तु प्रायेण सर्वत्र जैनोच्छिष्टभोजीति" स्याद्वादर० पृ० ८३३। २. श्लोकवा० वन० ३३ से। ३. "इति निगदितमेवल्लोकसिद्धैः पदार्थैर्व्यवहृतिरिह शास्त्रे न स्वतन्त्राभ्युपेतैः। भवति च यदि लोको जातिपङ्क्त्यादिभेदो, यदि तु न घटतेऽसौ नैव बाधोऽस्ति कश्चित्॥" श्लोकवा० वन० ९७।

पर्याय स्वयं उत्पन्न होते हैं[१]। न्यायादि सम्मत सामान्य व्यापक है जब कि जैनसम्मत सामान्य अव्यापक है। क्योंकि सदृशपरिणाम व्यक्ति व पर्यायरूप होनेसे उनसे अभिन्न है।

सामान्यकी अनेकता, अनित्यता, अव्यापकता, व्यक्त्यभिन्नता जैनदर्शनमें एकान्तरूपसे इष्ट नहीं है[२] क्योंकि दूसरोंके एकान्तको निरस्त करनेके लिए ही उसने अनेकता आदिको सिद्ध किया है। अत एव एकाकारपरामर्शका कारण सदृशपरिणाम कथञ्चिदेकानेक, कथञ्चिद् नित्यानित्य, कथञ्चिद् सर्वगतासर्वगत और व्यक्तिसे कथञ्चिद्भिन्नाभिन्न रूप ही अनेकान्तदृष्टिसे फलित होता है। सामान्यके ऐसे स्वरूपका वर्णन तो मीमांसक करते हैं; किंतु सामान्यके वैसे वर्णनमें उनकी निष्ठा नहीं। क्योंकि वे उस अनेकान्तवादी वर्णनके साथ एकान्तवादको भी मिला देते हैं और अपने पक्षको निश्चित नही कर पाते।

बौद्धोंने उपादानोपादेयभावके स्थानमें प्रतीत्यसमुत्पादवाद स्वीकार करके वस्तुको एकान्तरूपसे क्षणिक सिद्ध किया है। जैनोंका मार्ग उसके ठीक विपरीत है। जैनदर्शनमें द्रव्यको ऊर्ध्वतासामान्य कह कर उसे नित्य, ध्रुव, स्थिर कहा है, जिसका तात्पर्य अन्वयिपर्यायप्रवाहके अविच्छेदमें है नहीं कि कूटस्थनित्यतामें। जैनसम्मत द्रव्य या ऊर्ध्वतासामान्यकी व्याख्या सांख्यसम्मत प्रकृतिके स्वरूपमें बराबर लागू होती है। अनेकान्तवादी जैनदर्शनकी तो व्याप्ति यही है कि जो प्रमेय होगा वह अनेकान्तात्मक होगा। इस न्यायसे द्रव्य मात्र नित्यानित्य फलित होता है।

वेदान्त और भर्तृहरिसम्मत ब्रह्म और शब्दसे जैनसम्मत द्रव्यका यही मुख्य भेद है कि जैनदर्शनानुसार द्रव्यके कार्य मायिक या आविद्यक नहीं, किंतु जैसी सत्यता द्रव्यकी वैसी ही कार्योंकी है, दोनों सच हैं मिथ्या एक भी नहीं हैं जब कि ब्रह्म और शब्दका प्रपञ्च मायिक है आविद्यक है। एक सच है और दूसरा मिथ्या। यह भी भेद है कि ब्रह्म और शब्द एकान्त नित्य और व्यापक हैं जब कि जैनसम्मत द्रव्य कथंचिद् वैसा है।

वैशेषिक और नैयायिकसम्मत समवायिकारण ही जैनदृष्टिसे ऊर्ध्वतासामान्य है। न्यायवैशेषिकके मतानुसार आकाश, काल, दिग्, आत्मा और मन ये पाँच एकान्त नित्य ही हैं जब कि पार्थिवादि कार्य–अवयवी अनित्य हैं। परन्तु उनके मतमें कोई भी द्रव्य जैनमतकी तरह नित्यानित्य नहीं है। और न जैनमतकी तरह कार्य तथा समवायिकारणके बीच कथंचिद्भेदाभेद है।

जैन दर्शनमे सामान्यको ऐसा माना है कि जिससे बौद्धोंके द्वारा दिये गये सब दोषोंका निवारण हो जाता है। वस्तुतः देखा जाय तो सामान्यको तब तक ही दूषित किया जा सकता है जब तक उसकी सिद्धिमें एकान्तवादका आश्रय लिया जाता है। अनेकान्तवाद तो सर्वदोषभक्षी है अत एव अनेकान्तवादका आश्रयण करके सामान्यके स्वरूपका जो निर्णय किया जाता है उसमें दोषोंको अवकाश नहीं रहता। इस बातको विद्यानन्दने अतिसंक्षिप्तमें बड़े सुंदर ढंगसे कहा है—तत्त्वार्थश्लो० पृ० ९९।

---

१. "स्वकारणादेव हि तादृशरूपमुत्पन्नं यत् तथाविधां बुद्धिमुत्पादयति" न्यायकु० पृ० २८६।
२. तत्त्वार्थश्लोक० पृ० ९९–१०० । प्रमेयक० ४.३–६। स्याद्वादर० ५.३–५।

पृ० ८१. पं० ११. 'ऊर्ध्वतारूपम्' व्याख्या–"परापरविवर्तव्यापिद्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु।" परी० ४.६। "पूर्वापरपरिणामसाधारणं द्रव्यमूर्ध्वतासामान्यं कटककङ्कणाद्यनुगामिकाञ्चनवदिति।" प्रमाणन० ५.५।

पृ० ८१. पं० ११. 'तिर्यग्रूपं' व्याख्या–"सदृशपरिणामस्तिर्यक् खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत्।" परी० ४.५। प्रतिव्यक्ति तुल्या परिणतिस्तिर्यक्सामान्यं शबलशाबलेयादिपिण्डेषु गोत्वं यथा।"प्रमाणन० ५.४।

पृ० ८१. पं० १५. 'विशेषः'–"विशेषश्च। पर्यायव्यतिरेकभेदात्। एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविनः परिणामाः पर्यायाः आत्मनि हर्षविषादादिवत्। अर्थान्तरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेकः गोमहिषादिवत्।" परी० ४.७–१०। "विशेषोपि द्विरूपो गुणः पर्यायश्चेति। गुणः सहभावी धर्मो यथात्मनि विज्ञानव्यक्तिशक्त्यादिरिति। पर्यायस्तु क्रमभावी यथा तत्रैव सुखदुःखादिरिति।" प्रमाणन० ५.६–८।

पृ० ८१. पं० १९. 'कल्पनाज्ञानम्' बौद्धोंने निर्विकल्पज्ञानको प्रत्यक्ष प्रमाण माना है। उसके विरोधमें यहाँ कहा गया है कि कल्पनाज्ञान प्रत्यक्ष है। बौद्ध कल्पनाज्ञानको अर्थात् सविकल्पक ज्ञानको प्रत्यक्ष नहीं मानते। उनके मतसे वह अनुमान, शाब्द या अप्रमाण हो सकता है किन्तु प्रत्यक्ष नहीं।

शब्दार्थयोजना या शब्दार्थयोजनाकी योग्यता होनेसे ज्ञानको कल्पना ज्ञान कहा जाता है इस बौद्ध मन्तव्यको अमान्य करके प्रस्तुतमें शान्त्याचार्यने सामान्यविशेषात्मक व्यवसायको कल्पनाज्ञान कहा है और उसी कारणसे प्रत्यक्षको सविकल्पक कहा है।

तुलना–"प्रत्यक्षं कल्पनाऽपोढमभ्रान्तमिति केचन। तेषामस्पष्टरूपा स्यात् प्रतीतिः कल्पनाऽथवा॥ स्वार्थव्यवसितिर्नान्या गतिरस्ति विचारतः।" तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८५।

पृ० ८१. पं० २१. 'कल्पना' तुलना–"अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीतिः कल्पना।" न्यायबि० पृ० १३। "केयं कल्पना–किं गुणचलनजात्यादिविशेषणोत्पादितं विज्ञानं कल्पना, आहो स्मृत्युत्पादकं विज्ञानं कल्पना, स्मृतिरूपं वा, स्मृत्युत्पाद्यं वा, अभिलापसंसर्गनिर्भासं वा, अभिलापवती प्रतीतिर्वा कल्पना, अस्पष्टाकारा वा, अतात्त्विकार्थगृहीतिरूपा वा, स्वयं वा अतात्त्विकी, त्रिरूपाल्लिङ्गतोऽर्थदृग्वा, अतीतानागतार्थनिर्भासा वा?।" तत्त्वो० पृ० ३२। न्यायकु० पृ० ४६।

पृ० ८१. पं० २५. 'विशेषणविशेष्यभावः' तुलना–"विशेषणविशेष्यत्वं द्वयोर्न परमार्थतः। कदाचित् कस्यचित् कश्चिद्विशेष्यादितया मतः। न खलु पारमार्थिको विशेषणविशेष्यभावः। कदाचिद्विशेष्यस्यापि विशेषणत्वेन प्रतीतेः। ततो बुद्धिरेव सा तथाभूता प्रतीयते।" प्रमाणवा० अलं० मु० पृ० १२५।

पृ० ८२. पं० १. 'पूर्वमेव' देखो, पृ० ४९. पं० २२।

पृ० ८२. पं० ९. 'अनवस्थाम्' "तन्नामान्तरपरिकल्पनायामनवस्था" अष्टश० अष्टस० पृ० १२१।

"स्वाभिधानविशेषस्य निश्चयो यद्यपेक्षते।
स्वाभिलापान्तरं नूनमनवस्था तदा न किम्॥" तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८७।

सन्मति० टी० पृ० २४९।

पृ० ८२. पं० १२. 'अणूनाम्' तुलना–"स्वप्नेऽपि निरंशक्षणिकानेकपरमाणुरूपस्य तस्यासंवेदनात्।" सन्मति० टी० पृ० २५१।

पृ० ८२. पं० १५. 'प्रत्यक्षं' धर्मकीर्तिने कहा है–

"प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिध्यति।" प्रमाणवा० २. १२३।

इसीके उत्तरमें शान्त्याचार्यका प्रस्तुत कथन है–

"प्रत्यक्षं कल्पनायुक्तं प्रत्यक्षेणैव सिध्यति।"

पृ० ८२. पं० १६. 'ननु' यहाँसे बौद्धकी आशंका है। इसका उत्तर का० ३१ में दिया गया है।

"तस्मान्नार्थेषु न ज्ञाने स्थूलाभासस्तदात्मनः।
एकत्र प्रतिषिद्धत्वाद् बहुष्वपि न संभवः॥" प्रमाणवा० २.२११।

देखो, प्रमाणवा० अलं० २.२११।

पृ० ८२. पं० २४. 'पिण्डः' संपूर्ण कारिका इस प्रकार हैं–

"षट्केन युगपद्योगात् परमाणोः षडंशता।
षण्णां समानदेशत्वात् पिण्डः स्यादणुमात्रकः॥"

विज्ञप्ति० १२। सन्मति० टी० पृ० २५२।

पृ० ८३. पं० ३. 'अथ' बौद्धपक्ष पर यह शंका है। उसका समाधान बौद्धने 'नैतदस्ति' (पं० ४) से किया है।

पृ० ८३. पं० १९. 'परमाणवः' परमाणु अतीन्द्रिय होनेसे उसमें प्रत्यक्ष होने की योग्यता नहीं है किन्तु सजातीय परमाणुओंका समूह होता है तब वे अस्थूलरूप होने पर भी स्थूलरूपसे प्रत्यक्ष होते हैं–यह मत भदन्त शुभगुप्तका है। उसीको यहाँ पूर्वपक्ष रूपसे रखा है। देखो तत्त्वसं० पं० पृ० ५५१–५५२।

पृ० ८४. पं० ४. 'उक्तम्' देखो, पृ० ८१. पं० २४।

पृ० ८४. पं० ९. 'निराकरणात्' देखो, पृ० ८१. पं० २५।

पृ० ८४. पं० २६. 'प्रत्यभिज्ञान' बौद्ध क्षणिकवादी होनेसे ऊर्ध्वतासामान्यरूप द्रव्य अर्थात् एकत्वकी साधक प्रत्यभिज्ञाको अप्रमाण मानता है। विशेष चर्चाके लिये देखो, प्रमाणवा० स्वो० कर्ण० पृ० ४९४ से। तत्त्वसं० का० ४४६ से। प्रमाणवा० अलं० लि० पृ० ३४७,७६२। आप्तमी० का० ५६। न्यायकु० पृ० ४११। न्यायमं० वि० पृ० ४४९। प्रमाणमी० भाषाटि० पृ० ७५।

पृ० ८४. पं० ३१. 'जन्ममृत्यु' तुलना–"यदि कालकलाव्यापिवस्तुग्रहणमक्षतः। सर्वकालकलालम्बे ग्रहः स्यान्मरणावधेः॥" प्रमाणवा० अलं० पृ० ७६२।

पृ० ८६. पं० ७. 'भावा' टिप्पणीमें दिया हुआ क० प्रतिगत पाठ 'भावो' ठीक है। उसे मूलमें ले लेना चाहिये और अ० ब० मु० प्रतिगत 'भावा' पाठान्तररूपसे टिप्पणीमें रखना चाहिए। देखो, प्रमाणवा० १.४५।

पृ० ८६. पं० ३१. 'अनुमानत्वे' इस पद्यके प्रथम पादमें ९ अक्षर हैं।

पृ० ८७. पं० १३. 'प्रतिपादयिष्यते' देखो, पृ० ९१।

पृ० ८७. पं० १४. 'प्रतिपादयिष्यते' देखो, पृ० ९२ § २५ से। तथा का० ३८-३९।

पृ० ८८. पं० १. 'गुडश्चेत्' ये दोनों पद्य अर्चटकृत हैं और उन्होंने कई पद्योंके साथ इनको भी हेतुबिन्दुटीकामें उद्धृत किया है—हेतु० टी० पृ० १०६ का आलोक। तुलना—"तदाहुः श्रीहेमसूरिपादाः-'गुडोऽपि कफहेतुः स्यान्नागरं पित्तकारणम्। द्वयात्मनि न दोषोऽस्ति गुडनागरभेषजे।' इति" अष्टस० वि० पृ० १७२। हेतु० टी० पृ० १०६। धर्मसं० टी० पृ० १४६A।

पृ० ८८. पं० १६. 'संख्या' तुलना—"संज्ञासंख्याविशेषाच्च स्वलक्षणविशेषतः। प्रयोजनादिभेदाच्च तन्नानात्वं न सर्वथा॥" आप्तमी० ७२।

पृ० ८८. पं० १६. 'नरसिंहाकारमेव' "गवये नरसिंहे वाप्येकज्ञानावृते यथा। भागं जात्यन्तरस्यैव सदृशं प्रतिपद्यते॥" वाक्य० २.९२। "अस्वशब्दाभिधानास्तु नरसिंहादिजातयः" वही० का० ३ जाति० ४८। "न च नरसिंहाभ्यामारब्धो नरसिंहः, अपि तु जात्यन्तरमेवात्र शबलरूपे वस्तुनि समवेतम्, चित्र इव रूपे चित्रत्वमिति।" वही टीका। "सादृश्यं नरसिंहादौ युक्तं जात्यन्तरे सति। तत्र ह्यवयवाः सिद्धाः प्राक्संयोगविभागिनः॥" श्लोकवा० वाक्याधि० १२५। "यदुक्तम्-भागेसिंहो नरो भागे योऽर्थो भागद्वयात्मकः। तमभागं विभागेन नरसिंहं प्रचक्षते॥" तत्त्वो० पृ० ७९।

पृ० ८८. पं० २०. 'नान्वयो' तुलना—"तथा चोक्तम्-नान्वयस्तद्विभेदत्वान्न भेदोऽन्वयवृत्तितः। मृद्भेदद्वयसंसर्गवृत्ति जात्यन्तरं हि तत्॥" अनेकान्तज० पृ० ११९। तत्त्वार्थभा० सि० टी० पृ० ३७७।

पृ० ८८. पं० २७. 'विरोधो' तुलना—"द्विविधो हि पदार्थानां विरोधः। अविकलकारणस्य भवतोऽन्यभावेऽभावाद्विरोधगतिः। शीतोष्णस्पर्शवत्। परस्परपरिहारस्थितलक्षणतया वा, भावाभाववत्।" न्यायबि० पृ० ९६। सन्मति० टी० पृ० २४१।

पृ० ८८. पं० ५. 'दैवरक्ताः' तुलना—"दैवरक्ताः किंशुकाः। क एतानधुना रञ्जयति।" प्रमाणवा० अलं० मु० पृ० ४३।

पृ० ८९. पं० ८. 'निर्हेतुविनाशवादो'—बौद्धों ने वस्तुकी क्षणिकता सिद्ध करनेके लिये वस्तुका विनाश निर्हेतुक माना है। इसके विवेचनके लिये देखो, प्रमाणवा० ३.२६९-२८३। कर्ण० पृ० ५१०। तत्त्वसं० का० ३५७ से।

खण्डनके लिये देखो—न्यायवा० पृ० ४०३। तात्पर्य० ५४६। न्यायकु० ३८६।

पृ० ८९. पं० १५. 'नित्यानित्यत्वयोः' तुलना—"अध्यक्षेण नित्यानित्यमेव तदवगम्यते अन्यथा तदवगमाभावप्रसङ्गात्।" अनेकान्तज० पृ० ९६। आप्तमी० का० ५६।

पृ० ८९. पं० २२. 'अथ परस्पर' तुलना—सन्मति० टी० पृ० २४१।

पृ० ९०. पं० १७. 'प्रतिपादितम्' देखो० का० १६।

पृ० ९०. पं० १९. 'निरस्तत्वात्' देखो० पृ० २६ ।

पृ० ९०. पं० २१. 'प्रतिपादयिष्यामः' – देखो, पृ० ९१ ।

पृ० ९०. पं० २४. 'सत्त्वम्' सत्त्व या सत्ताके स्वरूपके विषयमें नानामतवादोंके लिये देखो, प्रमाणमी० भाषाटि० पृ० १२६ ।

पृ० ९०. पं० २४. 'अर्थक्रिया' देखो, प्रमाणमी० भाषाटि० पृ० ५८ ।

पृ० ९०. पं० २७. 'सत्तासंबन्धेन' तुलना – हेतु० टी० पृ० १४५ । व्यो० पृ० १२४ सन्मति० टी० १०९,११० ।

पृ० ९१. पं० ६. 'सौगतैरेव' अर्थक्रियाकारित्वरूप शक्तिको सत्का लक्षण मान करके बौद्धोंने यह तर्क किया है कि क्योंकि क्रमसे या अक्रमसे एकान्तनित्य वस्तुमें अर्थक्रिया घट नहीं सकती अत एव एकान्त नित्य वस्तु सत् नहीं । "शक्तिर्हि वस्तुलक्षणम् । सर्वशक्तिविरतिर्हि वस्त्वभावस्य लक्षणम् । अक्षणिकं हि न कदाचित् क्वचित् समर्थं क्रमयौगपद्याभ्याम् अर्थक्रियाया अभावात् ।" हेतुबि० लि० पृ० २४ ।

"तथा हि क्रमयौगपद्याभ्यां कार्यक्रिया व्याप्ता प्रकारान्तराभावात् । ततः कार्यक्रियाशक्तिव्यापकयोस्तयोरक्षणिकत्वे विरोधात् निवृत्तेः, तद्व्याप्तायाः कार्यक्रियाशक्तेरपि निवृत्तिरिति सर्वशक्तिविरहलक्षणमसत्त्वमक्षणिकत्वे व्यापकानुपलब्धिराकर्षति, विकल्पयोरेकत्रायोगात् । ततो निवृत्तं सत्त्वं क्षणिकेष्वेवावतिष्ठमानं तदात्मतामनुभवति ।" हेतु० टी० पृ० १४६ ।

"क्रमाक्रमविरोधेन नित्या नो कार्यकारिणः ।" तत्त्वसं० का० ७६ ।

"क्रमेण युगपच्चापि यस्मादर्थक्रियाकृतः ।
न भवन्ति स्थिरा भावा निःसत्त्वास्ते ततो मताः ॥" वही० का० ३९४ ।

व्यो० पृ० ३८६ । कंदली० पृ० ७३ ।

पृ० ९१. पं० १२. 'एकान्तक्षणिकम्' – बौद्धोंने अर्थक्रियाकारित्वको क्षणिकका ही धर्म मान कर क्षणिक ही वस्तुसत् है ऐसा सिद्ध करना शुरू किया तब अक्षणिकवादिओंने उसे अक्षणिकका ही धर्म मानकर कहा कि क्षणिक वस्तु क्रमाक्रमसे अर्थक्रियामें असमर्थ होनेसे वस्तुसत् नहीं ।

"क्रमेण युगपच्चापि यतस्तेऽर्थक्रियाकृतः ।
न भवन्ति ततस्तेषां व्यर्थः क्षणिकताश्रयः ॥" तत्त्वसं० का० ४३१ ।

यह कथन भदन्त योगसेनका है । वह बौद्ध होने पर भी आत्मस्थिरता मानता होगा अत एव उसने एकान्त क्षणिकमें भी अर्थक्रियाकी अघटना सिद्ध की है । योगसेनका अनुकरण करके अन्य दार्शनिकोंने भी क्षणिकमें अर्थक्रियाका विरोध बताया है – न्यायमं० वि० पृ० ४५३ । तात्पर्य० पृ० ५५६ । न्यायकु० पृ० ३७९ । स्याद्वादमं० का० ५ ।

पृ० ९१. पं० १६. 'क्रमः' तुलना – "क्रमो नाम परिपाटिः कार्यान्तरासाहित्यं कैवल्यमङ्कुरादेः, यौगपद्यमपि तस्यापरैः बीजादिकार्यैः साहित्यम् ।" हेतु० टी० पृ० १४७ ।

पृ० ९१. पं० १८. 'द्विविधं कारणम्' तुलना – "अथ सामग्रीकारणमाश्रित्योच्यते..." हेतु० टी० पृ० ९३ । "अथ कारणशब्देन सामग्रीव्यपदेशविषयाः सहकारिण उच्यन्ते......" वही० पृ० ११० ।

पृ० ९१. पं० २०. **'एकमेव'** तुलना–**"सामग्रीजन्यस्वभावत्वात् कार्यस्य।''''''तदुक्तं 'तस्यैवैकस्य जनने समर्थाः नान्यस्य' न चानेकस्माद् भवदनेकं प्राप्नोति । यतो नास्माकं भवतामिव कारणमेव कार्यात्मतामुपैति।"** वही पृ० ९३।

पृ० ९१. पं० २२. **'तथाहि'** तुलना–**"तस्मादवस्थाभेदेपि यदेकाकारपरामर्शप्रत्ययनिबन्धनतया स्वसंततिपतितकार्यप्रसूतिनिमित्तं तद् उपादानकारणम्। यत् सन्तानान्तरे प्रागवस्थापेक्षविशेषोदयनिबन्धनं तत् सहकारिकारणम्। सा चेयं भावानां स्वहेतुपरम्परायाता प्रकृतिर्यया किञ्चित्कार्यं स्वसन्तानव्यवस्थानिबन्धनं जनयन्ति, अपरं च सन्तानान्तरव्यपदेशनिबन्धनम्।"** वही० पृ० ९५।

पृ० ९१. पं० २९. **'व्यापारः'** तुलना–**"भवनधर्मिणि च कार्ये तेषां प्राग्भाव एव व्यापारः, तदन्यस्यायोगात्। यदि हि व्यापृतादन्य एव व्यापारः तदा तत एव कार्योत्पादाद् व्यापारवतः कारकत्वमेव हीयते।"** हेतु० टी० पृ० ९०।

पृ० ९२. पं० **'मृतेन'** तुलना–**न हि मृताच्छिखिनः केकायितसम्भवः।"** न्यायकु० पृ० १०।

पृ० ९२. पं० १६. **'तदुक्तम्'** देखो पृ० ८०. पं० २९।

पृ० ९२. पं० १८. **'ननु द्रव्यस्य'** तुलना–

> **"अन्वयप्रत्ययात् सिद्धं सर्वथा बाधवर्जितात्।**
> **तद् द्रव्यं बहिरन्तश्च मुख्यं गौणं ततोऽपरम्॥"** तत्वार्थश्लो० पृ० ११२।

पृ० ९३. पं० २१. **'लूनपुनर्जात'** तुलना–**"केशगोलकदीपादावपि स्पष्टावभासनात्।"** प्रमाणवा० २.५०४। **"लूनपुनर्जाते केशादौ, मायाकारदर्शिते गोलकादौ क्षणविनाशिदीपादौ स्पष्टावभासनात्।"** प्रमाणवा० मनो०।

पृ० ९३. पं० २९. **'सर्वस्य'** अनेकान्तवादके खण्डनमें धर्मकीर्तिका यह कथन है। जैनाचार्योंने धर्मकीर्तिके इस तर्कका जवाब विविध प्रकारसे दिया है–आचार्य अकलंकका जवाब आवेश तथा तर्कपूर्ण होनेके उपरान्त जैसेको तैसावाली नीतिका अनुसरण करके दिया गया है–

> **"तत्र मिथ्योत्तरं जातिः यथानेकान्तविद्विषाम्॥**
> **दध्युष्ट्रादेरभेदत्वप्रसङ्गादेकचोदनम्।**
> **पूर्वपक्षमविज्ञाय दूषकोऽपि विदूषकः॥**
> **सुगतोऽपि मृगो जातो मृगोऽपि सुगतः स्मृतः।**
> **तथापि सुगतो वन्द्यो मृगः खाद्यो यथेष्यते॥**
> **तथा वस्तुबलादेव भेदाभेदव्यवस्थितेः।**
> **चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रमभिधावति?॥"** न्यायवि० ३७१–४।

आचार्य हरिभद्रने इस प्रश्नका उत्तर विस्तारसे स्याद्वादकुचोद्यपरिहार नामक स्वतन्त्र-ग्रन्थ लिख कर दिया है किन्तु वह उपलब्ध नहीं। उन्होंने किसी अन्यका उद्धरण देकर अनेकान्तजयपताकामें इस कुतर्कका उत्तर दिया है, अनेकान्तज० पृ० २९६।

अन्य जैनाचार्योंने भी इन्हींका अनुकरण करके उत्तर दिया है–सन्मति० टी० पृ० २४२। न्यायकु० पृ० ६२१। स्याद्वादर० पृ० ८३७।

आचार्य विद्यानन्द ने कहा है कि धर्मकीर्तिकृत वह आरोप अनेकान्तवादमें नहीं किन्तु अभावका अपह्नव करनेवाले सांख्यों के मतमें युक्तिसंगत हो सकता है – अष्टस० पृ० ९३।

पृ० ९३. पं० २९. **'सप्तभङ्गी'** तुलना – **"नात्र दोषः, गुणप्रधानव्यवस्थाविशेषप्रतिपादनार्थत्वात् सर्वेषां भङ्गानां प्रयोगोऽर्थवान् । तद्यथा द्रव्यार्थिकप्राधान्ये पर्यायगुणभावे च प्रथमः। पर्यायार्थिकस्य प्राधान्ये द्रव्यगुणभावे च द्वितीयः ।"** इत्यादि – राजवा० पृ० १८१ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १२८ । सन्मति० टी० पृ० ४४१ ।

पृ० ९४. पं० ५. **'फलविप्रतिपत्तिम्'** जैन और जैनेतर दार्शनिकोंमें प्रमाण और उसके फलके विषयमें जो मतभेद है उसके विवेचनके लिये देखो, प्रमाणमी० भाषाटि० पृ० ६६ । प्रस्तुतमें अन्य जैनाचार्योंसे शान्त्याचार्यके मतमें जो विलक्षणता है उसीका निर्देश करना अभीष्ट है ।

न्यायावतार (का० २८) और आप्तमीमांसा (का० १०२) दोनोंमें अज्ञाननाशको प्रमाणका साक्षात् फल कहा गया है । अज्ञाननाश ही स्वपरव्यवसाय है ऐसा टीकाकारोंने स्पष्टीकरण किया है । अत एव प्रमाण और फलका कथंचित् अभेद है ऐसा फलित होता है – यह जैनाचार्योंका मत है[1] ।

कथंचिदभिन्न अज्ञाननिवृत्तिरूप फलके अलावा जैनाचार्योंने कथंचिद्भिन्न ऐसी हानोपादनोपेक्षा बुद्धिओंको भी प्रमाणका व्यवहित फल माना है – न्याया० २८ । आप्तमी० १०२ ।

किन्तु प्रस्तुतमें वार्तिक और वृत्तिमें शान्त्याचार्यने प्रमाण और फलके अभेद पक्षका ही वर्णन किया है । हानादि व्यवहित फलोंके विषयमें मौनावलम्बन किया है । प्रस्तुत वार्तिक न्यायावतारके ऊपर है यह तो स्वयं ग्रन्थकारने प्रारंभमें कह दिया है तब प्रमाणफलके साक्षात् और परंपरासे दो प्रकारोंका वर्णन करना क्रमप्राप्त था किन्तु प्रस्तुतमें शान्त्याचार्यने ऐसा न करके प्रमाणके साक्षात् फलका ही वर्णन किया । इससे वार्तिककारका सूत्रकारसे स्वातन्त्र्य ही द्योतित होता है । मात्र अभेदपक्षका वर्णन करके भी शान्त्याचार्यने अन्य जैनाचार्योंके भेदाभेद पक्षकी उपेक्षा ही की है । उस उपेक्षाका कारण उनके ऊपर विज्ञानवादी बौद्धोंका प्रभाव ही है ऐसा समजना चाहिए । क्योंकि विज्ञानवादीके ही मतसे प्रमाण और फलका पारमार्थिक भेद नहीं । पारमार्थिक दृष्टिसे उन दोनोंका अभेद ही है । इसी विचारको उन्होंने जैन दृष्टिसे अपनानेका प्रयत्न किया है । जैनदृष्टिसे इस लिये कि जैनाचार्योंने प्रमाण और फलका अभेद जो माना है वह एक आत्मामें प्रमाण और फलका अभेद होनेके कारण । अर्थात् एक ही आत्मा प्रमाण और फलरूपसे परिणत होता है अत एव प्रमाण और फलका अभेद है । बौद्धोंने आत्मा तो माना नहीं है । उनके मतसे एक ही ज्ञान अपेक्षाभेदसे, व्यावृत्तिके भेदसे प्रमाण और फल कहा जाता है । अत एव शान्त्याचार्यने उक्त बौद्ध मन्तव्यको इन शब्दोंमें जैनदृष्टिसे संगत करनेका प्रयत्न किया है –

"नात्मनः परमार्थेन प्रमाणं भिद्यते किन्तु आत्मैव ज्ञानावरणक्षयोपशमवान् प्रमाणं स एव प्रतीतिरूपत्वात् फलमिति ।" पृ० ९४. पं० २१ ।

---

१. प्रमेयक० पृ० ६२५ । स्याद्वादर० पृ० ९९३,९९८ ।

अन्य जैनाचार्योंने शान्त्याचार्य निर्दिष्ट युक्तिका प्रयोग साक्षात् फल और प्रमाणके अभेदको सिद्ध करनेमें नहीं किन्तु व्यवहित अत एव भिन्न ऐसी हानादि बुद्धिओंका प्रमाणसे कथंचिद्भेद सिद्ध करनेमें किया है[1] यह खास ध्यान देनेकी बात है।

दूसरी यह भी बात मार्केकी है कि अन्य जैनाचार्य भेद और अभेद दोनोंको पारमार्थिक मानते हैं और प्रमाण तथा फलके भेदको काल्पनिक या सांवृतिक माननेवाले बौद्धोंका[2] निराकरण करते हैं[3], तब शान्त्याचार्य बौद्धपक्षपाती होकर अभेदको पारमार्थिक मानते हैं और भेदको काल्पनिक, यह बात उनके ऊपर निर्दिष्ट उद्धरणसे स्पष्ट है।

यद्यपि प्रस्तुत फलवर्णन प्रसंगमें शान्त्याचार्यने व्यवहित फलोंका वर्णन नहीं किया किन्तु उनको व्यवहित फल सर्वथा अमान्य था ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि वार्तिकके प्रारंभकी कारिका (१)

> "हिताहितार्थसंप्राप्तित्यागयोर्यन्निबन्धनम्।
> तत् प्रमाणं प्रवक्ष्यामि सिद्धसेनार्कसूत्रितम्॥"

में स्पष्ट ही हानोपादान क्रियामें प्रमाणको कारण माना है।

पृ० ९४. पं० ११. 'यदि भिन्नविषयम्' तुलना—

> "नेष्टो विषयभेदोऽपि क्रियासाधनयोर्द्वयोः।
> एकार्थत्वे द्वयं व्यर्थं न च स्यात् क्रमभाविता॥ ३१४॥
> तस्माद्विषयभेदोऽपि न॥ ३५१॥" प्रमाणवा० २।

"भिन्नप्रमाणफलवादिनं प्रति बौद्धेनोक्तम् यदि प्रमाणफलयोर्भेदोऽभ्युपगम्यते तदा भिन्नविषयत्वं स्यात् प्रमाणफलयोः। न चैतद्युक्तम्। न हि परश्वादिके छेदने खदिरप्राप्ते सति पलाशे छेदो भवति। तस्मात् प्रमाणफलयोरेकविषयत्वादभेद इति।" तत्त्वसं० पं० पृ० ३९९।

पृ० ९४. पं० १९. *'न हि प्रमाणम्' तुलना*— *"तथा हि न ज्ञानं जनयदर्थं प्रापयति। अपि तु अर्थे पुरुषं प्रवर्तयत् प्रापयत्यर्थम्। प्रवर्तकत्वमपि प्रवृत्तिविषयप्रदर्शकत्वमेव। न हि पुरुषं हठात् प्रवर्तयितुं शक्नोति विज्ञानम्।"* न्यायबि० टी० पृ० ५। *"न हि ज्ञानेन अर्थो हस्ते गृहीत्वाऽन्यतो निवर्तनीयः।"* हेतु० टी० पृ० १९६। प्रमेयक० पृ० २५। स्याद्वादर० पृ० ४४.।

पृ० ९४. पं० २३. 'आकारः प्रमाणम्' सौत्रान्तिक बौद्ध बाह्यार्थवादी हैं। उनके मतसे आकार, मेयरूपता, अर्थरूपता, सारूप्य, ताद्रूप्य, सादृश्य, ज्ञानात्मभूतविशेष, अनाकार-व्यावृत्ति इत्यादि शब्दोंसे प्रतिपाद्य ज्ञानांश प्रमाण है। प्रमाणवार्तिकमें सारूप्यको प्रमाण-

---

१. परी० ५.३। प्रमाणन० ५.८-११। २. "सा च तस्यात्मभूतैव तेन नार्थान्तरं फलम्॥ ३०७॥ क्रियाकरणयोरैक्यविरोध इति चेदसत्। धर्मभेदाभ्युपगमाद् वस्त्वभिन्नमितीष्यते॥ ३१८॥ एवंप्रकारा सर्वैव क्रियाकारकसंस्थितिः॥ ३१९॥" प्रमाणवा० २। "धर्मभेदस्य व्यावृत्त्युपकल्पितस्य" मनो०। "यथानुदर्शनं चेयं मेयमानफलस्थितिः। क्रियतेऽविद्यमानापि ग्राह्यग्राहकसंविदाम्॥ ३५७॥ अन्यथैकस्य भावस्य नानारूपावभासिनः। सत्यं कथं स्युराकारास्तदेकत्वस्य हानितः॥ ३५८॥" प्रमाणवा० २। ३. अष्टस० पृ० २८४। तत्त्वार्थश्लो० पृ० १२६। प्रमेयक० पृ० ६२७। प्रमाणन० ६.२१।

माननेवाले सौत्रान्तिकोंका वर्णन (प्रमाणवा० २.३०१–३१९) हुआ है। इससे पता चलता है कि उनके मतमें एक ज्ञानके कल्पित दो अंश[1] प्रमाण और प्रमिति रूपसे व्यवहृत होते हैं। अत एव प्रमाण और फलका अभेद ही है[2]। यही बात न्यायबिन्दुमें[3] भी कही गई है।

सौत्रान्तिकोंका कहना है कि ज्ञान यद्यपि अनेक कारणोंसे उत्पन्न होता है, किन्तु उसका सारूप्य चक्षुरादिसे न होकर अर्थसे ही होता है। जैसे पुत्र मातापितादि अनेक कारणोंसे उत्पन्न होनेपर भी माता या पिताके ही आकारको धारण करता है, इसी प्रकार अनेक कारणोंसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान भी आलम्बन प्रत्ययके आकारका होता है। यही आकार विषयव्यवस्थापक होता है। अर्थात् प्रतीतिको किसी एक विषयमें नियत करनेके लिये यही आकार साधकतम है अत एव यही आकार प्रमाण है[4]।

सौत्रान्तिकोंका कहना है कि यह आकार ज्ञान अर्थात् प्रतीतिसे भिन्न नहीं है। एक ही ज्ञान व्यावृत्तिके भेदसे प्रमाण और फल कहा जाता है। नैयायिकादिकी तरह सौत्रान्तिकोंको प्रमाण और फलमें जन्यजनकभाव–कार्यकारणभाव इष्ट नहीं है किन्तु व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापकभाव इष्ट होनेसे एक ही वस्तुमें प्रमाण और फलका अभेद माननेमें कोई विरोध नहीं[5]। एक ही बुद्धि या ज्ञान अनाकारव्यावृत्त होनेसे प्रमाण और वही अनधिगतिव्यावृत्त होनेसे प्रमिति है[6]।

सौत्रान्तिकोंके इस आकारवादका खण्डन सभी दार्शनिकोंने किया है। स्वयं धर्मकीर्तिने भी वह आकार अर्थजन्य नहीं किन्तु वासनाकृत है ऐसा स्थापित करनेके लिये बाह्य वस्तुके आकारका संभव ज्ञानमें नहीं ऐसा स्थापित किया है—श्लोकवा० ४.७९। शास्त्रदी० पृ० ५४। प्रमाणवा० २.३२०। तत्त्वो० पृ० ५२। व्यो० पृ० ५२८। न्यायमं० वि० पृ० ५४३। अष्टस० पृ० २२८,२३५,२४०। तत्त्वार्थश्लो० पृ० १२६,१६९। सन्मति० टी० पृ० २४६,४६०। प्रमेयक० पृ० १३०। न्यायकु० पृ० १६७। प्रमाणन० ४.४७।

---

१. प्रमाणवा० २.३१५। २. वही० २.३०७। ३. "तदेव च प्रत्यक्षं ज्ञानं प्रमाणफलम् अर्थप्रतीतिरूपत्वात्। अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम्, तद्वशादर्थप्रतीतिसिद्धेः।" न्यायबि० पृ० २५–२६। ४. "अर्थेन घटयत्येनां न हि मुक्त्वार्थरूपताम्। अन्यः स्वभेदाज्ज्ञानस्य भेदकोऽपि कथञ्चन ॥ ३०५ ॥ तस्मात् प्रमेयाधिगतेः साधनं मेयरूपता ॥ ३०६ ॥" प्रमाणवा० २। तत्त्वसं० का० १३४४। "सर्वमेव हि विज्ञानं विषयेभ्यः समुद्भवत्। तदन्यस्यापि हेतुत्वे कथञ्चिद्विषयाकृति ॥ ३६८ ॥ यथैवाहारकालादेर्हेतुत्वेऽपत्यजन्मनि। पित्रोस्तदेकस्याकारं धत्ते नान्यस्य कस्यचित् ॥ ३६९ ॥ तद्धेतुत्वेन तुल्येऽपि तदन्यैर्विषये मतम्। विषयत्वं तदंशेन तदभावे न तद्भवेत् ॥ ३७० ॥" प्रमाणवा० २। ५. प्रमाणवा० २.३०७,३१५,३१८। "अधिगतिज्ञानात्मभूतविशेष[सारूप्य]योस्तु व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभाव एवेतयो उभयोरपि ज्ञानस्वरूपात्मत्वात्।" मनो० २.३०५। "नास्त्यत्र कार्यकारणात्मकः क्रियाकरणभावः किन्तु व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावः। स च तादात्म्येपि अविरुद्धः।" वही २.३१५। ६. "अनाकारव्यावृत्तिः प्रमाणम्। अनधिगतिव्यावृत्तिः फलम्।" वही २.३१८।

३. अनुमानपरिच्छेदः ।

पृ० ९५. पं० १७. 'अथ' प्रथम वैशेषिक और नैयायिकसंमत सामान्यको दूषित करने के लिये यहाँसे उनकी ओरसे पूर्वपक्षकी योजना की गई है ।

पृ० ९६. पं० १०. 'दोहिं' व्याख्या—"द्वाभ्यामपि द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनयाभ्यां प्रणीतं शास्त्रम् उलूकेन वैशेषिकशास्त्रप्रणेत्रा, द्रव्य-गुणादेः पदार्थषट्कस्य नित्यानित्यैकान्तरूपस्य तत्र प्रतिपादनात् ... ततश्च एतत् शास्त्रं तथापि मिथ्यात्वम्, तत्प्रदर्शितपदार्थषट्कस्य प्रमाणबाधितत्वात् ।... यस्मात् स्वविषयप्रधानतया व्यवस्थितान्योन्यनिरपेक्षोभयनयाश्रितं तत्, अन्योन्यनिरपेक्षनयाश्रितत्वस्य मिथ्यात्वाविनाऽविनाभूतत्वात् ।" सन्मति० टी० ।

पृ० ९६. पं० १२. 'अथापि च' मीमांसक और सांख्यपक्षको दूषित करनेके लिये उनकी ओरसे पूर्वपक्षकी योजना यहाँसे की गई है ।

पृ० ९६. पं० १८. 'किञ्च' तुलना—सन्मति० टी० पृ० २४०,३९१ ।

पृ० ९६. पं० २२. 'व्यक्ति' तुलना—"तत्र देशान्तरे वस्तुप्रादुर्भावे कथं नु ते । दृश्यन्ते वृत्तिभाजो वा तस्मिन्निति न गम्यते ॥ ८०६ ॥ न हि तेन सहोत्पन्ना नित्यत्वात्तत्र व्यवस्थिताः । तत्र प्रागविभुत्वेन न चायान्त्यन्यतोऽक्रियाः ॥ ८०७ ॥" तत्त्वसं० । प्रमाणवा० ३.१५२,१५४ ॥

पृ० ९६. पं० २६. 'न याति' यह कारिका प्रमाणवार्तिककी है—३.१५१,१५२ ।

पृ० ९६. पं० ३१. 'अन्यव्यावृत्ति' सामान्यको वस्तुभूत नहीं किन्तु काल्पनिक अतद्रूप अन्यापोहस्वरूप माननेवाले बौद्धपक्षका दूषण यहाँसे किया गया है । अपोहकी चर्चाके लिये देखो, प्रमाणवा० २.१६३ से । सन्मति० टी० १७३ । न्यायकु० पृ० ५५१ ।

तुलना—सन्मति० टी० पृ० १८६ । न्यायकु० पृ० ५६३ । उत्पादा० पृ० ६७ ।

पृ० ९७. पं० ३. 'किमानयामि' तुलना—प्रमाणसं० अकं० पृ० ३८५ ।

पृ० ९७. पं० ७. 'किञ्च' तुलना—न्यायकु० पृ० ५६१ ।

पृ० ९७. पं० १९. 'वासनानाम्' तुलना—न्यायकु० पृ० ५६२ ।

पृ० ९८. पं० १०. 'सर्वे भावाः' व्याख्या—"यदि य एव कृतकः स एवानित्यो भेदाभावात् तदा प्रतिज्ञार्थैकदेशो हेतुः स्यादित्याह—सर्वे भावाः स्वभावेन स्वस्वभावव्यवस्थितेः—आत्मात्मीयरूपव्यवस्थितत्वात् स्वभावपरभावाभ्यां सजातीयाद् विजातीयाच्च व्यावृत्तिभागिनो—यस्मात् केचिन्मिश्राः तस्माद्यतो यतोऽस्वरूपादर्थाद् व्यावृत्तिः अर्थानां तन्निबन्धनाः—तत्तद्व्यावृत्तिनिमित्ता जातिभेदास्तद्विशेषावगाहिनः—तत्स्वलक्षणाश्रयाः कल्प्यन्ते शब्दैः स्ववाच्यतया । यतः शब्दः [illegible] कुर्वतः कादिभ्योऽशब्दात् कृतकानित्यादेश्च व्यावृत्त इति तत्तद्व्यवच्छेदप्रतिपादनार्थं [illegible] योऽनन्यशब्दवाच्यतया कल्प्यन्ते । तस्मात् स्वभावाभेदेपि कृतकत्वानित्यत्वादीनां येन धर्मेण नाम्ना 'अनित्य' इत्यनेन यो विशेषो नित्याद् व्यावृत्तिः संप्रतीयते न स विशेषः शक्यः ततः—अनित्यशब्दाद् अन्येन कृतकशब्देन प्रत्येतुम् । तेन—कारणेन साध्यसाधनयोर्भिन्ना व्यवस्थितिः ।" मनो०

पृ० ९९. पं० १०. 'परोक्षं द्विविधम्' न्यायावतारका वार्तिक होनेसे शान्त्याचार्यने न्यायावतारका अनुसरण करके परोक्षके अनुमान और आगम ऐसे दो भेद बताये हैं । किन्तु अन्य जैनाचार्योंने अकलंकोपज्ञ परोक्षके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ऐसे पांच भेद माने हैं । लघी० १० परी० ३.२ । प्रमाणन० ३.२ । प्रमाणमी० १.२.२ ।

पृ० ९९. पं० १६. 'परोक्षम्' तुलना—"प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं त्रिधा श्रुतमविप्लवम् । परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि प्रमाणे इति संग्रहः ॥" प्रमाणसं० का० २ ।

पृ० ९९. पं० १७. 'श्रौतं त्रिविधम्' तुलना—"श्रुतम् अविप्लवम्-प्रत्यक्षानुमानागम-निमित्तम् ।" प्रमाणसं० पृ० ९७. पं० ६ ।

पृ० ९९. पं० २४. 'प्रत्यभिज्ञा' शान्त्याचार्यने प्रत्यभिज्ञाको प्रत्यक्ष या अनुमानमें अन्तर्गत किया है किन्तु अन्य जैनाचार्योंने उसे परोक्ष प्रमाणके भेद रूपसे पृथक् माना है । मूलकारके अनुसरण करनेके कारण शान्त्याचार्यने अन्य सभी जैनाचार्योंके मतकी उपेक्षा की है और नैयायिकादि अन्य दार्शनिकोंसे मैत्री ।

पृ० १००. पं० ५. 'अष्टाविंशति०' "से किं तं आभिणिबोहियनाणं? आभि० दुविहं पण्णत्तं । तं जहा-सुयनिस्सियं च असुयनिस्सियं च ।...असुयनिस्सियं चउव्विहं पण्णत्तं । तं जहा-उप्पत्तिया, वेणइया, कम्मया परिणामिया । बुद्धी चउव्विहा वुत्ता पंचमा नोवलब्भई ।...सुयनिस्सियं चउव्विहं—पण्णत्तं । तं जहा-उग्गहे ईहा अवाओ धारणा ।...उग्गहे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-अत्थुग्गहे य वंजणुग्गहे य ।...वंजणुग्गहे चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा-सोइंदियवंजणुग्गहे, घाणिंदिय०, जिब्भिन्दि०, फासिंदिय० ।... अत्थुग्गहे छव्विहे पण्णत्ते । तं जहा, सोइंदिय० चक्खिदिय०, घाणिंदिय०, जिब्भिदिय०, फासिंदिय०, नोइंदिय०, । ईहा छव्विहा पण्णत्ता...। अवाए छव्विहे पण्णत्ते...। धारणा छव्विहा पण्णत्ता...। एवं अट्ठावीसइविहस्स आभिनिबोहियनाणस्स...।" नन्दी० सू० २६–३५ ।

पृ० १००. पं० १०. 'श्रौतम्' श्रुतज्ञानकी सूक्ष्मचर्चाके लिये देखो ज्ञानबिन्दु पृ० ६ तथा उसकी प्रस्तावना पृ० २० ।

पृ० १००. पं० १२. 'सुयकारणं' व्याख्या "यतो-यस्मात् कारणात् स-शब्दो वक्त्राभिधीयमानः श्रोतृगतस्य श्रुतज्ञानस्य कारणं-निमित्तं भवति, श्रुतं च वक्तृगतश्रुतोपयोगरूपं व्याख्यानकरणादौ, तस्य-वक्त्राभिधीयमानस्य शब्दस्य कारणं जायते इति अतः तस्मिन् श्रुतज्ञानस्य कारणभूते कार्यभूते वा शब्दे श्रुतोपचारः क्रियते । ततो न परमार्थतः शब्दः श्रुतम्, किन्तूपचारतः इत्यदोषः । परमार्थतस्तर्हि किं श्रुतम्? इत्याह—सुयं सियत्यादि । परमार्थतस्तु जीवः श्रुतम् । ज्ञानज्ञानिनोरनन्यभूतत्वात् । तथा च पूर्वमभिहितम्—शृणोतीति श्रुतम्—आत्मैवेति । तस्मात् श्रूयत इति श्रुतमिति कर्मसाधनपक्षे द्रव्यश्रुतमेवाभिधीयते, शृणोतीति श्रुतमिति कर्तृसाधनपक्षे तु भावश्रुतमात्मैवेति न काचिदनात्मभावता श्रुतज्ञानस्य ।" विशेषा० बृ० ९९ ।

पृ० १००. पं० ३०. 'श्रुतनिःसृता च' प्राकृत आगमवाक्यका अनुवाद है । उक्त आगमवाक्यका पूर्व टिप्पणमें निर्देश हो चुका है ।

श्रुतनिःसृतमतिका लक्षण जिनभद्रने इस प्रकार किया है—

"पुव्वं सुयपरिकम्मियमइस्स जं संपयं सुयाईयं ।
तं निस्सियमियरं पुण अणिस्सियं मइचउक्कं तं" ॥ विशेषा० १६९ ।

व्याख्या—"व्यवहारकालात् पूर्वं यथोक्तरूपेण श्रुतेन परिकर्मिता-आहितसंस्कारा मतिर्यस्य स तथा तस्य साध्वादेर्यत् सांप्रतं व्यवहारकाले श्रुतातीतं श्रुतनिरपेक्षं ज्ञानमुपजायते तच्छ्रुतनिश्रितमवग्रहादिकं सिद्धान्ते प्रतिपादितम्। इतरत् पुनरश्रुतनिश्रितम्, तच्चौत्पत्तिक्यादिमतिचतुष्कं द्रष्टव्यम्, श्रुतसंस्कारानपेक्षया सहजत्वात् तस्य।" विशेषा० वृ० २६९।

पृ० १००. पं० १५. 'तदेकधा' वार्तिककारको यह स्वातन्त्र्य है कि वह मूलकारका विरोध भी करे। इसी स्वातन्त्र्यका उपयोग प्रस्तुतमें शान्त्याचार्यने किया है। न्यायावतार मूलमें प्रत्यक्ष और अनुमान इन दोनों प्रमाणोंके स्वार्थ और परार्थ ऐसे दो भेद किये गये हैं। शान्त्याचार्यने प्रत्यक्षका तो क्या सर्वसंमत अनुमानका द्वैविध्य भी खण्डित किया है। उनका कहना है कि लिङ्गके बलसे जैसे स्वयं वादी परोक्ष अर्थका ज्ञान करता है वैसे ही प्रतिवादी श्रोता भी करता है फिर अनुमानके स्वार्थ और पदार्थ ऐसे भेद करने की क्या आवश्यकता है।

शान्त्याचार्यने वचनरूप परार्थ अनुमानको उपचारसे भी प्रमाण मानने पर आपत्ति की है कि ऐसा मानने पर अनवस्था होगी। उनकी वह आपत्ति एक वैतण्डिकको शोभा देनेवाली है। परार्थानुमानके प्रामाण्यमें किसी भी वादीका विवाद नहीं।

अनुमानके विशेष विवेचनके लिये देखो प्रमाणमी० भाषा० पृ० ९३८।

पृ० १०२. पं० ७. 'अन्यथासाधनात्' न्यायावतार मूलमें हेतुवचनको परार्थानुमान कह करके फिर पक्षादिवचनात्मक भी कहा—

> "साध्याविनाभुवो हेतोर्वचो यत् प्रतिपादकं।
> परार्थमनुमानं तत् पक्षादिवचनात्मकम्॥" न्याया० १३।

इस विरोधका निरास करते हुए टीकाकार सिद्धर्षिने कहा है कि परार्थानुमानके अवयवोंका अनियम न्यायावतारकारको इष्ट है।

स्वयं मूलकारने पक्ष, हेतु और दृष्टान्तके लक्षणोंका प्रणयन किया है और अन्तर्व्याप्तिस्थलमें दृष्टान्तकी अनावश्यकता भी प्रदर्शित की है इससे भी यही प्रतीत होता है कि न्यायावतारकारको अवयवका नियम करना अभीष्ट नहीं किन्तु टीकाकारने जैसा तात्पर्य निकाला है वही ठीक है।

किन्तु प्रस्तुतमें शान्त्याचार्य अपना स्वातन्त्र्य दिखाते हैं। उनका कहना है कि अनुमानके हेतु और साध्य सिर्फ ये दोनों ही अवयव हैं अन्य नहीं।

अन्य दार्शनिकोंके अवयव सम्बन्धी मन्तव्यके विषयमें देखो प्रमाणमी० भाषा० पृ० ९३।

पृ० १०२. पं० ४. 'प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्' देखो, का० ५४. पृ० ११२।

पृ० १०२. पं० १०. 'ननु प्रतिज्ञामन्तरेण' प्रतिज्ञाका प्रयोग अनावश्यक है ऐसा धर्मकीर्तिका मन्तव्य है—

"अथवा तस्यैव साधनस्य यन्नाङ्गं प्रतिज्ञोपनयनिगमनादि तस्यासाधनाङ्गस्य साधनवाक्ये उपादानं वादिनो निग्रहस्थानं व्यर्थाभिधानात्।...ननु च विषयोपदर्शनाय प्रतिज्ञावचनमसाधनाङ्गमपि उपादेयमेव। न। वैयर्थ्यात्, असत्यपि प्रतिज्ञावचने यथोक्तात् साधनवाक्यात् प्रतीतेरर्थसिद्धिरित्यपार्थकं तस्योपादानम्।" वादन्याय पृ० ६१-६५।

"अत्र सामर्थ्यादेव प्रतिज्ञार्थस्य प्रतीतेः न प्रतिज्ञायाः प्रयोगः । अप्रदर्शिते प्रमेये कथं तत्प्रतीतिरिति चेत्; स्वयं प्रतिपत्तौ प्रमेयस्य क उपदर्शयिता ? । प्रदेशस्थं धूममुपलब्धवतः तस्य अग्निना व्याप्तेः स्मरणे, तत्सामर्थ्यादेव 'अग्निरत्र' इति प्रतिज्ञार्थप्रतीतिर्भवति । न च तत्र कश्चिद् 'अग्निरत्र' इत्यस्मै निवेदयति । नापि स्वयमपि प्रागेव प्रतिपद्यते किञ्चित् । प्रमाणमन्तरेण एवं प्रतीतेः निमित्ताभावात् । प्रतीतौ लिङ्गस्य वैयर्थ्यात् । स्वयमेव प्राग् 'अग्निरत्र' इति प्रमेयं व्यवस्थाप्य तत्प्रतिपत्तये पश्चात् लिङ्गमनुसरतीति कोऽयं प्रतिपत्तेः क्रमः । परेणापि तदुच्यमानं प्लवत एव उपयोगाभावात् । विषयोपदर्शनं चेन्मतम्, तेनैव तावद्दर्श्यमानेन कोऽर्थः ? । यदि प्रतीतिरन्यथा न स्यात् तदा सर्वं शोभेत । तस्मादेष स्वयं प्रतीतौ विषयोपस्थापकेन केनचिद्विनापि प्रतियन् अस्मान् कार्यिणो दृष्ट्वा पर्वब्राह्मण इव व्यक्तं मूल्यं मृगयते । अस्मद्वचनादपि नैव लिङ्गमपि प्रत्येति । अस्मद्वचनेन तु स्मृतिसमाधानमात्रं क्रियते तदा स्वयं सिद्धमेव लिङ्गमनुसृत्य प्रत्येति । तस्मात् कोऽनयोः अवस्थयोः विशेषः ? । दृष्टा च साधर्म्यवत्प्रयोगादेः प्रतिज्ञावचनमन्तरेणापि प्रतीतिः पक्षधर्मसम्बन्धवचनमात्राद् । तत् कस्तस्योपयोगः ? ।" हेतुबिन्दु लि० पृ० ७ । हेतु० टी० पृ० ६३ । प्रमाणवा० ४.१६–२७ ।

पृ० १०२. पं० २७. 'अन्यथानुपपन्नत्वम्' यह कारिका अकलंककृत न्यायविनिश्चयमें है–का० ३२३ । इस कारिकाके विषयमें प्रवाद है कि पद्मावतीके द्वारा सीमन्धर स्वामीके पाससे वह लाई गई थी और पात्रकेसरी स्वामीको समर्पित की गई थी । देखो प्रमाणमी० भाषा० पृ० ८३ ।

पृ० १०२. पं० ३०. 'सौगतैः' उपनय और निगमनका प्रयोग अनावश्यक है यह बात सांख्य, मीमांसक और सौगत को मान्य है । प्रस्तुतमें शान्त्याचार्यने सौगतकृत उपनय और निगमनके प्रयोगके निरासका निर्देश किया है । इसके लिये देखो, वादन्याय पृ० ६१ । हेतुबि० टी० पृ० ७० ।

पृ० १०३. पं० २८. 'कार्य' व्याख्या – "कार्यकारणभावस्य–तदुत्पत्तेर्वा नियामकात् साधनस्य साध्याव्यभिचारकारणात् स्वभावात्–तादात्म्याद्वा नियामकात् अविनाभावनियमः साध्याव्यभिचारित्वनियमः साधनस्य । विपक्षे हेतोरदर्शनात्, न सपक्षे दर्शनात् । दर्शनादर्शनयोर्व्यभिचारिण्यपि हेतौ सम्भवात् नियमहेतुत्वभावाच्च ।" प्रमाणवा० मनो० ३.३० ।

पृ० १०३. पं० ३०. 'तर्कात्' शान्त्याचार्यने तर्कसे व्याप्तिका ग्रहण माना है किन्तु तर्कका समावेश उनके मतसे किस प्रमाणमें होता है यह उन्होंने नहीं बताया । अन्य जैनाचार्योंके मतसे तर्क परोक्ष प्रमाणका एक स्वतन्त्र भेद है । किन्तु शान्त्याचार्यने परोक्षके दो ही भेद अनुमान और आगम माने है । उन्होंने तर्कके विषयमें मतान्तरोंका उल्लेख इस वाक्यमें किया है—

"तत्र तर्काख्यं प्रमाणं केचित् प्रत्यक्षं मन्यन्ते । अपरे अनुमानम् । अन्ये प्रमाणान्तरमिति ।" पृ० १०४. पं० ९ ।

इस वाक्यसे यह पता लगाना कठिन है कि उनका इस विषयमें क्या अभिमत था ।

तर्कके विषयमें विशेष विचारके लिये देखो, प्रमाणमीमांसा० भाषाटिप्पण० पृ० ७६ ।

पृ० १०४. पं० ९. 'केचित्' नैयायिक, भाट्ट और वैशेषिक । देखो, [illegible]

पृ० ४४ । तात्पर्य० पृ० १६६ । न्यायमं० वि० पृ० १२१ । श्लोकवा० अनु० १२ । कंदली० पृ० २०९ ।

पृ० १०४. पं० ९. 'अपरे' व्याप्तिका ग्रहण अनुमानसे होता है – यह किस दार्शनिकका मन्तव्य है कहना कठिन है । दार्शनिकोंने इस पक्षका खण्डन तो किया है किन्तु वह मत किसका है इस विषयमें कुछ निर्देश नहीं किया है । देखो, लघी० स्व० का० ११ । न्यायकु० पृ० ४३३ । प्रकरणपं० पृ० ६९ । न्याया० टी० पृ० ५१ । इत्यादि ।

पृ० १०४. पं० ९. 'अन्ये' व्याप्तिग्राहक तर्क स्वतन्त्र प्रमाण है यह मत अन्य जैन दार्शनिकोंका है । न्यायावतारके टीकाकार सिद्धर्षिको भी तर्कप्रामाण्यका स्वातन्त्र्य मान्य है – न्याया० टी० पृ० ५१ ।

पृ० १०४. पं० १७. 'यो हि' तुलना – "यो हि सकलपदार्थव्यापिनीं क्षणिकताम् इच्छति तं प्रति कस्यचित् सपक्षस्यैवाभावात् ।" हेतु० टी० पृ० १५. पं० २० । प्रमाणमी० पृ० ४४.§४७ ।

पृ० १०४. पं० २०. 'प्राणादिः' विवेचनाके लिये देखो प्रमाणमी० भाषाटिप्पण पृ० ८६ । Buddhist Logic Vol. I p. 338., Vol II p. 208 ।

पृ० १०५ पं० १२ 'संबन्धमन्तरेण' बौद्धों ने अविनाभाव के नियामक तादात्म्य और तदुत्पत्ति इन दो सम्बन्धोंकी कल्पना की है – "स च प्रतिबन्धः साध्येऽर्थे लिङ्गस्य वस्तुतः तादात्म्यात् साध्यार्थादुत्पत्तेश्च अतत्स्वभावस्यातदुत्पत्तेश्च तत्राप्रतिबद्धस्वभावत्वात् ।" न्यायबि० पृ० ४१ । प्रमाणवा० ३.३० । हेतु० टी० पृ० ८ ।

शान्त्याचार्य ने प्रस्तुत में उसी कल्पना को लक्ष्य में रख कर पूर्वपक्ष किया है ।

अन्य दार्शनिकोंने अविनाभाव के नियामक रूपसे किसी भी सम्बन्ध की अनिवार्यता निश्चित नहीं की है । यही कारण है कि अन्य दार्शनिकोंने स्वभाव और कार्यसे अतिरिक्त हेतुओंकी भी शक्यता मानी है ।

नैयायिक जयन्त के मतसे हेतु और साध्यमें व्याप्ति – अविनाभाव – नित्य साहचर्यका होना ही पर्याप्त है । व्याप्तिको सूक्ष्म विचार करके भी तादात्म्य और तदुत्पत्ति में सीमित करने की अपेक्षा स्थूल दृष्टिसे इतना कहना ही पर्याप्त है कि साध्य-साधन में नित्य साहचर्यरूप सम्बन्ध है । क्योंकि सीमित करने पर कार्य और स्वभाव ही हेतु होंगे किन्तु विचार करने पर स्पष्ट होता है कि कार्य और स्वभाव से अतिरिक्त भी कई प्रकारके हेतुओंकी सिद्धि होती है – न्यायमं० वि० पृ० ११३–११७ ।

वाचस्पतिका कहना है कि साध्य और साधन में कई प्रकार के सम्बन्धकी कल्पना की जा सकती है । अत एव साध्य-साधनके सम्बन्ध की संख्याका नियम करना ठीक नहीं । सम्बन्ध कोई भी हो किन्तु जो स्वभावसे ही किसीसे नियत होगा वही गमक होगा । मतलब यही है कि एक स्वाभाविक सम्बन्ध अर्थात् अविनाभाव – अन्यथानुपपत्ति ही पर्याप्त है । अन्यथानुपपत्ति क्यों है इसका नियम किया नहीं जा सकता । कहीं कार्यकारणभावप्रयुक्त, कहीं पूर्वापरभावप्रयुक्त, कहीं सहचारप्रयुक्त इत्यादि अनेकरूप अविनाभाव हो सकता है इन कार-

गोंकी—सम्बन्धोंकी इयत्ताका निश्चय कठिन है—"तस्माद्यो वा स वाऽस्तु सम्बन्धः। केवलं यस्यासौ स्वाभाविको नियतः स एव गमको गम्यश्चेतरः सम्बन्धीति युज्यते।...तस्मादुपाधिं प्रयत्नेनान्विष्यन्तोऽनुपलभमाना नास्तीत्यवगम्य स्वाभाविकत्वं सम्बन्धस्य निश्चिनुमः।" तात्पर्य० पृ० १६५।

वैशेषिक सूत्रमें (९. २. १) चार प्रकारके सम्बन्धका उल्लेख है किन्तु प्रशस्तपादने स्पष्टीकरण किया है कि सूत्रमें कार्यादिका ग्रहण हेतुसंख्याके अवधारणार्थ नहीं किन्तु निदर्शनार्थ है। अत एव सूत्रनिर्दिष्ट सम्बधोंसे अतिरिक्त सम्बन्धके कारण भी कोई हेतु हो सकता है। वस्तुतः सम्बन्धसामान्यका ग्रहण ही पर्याप्त है विशेष सम्बन्धोंका नियम नहीं किया जा सकता।

"शास्त्रे कार्यादिग्रहणं निदर्शनार्थं कृतं नावधारणार्थम्। कस्मात्? व्यतिरेकदर्शनात्।... एवमादि तत् सर्वं 'अस्येदम्' इति सम्बन्धमात्रवचनात् सिद्धम्। प्रशस्त० वि० पृ० २०५। कंदली० पृ० २११।

जैनोंने भी अविनाभावरूप एक सामान्यसम्बन्ध ही पर्याप्त माना है। अविनाभावके नियामक सम्बन्धोंकी संख्या नियत नहीं की है—परी० ३.१५–१६;६१–६४।

मीमांसकोंको भी अविनाभाव—व्याप्तिरूप एक सम्बन्धसामान्य ही इष्ट है। व्याप्तिनियामक अन्य सम्बन्धोंकी संख्याका नियम नहीं किया जा सकता है ऐसा उनका मन्तव्य है—शास्त्रदी० पृ० ६० । प्रकरण पं० पृ० ६४।

पृ० १०५. पं० २२. 'कालादिपरिकल्पनात्' हेतुका त्रैरूप्य लक्षण मानने पर पक्षसत्त्व—अर्थात् हेतुका पक्षवृत्तित्व एक आवश्यक अंग सिद्ध होता है। किन्तु 'शकटका उदय होगा, कृत्तिकाका उदय होनेसे', इत्यादि अनुमानोंमें कृत्तिकाका उदय पक्षधर्म नहीं फिर भी उससे शकटोदय सिद्ध होता है अत एव पक्षवृत्तित्व अव्याप्त होनेसे हेतुलक्षण नहीं[1]। इस आक्षेपके उत्तरमें बौद्धोंने कहा कि ऐसे स्थलमें काल या देशको पक्ष मानकर हेतुकी पक्षधर्मता सिद्ध की जा सकती है—

"यद्येवं तत्कालसम्बन्धित्वमेव साध्यसाधनयोः। तदा च स एव कालो धर्मी तत्रैव च साध्यानुमानं चन्द्रोदयश्च तत्सम्बन्धीति कथमपक्षधर्मत्वम्।" प्रमाणवा० कर्ण० पृ० ११।

वैशेषिक दर्शनमें भी त्रैरूप्य हेतुलक्षणरूपसे मानागया है। प्रशस्तपादने 'अनुमेयेन सम्बद्धम्' का अर्थ किया है कि "यदनुमेयेन अर्थेन देशविशेषे कालविशेषे वा सहचरितम्।" प्रशस्त० वि० पृ० २०१।

वार्तिककारने प्रस्तुतमें अन्य जैनाचार्योंका अनुसरण करके पक्षधर्मताकी सिद्धिके लिये की गई कालादि धर्मीकी कल्पनाका निरास किया है।

पृ० १०६. पं० १. 'विशेषेऽनुगमाभावात्' इत्यादि अनुमानका दूषण चार्वाकके किसी ग्रन्थाश्रित है। जयराशिने इस पद्यांशका अनेक प्रकारसे अर्थ करके अनुमानके प्रामाण्यका निरास किया है। और अन्य दार्शनिकोंने भी इसका उत्तर विस्तारसे दिया है—तत्त्वो० पृ०

१. तात्पर्य० पृ० १६४। २. तुलना—श्लोकवा० अर्थापत्ति० १७। प्रमाणसं० पृ० १०४। तत्त्वार्थश्लो० पृ० १९८–२००। प्रमाणप० पृ० ७१। न्यायकु० पृ० ४४०। स्याद्वादर० पृ० ५१९।

७२,७३,८२,८९। न्यायमं० वि० ११९। शास्त्रदी० पृ० ६३। प्रकरणपं० पृ० ७१। सन्मति० टी० पृ० ५५४। न्यायकु० पृ० ६९। स्याद्वादर० पृ० २६३। प्रमाणवा० कर्ण० पृ० ३५१।

प्रमेयकमलमार्तण्डमें इसके उत्तरार्धकी पूर्ति टिप्पणमें की गई है, यथा—

"नानुमानं प्रमाणं स्यान्निश्चयाभावतस्ततः।" प्रमेयक० टि० पृ० १७७।

पृ० १०६. पं० ८. 'पक्षलक्षणम्' विशेष विवेचनके लिये देखो,—प्रमाणमीमांसा—भाषाटि० पृ०८७-९०।

पृ० १०६. पं० २५. 'समानतन्त्रैः' दिगम्बरैरित्यर्थः। देखो—प्रमाणसं० पृ० ९७ पं० ६।

पृ० १०६. पं० २९. 'हेत्वाभासान्' विशेष विवेचनके लिये देखो—प्रमाणमी० भाषाटि० पृ० ९६,१४२।

पृ० १०७. पं० १६. 'असिद्धः' दिगम्बराचार्य अकलंकने प्रमाणसंग्रहमें कहा है कि—

> "असिद्धः सिद्धसेनस्य विरुद्धो देवनन्दिनः।
> द्वेधा समन्तभद्रस्य सत्त्वादिरचलात्मनि॥" प्रमाणसं० का० ५६।

सिद्धिविनिश्चयमें भी यही कारिका है किन्तु वहाँ उसका अन्तिम पद प्रमाणसंग्रह जैसा नहीं किन्तु प्रस्तुत वार्तिकसे मिलता हुआ होगा ऐसा सिद्धिविनिश्चयकी टीका देखनेसे प्रतीत होता है—सिद्धिवि० टी० पृ० ३२३।

यह कारिका न्यायविनिश्चयमें उद्धृत है—पृ० ५०२। वहाँ भी उसका अन्तिम पाद 'हेतुरेकान्तसाधने' ऐसा है। अतएव वार्तिककी प्रस्तुत कारिकाका सीधा सम्बन्ध सिद्धिविनिश्चयकी कारिकासे हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

वार्तिककारने दिगम्बराचार्य पूज्यपाद—देवनन्दीके स्थानमें श्वेताम्बराचार्य मल्लवादीका उल्लेख किया है। मल्लवादीका नयचक्र प्रसिद्ध है। वह ग्रन्थ दोनों संप्रदायमें प्रमाणभूत माना जाता है—प्रमाणसं० का० ७७। न्यायवि० का० ४७७। तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७६।

पृ० १०७. पं० १९. 'पूर्वमेव' देखो—पृ० ९६. पं० ३१।

४. आगमपरिच्छेदः।

पृ० १०९. पं० २. 'ननु शब्दस्य' बौद्ध आगम को प्रमाणभूत नहीं मानता है। उसीकी यह आशंका है।

बौद्धका कहना है कि शब्दका अर्थके साथ कोई सम्बन्ध नहीं[1]। अतएव शब्दसे किसी भी अर्थका बोध नहीं हो सकता।

---

१. "बाह्या अर्थाः शब्दस्य न रूपम्, नापि शब्दोऽर्थानाम्। येनाभिन्नात्मतया व्यवस्थायामेदेपि कृतकत्वानित्यत्ववद् अविनाभाविता स्यात्। नापि शब्दा विवक्षाजन्मानो नाप्यजन्मानो विवक्षाव्यंग्याः नार्थायत्ताः।" प्रमाणवा० स्वो० पृ० ४१६। "शब्दानां बहिरर्थे प्रतिबन्धाभावात्" हेतु० टी० पृ० २। हेतु० आलोक० पृ० २३९।

धर्मकीर्तिने तो यह नियम किया है कि परोक्षार्थप्रतिपत्ति अनुमानाश्रित ही है[1]। अतएव शब्दादिको किसीप्रकार प्रमाण मानना भी हो तबभी अनुमानसे उसका पार्थक्य नहीं। शब्द अनुमान ही होगा, उससे पृथक् नहीं[2]।

पृ० १०९. पं० ३. 'ये यत्र' तुलना–"ये यत्र भावतः कृतसमया न भवन्ति न ते परमार्थतस्तमभिदधति यथा सास्नादिमति पिण्डेऽश्वशब्दोऽकृतसमयः, न भवन्ति च भावतः कृतसमयाः सर्वस्मिन् वस्तुनि सर्वे ध्वनय इति व्यापकानुपलब्धेः।" तत्त्वसं० पं० पृ० २७६। सन्मति० टी० पृ० १७४ पं० १९।

पृ० १०९. पं० ५. 'अशक्यक्रियत्व' तुलना–

"अशक्यं समयस्याऽस्य जातेऽजाते च कल्पनम्।
नाऽजाते समयो युक्तो भाविकोऽश्वविषाणवत्॥
नापि जाते गृहीतानां पूर्वं वाचामनुस्मृतौ।
क्रियते समयस्तत्र चिरातीते कथं नु तत्॥" तत्त्वसं० का० ८७६–८७७।

सन्मति० टी० पृ० १७६. पं० ११।

पृ० १०९. पं० १२. 'अथ' तुलना–तत्त्वसं० का० ८७८।

पृ० १०९. पं० १५. 'कल्पितविषय' तुलना–

"अनादिवासनोद्भूतविकल्पपरिनिष्ठितः।
शब्दार्थस्त्रिविधो धर्मी भावाभावोभयाश्रयः॥
परमार्थैकतानत्वे शब्दानामनिबन्धना।
न स्यात् प्रवृत्तिरर्थेषु दर्शनान्तरभेदिषु॥
अतीताजातयोर्वापि न च स्यादनृतार्थता।
वाचः कस्याश्चिदित्येषा बौद्धार्थविषया मता॥"

प्रमाणवा० ३.२०४ २०७, २१२। ३.२८६।

"निवेदितं तावत् यथा एते शब्दा न स्वलक्षणविषयाः। अनादिकालीनवासनाप्रभवे विकल्पे प्रतिभासिनमर्थं विषयत्वेनात्मसात् कुर्वन्ति।" प्रमाणवा० स्वो० पृ० ३८४।

पृ० १०९. पं० १६. 'सम्बन्धकरणं' तुलना–"स चायं चक्षुर्ग्राह्यः सन् स्वबुद्धौ तदन्यविवेकेन रूपेणाप्रतिभासमानः कथं तथा स्यात्।...नानुमानात् प्रतिपत्तिः, लिङ्गाभावात् दृष्टान्तासिद्धेः।" प्रमाणवा० स्वो० पृ० ४२४–५२५। सन्मति० टी० पृ० २३५. पं० २७।

पृ० १०९. पं० २१. 'तदयुक्तं' तुलना–

"अन्यथैवाग्निसम्बन्धाद्दाहं दग्धोऽभिमन्यते।
अन्यथा दाहशब्देन दाहार्थः संप्रकाश्यते॥"

वाक्यप० २.४२५। तत्त्वसं० ८७९।

पृ० ११०. पं० ५. 'अथार्थापत्त्या' तुलना–"अत एव अर्थप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्यापि शक्तिसंबन्धकल्पना निरस्ता।" प्रमाणवा० कर्ण० पृ० ४२७। सन्मति० टी० पृ० २३५ पं० ७।

---

१. "परोक्षार्थप्रतिपत्तेरनुमानाश्रयत्वात्" हेतु० पृ० ३। २. "ततश्च शब्दादीनां सति प्रामाण्येऽनुमानता" हेतु० टी० पृ० ४।

पृ० ११०. पं० १०. 'संकेतव्यवहार' तुलना–सन्मति० टी० पृ० १७५।

पृ० ११०. पं० १३. 'अथ' यह पूर्वपक्ष नैयायिकके मतको लेकर हुआ है—"व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः" न्यायसू० २. २. ६५। तत्त्वसंग्रह० पं० पृ० २८१। सन्मति० टी० पृ० १७७. पं० १९।

पृ० ११०. प० १८. 'तथाहि' तुलना–सन्मति० टी० पृ० २३३. पं० ६।

पृ० ११०. पं० २६. 'अथ' तुलना–सन्मति० टी० पृ० २३४. पं० १। यह पक्ष भाट्टोंका है—देखो शास्त्रदी० अ० १. पा० ३. अधि० १०. पृ० ५१।

पृ० १११. पं० १४. 'नाक्रमात्' संपूर्ण कारिका इस प्रकार है—

"नाक्रमात् क्रमिणो भावो नाप्यपेक्षाऽविशेषिणः।
क्रमाद् भवन्ति धीः कायात् क्रमं तस्यापि शंसति॥" प्रमाणवा० १.४,५।

व्याख्या–"नाक्रमात् क्रमिणः कार्यस्य भावः। क्रमरहितत्वात् कारणस्य। तन्निष्पाद्यानि कार्याणि सकृज्जायेरन्। क्रमवतः सहकारिणोऽपेक्ष्य क्रमाज्जनयिष्यतीति चेत्। नाप्यविशेषिणः स्थिरैकरूपस्य परैरनाधेयविशेषस्य परेषां सहकारिणामपेक्षास्ति। तस्मात् क्रमाद् भवन्ती धीः कायात्, क्रमं तस्यापि कायस्य शंसति।" मनो० १.४.५।

पृ० १११. पं० १७. 'ताप-च्छेद' तुलना–

"तापाच्छेदान्निकषाद्वा कलधौतमिवामलम्।
परीक्ष्यमाणं यन्नैव विक्रियां प्रतिपद्यते॥
तापाच्छेदाच्च निकषात्सुवर्णमिव पण्डितैः।
परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात्॥"

तत्त्वसं० का० ३५४४,३५८८।

ज्ञानसारसमुच्चय ३१।

पृ० ११२. पं० १४. 'अथ न ददाति' वीतराग कोप और प्रसाद रहित होनेसे उनकी आराधना निष्फल है इस शंकाका समाधान अतिविस्तारसे जिनभद्रने किया है। उसका सारांश यही है कि जैसे दानादि शुभाशुभ क्रियाओंका फल स्वायत्त है–अपने परिणाम पर निर्भर है उसी प्रकार वीतरागकी पूजाका फल भी अपने परिणाम पर ही निर्भर है अतएव यद्यपि जिन और सिद्ध वीतराग होनेसे कुछ फल देते नहीं तथापि उनकी आराधनासे आत्माके परिणाम विशुद्ध होते हैं और उसी विशुद्ध परिणामका शुभ फल मिलता है अतएव उनकी आराधना करना चाहिए।

यह नियम नहीं किया जा सकता कि जो जो कोपादि रहित होगा वह फलद नहीं होगा—निष्फल होगा। क्योंकि अन्नादि कोपादिरहित होते हुए भी निष्फल नहीं। और देखा तो यह गया है कि कोपादिविरहित ही सब वस्तुएँ फलद होती हैं—अनुग्रह और उपघातकी जनक होती हैं। जैसे चिन्तामणि, विष, गुड, मरीचादि औषधियाँ, इत्यादि।

'यदि कोपादि विरहित हीसे फलावाप्ति मानी जाय तब राजादिके द्वारा कुपित होनेपर धनहरण और प्रसन्न होनेपर धनप्रदान होता देखा गया है–वह नहीं होना चाहिए'–इस शंकाका–समाधान जिनभद्रने यह किया है कि वस्तुतः धनके हरण या धनकी प्राप्ति में स्वकृत कर्म ही कारण है। राजादिका क्रोधादि निमित्त मात्र है।

वस्तुतः जिन भगवान्की पूजा उनको प्रसन्न करनेके लिये नहीं की जाती किन्तु अपने चित्तकी प्रसन्नताके लियेही की जाती है क्योंकि धर्म और अधर्म दूसरोंकी–प्रसन्नता या कोपादिके पर निर्भर नहीं किन्तु अपने भावकी शुभाशुभताके ऊपर निर्भर हैं । अतएव वीतराग की पूजा निष्फल न होनेसे करणीय है । विशेषा० गा० ३२२८ से

पृ० ११२. पं० १७. **'पूर्वापरव्याघातः'** दूसरोंके शास्त्रवचनोंमें परस्पर विरोध किस प्रकारका है उसका प्रदर्शन धर्मकीर्तिने निम्न कारिकामें किया है—

"विरोधोद्भावनप्राया परीक्षाप्यत्र तद्यथा ।
अधर्ममूलं रागादि स्नानं चाधर्मनाशनम् ॥" प्रमाणवा० ४. १०७ ।

इसकी व्याख्यामें प्रज्ञाकरने जिन दो श्लोकोंको उद्धृत किया है शान्त्याचार्यने भी उन्हींको प्रस्तुतमें उद्धृत किया है—प्रमाणवा० अलं० लि० पृ० ६४३ ।

तुलना—न्यायकु० पृ० ६३४ । स्याद्वादमं० का० ६ ।

पृ० ११२. पं० २९. **'विधि'** यह कारिका नयचक्र की है—देखो–नयचक्र लिखित पृ० ६ ।

पृ० ११३. पं० १. **'सत्यत्वम्'** बुद्धको अर्थात् बुद्ध वचनको प्रमाण माननेमें धर्मकीर्तिने हेतु दिया है कि भगवान् बुद्धने अपने दोषोंके क्षयका जो मार्ग प्रत्यक्ष किया था उसीका उपदेश दूसरोंको किया था । उनकी तो प्रत्येक प्रवृत्ति दूसरोंके हितकी दृष्टिसे होती थी, वे ज्ञानी थे, कृपावन्त थे; वे निष्प्रयोजन झूठ क्यों बोलते–अतएव भगवान् प्रमाणभूत हैं–

"तायः स्वदृष्टमार्गोक्तिः वैफल्याद्वक्तिनानृतम् ।
दयालुत्वात् परार्थं च सर्वारम्भाभियोगतः ॥" प्रमाणवा० १.१४७,८ ।
"दयया श्रेय आचष्टे ज्ञानात् सत्यं ससाधनम् ।" वही १.२८४ ।

इतनाही नहीं किन्तु उनके उपदेशमें विसंवाद भी नहीं इसलिये भी वे प्रमाण हैं । अर्थात् बुद्धने वस्तुका स्वरूप जो बताया कि सब कुछ क्षणिक होनेसे दुःखरूप हैं और दुःखरूप होनेसे अनात्म है[1]–उसमें कोई बाधा नहीं यह भी बुद्धके प्रामाण्यमें हेतु है—**"उपदेशातथाभावः"** वही १. २८५ ।

निष्कर्ष यह है कि बौद्धोंके मतसे तत्त्वका स्वरूप अनित्य, दुःख और अनात्म इन तीन शब्दों में कहा जाता है और वही सत्य है । इसके विपरीत मल्लवादीका कहना है कि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीन शब्दोंमें ही वस्तुका सत्यस्वरूप कहा गया है अतएव तदुपदेष्टा भगवान् ही प्रमाण है और अन्य अप्रमाण ।

पृ० ११३. पं० ११. **'दव्वट्ठिओ'** कारिका का पूर्वार्ध इस प्रकार है—

"तित्थयरवयणसंगह-विसेसपत्थारमूलवागरणी ।"

व्याख्या–"तरन्ति संसारार्णवं येन तत् तीर्थं–द्वादशाङ्गं तदाधारो वा सङ्घः–तत् कुर्वन्ति उत्पद्यमानमुत्पादयन्ति तत्स्वाभाव्यात् तीर्थकरनामकर्मोदयाद्वेति…तीर्थकराणां वचनम्–आचारादि, अर्थतस्तस्य तदुपदिष्टत्वात्–तस्य संग्रहविशेषौ–द्रव्यपर्यायौ–

१. "अनित्यात् प्राह तेनैव दुःखं, दुःखान्निरात्मताम् ।" प्रमाणवा० १.२५६ । "यदनिच्चं तं दुक्खं । यं दुक्खं तदनत्ता ।" संयुत्तनिकाय ३.२२ । विसुद्धिमग्ग २१.७–८ ।

सामान्यविशेषशब्दवाच्यावभिधेयौ – तयोः प्रस्तारः – प्रस्तीर्यते येन नयराशिना संग्रहादिकेन स प्रस्तारः । तस्य संग्रहव्यवहारप्रस्तारस्य मूलव्याकरणी – आद्यवक्ता ज्ञाता वा द्रव्यास्तिकः··· पर्यवनयः । शेषास्तु नैगमादयो विकल्पा भेदाः अनयोर्द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकयोः ।" सन्मति० टी० पृ० २७१ ।

पृ० ११३. पं० १२. 'कापिलम्' जैनेतर दर्शनोंको जैनसंमत नयोंके आभास मानकर दुर्नयोंमें समाविष्ट करनेका प्रारम्भ संभवतः सिद्धसेनने किया है । उन्होंने स्पष्टरूपसे कापिल दर्शनको द्रव्यार्थिकमें, बौद्धदर्शनको पर्यायार्थिकमें और काणाद दर्शनको द्रव्यपर्याय – उभयनयमें समाविष्ट किया है और उन सभीको मिथ्यावाद कहा है । – सन्मति० ३. ४८, ४९ ।

इसी प्रकार हरिभद्र अकलंक, विद्यानन्द आदिने क्रमशः स्वसमयप्रसिद्ध दर्शनोंकी नयवादों में जो घटना की उसका उपयोग करके उ० यशोविजयजीने सातों दुर्नयोंके साथ दर्शनान्तरोंको जोड दिया है वह इस प्रकार –

१. नैगमाभास = वैशेषिक और नैयायिक
२. संग्रहाभास = वेदान्त, सभी अद्वैतदर्शन, सांख्य
३. व्यवहाराभास = सांख्य[1], चार्वाक
४. ऋजुसूत्राभास = ताथागत – सौत्रान्तिक[2]
५. शब्दनयाभास = शब्दब्रह्मवाद, ताथागत (वैभाषिक)[2]
६. समभिरूढाभास = योगाचार[2]
७. एवंभूताभास = माध्यमिक[2]

पृ० ११३. पं० १७ 'सत्कार्यवादः' प्रस्तुतमें शान्त्याचार्यने सत्कार्यवादके पूर्वोत्तरपक्षकी – रचना तत्त्वसंग्रह और सन्मतिटीकाके आधारसे की है—तत्त्वसंग्रह का० ८ से । सन्मति० टी० पृ० २८२ से ।

पृ० ११३. पं० २८. 'नहि' तुलना तत्त्वसं० का० १६ । सन्मति० टी० पृ० २९६ ।

पृ० ११४. पं० ९. 'हेतुमत्त्वादि' इस पूर्वपक्षवचनका मूलाधार निम्न कारिका है – उसमें सांख्य मतानुसार व्यक्त और अव्यक्तका वैधर्म्य वर्णित है—

"हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् ।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥" सांख्यका० १० ।

पृ० ११४. पं० २३. 'परिणामो' तुलना – "अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः ।" योगसू० भा० पृ० ३०५ । "तद्भावः परिणामः । अनादिरादिमांश्च ।" तत्त्वार्थ० ५.४१,४२ । "धर्मादीनां द्रव्याणां यथोक्तानां च गुणानां स्वभावः स्वतत्त्वं परिणामः ।" तत्त्वार्थभा० ५.४१ ।

पृ० ११५. पं० १०. 'सलिलात्' तुलना –

"न चान्ये न च नानन्ये तरङ्गा ह्युदध्यान्विताः ।
विज्ञानानि तथा सप्त चित्तेन सह संयुताः ॥

---

१. यशोविजयजीने अन्यत्र नयविषयक प्रकरणोंमें सांख्यको संग्रहाभासमें समाविष्ट किया है किन्तु अनेकान्तव्यवस्थामें व्यवहाराभासमें सांख्यका समावेश किया है-पृ० ३१ । २ अनेका० पृ० ५५ सन्मति० टी० पृ० ३१८ ।

उदधेः परिणामोऽसौ तरङ्गाणां विचित्रता ।
आलयं हि तथा चित्रं विज्ञानाख्यं प्रवर्तते ॥" लंकावतार १०. ३८६, ३८७ ।

तत्त्वार्थश्लो० पृ० ११८. पं० १७ ।

पृ० ११५. पं० १०. 'अहेः' तुलना–

"तस्मादुभयहानेन व्यावृत्त्यनुगमात्मकः ।
पुरुषोऽभ्युपगन्तव्यः कुण्डलादिषु सर्पवत् ॥" श्लोकवा० आत्म० २८ ।

"यथाहेः कुण्डलावस्था व्यपैति तदनन्तरम् ।
सम्भवत्यार्जवावस्था सर्पत्वं त्वनुवर्तते ॥" तत्त्वसं० का० २२३ । न्यायवि० का० ११७ ।

पृ० ११५. पं० १२. 'आविर्भावः' तुलना तत्त्वसं० का० २६–२७ । सन्मति० टी० पृ० २९९. पं० २२ ।

पृ० ११५. पं० १९. 'बुद्धिः' तुलना–"बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् ।" न्याय-सू० १.१.१५ ।

पृ० ११५. पं ३०. 'मिथ्यात्वमिति' तुलना–द्रव्यास्तिकनयवादी सांख्योंका खण्डन निम्न ग्रन्थों में देखना चाहिए—ब्रह्मसू० शां० २. २. १–१० । प्रमाणवा० स्वो० कर्ण० पृ० ३२० । तत्त्वसं० का० ७–४५ । न्यायमं० वि० पृ० ४८७ । व्यो० पृ० ५४३ । कंदली० पृ० १४३ । आप्तमी० का० ३७–४० । सन्मति० टी० पृ० २९६ । न्यायकु० पृ० ३५४ । प्रमेयक० पृ० २८५ । स्याद्वादमं० का० १५ ।

पृ० ११६. पं० २. 'सर्वव्यापित्वं' आत्माके परिमाणके विषयमें उपनिषद्के ऋषिओंने नाना कल्पनाएँ की हैं । किन्तु पर्यवसान उसे व्यापक माननेमें हुआ इसका प्रमाण दार्शनिक सूत्रोंमें मिल जाता है । क्योंकि वेदान्तसूत्रके व्याख्याता निंबार्क, मध्व, रामानुज और वल्लभके अलावा सभी दार्शनिकसूत्रकारोंने और उनके व्याख्याताओंने आत्माको व्यापक ही माना है और सिद्ध किया है । वैदिक दार्शनिक रामानुजादि और अवैदिक दार्शनिक जैनोंने क्रमशः आत्माको अणुपरिमाण और देहपरिमाण माना है । आत्माको अणुपरिमाण माननेकी तथा देहपरिमाण माननेकी परंपराका दर्शन उपनिषदोंमें होता है । किन्तु उपनिषद्कालके बादके सभी वैदिक दार्शनिक आत्माके परिमाणकी अन्य सभी कल्पनाओंका निरास करके उसे सिर्फ व्यापक मानने लगे ।

उपनिषदोंमें आत्मपरिमाणके विषयमें जो कल्पनाएँ की गई हैं वे ये हैं–

कौषितकी उपनिषद्के ऋषिके मतसे आत्मा शरीरव्यापी है । उनका कहना था कि जैसे छुरा अपने म्यानमें, जैसे अग्नि अपने कुण्डमें व्याप्त है वैसे ही आत्मा शरीरमें नख और रोम पर्यन्त व्याप्त होकर रहता है[1] ।

जैनाचार्योंका भी यही मत है ।

बृहदारण्यकमें कहा गया है कि आत्मा चावल या यवके दाने जितना है[2] ।

---

१. "तद्यथा क्षुरः क्षुरधाने हितः, विश्वंभरो वा विश्वंभरकुलाये एवमेवैष प्रज्ञात्मा इदं शरीरमनुप्रविष्ट आ लोमभ्यः आ नखेभ्यः" । कौषी० ४. २० । २. "यथा व्रीहिर्वा यवो वा स एष सर्वस्येशानः" बृहदा० ५.६.१. ।

अनेक बार विभिन्न उपनिषदोंमें यह कहा गया है कि आत्मा अंगुष्ठपरिमाण है[१]। छान्दोग्योपनिषद्‌में प्रादेशपरिमाण होनेका उल्लेख है[२]। प्रादेशका मतलब है बित्ता[३]।

इसप्रकार परिमाणको उत्तरोत्तर बढाते ऋषिओंकी कल्पना व्यापक तक पहुँच गई। मुण्डक उपनिषद्‌में कहा है कि आत्मा नित्य है, विभु है, सर्वगत है—**"नित्यं विभुं सर्वगतम्"** मुण्डको० १.१.६।

इसीको दार्शनिक ऋषिओंने अपनाया।

प्रो० रानडेका कहना है कि इन परस्पर विरोधी मन्तव्योंमेंसे किसको ठीक मानना इसका जब निर्णय करना कठिन होगया तो किसीने कह दिया कि[४] **"शरीरप्रादेशांगुष्ठमात्रमणोरण्यण्व्यं ध्यात्वा"**—मैत्री० ६.३८ इत्यादि।

इतना ही नहीं किन्तु विरोधके समन्वयकी भावनासे किसीने तो यहाँ तक कह दिया कि आत्मा अणुसे भी छोटा है और महत्‌से भी महान् है[५]। किन्तु इस कथनकी संगति क्या हो सकती है इसका स्पष्टीकरण उपनिषदोंमें नहीं। यही कारण है कि बादके दार्शनिकोंने उसे सिर्फ व्यापक मानना ही उचित समझा।

जैन दार्शनिकोंने देहपरिमाण और व्यापकताका समन्वय अपनी दृष्टिसे किया है। केवलज्ञानकी दृष्टिसे आत्माको व्यापक और आत्मप्रदेशकी दृष्टिसे अव्यापक—अर्थात् शरीरव्याप्त माना जा सकता है ऐसा द्रव्यसंग्रहकी वृत्तिमें ब्रह्मदेवने कहा है[६]।

उपाध्याय यशोविजयने कहा है कि समुद्घात दशामें आत्मा लोकव्यापी होता है उसी बातको चढाकर दूसरोंने आत्माको व्यापक माना है जो अर्थवाद मात्र है[७]। उन्होंने अन्यत्र आत्माकी लोकप्रमित प्रदेशमें व्याप्त होनेकी शक्तिके कारण उसे विभु कहा है और आवरणके कारण उसे देहपरिमाण माना है—

"शक्त्या विभुः स इह लोकमितप्रदेशः।
व्यक्त्या तु कर्मकृतसौवशरीरमानः॥" न्यायखण्डखाद्य।

आत्माकी व्यापकताकी चर्चाके लिये देखो० वैशे० ७.१.२२। व्यो० पृ० ४१०। कंदली पृ० ८८। न्यायमं० वि० पृ० ४६८। प्रकरणपं० पृ० १५८ सन्मति० टी० पृ० १३३। न्यायकु० पृ० २६१। प्रमेयक० पृ० ५७०। स्याद्वादमं० का० ९।

पृ० ११६. पं० ४. **'यस्याप्यभ्युपगमः सोपि'** इसे इस प्रकार शुद्ध करना चाहिए—**'यस्याप्यभ्युपगमः [प्रत्यक्ष आत्मा इति] सोपि'**

प्राचीन न्याय और वैशेषिक दर्शनमें आत्माका प्रत्यक्ष नहीं किन्तु अनुमान माना गया था

---

१. "अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति"। कठो० २.२.१२। मैत्री० ६.३८। २. "प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानम्" छान्दो० ५.१८.१। मैत्री० ६.३८। ३. अभिधानचि० ३.२५९। ४. A Constructive survey of Upanishadic Philosophy—P. 138. ५. "अणोरणीयान् महतो महीयान् आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।" कठो० १.२.२०। छान्दो० ३.१४.३। ६. केवलज्ञानोत्पत्तिप्रस्तावे ज्ञानापेक्षया व्यवहारनयेन लोकालोकव्यापकः, न च प्रदेशापेक्षया।" द्रव्यसं० वृ० गा० १०। ७. शास्त्रवा० यशो० टी० पृ० ३३८।

किन्तु उद्द्योतकर और उससे बाद के नवीन नैयायिकोंने आत्माका मानस प्रत्यक्ष माना है-देखो-प्रमाणमीमांसा भाषा० पृ० १३७।

पृ० ११६. पं० २०. **'सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वात्'** तुलना-**"तथा धर्माधर्मयोरात्मगुणत्वात् तदाश्रयस्याव्यापकत्वेन स्यादग्नेरूर्ध्वज्वलनम्, वायोस्तिर्यग्गमनम्, अणुमनसोरत्याद्यं कर्मेति तयोः स्वाश्रयसंयोगापेक्षित्वात्।"** व्यो० पृ० ४११। सन्मति० टी० पृ० १४५।

पृ० ११७. पं० ३. **'एकान्ताभेदवादिनो'** जो लोग उत्पाद और विनाशकृत भेद नही मानते उन्हें प्रस्तुतमें आचार्यने अभेदवादी कहा है। अर्थात् आकाश, काल, दिग्, आत्मा और मनको एकान्त नित्य माननेके कारण नैयायिक और वैशेषिक एकान्ताभेदवादी हैं। और शब्दको एकान्तनित्य मीमांसक मानता है अतएव शब्दकी अपेक्षासे मीमांसक भी एकान्ताभेदवादी है। इसी दृष्टिसे **'एतेन आकाशकालदिगात्ममनःशब्दानां केवलं ध्रौव्यमभ्युपगच्छन्तोऽशुद्धनयवादिनो निरस्ताः'** (पृ० ११६. पं० १) इस कथनको समझना चाहिए।

पृ० ११७. पं० ४ **'विनाशस्याहेतुकत्वात्'** दिग्नागादि बौद्धोंने वस्तुकी क्षणिकताको तार्किकभूमिका पर लेजाकर कहा है कि यदि वस्तुको अनित्य मानना हो तब उसकी स्थिति एक क्षण, जो कि अविभाज्य समय रूप है, उससे अधिक नहीं मानी जासकती है। वह उत्पन्न हुई यही उसका विनाश है। यदि वह एकाधिक क्षण स्थायी होजाय तब वह नित्य हो जायगी। यदि उसको अनित्य मानना हो तो उसके विनाशको उसके स्वभावरूप मानना होगा विनाश और वस्तुको अभिन्न मानना होगा[1]।

उत्पत्ति और विनाशका काल एक ही है। अतएव फलित यही होता है कि जिन कारणोंसे वस्तु उत्पन्न हुई तदतिरिक्त कारणोंकी आवश्यकता विनाशके लिये नहीं-ऐसा मन्तव्य दिग्नागका रहा होगा इसका पता उद्द्योतकरके **"अथोत्पन्नः विनष्टः इत्येककालः। उत्पत्तिविनाशौ एककालौ"** (न्यायवा० पृ० ४१५) इस बौद्धपूर्वपक्षसे चलाता है। इसी निर्हेतुक विनाशवादका समर्थन धर्मकीर्ति आदिने किया है—

"अहेतुत्वाद्विनाशस्य स्वभावादनुबन्धिता।
सापेक्षाणां हि भावानां नावश्यंभावतेक्ष्यते॥" प्रमाणवा० ३.१९३।

"येषां तावद् विनाशो दृश्यते तेषां यदि न प्रतिक्षणं विनाशः स्यात् तदा विनाशप्रतीतिरेव न स्यात्। तथा हि यदि द्वितीये क्षणे भावस्य स्थितिस्तदासौ सर्वदैव तिष्ठेत्। द्वितीयेऽपि क्षणे क्षणद्वयस्थायिस्वभावत्वात्। तदा च तेनापरक्षणद्वयं स्थातव्यम्…इति न विनाशो भावस्य स्यात्। दृश्यते च। तस्माद् विनाशप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या प्रतिक्षणविनाशानुमानम्।" प्रमाणवा० स्वो० कर्ण० पृ० ३६९। हेतुबि० टी० पृ० १४१।

इन तार्किक बौद्धोंने सत्त्व और क्षणिकत्वका अविनाभाव माना है। ऐसा कोई सत् नहीं जो क्षणिक नहीं। संस्कृत-असंस्कृत सभी-वस्तुएँ यदि सत् हैं तो क्षणिक ही मानना चाहिए। अन्यथा असत् ही होंगी-**"यत् सत् तत् क्षणिकमेव"** हेतु० पृ० ४४।

---

१ "न चात्र विनाशो नाम कश्चिद्, भाव एव हि नाशः।" प्रमाणवा० स्वो० पृ० ३६६। "यो हि भावः क्षणस्थायी विनाश इति गीयते।" तत्त्वसं० का० ३७५। "तत् स्वभावत्वात् तदव्यतिरेकिणो नाशस्य तन्निष्पत्तौ एव निष्पन्नत्वात्।" तत्त्वसं० पं० का० ३७६।

"यदि तु व्योमकालाद्याः सन्तः स्युस्ते तथा सति ।
नातिक्रामन्ति तेऽप्येनं क्षणभङ्गं कृता इव ॥ ३९१ ॥
तथा हि सन्तो ये नाम ते सर्वे क्षणभङ्गिनः ।
तद्यथा संस्कृता भावास्तथासिद्धा अनन्तरम् ॥ ३९२ ॥
सन्तश्चामी त्वयेष्यन्ते व्योमकालेश्वरादयः ।
क्षणिकत्ववियोगे तु न सत्तैषां प्रसज्यते ॥ ३९३ ॥ तत्त्वसं० ।

शान्तरक्षितने क्षणिक शब्दका अर्थ भी स्पष्ट करदिया है—

"उत्पादानन्तरास्थायि स्वरूपं यच्च वस्तुनः ।
तदुच्यते क्षणः सोस्ति यस्य तत् क्षणिकं मतम् ॥ ३८८ ॥
असत्यप्यर्थभेदे च सोऽस्त्यस्येति न बाध्यते ।
इच्छारचितसङ्केतमात्रभावि हि वाचकम् ॥ ३८९ ॥" तत्त्वसं० ।

अब प्रश्न यह है कि क्या दि ग्ना गा दि योगाचार-सौत्रान्तिक बौद्धोंने क्षणिकताका जैसा अर्थ लिया है और उसकी जैसी सर्ववस्तुमें व्याप्ति मानी है, वैसाही अर्थ और उसकी वैसीही व्याप्ति भगवान् बुद्धको अभिप्रेत थी ? ।

उत्तर स्पष्ट है, कि ऐसा नही था । इस विषयमें प्रथम यह बात ध्यान देनेकी है कि भगवान् बु द्ध ने उत्पाद, स्थिति और व्यय इन तीनोंके भिन्न क्षण माने थे ऐसा अं गु त्त र नि का य और अभिधर्मग्रन्थोंके देखनेसे प्रतीत होता है । अं गु त्त र में संस्कृतके तीन लक्षण बताये गये हैं संस्कृत वस्तुका उत्पाद होता है, व्यय होता है और स्थितका अन्यथात्व होता है[1] । इससे फलित होता है कि प्रथम उत्पत्ति फिर जरा और फिर विनाश इस क्रमसे वस्तुमें अनित्यता—क्षणिकता सिद्ध है । उत्पत्ति, स्थिति और विनाश एककालिक नहीं । उत्पत्ति, स्थिति और विनाशके तीन क्षण भिन्न होते हैं ऐसा अ भि ध म्म त्थ संग्रहमें चित्तकी आयु बताते हुए स्पष्टरूपसे कहा है । और चित्त ही सब वस्तुमें चञ्चल अधिक है । अर्थात् चित्तक्षण क्षणिक है इसका मतलब है कि वह तीन क्षणतक है । प्राचीन बौद्धशास्त्रमें मात्र चित्त—नाम ही को योगाचारकी तरह वस्तुसत् माना नहीं है किन्तु नामके अतिरिक्त रूप—बाह्य भौतिक पदार्थ भी—वस्तुसत् माना है और उसकी आयु योगाचारकी तरह एकक्षण नहीं, स्वसंमत चित्तकी तरह त्रिक्षण नहीं किन्तु १७ क्षण मानी गई है । ये १७ क्षण भी समयके अर्थ में नहीं किन्तु १७ चित्तक्षणके अर्थमें लियागया है अर्थात् वस्तुतः एकचित्तक्षण=३ क्षण होनेसे ५१ क्षणकी आयु रूपकी मानी गई है[2] ।

यदि अभिधम्मत्थसंगहकारने जो बताया है वैसा ही भगवान् बुद्धको अभिप्रेत हो तो कहना होगा कि बुद्धसंमत क्षणिकता और योगाचारसंमत क्षणिकतामें महत्त्वपूर्ण अन्तर है ।

दूसरी बात यह है कि योगाचारसे भी प्राचीन सर्वास्तिवाद है । उस वादमें भी प्राचीन मार्गका अवलंबन दिखाई देता है । सर्वास्तिवादिओंने योगाचारकी तरह मात्र विज्ञान—नामको ही वस्तुसत् नही माना किन्तु नाम और रूप दोनोंको पारमार्थिक माना है । इतना ही नहीं

---

१. "तिणीमानि भिक्खवे संखतस्स संखतलक्खणानि ।···उप्पादो पञ्ञायति, वयो पञ्ञायति, ठितस्स अञ्ञथत्तं पञ्ञायति ।" अंगुत्तर० तिकनिपात । २. "उप्पादठितिभङ्गवसेन खणत्तयं एकचित्तक्खणं नाम । तानि पन सत्तरस चित्तक्खणानि रूपधम्मानं आयु ।" अभिधम्मत्थसंगहो ४.८ ।

किन्तु दोनोंकी क्षणिकताकी कल्पनामें भी जमीन-आसमानका अन्तर है। योगाचारने निरपवादरूपसे सर्वक्षणिकताका सिद्धान्त स्थिर किया है। उसके मतमें सत्त्व और क्षणिकताकी व्याप्ति है[1]। इसके विरुद्ध सर्वास्तिवादिओंके मतसे सत् की त्रैकालिक अस्तित्वसे व्याप्ति है। जो सत् है अर्थात् वस्तु है वह तीनों कालमें अस्ति है। 'सर्व' वस्तुको तीनों कालोंमें 'अस्ति' माननेके कारण ही उस वादका नाम सर्वास्तिवाद पडा[2] है। वस्तुकी विभिन्न अवस्थाएँ ही अनित्य हैं क्षणिक हैं[3], वस्तु तो त्रिकालवर्ति होनेके कारण नित्य है।

सर्वास्तिवादिओंने रूपपरमाणुको नित्य मानकर उसीमें पृथ्वी, अप्, तेज और वायुरूप होनेकी शक्ति मानी है[4]। यही मत जैनोंका भी है। और सांख्योंका भी यही मत है कि एक ही प्रधानमें पांचोंभूतरूपसे आविर्भूत होनेकी योग्यता है। मूलतत्त्व एक ही है। सर्वास्तिवादी, जैन और सांख्य ये तीनों मूलतत्त्वको समान रूपसे नित्य मानते हैं।

सर्वास्तिवादिओंने नैयायिकोंके समान परमाणुसमुदायजन्य अवयवीको अतिरिक्त नहीं किन्तु परमाणुसमुदायहीको अवयवी माना है। दोनोंने परमाणुको नित्य मानते हुए भी समुदाय और अवयवीको अनित्य माना है। सर्वास्तिवादिओंने एक ही परमाणुकी अन्य परमाणुके संसर्गसे नाना अवस्थाएँ मानी हैं और उन्ही नाना अवस्थाओंको या समुदायोंको अनित्य माना है,[5] परमाणुको नहीं।

सर्वास्तिवादका यह परमाणुसमुदायवाद सांख्योंके प्रकृति-परिणामवादसे, जैनोंके द्रव्यपर्यायवादसे और मीमांसकोंके अवस्था-अवस्थातावादसे जितना अधिक सन्निकट है उतनाही अधिक दूर वह योगाचारके क्षणिकैकान्तवादसे है। परमाणुसमुदायकी क्षणिकताको योगाचारने तर्ककी भूमिका पर लेजाकर क्षणिकैकान्तवादकी कोटिमें रख दिया और परमाणुकी वास्तविक नित्यताको काल्पनिक सन्तानमें सन्निहित कर दिया। परिणाम यह हुआ कि सर्वास्तिवाद और योगाचारका मार्ग अत्यन्त विरुद्ध हो गया। भगवान बुद्धके एकही अनित्यताके उपदेशको एकने समुदायमे घटाया तो दूसरोंने सर्व वस्तुओंमें स्थापित किया।

सर्वास्तिवादका समावेश हीनयानमें किया जाता है। महायानी विज्ञानवाद और माध्यमिकोंके संवृतिसत्य और पारमार्थिक सत्यके सिद्धान्तको अश्वघोषने स्फुट किया है। और अधिक तर्कसंगत करके उस सिद्धान्तको भूततथतावादमें उसने परिणत कर दिया है। इस भूततथतावादको महायानके अन्यवादोंकी तुलनामें उच्च स्थान प्राप्त है। इतना ही नही किन्तु वह वाद संपूर्ण विकसित महायान समझा जाता है[6]। इस भूततथतावादका प्रतिपादन अश्वघोषने अपने ग्रन्थ Awakening of Faith (श्रद्धोत्पादशास्त्र[7])में किया है।

---

१. तत्त्वसं० का० ३९१–३९४। २. It means rather the doctrine which lays down that substance of all things has a permanent existance throughout the three divisions of time." Systems of Buddhistic Thought. p. 103. ३. वही p. 134,137 etc. ४. वही पृ० १२५। ५. वही पृ० १२१,१३७ आदि। ६. Systems of Buddhistic Thought. p. 252. ७. मूलसंस्कृत ग्रन्थ लुप्त है। परमार्थ और शिक्षानन्दके चीनी अनुवादके आधारसे सूजूकीने अंग्रेजी अनुवाद किया है।

भूततथतावादका प्रतिपादन पढते हुए जैनोंके द्रव्य-गुण-पर्यायवादका निश्चय और व्यवहारनयसे किया हुआ विचार सामने आ जाता है।

जैन संमत आत्माकी तरह भूततथताके दो रूप अश्वघोषने बताये हैं। पारमार्थिक और सांवृतिक–व्यावहारिक। पारमार्थिक भूततथता वह है जो विश्वका परमतत्त्व है। और व्यावहारिक भूततथता संसारके रूपमें है अर्थात् जन्म और मृत्युके रूपमें[1]। जैनोंने जिसे नैश्चयिक आत्मा कहा है वही रूप भूततथताका है। फर्क यही है कि जैनोंने नैश्चयिकआत्माको एकमात्र परमतत्त्व नहीं माना। तदतिरिक्त एक अजीवतत्त्व भी माना है। अथवा एक दूसरी दृष्टिसे देखा जाय तो कुन्दकुन्दाचार्य जिसे सत् कहते हैं वही भूततथताके निकट है। सांख्योंकी प्रकृति जो समस्तभौतिकपदार्थ और चित्तका मूलतत्त्व है वह भी भूततथताके समीप है।

भूततथताके व्यावहारिकरूप अर्थात् सांवृत्तिकरूप संसारके मुख्य तीन रूप है—द्रव्य, गुण और क्रिया। संसारकी अर्थात् व्यवहारकी ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसमें ये तीन न हों[2]। गुण और क्रिया (भाव–पर्याय) उत्पत्ति और विनाशको प्राप्त होते हैं किन्तु द्रव्य ध्रुवभावी है[3]। व्यावहारिक आत्माका जो रूप जैनोंने माना है या सांख्योंने प्रपञ्चका जो रूप माना है उसके समीपका यह भूततथताका सांवृतिकरूप है।

योगाचार बौद्धोंने एकान्तभेदको ही परमतत्त्व माना है। विज्ञानाद्वैतका मतलब ब्रह्माद्वैतकी तरह एक मात्र विज्ञानका अस्तित्व तो है किन्तु इसका मतलब यह कदापि नहीं कि सब विज्ञान भी एक हैं। धर्मकीर्तिने सन्तानान्तरसिद्धि लिखकर इस वक्तव्यको स्पष्ट किया है जिससे यह स्पष्ट है कि विज्ञानाद्वैत मानकर भी योगाचार एकान्त अभेदवादी नहीं किन्तु भेदवादी है। जबकि इसके विपरीत भूततथतावादके अनुसार परम तत्त्वमें सबका समन्वय है। और वह सांख्योंकी प्रकृतिके समान और जैनोंके सामान्य द्रव्यके समान नित्य है[4]।

बौद्धोंके ऐसे सिद्धान्तोंकी तुलना जब हम दिग्नागादि प्रतिपादित पूर्वोक्त क्षणिकैकान्तवादसे करते हैं तब यही कहना पडता है कि भगवान् बुद्धको अभिप्रेत वही हो सकता है जो सर्वास्तिवादादि प्राचीनवादोंमें प्रतिपादित है।

अतएव 'विनाशस्य अहेतुकत्वात्' जैसे क्षणिकैकान्तके साधक हेतुका प्रयोग दिग्नागादि तार्किक योगाचारोंके ग्रन्थोंमें ही मिले तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं। इस हेतुका खण्डन उद्द्योतकर तथा कुमारिल आदिने किया है[5]। इससे वह धर्मकीर्तिसे पहलेके वसुबन्धु और दिग्नागके ग्रन्थमें होना चाहिए। उसीका उपयोग धर्मकीर्तिने भी किया है यह स्पष्ट है[6]।

---

१. वही पृ० २५४ पं० १६। २. वही पृ० २५४। ३. वही पृ० २५५।

४. "Bhūtatathatā implies oneness of the totality of things or Dharmadhatu—The great all-including whole, the quintessence of the doctrine. For the essential nature of the Soul is uncreated and eternal." Awakening of faith p. 55–56. Systems of Buddhistic Thought p. 255।

५ न्यायवा० पृ० ४१३। श्लोकवा० शब्दनि० २४। ६. "तदेवं विनाशं प्रत्यनपेक्षामसामर्थ्यवैयर्थ्याभ्यां तद्धेत्वयोगेन कृतकलक्षणस्य सत्त्वस्य पूर्वाचार्यदर्शितां प्रतिपाद्य"–हेतुबिन्दुटीका पृ० १४३। प्रमाणवा० ३.१९३,२६९।

धर्मकीर्तिके बादके सभी दार्शनिकोंने[1] उक्त क्षणिकसाधक हेतुका निरास करनेका पूरा प्रयत्न किया है।

पृ० ११७. पं० ५. 'ये यद्भावम्' तुलना—"प्रयोगस्तु एवम्-ये यद्भावं प्रत्यनपेक्षाः ते तद्भावनियताः। तद् यथा अन्त्या कारणसामग्री स्वकार्योत्पादने" हेतुबि० टी० पृ० १४३। प्रमाणवा० स्वो० कर्ण० पृ० ३३१।

पृ० ११७. पं० १०. 'कालान्तरस्थायित्वे' तुलना—हेतुबि० टी० पृ० १४१। देखो, प्रस्तुत टिप्पण पृ० २८० "येषां तावद्विनाशो दृश्यते तेषां यदि न प्रतिक्षणं विनाशः स्यात् तदा विनाशप्रतीतिरेव न स्यात्। तथाहि यदि द्वितीये क्षणे भावस्य स्थितिस्तदासौ सर्वदैव तिष्ठेत्। द्वितीयेपि क्षणे क्षणद्वयस्थायिस्वभावत्वात्।" प्रमाणवा० स्वो० कर्ण० पृ० ३३९।

पृ० ११७. पं० १५. 'किं पर्युदासरूपः' तुलना—हेतुबि० टी० पृ० ८०।

पृ० ११७. पं० २६. 'अथ प्रसज्यरूपम्' तुलना—हेतुबि० टी० पृ० ८०। प्रमाणवा० कर्ण० पृ० ३६७।

पृ० ११७. पं० २९. 'केनचिद्रूपेण' तुलना—"केनचिद्रूपेणोन्मज्जनम् हि भवनम्।" हेतुबि० टी० पृ० ८१ पं० १०।

पृ० ११८. पं० १०. 'यद्यहेतुकत्वं' तुलना—"यद्यकारणत्वान्नित्यो विनाशः, कार्यस्योत्पादो न प्राप्नोति। उत्पन्नस्य च भावस्य विनाशेन सहावस्थानमिति च दोषः। ततश्च भावानामभावाविरोधादत्यन्तमवस्थानमिति। अथासन् विनाशः, एवमपि सर्वे नित्यत्वं विनाशाभावात्।" न्यायवा० पृ० ४१४।

पृ० ११७. पं० १४. 'अथ' तुलना—"परस्य स्वकारणव्यतिरिक्तस्योत्तरकालं मुद्गरादेर्नाशकस्याभावादहेतुकमिच्छामः।" तत्त्वसं० पं० पृ० १३८।

पृ० ११८. पं० १९. 'स्वहेतोः' तुलना—"न हि नाशो भावानां कुतश्चिद् भवति। तद् भावस्वभावो भवेद् भावस्यैव स्वहेतुभ्यः तद्धर्मणो भावात्।" प्रमाणवा० स्वो० पृ० ५१०।

पृ० ११८. पं० १९. 'न पुनः' तुलना—"न तस्य किञ्चिद्भवति न भवत्येव केवलम्" प्रमाणवा ३.२७७। "न ह्ययं विनाशोऽन्यो वा कश्चिद्भवतीत्याह। किन्तर्हि। स एव भावो न भवतीति।" वही० स्वो० पृ० ५२३। "तेनायमर्थः प्रथमे क्षणे भावोऽभूतो भवति। द्वितीये क्षणे तस्य न भावो भवति नाभावो वा नापि स्वरसहानिर्वा भवति। केवलं स्वयमेव निवर्तते।" कर्ण० पृ० ५२३।

पृ० ११८. पं० २४. 'अथ' तुलना—"नाशस्तु प्रसज्यप्रतिषेधरूपो निःस्वभावत्वात्" मनो० ३.२७८।

पृ० ११९. पं० ८. 'पर्युदास' तुलना—"पर्युदास एवैको नञर्थश्च स्यात्। सर्वत्र विधेः प्राधान्यात्। सोऽपि वा न भवेत्। यदि हि किञ्चित् कुतश्चित् निवर्त्तेत तदा तद्य-

१. व्यो० पृ० ३९९। न्यायमं० वि० पृ० ६१;४५७। तात्पर्य० पृ० ४५७। प्रकरणपं० मीमांसाजीवरक्षा पृ० ७। शास्त्रदी० पृ० १४५। अष्टश० का० ४१। सन्मति० टी० पृ० ३८८। न्यायकु० पृ० ३८६। स्याद्वादर० पृ० ७८७।

तिरेकि संदूषयेत तत्पर्युदासेन । तच्च नास्ति । सर्वत्र निवृत्तिर्भवति इत्युक्ते वस्त्वन्तरस्यैव कस्यचित् विधानात् ।" हेतुबि० टी० पृ० ८१ । कर्ण० पृ० ५२४ ।

पृ० ११९. पं० ९. 'तदव्यतिरेकि' अशुद्ध है । इस प्रकार शुद्ध करना चाहिए— "तदव्य[द्य]तिरेकि" देखो, ऊपरका टिप्पण ।

पृ० १२०. पं० २. 'स्त्रीणाममोक्षम्' स्त्रीमोक्षकी दार्शनिक चर्चा संस्कृतमें शाकटायनने सर्वप्रथम की हो ऐसा जान पडता है । उनके पहले चर्चा चल पडी थी[1] इसमें तो संदेह नहीं किन्तु उस चर्चाको व्यवस्थित रूप सर्व प्रथम उन्हींने दिया है यह इसलिये संभव जान पडता है कि स्त्रीमोक्षका समर्थन करनेवाले श्वेताम्बर दार्शनिक ग्रन्थ और स्त्रीमोक्षका निराकरण करनेवाले समस्त दिगम्बर दार्शनिक ग्रन्थ शाकटायनके स्त्रीमुक्ति प्रकरणको ही आधारभूत मानकरके चलते हैं । श्वेताम्बर अपने पक्षके समर्थनमें उक्त प्रकरणका उपयोग करते हैं और दिगम्बर उक्त प्रकरणकी प्रत्येक युक्तिको पूर्वपक्षमें रखकर उसका खण्डन करते हैं ।

आचार्य जिनभद्रने[2] युक्तिपुरःसर वस्त्रका समर्थन करनेका प्रयत्न किया है किन्तु स्त्रीमुक्तिकी चर्चा उन्होंने नहीं की । आचार्य कुन्दकुन्दने इस प्रश्नको उठाया है किन्तु वह दार्शनिक ढंगकी चर्चा न होकर आगमिक मालूम होती है[3] । उनके बादही इस चर्चाने गंभीर रूप पकडा है इसमें तो संदेह है ही नहीं । पूज्यपाद जैसे आचार्य मात्र निषेध करके ही चुप रह जाते हैं विशेष युक्ति नहीं देते । अकलंकने भी विशेष चर्चा नहीं की[4] ।

प्रतीत होता है कि स्त्रीमुक्तिकी चर्चा प्रथम यापनीय और दिगम्बरोंके बीच शुरू हुई । यापनीयोंने स्त्रीमोक्षका समर्थन किया । उन्हींकी युक्तिओंको श्वेताम्बरोंने अपनाया । आचार्य हरिभद्रने इस चर्चाको श्वेताम्बरीय ग्रन्थोंमें प्रविष्ट की हो ऐसा जान पडता है । आचार्य हरिभद्रने इस चर्चाको यापनीयोंसे लिया है इस विषयमें सन्देहको स्थान नहीं । क्योंकि उन्होंने ललितविस्तरामे इस विषयमें प्रमाणभूत यापनीय तन्त्रको साक्षी रूपसे उद्धृत किया है । ललितविस्तरा पृ० ५७ ।

इसके बाद तो यह चर्चा मुख्य रूपसे श्वेताम्बर और दिगम्बरोंके बीच हुई है । किन्तु दोनोंकी चर्चाकी मूल भित्ति शाकटायनका स्त्रीमुक्तिप्रकरण ही रहा है । उसीके आधार पर अभयदेव, प्रभाचन्द्र, वादीदेवसूरि और यशोविजयजीने इस चर्चाको उत्तरोत्तर पल्लवित की है[5] ।

प्रस्तुतमें शान्त्याचार्यने भी मुख्यरूपसे शाकटायनके प्रकरणको ही पूर्वोत्तरपक्षकी चर्चाका आधार बनाया है जो तुलनासे स्पष्ट होगा ।

पृ० १२०. पं० ५. 'रत्नत्रयस्य' तुलना—

"अस्ति स्त्रीनिर्वाणं पुंवत् यदविकलहेतुकं स्त्रीषु ।
न विरुध्यते हि रत्नत्रयसंपत् निर्वृतेर्हेतुः ॥" स्त्रीमु० २ । सन्मति० टी० पृ० ७५२ । न्यायकु० पृ० ८६५ ।

---

१. देखो स्त्रीमुक्तिप्रकरणमें पूर्वपक्ष । २. विशेषा० गा० २५५८ से । ३. सूत्रप्राभृत (षट्प्राभृतान्तर्गत) गा० २३–२६ । ४. सर्वार्थ० १०.९ । राजवा० पृ० ३६६ । ५. सन्मति० टी० पृ० ७५१ । न्यायकु० पृ० ८६५ । प्रमेयक० पृ० ३२८ । शास्त्रवा० यशो० पृ० ४२४–४३० । स्याद्वादर० (त्रुटित) पृ० ११२२ ।

पृ० १२०. पं० ९. 'यदविकल' तुलना—सन्मति० टी० पृ० ७५२ पं० १०।

पृ० १२०. पं० ५. 'अमतवोऽभिहितो' तुलना—

"रत्नत्रयं विरुद्धं स्त्रीत्वेन यथामरादिभावेन।
इति वाङ्मात्रं नात्र प्रमाणमाप्तागमोऽन्यद्वा॥
जानीते जिनवचनं श्रद्धत्ते चरति चार्यिकाऽशबलम्।
नास्यास्त्यसंभवोऽस्यां नादृष्टविरोधगतिरस्ति॥" स्त्रीमु० ३,४।

पृ० १२०. पं० ११. 'अधोगत्वात्' तुलना—

"सप्तमपृथिवीगमनाद्यभावमव्याप्तमेव मन्यन्ते।
निर्वाणाभावेनापश्चिमतनवो न तां यान्ति॥" स्त्रीमु० ५। सन्मति० टी० पृ० ७५२. पं० ३६। प्रमेयक० पृ० ३२८। न्यायकु० पृ० ८६६।

पृ० १२०. पं० २४. 'नोत्कृष्टश्रुता' तुलना—

"वादविकुर्वणत्वादिलब्धिविरहे श्रुते कनीयसि च।
जिनकल्पमनःपर्ययविरहेपि न सिद्धिविरहोऽस्ति॥
वादादिलब्ध्यभाववद् अभविष्यद् यदि च सिद्ध्यभावोपि।
तासामवारयिष्यद् यथैव जम्बूयुगादारात्॥" स्त्रीमु० ७,८। न्यायकु० पृ० ८६७।

पृ० १२०. पं० २५. 'न च वस्त्रेण' तुलना—

"यदि वस्त्रादविमुक्तिः त्यजेत तद्, अथ न कल्पते हातुम्।
उत्सङ्गप्रतिलेखनवद्, अन्यथा दूषको दूष्येत॥" इत्यादि

स्त्रीमु० १०–२१। सन्मति० टी० पृ० ७४७,७४९। न्यायकु० पृ० ८६८। प्रमेयक० पृ० ३३०।

पृ० १२१. पं० १२. 'अवन्द्याः' तुलना—

"अप्रतिवन्द्यत्वात् चेत् संयतवर्गेण नार्यिकासिद्धिः।
वन्द्यंतां ता यदि ते नोनत्वं कल्प्यते तासाम्॥"

इत्यादि स्त्रीमु० २४–२६। सन्मति० टी० पृ० ७५४। न्यायकु० पृ० ८६९। प्रमेयक० पृ० ३३०।

पृ० १२१. पं० १८. 'अतिसंक्लिष्टत्वात्' तुलना—

"महता पापेन स्त्रीमिथ्यात्वसहायकेन न सुदृष्टिम्।
स्त्रीत्वं चिनोति, तत्र तदङ्गे क्षपणेऽपि निर्मानम्॥" स्त्रीमु० ३३।

पृ० १२१. पं० १९. 'मायाप्रधानत्वात्' तुलना—

"मायादिः पुरुषाणामपि देशाधि(द्वेषादि)प्रसिद्धभावश्च।
षण्णां संस्थानानां तुल्यो वर्णत्रयस्यापि॥" स्त्रीमु० २८। सन्मति० टी० पृ० ७५४। न्यायकु० ८६९।

पृ० १२१. पं० २०. 'शीलाम्बु' तुलना—स्त्रीमु० २९–३०,३२।

पृ० १२१. पं० २५. 'अङ्गसमय' तुलना—स्त्रीमु० ३५–४०।

पृ० १२२. पं० ६. 'चतुर्दश' तुलना—स्त्रीमु० ४१।

परिशिष्ट

१. न्यायावतारकी तुलना।

कारिका १. "स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्।" बृहत्स्व० ६३।

"प्रत्यक्षं च परोक्षं च द्वे प्रमाणे तथा मते" षड्द० ५५।

"प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसंव्यवहारतः।
परोक्षं शेषविज्ञानं प्रमाणे इति संग्रहः॥" लघी० ३।

"प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं त्रिधा श्रुतमविप्लवम्।
परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि प्रमाणे इति संग्रहः॥" प्रमाणसं का० २। न्यायवि० ४६९,४७०।

"व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्थग्राहकं मतम्।
ग्रहणं निर्णयस्तेन मुख्यं प्रामाण्यमश्नुते॥
तत्प्रत्यक्षं परोक्षं च द्विधैवात्रान्यसंविदाम्।
अन्तर्भावान्न युज्यन्ते नियमाः परकल्पिताः॥" लघी० ६०,६१।

"स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्।
तद्द्वेधा। प्रत्यक्षेतरभेदात्॥" परी० १.१;२.१,२।

"स्वपरव्यवसायि प्रमाणम्।" प्रमाणन० १.२।

"तद् द्विभेदं प्रत्यक्षं च परोक्षं च॥" प्रमाणन० २.१।

प्रमालक्ष्मकी प्रथम कारिका यही है। वार्तिक और वृत्तिकार शान्त्याचार्य और प्रमालक्ष्मकार जिनेश्वरने 'द्विधा मेयविनिश्चयात्' इस पद्यांशको प्रमाणविप्लववादके अर्थमें व्याख्यात किया है और तात्पर्य निकाला है कि प्रमाणभेद प्रमेयभेदाधीन है, देखो, टिप्पण पृ० २१७-२१८।

इस सिद्धान्तके लिये तुलना करो, दिग्नाग-प्रमाणसमु० वृ० १. २।

"न प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यां मेयस्यान्यस्य संभवः।
तस्मात् प्रमेयद्वित्वेन प्रमाणद्वित्वमिष्यते॥
त्र्येकसंख्यानिरासो वा प्रमेयद्वयदर्शनात्।" प्रमाणवा० २.६३,६४।

"मानं द्विविधं विषयद्वैविध्यात्।" वही २.१।

का० २-३. "शास्त्रं मोहनिवर्तनम्" प्रमाणवा० १.७।

"असंमोहाय लक्षणम्" प्रमाणवा ४.२८।

"यदि तर्हि व्यवहारेण प्रामाण्यं प्रमाणलक्षणशास्त्रं तर्हि किमर्थम्? शास्त्रं हि निर्द(?)ष्ट मपि न वचनमात्रात् तथा भवति अपि तु व्यवहाराविसंवादादेव। स चेदस्ति व्यर्थकं शास्त्रमित्याह "शास्त्रं मोहनिवर्तनम्"-प्रमाणवा० अ० पृ० ३६। पृ० ७७४।

"धर्मार्थिभिः प्रमाणादेर्लक्षणं न तु युक्तिमत्।
प्रयोजनाद्यभावेन तथा चाह महामतिः॥

प्रसिद्धानि प्रमाणानि व्यवहारश्च तत्कृतः।
प्रमाणलक्षणस्योक्तौ ज्ञायते न प्रयोजनम्॥" हरिं० अष्टक० १३.४,५।

"प्रामाण्यं यदि शास्त्रगम्यमथ न प्रागर्थसंवादनात्,
संख्यालक्षणगोचरार्थकथने किं कारणं चेतसाम्।
आ ज्ञातं सकलागमार्थविषयज्ञानाविरोधं बुधाः,
प्रेक्षन्ते तदुदीरितार्थगहने सन्देहविच्छित्तये॥" न्यायवि० ३८५।

का० ४. यही कारिका षड्दर्शनसमुच्चयमें शब्दशः है–षड्द० का० ५६।

"प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानम्" लघी० ३।

"अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम्।
तद्वैशद्यं मतं बुद्धेरवैशद्यमतः परम्॥" लघी० ४।

"प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा।" न्यायवि० ३।

"प्रत्यक्षमञ्जसा स्पष्टम्" वही ४६९।

"साक्षात्प्रतिपत्तिर्हि प्रत्यक्षम्" प्रमाणवा० अलं० पृ० ३१।

"एवं तर्हि कथं प्रत्यक्षानुमानयोः लक्षणभेदः। उक्तमत्र। स्पष्टेतरप्रतिभासभेदात्।"
वही पृ० ३०७।

विशेष तुलनाके लिये देखो 'वैशद्य' शब्दका टिप्पण पृ० २३७।

का० ५. "त्रिरूपाल्लिङ्गतोऽर्थदृक्" प्रमाणसमु० परि० २। न्यायवि० पृ० २९
न्यायप्र० पृ० ७. पं० १४।

"लिङ्गात् साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणात्।
लिङ्गिधीरनुमानम्॥" लघी० १२,१३। न्यायवि० १७०। परी० ३.१४।
प्रमाणन० ३.१०। प्रमाणमी० १.२.१३। प्रमालक्ष्म २१,४५।

का० ५–७. यहाँ प्रो० वैद्य और जेकोबीका यह कहना है कि प्रस्तुतमें जो अनुमानमें भ्रान्तताका निवारण किया गया है वह धर्मकीर्तिके मतका निराकरण है क्योंकि धर्मकीर्तिने ही सर्व प्रथम प्रत्यक्षको अभ्रान्त कह कर यह सूचित किया था कि अनुमान भ्रान्त होता है।

अन्य सुनिश्चित प्रमाणोंसे जब सिद्धसेनका समय धर्मकीर्तिके पूर्वमें ही स्थिर होता है तब प्रस्तुतमें यह दलील नहीं दी जा सकती कि इन कारिकाओंमें धर्मकीर्तिका खण्डन है। तब भी इस अभ्रान्तपदके विषयमें जो यह कहा जाता है कि सर्व प्रथम धर्मकीर्तिने ही इसे प्रत्यक्ष लक्षणमें प्रयुक्त किया है, उसका भी निराकरण आवश्यक है। प्रत्यक्ष लक्षणमें अभ्रान्त पदकी योजनाका इतिहास बताते समय प्रो० चारबिट्सकीने स्पष्ट ही कहा है कि सर्वप्रथम असंगने अभ्रान्तपदका ग्रहण किया था। किन्तु दिग्नागने उसे अनावश्यक समझ छोड दिया। और फिर धर्मकीर्तिने उसका ग्रहण किया[1]।

वस्तुतः असंगसे भी पहले सौत्रान्तिक मैत्रेयनाथने उसका ग्रहण प्रत्यक्ष लक्षणमें किया था[2]। इतनाही नही किन्तु धर्मकीर्तिके 'तिमिराशुभ्रमणनौयानसंक्षोभाद्यनाहितविभ्रमम्'

---

१. Buddhist Logic Vol. I. p. 155. Sanmati Tarka–Intro. p. 13.
२. Journal of the Royal Asiatic Society 1929. p. 464.

(न्यायवि० पृ० १३) इस सूत्रका मूल भी उतनाही पुराना है । मैत्रेयनाथने सात प्रकारके भ्रम बताए हैं और उन भ्रमोंसे रहितको अभ्रान्त कहा है[1] ।

न्यायबिन्दु टीकाटिप्पणमें मल्लवादीने कहा है कि वस्तुतः योगाचारकी दृष्टिसे प्रत्यक्ष लक्षणमें अभ्रान्त पद अनावश्यक होते हुए भी धर्मकीर्तिने सौत्रान्तिककी दृष्टिसें अभ्रान्त-पदका ग्रहण किया है। इससे स्पष्ट है कि अभ्रान्तपद यह धर्मकीर्तिकी नई सूझ नहीं किन्तु योगाचारके पूर्ववर्ती सौत्रान्तिकका अनुकरण है । इस बातको प्रो० टूचीने स्पष्ट शब्दोंमें स्वीकार किया है[2] ।

वस्तुतः देखा जाय तो योगाचार निरालम्बनवादी हैं । अतएव ग्राह्यग्राहकभावको लेकर जो भी प्रमाणाप्रमाण व्यवहार है उसे भ्रान्त ही मानते हैं । उनके मतमें न सिर्फ अनुमान ही, न सिर्फ प्रत्यक्ष ही, किन्तु सभी बाह्यालम्बन प्रत्यय भ्रान्त हैं । अनुमानके लक्षणको समाप्त करके क्रमप्राप्त प्रत्यक्षकी अभ्रान्तता सिद्ध करनेके बजाय अनुमानकी अभ्रान्तता सर्वप्रथम सिद्ध की गई है इसीसे यह भ्रम होता है कि सिद्धसेन धर्मकीर्तिका खण्डन कर रहा है क्योंकि धर्मकीर्तिके टीकाकारोंने प्रत्यक्षमें अभ्रान्तपद देखकर 'भ्रान्तं हि अनुमानं' (न्याय-बि० टी० पृ० १३) कहा है तथा स्वयं धर्मकीर्तिने—"अभिप्रायाविसंवादादपि भ्रान्तेः प्रमाणता" (प्रमाणवा० २. ५६) कहा है ।

सिद्धसेनने अनुमानको अभ्रान्त सिद्ध करने के लिये जो अनुमानप्रयोग किया है उसमें 'समक्ष'—प्रत्यक्षको दृष्टान्त बनाया है । 'प्रत्यक्ष' को भी पूर्वपक्षीने भ्रान्त माना है । तभी तो सिद्धसेनको यह कहना पडा है कि "न प्रत्यक्षमपि भ्रान्तं प्रमाणत्वविनिश्चयात् ।" (६) इत्यादि । पूर्वपक्षी सिर्फ अनुमान या सिर्फ प्रत्यक्षको ही भ्रान्त मानता हो यह बात नहीं किन्तु उसने तो सकल प्रतिभासको ही भ्रान्त माना है । तभी तो सिद्धसेन ने अन्तमें कह दिया कि "सकलप्रतिभासस्य भ्रान्तत्वासिद्धितः स्फुटम् ।" (७) इत्यादि । ऐसी स्थितिमें सिद्धसेनके सामने पूर्वपक्षीके रूपमें धर्मकीर्ति नहीं है क्योंकि उन्होंने तो प्रत्यक्षको स्पष्टरूपसे अभ्रान्त कहा ही है ।

अतएव जब अभ्रान्तपदका प्रयोग धर्मकीर्तिसे भी पहलेके मैत्रेयनाथके योगाचारभूमिशास्त्रमें मिलता है और धर्मकीर्तिका खण्डन उपर्युक्त युक्तिसे संभव नहीं तब यही मानना पडता है कि प्रस्तुतमें योगाचार सम्मत निरालम्बनवादके 'सर्वमालम्बने भ्रान्तम्'[3] इस सिद्धान्तका ही खण्डन है ।

योगाचारमतमें वस्तुके तीन प्रकारके स्वभाव माने गये हैं—कल्पित, परतन्त्र और परि-निष्पन्न । लोकमें जो वस्तुएँ भिन्न भिन्न आकार प्रकारकी दीखती हैं यही परतन्त्र स्वभाव है । परिनिष्पन्न—परमार्थ ग्राह्यग्राहकभावशून्य है किन्तु संवृतिके कारण ग्राह्यग्राहकरूपसे परमार्थका ग्रहण होता है—यही तो भ्रम है । इसका निरूपण अनेक प्रकारसे योगाचारके ग्रन्थोंमें हुआ है और इसी निरालम्बनवादका प्रस्तुतमें खण्डन है । अतएव यहाँ सिद्धसेनके पूर्ववर्ति ग्रन्थोंमेंसे कुछ अवतरण दिये जाते है—जिनमें भ्रम-भ्रान्ति जैसे शब्दोंका ग्रहण हुआ है—

---

१. देखो, वही p. 464 । २. वही । ३. विवरणके लिये देखो. प्रमाणवा० अलं० पृ० ४१४ । न्यायबिन्दुटीकाटिप्पण पृ० १९ ।

"य एव कल्पितो भावः परतन्त्रः स एव हि।" लंका० १०.२९८।

"भ्रान्तिनिमित्तं संकल्पः परतन्त्रस्य लक्षणम्।" वही १०.१३८।

"तेन ग्राह्यग्राहकेण परतन्त्रस्य सदा सर्वकालमत्यन्तरहितता या स परिनिष्पन्नस्वभावः" विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि पृ० ४०।

"भ्रान्तेः सन्निश्रयः परतन्त्रः" महायानसूत्रालंकार पृ० ५८।

"विद्यते भ्रान्तिभावेन यथाख्यानं न विद्यते।
परतन्त्रो यतस्तेन सदसल्लक्षणो मतः॥" त्रिस्वभावनिर्देश १२।

"यथा मायायन्त्रपरिगृहीतं भ्रान्तिनिमित्तं काष्ठलोष्ठादिकं तथाऽभूतपरिकल्पः परतन्त्रः स्वभावो वेदितव्यः। यथा मायाकृतं तस्यां मायायां हस्त्यश्वसुवर्णाद्याकृतिस्तद्भावेन प्रतिभासिता तथा तस्मिन्नभूतपरिकल्पे द्वयभ्रान्तिग्राह्यग्राहकत्वेन प्रतिभासिता परिकल्पितस्वभावाकारा वेदितव्या।" महायानसूत्रालंकार पृ० १५।

दिङ्नागने प्रत्यक्षमें अभ्रान्तपदका ग्रहण नहीं किया है अतएव वह और तदनुसारी अन्य विभ्रमको भी प्रमाण मानते हैं (देखो तत्त्वसं० का० १३२४) उसीको लक्ष्यमें रखकर ही सिद्धसेनने कहा है कि—"भ्रान्तं प्रमाणमित्येतत् विरुद्धं वचनं यतः"—

तुलना—"पीतशंखादिबुद्धीनां विभ्रमेपि प्रमाणताम्। अर्थक्रियाऽविसंवादादपरे संप्रचक्षते॥" तत्त्वसं० का० १३२४।

न्याया० की प्रस्तुत कारिकाओंकी तुलना—न्यायवि० का० ५१–५४, तथा प्रमालक्ष्म १६७ से करना चाहिये।

कारिका ८–९. "विकल्पयोनयः शब्दाः विकल्पाः शब्दयोनयः।" इत्यादि कारिकाको हरिभद्रने[1] भदन्त दिन्नकी कही है। संभव है दिन्न और दिङ्नाग अभिन्न हों। इस कारिकामें प्रतिपादित सिद्धान्त कि शब्दका संबन्ध बाह्यार्थसे नहीं है, शब्द बाह्य अर्थका प्रतिपादन नहीं करते, शब्द विकल्पसे उत्पन्न होते हैं और विकल्पको उत्पन्न करते हैं, आचार्य धर्मकीर्तिने भी अपनाया है और समर्थन किया है।

"अनादिवासनोद्भूतविकल्पपरिनिष्ठितः
शब्दार्थः" प्रमाणवा० ३.२०४।

"शब्दार्थः कल्पनाज्ञानविषयत्वेन कल्पितः।
धर्मो वस्त्वाश्रयासिद्धिरस्योक्ता न्यायवादिना॥" वही २११।

"विकल्पवासनोद्भूताः समारोपितगोचराः।
जायन्ते बुद्धयस्तत्र केवलं नार्थगोचराः॥" वही २८६।

उन्होंने स्पष्ट ही कहा है कि शब्द परम अर्थका वाचक कभी नहीं हो सकता। अन्यथा एक ही अर्थके प्रतिपादनमें दार्शनिकोंका विवाद क्यों होता—

"परमार्थैकतानत्वे शब्दानामनिबन्धना।
न स्यात् प्रवृत्तिरर्थेषु दर्शनान्तरभेदिषु॥" वही २०६।

इसी सिद्धान्तके विरुद्ध प्रस्तुत कारिकामें 'परमार्थाभिधायिनः' तथा "तत्त्वोपदेशकृत" ये विशेषण दिये गये हों तो आश्चर्य नहीं।

---

१. अनेकान्तज० पृ० ३३७।

और भी तुलना करो—

**"सम्बद्धानुगुणोपायं पुरुषार्थाभिधायकम्।
परीक्षाधिकृतं वाक्यमतोऽनधिकृतं परम्॥"** वही २१५॥

इस कारिकाकी व्याख्या और प्रस्तुत न्याया० की कारिकाकी सिद्धर्षिकृत व्याख्यामें अत्यधिक साम्य है।

धर्मकीर्तिने शास्त्रका लक्षण इस प्रकार किया है—

**"शास्त्रं यत् सिद्धया युक्त्या स्ववाचा च न बाध्यते।
दृष्टेऽदृष्टेऽपि तद् ग्राह्यमिति चिन्ता प्रवर्तते॥"** वही ४.१०८॥

और भी तुलना करो—न्यायसू० १.१.७-८। शास्त्रवा० २. २८। प्रमाणसं० ६३। लघी० २८। न्यायवि० ३८७। परी० ३. ९९। प्रमाणन० ४. १।

कारिका ९. यह कारिका रत्नकरण्डश्रावकाचारमें भी है। प्रो० हीरालालने वर्ष ८ के 'अनेकान्त' मासिकमें निश्चित किया है कि रत्नकरण्डश्रावकाचार समन्तभद्रकृत नहीं। पंडित सुखलालजीने यह सिद्ध किया है कि प्रस्तुत कारिका न्यायावतारकी ही है। ऐसी स्थिति में यही कहना चाहिए कि रत्नकरण्ड में ही न्यायावतारसे यह कारिका लीगई है।

कारिका १०. **"'स्वनिश्चयवदन्येषां निश्चयोत्पादनेच्छया"** यह वाक्य दिग्नागका है—प्रमाणवा० अ० पृ० ५४१। ५७२। **"परार्थमनुमानं तु स्वदृष्टार्थप्रकाशकम्"**—इस दिग्नागकृत परार्थानुमानकी तुलना न्याया० के परार्थमानके साथ करने योग्य है। इस लक्षणवाक्यके लिये देखो, प्रमाणवा० मनो० ४.१। श्लोकवा० निरा० न्यायरत्ना० पृ० २५२। प्रमाणवा० अलं० पृ० ५७२।

इसी प्रकार प्रशस्तपादमें भी परार्थानुमानके लक्षणमें **'स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनम्'** यह पद पडा हुआ है—प्रशस्त० पृ० ५७७। माठर० ५।

कारिका ११-१२. 'द्वयोरपि' इसमें 'अपि' पदके द्वारा और १२ वीं संपूर्ण कारिकासे न्यायावतारकारने यही सूचित किया है कि अनुमानकी तरह प्रत्यक्षको भी परार्थ मानना चाहिए।

दिग्नागने अनुमानके ही स्वार्थ-परार्थरूप दो भेदोंकी स्पष्टता की है। न्यायप्रवेशके प्रथम पद्य—

**"साधनं दूषणं चैव साभासं परसंविदे।
प्रत्यक्षमनुमानं च साभासं त्वात्मसंविदे"**॥ से यही सूचित होता है। धर्मकीर्तिने उन्हींका अनुकरण किया है। धर्मकीर्तिके टीकाकार प्रज्ञाकरने इन शब्दोंमें प्रत्यक्षकी परार्थताका निराकरण किया है—

"यद्यनुमानोत्पादनाद्वचनम् अनुमानं प्रत्यक्षोत्पादनात् वचनमपि परार्थं प्रत्यक्षं भवेत्। नेदं चतुरस्रम्—

**यथा गृहीतसम्बन्धस्मरणे वचनात् सति।
अनुमानोदयस्तद्वन्न प्रत्यक्षोदयः क्वचित्॥**

---

१. उत्तरार्धं इस प्रकार है—"पक्षधर्मत्वसम्बन्धसाध्योक्तेरन्यवर्जनम्।" यह कारिका प्रमाणसमुच्चयकी है—प्रमाणवा० अलं० पृ० ५७२।

त्रिरूपलिङ्गस्मरणे नियमेनानुमोदयः ।
स्वप्रतीतार्थमात्रस्य वचनेऽप्यक्षवित्र तु ॥

न वचनमात्रादध्यक्षं परस्योदेति । ननु 'पश्य मृगो धावति' इति दृश्यते दर्शनोदयः । न । तत्राप्यनुमानस्यानन्तरत्वात् । तथाहि –

तदर्थोन्मुखतायां स पश्यस्येवं नियुज्यते ।
मया प्रतीतमेतच्च सामर्थ्यात्प्रतिपादितम् ॥

'अभिमुखी भव मृगदर्शने' इति नियोगवचनमेतत् । अभिमुखीभावश्च यथा मम तथा तवापि । तत एवमभिमुखीभवने हेतूनां व्यापार इति स्मरन् प्रवर्तत इति अनुमानमेव ।" प्रमाणवा० अलं० पृ० ५३४ ।

बौद्धोंने परार्थ प्रत्यक्ष इसलिये नहीं माना है कि प्रत्यक्षार्थ – स्वलक्षण – वचनगोचर नहीं । इसके विपरीत जैनोंने प्रत्यक्षगोचरको वाच्य माना है । उसी दृष्टिसे प्रस्तुतमें परार्थप्रत्यक्षकी कल्पना की गई है । अकलंक आदि किसी जैनदार्शनिकने प्रत्यक्षकी परार्थता प्रतिपादित नहीं की है । सिर्फ देवसूरिने न्यायावतारका आश्रय लेकर परार्थ प्रत्यक्षका वर्णन किया है (स्याद्वादर० पृ० ५५७) यह एक आश्चर्य है ।

न्यायप्रवेशकी टीकामें हरिभद्रने कहा है – "साधनदूषणे एव साभासे परसंविदे परावबोधाय, न प्रत्यक्षानुमाने । प्रत्यक्षानुमाने एव साभासे आत्मसंविदे आत्मावबोधाय, न साधनदूषणे आत्मसंवित्फलत्वात् तयोः ।" न्यायप्र० वृ० पृ० १०–११ ।

कारिका १३. दिग्नागने परार्थ अनुमानका लक्षण दो प्रकारसे किया है एकमें तो हेतुवचनको और दूसरेमें पक्षादिवचनको परार्थ अनुमान कहा है । उन दोनों प्रकारका समावेश सिद्धसेनने प्रस्तुत कारिकामें किया है ।

"पक्षादिवचनानीति साधनं" यह न्यायमुखमें परार्थ अनुमानका लक्षण है उसीका अनुकरण न्यायप्रवेशमें है – यथा –

"तत्र पक्षादिवचनानि साधनम्, पक्षहेतुदृष्टान्तवचनैर्हि प्राश्निकानामप्रतीतोऽर्थः प्रतिपाद्यत इति ।" इस लक्षणका ग्रहण सिद्धसेनने इन शब्दोंमें किया है – "तत् पक्षादिवचनात्मकम् ।"

प्रमाणसमुच्चयमें परार्थ अनुमानका लक्षण दिग्नागने किया है कि "परार्थमनुमानं तु स्वदृष्टार्थप्रकाशनम्[1]" इस वाक्यांशमें 'अर्थ' शब्दका अर्थ 'हेतु' है ऐसा मीमांसाश्लोकवार्तिकके निम्नपद्यसे सूचित होता है –

"न च व्याप्रियतेऽन्यत्र वचनं प्राश्निकान् प्रति ।
स्वनिश्चयाय यो हेतुस्तस्यैव प्रतिपादनात् ॥" पृ० २५३ ।

इतना ही नहीं किन्तु प्रज्ञाकर और मनोरथनन्दीने दिग्नागके उक्त लक्षणकी जो व्याख्या की है उससे भी फलित यही होता है कि हेतुवचन परार्थ अनुमान है –

"स्वेन दृष्टं स्वदृष्टं वादिप्रतिवादिभ्यां स्वदृष्टस्य इत्यर्थः । यदि प्राश्निकास्तेषामपि, [वादे] तेषामधिकारात् ।...तत्र स्वदृष्टोऽर्थः त्रिरूपम् लिङ्गम् ।" प्रमाणवा० अलं० पृ० ५३३ ।

---

१. प्रमाणवा० मनो० में उद्धृत – पृ० ४१३ । श्लोकवा० निरा० न्यायरत्ना० में उद्धृत पृ० २५२ ।

"तत्र 'परार्थमनुमानं [तु] स्वदृष्टार्थप्रकाशनम्' इति आचार्यीयलक्षणम् । स्वेन दृष्टः स्वदृष्टः । स्वदृष्टश्चासावर्थश्चेति त्रिरूपो हेतुः । तस्य प्रकाशनं वचनम्, अनुमानहेतुत्वादित्यर्थः ।" प्रमाणवा० मनो० ४.१ ।

प्रमाणसमुच्चयवृत्ति जो दिग्नागकृत ही है उसका एक वाक्य प्रज्ञाकरने उद्धृत किया है उससे भी यही प्रतीत होता है कि दिग्नागको हेतुवचन परार्थानुमानरूपसे इष्ट था – **"ततः 'त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमानम्' इति प्रमाणसमुच्चयवृत्तिर्विरुध्यते ।"** प्रमाणवा० अलं० पृ० ५३५ ।

इस दिग्नागप्रोक्त लक्षणका भी संग्रह सिद्धसेनने इन शब्दोंमें किया है – **साध्याविनाभुवो हेतोर्वचो यत् प्रतिपादकं ।"**

तुलना – **"पञ्चावयवेन वाक्येन स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनं परार्थानुमानम्"** प्रशस्त० पृ० ५७७ । माठर० ५ । **"त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमानम्"** न्यायबि० पृ० ६१ । परी० ३.५५, ५६ । प्रमालक्ष्म का० ५५ । प्रमाणमी० २.१.१-२ । प्रमाणन० ३.२३ ।

कारिका १४-१६. दिग्नागने पक्षका लक्षण दो प्रकारसे किया है । एक है न्यायमुखमें और दूसरा है प्रमाणसमुच्चयमें । विशेषता यह है कि न्यायमुखमें स्वयंशब्दवर्जित पक्षलक्षण है तब प्रमाणसमुच्चयमें स्वयंशब्दसहित ।

न्यायमुखमें पक्षका लक्षण यह है –

"साध्यत्वेनेप्सितः पक्षो विरुद्धार्थानिराकृतः ।"

इसके लिये देखो प्रमाणवा० अलं० पृ० ६१३, ६२८, ६३४ । प्रमाणवा० मनो० ८६ ।

प्रमाणसमुच्चयमें पक्षका लक्षण इस प्रकार है –

"स्वरूपेणैव निर्देश्यः स्वयमिष्टोऽनिराकृतः ।"

इसके लिये देखो, प्रमाणवा० अलं० ६७६ । प्रमाणवा० मनो० ४. २८ ।

पक्षप्रयोग कर्तव्य है या नहीं इसके विषयमें दिग्नागका मन्तव्य क्या हो सकता है तत्सम्बन्धी प्रकाश हमें पूर्वोक्त दिग्नागकथित परार्थानुमानके लक्षणोंसे मिलता है । देखो, कारिका १३ की तुलना ।

न्यायमुखके लक्षणके अनुसार तो पक्षका वचन परार्थानुमानमें होता है ऐसा फलित होता है किन्तु प्रमाणसमुच्चय जो उनके भिन्न भिन्न अनेक ग्रन्थोंके मन्तव्योंका विकसित निष्कर्षमात्र है उसमें तो उन्होंने जो लक्षण परार्थानुमानका किया है उससे यही फलित होता है कि दिग्नागको पक्षप्रयोग अभिमत नहीं था क्योंकि उसने प्रमाणसमुच्चयमें परार्थानुमानका जो लक्षण किया है उसका अर्थ कुमारिलसे लेकर बादके सभी टीकाकार जो करते हैं उससे यही फलित होता है कि हेतुवचन परार्थ अनुमान है । स्वयं दिग्नागने प्रमाणसमुच्चयकी वृत्तिमें त्रिरूपलिङ्गाख्यानको परार्थानुमान कहा है । इसका मतलब यही होगा कि पक्षप्रयोग अनावश्यक है । देखो, पूर्वोक्त १३ वीं कारिकाकी तुलना ।

प्रमाणसमुच्चयके वार्तिककार धर्मकीर्तिने पक्षप्रयोग अनावश्यक बताया है (प्रमाणवा० ४.१६-२७) वह उनकी स्वतन्त्र सूझ नहीं किन्तु उन्होंने यह स्पष्ट ही कहा है कि स्वयं

दिग्नागको भी यही बात इष्ट थी । इससे भी यही कहा जा सकता है कि दिग्नागको पक्षवचन अभीष्ट नहीं था । दिग्नागकी एक कारिका इस प्रकार है–

"स्वनिश्चयवदन्येषां निश्चयोत्पादनेच्छया ।
पक्षधर्मत्वसम्बन्धसाध्योक्तेरन्यवर्जनम् ॥"– प्रमाणवा० अलं० में उद्धृत पृ० ५७२ ।

इस कारिकामें आये हुए 'साध्योक्ति' शब्दसे पक्षप्रयोगको आवश्यक समझनेवाले यह शंका करते थे कि दिग्नागने पक्षप्रयोग आवश्यक माना है किन्तु इस शंकाका निरास स्वयं धर्मकीर्तिने किया है तथा प्रज्ञाकरने उक्त कारिकाके अर्थको स्पष्ट किया है उससे भी यही ज्ञात होता है कि दिग्नागको पक्षप्रयोग अभीष्ट नहीं था ।

"हेत्वर्थविषयत्वेन तदशक्तोक्तिरीरिता ।" प्रमाणवा० ४.१८ ।

"ननु आचार्यस्य पक्षवचनमसाधनत्वेनेष्टमिति कथं ज्ञायत इत्याह–हेतोरर्थः साध्यः, स विषयोऽस्य इति हेत्वर्थविषयः तत्त्वेन साध्यार्थोपदर्शकत्वेन तस्य पक्षवचनस्य साध्य-साधनं प्रति अशक्तस्य उक्तिरीरिता–निर्दिष्टा आचार्येण–'तत्रानुमेयनिर्देशो हेत्वर्थविषयो मतः' इत्यनेन ग्रन्थेन । ततो ज्ञायते पक्षवचनमसाधनमिष्टमाचार्यस्येति । मनो० ४.१८ ।

प्रज्ञाकरने दिग्नागकी उक्तकारिकाके अंशका इस प्रकार व्याख्यान किया है– "अस्माकं तु योऽनुमेयनिर्देशः स हेत्वर्थविषयत्वेन, न साधनत्वेन, अतः साक्षात् साधनत्वप्रतिक्षेपात् तस्य साध्यस्य उक्तेरशक्तता कथिता । कथं तर्हि–पक्षधर्मत्वसम्बन्धसाध्योक्तिनिर्देशाभ्युपगमः । नास्यायमर्थः–पक्षधर्मश्च सम्बन्धश्च साध्योक्तिश्चेति । अपि तु–सम्बन्धोक्ति-संगता साध्योक्तिः सम्बन्धसाध्योक्तिः । यत् कृतकं तदनित्यमिति व्याप्त्यन्तर्गता साध्योक्तिर्न प्रतिज्ञारूपेण । अवश्यं हि साधने व्यापकत्वं साध्यस्योपदर्शनीयम् ।" प्रमाणवा० अलं० पृ० ५७२ ।

दिग्नागके न्यायमुखके किसी टीकाकारने पक्षप्रयोग संबंधी पूर्वपक्षका जो परिहार किया था वह परिहार भी धर्मकीर्तिको जंचा नहीं और उसने उक्त पूर्वपक्ष और परिहार दोनोंको विडम्बना मात्र बताया है–इससे भी यही फलित होता है कि पक्षप्रयोगकी अनावश्यकता बतानेवाले धर्मकीर्ति नहीं किन्तु दिग्नाग है–प्रमाणवा० मनो० ४. २७ । प्रवाणवा० अलं० पृ० ५८२ ।

इस बातकी साक्षी भर्तृहरि भी देते हैं कि पक्षप्रयोगकी अनावश्यकता बौद्धोंने सिद्ध की थी । भर्तृहरि धर्मकीर्तिसे पहले हुए हैं । अत एव यह कहा जा सकता है कि धर्मकीर्तिके भी पहले पक्षप्रयोग बौद्धपरंपरामें प्रतिपादित हुआ था । संभवतः वह कथन दिग्नागके मन्तव्यको लेकर ही हो–वाक्य० कां० ३. पृ० १०९ ।

सिद्धसेनने दिग्नागके इसी मन्तव्यका–

"तत्प्रयोगोऽत्र कर्तव्यो हेतोर्गोचरदीपकः ॥"

इत्यादि कारिकाओंमें निरास किया है ।

कारिका १४ पू०, न्यायसू० १.१.३३ । न्यायबि० पृ० ७९ । प्रमाणवा० ४.८६ । न्यायप्र० पृ० १ । न्यायवि० १७२ । प्रमाणसं० का० २० । परी० ३.२० । प्रमाणन० ३.१४ । प्रमाणमी० १.२.१३ ।

कारिका १४ उ०, परी० ३.३४। प्रमाणन० ३.२८। प्रमाणमी० २.१.८।

कारिका १६. प्रभाचन्द्रने इस उपमाका उपयोग किया है—न्यायकु० पृ० ४३७।

कारिका १७. न्यायसू० १.१.३४,३५। न्यायप्र० पृ० १. पं० ८। न्यायबि० पृ० ६२–६३। परी० ३.९४। प्रमाणन० ३.२९–३२। प्रमाणमी० २.१.४–६। न्यायकु० पृ० ४२३।

कारिका १८–१९. न्यायसू० १.१.३६,३७। असंगने दृष्टान्तके साधर्म्य और वैधर्म्य भेद माने हैं—J. R. A. S. 1929 p. 476. न्यायप्र० पृ० १, पं० १५। न्यायवि० का० ३८०। परी० ३. ४७–४९। प्रमाणन० ३.४२–४७। प्रमाणमी० १.२.२०–२३।

कारिका २०. न्यायबिन्दुमें हेतुके साधर्म्य और वैधर्म्य प्रयोगसे ही साधर्म्य और वैधर्म्य दृष्टांत कैसे गतार्थ हो जाते हैं इसका धर्मकीर्तिने स्पष्टीकरण किया है अतएव पृथक् दृष्टान्तका विवरण अनावश्यक उन्होंने बताया है—न्यायबि० पृ० ११७–१२१। प्रमाणसं० का० ३२,५०। न्यायवि० का० ३८१। परी० ३.३७–४२। प्रमाणन० ३.२८,३३–३८। प्रमाणमी० १.२.१८,१९।

प्रो० टूचीका कहना कि दिग्नागके पहले के कुछ बौद्धदार्शनिकोने दृष्टान्तका प्रयोग अनावश्यक माना है—देखो J. R. A. S. 1929. p. 487.

ऐतिहासिक क्रम यह जान पडता है कि जबतक हेतुका लक्षण सुनिश्चित नहीं हुआ था तबतक दृष्टान्तके बलसे ही साध्यको हेतुके द्वारा सिद्ध किया जाता था। जब तक ऐसी स्थिति रही तबतक हेतुके साथ दृष्टान्तका पृथक् अवयवके रूपमें प्रयोग नितान्त आवश्यक माना जाता था। किन्तु जबसे हेतुका लक्षण स्थिर हुआ यानि साध्य और साधनकी व्याप्तिका पता लग तब अन्तर्व्याप्तिका सिद्धान्त आविर्भूत हुआ और उसीके बलसे साध्यकी सिद्धि हेतुसे की जाने लगी। यह सिद्धान्त वसुबन्धु और दिग्नागसे पहले का है। वसुबन्धु और दिग्नागने फिरसे अन्तर्व्याप्तिके सिद्धान्तको मानते हुए भी दृष्टान्तकी उपयोगिता व्याप्ति स्मारकरूपसे मानी यानि दृष्टान्तको पृथक् अवयव न मानकर हेतुके ही अन्तर्गत कर लिया। अतएव फलितार्थ यह हुआ कि वह साधनावयव तो रहा नहीं किन्तु पूर्ववत् अत्यन्त निरुपयोगी भी नहीं माना गया और न एकान्त आवश्यक ही माना गया। यही सिद्धान्त धर्मकीर्तिका भी है।[१]

आचार्य सिद्धसेनका भी यही मन्तव्य है। जो उन्होंने १८–२० कारिकाओंमें प्रतिपादित किया है।

कारिका २१. "यत्पुनरनुमानं प्रत्यक्षागमविरुद्धं न्यायाभासः स इति।" न्यायभा० १.१.१।

"प्रत्यक्षार्थानुमानाप्तप्रसिद्धेन निराकृतः।" यह दिग्नागसंमत बाधित—निराकृत पक्षाभास है। दिग्नागकी इस कारिकाको प्रज्ञाकरने उद्धृत किया है—प्रमाणवा० अलं० पृ० ६७७।

विशेष तुलनाके लिये देखो—प्रमाणमी० भाषा० पृ० ८८।

---

१. "तद्भावहेतुभावौ हि दृष्टान्ते तदवेदिनः।
ख्याप्येते विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवलः॥" प्रमाणवा० ३.२६।

दिङ्नागके निराकृत पक्षाभासोंका परिष्कृतरूप जैसा धर्मकीर्तिने स्थिर किया है–सिद्धसेनने भी कुछ ऐसा ही किया है–

१ दिङ्नाग–प्रत्यक्षनिराकृत, अनुमाननि० स्ववचननि० आप्तनि० प्रसिद्ध०
२ धर्मकीर्ति " " " प्रतीति०
३ न्यायावतार " " " लोकनि०

सिद्धसेनसंमत स्ववचननिराकृत यद्यपि दिङ्नागकी उक्त कारिकामें नहीं किन्तु दिङ्नागसंमत है जो कि प्रशस्तपादमें तथा कुमारिलमें है–श्लोकवा० अनु० ६२,६३। Buddhist Logic Vol 1. सिद्धसेनका लोकनिराकृत और दिङ्नागका प्रसिद्धनिराकृत अभिन्न है। किन्तु लोकनिराकृतसे धर्मकीर्तिसंमत प्रतीतिनिराकृत अधिक व्यापक है। प्रतीतिमें धर्मकीर्तिने सकल विकल्पज्ञानोंका समावेश किया है। किन्तु लोकप्रसिद्धिका क्षेत्र कुछ संकुचित है ऐसा लोकविरुद्धके उदाहरणसे माळूम देता है–"लोकविरुद्धो यथा शुचि नरशिरःकपालम्।" न्यायप्र० पृ० २. पं० २०। "प्रतीतिनिराकृतो यथा अचन्द्रः शशीति।" न्यायबि० पृ० ८४। प्रतीतिविरुद्धका यह धर्मकीर्तिका उदाहरण नया नहीं है। उसका उल्लेख धर्मकीर्तिसे भी पहले होनेवाले कुमारिलने सर्वलोकविरुद्धके उदाहरणरूपसे किया है–

"चन्द्रशब्दाभिधेयत्वं शशिनो यो निषेधति।
स सर्वलोकसिद्धेन चन्द्रज्ञानेन बाध्यते॥" श्लोकवा० अनु० ६४,६५।

तुलना करो–परी० ६. १५–२०। प्रमाणन० ६. ४०–४५। प्रमाणमी० १.२.१४।

कारिका २२–२३. 'ईरितम्' पद न्यायावतारके पूर्वोक्त हेतुलक्षणका स्मारक है, देखो का० १७।

"अन्यथानुपपन्नत्वरहिता ये विडम्बिताः।
हेतुत्वेन परैस्तेषां हेत्वाभासत्वमीक्ष्यते॥" न्यायवि० ३४३। ३२३। प्रमाणसं० का० ४०–५०। न्यायवि० ३६५–७१। न्यायप्र० पृ० ३. पं० ८। न्यायबि० ८८ से। परी० ६.२१–३९। प्रमाणन० ६.४७–५७। प्रमाणमी० २.१.१६–२१। प्रमाणमीं० भाषा० पृ० ९६–१०३।

कारिका २४–२५. देखो प्रमाणमी० भाषा० पृ० १०४–१०८।

इन दोनों कारिकामें 'न्यायविदीरिताः' शब्द है। संभव है 'न्यायविद्' शब्दसे दिङ्नाग अभिप्रेत हो।

कारिका २६. देखो, प्रमाणमी० पृ० भाषा० १०८–१२४।

कारिका २७. देखो वही–पृ० २७ से। प्रमालक्ष्म २८२।

कारिका २८. "अज्ञानादेर्न सर्वत्र व्यवच्छेदः फलं न सत्।" प्रमाणसमुच्चयकी इस कारिका (१.२३) का खण्डन प्रस्तुत में है।

"उपेक्षा फलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधीः।
पूर्वा वाऽज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे॥" आप्तमी० १०२। सर्वार्थ० १.१०। न्यायवि० ४७६। परी० ५. १। प्रमालक्ष्म ३१६। प्रमाणन० ६. १–५। प्रमाणमी० १.१.३४,३८,४०–

वादी देवसूरिने केवलज्ञानका फल सुख भी है इस न्यायावतारके मतकी असंगति होनेसे उपेक्षा की है—स्याद्वादर० पृ० ९९५।

"ननु उपेक्षावत् केवलज्ञाने सुखस्यापि फलत्वं वक्तुमुचितमन्यथा 'केवलस्य सुखोपेक्षे' इति पूर्वाचार्यवचनविरोधो दुष्परिहर इति चेत्। सत्यम्। किन्तु न सहृदयक्षोदक्षमोऽयं केवलज्ञानस्य सुखफलत्वपक्षः, इत्युपेक्षितोऽस्माभिः। सुखस्य हि संसारिणि सद्वेद्यकर्मोदयफलत्वम्। मुक्ते तु समस्तकर्मक्षयफलत्वं प्रमाणोपपन्नम्। न पुनर्ज्ञानफलत्वम्।"

कारिका २९ "तत्त्वं त्वनेकान्तमशेषरूपम्।" युक्त्यनु० ४७।

"अनन्तधर्मकं वस्तु प्रमाणविषयस्त्विह।
"येनोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं यत् सत् तदिष्यते।
अनन्तधर्मकं वस्तु तेनोक्तं मानगोचरः।" षड्द० ५५,५७।

"ततः सिद्धं द्रव्यपर्यायात्मकं, उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं वस्तुतत्त्वमन्तर्बहिश्च प्रमेयम्। एकान्तस्यानुपलब्धेः तदनेकान्तात्मार्थः।" लघी० स्व० ९। लघी० ६२।

"व्यावहारिकप्रकृत्यादिप्रक्रियाप्रविभागेन यथा पारमार्थिकादनेकान्तात्मकादर्थादपोद्धृत्य तदंशमेकान्तं व्यावहारिकं तत्प्रतिपत्त्युपायं प्रकाशयन्नयो न मिथ्यात्वमनुभवेत्, निरपेक्षत्वस्यैव मिथ्यात्वात्"। लघी० स्व० ७२।

"स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यञ्जको नयः।" आप्तमी० १०६।

"प्रमाणप्रकाशितार्थविशेषप्ररूपको नयः।" राजवा० १.३३.१। ४.४२.१६, १७। परी० ४.१। प्रमालक्ष्म ३९५। प्रमाणन० ५.१। प्रमाणमी० १.१.३०।

कारिका ३० "उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ स्याद्वादनयसंज्ञितौ।
स्याद्वादः सकलादेशो नयो विकलसंकथा॥" लघी० ६२।

कारिका ३१ "यः कर्ता कर्मभेदानां भोक्ता कर्मफलस्य च।
संसर्ता परिनिर्वाता स ह्यात्मा नान्यलक्षणः॥" शास्त्रवा० ९०।
"तत्र ज्ञानादिधर्मेभ्यो भिन्नाभिन्नो विवृत्तिमान्।
शुभाशुभकर्मकर्ता भोक्ता कर्मफलस्य च॥
चैतन्यलक्षणो जीवः" षड्द० ४८,४९। प्रमालक्ष्म ३०६-७। प्रमाणन० ७.५५-५६। प्रमाणमी० १.१.४२।

२. न्यायावतारसूत्रवार्तिकतुलना।

कारिका १. प्रमाणवा० १.५ न्यायवि० ४।

का० २. यह कारिका न्याया० की है। प्रमालक्ष्मकी प्रथम कारिका भी यही है।

का० ३. पू० लघी० स्व० ३। लघी० ५५।

का० ३. उ० लघी० ६०।

का० ४. वाक्यप० १.५०। प्रमाणवा० २: ३२९। २.४४४। अष्टश० का० ३१। प्रमालक्ष्म का० १५४। स्याद्वादम० का० १२।

का० ६. प्रमाणवा० १.१०।

का० ७. तत्त्वसं० का० ५६, ६१।

का० ८. पू० तत्त्वसं० का० ७४।

का० ८. उ० प्रमाणवा० अल० पृ० १९०

का० ९. उ० प्रमाणवा० अलं० पृ० ५०९ । न्यायवि० का० ३६७ ।
का० ९. उ० न्यायवि० का० ३५९ ।
का० १०. प्रमालक्ष्म २८२ ।
का० १२. पू० न्यायवि० का० ३६० ।
का० १२. उ० न्यायवि० का० ९ ।
का० १३. प्रमाणवा० २. ५९ । न्यायवि० पृ० २३ ।
का० १४. पू० प्रमाणवा० २. ६४ ।
का० १४. उ० तत्त्वसं० का० १५५९ । लघी० १९ ।
का० १५. पू० प्रमालक्ष्म ३६४ ।
का० १५. उ० श्लोकवा० अभाव० १ । तत्त्वसं० १६४८ प्रमालक्ष्म ३८२ ।
का० १६. प्रमाणवा० ४. २७४ । प्रमाणवा० अलं० पृ० ६ । प्रमालक्ष्म० ३९२ ।
का० १७. प्रकरणपं० पृ० ५१ । प्रमाणसं० पृ० ९७ । प्रमाणप० ६८ ।
का० १७. उ० प्रमाणमी० १. १. १४ ।
का० २१. न्यायवि० १६८ ।
का० २२. पू० न्यायवि० ४ ।
का० २३. पू० न्यायवि० ३ । लघी० ७ ।
का० २३. उत्पाददिसिद्धि पृ० ७२ और १३२ में उद्धृत ।
का० २५. ,, पृ० २२ में उद्धृत ।
का० २९. ,, पृ० २६ में उद्धृत ।
का० ३०–३१. ,, पृ० २८ में उद्धृत ।
का० ३४. आप्तमी० का० ३६ । न्यायवि० ११४–११५ । १२५, १२६ । उत्पादा० पृ० ११९ में उद्धृत ।
का० ३५. आप्तमी० ५९ । उत्पादा० पृ० १२२ में उद्धृत ।
का० ३६. प्रमाणसमु० १. ९ से प्रमाणवा० २. ३०७ । प्रमाणवा० अलं पृ० २८ । वही मु० पृ० ३, प्रमालक्ष्म का० ३१६ ।
का० ३९. प्रमाणसं० का० २ । न्यायवि० ४६९–७० ।
का० ४१. न्यायवि० का० १७० । लघी० १२,१३ । प्रमालक्ष्म, २१,४५ ।
का० ४३. न्यायवि० ३२३ ।
का० ४५. न्यायवि० ३४४, ३८१ ।
का० ४७. "द्वयोरेकाभिसम्बन्धात्" इत्यादि सम्बन्ध परीक्षाकी कारिका जो जैन ग्रन्थोंमें उद्धृत है–प्रमेयक० पृ० ५०६ । स्याद्वादर पृ० ८१३ । उससे भावसाम्य है ।
का० ४९. न्यायवि० १८४, १८५ ।
का० ५०. न्यायवि० १७२, १७३ । प्रमालक्ष्म१०२–१०५ ।
का० ५२. प्रमालक्ष्म का० ७२ ।
का० ५३. स्याद्वादर० में (पृ० १२३२) उद्धृत । प्रमाणसं० का० ५६ ।
का० ५४–५५. ज्ञानसारसमुच्चय ३१ । तत्त्वसं० ३३४४, ३५८८ । तत्त्वसं० पं० पृ० १२ । पञ्चवस्तु १०२०–२३ । प्रमालक्ष्म ११४, १३८, १३६ ।
का० ५६ यह पद्य नयचक्रका है । उत्पादा० पृ० २२२ में उद्धृत ।

३. न्यायावतारसूत्रकारिकासूची ।

१ अङ्काः कारिकाङ्कानां सूचकाः ।

४. न्यायावतारसूत्रशब्दसूची[1] ।

१ अङ्काः कारिकाङ्कसूचकाः ।

५. न्यायावतारसूत्रवार्तिककारिकासूची।

१ अङ्काः कारिकाङ्कानां सूचकाः।

६. न्यायावतारसूत्रवार्तिकशब्दसूची।

१. अङ्काः कारिकाङ्कसूचकाः।

७. न्यायावतारवार्तिकवृत्तिगतानां वाद-वादि-ग्रन्थ-ग्रन्थकाराणां सूची ।

१ स्थूलाङ्काः पृष्ठसूत्रकाः; सूक्ष्माश्च पङ्क्तिसूचकाः ।

८. न्यायावतारसूत्रवार्तिकवृत्तिगतानां शब्दानां सूची ।

९. न्यायावतारसूत्रवार्तिकवृत्तिगतानामवतरणानां स्वोपज्ञकारिकाणां च सूची ।

१ स्थूलाङ्काः पृष्ठसूचकाः सूक्ष्माश्च पङ्क्तिसूचकाः ॥

१०. टिप्पणगत वाद और वादी।

११. टिप्पणगत ग्रन्थकार।

१२. टिप्पणगत ग्रन्थ।

१३. टिप्पणगत शब्दों और विषयोंकी सूची।

१३. टिप्पणगत शब्दों और विषयोंकी सूची।

सरस्वती पुस्तक भंडार
हाथीखाना, रतनपोल
अमदावाद – 380001